

जैन विश्व भारती की ओर से
सभीक्ष्ण्य भेंट .

निर्युक्तिपंचक

[आचार्य भद्रबाहु विरचित दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्तियों
के मूलपाठ, पाठान्तर, पादटिप्पण, अनुवाद, विस्तृत भूमिका तथा विविध परिशिष्टों से समलंकित]

(खण्ड-३)

वाचना प्रमुख
गणाधिपति श्री तुलसी

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादिका
डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

अनुवादक
मुनि दुलहराज

जैन विश्व भारती, लाडनू

समर्पण

पुद्गो वि ण्णानुरिसो सुवस्सो
आणाण्हणे जणे जस्स निच्छं ।
सच्चप्पओगे पवरात्तवस्स,
भिक्षुस्स तस्स ण्णिहाणपुब्बं ।।

जिसका प्रज्ञापूर्ण पुष्ट पद,
होकर भी अगमप्रधान था ।
सत्ययोग में प्रवर विल था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ।

विलोडितं आगमदुद्धमेव,
तद्धं सुलद्धं णवणीयमल्लं ।
सज्झाय-सज्झाणरयस्स निच्छं,
जयरसं तस्स ण्णिहाणपुब्बं ।

जिसने आगम देहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत सद्व्ययन लीनचिर विन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ।

त्वाहिदा जेण सुयरसं धारं,
गणं समत्थे मम माण्णे वि ।
जो हेउभूओ स्स पवायगत्स,
कालुस्स तस्स ण्णिहाणपुब्बं ।

जिसने श्रुत की धार बहाई
सकल संघ में, मेरे मन में ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ।

ग्रंथानुक्रम

प्रकाशकीय	११
संकेत-निर्देशिका	१३
निर्युक्तिसाहित्य : एक पर्यवेक्षण	१५-१२९
दशवैकालिक निर्युक्ति	
• विषयानुक्रम	३
• गाथाओं का समीकरण	९
• निर्युक्ति-गाथाएं	१७
• हिन्दी अनुवाद	७१
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	
• विषयानुक्रम	१०७
• गाथाओं का समीकरण	११३
• निर्युक्ति-गाथाएं	१२१
• हिन्दी अनुवाद	१८७
आचारांग निर्युक्ति	
• विषयानुक्रम	२३३
• गाथाओं का समीकरण	२३९
• निर्युक्ति-गाथाएं	२४५
• हिन्दी अनुवाद	२८७
रूत्रकृतांग निर्युक्ति	
• विषयानुक्रम	३२३
• गाथाओं का समीकरण	३२७
• निर्युक्ति-गाथाएं	३३१
• हिन्दी अनुवाद	३५९
दशाश्रुतरकन्ध निर्युक्ति	
• विषयानुक्रम	३८७
• निर्युक्ति की गाथाएं	३८९
• हिन्दी अनुवाद	४०७
परिशिष्ट	
१ भाष्य-गाथाओं का समीकरण	४२५
• दशवैकालिक भाष्य	४२६
• उत्तराध्ययन भाष्य	४३४

२. पदानुक्रम
३. ऐकार्थक
४. देशी शब्द
५. निक्षिप्ता शब्द
- ६ कथाएँ
- ७ परिभाषाएँ
- ८ सूक्ता सुभाषित
- ९ उपमा और दृष्टान्त
- १० दृष्टिवाद के विकीर्ण तथ्य
११. अन्य ग्रंथों से तुलना
१२. विशेषणभानुक्रम
१३. वर्गीकृत विशेषणभानुक्रम
- १४ वर्गीकृत विषयानुक्रम
१५. प्रयुक्त ग्रंथ सूची

प्रकाशकीय

आगम-सम्पादन का कार्य दुरूह ही नहीं, श्रमसाध्य, समय-सापेक्ष, बौद्धिक जागरूकता एवं अन्तःप्रज्ञा के जागरण का प्रतीक है। तेरापंथ के नवम आचार्य एवं जैन विश्व भारती संस्थान के प्रथम अनुशास्ता गुरुदेव श्री तुलसी ने ४५ वर्ष पहले शोध के क्षेत्र में भगीरथ प्रयत्न किया था, जिसके सारथी बने वर्तमान आचार्य श्री महाप्रज्ञ। इस ज्ञानयज्ञ में उन्होंने अपने धर्म-परिवार के अनेक साधु-साध्वियों को नियुक्त किया, फलस्वरूप बत्तीस आगमों का मूल पाठ सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। भगवती भाष्य, आचारांग-भाष्य और व्यवहारभाष्य जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का कार्य भी पूर्ण हुआ है। एकार्थक कोश, निरुक्तदेश, देशी-देशज, श्रीभिन्नु आगम-विषय कोश तथा जैन आगम वनस्पतिकोश भी प्रकाशित होकर सामने आ चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'निर्युक्तिपंचक' इसी श्रृंखला की एक कड़ी है, जिसे सम्पादित किया है समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने। निर्युक्ति आगमों की प्रथम व्याख्या है अतः व्याख्याग्रंथों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्मित हैं। इनमें आगमों के महत्त्वपूर्ण एवं पारिभाषिक शब्दों की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की गयी है। निर्युक्तिपंचक में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग एवं दशाश्रुतस्कंध—इन पांच निर्युक्तियों का समाहार है। निर्युक्तियों का हस्तप्रतियों से समालोचनात्मक रूप से पाठ-संपादन प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है, यह संस्था के लिए गौरव का विषय है। ग्रन्थ में दिए गए पाद-टिप्पण निर्युक्तियों की गाथा-संख्या निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

इस ग्रंथ में पाठ-संपादन तथा पाठ-विमर्श का वैशिष्ट्य तो मुखर है ही साथ ही साथ ग्रंथ में १४ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी संदृब्ध हैं। गाथाओं का हिन्दी अनुवाद होने से ग्रंथ की महत्ता और अधिक बढ़ गयी है। हिन्दी अनुवाद में मनीषी मुनि श्री दुलहराजजी की श्रमनिष्ठा बोल रही है। ग्रंथ की बृहद् व्याख्यात्मक भूमिका 'निर्युक्ति साहित्य : एक पर्यवेक्षण' निर्युक्तियों के अनेक गंभीर विषयों को स्पष्ट करने वाली है।

शोध कार्य धैर्य, परिश्रम, निष्ठा, जागरूकता एवं सातत्य मांगता है। समणीश्री कुसुमप्रज्ञाजी ने इन सभी गुणों को मन से जीया है। यही वजह है कि ग्रन्थ की सम्पूर्ण संयोजना में उनकी प्रतिभा और साधना मुखर हुई है। समणी कुसुमप्रज्ञाजी लगभग २० वर्षों से शोधकार्य में संलग्न हैं। इससे पूर्व वे व्यवहारभाष्य एवं एकार्थक कोश का संपादन कर चुकी हैं। 'निर्युक्तिपंचक' का सम्पादन नारी जाति का गौरव है। आचार्य श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने नारी जाति को विद्या और अनुसंधान के क्षेत्र में जो साहस, बुद्धि-वैभव एवं आत्म-विश्वास दिया है, युगों-युगों तक उनका कर्तृत्व इतिहास में अमिट रहेगा।

ग्रंथ की प्रेरणा और दिशा-निर्देशन का प्राण तत्त्व है—श्रद्धेय गुरुदेव तुलसी एवं आचार्य श्री

महाप्रज्ञ। ग्रन्थ की पूर्णाहुति में मुनि श्री दुल्हराजजी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। उनके अनथक श्रम, मार्गदर्शन एवं सम्पादन-कौशल ने ही ग्रन्थ को प्रकाशन तक पहुंचा है।

जैन विश्व भारती आगम-साहित्य प्रकाशन की श्रृंखला में 'निर्युक्तिपंचक' जैसे ग्रंथरत्न को प्रकाशित कर विद्वत् पठकों एवं सत्य-संक्षितसुओं को यह ग्रन्थ सौंपते हुए गौरव की अनुभूति कर रही है।

सम्पूर्ण निर्युक्ति साहित्य को पांच खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है, जिसमें यह तीसरा खण्ड ८५० पृष्ठों में राष्ट्रीय अभिलेखागार, भारत सरकार के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित हो रहा है। प्रथम खण्ड प्रकाशनाधीन है। विद्वद्वर्ग में यह ग्रन्थ समादृत होगा, इसी अम्ना और विश्वास के साथ सबके प्रति विनम्र आभार ज्ञापन।

श्रीचन्द बैगानी

— निर्युक्तिपंचक, जैन विश्व भारती, लाहौर

संकेत-निर्देशिका

अचू.	दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि	घू	चूर्णि
अनु.	अनुवादक	चूपा	चूर्णि के पाठान्तर
अनुद्धा.	अनुप्रेषण	जंबू	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति
अनुद्वाचू.	अनुयोगद्वार चूर्णि	जंबूटी	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका
आ.	आमारो	जयध.	जयधवला
आकसू.	आचारांग सूत्र (संपा. शूङ्गि)	जिचू	दशवैकालिक जिनदासचूर्णि
अचू	आचारांग चूर्णि	जी	जीवाजीवाभिगम
आटी.	आचारांग टीका	जीचू	जीतकल्प चूर्णि
आटीना.	आचारांगटीका के पाठान्तर	जीतभा	जीतकल्पभाष्य
आनि	आचारांगनिर्युक्ति	जैन आगम...	जैन आगम-साहित्य में भारतीय समाज
आवचू	आवश्यक चूर्णि	जैन पुराणों...	जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन
आवनि	आवश्यकनिर्युक्ति	जैन सा...	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास
आवमटी	आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि टीका	ज्ञा.	ज्ञाताधर्मकथा
आवहाटी	आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीय टीका	टी	टीका
उ.	उत्तराध्ययन सूत्र	टीपा	टीका के पाठान्तर
उगा	उद्धृत गाथा	त.	तत्त्वार्थसूत्र
उचू	उत्तराध्ययन चूर्णि	तंदुल	तंदुलवैचारिक
उनि	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	तु.	तुलना
उशाटी	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका	तृसं	तृतीय संस्करण
उसुटी	उत्तराध्ययन सुखबोधा टीका	दचू	दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि
ओनि	ओघनिर्युक्ति	दनि	दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति
ओनिटी	ओघनिर्युक्ति टीका	दश.	दशवैकालिक सूत्र
ओनिद्रोटी	ओघनिर्युक्ति द्रोणाचार्य टीका	दशअचू	दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
कपा.	कषायपाहुड़	दशजिचू	दशवैकालिक जिनदासचूर्णि
कौटि	कौटिलीय अर्थशास्त्र	दशनि	दशवैकालिकनिर्युक्ति
गा.	गाथा	दशहाटी	दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका
गुण	गुणस्थान	दश्रुनि	दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति
गोजी	गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	दसवे.	दसवेआलियं तह उत्तरज्ज्ञयणाणि
गौ	गौतमधर्मसूत्राणि	द्र	द्रष्टव्य
चंदा	चंदावेज्ज्ञय प्रकीर्णक		
चसं	चतुर्थ संस्करण		

द्विचू	द्वितीय चूला
द्विसं	द्वितीय संस्करण
ध.	धवला
नंदीचू	नंदीचूर्णि
नंदीमटी	नंदी मलयगिरि टीका
नंदीहाटी	नंदी हारिभद्रीय टीका
निगा	निर्युक्ति गाथा
निचू	निशीथ चूर्णि
निभा	निशीथ भाष्य
पंसं	पंचम संस्करण
पंकभा	पंचकल्पभाष्य
पंचभा	पंचकल्प भाष्य
पंव.	पंचवस्तु
प	पणवणा, पत्र
पद्म	पद्मपुराण
परि	परिशिष्ट
पिनि	पिंडनिर्युक्ति
पिनिटी	पिंडनिर्युक्तिटीका
पृ.	पृष्ठ
प्रचू	प्रथमचूला
प्र.	प्रधान
प्रसं	प्रथम संस्करण
बृभा	बृहत्कल्प भाष्य
बृभापीटी	बृहत्कल्पभाष्य पीठिका टीका
भ	भगवती
भआ	भगवती आराधना
भटी	भगवती टीका
भा	भाष्य, भाष्यकार
भाग.	भागवत
भागा	भाष्यगाथा
भू	भूमिका
म	मलयगिरि टीका
मज्झिम	मज्झिम निकाय
मनु	मनुस्मृति

मनो	मनोनुशासनम्
मभा.	महाभारत
महापु.	महापुराण
मूला	मूलाचार
रावा.	तत्त्वार्थ राजवार्तिक
वा. प्र.	वाचना प्रमुख
वि.	विक्रम संवत्
विभा	विशेषावश्यकभाष्य
विभाकोटी	विशेषावश्यक कोट्याचार्य टीका
विभामहेटी	विशेषावश्यक मलधारी हेमचन्द्र टीका
व्यभा	व्यवहार भाष्य
व्या.	व्याख्याकार
शांटी	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका
शांटीपा	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका के पाठान्तर
षट्.	षट्खंडागम
षड्	षड्दर्शनसमुच्चय
षड्टी.	षड्दर्शनसमुच्चय टीका
षसं	षष्ठ संस्करण
सं	संख्या
संपा	संपादक, संपादन, संपादित
सम	समवाओ
समटी	समवायांग टीका
समप्र.	समवाओ प्रकीर्णक
सू.	सूयगडो
सूचू. १	सूत्रकृतांग चूर्णि भाग १
सूचू. २	सूत्रकृतांग चूर्णि भाग २
सूटी	सूत्रकृतांग टीका
सूनि	सूत्रकृतांग निर्युक्ति
स्थाटी	स्थानांग टीका
हरि	हरिवंशपुराण
हाटी	दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका
हाटी	हारिभद्रीय टीका

निर्युक्ति साहित्य : एक पर्यवेक्षण

१. निर्युक्ति का स्वरूप	१७	● सूत्रकृतांगनिर्युक्ति	
२. निर्युक्ति का प्रयोजन	१८	१२. दशाश्रुतस्कंध एवं उसकी निर्युक्ति	४९
३. निर्युक्तियों की संख्या	१८	● नामकरण	
४. निर्युक्ति-रचना का क्रम	२२	● रचनाकार	
५. आचार्य गोविंद एवं उनकी निर्युक्ति	२३	● अध्ययन एवं विषयवस्तु	
६. दशवैकालिक सूत्र एवं उसकी निर्युक्ति	२५	● दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति	
● रचनाकार का परिचय		१३. निर्युक्तियों की गणना-संख्या: एक	
● रचना का उद्देश्य		अनुचितन	५२
● नामकरण		१४. निर्युक्ति में निक्षेप-पद्धति	६०
● निर्युक्ति		१५. निर्युक्तिपंचक का रचना-वैशिष्ट्य	६६
● रचनाकाल		१६. छंद-विमर्श	७०
● भाषा-शैली		१७. निर्जरा की तरतमता के स्थान	७२
● अध्ययन एवं विषयवस्तु		१८. भावनाएं	७७
● दशवैकालिकनिर्युक्ति		● दर्शनभावना	
७. दशवैकालिक की एक नवी निर्युक्ति	२७	● ज्ञानभावना	
८. उत्तराध्ययन सूत्र एवं उसकी निर्युक्ति	३१	● आरित्रभावना	
● नामकरण		● तपोभावना	
● धर्तृत्व		● वैराग्यभावना	
● रचनाकाल		१९. प्रणिधि/प्रणिधान	७८
● अध्ययन एवं विषयवस्तु		२०. साधना के बाधक तत्त्व	७९
● उत्तराध्ययननिर्युक्ति		२१. त्रिवर्ग	८०
९. आचारांग सूत्र एवं उसकी निर्युक्ति	३७	● धर्म	
● रचनाकार		● अर्थ	
● रचनाकाल		● काम	
● भाषा एवं रचना-शैली		२२. वर्ण-व्यवस्था एवं वर्णसंकर जातियां	८५
● अध्ययन एवं विषयवस्तु		● वर्णसंकर जातियां	
● आचारांगनिर्युक्ति		● वर्णान्तर के संयोग से उत्पन्न जातियां	
१०. महापरिज्ञा अध्ययन एवं उसकी निर्युक्ति	४३	२३. स्थावरकाय	८८
● महापरिज्ञा शब्द.....		● स्थावरकाय में जीवत्व-सिद्धि	
११. सूत्रकृतांग एवं उसकी निर्युक्ति	४६	● पृथ्वीकाय	
● नामकरण		● अपकाय	
● रचनाकार एवं रचनाकाल		● तैजसकाय	
● अध्ययन एवं विषयवस्तु			

● वायुकाय			
● वनस्पतिकाय			
२४. भिक्षु का स्वरूप	९३	२९. यातायातपथ	१०८
२५. भिक्षाचर्या	९६	३०. धार्मिक संस्कृति	११०
२६. दिशा	१००	३१. दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक तथ्य	११२
● द्रव्य दिशा		३२. सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थितियां	११३
● क्षेत्र दिशा		३३. इतिहास	११५
● ताप दिशा		३४. विज्ञान	११५
● प्रज्ञापक दिशा		३५. स्वास्थ्य विज्ञान एवं आयुर्वेद	११६
● भाव दिशा		३६. परवर्ती एवं अन्य ग्रंथों पर प्रभाव	११७
● दिशाएं और वास्तुशास्त्र		३७. आगम-संपादन का इतिहास	११९
२७. करण	१०५	३८. निर्युक्ति-संपादन का इतिहास	१२०
● तिथि के अनुसार करण-चक्र		३९. पाठ-संपादन	१२२
● करण निकालने की विधि		४०. निर्युक्तियों का अनुवाद	१२४
● करण का सभाप्ति काल जानने की विधि		४१. प्रयुक्त प्रति-परिचय	१२५
२८. काव्य	१०६	● दशवैकालिक निर्युक्ति	
● गद्यकाव्य		● उत्तराध्ययन निर्युक्ति	
● पद्यकाव्य		● आचारांग निर्युक्ति	
● गेयकाव्य		● सूत्रकृतांग निर्युक्ति	
● चौर्णकाव्य		● दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति	
		४२. कृतज्ञता-ज्ञापन	१२९

निर्युक्ति साहित्य : एक पर्यवेक्षण

श्वेताम्बर परम्परा में महावीर-वाणी आज भी ग्यारह अंगों के रूप में सुरक्षित है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार उन आगम ग्रंथों का कालान्तर में लोप हो गया इसलिए निर्युक्ति-साहित्य की विशाल श्रुतराशि केवल श्वेताम्बर परम्परा में ही मान्य है।

निर्युक्ति का स्वरूप

जैन आगमों के व्याख्या ग्रंथ मुख्यतः चार प्रकार के हैं निर्युक्ति, भाष्य, धूर्ति, और टीका। निर्युक्ति प्राचीनतम पद्यरुद्ध व्याख्या है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति (गा ८८) में निर्युक्ति का निरुक्त इस प्रकार किया है—‘निज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती’ जिसके द्वारा सूत्र के सार्थ अर्थ का निर्णय होता है, वह निर्युक्ति है।^१ निश्चय रूप से सम्पूर्ण अर्थ का निर्णय करना तथा सूत्र में ही परस्पर संबद्ध अर्थ को प्रकट करना निर्युक्ति का उद्देश्य है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार क्रिया, करक, भेद और पर्यायवाची शब्दों द्वारा शब्द की व्याख्या करना या अर्थ प्रकट करना निरुक्ति/निर्युक्ति है।^२ जर्मन विद्वान् शार्वेन्डियर के अनुसार निर्युक्तियं प्रधान रूप से संबन्धित ग्रंथ के इंडेक्स का कार्य करती हैं तथा सभी विस्तृत बटनावधियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।^३ व्याख्या के सदर्भ में अनुगम दो प्रकार का होता है—सूत्र-अनुगम और निर्युक्ति-अनुगम। निर्युक्ति-अनुगम तीन प्रकार का होता है

१. निक्षेपनिर्युक्ति-अनुगम
२. उपोद्घातनिर्युक्ति-अनुगम
३. सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति-अनुगम।^४

प्रत्येक शब्द के कई अर्थ होते हैं। उनमें कौन सा अर्थ प्रासंगिक है, इसका ज्ञान निक्षेप-निर्युक्ति-अनुगम से कराया जाता है। उपोद्घातनिर्युक्ति-अनुगम में छब्बीस प्रकार से शब्द या विषय की मीमांसा की जाती है।^५ तत्पश्चात् सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति-अनुगम के द्वारा निर्युक्तिकार सूत्रगत शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। निर्युक्तिकार मूलग्रंथ के प्रत्येक शब्द की व्याख्या न कर केवल विशेष शब्दों की ही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

१ (क) विभा १०८६: जं निच्छयाइ जुत्ता सुत्ते अत्था इभीए उक्खया।

तेणेयं निज्जुत्ती, निज्जुत्तयाभिहणायो।

(ख) सूटी प. ६: योजनं युक्तिः अर्थवदन् निश्चयेन धिक्केन वा युक्तिर्निर्युक्तिः सम्यगर्थप्रकटनम्।

निर्युक्तानां वा सूत्रेष्वेव परस्परसम्बद्धानामर्थानां विभाजनं युक्तशब्दसंगान्निर्युक्तिः।

(ग) आवनटी प. १००; सूत्रार्थोऽयं परस्परं निर्देजनं संबन्धनं निर्युक्तिः।

(घ) अभिटी प. ४: निःआधिक्ये योजनं युक्तिः सूत्रार्थयोगो निर्युक्त्यद्विधः एवास्ते वाच्यवाचकतयैत्यर्थः
अधिका योजनं निर्युक्तिरुच्यते, नियता निश्चिता वा योजनेति।

२. आवहाटी प. ३६३।

३. Uttarādhyayana sūtra, preface, page 50, 51।

४. विभा ९७२: निज्जुत्ती तिविगमा, तत्तोव्वययसुत्तवक्काणं।

५. विभा ९७३, ९७४।

भाष्य साहित्य में व्याख्या के तीन प्रकार बताए गए हैं, उनमें निर्युक्ति का दूसरा स्थान है।^१ प्रथम व्याख्या में शिष्य को केवल सूत्र का अर्थ कराया जाता है, दूसरी व्याख्या में निर्युक्ति के साथ सूत्र की व्याख्या की जाती है तथा तीसरी व्याख्या में निरवशेष—सर्वांगीण व्याख्या की जाती है। यहां निज्जुत्तिमीसओ का दूसरा अर्थ यह भी संभव है कि दूसरी व्याख्या में शिष्य को सूत्रगत अर्थ का अध्ययन कराया जाता है, जिसे अध्यागम कहा जाता है। विशेषावश्यक भाष्य की प्रस्तुत गाथा भगवती २५/१७ में भी प्राप्त है, परन्तु भगवती में यह कालान्तर में प्रक्षिप्त हुई है, ऐसा प्रतीत होता है।

निर्युक्ति का प्रयोजन

एक प्रश्न सहज उपस्थित होता है कि जब प्रत्येक सूत्र के साथ अध्यागम संबद्ध है तब फिर अलग से निर्युक्ति लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इस प्रश्न के उत्तर में निर्युक्तिकार स्वयं कहते हैं—‘तह वि य इच्छावेइ विभासिउं सुत्तपरिवाडी’ (अवनि ८८)। सूत्र में अर्थ निर्युक्त होने पर भी भूतबद्धि की विविध प्रकार से व्याख्या करके शिष्य को समझाने के लिए निर्युक्ति की रचना की जा रही है। इसी गाथा की व्याख्या करते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार कहते हैं कि श्रुतपरिवाटी में ही अर्थ निबद्ध है अतः अध्यागमव्यक्ति की इच्छा नहीं रखने वाले निर्युक्तिकर्त्ता आचार्य को श्रोतृओं पर अनुग्रह करने के लिए वह श्रुतपरिवाटी ही अर्थ प्राप्ति की ओर प्रेरित करती है।^२ उदाहरण द्वारा भाष्यकार कहते हैं कि जैसे मंख—चित्रकार अपने फलक पर चित्रित चित्रकथा को कहता है तथा शतका अथवा अंगुलि के साधन से उसकी व्याख्या करता है, उसी प्रकार प्रत्येक अर्थ का सरलता से बोध कराने के लिए सूत्रबद्ध अर्थों को निर्युक्तिकार निर्युक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं।^३ जिन्मद्गणि क्षमाश्रमण ने ‘इच्छावेइ’ शब्द का दूसरा अर्थ यह दिया है कि मंदबुद्धि शिष्य ही सूत्र का सम्यग् अर्थ नहीं समझने के कारण गुरु को प्रेरित कर सूत्रव्याख्या करने की इच्छा उत्पन्न करवाता है।^४ आचार्य हरिभद्र ने भी यही व्याख्या की है।^५

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि निर्युक्तियां जैन आगमों के विशेष शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने एवं अर्थ-निर्धारण करने का महत्वपूर्ण उपकरण है।

निर्युक्तियों की संख्या

निर्युक्तियों की संख्या के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि नंदी सूत्र में जहां प्रत्येक आगम का परिचय प्राप्त है, वहां ग्यारह अंगों के परिचय-प्रसंग में प्रत्येक अंग पर असंख्य

१. विभा ५६६: सुत्तये खलु गहमे, बीओ निज्जुत्तिमीसओ भगिओ।

तज्जो व निरवसेसो, एस विहो होइ अपुओगे ।।

२. विभा १०८८, तो सुत्तपरिव अचिच्च, इच्छावेइ तम्मिच्छमण मे।

निज्जुतो वि तदत्थे, वेत्तु तदगुणहड्ड ।

३. विभा १०८९: फलपल्लिय पि मंखो, गद्ध पणसउ तथा कताईहि।

वाएइ य पद्धत्थु, सुत्तबोद्धं तह इहं मि ।

४. विभा १०९१: इच्छा विभासिउं मे, सुत्तपरिवाडि न सुट्ठु बुझामि।

नातिमई वा तीसो, गुरुमिच्छावेइ वेत्तुं जे ॥

५. आचहाटी १ नृ ४५ ।

निर्युक्ति होने का उल्लेख है।^१ असंख्येय शब्द को दो संदर्भों में समझा जा सकता है। प्रत्येक अंग पर अनेक निर्युक्तियाँ लिखी गयीं अथवा एक ही अंग पर लिखी गयीं निर्युक्तियों की गथा-मंथना निश्चित नहीं थी। प्रश्न उपस्थित होता है कि ये निर्युक्तियाँ क्या थीं? इसके सम्बन्धान में एक संभावना यह की जा सकती है कि स्वयं सूत्रकार ने ही सूत्र के साथ निर्युक्तियाँ लिखी होंगी। इन निर्युक्तियों को मात्र अर्थागम कहा जा सकता है। हरिभद्र ने भी सूत्र और अर्थ में परस्पर नियोजन को निर्युक्ति कहा है। इस दृष्टि से 'संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' का यह अर्थ अधिक संगत लगता है कि सूत्रागम पर स्वयं सूत्रकार ने जो अर्थागम लिखे, वे ही उस समय निर्युक्तियाँ कहलाती थीं। दूसरा विकल्प यह भी संभव है कि आचारांग और सूत्रकृतांग के परिचय में नदीकर ने 'संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' का उल्लेख किया होगा लेकिन बाद में पाठ की पंक्तरूपता होने से संधि अंग आगमों के साथ 'संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' पाठ जुड़ गया। अभी वर्तमान में जो निर्युक्ति साहित्य उपलब्ध है, उससे साथ नदी सूत्र में वर्णित निर्युक्ति का कोई संबंध नहीं लगता।

आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने १० निर्युक्तियाँ लिखने की प्रतिज्ञा की है।^२ उनका क्रम इस प्रकार है—१. आवश्यक २. दशतैकालिक ३. उत्तराध्वयन ४. आचारांग ५. सूत्रकृतांग ६. दशश्रुतस्कंध ७. बृहत्कल्प ८. व्यवहार ९. सूर्यप्रज्ञप्ति १०. ऋषिभषित। हरिभद्र ने 'इसिभासियाणं च' शब्द की व्याख्या में देवेन्द्रस्तव आदि की निर्युक्ति का भी उल्लेख किया है।^३ वर्तमान में इन दस निर्युक्तियों में केवल आठ निर्युक्तियाँ ही प्राप्त हैं। ऐसा संभव लगता है कि भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में दस निर्युक्तियाँ लिखने की प्रतिज्ञा की लेकिन वे आठ निर्युक्तियों को रचना ही कर सके। दूसरा संभावित विकल्प यह भी स्पष्ट है कि अन्य अंग साहित्य की भाँति कुछ निर्युक्तियाँ भी काल के अंतराल में लुप्त हो गयीं। इस संदर्भ में डा. सगरमलजी जैन का मतव्य है— 'लगता है सूर्यप्रज्ञप्ति में जैन अचार-मर्याद के प्रतिकूल कुछ उल्लेख तथा ऋषिभषित में नारद, मंथलि गोशालक आदि जैन परम्पर के लिए विवादस्पद व्यक्तियों का उल्लेख देखकर आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिज्ञा करने पर भी इन पर निर्युक्ति लिखने का विचार स्थगित कर दिया हो अथवा यह भी संभव है कि इन दोनों ग्रंथों पर निर्युक्तियाँ लिखी गयी हों पर विवादित विषयों का उल्लेख होने से इनको पठन-पाठन से बहर रखा गया हो, फलतः उपेक्षा के कारण कालक्रम से ये विलुप्त हो गयी हों।'^४

इसके अतिरिक्त पिडनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति आदि का^५ स्वतंत्र अस्तित्व मिलता है। डा. घाटने के अनुसार ये क्रमशः दशतैकालिकनिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक निर्युक्तियाँ हैं। इस संदर्भ में विचारणीय प्रश्न यह कि ओघनिर्युक्ति, पिडनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति जैसी स्वतंत्र एवं बृहत्काय रचना को आवश्यकनिर्युक्ति

१. नदी ८६ ९१।

२. अर्थानि ८४ ८५, अवस्तागम उक्तलिखत्स हत उत्तरज्जमायारे। सूर्यगहे निज्जुत्ति तुच्छामि तह दत्ताणं च ।

कन्नरस म निज्जुत्तिं, वड्डारसोव परमणिउगरस। नूरियण्णत्तीरु तुच्छं इसिभासियाणं च ।।

३. अवज्ञाटी १ पृ. ४३: ऋषिभषिताना च देवेन्द्रस्तवादीनां निर्युक्तिः ।

४. सगर जैन विद्या भारती, भाग १ पृ. २७५

दशवैकालिकनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति का पूरक कैसे माना जा सकता है? इन निर्युक्तियों का स्वतंत्र अस्तित्व ११. इस विषय में कुछ लिङ्गों पर विचार करना आवश्यक लगता है।

१. यद्यपि आचार्य मलयगिरि पिंडनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का अंग मानते हुए कहते हैं कि दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने की। दशवैकालिक के पिंडैषणा नामक पांचवें अध्ययन पर बहुत विस्तृत निर्युक्ति की रचना हो जाने के कारण इसको अलग स्वतंत्र शास्त्र के रूप में पिंडनिर्युक्ति नाम दे दिया गया। इसका हेतु बताते हुए आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि इसीलिए पिंडनिर्युक्ति के आदि में मंगलाचरण नहीं किया गया क्योंकि दशवैकालिक के प्रारम्भ में मंगलाचरण कर दिया गया था।^१ लेकिन इस संदर्भ में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मंगलाचरण की परम्परा बहुत बाद की है। छेदसूत्र और मूलसूत्रों का प्रारम्भ भी नमस्कारपूर्वक नहीं हुआ है। मंगलाचरण की परम्परा लगभग विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास की है। दूसरी बात, मलयगिरि की टीका के अतिरिक्त ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता अतः स्पष्ट है कि केवल इस एक उल्लेख मात्र से पिंडनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का पूरक नहीं माना जा सकता है। तीसरी बात, दशवैकालिकनिर्युक्ति के मंगलाचरण की गाथा केवल हारिभद्राय टीका में मिलती है। स्थविर अगस्त्यसिंहकृत दशवैकालिक की चूर्णि में इस गाथा का कोई संकेत नहीं है। इससे भी स्पष्ट है कि मंगलाचरण की गाथा बाद में जोड़ी गयी है। ऐसा अधिक संभव लगता है कि विषय-सम्य की दृष्टि से पिंडनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का पूरक मान लिया गया।

२. दशवैकालिकनिर्युक्ति में द्वैषणा के प्रसंग में कहा गया है कि यहां पिंडनिर्युक्ति कहनी चाहिए।^२ यदि पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति की पूरक होती तो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

३. दशवैकालिकनिर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने लगभग अध्ययन के नामगत शब्दों की व्याख्या अधिक की है। अन्य अध्ययनों की भांति पांचवें अध्ययन में भी 'पिंड' और 'एषणा'—इन दो शब्दों की व्याख्या की है। यदि पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति की पूरक होती तो अलग से निर्युक्तिकार यहां गाथाएं नहीं लिखते तथा पिंड शब्द के निक्षेप भी पिंडनिर्युक्ति में पुनरुक्त नहीं करते।

४. ओघनिर्युक्ति और पिंडनिर्युक्ति को कुछ जैन सम्प्रदाय ४५ आगमों के अंतर्गत मानते हैं। इस बात से स्पष्ट होता है कि आचार्य भद्रबाहु द्वारा इसकी स्वतंत्र रचना की गयी होगी। ओघनिर्युक्ति की द्रोणाचार्य टीका में भी उल्लेख मिलता है कि साधुओं के हित के लिए चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ने नवम पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु से इसका निर्यूहण किया।^३

५. ओघनिर्युक्ति को आवश्यकनिर्युक्ति का पूरक नहीं कहा जा सकता क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति की अस्वाध्यायनिर्युक्ति का पूरा प्रकरण ओघनिर्युक्ति में है। यदि यह आवश्यकनिर्युक्ति का पूरक ग्रंथ होता तो इतनी गाथाओं की पुनरुक्ति नहीं होती।

६. निशीथ आचारांग की पंचन चूला के रूप में प्रसिद्ध है किन्तु आज इसका स्वतंत्र अस्तित्व

१. पिनिटी प. १.

२. दशनि २१८/४; भावरसुवगारित्ता, एतथ दब्बेसणाएँ अहिगरो। सीए पुण अत्थजुसी, वसत्थं पिंडनिज्जुसी।

३. ओनिद्रोटी प. ३, ४

मिलता है। आचारांगनिर्युक्ति की अंतिम गाथा में निर्युक्तिकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि पंचमचूला—निशीथ की निर्युक्ति मैं आगे कहूंगा। निशीथ चूर्णिकार ने भी अपनी मंगलाचरण की गाथा में कहा है 'भणिष्या विमुनिचूला अहुणावसरो निसीहचूलाए' उनके इस कथन से इस ग्रंथ का पृथक् अस्तित्व स्वतः सिद्ध है अन्यथा वे ऐसा उल्लेख न कर आचारांगनिर्युक्ति के साथ ही इसकी रचना कर देते।

७. इस संदर्भ में एक संभावना यह भी की जा सकती है कि आचारांग की चार चूलाओं की निर्युक्ति तो अत्यंत संक्षिप्त शैली में है किन्तु निशीथनिर्युक्ति अत्यंत विस्तृत है। इसकी रचना-शैली भी अन्य निर्युक्तियों से भिन्न है अतः बहुत संभव है कि भद्रबाहु द्वितीय ने इसे विस्तार देकर इसका स्वतंत्र महत्त्व स्थापित कर दिया हो। आचार्य भद्रबाहु जहां दस निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं, वहां निशीथ का नामोल्लेख नहीं है। यह चिंतन का प्रारम्भिक बिन्दु है। अभी इस बारे में और अधिक महन चिंतन की आवश्यकता है।

८. पंचकल्पनिर्युक्ति को भी बृहत्कल्पनिर्युक्ति की बुरक निर्युक्ति नहीं माना जा सकता। ऐसा अधिक संभव लगता है कि आचार्य भद्रबाहु ने 'कल्प' शब्द से पंचकल्प और बृहत्कल्प इन दोनों निर्युक्तियों का समावेश कर दिया हो।

किसी स्वतंत्र विषय पर लिखी गई निर्युक्ति को भी मूल निर्युक्ति से अलग कर उसे स्वतंत्र नाम दिया गया है, जैसे—आवश्यकनिर्युक्ति एक विशाल रचना है। उसके छह अध्ययनों की निर्युक्तियों का भी अलग-अलग नाम से स्वतंत्र अस्तित्व मिलता है। नीचे कुछ नाम तथा उनका समावेश किस निर्युक्ति में हो सकता है, यह उल्लेख किया गया है—

१. सामाद्वयनिज्जुत्ती	आवश्यकनिर्युक्ति
२. लोगरसुज्जोयनिज्जुत्ती	आवश्यकनिर्युक्ति
३. गमोवकारनिज्जुत्ती	आवश्यकनिर्युक्ति
४. परिद्वारविधानिज्जुत्ती	आवश्यकनिर्युक्ति
५. पच्चवखणनिज्जुत्ती	आवश्यकनिर्युक्ति
६. असज्जायनिज्जुत्ती	आवश्यकनिर्युक्ति
७. समोसरणनिज्जुत्ती	आवश्यकनिर्युक्ति
८. कप्पनिज्जुत्ती	बृहत्कल्प तथा दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति
९. पज्जोसज्जाकम्पनिज्जुत्ती	दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति

इसके अतिरिक्त जिन आगमों पर निर्युक्तियां लिखी गई हैं, उनके अलग-अलग अध्ययनों के आधार पर भी निर्युक्ति के अलग-अलग नाम मिलते हैं। जैसे—आचारांगनिर्युक्ति में सत्थपरिणानिज्जुत्ती, महापरिणानिज्जुत्ती और धुमनिज्जुत्ती आदि।

वर्तमान में सूर्यप्रज्ञप्ति तथा ऋषिभाषित पर लिखी गयी निर्युक्तियां और आराधनानिर्युक्ति अनुपलब्ध है। संस्कृतनिर्युक्ति की हस्तलिखित प्रतियां मिलती हैं, किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हो

१. जप्पनिज्जुत्ती दशाश्रुतस्कंध के अंतर्गत पर्युपगमकल्प एवं बृहत्कल्प—इन दोनों निर्युक्तियों के लिए प्रसिद्ध है।

पायी है। इससे स्पष्ट है कि गाथाओं तथा पाठ का बहुत अंतर मिलता है। इसमें ८४ आगमों के संबंध में उल्लेख है अतः विद्वान् लोग इसे परवर्ती एवं असंगत रचना मानते हैं। सरदारशहर के गधैया उस्तलिखित शब्दों में भेदनिर्मुक्ति की प्रति भी मिलती है किन्तु यह खोज का विषय है कि यह किस ग्रंथ पर कब और किसके द्वारा लिखी गई?

इन निर्गुक्तियों के अतिरिक्त गोविंद आचार्यकृत गोविंदनिर्युक्ति का उल्लेख भी अनेक स्थलों पर मिलता है। गोविंदनिर्युक्ति में उन्होंने एकेन्द्रिय जीवों में जीवत्व-सिद्धि का प्रयत्न किया है? क्योंकि अपूकाय में जीवत्व-सिद्धि के प्रसंग में आचारांग धूर्ति ने उल्लेख मिलता है कि 'जं च निज्जुत्तीए आउक्कायजीवत्वकरणं जं च अज्जगोविदेहिं भणियं गाहा।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उन्होंने आचारांग के प्रथम अध्ययन के आधार पर निर्युक्ति लिखी होगी। आचार्य भद्रबाहु द्वारा उल्लिखित निर्युक्तियों के अतिरिक्त अन्य निर्युक्तियों की निश्चित संख्या के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियों में कुछ निर्युक्तियां स्वतंत्र रूप से मिलती हैं, जैसे—आचारांग, सूत्रकृतांग की निर्गुक्तियां। कुछ निर्युक्तियों के आंशिक अंश पर छोटे भाष्य मिलते हैं, जैसे—दशवैकालिक और उत्तराध्ययन की निर्गुक्ति। कुछ निर्युक्तियों पर बृहद् भाष्य है पर दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व मिलता है, जैसे—आवश्यकनिर्युक्ति, पिंदनिर्युक्ति, ओधनिर्युक्ति आदि। कुछ निर्युक्तियां ऐसी हैं, जो भाष्य के साथ मिलकर एक ग्रंथ रूप हो गयी हैं, जिनकी आज पृथक् करना अत्यंत कठिन है, जैसे—निर्णीय, व्यवहार, बृहत्कल्प आदि की निर्गुक्तियां। बृहत्कल्पभाष्य की टीका में आचार्य मलयगिरि इसी बात का उल्लेख करते हैं।^१

निर्युक्ति-रचना का क्रम

आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा का क्रम इस रूप में प्रस्तुत किया है—१. आवश्यक २. दशवैकालिक ३. उत्तराध्ययन ४. आचारांग ५. सूत्रकृतांग ६. दशाश्रुतसंक्षेप ७. बृहत्कल्प ८. व्यवहार ९. सूर्यप्रज्ञप्ति १०. ऋषिभणित।

पंडित हलसुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में जिस क्रम से ग्रंथों की निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा की है, उसी क्रम से निर्युक्तियों की रचना हुई है।^२ इस कथन की पुष्टि में कुछ हेतु प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

१. आचारांगनिर्युक्ति गा. १७७ में 'लोगो भणिओ' का उल्लेख है। इससे आवश्यकनिर्युक्ति (गा. १०५७, १०५८) में चतुर्विंशतिस्तव के लोगस्स पाठ की व्याख्या की ओर संकेत है।
२. 'आयारे अंगम्मि य पुब्बुदिट्ठो' उल्लेख आचारांगनिर्युक्ति (गा. ५) में है। दशवैकालिक के

१. नि.म. ५५७३ बृ.भा. ५४७६ टी. पृ. १४५२. पं.भा. ४२०।

२. नि.मू. ३ पृ. २६०।

३. बृ.भा.पी.टी. पृ. २ सूत्रपरिष्कारनिर्युक्तिभाष्य चैको ग्रंथो जातः।

४. अवनि ८४. ८५।

५. गणधर. टी. १३. १४।

क्षुल्लिकाचार अध्ययन की निर्युक्ति (१५४-६१) में आचार तथा उत्तराध्ययन के द्वातरंगीय अध्ययन की निर्युक्ति (गा. १४४-५८) में अंग का विशद वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि आचारांग से पूर्व दशवैकालिक और उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना हो चुकी थी।

३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति में 'विणओ पुव्वुदिट्ठो' (गा. २९) का उल्लेख दशवैकालिक की विनयसमाधि की निर्युक्ति (ग. २८६-३०३) की ओर संकेत करता है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि दशवैकालिक के बाद उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना हुई।

४. 'कामा पुव्वुदिट्ठो' (उनि २००) का उद्धरण दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा. १३७-४१) में वर्णित काम शब्द की व्याख्या की ओर संकेत करता है। इससे स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन से पूर्व दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना हुई।

५. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति (गा. १८३) में 'आचार सुतं भणियं' उल्लेख से स्पष्ट है कि दशवैकालिक और उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना उससे पूर्व हो गयी थी क्योंकि आचार का वर्णन दशानि १५४-६१ में तथा श्रुत का वर्णन उनि २९ में है।

६. आवश्यकनिर्युक्ति में वर्णित निहववाद की कुछ गाथाएं शब्दशः उत्तराध्ययननिर्युक्ति में मिलती हैं।

७. उत्तराध्ययननिर्युक्ति में वर्णित कला की व्याख्या वाली कुछ गाथाएं सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में भी मिलती हैं।

८. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में 'गंथो पुव्वुदिट्ठो' (गा. १२७) का उल्लेख उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गा. २३४-४०) में वर्णित ग्रंथ शब्द की व्याख्या की ओर संकेत करता है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति से पूर्व उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना हुई।

९. आचारांगनिर्युक्ति (गा. ३३६) में वर्णित 'जह वक्कं तह भासा' का उल्लेख दशवैकालिक की 'वक्कसुद्धि' अध्ययन की निर्युक्ति की ओर संकेत करता है।

१०. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति (गा. ९९) में 'धम्मो पुव्वुदिट्ठो' का उल्लेख दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा. ३६-४०) में वर्णित धर्म शब्द की व्याख्या की ओर संकेत करता है। इससे स्पष्ट है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की रचना बाद में हुई।

११. 'ओ होति मोक्खो, सा उ विमुत्ति पगतं' आचारांगनिर्युक्ति (गा. ३६५) का यह उल्लेख उत्तराध्ययननिर्युक्ति में वर्णित मोक्ष की व्याख्या की ओर संकेत करता है।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि निर्युक्तियों की रचना का क्रम वही है, जिस क्रम से उन्होंने निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा की है। निर्युक्तियों के कर्तृत्व एवं उसके रचनाकाल के बारे में हम विस्तार से अगले खंड में चर्चा करेंगे।

आचार्य गोविंद एवं उनकी निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु द्वारा लिखित निर्युक्तियों के अतिरिक्त गोविंद आचार्य कृत गोविंदनिर्युक्ति का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। आवश्यकचूर्णि में दर्शनप्रभावक ग्रंथ के रूप में गोविंदनिर्युक्ति का उल्लेख हुआ है। निशीथ चूर्णि में उनका परिचय इस प्रकार मिलता है—

गोविंद नामक बौद्ध भिक्षु था। एक जैन आचार्य द्वारा वाद-विवाद में वह अठारह बार पराजित हुआ। पराजय से दुःखी होकर उसने चिन्तन किया कि जब तक मैं इनके सिद्धांत को नहीं जानूंगा, तब तक इन्हें नहीं जीत सकता। इसलिए हरामे की इच्छा से ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसी आचार्य को दीक्षा के लिए निवेदन किया। सामायिक आदि का अध्ययन करते हुए उसे सम्पत्त्व का बोध हो गया। गुरु ने उसे व्रत-दीक्षा दी। दीक्षित होने पर गोविंद भिक्षु ने सरलतापूर्वक अपने दीक्षित होने का प्रयोजन गुरु को बता दिया। उनके दीक्षित होने का उद्देश्य सम्पक् नहीं था अतः उन्हें ज्ञान-स्तेन कहा गया।^१

बृहत्कल्पभाष्य में उनका उल्लेख ज्ञान-स्तेन के रूप में नहीं है। वे हेतुशास्त्र युक्त गोविंदनिर्युक्ति लिखने तथा सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के लिए दीक्षित हुए—ऐसा भाष्यकार तथा टीकाकार भलयागिरि का मतव्य है।^२ निर्णयभाष्य एवं पञ्चकल्पभाष्य में भी अन्यत्र ऐसा ही उल्लेख मिलता है।^३ व्यवहारभाष्य में मिथ्यात्वी के रूप में उनका उल्लेख मिलता है। वहां चार प्रकार के मिथ्यात्वियों के उदाहरण हैं, उनमें गोविंद आचार्य पूर्व गृहीत आग्रह के कारण मिथ्यात्वी थे।^४

नंदी सूत्र की स्थविरावती के अनुसार ये आर्य स्कन्दिल की चौथी पीढ़ी में हुए। नंदी सूत्र में इन्हें विपुल अनुयोगधारक, क्षांति, दया से युक्त तथा उत्कृष्ट प्रवृत्त के रूप में प्रस्तुत किया है—

गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं।

निच्चं खतिदयाणं, परुवणा दुल्लभिंदाणं॥

गोविंदनिर्युक्ति में उन्होंने एकेन्द्रिय जीवों में जीवत्व-सिद्धि का प्रयत्न किया है।^५ यह निर्युक्ति दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन छज्जोदाय्या के आधार पर लिखी गयी अथवा आचारांग के प्रथम अध्ययन शास्त्र-परिज्ञा पर, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। दशवैकालिकनिर्युक्ति में मात्र इतना उल्लेख है—गोविंदवायगो वि य जह परपक्खं नियत्तेइ।

यह निर्युक्ति आचारांग के प्रथम अध्ययन शास्त्र-परिज्ञा के आधार पर लिखी गयी प्रतीत होती है। इसके कुछ हेतु इस प्रकार हैं—

१. अप्काय में जीवत्व-सिद्धि के प्रसंग में आचारांग चूर्णि में उल्लेख है—‘जं च निज्जुत्तीए आउक्कायजीवलक्खणं जं च अज्जगोविंदेहिं भणियं गाहा’^६—इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचारांग के आधार पर उन्होंने निर्युक्ति लिखी होगी।

२. आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने इन स्थावरकायों की अस्तित्व-सिद्धि के अनेक सूत्रों का उल्लेख किया है, जबकि दशवैकालिक में केवल इनकी अहिंसा का विवेक है। आचारांगनिर्युक्ति में भी

१. आचार्य हरिभद्र ने गोविंद के स्थान पर गोनेन्द्रवाचक का प्रयोग किया है (दण्हाटी पृ. ५३)।

२. निचू ३ पृ. ३७; भावतेणो सिद्धतावहरणद्धताए केणते एउत्तो आगतो, अण्णणा वा गोविंदवाचकवत्।

३. श्रृंग ५४७३ टी. ग ६४५२. विद्य-मन्त्रनिमित्तार्थ हेतुशास्त्राणां च गोविंदप्रभृतीनामर्थम्।

४. (क) निम्न ५५७३; निचू पृ. ९६; हेतुसत्त्वगोविंदनिज्जुतादियद्वा उवसपक्खति।

(ख) पञ्चभा ४२७, गोविंदज्जो पाणे, दंसणसत्त्वद्देतुगद्वा वा।

५. व्यभं २७१४, पुज्जगहितेण होति गोविंदो।

६. निचू ३ पृ. २६०; पच्छा तेण एगिंदियजीवसाहणं गोविंदनिज्जुत्ती कथा।

७. आचू २२७।

स्थवरकाय-सिद्धि की कुछ गाथाएं हैं। संभव है आचार्य भद्रबाहु ने गोविंदनिर्युक्ति से कुछ गाथाएं ली हों क्योंकि गोविंदाचार्य भद्रबाहु द्वितीय में पूर्व के हैं। दशवैकालिक को देने में पूर्णों में भी गोविंद आचार्य के नामोल्लेख पूर्वक ग्रंथ गाथा मिलते हैं—

भणियं च गोविंदवायगेहि—

काये वि द्वा अज्झप्पं, सरीरवाया समन्नियं चेव ।

काय-मणसंपउत्तं, अज्झप्पं किंचिदाहंसु ।।^१

आज स्वतंत्र रूप से गोविंदनिर्युक्ति नामक कोई ग्रंथ नहीं मिलता फिर भी प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गोविंद आचार्य ने निर्युक्ति लिखी थी, जो आज अनुपलब्ध है।

दशवैकालिक सूत्र एवं उसकी निर्युक्ति

दशवैकालिक सूत्र साध्विचार का प्रारम्भिक ज्ञान कराने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उत्कालिक सूत्रों में दशवैकालिक का प्रथम स्थान है। आधारप्रधान ग्रंथ होने से निर्युक्तिकार के अनुसार इसका समावेश चरणकरणानुयोग में होता है। दिग्गबर ग्रंथों के अनुसार इसमें साधु के आचार एवं भिक्षाचर्या का वर्णन है।^२ यह आगम-पुरुष की रचना है, इसलिए इसकी गणना आगम ग्रंथों के अंतर्गत होती है।

जैन परम्परा में यह अत्यंत प्रसिद्ध आगम ग्रंथ है। इसके महत्त्व को इस बात से आंक जा सकता है कि इसके निर्यूहण के पश्चात् दशवैकालिक के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाने लगा। इससे पूर्व आचारांग के बाद उत्तराध्ययन सूत्र पढ़ा जाता था।^३ दशवैकालिक की रचना से पूर्व साधुओं को आचारांग के अंतर्गत शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन को अर्थतः जाने बिना महाव्रतों की विभागतः उपस्थापना अर्थात् छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं दिया जाता था किन्तु दशवैकालिक की रचना के बाद इसके चौथे अध्ययन (भङ्गीवनिकाय) को अर्थतः जानने के बाद महाव्रतों की विभागतः उपस्थापना दी जाने लगी।^४ प्राचीन काल में आचारांग के दूसरे अध्ययन 'लोक-विजय' के पांचवें उद्देशकगत आमगंध (२/१०८) सूत्र को पढ़े बिना कोई भी स्वतंत्र रूप से भिक्षा के लिए नहीं जा सकता था। किन्तु दशवैकालिक के निर्यूहण के पश्चात् पांचवें अध्ययन 'पिंडैषणा' को पढ़ने के बाद भिक्षु पिंडकल्पी होने लगा।^५ दशवैकालिक ग्रंथ की उपयोगिता इस बात से जानी जा सकती है कि मुनि मनक के दिवंगत होने पर आचार्य शय्यभ्रव ने इसको सथावत् रखा जाए या नहीं, इस विषय में संघ के सम्मुख विचार-विमर्श किया। संघ ने एकमत से निर्णय लिया कि यह आगम भव्य जीवों के लिए बहुत कल्याणकारी है। भविष्य में भी मनक जैसे अनेक जीवों की आराधना

१. दशविधू १०१, दशअचू पृ. ५३।

२. धर्मेला १/१/१ पृ. ९७, कथा. जयधवला भा. १ पृ. १०९, अंगपण्णत्ति चूतिका गा. २४।

३. व्यभा १५३३: आधारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झण्णाणि आसि पुत्थिं तु।
दसवेयालियउवरिं, दयणि किं ते न होती उ।।

४. व्यभा १५३१: पुत्थिं सत्थवरिण्णं, अधीतपठितइ होउवहुवगा।
एणिं छज्जीवणिया, किं स उ न होउवहुवण्णं।।

५. व्यभा १५३२: वित्थियणि बंगधेरे, पंचमउद्देश आगगंधम्मि,
सुत्तम्मि पिंडकम्पी, इह पुण पिंडैसणा एसो।।

में निमित्तभूत बनेगा अतः यह अविच्छिन्न रहना चाहिए।^१ आज भी शैक्ष साधु-साधियों को आचार का प्राथमिक बोध देने हेतु सर्वप्रथम इसी आगम ग्रंथ को कंठरुच करवाया जाता है।

रचनाकार का परिचय

दशवैकालिक के निर्यूहण कर्ता आचार्य शय्यभवा हैं। वे राजगृह नगरी के यज्ञवादी ब्राह्मण थे। अनेक विद्यार्थियों के पारगामी विद्वान् थे। आचार्य प्रभव को अपने योग्य उत्तराधिकारी की खोज करनी थी। उन्होंने ज्ञानबल से शय्यभव ब्राह्मण को इसके योग्य देखा। उनको प्रबोध देने हेतु आचार्य प्रभव ने दो साधुओं को यज्ञशाला में भेजा। साधुओं ने कहा—‘अहो कष्टं तत्त्वं न जायते।’ ऐसा कहकर वे साधु वहा से चले गए। शय्यभव ने सोचा कि अवश्य इनकी बात में कोई तत्त्व निहित है। उन्होंने अपने अध्यात्मिक से तत्त्व का अर्थ पूछा। अध्यात्मिक ने शय्यभव को बताया कि आर्हत धर्म तत्त्व है। शय्यभव खोजते-खोजते मुनि के पास पहुंचे और धर्म के गण्य स्वस्व को समझकर प्रव्रजित हो गए।

रचना का उद्देश्य

जब शय्यभव आचार्य प्रभव के पास दीक्षित हुए, उस समय उनकी पत्नी गर्भवती थी। कालान्तर में उनके पुत्र की उत्पत्ति हुई। उसका नाम मनक रखा गया। जब वह अठ वर्ष का हुआ तब मां की अनुमति लेकर गिता की खोज में निकल पड़ा। रास्ते में उसे आचार्य शय्यभव मिले। परिचय पूछने पर आचार्य को ज्ञात हुआ कि यह उनका अपना पुत्र है। उन्होंने उसे अपने पास दीक्षित कर लिखा पर अपना वास्तविक परिचय नहीं बताया। आचार्य शय्यभव ने अपने ज्ञानबल से जाना कि इसका आयुष्य बहुत कम है तब उन्होंने उसकी सम्यग् आराधना हेतु पूर्वों की विशाल ज्ञानराशि से दशवैकालिक का निर्यूहण किया। वैसे भी चतुर्दशपूर्वी किसी निमित्त के उपस्थित होने पर पूर्वों से ग्रंथ का निर्यूहण करते ही हैं।^२

नामकरण

निर्युक्तिकार ने इसके लिये दो नामों का उल्लेख किया है—दसकालिक, दशवैकालिक। उनके अनुसार दसकालिक नाम संख्या और काल के निर्देशानुसार किया गया है।^३ आचार्य शय्यभव ने मनक के लिए दस अध्ययनों का विकास में निर्यूहण किया इसलिए इसका नाम दशवैकालिक पड़ा।^४

आगम का स्वाध्याय-काल दिन और रात का प्रथम व अंतिम प्रहर होता है। स्वाध्याय-काल के बिना भी इसका अध्ययन-अध्यापन किया जाता है इसलिए भी इसे दशवैकालिक कहा जा सकता है। इसका दसवां अध्ययन वैतालिक छंद में है अतः स्थविर अगस्त्यसिंह के अनुसार इसका एक नाम ‘दसवैतालिक’ भी है।^५ आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार शय्यभव ने मनक के लिए इसकी ‘रचना’ की। मनक के स्वर्गारुह होने के बाद जहां से उन्होंने इसका निर्यूहण किया, वहीं वे अन्तर्निविष्ट करना चाहते थे अतः संभव है स्वयं उन्होंने इसका कोई नामकरण न किया हो पर जब इसको स्थिर रूप दिया गया तब आगमकार ने ही इसका

१. दशनि ३४९ दशअचू पृ. २७१।

२. दशअचू पृ. ४, ५; चरितो चोदसपूर्वी अयस्सं निज्जुहति, चोदसपूर्वी वि कारणे।

३. दशनि ७।

४. दशनि १४।

५. दशअचू पृ. ३; दसमं च वेतालियेनजातिदृतेहिं गेयमितमज्जयर्णामिति दसवेतानियं।

नामकरण किया हो।^१

निर्यूहण

दशवैकलिक आचार्य शय्यभवं की स्वतंत्र रचना नहीं अपितु निर्यूह कृति है। निर्युक्तिकार के अनुसार आत्मप्रवाद पूर्व से धर्मप्रज्ञप्ति (चतुर्थ अध्ययन), कर्मप्रवाद पूर्व से तीन प्रकार की पिंडैषणा (पंचम अध्ययन), सत्यप्रवाद पूर्व से वाक्यशुद्धि (साप्तम अध्ययन) तथा शेष अध्ययनों (१, २, ३, ६, ८, ९, १०) का नवमें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु से निर्यूहण हुआ।^२ निर्युक्तिकार दूसरा विकल्प प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि शय्यभवं ने मन्त्र को अनुगृहीत करने के लिए सम्पूर्ण दशवैकलिक का निर्यूहण द्वाव्यंगी गणिषिट्क से किया।^३ विगम्बर साहित्य में इसके कर्तृत्व के विषय में 'आरातीयैराचार्यनिर्यूहं' मात्र इतना उल्लेख मिलता है। महानिशीथ के अनुसार महावीर गौतम से कहते हैं— "मेरे बाद निकट भविष्य में द्वाव्यंगी के ज्ञाता आचार्य शय्यभवं होंगे। वे अपने पुत्र के लिए दशवैकलिक का निर्माण करेंगे। वह सूत्र संसार-सारक और मोक्षमार्गप्रदर्शक होगा। इसे पढ़कर दुष्काल के अंत में होने वाला दुःप्रसन्न नामक साधु आराध्यक होगा।"^४

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य का अभिमत है कि चतुर्दशपूर्व की वही रचना आगम के अंतर्गत आती है, जो केवलज्ञानी के वचनों की साक्षी से की जाए।^५ अतः जयाचार्य ने प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध में यह कल्पना की है कि पूर्वो के आधार पर रचित दशवैकलिक का कलेवर बहुत बृहत् था। शय्यभवं ने उसको लघु बना दिया।^६

रचनाकाल

वीर-निर्वाण के छत्तीसवें वर्ष में आचार्य शय्यभवं का जन्म हुआ। ६४ वें वर्ष में वे दीक्षित हुए। दीक्षा के आठ वर्ष बाद उन्होंने इसका निर्यूहण किया अतः वीर-निर्वाण के ७२ वर्ष बाद उन्होंने इस ग्रंथ का निर्यूहण किया। विंटरनिट्स के अनुसार वीर-निर्वाण के ९८ वर्ष बाद इसकी रचना हुई। इतना निश्चित है कि वीर-निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही इस ग्रंथ का निर्यूहण हो चुका था।

भाषा-शैली

सूत्रात्मक शैली में गुफित इस ग्रंथ में धर्म और अध्यात्म के अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। यह गद्य और पद्य मिश्रित रचना है फिर भी इसमें पद्यभाग अधिक है। बीच-बीच में अनेक उपमाओं के प्रयोग से इसकी भाषा व्यञ्जक एवं प्राञ्जल हो गयी है। अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री भाषा का सम्मिलित प्रयोग इस ग्रंथ में मिलता है।

अध्ययन एवं विषयवस्तु

दशवैकलिक सूत्र में दस अध्ययन तथा दो चूलाएँ हैं। ग्रंथ के अवशिष्ट अर्थ का संग्रह करने के लिए चूला का वही स्थान है, जो स्थान मुकुट में मणि का है।^७ निर्युक्तिकार ने चूलिका को उत्तरतंत्र

१. दशवैकलिक : एक समीक्ष्यत्मक अध्ययन पृ. ११।

२. दशनि १५, १६।

३. दशनि १७।

४. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध २०/८३२।

५. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध १९/८२२, ८२३।

६. दशअचू पृ. ६; सेसत्थमंगहत्थ मंड-नणित्थणीयाणि दो चूलज्जयणणि।

और संग्रहणी कहा है।^१ परिशिष्ट की भांति प्राचीनकाल में ग्रंथ के साथ चूलिका जोड़ दी जाती थी, जो सूत्र के अर्थ की संग्रहणी के रूप में होती थी।^२ संग्रहणी का अर्थ है शास्त्र में वर्णित और अवर्णित अर्थ का संक्षिप्त संग्रह। अचार्य शीलानक के अनुसार चूलिका का अर्थ अग्र है। अग्र का अर्थ उत्तरभाग है। अध्ययनों तथा चूलिकाओं के नाम तथा उन पर कितनी-कितनी निर्युक्ति-गाथाएं लिखी गई, इसका उल्लेख इस प्रकार है—

अध्ययन	निर्युक्तिगाथाएं	अध्ययन	निर्युक्तिगाथाएं
१. दुमपुष्पिका ^३	१-१२६	७. वाक्यशुद्धि	२४५-६८
२. ध्यामण्यपूर्वक	१२७-५२	८. आचार-प्रणिधि	२६९-८५
३. क्षुल्लिकाचारकथा	१५३-८८	९. विनय-समाधि	२८६-३०४
४. षड्जीवनिका ^४	१८९-२१७	१०. सभिक्षु	३०५-३३
५. पिंडैषणा	२१७/१-२२१/१	१. रतिवाक्या (प्रचू.)	३३४-४४
६. महाचारकथा	२२२-४४	२. विविक्तचर्या (छिचू.)	३४५-४९

निर्युक्तिकार ने अध्ययनों के नामों का उल्लेख नहीं किया लेकिन अध्ययन-गत विषयवस्तु का वर्णन किया है। उनके अनुसार दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन में जिन-शासन में प्रचलित धर्म की प्रशंसा, दूसरे में संयम में धृति, तीसरे में आत्म-संयम में हेतुभूत लघु आचार कथा, चौथे में जीव-संयम, पांचवें में तप और संयम में गुणकारक भिक्षा की विशेषि, छठे अध्ययन में संयमी व्यक्तियों द्वारा आचरणीय नहती आचार-कथा, सातवें अध्ययन में वचन-विभक्ति (भाषा-विवेक), आठवें अध्ययन में आचार-प्रणिधि, नौवें अध्ययन में विनय तथा अंतिम दसवें अध्ययन में भिक्षु का स्वरूप प्रतिपादित है। प्रथम चूलिका में संयम में विषय प्राप्त साधु को स्थिर करने के उपाय तथा दूसरी चूलिका में अत्यधिक प्रसाद गुणचर्या—अप्रतिबद्ध चर्या तथा संयम में रत रहने से होने वाली गुणवृद्धि का वर्णन है।

दशवैकालिकनिर्युक्ति

दशवैकालिकनिर्युक्ति में ३४९ गाथाएं हैं। इसमें निर्युक्तिकार ने प्रथम अध्ययन की विस्तृत व्याख्या की है। पूरे निर्युक्ति साहित्य का विहंगमवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि केवल दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा के प्रत्येक शब्द की निर्युक्तिकार ने विस्तृत व्याख्या की है। अन्यथा निर्युक्तिकार सूत्रगत किसी विशेष शब्द की ही व्याख्या करते हैं। प्रथम अध्ययन की पांच गाथाओं पर १२६ गाथाएं लिखी हैं, जिसमें मुख्य रूप से धर्म, मंगल, तप, हेतु, उदाहरण आदि का वर्णन किया गया है। यद्यपि उदाहरण और हेतु के भेद-प्रभेदों का विस्तार नूल पाठ से सीधा संबंधित नहीं है पर न्याय-दर्शन के क्षेत्र में यह वर्णन अगना विशिष्ट स्थान रखता है। हेतु, आहरण आदि के भेद-प्रभेदों को निर्युक्तिकार ने कथाओं के माध्यम से स्पष्ट किया है। ये कथाएं सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

१. दशनि ३३४।

२. दशहटी प. २६९।

३. तत्त्वार्थश्रुतसंगरीर वृत्ति (ग ६७) में

प्रथम अध्ययन का नाम वृक्ष-कृतूम मिलता है।

४. निर्युक्ति में अलग दूसरा नाम 'ध-ध्यामण्यो' भी मिलता है। (दशनि २१७)

प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने अनेक जिज्ञासाओं को उपस्थित करके साधु की शिक्षाचर्या को समाहित किया है। अंत में न्याय के दस अवयवों का नामोल्लेख एवं उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है। दूसरे अध्ययन की निर्युक्ति में श्रमण का स्वरूप, पूर्व के १३ निक्षेप तथा काम के भेद-प्रभेदों का वर्णन है। पद के भेद-प्रभेदों का वर्णन काव्य एवं साहित्य की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तीसरे अध्ययन की निर्युक्ति में मूलगाथ में आए किसी भी शब्द की व्याख्या न करके अध्ययन के नाम में आए क्षुल्लक, आचार एवं कथा — इन तीन शब्दों के निक्षेप एवं व्याख्या प्रस्तुत है। कथा के भेद-प्रभेदों का निर्युक्तिकार ने सर्वांगीण निरूपण किया है।

चौथे अध्ययन की निर्युक्ति में षट्काय का वर्णन करके निर्युक्तिकार ने जीव के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म को सिद्ध करने में अनेक हेतु प्रस्तुत किए हैं। यह सारा वर्णन दर्शन के क्षेत्र में अगना विशिष्ट स्थान रखता है। आत्मा के संबंध में इतना तर्कसंगत और यौक्तिक वर्णन निर्युक्तिकार से पूर्व नहीं मिलता। दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन बहुत बड़ा है लेकिन इसकी निर्युक्ति बहुत छोटी है। निर्युक्तिकार ने मित्र एवं एषगा इन दो शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की है। छठे अध्ययन का एक नाम धर्मार्थकाम भी है अतः निर्युक्तिकार ने धर्म, अर्थ और काम का विस्तृत वर्णन किया है। सातवें वाक्यशुद्धि अध्ययन में भाषा के भेद-प्रभेदों एवं शुद्धि का वर्णन किया गया है। अंत में भाषा-विवेक पर मार्मिक सूक्तियां भी मिलती हैं।

आठवें अध्ययन में प्रणिधि के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है। नवें अध्ययन में विनय के भेद-प्रभेदों एवं समाधि का विवेचन है। दसवें सभिक्षु अध्ययन में भिक्षु के स्वरूप, लक्षण, उसके एकार्यक एवं भिक्षु की कसौटियों का वर्णन है। निर्युक्तिकार ने भिक्षु को स्वर्ण की उपमा दी है। इसमें स्वर्ण के आठ गुण एवं चार कसौटियों का उल्लेख है।

प्रथम चूलिका की निर्युक्ति में चूड़ा के निक्षेप एवं प्रथम चूड़ा का नाम रतिवाक्या की सार्थकता पर विचार किया गया है। द्वितीय चूलिका की निर्युक्ति में साधु की प्रशस्त चर्या पर विचार हुआ है। अंत में मुनि मनक के समाधिमरण और उसके स्वर्गस्थ होने पर आचार्य शय्यभव द्वारा इसके निर्यूहण का उद्देश्य स्पष्ट किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से इस निर्युक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दशवैकालिक की एक नयी निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित निर्युक्ति के अतिरिक्त एक अन्य निर्युक्ति की प्रति लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर के ग्रंथ-भंडार में मिली। इसमें दशवैकालिक की अति संक्षिप्त निर्युक्ति है। हरतप्रति के आधार पर लेखक के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती लेकिन पंडित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार यह निर्युक्ति किसी अन्य आचार्य द्वारा रचित होनी चाहिए।

इस निर्युक्ति में कुल ९ गाथाएं हैं, जिनमें चार गाथाएं मूल दशवैकालिकनिर्युक्ति की हैं तथा छह गाथाएं स्वतंत्र हैं। प्रारम्भिक चार गाथाओं में कर्त्ता, रचना का उद्देश्य तथा रचनाकाल का उल्लेख है। अंतिम छह गाथाओं में चूलिका की रचना के पीछे क्या इतिहास रहा, इसका उल्लेख मिलता है। हारिभट्टीय टीका में बिना नामोल्लेख के यह घटना संक्षेप में निर्दिष्ट मात्र है।^१ प्रस्तुत निर्युक्ति के अंत

में उल्लेख है—‘इति दशवैकालिकनिर्युक्तिः समाप्ताः ।’ यह प्रति सं० १४४२ कार्तिक शुक्ला शुक्रवार को नागेन्द्र गच्छ के आचार्य गुणमेखविजयजी के लिए लिखी गयी, ऐसा उल्लेख उक्त प्रति के अंत में मिलता है। प्रति में पाठ की दृष्टि से कुछ स्थानों पर अशुद्धियां थीं, उनको हमने ठीक कर दिया है।

१. सेज्जंभवं गणधरं, जिणपडिमादं सणेणं पडिबुद्धं ।
मणगपियरं दसकालियस्स निज्जूहं वंदे^१ ।
२. मणगं पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसज्जयणा ।
वेयालियाए ठविया, तम्हा दसकालियं नाम^२ ॥
३. छहि मासेहिं अहीयं, अज्जयणमिणं तु अज्जमणगेणं ।
छम्मासा परिमाओ, अह कालगओ समाहीए^३ ॥
४. आणंदअंसुपायं, कासी सेज्जंभवः तहिं थेरा ।
जरुधदस्स य पुच्छा, कहणा य वियारणा संघे^४ ॥
५. तुम्हारिसो वि मुणिवरो, जइ मोहपिसाएण छलिज्जंति ।
ता साहु तुमं चिय धीर, धीरिमा कं समल्लीणा ॥
६. दसअज्जयणं समयं, सेज्जंभवसूरिविरइयं एव ।
लहुआउयं च नाउं, अट्टाए मणगसीसस्स ॥
७. एवाओ दो चूला, आणीया जक्खणीए अज्जाए ।
सीमंधरपासाओ, भविजणविबोहणट्टाए ॥
८. खुल्लोसण दीहम्मि य, अहं च करविओ उ अज्जाए ।
रयणीए कालगओ, अज्जा सवेगमुप्पन्ना ॥
९. कहाणयं संजायं, रिसिहिंसा पाविया मए पावे ।
तो देवया विणीया, सीमंधरसामिणा पासे ॥
१०. सीमंधरेण भणियं, अज्जे! खुल्लो गओ महाकये ।
मा जूरिसि अप्पाणं, धम्मम्मि निच्चला होसु ॥

चूलिका की रचना का इतिहास बहुत रोचक है। स्थूलिभद्र एक प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। उनकी यक्षा आदि सात बहिनों ने भी दीक्षा ली थी। श्रीयक उनका छोटा भाई था। वह शरीर से बहुत कोमल था, भूख को सहन करने की शक्ति नहीं थी अतः वह उपवास भी नहीं कर सकता था।

एक बार पर्युषण पर्व पर यक्षा की प्रेरणा से श्रीयक मुनि ने उपवास किया। दिन तो सुखपूर्वक बीत गया लेकिन रात्रि को भयंकर वेदना की अनुभूति हुई। भयंकर वेदना से मुनि श्रीयक दिवंगत हो गये। भाई के स्वर्गवास से यक्षा को बहुत आघत लगा। मुनि की मृत्यु का निमित्त स्वयं को मानकर वह दुःखी रहने लगी और संघ के समक्ष स्वयं को प्रायश्चित्त के लिए प्रस्तुत किया। संघ ने साध्वी यक्षा को निर्दोष घोषित कर दिया लेकिन उसने अन्न ग्रहण करना बंद कर दिया। संघ ने कायोत्सर्ग किया।

१. दशनि १३।

२. दशनि १४।

३. दशनि ३४८।

४. दशनि ३८९।

शासन देवी प्रकट हुई। राघ ने कहा आप इसे सीमंधरस्वामी के पास ले जाएं। उस समय शासन देवता साध्वी यक्षा को सीमंधर स्वामी के पास ले गए। सीमंधर स्वामी ने यक्षा को प्रतिबोधित किया और कहा तुम इसके लिए दोषी नहीं हो। तुम्हारा भाई महाकल्प में देव बना है अतः तुम दुःखी न रहकर धर्म में दृढ़ बनो। उस समय सीमंधर स्वामी ने यक्षा को चार चूलिकाओं की वाचना दी। इनमें दो चूलिकाएं दशवैकालिक के साथ तथा दो आगरांग (तीसरी और चौथी चूल) के साथ जोड़ दी गई।

प्रस्तुत निर्युक्ति का काल-निर्धारण तथा वर्णन का उल्लेख करना कठिन है। लेकिन अत्यंत संक्षेप में इसके द्वारा दशवैकालिक की रचना का इतिहास ज्ञात हो जाता है। संभावना की जा सकती है कि प्रस्तुत निर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद रची गयी क्योंकि इसकी चार गाथाओं को इस निर्युक्ति में अक्षरशः लिया गया है। प्राचीनकाल की यह पद्धति रही कि किसी बात को सुरक्षित रखने के लिए उसे पद्यबद्ध कर देते थे जिससे मौखिक और कंठस्थ परम्परा में सुविधा रहती थी।

उत्तराध्ययन सूत्र एवं उसकी निर्युक्ति

उत्तराध्ययन अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध आचार प्रधान आगम है। उपमाओं की बहुलता के कारण विंटरनिट्स ने इसे श्रमणकाव्य की ओर ध्यान दिया है। इसमें साधु के आचार एवं तत्त्वज्ञान का सरल एवं सुबोध शैली में वर्णन किया गया है। आर्ल शार्पेन्टियर, डा. गेरिंगो, विंटरनिट्स तथा हर्मन जेकोबी आदि विद्वानों ने इसे आगम की सूची में ४१ वां आगम माना है। दिगम्बर साहित्य में अंगबाह्य के १४ प्रकारों में सातवां दशवैकालिक और आठवां उत्तराध्ययन का स्थान है। नंदीसूत्र में कालिक सूत्रों की गणना में प्रथम स्थान उत्तराध्ययन का है। वर्तमान में इसकी गणना मूल सूत्रों में की जाती है। इसको मूल सूत्र क्यों माना गया इस बारे में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। पाश्चात्य विद्वान् शार्पेन्टियर^३ एवं प्रो. पटवर्धन^४ के अनुसार इसमें महावीर के मूल शब्दों का संग्रह है, इसलिए इसे मूलसूत्र कहा जाता है। किन्तु यह तर्क युक्तिसंगत नहीं लगता क्योंकि दशवैकालिक मूलसूत्रों के अंतर्गत है पर वह आचार्य शय्यभव द्वारा निर्यूद्ध है। डॉ. शूबिंग ने साधु जीवन के मूलभूत नियमों का प्रतिपादन होने के कारण इसे मूलसूत्र कहा। यह समाधान भी तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरता क्योंकि अनुयोगद्वारा और नंदी में अन्य विषयों का प्रतिपादन है। प्रो. विंटरनिट्स के अनुसार इस मूलसूत्र पर अनेकविध व्याख्या-साहित्य लिखा गया इसलिए इसे मूलसूत्र कहा गया। यह मान्यता भी तर्कसंगत नहीं लगती क्योंकि आवश्यक सूत्र पर सबसे अधिक व्याख्या साहित्य मिलता है। एक मान्यता यह भी प्रसिद्ध है कि आत्मा के चार मूल गुण हैं—ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप। नंदी में मुख्यतः ज्ञान का, अनुयोगद्वारा में दर्शन का, दशवैकालिक में चरित्र का तथा उत्तराध्ययन में तप का वर्णन है अतः ये चारों मूल सूत्र हैं।

चूर्णिकाल में श्रुतपुरुष के मूल स्थान में आचारंग और सूत्रकृतांग का स्थान था। उत्तरकालीन श्रुतपुरुष की मूलस्थापना में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आ गए। इन्हें मूलसूत्र मानने का यही सर्वाधिक संभावित हेतु है, ऐसा आचार्य श्री तुलसी का मतव्य है।^५ मूलतः इनमें मुनि के मूल गुणों—

१. परिशिष्ट पृष्ठ १/८४-१००।

२. The uttarādhyayana sūtra, preface page 32.

३. The Dasavekālīka sūtra: a study. Page 16.

४. A History of Indian literature vo 2, Page 466.

५. दसवे. . . भूमिका पृ. ५।

महाव्रत, समिति आदि का निरूपण है अतः ये मूलसूत्र कहलाते हैं।

मूलसूत्र की संख्या एवं उनके नामों के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है किन्तु उत्तराध्ययन को सभी ने एकरस्वर से मूलसूत्र माना है। प्रो. बेबर ने उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक—इन तीनों को मूलसूत्र के रूप में स्वीकृत किया है। विंटरनिट्स ने इन तीनों के अतिरिक्त मिडनिर्युक्ति को भी ग्रहण किया है। डॉ. शूब्रिंग मिडनिर्युक्ति, ओषनिर्युक्ति सहित पांच ग्रंथों को मूलसूत्र के रूप में स्वीकृत करते हैं। प्रो. हीरालाल कापडिया ने इनके अतिरिक्त दशवैकालिक की चूलिकाओं को भी मूलसूत्र में परिगणित किया है।^१ तेरापंथ की मान्यता के अनुसार दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नंदी और अनुयोगद्वार—ये चार सूत्र मूलसूत्र के अंतर्गत हैं। मूलसूत्र का विभाजन विक्रम की ११ वीं १२ वीं शताब्दी के बाद हुआ, ऐसा अधिक संभव लगता है क्योंकि उत्तराध्ययन की चूर्णि एवं टीका में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है। आचार्य तुलसी के अनुसार मूलसूत्र का विभाजन विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में होना चाहिए।

नामकरण

उत्तराध्ययन सूत्र में तीन शब्दों का प्रयोग है—१. उत्तर २. अध्ययन ३. और सूत्र। उत्तर शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—प्रधान, जबाब और परवर्ती। आचार्य हरिभद्र के अनुसार उत्तर शब्द का प्रयोग प्रधान या अति प्रसिद्ध अर्थ में हुआ है। प्रो. जेकोबी, बेबर और शार्पेन्टियर इसी अर्थ से सहमत हैं। उत्तर शब्द का प्रयोग परवर्ती या अंतिम अर्थ में भी होता है, जैसे—उत्तरकांड, उत्तररामायण आदि। जैन परम्परा में यह मान्यता बहुत प्रसिद्ध है कि महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व ५५ अध्ययन पुण्य-पाप के तथा छत्तीस अपुद्गवागरणाई अर्थात् बिना पूछे छत्तीस अध्ययनों के उत्तर दिए अतः विद्वानों का मानना है कि यह 'छत्तीस अपुद्गवागरणाई' शब्द उत्तराध्ययन से ही संबंधित होना चाहिए क्योंकि जैन परम्परा में अन्य कोई ऐसा ग्रंथ नहीं है, जिसके छत्तीस अध्ययन हों। इस कथन की पुष्टि में उत्तराध्ययन की अंतिम गाथा को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।

छत्तीस उत्तरज्जाए, भवसिद्धीय सम्मए॥

यह 'परिनिव्वुए' शब्द संदेहास्पद है। शान्त्याचार्य ने परिनिव्वुए शब्द का अर्थ स्वस्थीभूत किया है अतः इस दृष्टि से इसे महावीर का अंतिम उपदेश नहीं माना जा सकता।

निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तर शब्द क्रम के अर्थ में प्रयुक्त है। उत्तराध्ययन आचारांग सूत्र के बाद पढ़ा जाता था अतः इसका नाम उत्तराध्ययन पड़ा।^२ टीकाकार शान्त्याचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि दशवैकालिक की रचना के बाद यह सूत्र दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाने लगा।^३ प्रो. लायमन के अनुसार आचारांग आदि ग्रंथों के उत्तरकाल में रचा होने के कारण यह उत्तराध्ययन कहा जाता है। चूर्णिकार ने उत्तर के आधार पर इसके अध्ययनों की तीन प्रकार से योजना की है—१. स-उत्तर—पहला अध्ययन २. निरुत्तर—छत्तीसवां अध्ययन ३. सउत्तर-निरुत्तर—बीच के सारे अध्ययन।

१. A History of the canonical literature of the Jains, Page 44, 45.

२. उनि ३; कमउत्तरेण, पणयं, आयास्सेव उवरिमाइं तु। तम्हा उ उत्तरा खलु, अज्झयणं होति नायव्वा॥

३. उणांटी प. ५; आरत्तत्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यंत इति।

दिगम्बर आचार्यों ने भी उत्तर शब्द की अनेक दृष्टिकोणों से व्याख्या की है। कषायपाहुड़ के चूर्णिकार के अनुसार उत्तराध्ययन उत्तरपदों का वर्णन करता है। यहां उत्तर शब्द समाधान सूचक है।^१ अंगपण्णत्ति में उत्तर के दो अर्थ हैं—१. किसी ग्रंथ के पश्चात् पढ़ा जाने वाला २. प्रश्नों का उत्तर देने वाला।^२ उत्तर के बाद दूसरा शब्द अध्ययन है। यद्यपि अध्ययन शब्द सामान्यतया पढ़ने के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु प्रस्तुत सदर्भ में इसका प्रयोग पारेच्छेद, प्रकरण और अध्याय के अर्थ में हुआ है।

सूत्र शब्द का सामान्य अर्थ है जिसने शब्द कम तथा अर्थ विपुल हो। जैसे पातञ्जलयोगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि। उत्तराध्ययन में सूत्ररूपता का अभाव है, विस्तार अधिक है। यद्यपि आत्मरामजी ने अनेक उद्धरणों से इसे सूत्रग्रंथ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त सूत्र शब्द का लक्षण इस ग्रंथ में घटित नहीं होता है। जर्ल शर्गेन्टियर का भी मानना है कि सूत्र शब्द का प्रयोग इसके लिए सटीक नहीं हुआ है क्योंकि विधिविधान, दर्शनग्रंथ तथा व्याकरण आदि ग्रंथों में सूत्रात्मक शैली अपनाई जाती है। ऐसा अधिक संभव लगता है कि वैदिक परम्परा में सूत्र शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित था। जैनों ने भी परम्परा से सूत्रात्मक शैली न होते हुए भी ग्रंथ के साथ सूत्र शब्द जोड़ दिया।

कर्तृत्व

निर्युक्तिकार के अनुसार यह ग्रंथ किसी एक कर्त्ता की कृति नहीं, अपितु संकलित ग्रंथ है। उनके अनुसार इसके कर्तृत्व को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. अंगप्रभव—दूसरा अध्ययन (परीषदप्रविभक्ति)
२. जिन्भाषित—दसवां अध्ययन (द्रुमपत्रक)
३. प्रत्येकबुद्ध-भाषित—आठवां अध्ययन (कापिलीय)
४. संवाद-समुत्थित—नवां और तेईसवां अध्ययन (नमिप्रब्रज्या, केशिगौतमीय)

नदी में उत्तरज्झयणाइं यह बहुवचनात्मक नाम मिलता है।^३ उत्तराध्ययन के अंतिम श्लोक तथा निर्युक्ति में भी 'उत्तरज्झाए' ऐसा बहुवचनात्मक नाम मिलता है। चूर्णिकार ने छत्तीस उत्तराध्ययनों का एक श्रुतस्कंध (एक ग्रंथ रूप) स्वीकार किया है। इस बहुवचनात्मक नाम से यह फलित होता है कि उत्तराध्ययन अध्ययनों का योग मात्र है, एककर्तृक ग्रंथ नहीं। उत्तराध्ययन की भाषा-शैली की भिन्नता देखकर भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं है। ये सब काब रचे गए, इनका व्यवस्थित रूप कब बना, यह कहना कठिन है। कुछ विद्वानों का मानना है कि इसके प्रथम १८ अध्ययन प्राचीन हैं तथा उत्तरवर्ती अठारह अध्ययन अर्वाचीन। किन्तु इस मत की पुष्टि का कोई सबल प्रमाण नहीं है। इतना निश्चित है कि इसके कई अध्ययन प्राचीन हैं और कई अर्वाचीन। आचार्य तुलसी के अभिमत से उत्तराध्ययन के अध्ययन ई० पू० ६०० से ईस्वी सन् ४०० अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष की धार्मिक एवं दार्शनिक विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। वीर-निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद देवर्धिगणी ने प्राचीन एवं अर्वाचीन अध्ययनों का संकलन कर इसे एकरूप कर दिया। इनका प्रवचन

१. कषा. भा.१ चू. पृ. ११०; उत्तरमिदि च उत्तरज्झेणं ण्णेदि। ३. उनि ४; अंगपण्णत्ति जिन्भासिथा ४ पत्तेयबुद्धसंवाया।
२. अंगपण्णत्ति ३/२५. २६। ४. नदी ७८।

एक काल में न होकर विभिन्न समयों में हुआ अतः यह संकलन सूत्र है, एक कर्तृक नहीं।^१ इसके कुछ अंश बाद में स्थविरो द्वारा जोड़े गए हैं। इसका प्रबल प्रमाण है केशिगौतमीय अध्ययन। दूसरी बात सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन में जो प्रश्नोत्तर हैं, वे अंगसूत्रों की प्रश्नोत्तर शैली से बिल्कुल भिन्न हैं।

जार्ज शार्पेन्टियर का अभिमत है कि यह प्रारम्भ में नूल रूप से बौद्ध ग्रंथ धम्मपद और सुत्तनिपात के समान था। संभवतः इसमें सैद्धान्तिक विषयों का प्रतिपादन करने वाले अध्ययन नहीं थे। केवल संन्यासी जीवन की आचार-शैली और धार्मिक कथाएं ही संकलित थीं। कालान्तर में इसका स्वतंत्र महत्त्व स्थापित करने हेतु यह अनुभव किया गया कि इसमें धार्मिक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक विषयों का सनावेश किया जाए अतः परवर्तीकाल में इसमें सैद्धान्तिक, दार्शनिक आदि विषय जोड़ दिए गए। निष्कर्ष की भाषा में यह कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन में परिवर्तन एवं परिवर्धन का काम महावीर-निर्वाण से प्रारम्भ होकर बल्लभी-वाचना के समय तक चलता रहा।

रचनाकाल

उत्तराध्ययन का उल्लेख दिगम्बर ग्रंथों में आदर के साथ उल्लिखित है। इससे स्पष्ट है कि संघभेद होने से पूर्व ही यह एक ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। अन्यथा दिगम्बर-परम्परा में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

दशवैकालिक की रचना के बाद यह दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाने लग, इस बात से स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन की रचना दशवैकालिक से पूर्व हो चुकी थी। दशवैकालिक के कर्त्ता शक्यभवासूरि हैं, जिनका समय वीर-निर्वाण के ७५ वर्ष बाद माना जाता है। इस प्रकार उत्तराध्ययन की प्राचीनता एक ओर महावीर-निर्वाण तक जा पहुंचती है तो दूसरी ओर ऐसे भी उल्लेख हैं, जिससे उत्तराध्ययन के अध्ययनों की परवर्तिता सिद्ध होती है। इस सूत्र में वर्णित जातिवाद, दासप्रथा, यज्ञ एवं तीर्थस्थान आदि के वर्णन प्राचीनता के द्योतक हैं।

अध्ययन एवं विषयवस्तु

उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन तथा १६३८ श्लोक हैं। इसके प्रत्येक अध्ययन अपने आप में परिपूर्ण हैं। इनमें आपस में भी कोई संबंध परिलक्षित नहीं होता। समवायांग में उत्तराध्ययन के जिन ३६ अध्ययनों का नामोल्लेख मिलता है, वे निर्युक्ति में उपलब्ध अध्ययनों के नामों से कुछ भिन्न हैं। यहां उत्तराध्ययन, उसकी निर्युक्ति तथा समवायो में आए अध्ययनों के नामों का चार्ट प्रस्तुत किया जा रहा है। साथ ही किस अध्ययन पर कितनी निर्युक्ति-गाथाएं लिखी गयी इसका भी संकेत दिया जा रहा है—

उत्तराध्ययन	निर्युक्तिकार	समवाओ	निर्युक्तिगाथाएं
१. विनयश्रुत	विनयश्रुत	विनयश्रुत	१-६५
२. परीषहप्रविभक्ति	परीषह	परीषह	६६-१४१
३. चतुरंगीय	चतुरंगीय	चातुरंगीय	१४२-१७२/१५
४. असंस्कृत	असंस्कृत	असंस्कृत	१७३-९९

उत्तराध्ययन	निर्युक्तिकार	समवाओ	निर्युक्तिगाथाएं
५. अकाममरणीय	अकाममरण	अकाममरणीय	२००-२९
६. क्षुल्लकनिर्ग्रहीय	निर्ग्रहीय	पुरुषविद्या	२३०-३७
७. उरभ्रीय	औरध्र	औरभ्रीय	२३८-२४२/१
८. कापिलीय	कापिलीय	कापिलीय	२४३-५२
९. नमिप्रब्रज्या	नमिप्रब्रज्या	नमिप्रब्रज्या	२५३-७२
१०. द्रुमपत्रक	द्रुमपत्रक	द्रुमपत्रक	२७३-३०२
११. बहुश्रुतपूजा	बहुश्रुतपूज्य	बहुश्रुतपूजा	३०३-१०
१२. हरिकेशीय	हरिकेश	हरिकेशीय	३११-२१
१३. चित्रसंभूतीय	चित्रसंभूति	चित्रसंभूत	३२२-५२
१४. इषुकारीय	इषुकारीय	इषुकारीय	३५३-६६
१५. सभिभुक्	सभिभु	सभिभुक्	३६७-७२
१६. ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान	समाधिस्थान	समाधिस्थान	३७३-७९
१७. पापश्रमणीय	पापश्रमणीय	पापश्रमणीय	३८०-८४
१८. संजयीय	संजयीय	संजयीय	३८५-९८
१९. मृगचारीय	मृगचारिका	मृगचारिका	३९९-४१५
२०. महानिर्ग्रहीय	निर्ग्रन्थता	अनाथप्रब्रज्या	४१६-२२
२१. समुद्रपालीय	समुद्रपालीय	समुद्रपालीय	४२३-३६
२२. रथनेमीय	रथनेमीय	रथनेमीय	४३७-४४
२३. केशिगौतमीय	केशिगौतमीय	गौतमकेशीय	४४५-५१
२४. प्रवचनमाता	समिति	समिति	४५२-५६
२५. यज्ञीय	यज्ञीय	यज्ञीय	४५७-७६
२६. सामाचारी	सामाचारी	सामाचारी	४७७-८१
२७. खलुंकीय	खलुंकीय	खलुंकीय	४८२-९०
२८. मोक्षमार्गगति	मोक्षगति	मोक्षमार्गगति	४९१-९७
२९. सम्यक्त्वपराक्रम	अप्रमाद	अप्रमाद	४९८-५०४
३०. तपोमार्गगति	तप	तपोमार्ग	५०५-५०८
३१. चरणविधि	चरण	चरणविधि	५०९-१३
३२. प्रमादस्थान	प्रमादस्थान	प्रमादस्थान	५१४-२१
३३. कर्मप्रकृति	कर्मप्रकृति	कर्मप्रकृति	५२२-२८
३४. लेख्याध्ययन	लेख्या	लेख्याध्ययन	५२९-४०
३५. अनगारमार्गगति	अनगारमार्ग	अनगारमार्ग	५४१-४३
३६. जीवाजीवविभक्ति	जीवाजीवविभक्ति	जीवाजीवविभक्ति	५४४-५४

निर्युक्ति के अनुसार उत्तराध्ययन के अध्ययनों की संक्षिप्त विषय-वस्तु इस प्रकार है—

१. विनय	१३. निदान-भोग-संकल्प	२५. ब्रह्मण के गुण
२. परीषह	१४. अनिदान—भोग-असंकल्प	२६. सामाचारी
३. चार दुर्लभ अंग	१५. भिक्षु के गुण	२७. अशठता
४. प्रमाद-अप्रमाद	१६. ब्रह्मचर्य की गुप्तियां	२८. मोक्षगति
५. मरण-विभक्ति	१७. पाप-वर्जन	२९. आवश्यक में अप्रमाद
६. विद्या और अचरण	१८. भोग और ऋद्धि का परित्याग	३०. तप
७. रसगृद्धि का परित्याग	१९. अपरिक्लृप्त	३१. चारित्र
८. अलाभ	२०. अनाथता	३२. प्रमादस्थान
९. संयम में निष्कंपता	२१. विचित्रचर्या	३३. कर्म
१०. अनुशासन की उपमा	२२. चरण की स्थिरता	३४. लेश्या
११. बहुश्रुत-पूजा	२३. धर्म	३५. भिक्षुगुण
१२. तपःऋद्धि	२४. समितियां	३६. जीव-अजीव विवेचन।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

उत्तराध्ययन निर्युक्ति में ५५४ गाथाएं हैं। इस निर्युक्ति की रचना-शैली अन्य निर्युक्तियों से भिन्न है। इसके प्रायः सभी अध्ययनों में निक्षेपपरक तथा अध्ययन के नाम से संबंधित गाथाएं एक समान हैं। निक्षेप के आधार पर निर्युक्तिकार ने संयोग शब्द के विभिन्न प्रकार एवं उनकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। जैसे अणुओं का स्कंधों से संयोग, पंचास्तिकाय के प्रदेशों का संयोग, इन्द्रिय-मन और पदार्थों का संयोग, वर्णों का शब्दों के साथ संयोग तथा आत्मा के साथ विविध भावों का संयोग आदि। यद्यपि इस विस्तृत व्याख्या से उत्तराध्ययन की गाथा समझने में कोई सहायता नहीं मिलती लेकिन इस व्याख्या से पुद्गल और जीव से संबंधित संसार के जितने भी संयोग हैं, उन सबका वैज्ञानिक एवं सैद्धान्तिक ज्ञान हो जाता है।

प्रथम अध्ययन में अविनीत को गलि—दुष्ट घोड़े की तथा विनीत को आकीर्ण—जातिमान् अश्व की उपमा दी है अतः गलि और आकीर्ण के एकार्थक भी कोशविज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इस निर्युक्ति में उत्तर, करण, अंग, निर्ग्रन्थ आदि शब्दों के निक्षेप अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। दूसरे परीषह अध्ययन की निर्युक्ति में १३ द्वारों में परीषह का सैद्धान्तिक एवं तात्त्विक वर्णन मिलता है। अकाममरणीय अध्ययन में मरण के भेदों का सर्वांगीण विवेचन प्राप्त होता है। आगे के अध्ययनों में मुख्यतः निक्षेपपरक गाथाएं अधिक हैं।

कथा की दृष्टि से यह निर्युक्ति अत्यन्त समृद्ध है। प्रसंगवश लगभग ६० से ऊपर कथाओं का उल्लेख निर्युक्तिकार ने किया है। केवल परीषह प्रविभक्ति अध्ययन में २५ कथाओं का संकेत है। चार प्रत्येकबुद्ध कथाओं की तुलना वैदिक एवं बौद्ध साहित्य से की जा सकती है। अन्य निर्युक्तियों की भांति इसमें कथाएं संक्षिप्त नहीं, अपितु विस्तार से दी गयी हैं। रचना-शैली की दृष्टि से यह अन्य निर्युक्तियों से भिन्न है।

आचारांग सूत्र और उसकी निर्युक्ति

आचारांग सूत्र अध्यात्म का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी सूत्रात्मक शैली में अध्यात्म के अनेक रहस्य छिपे पड़े हैं। वैदिक वाङ्मय में जिस प्रकार वेदों का स्थान सर्वोपरि है वैसे ही जैन आगम ग्रंथों में आचारांग का सर्वोच्च स्थान है। निर्युक्तिकार के अनुसार आचारांग सभी अंगों का सार है।^१ इसका अपर नाम वेद भी मिलता है।^२ टीकाकार आचार्य शीलोक इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए कहते हैं कि इससे हेयोपादेय पदार्थों का ज्ञान होता है, इसलिए यह वेद है।^३ इसके अध्ययनों को ब्रह्मचर्य कहा गया है।^४ स्थानांग और समवायंग में भी 'णववर्गभवेरा पण्णत्ता' उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम श्रुतस्कंध का 'नवब्रह्मचर्य' नाम भी आचारांग नाम जितना ही प्रसिद्ध था इसीलिए निर्युक्तिकार ने ब्रह्म और चर्य (चरण) शब्द की लम्बी व्याख्या की है। निर्युक्तिकार ने आचारांग के दस पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया है।^५ मूलतः ये पर्यायवाची नाम आचार (आचार) के हैं पर आचार प्रधान ग्रंथ होने से उपचार से इनको आचारांग के पर्यायवाची भी मान लिया गया है। व्यवहार भाष्य में आचारांग का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि प्राचीनकाल में शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन से नवदीक्षित श्रमण की उपस्थापन की जाती थी तथा इसके अध्ययन से ही श्रमण स्वतंत्र रूप से शिक्षा करने की योग्यता प्राप्त कर सकता था।^६ निर्युक्तिकार के अनुसार इस ग्रंथ के अध्ययन से क्षांति आदि श्रमणधर्म ज्ञात होते हैं अतः आचार्य को आचारधर होना आवश्यक है।^७

रचनाकार

आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध पंचम गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा प्रणीत है क्योंकि ग्रंथ के प्रारम्भ में वे कहते हैं—**सुयं मे आउसं** इसका तात्पर्य है कि मूल अर्थरूप वाणी भगवान् महावीर की है और बाद में गणधरों ने सूत्र रूप में इसे ग्रथित किया। द्वितीय श्रुतस्कंध के बारे में अनेक मत प्रचलित हैं पर इतना निश्चित है कि आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कंध भाषा-शैली और विषय की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कंध जितना प्राचीन नहीं है। निर्युक्तिकार के अनुसार स्थविरों ने शिष्यों पर अनुग्रह कर उनका हित-सम्पादन करने हेतु आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध से आचाराग (आचारचूला) का निर्यूहण किया।^८ चूर्णिकार ने रथविर शब्द का अर्थ गणधर तथा वृत्तिकार ने चतुर्दशपूर्ववित् किया है।^९ कुछ विद्वान् स्थविर शब्द का प्रयोग आचार्य भद्रबाहु के लिए मानते हैं। निर्युक्तिकार ने यह भी उल्लेख किया है कि कौन से अध्ययन से कौन सी चूला निर्यूह है। उनके अनुसार प्रथम श्रुतस्कंध के द्वितीय अध्ययन लोकविजय के पांचवें उद्देशक और आठवें अध्ययन विमोक्ष के दूसरे उद्देशक से प्रथम चूलिका के षड्विंशति, शय्य, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा तथा अवग्रहप्रतिमा आदि उद्देशक निर्यूह हैं। पांचवें अध्ययन लोकसार के तैथे उद्देशक से र्द्धा तथा छठे अध्ययन (धृत) के पांचवें उद्देशक से भाषाज्ञात का निर्यूहण किया गया। सातवें अध्ययन महापरिज्ञा से

१. आनि १६।

२. आनि ११।

३. आटी पृ. ४: विद्वन्मस्माद्धेयोपादेयपदार्थमिति वेदः।

४. आनि ११।

५. उपं ९/२, सम. ९/३।

६. आनि ७।

७. व्यभा १५३१, १५३२।

८. आनि १७।

९. आनि ३०७।

१०. आचू पृ. ३२६, आटी पृ. २१३।

दूसरी चूला सप्तस्थिका। प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा ने तीसरी चूला भावना तथा छठे धृत अध्ययन के दूसरे और चौथे उद्देशक से चौथी निर्युक्ति चूला निर्गुण है। पंचम चूला आचारप्रकरण—निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक ऋसदे प्राभृत से हुआ।^१ इस प्रकार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध से आचारचूला का संग्रहण हुआ है।

ऐतिहासिक किंवदंती के अनुसार आचारचूला की तीसरी और चौथी चूला स्थूलिभद्र की बहिन साध्वी यक्षा महविदेह क्षेत्र से सीमंधरस्वामी के पास से लाई थी। साध्वी यक्षा ने वहां से चार चूलाएं ग्रहण की थीं, उनमें दो दशवैकलिक के साथ तथा दो आचारांग के साथ जोड़ी गयीं।^२ डॉ० हर्मेन जेकोबी के अनुसार आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध में गद्य के मध्य आने वाले पद्य उस समय के प्रसिद्ध धार्मिक ग्रंथों से उद्धृत किए गए हैं।^३

रचनाकाल

आचारांगनिर्युक्ति के अनुसार तीर्थ-प्रवर्तन के समय सर्वप्रथम आचारांग की रचना हुई, उसके बाद अन्य अंगों की।^४ चूर्णिकार जिनदासगजी भी इस मत से सहमत हैं।^५ एक अन्य मत का उल्लेख करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि आचारांग में स्थित होने पर ही शेष अंगों का अध्ययन किया जाता है इसीलिए इसका प्रथम स्थान रहता है।^६ नंदीचूर्णि के अनुसार पहले पूर्वगत की देशना हुई इसलिए इनका नाम पूर्व पड़ा। बाद में गणधरों ने आचारांग को प्रथम क्रम में व्यवस्थित किया।^७ आचार्य मलयगिरि ने भी स्थापना क्रम की दृष्टि से आचारांग को प्रथम अंग माना है न कि रचन के क्रम से।^८ मतान्तर प्रस्तुत करते हुए नंदी के चूर्णिकार कहते हैं कि तीर्थकारों ने पहले पूर्व की देशना की और गणधरों ने भी पूर्वगत सूत्र को ही सर्वप्रथम ग्रथित किया।^९

आचारांगनिर्युक्ति और नंदीचूर्णि की विसंगति का परिहार करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ का मानना है कि संभव है निर्युक्तिकार ने अंगों के निर्यूहण की प्रक्रिया का यह क्रम मान्य किया हो कि सर्वप्रथम आचारांग का निर्यूहण और स्थापन होता है तत्पश्चात् सूत्रकृत आदि अंगों का। इस संभावना को स्वीकार कर लेने पर दोनों धाराओं की बाह्य दूरी रहने पर भी आंतरिक दूरी समाप्त हो जाती है।^{१०}

वरतुतः आचारांग को प्रथम स्थान देने का कारण निर्युक्ति में यह बताया है कि इसमें मोक्ष का उपाय वर्णित है तथा इसे प्रवचन का सार कहा गया है।^{११} भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह आगम प्राचीन प्रतीत होता है।

१. आनि ३०८-११, पंक्था २३

२. परिशिष्ट पर्व ९/९७, ९८।

३. The sacred books of the east,

vo. xx ii introduction p. 48

४. अग्नि ८।

५. आचू पृ ३ सत्त्वित्थगर वि आचारस्स अत्थं पढमं
अक्खति, ततो सेसगणं एक्कारसण्हं अंगाणं।

६. आचू पृ ४; तत्थ ठिते सेसगि अंगाणि अहिज्जह
तेण सो पढमं कते।

७. नंदीचूर्णि पृ. ७५

८. नंदीनदी प. २११; स्थापनामधिकृत्य प्रथममङ्गम्।

९. नंदीचूर्णि पृ. ७५।

१०. आचारांगभाष्यम्, भूमिका पृ. १७।

११. आनि ९।

भाषा एवं रचना-शैली

आचारांग सूत्र अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध ग्रंथ है। भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ अन्य आगमों से विलक्षण है। इसके प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कंध की भाषा में भी पर्याप्त अंतर है। प्रथम श्रुतस्कंध की भाषा सूत्रात्मक, सुगठित एवं अर्थगत-मार्ग से युक्त है। वर्तमान में उपलब्ध आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध गद्यबहुल अधिक है, पद्यभाग बहुत कम है। पाश्चात्य विद्वान् यूब्रिंग के अनुसार इसमें पद्य बहुत थे किन्तु कालान्तर में लुप्त हो गए। अनेक संदित पद्य तो आज भी इसमें मिलते हैं। जैसे—एयं कुसलस्स दंसणं, माई पमाई पुणरेड गब्भं अदि।

आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध चौर्ण शैली में निबद्ध आगम ग्रंथ है। दशवैकालिकनिर्गुक्ति के अनुसार जो अर्थबहुल, महन् अर्थ, हेतु-निपात-उपसर्ग से गंभीर, विराम सहित तथा बहुपाद आदि लक्षणों से युक्त हो, वह चौर्णशैली का ग्रंथ माना जाता है। इसमें ये सभी लक्षण घटित होते हैं। जो गद्य, पद्य निश्चित हो, वह भी चौर्ण कहलाता है। इस दृष्टि से भी यह आगम चौर्ण शैली में निबद्ध माना जा सकता है। इसके अनेक सूक्त गति-प्रत्यागत शैली में निबद्ध हैं। उन सूक्तों की व्याख्या विभिन्न नयों से की जा सकती है। यह संक्षिप्त शैली में निबद्ध किन्तु गूढ़ अर्थ को अभिव्यक्त करने वाला आगम ग्रंथ है। इसमें अनेक स्थलों पर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। इसका दूसरा श्रुतस्कंध विस्तृत शैली में लिखा गया है।

अध्ययन एवं विषयवस्तु

आचारांग के दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन तथा द्वितीय में पांच चूलाएं हैं। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के अध्ययन के नामों के क्रम में कुछ भिन्नता पाई जाती है। वह इस प्रकार है—

आचारांगनिर्गुक्ति ^१	स्थानांग ^२	समवायांग ^३	आवश्यकसंग्रहणी ^४
सत्थपरिण्णा	सत्थपरिण्णा	सत्थपरिण्णा	सत्थपरिण्णा
लोगविजय	लोगविजय	लोगविजय	लोगविजय
सीओसणिज्ज	सीओसणिज्ज	सीओसणिज्ज	सीओसणिज्ज
सम्मत्त	सम्मत्त	सम्मत्त	सम्मत्त
लोगसार	आवंती ^५	आवंती	लोगसार
धुत्त	धूत्त	धुत्त	धुय
महापरिण्णा	विमोह	विमोहायण	विमोह
विमोक्ख	उवहाणसुय	उवहाणसुय	महापरिण्णा
उवहाणसुय	महापरिण्णा	महापरिण्णा	उवहाणसुय

१. दशनि १५०

२. आनि ३६, ३२।

३. ठाण ९/२।

४. सम ९/३।

५. आवश्यकसंग्रहणी हार्ट प ६६०-६६१।

६. यच्छे अध्ययन का मूल नाम 'लोगसार' है पर अद्यापद (अदिपद) के आधार पर इसका एक नाम आवंती भी है। किन्तु निर्गुक्तिकार ने 'लोगसार' को लौक नाम माना है (आनि २३९)।

समवाओ के वृत्तिकार ने स्पष्ट किया है कि वस्तुतः महापरिज्ञ अध्ययन सातवां ही है लेकिन उसका विच्छेद हो गया इसलिए इसको अतिन कम में रखा है।^१

प्रथम श्रुतस्कंध का पद-परिमाण निर्युक्तिकार के समय तक अठारह हजार था।^२ लेकिन कालान्तर में इसका लोप होता गया अतः आज यह बहुत कम परिमाण में मिलता है। प्रथम श्रुतस्कंध के ५१ उद्देशक हैं।^३ प्रारम्भ में आचारांग केवल नौ अध्ययन तक सीमित था लेकिन बाद में इसमें वृत्तिकार और जोड़ दी गयीं। चार चूलाएँ जुड़ने से इसका पद-परिमाण १८ हजार से बहु हो गया तथा पांचवीं चूला निशीथ जुड़ने से बहुतार हो गया।^४

नंदी, समवाय आदि में जहाँ भी आचारांग के अध्ययन और उद्देशकों का वर्णन है, वहाँ केवल २५ अध्ययन और ८५ उद्देशकों का वर्णन मिलता है।^५ निशीथ छब्बीसवें अध्ययन के रूप में अपना अस्तित्व रखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में निशीथ का स्वतंत्र अस्तित्व था लेकिन बाद में विषय-साम्य और इसके महत्त्व को बढ़ाने के लिए इसे आचारांग के साथ जोड़ दिया। इसका दूसरा नाम आचारप्रकल्प भी प्रसिद्ध है।^६ द्वितीय श्रुतस्कंध की पांच चूलाओं के नाम निर्युक्तिकार ने इस प्रकार बतलाये हैं—

जावोग्गह पडिमाओ, पढमा सत्तेक्कगा बिडयचूला।

भावण विमुत्ति आचारपकप्पा तिन्नि इति पंच॥

प्रथम चूला के सात अध्ययन इस प्रकार हैं—

१. पिडैषणा २. शय्या ३. ईर्या ४. भाषाज्ज ५. वस्त्रैषणा ६. पात्रैषण ७. अवग्रहप्रतिमा।^७ द्वितीय चूला का नाम सत्तैकका है। उसके सात अध्ययन इस प्रकार हैं—

१. स्थान-सत्तैकका, २. निशीथिका (निशीथिका) सत्तैकका, ३. उच्चार-प्रसवण-सत्तैकका, ४. शब्द-सत्तैकका, ५. रूप-सत्तैकका, ६. परक्रिया-सत्तैकका, ७. अन्धेन्यक्रिया-सत्तैकका

चूर्णिकार ने रूप सत्तैकका को चौथा तथा शब्द-सत्तैकका को पांचवां अध्ययन माना है। तीसरी चूला का भावना तथा चौथी चूला का विमुक्ति नामक एक ही अध्ययन है। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध के ९ तथा द्वितीय के ७+७+१+१=२५। कुल मिलाकर आचारांग के २५ अध्ययन और ८५ उद्देशक हैं।^८ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध की विषयवस्तु का निर्युक्तिकार ने संक्षेप में उल्लेख किया है—

१. शस्त्रपरिज्ञ—जीव-संयम का निरूपण।
२. लोकविजय—कर्मबंध एवं कर्ममुक्ति की प्रक्रिया का अवबोध।
३. शीतोष्णीय—सुख-दुःख की तितिक्षा का अवबोध।
४. सम्यक्त्व—सम्यक्त्व की दृढ़ता का निरूपण।
५. लोकसार—रत्नत्रय से युक्त होने की प्रक्रिया।

१. समटी, प. ६७।

२. आनि ११, कपा. भा. १ चू. पृ. ८५; आचारांगे अट्ठारहपदसहससाणि।

३. सम ५१/१, आनि ३६७।

४. आनि ११।

५. नदी ८१, सम. ८५/१।

६. आनि ३११।

७. आनि ३१७।

८. किरुत वर्णन हेतु देखें आनि ३१८-४२।

९. आनि ३६७, ३६८।

१०. आनि ३३, ३४।

६. धृत— निस्संगता का अवबोध।

७. महापरिज्ञा—नोह से उद्भूत परीग्रह और उपसर्गों को सहने की विधि।

८. विमोक्ष-निर्याण अर्थात् अंतक्रिया की आराधना।

९. उपधानश्रुत—आठ अध्ययनों में प्रतिपादित अर्थों का महावीर द्वारा अनुपालन।

समवायाम् एवं नंदी के अनुसार इस ग्रंथ में श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए ज्ञानादि पांच आचार, भिक्षाविधि, विनय, विनय का फल, ग्रहण-असेवन रूप शिक्षा, भाषा-विवेक, चरणव्रतादि, करणपिंडविशुद्धि तथा संयम-यात्रा के निर्वाह हेतु अहार के विवेक का वर्णन है। इन सब बातों का नंदी सूत्रकार ने पांच आचार में समावेश कर दिया है।^१

आचार्य उप्पारजति ने प्रथमरतिप्रकरण में प्रत्येक अध्ययन का विषय संक्षेप में प्रतिपादित किया है—

१. षड्जीवनिकाय की यतना।	१४. वस्त्र की एषणा-गच्छति।
२. लौकिक संतान का गौरव-त्याग।	१५. पात्र की एषणा-पद्धति।
३. शीत-उष्ण आदि परीषहों पर विजय।	१६. अवग्रह-शुद्धि।
४. दृढ़ श्रद्धा।	१७. स्थान-शुद्धि।
५. संसार से उद्देग।	१८. निषद्या-शुद्धि।
६. कर्मों को क्षीण करने का उपाय।	१९. व्युत्सर्ग-शुद्धि।
७. त्रैयावृत्त्य का उद्योग।	२०. शब्दासक्ति-परित्याग।
८. तप का अनुष्ठान।	२१. रूपासक्ति-परित्याग।
९. स्त्रीसंग का त्याग।	२२. परक्रिया-वर्जन।
१०. विधि पूर्वक शिक्षा का ग्रहण।	२३. अन्योन्यक्रिया-वर्जन।
११. स्त्री, गण्डु, क्लीब आदि से रहित शय्या।	२४. पंच महाव्रतों में दृढ़ता।
१२. गति-शुद्धि।	२५. सर्वसंगों से विमुक्तता।
१३. भाषा-शुद्धि।	

आचारांग में केवल आचार का ही वर्णन नहीं, अपितु अध्यात्म प्रधान दर्शन का विशद विवेचन हुआ है। सूत्रकृतांग की भांति इसमें तर्क की प्रधानता नहीं अपितु आत्मानुभूति के स्वर अधिक हैं।

आचारांग निर्युक्ति

आचारांगनिर्युक्ति की रचना का क्रम चौथा है लेकिन विषय-निरूपण की दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में निक्षेपों के वर्णन में प्रत्येक एकरूपता है, इससे पाठक को कोई नया ज्ञान प्राप्त नहीं होता लेकिन आचारांगनिर्युक्ति इसकी अपवाद है। इसमें चरण, दिशा, ब्रह्म, गुण, मूल, कर्म, सम्यक् आदि शब्दों की निक्षेपपरक व्याख्या में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है।

प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा की निर्युक्ति में शस्त्र और परिज्ञा का विवेचन निःशस्त्रीकरण की

दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अनुभव संज्ञा के १६ भेदों का उल्लेख मनोविज्ञान की मौलिक मनोवृत्तियों के साथ तुलनीय है साथ ही मनोविज्ञान के क्षेत्र में नयी दृष्टियाँ उद्घाटित करने वाला है। दिशा के भेद-प्रभेदों एवं उसके उद्भव का इतना विस्तृत वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। भौगोलिक दृष्टि से यह पूरा वर्णन अनेक नए रहस्यों को खोलने वाला है। जातिस्मृति उत्पन्न होने के कारणों का उल्लेख परामनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन में पृथ्वी आदि षड्जीवनिकायों के निक्षेप, प्ररूपणा, लक्षण, परिमाण, उपभोग, णस्त्र, वेदना, वध और उसकी निवृत्ति आदि ९ द्वारों का विस्तृत वर्णन किया है। इनमें प्ररूपणा, लक्षण, परिमाण, उपभोग, वेदना आदि का वर्णन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अगे भूमिका में हम इस बारे में विस्तृत चर्चा करेंगे। षड्जीवनिकाय का जितना कमबद्ध और व्यवस्थित वर्णन आचारांगनिर्युक्ति में हुआ है, उतना अन्य ग्रंथों में नहीं मिलता। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह वर्णन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

द्वितीय उद्देशक में लोक और विजय के निक्षेप के पश्चात् मूलसूत्र में आए 'जे गुणे से मूलद्वारे, जे मूलद्वारे से गुणे' सूक्त में आए गुण, मूल और ठाण—इन तीन शब्दों के निक्षेप के माध्यम से विस्तृत वर्णन हुआ है। संसार का मूल है कर्म, उसकी उत्पत्ति कथाय से होती है। निर्युक्तिकार ने दस प्रकार के निक्षेपों के माध्यम से कर्म का विशद विवेचन किया है।

तीसरे शीतोष्णीय अध्ययन में शीत और उष्ण की विविध दृष्टियों से व्याख्या की है तथा बाईस परीषहों में कितने शीत परीषह और कितने उष्ण इसका उल्लेख किया है। चौथे सम्यक्त्व अध्ययन में गुणश्रेणी-विकास की अवस्थाओं का वर्णन तार्त्विक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक दृष्टि से गुणश्रेणी-विकास का प्राचीनतम वर्णन आचारांगनिर्युक्ति में मिलता है। अहिंसा का सार्वभौम एवं सार्वकालिक महत्त्व बताने के बाद निर्युक्तिकार ने रोहगुप्त की कथा का संकेत किया है, जिसमें अनेक भिक्षुओं से समस्यापूर्ति करवाई गयी है। निर्युक्तिकार ने आसक्त और अनासक्त के कर्मबद्ध की प्रक्रिया को बहुत सुंदर एवं व्यावहारिक रूपक से समझाया है।

पांचवें लोकसार नामक अध्ययन की प्रारम्भिक निर्युक्ति-गाथाओं में उद्देशकों की विषय-वस्तु का निरूपण है। निर्युक्तिकार के अनुसार आदानपद से इस अध्ययन का नाम आवंति तथा गौण नाम लोकसार बताया गया है। प्रसंगवश निर्युक्तिकार ने अनेक दृष्टियों से लोक में सारभूत वस्तुओं का वर्णन किया है। प्रश्नोत्तर के माध्यम से निर्युक्तिकार कहते हैं कि सम्पूर्ण लोक का सार धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम तथा संयम का सार निर्वाण है।

छठे धृत अध्ययन की निर्युक्ति में द्रव्यधृत और भावधृत का वर्णन है। सातवें महापरिज्ञा अध्ययन की निर्युक्ति में अध्ययनों की विषय-वस्तु के साथ महा और परिण्णा शब्द के निक्षेपों का उल्लेख है। आठवें विमोक्ष अध्ययन की निर्युक्ति में निक्षेप के माध्यम से विमोक्ष का प्रतिपादन है। निर्युक्तिकार ने भक्तपरिज्ञा, इगिनीमरण और प्रायोपगमन को भाव-विमोक्ष के अंतर्गत माना है। प्रायोपगमन मरण के अंतर्गत अर्य वज्र, आर्य समुद्र तथा व्याघातिम मरण के अंतर्गत आचार्य तोसलि का उदाहरण दिया है। निर्युक्तिकार ने बारह दर्ष की संलेखना का सुंदर क्रम वर्णित किया है, जो साधना की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

उपधानश्रुत नामक नवें अध्ययन की निर्युक्ति में बताया गया है कि जब जो तीर्थंकर होते हैं, वे अपने तीर्थ में उपधानश्रुत अध्ययन में अपने तपःकर्म का वर्णन करते हैं। सभी तीर्थंकरों का तपःकर्म निरुपसर्ग तथा वर्धमान का तपःकर्म सोपसर्ग रहा।

द्वितीय श्रुतस्कंध का नाम आचारंग भी प्रसिद्ध है अतः निर्युक्तिकार ने 'अंग' शब्द की निक्षेप के माध्यम से विस्तृत दर्जा की है। प्रारम्भ में आचरो के प्रथम श्रुतस्कंध के कौन से अध्ययन से कौन सी चूला निर्युक्त है, इसका उल्लेख किया गया है। प्रथम चूला में पिंड, शय्या, ईयां, वस्त्र, पात्र, अवग्रह आदि के बारे में चर्चा है। द्वितीय चूला सातैकक में रूप, पर आदि के निक्षेप हैं। तीसरी चूला भावना की निर्युक्ति में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य आदि भावना का विस्तृत विवेचन है।

चौथी विमुक्ति चूला में विमुक्ति अध्ययन के पांच अधिकारों की चर्चा करते हुए देशविमुक्त और सर्वविमुक्त का उल्लेख किया गया है। अंत में पांचवीं निशीथ चूला का वर्णन आगे किया जाएगा, ऐसी निर्युक्तिकार ने प्रतिज्ञा की है।

महापरिज्ञा अध्ययन एवं उसकी निर्युक्ति

दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष के बाद आचारांगधर का विच्छेद हो गया। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आचारांग का पूर्ण रूप से विच्छेद नहीं हुआ लेकिन १८ हजार पद-परिमाण वाला वह आचारांग वर्तमान में बहुत अल्प पद-परिमाण में रह गया। इसमें अनेक खंडित पद्य मिलते हैं, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कालान्तर में 'आचारधर' आचार्यों के अभाव अथवा विस्मृति वश इसका काफी अंश लुप्त हो गया।

वर्तमान में इसका सातवां महापरिज्ञा अध्ययन विलुप्त है। निर्युक्ति^१, चूर्णि^२ एवं टीका^३ के अनुसार आचारांग का सातवां अध्ययन महापरिज्ञा है जबकि ठाण^४ और, समवाओ^५ में नौवां तथा नंदी टीका^६ एवं आवश्यक संग्रहणी^७ में इसे आठवां अध्ययन माना है। समवाओ के वृत्तिकार ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि महापरिज्ञा अध्ययन वस्तुतः सातवां अध्ययन था लेकिन उसका विच्छेद हो गया इसलिए इसको अंत में रखा गया है।^८ शूब्रिंग^९ और जेकोबी^{१०} ने इसे सातवां अध्ययन माना है।

विद्वानों के अनुसार इस अध्ययन की निर्युक्ति लुप्त हो गयी अथवा निर्युक्तिकार के समय तक यह अध्ययन लुप्त हो गया, जिससे इसकी निर्युक्ति नहीं लिखी जा सकी, किन्तु हस्तप्रतियों में प्राप्त गाथाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्युक्तिकार के समय तक महापरिज्ञा का अस्तित्व था। टीकाकार ने दोनों श्रुतस्कंधों के पश्चात् २६४-७० की सात गाथाएं दी हैं लेकिन प्रायः सभी हस्तप्रतियों में इस अध्ययन की अठारह निर्युक्ति-गाथाएं मिलती हैं। ये गाथाएं अभी तक प्रकाश में नहीं आई थीं इसीलिए विद्वानों का ध्यान इस ओर अकृष्ट नहीं हो सका।

यह निश्चित है कि चूर्णिकार और टीकाकार के समक्ष इस अध्ययन की निर्युक्तिगाथाएं नहीं थीं

१. अ.नि. ३१।

२. अचू. पृ. ७।

३. आटी. पृ. १७३।

४. ठाण ९/२।

५. सम. ९/३।

६. नंदीहाटी पृ. ७६।

७. आवश्यकसंग्रहणी टी. प. ६६०, ६६१।

८. समटी. प. ६७।

९. Ācārāṅga sūtra, preface page 26।

१०. Sacred books of the east, Vo 22, page 49।

इसीलिए उन्होंने इन गाथाओं की व्याख्या नहीं की। फिर भी महापरिज्ञा के विच्छेद का प्रामाणिक समय अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य वज्र ने महापरिज्ञा से गगनगामिनी विद्या सीखी।^१ प्रभावक चरित्र में भी ऐसा उल्लेख मिलता है।^२ यह संभावना की जा सकती है कि आर्य वज्रस्वामी के पश्चात् तथा आचार्य शौलांक से पूर्व इस अध्ययन का विच्छेद हो गया क्योंकि आचार्य शौलांक ने स्पष्ट रूप से इस अध्ययन के विच्छेद का उल्लेख किया है।^३ लगभग वीर-निर्वाण की छठी शताब्दी के बाद महापरिज्ञा का लोप हो गया।

वूर्णिकार के अनुसार महापरिज्ञा अध्ययन अयोग्य को नहीं पढ़ाया जाता था।^४ पंडित दलसुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि अध्ययन-अध्यापन में अधिकारी की अपेक्षा रहने से इसका वाचन कम हो गया और धीरे-धीरे इसका लोप हो गया। इसके अतिरिक्त इसमें नाना मोहजन्य दोषों का वर्णन होने से सर्वसाधारण के लिए पठनीय नहीं रहा अतः कालकवलित हो गया।^५ आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार निर्युक्ति में वर्णित विषय-वस्तु के आधार पर ज्ञात होता है कि महापरिज्ञा अध्ययन में महान् परिज्ञा का निरूपण था। कालान्तर में सभी शिष्यों को उसका ज्ञान देना उचित प्रतीत नहीं हुआ इसलिए इस अध्ययन का पाठ विस्मृत हो गया।^६ डॉ. हर्मन जेकोबी के अनुसार यह अध्ययन साधु जीवन का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता था, जिसका वर्णन आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में विस्तार से हुआ है। संभव है इसी कारण से इस अध्ययन को अलग कर दिया क्योंकि यह अध्ययन पुनरुक्त दोष वाला हो गया था।^७ गणाधिपति तुलसी भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि निर्युक्तिकार के अनुसार आचारचूला की प्रथम चूला के सात अध्ययन (सप्तैकक) महापरिज्ञा के सात उद्देशकों से निर्यूढ हैं। इस उल्लेख के आधार पर सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि जो विषय महापरिज्ञा से उद्धृत सात अध्ययनों (सप्तैककों) में हैं, वे ही विषय महापरिज्ञा अध्ययन में रहे होंगे। ऐसी संभावना की जा सकती है कि महापरिज्ञा से उद्धृत सात अध्ययनों के प्रचलन के बाद उसकी आवश्यकता न रही हो फलतः वह असमनुज्ञात और क्रमशः विच्छिन्न हो गया हो।^८

आचारांग सूत्र की चिंतामणि टीका में भी महापरिज्ञा अध्ययन के बारे में श्रुतानुश्रुत परम्परा का उल्लेख है।^९ टीकाकार ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—‘इस महापरिज्ञा अध्ययन में जल, स्थल, आकाश और पाताल में विहार करने वाली विद्या, परकाम्यप्रवेश विद्या तथा सिंह, व्याघ्र आदि का शरीर धारण कर रूप-परिवर्तन करने की विद्या का वर्णन था। इस विषय में गुरु-परम्परा से यह घटना प्रसिद्ध है कि एक आचार्य अपने शिष्य को महापरिज्ञा अध्ययन पढ़ा रहे थे। शौचक्रिया की बाधा होने पर आचार्य

१. आवनि ७६९; जेणुद्धरिया विज्जा, आगाससमा महापरिण्णाओ।
वंदामि अज्जवड्ढरं, अपच्छिम्मे जो सुयधराणं॥

२. प्रभावकचरितः महापरिज्ञाध्ययनादाचारांगान्तरस्थितात्।
श्रीवज्रेणोद्धृता विद्या तदा गगनगामिनी॥

३. आटी पृ. १७३; अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरः,
तच्च व्यवच्छिन्नमिति।

४. आचू पृ. २४४; महापरिण्णा न पढिज्जइ असमणुण्णाया।

५. श्रमण १९५७; आचारांग सूत्र : एक परिचय।

६. आचारांगभाष्यम्, पृ. ३५१; निर्युक्तिवर्णितविषय-
वस्तुवाधारेण ज्ञायते तस्मिन् महती परिज्ञा
निरूपिता आसीत्। कालान्तरे सर्वशिष्येभ्यः
तस्याः प्रदानं नोचितं प्रतीतम्। तेन तस्याध्यय-
नस्य पाठः विस्मृतिं नीतः।

७. Ācārāṅga sūtra, perface page 50।

८. आचारांगभाष्यम् भूमिका नृ. १९।

९. आचारांग चिंतामणि टीका पृ. ३६३-६५।

शौचार्थ बाहर चले गए। शिष्य ने चंचलतावश महापरिज्ञा में वर्णित विद्या के आधार पर सिंह का रूप धारण किया। शिष्य वापिस मूल रूप में आने की विद्या से अपरिचित था इसलिए वह असली रूप में नहीं आ सका। आचार्य जब वापिस आए तब शिष्य को सिंह रूप में देखा। आचार्य ने उसे वापिस मुनि रूप में परिवर्तित कर दिया। इस घटना को देख आचार्य ने विचार किया कि पंचम काल में इस अध्ययन के गठन-पाठन से लाभ नहीं, अनर्थ होने की संभावना अधिक है अतः उसी समय से इसका वाचन स्थगित कर दिया। बाद में इसका संकलन भी नहीं हुआ और कालान्तर में इसका विच्छेद हो गया। टीकाकार ने अंत में उल्लेख किया है कि यह बात उन्हें अपने आचार्य से ज्ञात हुई।

महापरिज्ञा शब्द का अर्थ एवं उसमें वर्णित विषयवस्तु

महापरिज्ञा में दो शब्द हैं—महा-परिज्ञा। निर्युक्तिकार ने महा शब्द के दो अर्थ किए हैं—१ प्रधान या विशेष २. परिमाण में बृहद्।^१ यहाँ महा शब्द प्रधान अर्थ का द्योतक है।^२ निर्युक्तिकार ने परिज्ञा शब्द के भी दो भेद किए हैं—१. ज परिज्ञा २. प्रत्याख्यान परिज्ञा। मूलगुण और उत्तरगुण के आधार पर भावपरिज्ञा के भेद-प्रभेद किए गए हैं।^३ मूलतः परिज्ञा शब्द ज्ञान और आचरण का समन्वित रूप है। निर्युक्तिकार ने महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देश्यों का उल्लेख किया है।^४ वर्तमान में महापरिज्ञा अध्ययन में वर्णित विषय-वस्तु को जानने के निम्न साधन हमारे समक्ष हैं—

१. निर्युक्तिकार ने प्रारम्भिक गाथाओं में जहाँ सभी अध्ययनों के विषयों का संक्षेप में वर्णन किया है, वहाँ महापरिज्ञा अध्ययन के लिए कहा है कि इसमें मोहजन्य परीषह और उपसर्गों का वर्णन है।^५ चूर्णिकार और टीकाकार ने भी इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन उपसर्गों को जानकर कर्म प्रत्याख्यान परिज्ञा से कर्म क्षीण करने चाहिए।^६ मोह से उत्पन्न परीषह स्त्री के प्रति आसक्ति से उत्पन्न खूबरे की ओर संकेत देता है। स्वयं निर्युक्तिकार ने सबसे अंतिम गाथा में कहा है कि दैवी, मानुसी और तिर्यच स्त्री के प्रति आसक्ति का मन, वचन और काया से परित्याग कर देना चाहिए, यही महापरिज्ञा अध्ययन का सार है।^७

२. आचारांगनिर्युक्ति के अनुसार सप्तैकक धूलिका के सात उद्देशक महापरिज्ञा अध्ययन से निर्मूढ हैं अतः इस अध्ययन के आधार पर भी महापरिज्ञा की विषय-वस्तु का सामान्य ज्ञान हो सकता है।^८

३. प्रश्नरतिप्रकरण के अनुसार इस अध्ययन में मूलगुण और उत्तरगुणों को भलीभांति जानकर तंत्र-मंत्र तथा आकाशगानिनी ऋद्धि का प्रयोग न करने का तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से द्वेष का त्याग कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र में रमण करने का विधान है।^९

४. इस अध्ययन की विषय-वस्तु जानने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन महापरिज्ञा अध्ययन की निर्युक्ति है। इसकी प्रारम्भिक ग्यारह गाथाओं में इसके उद्देश्यों में वर्णित विषय-वस्तु का उल्लेख

१. आनि २६४; पाहण्णे महसद्दे, परिमाणे चेव होइ नायब्बो।

२. आनि २६५; तेसि महासद्दे खलु, गहण्णेणं तु निष्कण्णो।

३. आनि २६७, २६८।

४. आनि ३६७।

५. आनि ३४; मोहसमुत्था परीसहुइसग्गा।

६. आचू गृ २४४, आटी पृ १७३।

७. आनि २७७।

८. आनि ३१०; सत्तेककगणि सप्त डि निज्जुद्धई महापरिण्णाओ।

९. प्रश्नरतिप्रकरण ग। ११५ टी. पृ ७७।

मिलता है।^१

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि इसमें साधु-जीवन की कठोर धर्या का उल्लेख था, यह निर्युक्ति गाथाओं में वर्णित विषय-वस्तु से स्पष्ट है। लगता है इतनी कठोर धर्या का पालन असंभव समझकर धीरे-धीरे पठन-पाठन कम होने से इसका लोप हो गया। श्रुति-परम्परा के अनुसार इस अध्ययन में चमत्कार और ऋद्धि-सिद्धि का वर्णन था। संभव है योनिप्राभृत की भांति काललब्धि के अनुसार इसकी वाचना का परिणाम अच्छा नहीं रहा इसलिए समय-समय पर एवं बहुश्रुत आचार्यों ने इसकी वाचना देनी बंद कर दी हो। किन्तु यह बात निर्युक्ति-गाथाओं के आधार पर प्रामाणिक नहीं लगती। यह भी संभव है कि आचार्यों ने वज्रस्वर्गी की गणनगामिनी विद्या वाली वचना के आधार पर इस अध्ययन की विषय-वस्तु के बारे में यह कल्पना की हो। यह भी संभावना की जा सकती है कि उस समय महानरिज्ञा नाम का कोई स्वतंत्र ग्रंथ रहा होगा, जिसमें चमत्कार एवं ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने की विविध विद्याओं का वर्णन होगा। कालान्तर में वह ग्रंथ लुप्त हो गया और नाम-साम्य के कारण आचार्य के इस अध्ययन के साथ यह बात जुड़ गई हो। फिर भी इस विषय में अनुसंधान की आवश्यकता है कि महानरिज्ञा अध्ययन लुप्त क्यों हुआ तथा उसकी विषय-वस्तु क्या थी?

सूत्रकृतांग एवं उसकी निर्युक्ति

सूत्रकृतांग दूसरा अंग अग्रिम है। यह अचारप्रधान और दार्शनिक ग्रंथ है। चूर्णिकार ने इसकी गणना चरण-करणानुयोग में तथा आचार्य शीलंक ने इसे द्रव्यानुयोग के अंतर्गत माना है। इसमें स्वमत की प्रस्थापना के साथ परमत का खंडन भी किया गया है अतः इस ग्रंथ के अध्ययन से तत्कालीन प्रचलित विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं का सहज ज्ञान किया जा सकता है। इस ग्रंथ की तुलना बौद्ध ग्रंथ अभिधम्म पिटक से की जा सकती है। निर्युक्तिकार ने इसको भगवान् विशेषण से अभिहित किया है, जो इसकी विशेषता का स्वयंभू प्रमाण है।^२

सूत्रकृत में दो शब्द हैं—सूत्र और कृत। सूत्र शब्द की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने श्रुतज्ञानसूत्र के चार भेद किए हैं—१. संज्ञासूत्र २. संग्रहसूत्र ३. वृत्तिनिबद्ध ४ और जातिनिबद्ध।^३ सूत्रकृतांग में चारों प्रकार के सूत्रों का उल्लेख है पर मुख्यतः वृत्तिनिबद्ध का प्रयोग अधिक हुआ है क्योंकि यह वृत्तछंद में निबद्ध है। कृत शब्द के संदर्भ में करण की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने श्रुत के मूलकरण का अर्थ त्रिविध योग और शुभ-अशुभ ध्यान किया है।^४ निर्युक्तिकार के अनुसार इस सूत्र में कुछ अर्थ साक्षत् सूत्रित हैं और कुछ अर्थ अर्थापत्ति से सूचित हैं। ये सभी अर्थ युक्तियुक्त हैं तथा ये आगमों में अनेक प्रकार से प्रयुक्त, प्रसिद्ध और अनादि हैं।^५

१. देखें अ. नि. २५३-२७० तक की गाथाओं का अनुवाद।
गा. २५३-६३ तक की प्रारम्भिक ग्यारह गाथाएं प्रकाशित
टीका में उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन २६४-७० तक की
सात गाथाएं दोनों श्रुतत्कंधों की टीका के अंत में दी गयी
हैं। टीकाकार ने 'अविवृता निर्युक्तिरेषा महापरिज्ञायाः'
भात्र इतना ही उल्लेख किया है। प्रकाशित टीका में चालू

संख्य क्रम में इन गाथाओं को नहीं जोड़ा गया है।
२५३ से २७० तक की महापरिज्ञा अध्ययन की निर्युक्ति
गाथाएं सभी आदर्शों में मिलती हैं।

२. सू. नि. १।

३. सू. नि. ३

४. सू. नि. १६

५. सू. नि. २१।

कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा करते हुए, आयुष्य कर्म की अनुदीरणा करते हुए, पुवेद का अनुभव करते हुए तथा क्षायोपशमिक भाव में वर्तमान गणधरों ने इस सूत्र की रचना की।^१ पाश्चात्य विद्वान् विंटरनिट्स के अनुसार भाषा की दृष्टि से सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कंध अधिक प्राचीन है। दूसरा श्रुतस्कंध परिशिष्ट के रूप में बाद में संकलित किया गया है।^२ यह मान्यता भी प्रचलित है कि प्रथम श्रुतस्कंध के विषयों का ही द्वितीय श्रुतस्कंध में विस्तार हुआ है। विषय-निरूपण एवं भाषा-शैली की दृष्टि से इसका समय महावीर के समकालीन कहा जा सकता है। उस समय प्राकृत जनभाषा थी अतः निर्युक्तिकार कहते हैं कि तीर्थंकरों ने अपने वाग्योग से अर्थ की अभिव्यक्ति की तथा अनेक योगों के धारक गणधरों ने अपने वचनयोग से जीव के स्वाभाविक गुण अर्थात् प्राकृत भाषा में इसको निरूपित किया।^३

अध्ययन एवं विषय-वस्तु

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम अध्ययन के १६ तथा द्वितीय श्रुतस्कंध में सात अध्ययन हैं। इसके प्रथम अध्ययन के चार, दूसरे अध्ययन के तीन, तीसरे अध्ययन के चार तथा चौथे और पांचवें अध्ययन के दो-दो उद्देशक हैं। शेष ग्यारह अध्ययनों तथा दूसरे श्रुतस्कंध के सात अध्ययनों के एक एक उद्देशक हैं। इस प्रकार दोनों श्रुतस्कंधों के कुल मिलाकर २३ अध्ययन तथा तेत्तीस उद्देशक हैं।^४ इसका पद-परिमाण आचारांग से दुगुना अर्थात् ३६ हजार श्लोक प्रमाण था लेकिन वर्तमान में इसका काफी भाग लुप्त हो गया। सूत्रकृतांग का अधिकांश भाग पद्य में है किन्तु कुछ भाग गद्य में भी है।

नंदी के अनुसार इसमें लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय तथा स्वसमय-परसमय का निरूपण है।^५ समवाजो के अनुसार इसमें स्वसमय, परसमय तथा जीव आदि नौ पदार्थों की सूचना है। इसके अतिरिक्त इसमें १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी तथा ३२ विनयवादी दर्शनों अर्थात् ३६३ मतवादों का उल्लेख है।^६

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति (२४-२८) में इसके प्रत्येक अध्ययन की विषय-वस्तु का संक्षेप में निरूपण किया है। उसके अनुसार प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह अध्ययनों के अर्थधिकार इस प्रकार हैं—

१. स्वसमय और परसमय का निरूपण।
२. स्वसमय का बोध।
३. संबुद्ध व्यक्ति का उपसर्ग में सहिष्णु होना।
४. स्त्री-दोषों का विवर्जन।
५. उपसर्गभीरु तथा स्त्री के वशवर्ती व्यक्ति का नरक में उपपात।
६. जैसे महावीर ने कर्म और संसार का पराभव कर विजय के उपाय कहे, वैसा प्रयत्न करना।
७. निःशील तथा कुशील को छोड़कर सुशील और संनिग्नो की सेवा करने वाला शीलवान्।
८. दो प्रकार के वीर्य को जानकर पंडितवीर्य में यत्न करना।
९. यथावस्थित धर्म का कथन।

१. सूनि १३।

२. History of Indian Literature, Vo 2, Page 421।

३. सूनि १९।

४. सूनि २२।

५. नंदी ८२।

६. समग्र. ९०।

१०. समाधि का प्रतिपादन ।
११. सम्प्रागदर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक भोक्षमार्ग का निरूपण ।
१२. क्रियावाद, अक्रियावाद आदि ३६३ तत्त्वों का निराकरण ।
१३. कुमार्ग का निरूपण ।
१४. शिष्यों के गुण और दोषों का कथन तथा नित्य गुरुकुलवास में रहने का उपदेश ।
१५. पूर्व उपन्यस्त आदानीय पद का संकलन ।
१६. पूर्वोक्त अध्ययनों में अभिहित सभी अर्थों का संक्षिप्त कथन ।^१

तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्याणकल्या, छेदोपरस्थापना और व्यवहार धर्मक्रिया का निरूपण किया गया है।^२ आचार्य वीरसेन ने इसके अतिरिक्त स्वसमय और परसमय के प्रतिपादन का उल्लेख भी किया है।^३ कषायपाहुड़ की चूर्णि के अनुसार सूत्रकृतांग में स्वसनय, परसनय, स्त्रीविलोकन, क्लीवता, अस्फुटत्व, मन की बात को रणष्ट न कहना, काम का आवेश, विलस, आस्फोलन-सुख तथा पुरुष की इच्छा करना आदि स्त्री लक्षणों का प्ररूपण है।^४

सूत्रकृतांग निर्युक्ति

निर्युक्ति-रचना के कम में पांचवां स्थान सूत्रकृतांग निर्युक्ति का है। आकार में यह अत्यंत लघुकाल्य है। इसमें सूत्रकृतांग में आए शब्दों की व्याख्या न करके निर्युक्तिकार ने अध्ययनगत शब्दों की व्याख्या अधिक की है। निर्युक्ति के प्रारम्भ में सूत्रकृतांग ग्रंथ के नाम के आधार पर सूत्र एवं कृत. करण शब्द की व्याख्या की गयी है। कालकरण की व्याख्या ज्योतिष् की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस निर्युक्ति में मुख्य रूप से समय, उपसर्ग, स्त्री, पुरुष, नरक, त्तुति, शील, वीर्य, धर्म, समाधि, मार्ग आदि शब्दों का निक्षेप के माध्यम से विशद विवेचन हुआ है। इसमें समय, वीर्य, मार्ग आदि शब्दों की व्याख्या अनेक आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक रहस्यों को प्रकट करने वाली है।

सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन में अनेक वादों का वर्णन है पर निर्युक्तिकार ने पंचभूतवाद और अकारकवाद—इन दो वादों के खंडन में अपने हेतु प्रस्तुत किए हैं। पांचवें अध्ययन में पन्द्रह परमाधार्मिक देवों के कार्यों का वर्णन रोमांच पैदा करने वाला है।

द्वितीय श्रुतस्कंध के प्रथम पौडरीक अध्ययन की निर्युक्ति में संसार में विविध क्षेत्रों की सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं की गणना करा दी गयी है। आहारपरिज्ञा नामक तीसरे अध्ययन की निर्युक्ति में आहार-अनाहार से संबन्धित सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है। निर्युक्तिकार का शैलीगत वैशिष्ट्य है कि वे कथा का विस्तार नहीं करते लेकिन छोटे अध्ययन में आर्द्रककुमार की विस्तृत कथा दी है। अंतिम अध्ययन की निर्युक्ति में नालंदा में हुई गौतम और पार्ष्वापत्यीय श्रमण उदक की चर्चा का संकेत है।

दशाश्रुतस्कंध एवं उसकी निर्युक्ति

छेदसूत्रों में प्रथम स्थान दशाश्रुतस्कंध का आता है। इनको छेदसूत्र क्यों कहा गया इस बारे में

१. सूनि २४-२८ ।

२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/२० पृ. ७३ ।

३. षट्खंडागम धवला भाग १ पृ. ९९ ।

४. कषा. चू. भाग १ पृ. ११२ ।

विद्वानों ने एक कलाना यह की है कि इनमें छेद प्रायश्चित्त से संबंधित वर्णन है अतः इनका नाम छेदसूत्र पड़ गया पर वर्तमान में उपलब्ध छेदसूत्रों की विषय-वस्तु देखते हुए यह बात काल्पनिक और निराधार प्रतीत होती है। निशीथभाष्य में छेदसूत्रों को उत्तमश्रुत कहा गया है। निशीथ चूर्णिकार इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इनमें प्रायश्चित्त-विधि का वर्णन है, इनसे चारित्र की विशेषता होती है, इसलिए छेदसूत्र उत्तमश्रुत हैं।^१ इसके अतिरिक्त ये पूर्ण से निर्गूढ़ हुए इसलिए भी आगम-साहित्य में छेदसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। छेदसूत्रों में मुख्यतः उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त—इन चार विषयों का वर्णन है। दशाश्रुतस्कंध उत्सर्गप्रधान छेदसूत्र है, इसमें मुख्यतः मुनि के सामान्य आचार का वर्णन हुआ है।

छेदसूत्रों की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद नहीं है। जीतकल्प चूर्णि में छेदसूत्रों के रूप में इन ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—१. कल्प २. व्यवहार ३. कल्पिकाकल्पिक ४. क्षुल्लकल्प ५. महाकल्प, ६. निशीथ आदि।^२ चूर्णिकार ने दशाश्रुतस्कंध का उल्लेख नहीं किया अतः आदि शब्द से यहाँ संभवतः दशाश्रुतस्कंध ग्रंथ का संकेत होना चाहिए। कल्पिकाकल्पिक, महाकल्प एवं क्षुल्लकल्प आदि ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं। फिर भी चूर्णि के इस उल्लेख से यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि ये प्रायश्चित्तसूत्र थे और इनकी गणना छेदसूत्रों में होती थी। सानावारी शतक आगमाधिकार में छेदसूत्रों के रूप में छह ग्रंथों के नामों का उल्लेख मिलता है—दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प और महानिशीथ।^३ पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने जैनधर्म पुस्तक में जीतकल्प के स्थान पर पंचकल्प (अनुपलब्ध) को छेदसूत्रों के अंतर्गत माना है।^४ नाइचात्य विद्वान् विंटरनिट्स ने विस्तार से छेदसूत्रों की संख्या एवं उनके प्रणयन के क्रम की चर्चा की है।^५ हीरालाल कापड़िया के अनुसार पंचकल्प का लोप होने के बाद जीतकल्प छेदसूत्रों में गिना जाने लगा।^६

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग २ में छेदसूत्रों के अंतर्गत इन सूत्रों की परिगणना की गयी है—१. दशाश्रुतस्कंध २. बृहत्कल्प ३. व्यवहार ४. निशीथ ५. महानिशीथ ६. पंचकल्प अथवा जीतकल्प।^७ तेरपंथ की परम्परा में छेदसूत्रों के अंतर्गत चार ग्रंथों को अंतर्निविष्ट किया है—१. दशाश्रुतस्कंध २. बृहत्कल्प ३. व्यवहार ४. निशीथ। दिगम्बर साहित्य में कल्प, व्यवहार और निशीथ—इन तीन ग्रंथों का ही उल्लेख है। वहाँ दशाश्रुतस्कंध का उल्लेख नहीं है।

चूर्णिकार ने छेदसूत्रों में दशाश्रुतस्कंध को प्रमुख रूप से स्वीकार किया है।^८ इसको प्रमुख स्थान देने का संभवतः यही कारण रहा होगा कि इसमें मुनि के लिए आचरणीय और अनाचरणीय तथ्यों का क्रमबद्ध वर्णन है। शेष तीन सूत्र इसी के उपजीवी हैं। छेदसूत्रों के नामकरण के बारे में विस्तृत वर्णन देखें, व्यवहारभाष्य, भूमिका पृ. ३४।

पंचकल्प भाष्य के अनुसार कुछ आचार्य दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार—इन तीनों को एक श्रुतस्कंध मानते थे तथा कुछ आचार्य दशाश्रुत को प्रथम तथा कल्प और व्यवहार को दूसरे श्रुतस्कंध के

१. निभा ६१८४ भाग ४ चू. पृ. २५३; छेदसुपमुराम्मुयं।

२. जीचू पृ. १. कल्प-व्यवहार-कल्पिकाकल्पिक-क्षुल्लकल्प महाकल्पान्-निशीथाइएसु छेदसुतेसु अइनित्थरेण पच्छित्त भणियं।

३. सामाचारी शतक, आगमाधिकार।

४. जैनधर्म पृ. २५९।

५. History of Indian Literature, Vol 2 page 446।

६. A History of the Canonical---Page 37।

७. जैन सा. भाग २ पृ. १७३।

८. दचू पृ. २; इमं पुण छेदसुत्तपमुहभूतं।

रूप में स्वीकृत करते थे।^१

नामकरण

स्थानांग सूत्र में दशाश्रुतस्कंध का दूसरा नाम 'आचारदश' भी मिलता है।^२ 'आचार' दशा और दशाश्रुतस्कंध—ये दोनों ही नाम ग्रंथ की विषय-वस्तु को सार्थक करते हैं। दश श्रुतों-अध्ययनों का स्कंध अर्थात् समूह को दशाश्रुतस्कंध कहा गया है। जिसमें दश प्रकार के आचार का वर्णन हो, वह आचारदशा है। यहाँ दशा शब्द अवस्था का वाचक नहीं अपितु संख्या का द्योतक है, ऐसा निर्युक्तिकार ने स्पष्ट किया है। निश्चय के माध्यम से दशा की व्याख्या करते हुए भावदशा के दो प्रकार बताए गए हैं—आयुर्विपाकदशा और अध्ययनदशा। आयुर्विपाकदशा के दस तथा अध्ययनदशा के दो प्रकार बताए हैं—छोटी अध्ययनदशा के लिए दशाश्रुतस्कंध के दस अध्ययनों की ओर संकेत किया है तथा बड़ी अध्ययन दशा ज्ञाताधर्मकथा को माना है।^३ निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिस प्रकार वस्त्र की विभूषा के लिए उसकी दशा-किनारी होती है, वैसे ही ये दशाएं हैं।^४

रचनाकार

छेदसूत्रों के रचनाकार चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु थे। पंचकल्पभाष्य तथा दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति की प्रथम गाथा में भद्रबाहु को वंदना करते हुए कहा गया है कि दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और अथर्वार — इन तीन छेदसूत्रों के कर्ता प्राचीनगोत्री आचार्य भद्रबाहु हैं। चतुर्दशपूर्वी आवश्यकता होने पर पूर्वों से सूत्रों का निर्यूहण करते हैं अतः धृति, स्मृति एवं संहनन आदि की क्षीणता देखकर आचार्य भद्रबाहु ने पूर्वों से छेदसूत्रों का निर्यूहण किया।^५ निशीथ का निर्यूहण नौवें पूर्व के प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय आचारवस्तु से हुआ।^६

अध्ययन एवं विषयवस्तु

दशाश्रुतस्कंध के दश अध्ययनों के नाम निर्युक्तिकार के अनुसार इस प्रकार हैं—१ असमाधि २ सबलत्व ३. अनाशातना ४. गणिगुण ५. मनःसमाधि ६. श्रावकप्रतिमा ७. भिक्षुप्रतिमा ८. कल्प (पञ्जोसवणाकम्प) ९. मोह १०. निदान।^७ ठाणं सूत्र में संख्या के साथ अध्ययनों के नामों का उल्लेख है—

१. बीस असमाधिस्थान	६. ग्यारह उपासकप्रतिमा
२. इक्कीस शबलदोष	७. बारह भिक्षुप्रतिमा
३. तेतीस आशातना	८. पर्युषणकल्प
४. अष्टविध गणिसंपदा	९. तीस मोहनीयस्थान
५. दश चित्तस्माधिरस्थान	१०. आज्ञातिस्थान।

दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति

छेदसूत्रों पर यह स्वतंत्र रूप से निर्युक्ति मिलती है। अन्य छेदसूत्रों पर लिखी गयी निर्युक्तियाँ

१. पं.भा. २५।
२. उण्यं १०/११५।
३. दनि ५।
४. दनि ५।

५. ददु न ३।
६. आनि ३११।
७. दनि ८।
८. उण्यं १०/११५।

भाष्य के साथ मिल गयीं हैं। आकार में यह सबसे छोटी निर्युक्ति है पर संक्षिप्त शैली में आचार विषयक अनेक विषयों का वर्णन इसमें हुआ है। निर्युक्ति के प्रारम्भ में दशा शब्द की विस्तृत व्याख्या की गयी है।

निर्युक्तिकार ने सामाधि, स्थान, शबल, आशातना, गणी, संपदा, चित्त, उपासक, प्रतिमा आदि शब्दों की निक्षेपपरक व्याख्या की है। उपासकप्रतिमा नामक षष्ठ अध्यायन में उपासकों के भेदों का वर्णन है, साथ ही उपासक और श्रावक में क्या अंतर है, इसका तार्किक विवेचन किया गया है। निर्युक्तिकार ने प्रसंगवश अनेक प्रकार की प्रतिमाओं का भी उल्लेख किया है। एकलविहारप्रतिमा स्वीकार करने वाले मुनि के गुण विशिष्ट साधुत्व के पैरामीटर हैं।

आठवीं पर्जन्यासवणा दशा में पर्युषणाकल्प का व्याख्यान किया गया है। निर्युक्तिकार ने साधु के विहार-कल्प, वर्षावास स्थापित करने एवं विहार न करने के कारणों का विस्तार से वर्णन किया है तथा जघन्य, नध्म और उत्कृष्ट वर्षावास के विकल्प भी प्रस्तुत किए हैं। द्रव्य स्थापना में आहार, विगय, मात्रक आदि सात द्वारों की विस्तृत विवेचना की गयी है।

पर्युषणा का मूल अर्थ है—कषाय का उपशमन। पर्युषणाकाल में यदि मुनि को अधिकरण या कषाय का वेग आ जाए तो सांत्व्यसरिक उपाशमन करना चाहिए। अधिकरण के प्रसंग में निर्युक्तिकार ने दुरुक्तक, प्रद्योत एवं द्रमक के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। कषाय के अंतर्गत क्रोध आदि कषयों के चार-चार भेदों का उल्लेख किया है—क्रोध, मान, मया और लोभ के दोषों को बताने के लिए निर्युक्तिकार ने मरुक, अत्वंकारीभट्टा, पांडुरा तथा आचार्य मंशु की कथाओं का निर्देश किया है। अंत में संयम-क्षेत्र की विशेषता तथा वर्षा में भिक्षा की आपवादिक विधि का उल्लेख किया गया है।

नौवीं दशा की निर्युक्ति में मोह के निक्षेप तथा कर्न शब्द के एकार्थकों का उल्लेख है। निर्युक्तिकार ने महामोहनीय कर्मबंध के कारणों का वर्णन करने की प्रेरणा दी है क्योंकि इनसे अशुभ कर्म का बंध होता है, जो दुःख का कारण बनते हैं।

दसवीं निदानस्थान दशा का दूसरा नाम आज्ञातिस्थान भी है। इसमें जाति, आज्ञाति और प्रत्याज्ञाति की परिभाषाओं के साथ मोक्षगमन के योग्य साधु की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। निर्युक्तिकार ने निक्षेप के माध्यम से बंध का विस्तृत वर्णन किया है तथा अंत में संसार-समुद्र से तरने के पांच उपाय बताए हैं। कहा जा सकता है कि यह निर्युक्ति आचार विषयक अनेक विषयों का स्पष्टीकरण करने वाली है।

निर्युक्तियों की गाथा-संख्या : एक अनुचिंतन

प्रस्तुत ग्रंथ में संपादित पांचों निर्युक्तियों की उपलब्धि के तीन स्रोत प्राप्त होते हैं—१. निर्युक्ति की हस्तलिखित प्रतियां। २. चूर्णि में प्रकाशित निर्युक्ति-गाथाएं ३. टीका में प्रकाशित निर्युक्ति-गाथाएं।^१ दशवैकालिक और उत्तराध्ययननिर्युक्ति की जितनी भी हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुई, उनमें भाष्य और निर्युक्ति की गाथाएं भी साथ में लिखी हुई थीं अतः उनके आधार पर गाथाओं का सही निर्णय करना संभव नहीं था। चूर्णि और टीका की गाथा-संख्या में भी पर्याप्त अंतर है। दशवैकालिक की प्रकाशित

१ दशाश्रुतरकंध की टीका अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

निर्युक्ति साहित्य . एक पर्यवेक्षण

टीका में ३७२ निर्युक्ति-गाथाएँ हैं, जबकि प्रकाशित अगस्त्यसिंहचूर्ण में मात्र २७१ निर्युक्ति-गाथाएँ ही हैं। जिनदासचूर्ण में गाथाओं का केवल संकेत मात्र है अतः उसमें गाथाओं के व्यवस्थित क्रमांक नहीं हैं। हमारे द्वारा संपादित दशवैकालिकनिर्युक्ति में ३४९ गाथाएँ हैं। गाथा-संख्या में इतना अंतर कैसे आया तथा व्याख्याकारों में इतना मतभेद कैसे रहा? यह ऐतिहासिक दृष्टि से शोध का विषय है। गाथा भाष्य की होनी चाहिए या निर्युक्ति की, यह निर्णय प्रायः प्राचीनता की दृष्टि से चूर्णिकार को आधार मानकर किया गया है। अनेक भाष्य गाथाओं को तर्कसंगत प्रमाण देकर निर्युक्ति गाथा के क्रम में रखा है तथा अनेक निर्युक्ति गाथाओं को भाष्यगाथा के रूप में भी सिद्ध किया है।

कुछ निर्युक्ति-गाथाएँ भी मूलसूत्र के साथ मिल गयी हैं, जैसे—वयल्लक्कं..... (दशनि २४४) गाथा दशवैकालिक के छठे अध्ययन में भी मिलती है। इसी प्रकार उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गा २४९) की 'जहा लाभो तहा लोभो' गाथा कालान्तर में उत्तराध्ययन सूत्र के साथ जुड़ गई।^१ सम्मिश्रण का एक कारण स्मृति-दोष भी रहा होगा क्योंकि मूलसूत्र के साथ निर्युक्ति भी कंठस्थ होने से कहीं-कहीं गाथाओं में विपर्यय हो गया। व्याख्याग्रंथों की गाथाओं का मूलसूत्र के साथ तथा निर्युक्ति की गाथाओं का भाष्य के साथ सम्मिश्रण इतना सहज हो गया है कि उनका पृथक्करण करना अत्यंत जटिल कार्य है।

गाथाओं में अंतर रहने का एक कारण यह भी बना कि अनेक स्थलों पर चूर्णिकार ने गाथा को सरल समझकर उसका उल्लेख नहीं किया। जिनदासचूर्ण में अनेक स्थलों पर 'तिणिण गाहाओ भाणियव्वाओ, सुगमं चेव' का उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं गाथा की व्याख्या होने पर भी उसका संकेत नहीं दिया गया है। संभव है लिपिकर्त्ताओं द्वारा संकेत लिखना छूट गया हो।

दशवैकालिकनिर्युक्ति एवं उसके भाष्य की गाथाओं का सही-सही निर्णय करना अत्यंत कठिन कार्य था क्योंकि हरिभद्र द्वारा मान्य कुछ भाष्य गाथाओं को स्थविर अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्ण में निर्युक्ति-गाथा माना है। इसके अतिरिक्त हरिभद्र की प्रकाशित टीका में जिन गाथाओं के आगे 'भाष्यम्' का उल्लेख है, वह भी अनेक स्थलों पर सम्यक् प्रतीत नहीं होता। अनेक निर्युक्ति गाथाओं के आगे भी 'भाष्यम्' का उल्लेख है तथा कहीं-कहीं भाष्य की गाथाओं को भी निर्युक्ति गाथा के क्रम में जोड़ दिया है। हरिभद्र ने अपनी टीका में भाष्य गाथा के लिए 'आहं भाष्यकारः' ऐसा संकेत प्रायः नहीं दिया है।

निर्युक्ति-गाथा के संपादन-काल में अनेक चिंतन के बिंदु उभरकर सामने आए, जिनके आधार पर हमने गाथाओं के बारे में निर्णय लिया है कि यह प्राचीन होनी चाहिए या प्रक्षिप्त, भाष्यगाथा होनी चाहिए अथवा निर्युक्तिगाथा। यद्यपि गहन चिंतन-भवन के बाद भाष्य और निर्युक्ति की गाथाओं का पृथक्करण किया गया है फिर भी इसे अंतिम प्रमाण नहीं कहा जा सकता। प्रकाशित होने पर अनेक गाथाओं के बारे में स्पष्ट अनुभूति हुई कि ये गाथाएँ प्रक्षिप्त होनी चाहिए। लेकिन प्रकाशित होने के बाद उनके क्रम में अंतर करना संभव नहीं था अतः यहां कुछ गाथाओं के बारे में विमर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, साथ ही गाथा-संख्या के निर्धारण में प्रयुक्त मुख्य बिंदुओं को भी प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. किसी गाथा के लिए जहां चूर्णिकार ने 'एत्थ निज्जुत्तिगाहा' का उल्लेख किया है, वहां

टीकाकार ने 'एतदेव व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः' का संकेत दिया है। ऐसी विवादास्पद गाथाओं को हमने चालू प्रसंग, पौर्वापर्य एवं चूर्णि की प्राचीनता—इन सब दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है। उदाहरणार्थ देखें गा. दशनि २२०। इसी प्रकार दशनि गा. ३४५ के लिए दोनों चूर्णिकारों ने इमा उवग्धातनिज्जुत्तिपदमगाहा तथा टीकाकार ने 'एतदेवाह भाष्यकारः' का उल्लेख किया है। इस गाथा को भी हमने निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है।

दशवैकालिकनिर्युक्ति में कुछ गाथाएं ऐसी भी हैं, जिन्हें हमने भाष्यगाथा के क्रम में रखा है। ये गाथाएं प्रकाशित टीका में निर्युक्ति-गाथा के क्रम में हैं, किन्तु चूर्णि में इन गाथाओं का कोई संकेत नहीं मिलता। हमने हेतु पुरस्सर उनको भाष्यगाथा सिद्ध किया है। देखें—८९/१, ९५/३, ९६/२, ९७/१, १२०/१, १२३/१, १५१/१, २१७/१, २१८/१ गाथाओं के टिप्पण। ये गाथाएं केवल व्याख्यारूप हैं, इनको मूल क्रम में न रखने से भी चालू विषय-वस्तु में कोई अंतर नहीं आता। उदाहरणार्थ गा. ९७/१ भाष्य की होनी चाहिए क्योंकि गथा के उत्तरार्ध में 'गुरुराह अतएव' का उल्लेख किया है। भाष्यकार ही निर्युक्तिकार के बारे में ऐसा कह सकते हैं अन्यथा निर्युक्तिकार यदि इस शब्दावलि को कहें तो मूल सूत्र के साथ इसका कोई संबंध नहीं जुड़ता, दूसरी बात इस गाथा की विषय-वस्तु अगली गथा में प्रतिपादित है अतः यह भाष्यगाथा होनी चाहिए।

२. कहीं-कहीं टीका की मुद्रित प्रति में गाथाओं के आगे 'भाष्यम्' का उल्लेख है किन्तु चूर्णि में वे गाथाएं स्पष्ट रूप से निर्युक्तिगाथा के रूप में व्याख्यात हैं। छंद, विषय-वस्तु और रचना-शैली की दृष्टि से भी ये निर्युक्ति-गाथा की कसौटी पर खरी उतरती हैं। हरिभद्र ने अपनी व्याख्या में इन गाथाओं के बारे में कोई संकेत नहीं दिया है कि ये निर्युक्ति की गाथाएं हैं अथवा भाष्य की? लगता है मुद्रित टीका में संपादक ने स्वयं ही गाथाओं के आगे 'भाष्यम्' का उल्लेख कर दिया है अतः उसको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। दशवैकालिकनिर्युक्ति में अनेक भाष्य गाथाओं को हमने सप्रमाण एवं सतर्क निर्युक्ति गाथा के क्रम में रखा है। देखें दशनि गा. ९०, ९१, १२६, १९७, २०१-२०६, २०९, २१०, २१६। उत्तराध्ययननिर्युक्ति २०३-२७ तक की गाथाओं के लिए टीकाकार ने वैकल्पिक रूप से भाष्यगाथा का उल्लेख किया है। यद्यपि ये भाष्य-गाथाएं अधिक संभावित हैं पर हमने इनको निर्युक्ति-गाथा के क्रम में रखा है। उनि गा. २२७ में 'सगलनिउणे पयत्थे जिणचउदसपुत्थि भासंति' का उल्लेख भी स्पष्ट करता है कि ये गाथाएं बाद में किसी आचार्य द्वारा रचित हैं। अन्यथा चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु अपने बारे में ऐसा उल्लेख नहीं करते। हमने इनको निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है।

३. दशवैकालिकनिर्युक्ति में कहीं-कहीं द्वारगाथाओं में उल्लिखित द्वार के आधार पर भी हमने गाथाओं का निर्णय किया है। जैसे—दशनि गा. १३, १४, १८ ये तीन गाथाएं चूर्णि में निर्दिष्ट नहीं हैं। ५ दलसुखभाई मालवणिद्या ने इन्हें हरिभद्रकृत माना है किन्तु इन्हें हरिभद्र की रचना नहीं माना जा सकता क्योंकि हरिभद्र ने १३ वीं गाथा के प्रारम्भ में 'अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं निर्युक्तिकार एव यथावसरं वक्ष्यति' का तथा गा. १४ वीं के प्रारम्भ में 'चाह निर्युक्तिकारः' का उल्लेख किया है। यदि वे स्वयं रचना करते तो ऐसा उल्लेख नहीं करते। ये दोनों निर्युक्ति की गाथाएं हैं, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि १२ वीं द्वारगाथा के 'जत्तो' द्वार की व्याख्या वाली गाथाएं जब चूर्णि में निर्युक्ति के क्रम में

निर्युक्ति साहित्य : एक पर्यवेक्षण

हैं तब 'जेण' और 'जायंति' द्वार का रण्ठीकरण करने वाली गाथाएं भी निर्युक्तिकार द्वारा रचित होनी चाहिए। चूर्णि में निर्दिष्ट न होने पर भी हमने इनको निर्युक्ति-गथा के क्रम में रखा है।

४. दशवैकालिकनिर्युक्ति की अनेक गाथाएं चूर्णि में गाथा रूप में निर्दिष्ट नहीं हैं किन्तु उनका भावार्थ चूर्णि में मिलता है। ऐसी गाथाओं के बारे में दो विकल्प उभरकर सामने आते हैं-

(क) चूर्णि की व्याख्या के आधार पर बाद के आचार्यों ने गाथा की रचना कर दी हो।

(ख) अथवा लिपिकार द्वारा चूर्णि में गाथा का संकेत छूट गया हो।

उदाहरण स्वरूप गा. ४०, ४२ से ४५ इन पांचों गाथाओं का चूर्णि में भावार्थ एवं व्याख्या है पर गाथा का संकेत नहीं है किन्तु ये गाथाएं निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि इनमें सूत्रगत शब्दों की व्याख्या है। इसके अतिरिक्त अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ. ११ पर २० वीं गाथा की व्याख्या में कहा है कि संयम और तप निर्युक्ति विशेष से कहे जाएंगे। इन गाथाओं में धर्म, संयम एवं तप की व्याख्या है। गा. ३९ में लौकिक धर्म का निरूपण है अतः लोकोत्तर धर्म की व्याख्या करने वाली ४० वीं गाथा भी निर्युक्ति की होनी चाहिए। इसी प्रकार ५० से ८५ तक की ३६ गाथाओं का भी चूर्णि में भावार्थ है पर गाथाएं नहीं हैं। हमने विषय की संबद्धता एवं टीकाकार की व्याख्या के आधार पर इनको निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है।

५. कहीं-कहीं किसी गाथा की व्याख्या चूर्णि एवं टीका दोनों में नहीं मिलती लेकिन हस्तप्रतियों में वह गाथा मिलती है। ऐसी गाथाओं को हमने प्रायः निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं जोड़ा है क्योंकि हस्त आदर्शों में लिपिकारों द्वारा प्रसंगवश निर्युक्ति-गाथा के साथ अन्य अनेक गाथाएं भी लिख दी गयी हैं। जैसे—दशनि २२१/१, २७४/१, उनि २८/१, दनि ३३/१, २, ४४/१, ६४/१ आदि। लेकिन कहीं-कहीं व्याख्याकारों द्वारा व्याख्यात न होने पर भी आदर्शगत गाथा को भाषा-शैली एवं विषय की संबद्धता की दृष्टि से निर्युक्ति-गाथा के क्रम में रखा है। जैसे—दशनि १४५, २८५, उनि ४८, ३२०, आनि २९४, दनि २३ आदि। कहीं-कहीं कोई गाथा एक ही प्रति में मिली है तो भी विषय की संबद्धता के आधार पर उसे निर्युक्ति-गाथा के क्रम में जोड़ दिया है। जैसे—दशनि गा ३३९ केवल ब प्रति में मिलती है।

६. कहीं-कहीं भाष्य या अन्य व्याख्याग्रंथों की गाथाएं भी निर्युक्ति गाथाओं के साथ मिल गयी हैं। लिपिकारों द्वारा स्मृति के लिए हासिए ने प्रसंगवश विषय से संबद्ध गाथाएं लिख दी गयीं जो बाद में मूलग्रंथ के साथ मिल गयीं। अनेक स्थलों पर ऐसी गाथाओं को हमने निर्युक्ति के क्रमांक में नहीं जोड़ा है। जैसे दशनि ९/१, १५७/१। इसी प्रकार दशनि २५/१, २ ये दोनों गाथाएं विशेषावश्यक भाष्य की हैं किन्तु टीका में इनके लिए 'आह निर्युक्तिकारः' का उल्लेख है। इस उल्लेख से संभव लगता है कि हरिभद्र के समय तक ये गाथाएं निर्युक्तिगाथा के रूप में प्रसिद्ध हो गयी थीं लेकिन हमने इनको निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं रखा है। चूर्णि में भी ये गाथाएं निर्युक्तिगाथा के रूप में निर्दिष्ट नहीं हैं।

७. कहीं-कहीं चूर्णि में गाथा का उल्लेख एवं व्याख्या नहीं है लेकिन टीकाकार ने उन गाथाओं को 'आह निर्युक्तिकारः', 'अधुना निर्युक्तिकारो', 'निर्युक्तिकृदाह', 'चोक्तं निर्युक्तिकारेण' आदि उल्लेखपूर्वक निर्युक्तिगाथा रूप में स्वीकृत किया है। संभव है कि टीकाकार के समय तक ये गाथाएं निर्युक्ति-गाथा के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थीं अतः टीकाकार को प्रमाण मानकर हमने ऐसी गाथाओं को

निर्युक्ति-गाथा के क्रम में रखा है। जैसे -दशनि गा. १-७. ११. १०६-१३, उनि गा. ६५, सूनि गा. ५१-५३ आदि।

कहीं कहीं टीकाकार ने गाथा के संबंध में कुछ निर्देश न भी दिया हो तो भी कुछ गाथाओं को केवल प्रकाशित टीका और हस्तप्रतियों के आधार पर निर्युक्ति के क्रम में स्वीकार किया है जैसे दशनि गा. ९३। गा. ९३ विषय की दृष्टि से गा. ९४ से संबद्ध है। इसको निर्युक्ति-गाथा के क्रम में नहीं रखने से विषयक्रम में असंबद्धता का अनुभव होता है। कहीं-कहीं स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि चूर्णिकार द्वारा गाथा का संकेत छूट गया है अथवा गाथा को सरल समझकर उसकी व्याख्या नहीं की गयी है। जैसे दशनि १४५, ३०५। लेकिन कहीं-कहीं हस्तप्रतियों और टीका में संकेतित तथा चूर्णि में अनुलिखित और अव्याख्यात गाथाओं को विषय-वस्तु की असंबद्धता और व्याख्यापरकता के आधार पर निर्युक्ति-गाथा के क्रम में नहीं भी जोड़ा है जैसे दशनि गा. २४०/१, ३०७/१, ३१५/१।

८. चूर्णि में निर्युक्ति के क्रम में प्रकाशित गाथा को भी कहीं-कहीं हमने निर्युक्ति के क्रम में नहीं रखा है। इसका कारण है विषय-वस्तु एवं भम्भा-शैली की भिन्नता। जैसे—दशनि गा. २११/१ को आचार्य हरिभद्र ने 'वृद्धास्तु व्याचक्षते' उल्लेखपूर्वक उद्धृत गाथा के रूप में रखा है। यह गाथा चूर्णिकार द्वारा रचित है अथवा काय के प्रसंग में पहेली के रूप में बाद के किसी आचार्य द्वारा जोड़ी गयी है। इसे मूल क्रमांक में न रखने पर भी यालू विषय-वस्तु के क्रम में कोई अंतर नहीं आता है।

९. दशवैकालिकनिर्युक्ति की कुछ गाथाओं का संकेत जिनदास चूर्णि में है किन्तु अगस्त्यसिंह चूर्णि में नहीं है। ऐसी गाथाओं को जिनदास चूर्णि एवं हरिभद्रीय टीका के आधार पर निर्युक्ति-गाथा के क्रम में रखा है। जैसे गा. २६-३० इन पांच गाथाओं के बारे में अगस्त्यसिंह चूर्णि में कोई उल्लेख नहीं है लेकिन आचार्य जिनदास ने 'अज्ज्ञप्पस्साणयणं गाहाओ पंच भाणियव्वाओ' का उल्लेख किया है।

१०. कहीं-कहीं अन्य निर्युक्तियों की भाषा-शैली के आधार पर भी निर्युक्ति-गाथा का निर्धारण किया है। जैसे दशवैकालिकनिर्युक्ति की २४ वीं गाथा चूर्णि में उपलब्ध होने पर भी मुनि पुण्यविजयजी ने इसे उपसंहारात्मक एवं संपूर्ति रूप मानकर निर्युक्ति-गाथा के क्रम में नहीं रखा है लेकिन हमने उत्तराध्ययन निर्युक्ति (गा. २७) की भाषा-शैली के आधार पर इसे निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है।

११. दशवैकालिकनिर्युक्ति की ३३ वीं गाथा अगस्त्यसिंह चूर्णि में निर्युक्ति के क्रम में नहीं है। पंडित दत्तसुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि चूर्णि में पुष्प के एकार्थक शब्दों के आधार पर हरिभद्र ने इसे पद्यबद्ध कर दिया। पर यह संभव नहीं लगता क्योंकि यदि वे स्वयं इस गाथा को बनाते तो 'पुष्पैकार्थिकप्रतिपादनायाह' ऐसा उल्लेख नहीं करते। इसके निर्युक्ति-गाथा होने का दूसरा हेतु यह भी है कि प्रथम अध्ययन का नाम दुमपुष्पिक्यं है अतः दुम शब्द के एकार्थक के पश्चात् पुष्प के एकार्थक यहां प्रासंगिक हैं। सभी हस्तप्रतियों में भी यह गाथा मिलती है।

१२. टीकाकार ने जिस गाथा को भिन्नकर्तृकी के रूप में स्वीकार किया है, उसे भी विषय की संबद्धता एवं चूर्णि के आधार पर निर्युक्ति-गाथा के क्रम में रखा है, जैसे दशनि गा. १०५।

१३. कहीं-कहीं एक ही कथा का भाव पुनरुक्ति के साथ दो गाथाओं में मिलता है। वहां यह संभव लगता है कि चूर्णि की कथा के आधार पर कथा की स्पष्टता के लिए बाद में गाथा जोड़ दी गयी क्योंकि

निर्युक्तिकार कथा का संकेत मात्र करते हैं। जैसे—दशनि १६३/१ गाथा में उल्लिखित कथा को १६४ वी गाथा से भी समझा जा सकता है। चूर्णि में भी १६३/१ गाथा का संकेत नहीं है अतः हमने इसे निर्युक्ति-गाथा के क्रम में नहीं जोड़ा है। अनेक स्थलों पर पुनरुक्ति के आधार पर भी गाथा का निर्धारण किया गया है।

गा. ४७/१ में प्रतिपादित विषय की पुनरुक्ति अगली गाथाओं में हुई है। दोनों चूर्णियों में भी इस गाथा का संकेत नहीं है अतः हमने इसे निर्युक्ति-गाथा के क्रम में नहीं रखा।

१४. दशवैकालिक की प्रथम चूलिका की चूर्णि में दो गाथाएं (३३७, ३३८) मिलती हैं किन्तु टीका में उसके स्थान पर एक ही गाथा मिलती है। व्याख्या की दृष्टि से टीकाकार ने चूर्णि में आई गाथाओं की ही व्याख्या की है अतः हमने चूर्णि के आधार पर टीका वाली गाथा को पदटिप्पण में देकर उसे निर्युक्ति क्रम में संलग्न नहीं किया है।

१५. उत्तराध्ययननिर्युक्ति में कथाओं के विस्तार वाली गाथाओं का प्रायः चूर्णि में संकेत नहीं है। अधिक संभव लगता है कि वे गाथाएं कथा को स्पष्ट करने के लिए बाद में जोड़ी गयी हों। लेकिन हमने कथानक की सुरक्षा एवं ऐतिहासिक दृष्टि से उन गाथाओं को निर्युक्ति-गाथा के क्रम में जोड़ा है, जैसे—उनि ३५६-६६।

इसी प्रकार आषाढभूति की कथा (उनि १२४-४१) में १८ गाथाएं स्पष्टतया बाद में जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं क्योंकि २२ परीषहों की प्रायः कथाएं १ या २ गाथाओं में निर्दिष्ट हैं। ये गाथाएं भाषा-शैली एवं छंद की दृष्टि से भी अतिरिक्त प्रतीत होती हैं। लेकिन हमने इनको निर्युक्ति-गाथा के क्रमांक में जोड़ा है।

१६. कुछ गाथाएं प्रकाशित टीका में निगा के क्रम में होने के बावजूद स्पष्ट रूप से प्रक्षिप्त लगती हैं। जैसे पांचालराज नगति इंद्रकेतु को देखकर प्रतिबुद्ध हुए लेकिन उनके बारे में चन्द्रमा की हानि-वृद्धि तथा महानदी की पूर्णता और रिक्तता का उदाहरण बताने वाली गाथा टीका में मिलती है। संभव है कि अनित्यता को दर्शाने वाली यह गाथा बाद में जोड़ी गयी हो, देखें उनि २६२/१। उसी प्रकार उनि गा. ४७८/१, २ ये दोनों गाथाएं भी आवश्यकनिर्युक्ति या उत्तराध्ययन सूत्र से लिपिकारों या अन्य आचार्यों द्वारा बाद में जोड़ी गयी हैं।

१७. कहीं-कहीं संग्रह गाथाओं को भी निर्युक्तिकार ने अपने ग्रंथ का अंग बना लिया है। भगवती एवं पणवणा आदि ग्रंथों की कुछ संग्रहणी गाथाओं का निर्युक्तियों में समावेश है। उन गाथाओं को हमने निर्युक्ति-गाथा के क्रम में संलग्न किया है, जैसे—उनि गा. ४१९-२१।

१८. कहीं-कहीं प्रसंगवश अतिरिक्त गाथाएं भी निर्युक्ति का अंग बन गयी हैं। जैसे—अचेल परीषह के अंतर्गत आर्यरक्षित की कथा में उनि गा. ९५, ९६ अग्रसंगिक या बाद में प्रक्षिप्त सी लगती हैं। चूर्णि और टीका में इन दोनों गाथाओं से संबंधित कथा का उल्लेख नहीं है। ये गाथाएं उनि गा. ९५, ९६ की संवादी हैं। इन गाथाओं से संबंधित कथाएं निशीथ चूर्णि में विस्तार से मिलती हैं।

१९. उत्तराध्ययन के अकाममरणीय अध्ययन की निर्युक्ति में २०३ से २२७ तक की गाथाएं प्रक्षिप्त अथवा बाद के किसी आचार्य द्वारा रचित होनी चाहिए क्योंकि आगे के अध्ययनों में निर्युक्तिकार ने किसी

भी विषय की इतनी विस्तृत व्याख्या नहीं की है तथा गाथा २१९ में २२८ वीं गाथा के विषय का ही पुनरावर्तन हुआ है।

२०. मंगलाचरण की कुछ गाथाएं बाद के आचार्यों द्वारा जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं। इसका प्रमाण है आचारांगनिर्युक्ति की प्रथम मंगलाचरण की गाथा। यह गाथा केवल टीका एवं हस्तप्रतियों में मिलती है। चूर्णिकार ने इस गाथा का न कोई संकेत दिया है और न ही व्याख्या प्रस्तुत की है। तीसरी गाथा के बारे में चूर्णिकार ने 'एसा बिसियगाहा' का उल्लेख किया है। वैसे भी मंगलाचरण की परम्परा बहुत जाद की है अतः बहुत संभव है कि यह गाथा बाद के आचार्यों या द्वितीय भद्रबाहु द्वारा जोड़ी गयी हो। लेकिन वर्तमान में यह गाथा निर्युक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी है अतः हमने इसको निर्युक्ति-गाथा के क्रम में जोड़ा है।

२१. आचारांगनिर्युक्ति की अनेक गाथाओं का चूर्णि में कोई संकेत एवं व्याख्या नहीं है क्योंकि वह संक्षिप्त शैली में लिखी गयी है अतः अनेक स्थानों पर 'णवगाहा कंठ्या' अथवा 'निज्जुत्तिगाहाओ पडियसिद्धाओ' मात्र इतना ही उल्लेख है। इसलिए ऐसा अधिक संभव लगता है कि संक्षिप्तता के कारण चूर्णिकार ने अनेक सरल गाथाओं के न संकेत दिए और न व्याख्या ही की। पर हमने उनको निर्युक्ति-गाथा के क्रम में रखा है।

२२. उद्देशकाधिकार तथा अध्ययनगत विषय या शब्द की व्याख्या करने वाली गाथाओं के क्रम में कहीं-कहीं चूर्णि एवं टीका में क्रम-व्यत्यय है। आचारांग एवं सूत्रकृतांग निर्युक्ति के अंतर्गत चूर्णि में पहले उद्देशकों की विषय-वस्तु निरूपण करने वाली गाथाएं हैं तथा बाद में अध्ययन से संबंधित गाथाएं हैं। टीका में इससे उल्टा क्रम मिलता है। औचित्य की दृष्टि से हमने चूर्णि का क्रम स्वीकृत किया है, देखें सूनि गा. २९-३२ तथा ३६-४१। ऐसा अधिक संभव लगता है कि टीकाकार ने व्याख्या की सुविधा के लिए क्रम-व्यत्यय कर दिया हो। आचारांगनिर्युक्ति में एक स्थल पर टीका का क्रम स्वीकार किया है लेकिन वहां भी चूर्णि का क्रम सम्यग् लगता है, देखें आनि गा. ३२९-३५।

गाथाओं के क्रम-व्यत्यय वाले स्थल में विषय की संबद्धता के आधार पर भी गाथा के क्रम का निर्धारण किया है, जैसे—आनि २९७ का संकेत चूर्णि में गा. ३०३ के बाद है पर औचित्य की दृष्टि से टीका और हस्तप्रतियों का क्रम ठीक प्रतीत हुआ अतः हमने उसी क्रम को स्वीकृत किया है।

२३. आचारांगनिर्युक्ति की गा. १९७ को हमने निर्युक्ति के मूल क्रमांक में जोड़ा है पर वस्तुतः यह बाद में उपसंहार रूप में किसी आचार्य द्वारा प्रक्षिप्त की गयी है। इसका कारण यह है कि १९७ वीं गाथा में द्वितीय अध्ययन के उद्देशकों की विषय-वस्तु का वर्णन है जबकि उद्देशकों की विषय-वस्तु का वर्णन तो आनि गा. १७३ में पहले ही किया जा चुका है अतः यह पुनरुक्त सी प्रतीत होती है। टीकाकार ने इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिकारो गाथयाचष्टे' का उल्लेख किया है अतः हमने इसे निर्युक्ति-गाथा के क्रम में रखा है।

आचारांगनिर्युक्ति में २२८ से २३५ तक की गाथाएं भी बाद में जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं क्योंकि गा. २२७ के अंतिम चरण में स्पष्ट उल्लेख है कि 'सम्मत्तस्सेस निज्जुत्ती' अर्थात् यह सम्यक्त्व अध्ययन की निर्युक्ति है। ऐसा उल्लेख करने के पश्चात् कथापरक इन सात गाथाओं का उल्लेख अप्रासंगिक सा

लगता है। कथा से संबंधित इन गाथाओं को नहीं रखने से विषय-वस्तु की दृष्टि से कोई अंतर नहीं आता। चूर्णि में भी ये गाथाएं निर्दिष्ट एवं व्याख्यात नहीं हैं।

आचारांगनिर्युक्ति गा. २७९ भी बाद में किसी आचार्य या लिपिकार द्वारा प्रसंगवश जोड़ दी गयी प्रतीत होती है। चालू प्रसंग में मोक्ष का वर्णन है अतः बंध का स्वरूप प्रकट करने वाली यह गाथा स्मृति के लिए आदर्शों में लिखी गयी होगी, जो कालान्तर में हस्त-आदर्शों में मूल के साथ जुड़ गयी। इस गाथा को निर्युक्ति के क्रमांक में न जोड़ने पर भी चालू विषय-वस्तु में कोई व्यवधान नहीं आता। इस गाथा का चूर्णि और टीका दोनों व्याख्यात गांधों में उल्लेख नहीं है। ३१८-२० तक की तीन गाथाएं भी भाषा-शैली की दृष्टि से भिन्न प्रतीत होती है अतः बाद में प्रक्षिप्त होनी चाहिए।

इसी प्रकार सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गा. १५२ को यद्यपि हमने निर्युक्ति-गाथा के क्रमांक में जोड़ा है लेकिन ये बाद में प्रक्षिप्त प्रतीत होती है क्योंकि टीका में यह मूल क्रमांक में न होकर टिप्पण में दी गई है। इसके अतिरिक्त यह गा. १४७ की संवादी है अतः पुनरुक्त सी प्रतीत होती है।

२४. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में ११-१३ ये तीन गाथाएं प्रकाशित चूर्णि में उद्धृत गाथा के रूप में हैं लेकिन ये निर्युक्तिगाथाएं होनी चाहिए क्योंकि दसवीं गाथा के उत्तरार्ध में 'ओहेण नामतो पुण भयंति एक्कारसक्करणा' का उल्लेख है अतः ग्यारह करणों के नामोल्लेख वाली ये तीनों गाथाएं निर्युक्ति की होनी चाहिए। दूसरा विकल्प यह भी संभव है कि करण के प्रसंग में उत्तराध्ययननिर्युक्ति में ये गाथाएं आ चुकी हैं अतः पुनरुक्ति भय से इन गाथाओं को सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में सम्मिलित न किया हो।

२५. प्रकाशित चूर्णि में कहीं-कहीं गाथा की व्याख्या एवं गाथा-संख्या मिलती है पर गाथा नहीं मिलती। संपादक मुनि पुण्यविजयजी ने गाथा न होने पर भी व्याख्य के आधार पर गाथा-संख्या का क्रमांक लगा दिया है। टीका और आदर्श में गाथा न मिलने के कारण ऐसे संदर्भों में हमने गाथा का क्रमांक नहीं लगाया है, देखें सूनि गा. २२ का टिप्पण।^१

२६. सूनि गा. १६३-६५ तक की तीन गाथाएं भी बहुत संभव है कि बाद में जोड़ी गयी हों क्योंकि मूल कथ्य गा. १६२ में आ गया है। लेकिन टीकाकार ने इन गाथाओं के लिए निर्युक्तिदृष्टीयितुमाह का उल्लेख किया है। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उनके समय तक ये गाथाएं निर्युक्ति-गाथा के रूप में प्रसिद्धि पा चुकी थीं। वर्तमान में ये निर्युक्ति का अंग बन गयी हैं अतः हमने इनको निर्युक्ति-गाथा के क्रम में जोड़ दिया है।

२७. दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति के पज्जोसवणाकण्ठ की निर्युक्ति का पूरा प्रकरण निशीथभाष्य में भी मिलता है। निशीथभाष्य में कहीं-कहीं बीच में अतिरिक्त गाथाएं भी हैं। दनि गा. ८८ का संकेत चूर्णि में न होने पर भी व्याख्या उपलब्ध है। हस्तप्रतियों में भी यह गाथा नहीं है परन्तु भाषा-शैली एवं विषय-वस्तु से संबद्ध होने के कारण निशीथभाष्य (३१७५) में प्राप्त इस गाथा को हमने निर्युक्ति के क्रमांक में जोड़ा है। संभव है लिपिकारों द्वारा मूल प्रति में किसी कारणवश इसका संकेत छूट गया हो।

कुछ अतिरिक्त गाथाएं, जो हमें चालू क्रम में विषय-वस्तु के प्रतिकूल या व्याख्यापरक लगीं, उनको

१. मुनि पुण्यविजय की संपादित चूर्णि में २० का क्रमांक है।

हमने निर्युक्ति के कम में नहीं जोड़ा है, जैसे—दनि ८२/१ (निभा ३१६९), १०४/१ (निभा ३१९२)।

यद्यपि गाथा-संख्या का निर्धारण पाठ-संपादन से भी जटिल कार्य है किन्तु हमने कुछ बिंदुओं के आधार पर गाथाओं के पौर्वापर्य एवं उनके प्रक्षेप के बारे में विमर्श प्रस्तुत किया है। भविष्य में इस दिशा में चिंतन की दिशाएं खुली हैं, इस संदर्भ में और भी चिंतन किया जा सकता है।

निर्युक्ति में निक्षेप-पद्धति

निक्षेप व्याख्यान—अर्थ-निर्धारण की एक विशिष्ट पद्धति रही है। न्यास और स्थापना इसके पर्यायवाची शब्द हैं। निक्षेप शब्द का निरुक्त करते हुए जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण कहते हैं कि शब्द में नियत एवं निश्चित अर्थ का न्यास करना निक्षेप है।^१ जीतकल्पभाष्य के अनुसार जिस वचन-पद्धति में अधिक क्षेप/विकल्प हों, वह निक्षेप है।^२ अनुयोगद्वारचूर्णि में अर्थ की भिन्नता के विज्ञान को निक्षेप कहा है।^३ ध्वलाकार के अनुसार संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय में स्थित वस्तु को उनसे हटाकर निश्चय में स्थापित करना निक्षेप है।^४ आचार्य तुलसी ने शब्दों में विशेषण के द्वारा प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति निहित करने को निक्षेप कहा है।^५

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में निक्षेप जैन आचार्यों की मौलिक देन है। पांडित्य प्रदर्शित करने का यह महत्त्वपूर्ण उपक्रम रहा है। इस पद्धति से गुरु अपने शिक्षण को अधिक समृद्ध बनाता है। वह शब्दों का अर्थों में तथा अर्थों का शब्दों में न्यास करता है अतः किसी भी वाक्य या शब्द का अर्थ करते समय वक्ता का अभिप्राय क्या है तथा कौन-सा अर्थ किस परिस्थिति में संगत है, यह निश्चय करने में निक्षेप की उपयोगिता है। निक्षेप के बिना व्यवहार की सम्पूर्ण योजना नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनंत पर्यायात्मक है। उन अनंत पर्यायों को जानने के लिए शब्द बहुत सीमित हैं। एक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है अतः पाठक या श्रोता विवक्षित अर्थ को पकड़ नहीं पाता। अनिर्णय की इस स्थिति का निराकरण निक्षेप-पद्धति के द्वारा किया जा सकता है।

निक्षेपों के माध्यम से यह ज्ञान किया जा सकता है कि अमुक-अमुक शब्द उस समय किन-किन अर्थों में प्रयुक्त होता था। जैसे समाधि शब्द का अर्थ आज चित्तसमाधि या प्रसन्नता के लिए किया जाता है लेकिन सूत्रकृतांग निर्युक्ति में किए गए निक्षेपों के माध्यम से विविध संदर्भों में समाधि के विभिन्न अर्थों को समझा जा सकता है। जैसे मनोहर शब्द आदि पांच विषयों की प्राप्ति होने पर जो इंद्रियों की तुष्टि होती, उसे समाधि कहा जाता था। परस्पर अविरोध दो या अधिक द्रव्यों के सन्मिश्रण से जो रस की पुष्टि होती, उसे भी समाधि कहा जाता था। जिस द्रव्य के खाने या पीने से शक्ति या सुख प्राप्त होता, उसे समाधि शब्द से अभिहित किया जाता था। तराजू के ऊपर जिस वस्तु को चढ़ाने से दोनों पलड़े समान हों, उसे भी समाधि की संज्ञा दी जाती थी। जिस क्षेत्र अथवा काल में रहने से चित्त को शांति मिलती, उसे समाधि कहा जाता तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में स्थिति को भी समाधि कहा जाता था।

१ विभा ९१२।

निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।

२ जीतभा ८०९; खिव भेरणे तु भणितो अक्षिउक्खेवे तु निक्षेवो।

५. जैनसिद्धान्तदीपिका १०/४; शब्देषु विशेषण-

३ अनुक्षाचू; निक्षेये अत्यभेदन्यास।

बलेन प्रतिनियतार्थप्रतिपादनशक्तेर्निक्षेपणं

४. ध्वला; संशयविपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितस्तेभ्योऽपसार्थं

निक्षेपः।

इस प्रकार समाधि शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता था। कहा जा सकता है कि निक्षेपों के माध्यम से हम उस शब्द का इतिहास जान सकते हैं। ध्वला में निक्षेप की उपयोगिता के चार कोण बताए हैं—

१. पर्यायार्थिक दृष्टि वाला अव्युत्पन्न श्रोता है तो अप्रकृत अर्थ का निराकरण करने के लिए निक्षेप करना चाहिए।
२. द्रव्यार्थिक दृष्टि वाले श्रोता के लिए प्रकृत अर्थ का निरूपण करने के लिए निक्षेप करना चाहिए।
३. व्युत्पन्न होने पर भी यदि संदिग्ध है तो उसके संदेह का निराकरण करने के लिए निक्षेप करना चाहिए।
४. यदि श्रोत विपर्यस्त है, तो तत्त्वार्थ-विनिश्चय के लिए निक्षेप करना चाहिए।^१

निक्षेप वस्तुतः अनुयोग का ही एक प्रकार है, जिसके अंतर्गत उपक्रम, अनुगम और नय का भी समावेश किया गया है। उपोद्घातनिर्युक्ति में १२ प्रकार से किसी भी विषय की व्याख्या की जाती है, उसमें निक्षेप को प्रथम स्थान प्राप्त है।^२ यद्यपि निक्षेप अतिप्राचीन व्याख्या पद्धति है क्योंकि भगवती जैसे आगम ग्रंथ में इस पद्धति का उपयोग हुआ है पर निर्युक्तकार ने शाब्दिक ज्ञान कराने हेतु इस पद्धति का बहुलता से उपयोग किया है। एक ही प्राकृत शब्द के कई संस्कृत रूप संभव है अतः निक्षेप-पद्धति के द्वारा निर्युक्तकार उस शब्द के सभी अप्रासंगिक अर्थों का ज्ञान कराकर प्रासंगिक अर्थ का ज्ञान कराते हैं।

सामान्यतया आवश्यकता के अनुसार अनेक निक्षेप किए जा सकते हैं लेकिन इसके चार भेद प्रसिद्ध हैं—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. भाव।^३ अनुयोगद्वारा मे मुख्यतः चार प्रकार के निक्षेपों की चर्चा है पर निर्युक्त-साहित्य में उत्तर, समय, स्थान आदि शब्दों के उत्कृष्टतः १५ निक्षेप भी किए गए हैं। शान्त्याचार्य के अनुसार इन चार निक्षेपों में सभी निक्षेपों का समावेश हो जाता है। इनसे अधिक निक्षेप करने के दो प्रयोजन हैं—

१. शिक्षार्थी की बुद्धि को व्युत्पन्न करना।

२. सब वस्तुओं के सामान्य-विशेष और उभयात्मक अर्थ का प्रतिपादन करना।

चार निक्षेपों में प्रथम दो—नाम और स्थापना का उपयोग एवं व्याख्या बहुत सीमित है किन्तु द्रव्य और भाव निक्षेप की विस्तृत व्याख्या मिलती है।

सामान्यतया शब्द किसी व्यक्ति या वस्तु का वाचक होता है। शब्द के इस स्वरूप को प्रकट करने के लिए ही नाम निक्षेप की कल्पना की गयी। नाम निक्षेप जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया से निरपेक्ष होता है। यह निक्षेप शुद्ध भाषात्मक पक्ष है। कल्पना के माध्यम से किसी आकार में वस्तु का आरोप करना स्थापना निक्षेप है। ये दोनों निक्षेप वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं। वस्तु की त्रैकालिक स्थिति को प्रकट करने वाला द्रव्य निक्षेप है अतः इसकी परिधि बहुत व्यापक है। भाव निक्षेप जैन साधना-पद्धति का

१. ध्वला १/१, १. १/३०, ३१; अवगतनिवारणद्वं, पदद्वयं गच्छन्नानिमित्तं च। संसर्गविनाशार्थं, तच्चतुर्विधधारणद्वं च॥

२. बृथा १४९; निक्षेपेऽपि निरुक्त-विहि-पवित्री य केण वा कस्स। तद्धार-भेय-लक्षण, तदरिहपरिसा य सुतत्थो॥

३. ज्ञानि ४; जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्षेवं निविस्से निरवसेत्तं। जत्थ वि य ण जाणेज्जा, चउक्कम निविस्से तत्थ॥

बोधक है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध इसी के द्वारा होता है। कोई भी शब्द या ज्ञान तब तक केवल द्रव्य तक सीमित है, जब तक उसमें उपयोग की चेतना या तन्मयता नहीं जुड़ती। भाव निक्षेप में भाषा और भाव की संगति होती है।

संसार का सारा व्यवहार निक्षेप-पद्धति से चलता है। बच्चा जब जन्म लेता है, तब वह केवल नाम निक्षेप के जगत् में जीता है। थोड़ा बड़ा होने पर वह उसमें कल्पना द्वारा किसी वस्तु की स्थापना करता है, जैसे—प्लास्टिक की गुड़िया में मां या बहिन की स्थापना। धीरे-धीरे वह त्रैकालिक ज्ञान करने में सक्षम हो जाता है और बाद में बुद्धि की सूक्ष्मता और समझ विकसित होने पर वह भावनिक्षेप द्वारा व्यवहार चलाता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने पर्याय के आधार पर नाम आदि चार निक्षेपों की एक ही वस्तु में अवस्थिति स्वीकार की है।^१ अर्थात् वस्तु का अपना अभिधान नाम निक्षेप है। वस्तु का आकार स्थापना निक्षेप है। वस्तु भूत और भावों पर्याय का यगरण है अर्थात् वह द्रव्य निक्षेप है। कार्य रूप में विद्यमान वस्तु भावनिक्षेप है।^२ निक्षेप अनेकान्त का व्यावहारिक प्रयोग है, जैसे अतीत में कोई धनी था, उसे वर्तमान में भी सेठ कहा जाता है, यह असत्य बात हो सकती है लेकिन द्रव्य निक्षेप द्वारा यह भी संभव है।

निक्षेप न्याय शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान के अंतर्गत अर्थ विकासविज्ञान (सेमेनेटिक्स) का महत्त्वपूर्ण अंग है। निर्युक्तिकार ने ही अपनी व्याख्या-पद्धति में इसे अपनाया, परवर्ती व्याख्याकारों ने इस पर इतना ध्यान क्यों नहीं दिया, यह एक खोज का विषय है। अनुयोगद्वार के कर्ता आर्यरक्षित निर्युक्ति की निक्षेप-पद्धति से प्रभावित रहे हैं, यह स्पष्ट है। कुछ विद्वान् अनुयोगद्वार को निर्युक्ति से पूर्व की रचना मानते हैं।

निर्युक्ति-साहित्य के अंतर्गत निक्षेप-पद्धति के बारे में यह एक चिंतन का विषय है कि प्रायः शब्दों का एक समान निक्षेप करने से क्या निर्युक्ति की महत्ता कम नहीं हुई? जैसे उत्तराध्ययननिर्युक्ति में प्रायः सभी अध्ययनों के प्रारम्भ में निक्षेपपरक दो-तीन गाथाएं हैं, जो सभी अध्ययनों की समान हैं। इन गाथाओं के स्थान पर यदि मूलसूत्र के महत्त्वपूर्ण शब्दों या विषयों की व्याख्या होती तो इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता। गहराई से विमर्श करने पर प्रतीत होता है कि यह व्याख्या की विशिष्ट एवं वैज्ञानिक पद्धति रही। शब्द का सर्वांगीण ज्ञान कराने हेतु इसका प्रयोग किया जाता था, जिससे मंदबुद्धि शिष्य भी शब्द एवं अर्थ का सर्वतोमुखी ज्ञान करने में सक्षम हो सके।

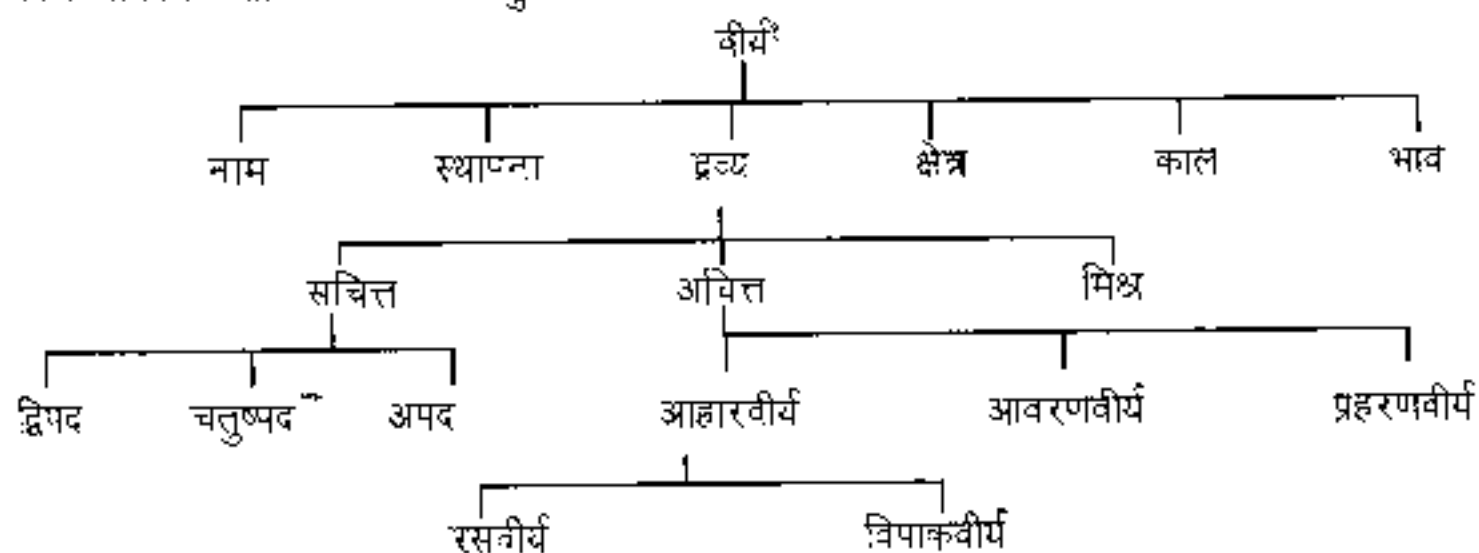
निर्युक्तिकार ने निक्षेप के माध्यम से तात्कालीन सभ्यता, संस्कृति एवं परम्पराओं का भी निर्देश किया है जैसे सुत—सूत्र शब्द के निक्षेप में उस समय होने वाले अण्डज, पौंड्रज आदि विविध सूत्रों का ज्ञान कराया है। ब्रह्म शब्द के निक्षेप में स्थापना ब्रह्म के अंतर्गत उस समय की प्रचलित अनेक वर्ण एवं वर्णान्तर जातियों का उल्लेख है। इसी प्रकार कर्म, गुण, समय, अग्र, अंग, संयोग, धर्म, स्थान, करण आदि शब्दों के निक्षेप अनेक नई जानकारीयां प्रस्तुत करते हैं। निक्षेप पद्धति से निर्युक्तिकार ने केवल शब्द

१. विभा ७३; जं वत्थुमत्थि लोए, चउपज्जअणं तयं सव्वं।

२. विभा ६०; अइव वत्थुभिहाणं, गामं ठवणा य ओ तदगारे।

कारण्या से दब्बं, कज्जावन्नं तयं भावो ॥

और अर्थ के बीच होने वाली विसंगति का ही निराकरण नहीं किया बल्कि निक्षेपों के भेद-प्रभेदों से एक शब्दकोश भी तैयार कर दिया है। निर्युक्ति-साहित्य से यदि निक्षिप्त गाथाओं को निकाल दिया जाए तो पीछे आधा भाग भी नहीं बचेगा। यदि निर्युक्ति-साहित्य के निक्षिप्त शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की जाए तो एक बृहद् शोधग्रंथ प्रस्तुत किया जा सकता है। यहां हम केवल वीर्य, सम्यक् और शुद्धि—इन तीन शब्दों की निक्षेपपरक संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं—



क्षेत्रवीर्य—जिस क्षेत्र की जो शक्ति होती है, वह क्षेत्रवीर्य कहलाती है। अथवा जिस क्षेत्र में वीर्य की व्याख्या की जाती है, वह भी क्षेत्रवीर्य है। जैसे देवकुरु आदि क्षेत्र में सभी पदार्थ उस क्षेत्र के प्रभाव से उत्तम वीर्य वाले होते हैं। अथवा दुर्ग आदि विशिष्ट क्षेत्र में वीर्य अत्यधिक उल्लसित होता है, वह क्षेत्रवीर्य है।

कालवीर्य—जिस काल में जो शक्ति होती है, वह कालवीर्य है। जैसे एकान्त सुषमा—प्रथम आरा कालवीर्य है। विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न द्रव्यों की विशिष्ट शक्ति होती है। उदाहरणार्थ वैद्यक शास्त्र में कहा गया है—वर्षाकाल में लवण, शरद में जल, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आंवले का रस, बसन्त में घी और ग्रीष्म में गुड़ अमृत के समान है। इसी प्रकार हरीतकी—हरड़ के भी काल के साथ विविध प्रयोग हैं। ग्रीष्म ऋतु में हरड़े के साथ बराबर गुड़, वर्षाकाल में नमक, शरद ऋतु में शक्कर, हेमन्त में सोंठ, शिशिर में पीपल तथा बसन्त ऋतु में मधु का सेवन करने से पुरुषों के समस्त रोग दूर हो जाते हैं।

भाववीर्य—वीर्यशक्ति वाले जीव में वीर्य संबंधी अनेक लब्धियां होती हैं। भाववीर्य के मुख्यतः तीन प्रकार हैं—१. शारीरिक बल २. इन्द्रिय बल ३. आध्यात्मिक बल।

शारीरिक बल—इसके अंतर्गत मनोवीर्य, वाक्वीर्य, कायवीर्य और आनापानवीर्य आदि का समावेश होता है। यह संभव और संभाव्य—दो प्रकार का होता है। संभव वीर्य, जैसे—तीर्थकर और अनुत्तरविमान के देवों का मनोद्रव्य अत्यंत पटु और शक्तिशाली होता है। वचनबल में तीर्थकरों की वाणी योजनगामिनी होती है तथा कायबल में चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव

आदि का बल जानना चाहिए। संभाव्य वीर्य में आज जो ग्रहण करने में पटु नहीं है, उसकी बुद्धि का परिकर्ष होने पर वह ग्रहण-पटु हो जाता है।

इंद्रिय बल—पांच इंद्रियों का अपने-अपने विषय के ग्रहण का सामर्थ्य इंद्रिय-बल है।

आध्यात्मिक बल—भावनात्मक वैतन्य जगाने वाले तत्त्व आध्यात्मिक वीर्य हैं। निर्युक्तिकार के अनुसार आध्यात्मिक वीर्य के ९ प्रकार हैं, जो व्यक्तित्व-विकास के महत्वपूर्ण सूत्र हैं—

उद्यम वीर्य—ज्ञानोपार्जन एवं तपस्या आदि के अनुष्ठान में किया जाने वाला प्रयत्न।

धृति वीर्य—संयम में स्थिरता, चित्त की उपशान्त अवस्था।

धीरता वीर्य—कष्टों को सहने की शक्ति।

शौंडीर्य वीर्य—त्याग की उत्कट भावना, आपत्ति में अखिन्न रहना तथा विषम परिस्थिति में भी प्रसन्नता से कार्य को पूरा करना।

क्षमा वीर्य—दूसरों द्वारा अपमानित होने पर भी सम रहना।

गाम्भीर्य वीर्य—चामत्कारिक अनुष्ठान करके भी अहंभाव नहीं लाना।

उष्णोष्ण वीर्य—वेदना का व्यग्रार करना।

योग वीर्य—मन, वचन और काया की अकुशल प्रवृत्ति का निरोध तथा कुशल योग का प्रवर्तन।

तपो वीर्य—बारह प्रकार के तप से स्वयं को भावित करना तथा सत्तरह प्रकार के संयम में रत रहना।

निर्युक्तिकार ने प्रकारान्तर से भाववीर्य के तीन भेद किए हैं—१. पंडितवीर्य २. बालवीर्य ३. बाल-पंडितवीर्य। अथवा अगारवीर्य और अनगारवीर्य ये दो भेद भी किए जा सकते हैं।^१

निष्पीथ पीठिका में पांच प्रकार के वीर्य का उल्लेख मिलता है—१. भववीर्य २. गुणवीर्य ३. चारित्रवीर्य ४. समाधिवीर्य ५. आत्मवीर्य।^२

भववीर्य — चारों गतियों से संबंधित विशेष सामर्थ्य भववीर्य कहलाता है, जैसे—यंत्र, असि, कुंभी, चक्र, कंडु, भट्टी तथा शूल आदि से भेदे जाते हुए महावेदना के उदय में भी नारकी जीवों का अस्तित्व विलीन नहीं होता। अश्वों में दौड़ने की शक्ति तथा पशुओं में शीत, उष्ण आदि सहन करने का सहज सामर्थ्य होता है। मनुष्यों में सब प्रकार के चारित्र स्वीकार करने का सामर्थ्य होता है। देवों में पांच पर्याप्तियां पूर्ण होते ही यथेष्टित रूप विकुर्वणा करने की शक्ति होती है। वज्र-प्रहार होने पर भयंकर वेदना की उदीरणा में भी उनका विलय नहीं होता, यह सारा भववीर्य है।

गुणवीर्य — तिक्त, कटु, कषाय, मधुर आदि औषधियों में जो रोगापनथन की शक्ति होती है, वह गुणवीर्य है। निर्युक्तिकार के अनुसार इसे द्रव्यवीर्य के अंतर्गत रसवीर्य और विपाकवीर्य में रखा जा सकता है।

चारित्रवीर्य—सम्पूर्ण कर्मक्षय करने का सामर्थ्य तथा क्षीराश्रव आदि लब्धि उत्पन्न करने की शक्ति।

समाधिवीर्य—मन में ऐसी समाधि उत्पन्न करना, जिससे कैवल्य की उत्पत्ति हो अथवा सर्वार्थसिद्धि

देवलोक में उत्पत्ति हो। इसके अतिरिक्त मन के अप्रशस्त समाधान से सातवीं नारकी का आयुष्य बंध करना भी समाधिवीर्य है।

आत्मवीर्य—आत्मवीर्य दो प्रकार का है—१. वियोगात्मवीर्य २. अवियोगात्मवीर्य संसारी जीवों के मन आदि योग वियोगात्मवीर्य हैं। अवियोगात्मवीर्य उपयोग कहलाता है, वह असंख्य आत्म-प्रदेशों से युक्त है।

प्रकारान्तर से निशीथ भाष्यकार ने वीर्य के पांच भेद किए हैं—

१. बलवीर्य—असंयत का वीर्य।
२. पंडितवीर्य—संयत का वीर्य, संयमवीर्य या पंडितवीर्य।
३. मित्रवीर्य—श्रावक का वीर्य, इसे संयमासंयम वीर्य भी कहते हैं।
४. करणवीर्य—उत्थान, कर्म, बल एवं शक्ति का प्रयोग करना अथवा मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति करना।
५. लब्धिवीर्य—जो संसारी जीव अपर्याप्तक अथवा खड़े रहने आदि की शक्ति से युक्त होते हैं, वह लब्धिवीर्य हैं; जैसे भगवान् सहानीर ने दिशाला की लूट को एक देश से दलित कर दिया था। चूर्णिकार के अनुसार इन पांच प्रकार के वीर्य से सर्वानुपाती वीर्य स्थापित होता है। निशीथभाष्य में वीर्य के जो भेद हैं, उनमें गुणवीर्य को छोड़कर शेष सभी भेद निर्धुवित्तकार द्वारा निर्दिष्ट भाववीर्य के अंतर्गत रखे जा सकते हैं।

सम्यक्

सम्यक् का अर्थ है सही लगन। सात कारणों से कोई भी चीज सम्यक्—अच्छी बनती है।^१

कृत—किसी अपूर्व या विशिष्ट वस्तु का निर्माण, जैसे—रथ आदि का निर्माण।

संस्कृत—जीर्ण-शीर्ण वस्तु को संस्कारित करना।

संयुक्त—दो द्रव्यों का संयोग, जो मन के लिए प्रीतिकर हो, जैसे—दूध और शर्करा का संयोग।

प्रयुक्त—जिसका प्रयोग लाभ अथवा समाधि के लिए हो।

त्यक्त—जिसको छोड़ना मानसिक प्रसन्नता का कारण हो, जैसे—शिर पर रखे भार को उतारना।

भिन्न—जिन द्रव्यों का अलग होना मानसिक समाधि का हेतु हो, जैसे—दही का पात्र टूटने पर कौवे का प्रसन्न होना।

छिन्न—अतिरिक्त वस्तु को अलग करना, जैसे—अधिक मांस को काटना। ये सब शारीरिक या मानसिक समाधि के हेतु हों तो सम्यक् हैं, अन्यथा असम्यक् हैं।

शुद्धि

दर्शन के क्षेत्र में शैचवादी परम्परा का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ज्ञाताधर्मकथा में इसकी विस्तृत चर्चा प्राप्त है। जैन दर्शन बाह्य शुद्धि को धर्म के साथ नहीं जोड़ता अतः भावशुद्धि को अधिक महत्त्व दिया गया है। दशवैकालिकनिर्युक्ति में निक्षेप के माध्यम से शुद्धि का व्यावहारिक और सैद्धान्तिक विवेचन किया है। वहां द्रव्यशुद्धि के तीन भेद हैं—

१. निभा ४८, पीठिका पृ. २६, २७।

२. आनि २१८, टी. पृ. ११७।

१. तद्द्रव्य शुद्धि २. आदेशद्रव्य शुद्धि ३. प्राधान्यद्रव्य शुद्धि। जो वस्तु किसी अन्य द्रव्य से असंयुक्त रहकर शुद्ध रहती है, वह तद्द्रव्य शुद्धि है, जैसे—दूध, दही आदि, इनमें दूसरी वस्तुओं का मिश्रण विकृति पैदा कर देता है। आदेशद्रव्य शुद्धि के दो प्रकार हैं—अन्य आदेशशुद्धि और अनन्य आदेशशुद्धि। शुद्ध कपड़े वाले व्यक्ति की शुद्धि अन्य आदेशद्रव्य शुद्धि है क्योंकि इसमें अन्य द्रव्य के साथ शुद्धि जुड़ी हुई है। जिसने अन्य द्रव्य की अपेक्षा न हो, वह अनन्य आदेशद्रव्य शुद्धि है, जैसे शुद्ध दांतों वाला व्यक्ति। अपने-आपने अभिप्राय के अनुसार जिसको जो अनुकूल लगे, वह प्राधान्यद्रव्य शुद्धि है। प्रायः शुक्ल वर्ण, मधुर रस, सुरभि गंध और मृदु स्पर्श उत्कृष्ट और कमनीय माने जाते हैं। इसी प्रकार भावशुद्धि के भी तद्द्रव्य शुद्धि आदि तीन भेद हैं।

कहा जा सकता है कि निक्षेप-पद्धति के प्रयोग से निर्युक्ति की शैली एवं अर्थ-कथन में एक नयी गरिमा प्रकट हो गयी है। आगमिक भाषा में इसे विभज्यवादी शैली कहा जा सकता है।

निर्युक्तिपंचक का रचना-वैशिष्ट्य

किसी भी शास्त्र की विशेषता उसकी भाषा-शैली, विषय-वस्तु तथा मौलिकता के आधार पर निर्धारित की जाती है। आगमों की मूल भाषा अर्वाच्यवादी है पर निर्युक्ति-साहित्य पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री दोनों का प्रभाव परिलक्षित होता है। निर्युक्ति की भाषा प्रायः सरल और सरस है पर कहीं-कहीं अत्यन्त संक्षिप्त शैली में होने के कारण इसकी भाषा जटिल हो गयी है। दार्शनिक विषयों के विवेचन में भी इसकी भाषा लक्षणिक एवं गूढ़ बन गयी है अतः व्याख्या-साहित्य के बिना निर्युक्तियों के समझना अत्यन्त कठिन है। परवर्ती व्याख्याकारों ने मूल आगम के साथ निर्युक्ति-गाथाओं की भी विस्तृत व्याख्या की है। प्राकृत भाषा में निबद्ध होने पर भी निर्युक्तियों में संस्कृत से प्रभावित प्रयोग भी मिलते हैं—

ददंति गुरुराह अत एव (दशनि ९७/१)

प्रसंगवश शब्दों के एकार्थक लिखना निर्युक्तिकार का भाषागत वैशिष्ट्य है। अनेक महत्त्वपूर्ण एवं नए एकार्थकों का प्रयोग निर्युक्ति-साहित्य में हुआ है, जो सामान्य कोश-साहित्य में नहीं मिलते। निर्युक्तिकार ने सूत्रगत अध्ययन के नाम पर भी एकार्थक लिखे हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। द्रुमधुषिका के तैरह एकार्थक हैं (दशनि ३४)। टीकाकार ने इनको एकार्थक माना है पर धूर्णिकार ने इनको अर्थाधिकार माना है क्योंकि इनमें मुनि की माधुक्री वृत्ति को विभिन्न दृष्टान्तों से समझाया गया है। निर्युक्तिगत एकार्थकों का संकलन परिशिष्ट सं. ३ में कर दिया गया है।

विभिन्न भाषी शिष्यों को ध्यान में रखते हुए तथा शिष्यों की शब्द-संपदा बढ़ाने के लिए निर्युक्तिकार ने अनेक देशी शब्दों का प्रयोग किया है। निर्युक्तिपंचकगत देशी शब्दों का सार्थ संकलन हमने परिशिष्ट सं. ४ में कर दिया है।

सूक्तियों के प्रयोग से भाषा में सरसता और प्रभावकता उत्पन्न हो जाती है। निर्युक्तिकार ने प्रसंगवश अनेक मार्मिक सूक्तियों का प्रयोग किया है, जिससे भाषा मार्मिक एवं व्यञ्जक हो गयी है। अङ्गीवनिर्काय-वध के कारणों के प्रसंग में श्लोकार्थ कितनी मार्मिक सूक्ति के रूप में प्रकट हुआ है—
सात्तं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरेत्ति-अर्थात् अपने सुख की गवेषणा में व्यक्ति दूसरों को दुःख पहुंचाता है। परिशिष्ट सं. ८ में निर्युक्तिगत सूक्तियों का संकलन किया गया है।

प्रसंगवश निर्युक्तिकार ने व्याकरण संबंधी विमर्श भी प्रस्तुत किए हैं। अनेक स्थलों पर अवयवों का अर्थ-संकेत भी हुआ है। संक्षेप में सु और कु का अर्थ-बोध द्रष्टव्य है—सु ति पसंसा सुब्दे, कु ति दुगुच्छा अपरिसुब्दे (सूनि ८८)। इसी प्रकार 'अलं' अव्यय के तीन अर्थों का संकेत किया गया है—१. पर्याप्तिभाव—सामर्थ्य, २. अलंकृत करना ३. प्रतिषेध।

पज्जत्तीभावे खलु, पढमो वित्तिओ भवे अलंकारे।

तत्तिओ वि य पडिसेहे, अलसद्धो होइ नायव्वो ॥ (सूनि २०३)

इसी प्रकार 'सकार' निर्देश, प्रशंसा और अस्तिभाव—इन तीन अर्थों में प्रयुक्त है।

• निदेसपसंसाए अत्थीभावे य होति तु सकारो। (दशनि ३०६)

निर्युक्ति-साहित्य में अनेक नए अवयवों का प्रयोग भी हुआ है जैसे निश्चय अर्थ में र अवयव का प्रयोग। (दशनि १२३/१०)

भाषा की दृष्टि से अनेक स्थलों पर विभक्तिरहित तथा विभक्तिव्यत्यय के प्रयोग भी मिलते हैं। अलाक्षणिक मकार भी अनेक स्थलों पर प्रयुक्त है, जैसे—अक्खरसंजोगमादीओ (उनि ४५)।

निर्युक्तिकार ने चयनित एवं पारिभाषिक शब्दों की निक्षेप-पद्धति से विस्तृत एवं सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत की है। यह उनकी व्याख्या की एक विशिष्ट शैली रही है, जिसके माध्यम से शब्दों के अनेक अर्थ बताकर प्रस्तुत प्रकरण में उस शब्द का क्या अर्थ है, यह भी स्पष्ट किया है। पाश्चात्य विद्वान् एल्फ़सडोर्फ ने लिखा है कि जैन आचार्यों ने भारतीय वैदुष्य के क्षेत्र में निक्षेप-पद्धति का सबसे अधिक मौलिक योगदान दिया है। एक प्राकृत शब्द के अनेक संस्कृत रूपान्तरण संभव हैं। जैसे 'आसायणा' शब्द के संस्कृत रूप आसादना—प्राप्त करना और आशातना—गुरु के प्रति अविनय—ये दोनों बनते हैं। निर्युक्तिकार ने इन दोनों की व्याख्या प्रस्तुत की है।^१ इसी प्रकार शीत और उष्ण शब्द की व्याख्या भी अनेक कोणों से की गयी है। ऐसी व्याख्या किसी भी कोश-साहित्य में नहीं मिलती। निर्युक्तिकार ने सूत्रगत प्रत्येक शब्द की व्याख्या या विमर्श प्रस्तुत न करके केवल कुछ विशिष्ट शब्दों की ही निक्षेपपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक पारिभाषिक एवं विशिष्ट शब्द हैं पर निर्युक्तिकार ने प्रथम गाथा के प्रथम शब्द 'संजोग' की लगभग चौतीस गाथाओं में व्याख्या प्रस्तुत की है।^२

निर्युक्तिकार का यह शैलीगत वैशिष्ट्य है कि किसी भी विषय का विस्तृत वर्णन करने से पूर्व एक गाथा में प्रकृत विषयों का द्वार के रूप में निर्देश दे देते हैं, जिसे द्वारगाथा कहा जाता है। उसके बाद एक-एक द्वार की व्याख्या करते हैं। जैसे आनि गा. २ में ९ द्वारों का संकेत है। इन द्वारों की व्याख्या आगे ६० गाथाओं (आनि गा. ३-६२) में की गयी है। इसी प्रकार आनि गा. ६८ द्वारगाथा है, जिसमें ९ द्वार निर्दिष्ट हैं। इन द्वारों की आगे ३६ गाथाओं (आनि ६९-१०५) में व्याख्या की गयी है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में २२ परीणहों से संबंधित कथाओं के संकेत दो अनुष्टुप् गाथाओं (उनि ८८, ८९) में दिए हैं। बाद में प्रत्येक कथा की विस्तृत जानकारी ५१ गाथाओं (उनि ९०-१४१) में दी गयी है। इसी प्रकार मरणविभक्ति अध्ययन की निर्युक्ति (उनि २०३, २०४) में मरण के बारे में ९ द्वारों का संकेत है, जिसकी व्याख्या २५ गाथाओं (उनि २०५-२९) में हुई है।

निर्युक्तिकार ने अनेक सूत्रगत अध्ययनों के अपर नामों का तथा कहीं-कहीं उन अध्ययनों के नामों की सार्थकता पर भी प्रकाश डाला है। जैसे सूत्रकृतांग के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम यमकीय है। लेकिन निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के आदानीय नाम की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इस अध्ययन के श्लोकों में प्रथम श्लोक का अंतिम पद दूसरे श्लोक का आदि पद है इसलिए इस अध्ययन का अपर नाम आदानीय है।^१ चूर्णिकार ने इस अध्ययन का नाम संकलिका तथा वृत्तिकार ने संकलिका और यमकीय—इन दो नामों का उल्लेख किया है।^२

उपमाओं एवं उदाहरणों से विषय का स्पष्टीकरण निर्युक्तिकार की शैलीगत विशेषता है। देश और काल के अनुरूप उपमाओं से यह साहित्य समृद्ध है, जिससे गंभीर विषय भी सरस, सरल एवं वेधक बन गए हैं। दशवैकालिक निर्युक्ति में भिक्षु को अनेक उपमाओं से उपमित किया है। उसमें अधिकांश उपमाएं प्रणिजगत् से संबंधित हैं। निर्युक्तिगत उपमाओं का संकलन परि सं. ६ में समाविष्ट है।

न्याय और दर्शन जैसे गहन विषयों को सरलता से समझाने के लिए निर्युक्तिकार ने अनेक कथाओं का प्रयोग किया है। कुछ कथाएं सामाजिक परिवेश को प्रस्तुत करने वाली हैं तो कुछ राज्य-व्यवस्था एवं राजनीति से संबंधित हैं। कुछ कथाएं साध्व्याचार से संबंधित हैं तो कुछ लोक-व्यवहार के साथ जुड़ी हुई हैं। अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का संकेत भी निर्युक्तिकार ने किया है।

आषाढभूति की कथा को निर्युक्तिकार ने रूपक के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। पृथ्वीकाय आदि स्थावरकायों ने कथा के माध्यम से अपने बारे में सुंदर अभिव्यक्ति दी है। आचारांग निर्युक्ति की सकुंडल व वयणं न व ति—इस पाद की पूर्ति करने वाली कथा उस समय की सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की अनेक कथाएं कुछ परिवर्तन के साथ महाभारत और जातक कथा में भी मिलती हैं—

उत्तराध्ययननिर्युक्ति	महाभारत	जातक
१. हरिकेशबल	X	मातंग (सं. ४९७)
२. चित्र-संभूत	X	चित्र-संभूत (सं. ४९८)
३. भृगु पुरोहित	शांति पर्व, अ. १७५, २७७	हस्तिपाल (सं. ५०९)
४. नमि-राजर्षि	शांति पर्व, अ. १७८, २७६	महाजन (सं. ५३९)

महाभारत में जैसे अनेक स्थलों पर प्रश्नोत्तर के रूप में तत्त्व का निरूपण है, वैसे ही निर्युक्तिकार ने अनेक स्थलों पर प्रश्नोत्तर शैली को अपनाया है। निर्युक्ति में प्रश्न और उत्तर दोनों ही बहुत संक्षिप्त शैली में हैं। जैसे—

अंगाणं किं सारो, आयारो तस्स किं हवति सारो ।

अणुयोगत्थो सारो, तस्स वि य पख्खणा सारो ।। (आनि १६)

इस एक गाथा में तीन प्रश्नोत्तरों का समाहार हो गया है। माधुकरी भिक्षा के प्रसंग में दशवैकालिकनिर्युक्ति में भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तरों का समाहार है।^१ उत्तराध्ययननिर्युक्ति गा. ६९ में नौ प्रश्नों का समाहार संक्षिप्त शैली का उदाहरण है। कहीं-कहीं निर्युक्तिकार ने ऐसे सैद्धान्तिक प्रश्नों का संकलन किया है, जिनके उत्तर एक समान हों। आचारंगनिर्युक्ति में एक ही गाथा में चार प्रश्नों का समाहार है, पर उनके उत्तर एक समान हैं। जैसे—

- एक समय में पृथ्वीकाय से कितने जीवों का निष्क्रमण होता है?
- एक समय में पृथ्वीकाय में कितने जीवों का प्रवेश होता है?
- एक समय में पृथ्वीकाय में परिणत जीव कितने हैं?
- उनकी कायस्थिति कितनी है?

इन चारों प्रश्नों का उत्तर है—असंख्येय लोकाकाश प्रदेश परिमाण। कहीं-कहीं पहेली के रूप में भी प्रश्न उपस्थित किए गए हैं।^२

निर्युक्तिकार ने व्याख्या में संक्षेप और विस्तार—इन दोनों शैलियों को अगनाया है। एक ओर सूत्रकृतांग के 'वीरत्थुई' जैसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन पर मात्र तीन निर्युक्ति गाथाएं लिखी हैं तो दूसरी ओर उत्तराध्ययननिर्युक्ति में 'संजोग' शब्द पर लगभग ३४ गाथाएं हैं। अनेक स्थलों पर तो अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषयों को बिना व्याख्यात किए ही छोड़ दिया है। जैसे—दशाश्रुतस्कंध में आचार विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण विषय हैं, लेकिन इसकी निर्युक्ति अत्यंत संक्षिप्त है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन मूल सूत्र में करीब २००० गाथाएं हैं, जबकि उसकी निर्युक्ति गाथाएं ५५४ ही हैं, जिनमें १०० से ऊपर गाथाएं केवल निक्षेपपरक हैं। सब अध्ययनों की निक्षेपपरक गाथाएं प्रायः एक समान हैं। प्रत्येक अध्ययन का एक ही भाषा में निक्षेप किसी मंदबुद्धि छात्र के लिए तो उपयोगी हो सकता है पर व्युत्पन्न छात्र के लिए इसकी कोई उपयोगिता प्रतीत नहीं होती।

संक्षिप्त शैली के उदाहरण के रूप में निम्न गाथा को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें एक ही गाथा में चार दर्शनों का उल्लेख बहुत कुशलता से किया गया है—

अत्थि त्ति किरियवादी, वदन्ति नत्थि त्ति अकिरियवादी य।

अण्णाणी अण्णाणं, विण्हत्ता वेण्हयवादी।।(सुनि ११८)

निर्युक्तियों की रचना-शैली लगभग एक समान है। निर्युक्तिकार ने जिस ग्रंथ पर निर्युक्ति लिखी है, उस ग्रंथ के नाम की सार्थकता और मूलस्रोत पर विचार करके उसके अध्ययनों की संख्या एवं उनके नाम प्रस्तुत किए हैं। उसके पश्चात् समस्त ग्रंथ के अध्ययनों का संक्षिप्त विषयानुक्रम सूचित किया है। फिर प्रत्येक अध्ययन के नामगत शब्दों की व्याख्या करके अध्ययनगत महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की है। मूलतः निर्युक्तिकार ने अध्ययनगत नाम के शब्दों की व्याख्या अधिक की है, जैसे—दशवैकालिकनिर्युक्ति में प्रथम एवं द्वितीय अध्ययन के अलावा अध्ययन के नामगत शब्दों की ही व्याख्या अधिक है। मूलसूत्र की गाथा में आए शब्दों की व्याख्या कम है। दशवैकालिक के छठे अध्ययन का मूल नाम 'महायारकहा' प्रसिद्ध है लेकिन इसका दूसरा नाम 'धम्मत्थकाम' भी मिलता है। निर्युक्तिकार ने

धर्म, अर्थ और काम की ब्याख्या बाईस गाथाओं में की है तथा अंत में धर्मार्थकाम को मुनि का विशेषण बताते हुए कहा है कि धर्म का फल मोक्ष है। साधु मोक्ष की कामना करते हैं अतः वे धर्मार्थकाम कहलाते हैं।^१

आचार विषयक ग्रंथ होने के कारण निर्युक्ति साहित्य में काव्य की भांति अलंकारों का प्रयोग नहीं है। फिर भी स्वाभाविक रूप से शब्दालंकार और अर्थालंकार—इन दोनों अलंकारों का प्रयोग निर्युक्तियों में देखने को मिलता है। अन्त्यानुप्रास के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

• तण्हाइओ अपीओ (उनि ९१)।

• जलमाल कदमालं (सूनि १६२)।

रूपक अलंकार के प्रयोग भी यत्र तत्र देखने को मिलते हैं—

• अभयकरो जीवाणं, सीयघरो संजमो भवति सीतो (आनि २०७)।

निर्युक्तिकार ने उपमा एवं दृष्टान्त अलंकार का बहुलता से प्रयोग किया है—

सो हीरति असहीणेहि सारही-इय चुरंगेहि (दशनि २७४)।

जह खलु झुसिरं..... (आनि २३५)।

• मन्नामि उच्छुफुल्लं व निष्फलं तस्स सामण्णं (दशनि २७७)।

• सो बालतवस्सी विव, गयण्हाणपरिस्समं कुणत्ति (दशनि २७६)।

• निद्वहति य कम्माइ, सुवकतिणाइ जहा अग्गी (दशनि २८३)।

छंद-विमर्श

छंदशास्त्र में मुख्यतः तीन प्रकार के छंद प्रसिद्ध हैं—१. गणछंद २. मात्रिक छंद ३. अक्षरछंद। निर्युक्तियां पद्यबद्ध रचना हैं अतः ये मात्रिक छंद के अंतर्गत आर्याछंद में निबद्ध हैं। आर्या के अतिरिक्त कहीं कहीं भागधिका, स्कंधक, वैतालिक, इन्द्रवज्रा, अनुष्टुप् आदि छंदों का प्रयोग भी हुआ है। आर्या छंद की अनेक उपजातियां हैं। जैसे—पथ्या, विपुला, चभला, रीति, उगगीति आदि। निर्युक्तिपंचक में यत्र तत्र आर्या की इन उपजातियों का प्रयोग भी मिलता है।

निर्युक्तिकार का मूल लक्ष्य विषय-प्रतिपादन था, किसी काव्य की रचना करना नहीं अतः उन्होंने छंदों पर ज्यादा ध्यान न देकर भावों के प्रतिपादन पर अधिक बल दिया है। छंद की दृष्टि से पश्चिमी विद्वान् डॉ. ल्यूमन ने दशवैकालिक का तथा एल्फसडोर्फ ने उत्तराध्ययन का अनेक स्थलों पर पाठ-संशोधन एवं पाठ-विमर्श किया है। उन्होंने छंद तकनीक को उपकरण के रूप में काम में लिया। जेकोबी ने छंद के आधार पर गाथा की प्राचीनता एवं अर्वाचीनता का निर्धारण किया। उनके अनुसार आर्या छंद में निबद्ध साहित्य अर्वाचीन तथा वेद छंदों में प्रयुक्त गाथाएं प्राचीन हैं।

हमने पाठ-संपादन में छंद की दृष्टि से पाठभेदों पर विमर्श किया है। अनेक स्थलों पर छंद के आधार पर ही पाठ की अशुद्धियां पकड़ में आई हैं क्योंकि छंद की यति-गति आदि की अवगति के बिना गाथाओं के पाठ का शुद्ध संपादन संभव नहीं था। छंद की दृष्टि से संभाव्य पाठ का उल्लेख हमने पाद-टिप्पण में कर दिया है। उदाहरणार्थ उनि १४० का प्रतियों में 'राईसरिसवमित्ताणि' पाठ मिलता है।

यह गाथा अनुष्टुप् छंद में निबद्ध है। अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं किन्तु यहाँ नौ वर्ण हैं अतः 'सरिसव' के स्थान पर 'सस्सव' पाठ अधिक संगत लगता है। 'सस्सव' पाठ से नौलिक अर्थ का हास भी नहीं होता क्योंकि स्पर्श के लिए सस्सव और सरिसव दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार 'अगणी निव्वेय मुगारे' (उनि ८८) में नौ वर्ण होते हैं, जिसमें पांचवाँ वर्ण दीर्घ है, जबकि अनुष्टुप् में पांचवाँ वर्ण ह्रस्व होना चाहिए। यहाँ 'अग्णी निव्वेय मुगारे' पाठ छंद की दृष्टि से सम्यक् प्रतीत होता है। हस्तप्रतियों में पाठ न मिलने के कारण परिवर्तन का निर्देश हमने मूलपाठ में न करके टिप्पण में कर दिया है। मूल पाठ में परिवर्तन न करने का एक मुख्य कारण यह रहा कि बिना प्रमाण परिवर्तन करने से ग्रंथ की मौलिकता और रचनाकार के प्रति न्याय नहीं होता। दूसरा कारण यह भी है कि वेदों में सात, नौ और दस वर्णों के अनुष्टुप् चरण भी मिलते हैं अतः यह भी संभव है कि रचय रचनाकार ने ही ऐसे प्रयोग किए हों।^१ निर्युक्ति-साहित्य में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे—
पोमासकए कज्जं (उनि २४९) में सात ही वर्ण हैं।

छंद की दृष्टि से निर्युक्तिकार ने अनेक स्थलों पर दीर्घ मात्रा का ह्रस्वीकरण एवं ह्रस्व मात्रा का दीर्घीकरण भी किया है, जैसे—

कम्मे नोकम्मे या (उनि ६७) यहाँ अकार का आकार हुआ है। ते होती पोंडरीगा उ (सूनि १४८) यहाँ इकार का ईकार हुआ है। सरिराई (आनि २४०) यहाँ ईकार का इकार हुआ है।

कहीं कहीं वर्णों का द्वित्व भी हुआ है, जैसे—सच्चिस्त आदि।

अनेक स्थलों पर छंद के कारण विभक्ति एवं वचन में व्यत्यय भी मिलता है। कहीं कहीं टीकाकार ने इसका उल्लेख भी किया है। छंद की दृष्टि से निर्युक्ति में अनेक स्थलों पर निर्विगतात्मक प्रयोग भी मिलते हैं। छंदानुलोम के कारण अनेक स्थलों पर इ, जे, मो, च, य आदि पादपूर्ति रूप अवयवों का प्रयोग भी हुआ है।

प्राकृत साहित्य में अलाक्षणिक मकार के प्रयोग तो अनेक मिलते हैं लेकिन निर्युक्तिकार ने छंद की दृष्टि से अलाक्षणिक बिंदु का प्रयोग भी किया है।

मज्जाउज्जं^२ (उनि १४५)

कहीं कहीं मात्रा कम करने के लिए बिंदु का लोप भी हुआ है—

अरई अचेत्त इत्थी^३ (उनि ७६)

कसाय वेदणं^४ (उनि ५३)

कहीं कहीं निर्युक्तिकार ने छंदों का मिश्रण भी किया है। एक ही गाथा में अनुष्टुप् और आर्या—
दोनों का प्रयोग हुआ है। जैसे तीन चरण आर्या के और एक चरण अनुष्टुप् का। इसी प्रकार कहीं तीन अनुष्टुप् के तथा एक चरण आर्या का, जैसे—आनि ३६४ में प्रथम चरण अनुष्टुप् तथा शेष तीन चरण आर्या में हैं।

१. वैदिक ग्रंथों में जिस चरण में एक अक्षर कम या अधिक पाता १७/२)।

होता है, उसे कमशः निधित और भूरिक कहा जाता है २. उशांटी प. १४२; मज्जाउज्जं बिंदोरलाक्षणिकत्वात्।

तथा जिसमें दो अक्षर कम या अधिक हों उसे विराज ३. उशांटी प. ७६; अचेत्त ति प्राकृतत्वाद् बिंदुलोपः।

और स्वराज्य कहते हैं (शौनकाचार्यक प्रतिशाख्य ४. उशांटी प. ३४; कसाय वेदणं प्राकृतत्वाद् बिंदुलोपः।

छंदागुलोम से अनेक स्थलों पर सप्तमी विभक्ति बोधक ए प्रत्यय का इ भी स्वीकृत किया है। विशेषतः उत्तराध्ययन निर्युक्ति में ऐसा अधिक हुआ है, जैसे— महुराए > महुराइ, अट्टमे > अट्टमि। छंद की दृष्टि से मात्रा को ह्रस्व करने के लिए हमने चिह्न का प्रयोग भी किया है, जैसे—दब्बेसणाएँ आदि।

अनेक स्थलों पर भावों के अनुरूप भी छंद का उपयोग हुआ है, जैसे—उत्तराध्ययन निर्युक्ति में आषाढभूति की कथा के अंतर्गत अनुष्टुप् और मागधिका छंद का प्रयोग तथा आचारांग निर्युक्ति में रोहगुप्त मंत्री द्वारा दी गयी समस्या-पूर्ति की कथा में इंद्रवज्रा छंद का प्रयोग।

गाठ-संपादन में हमने छंद को ध्यान में रखा है किन्तु मूल विषय का प्रतिपादन, उसकी मौलिकता और सहज प्रवाह नष्ट न हो, वह भी ध्यान में रखा है।

यद्यपि निर्युक्तिकार ने प्रसंगवश अनेक विषयों की व्याख्या की है लेकिन यहां पांचों निर्युक्तियों में वर्णित कुछ विशेष विषयों की प्रस्तुति की जा रही है —

१. निर्जरा की तरतमता के स्थान	८. भिक्षु का स्वरूप
२. भावनाएं	९. भिक्षाचर्या
३. प्रणिधि/प्रणिधान	१०. दिशाएं
४. साधना के बाधक तत्त्व	११. करण
५. त्रिवर्ग	१२. काव्य
६. वर्ण-व्यवस्था एवं वर्णसंकर जातियां	१३. यातायात-पथ
७. स्थावरकाय	

निर्जरा की तरतमता के स्थान

आचारांग के सम्यक्त्व अध्ययन की निर्युक्ति में गुणश्रेणी-विकास की दश अवस्थाओं का वर्णन है।^१ इन अवस्थाओं में पूर्व अवस्था की अपेक्षा उत्तरवर्ती अवस्था में असंख्यात गुणा अधिक निर्जरा होती है। गुणश्रेणी-विकास की दश अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. सम्यक्त्व-उत्पत्ति—उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति।
२. श्रावक—अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से आंशिक विरति का उदय।
३. विरत—प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से सर्वविरति का उदय।
४. अनंतकर्माश—अनंतानुबन्धी कषाय चतुष्क का क्षय।
५. दर्शनमोहक्षपक—दर्शनमोह की सम्यक्त्व मोहनीय आदि तीन प्रकृतियों का क्षय।
६. उपशमक—चारित्र्य मोह की प्रकृतियों के उपशम का प्रारम्भ।
७. उपशान्त मोह—मोह का पूर्णतः उपशम।
८. क्षपक—चारित्र्य मोह की प्रकृतियों के क्षय का प्रारम्भ।
९. क्षीणमोह—चारित्र्य मोह का सम्पूर्ण क्षय।
१०. जिन—कैवल्य-प्राप्ति।

भगवती तथा पण्डिता जैसे सैद्धांतिक ग्रंथों में इन अवस्थाओं का उल्लेख न मिलने से यह स्पष्ट है कि इन दश अवस्थाओं की अवधारणा बाद में विकसित हुई। दश अवस्थाओं का सबसे प्राचीन उल्लेख आचारांग निर्युक्ति में मिलता है। आ. उमास्वाति ने नौवें अध्याय में इन अवस्थाओं का उल्लेख किया है।^१

गुणश्रेणी-विकास की इन दश अवस्थाओं का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भद्रबाहु ने किया, इस कथन की पुष्टि इस बात से की जा सकती है कि आत्मा की निर्मलता या निर्जरा की तरतमता का ज्ञान या तो तीर्थकर अपने अतिशायी ज्ञान से जान सकते हैं अथवा चतुर्दशपूर्वी अपने श्रुतज्ञान के वैशिष्ट्य से। निर्जरा की तरतमता सामान्यज्ञानी के लिए जानना असंभव है अतः कहा जा सकता है कि गुणश्रेणी विकास की दश अवस्थाएं आचार्य भद्रबाहु की मौलिक देन है। सम्यक्त्व की उपलब्धि अनंत निर्जरा का कारण है अतः आचारांग की सम्यक्त्व अध्ययन की निर्युक्ति में इन अवस्थाओं का वर्णन प्रासंगिक लगता है किन्तु उत्तरार्थ सूक्तार ने दिए हुए महत्पूर्ण समझकर संवर के अंतर्गत तप के प्रसंग में निर्जरा का तारतम्य बताने वाली इन अवस्थाओं का समाहार किया है। वहां यह वर्णन प्रासंगिक जैसा नहीं लगता।

आचार्य उमास्वाति ने प्रथम अवस्था सम्यक्त्व-उत्पत्ति के स्थान पर सम्यग्दृष्टि तथा चौथी अवस्था अनंतकर्मण के स्थान पर अनंतवियोजक नाम का उल्लेख किया है। परवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में कुछ अंतर के साथ इन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। नामों के सूक्ष्म अंतर को निम्न चार्ट के माध्यम से जाना जा सकता है -

	श्वेताम्बर परम्परा	
शिवशर्मकृत कर्मग्रंथ ^२	चन्द्रर्षिकृत पंचसंग्रह ^३	देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रंथ ^४
१. सम्यक्त्व-उत्पत्ति	सम्यक्त्व	सम्यक्
२. श्रावक	देशविरति	दरविरति
३. विरत	सम्पूर्ण विरति	सर्वविरति
४. संयोजना-विनाश	अनंतानुबंधी विसंयोग	अनंतविसंयोग
५. दर्शनमोहक्षपक	दर्शनमोहक्षपक	दर्शनक्षपक
६. उपशमक	उपशमक	शम
७. उपशान्त	उपशान्त	शान्त

१. तत्त्वार्थसूत्र ९/४७; सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-स्त्रीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा।

२. कर्मप्रकृति (उदयकरण) ग. ३९४, ३९५;

सम्पत्तुप्ता सावय, विरत, संयोजनाविणसे य। दंसणमोहस्त्वगे, कसाय-उवसामगुवसंते।।
स्त्वगे य स्त्रीणमोहे, जिणे य दुविहे हवे असंखगुणा। उदयो तत्त्विवरीओ, कालो संखेज्जगुणसेदी।।

३. पंचसंग्रह, बंधद्वार ग. ३९४, ३९५;

सम्पत्तदेत्तसंपुन्नविरतउत्पत्ति अणविसंजोगे। दंसणस्त्वगे मोहस्स, समणे उवसंत स्त्वगे य।।
स्त्रीणाइतिगे असंखगुणियसेदिदलिय जहकमसो। सम्पत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखसे।।

४. शतक, पंचम कर्मग्रंथ ग. ८२;

सन्मदरसत्त्वदिर्ई, अणविसंजोयदंसस्त्वगे य। मोहसमसंतस्त्वगे, स्त्रीण-सजोगियर गुणसेदी।।

शिवशर्मकृत कर्मग्रंथ	चन्द्रर्षिकृत पंचसंग्रह	देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रंथ
८. क्षपक	क्षपक	क्षपक
९. क्षीणमोह	क्षीणमोह	क्षीण
१०. द्विविध जिन (सयोगी एवं अयोगी)	सयोगी केवली अयोगी केवली	सयोगी (केवली) अयोगी (केवली)
(ई. सन् पांचवीं शती)	(ई. सन् आठवीं शती)	(विक्रम की पांचवीं शती)
दिगम्बर परम्परा		

स्वामीकुमारकृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा^१

१. मिथ्यादृष्टि
२. सदृष्टि
३. अणुव्रतधारी
४. ज्ञानी महाव्रती
५. प्रथमकषायचतुष्कवियोजक
६. दर्शनमोहत्रिक क्षपक
७. उपशमक
८. क्षपक
९. क्षीणमोह
१०. सयोगी (नाथ)
११. अयोगी (नाथ)

(ई. सन् पांचवीं शती)

षट्खंडागम, गोम्मटसार (जीवकाण्ड)^२

१. सम्यक्त्व-उत्पत्ति
२. श्रावक
३. विरत
४. अनंतकर्मांश
५. दर्शनमोहक्षपक
६. कषायउपशमक
७. उपशान्त
८. क्षपक
९. क्षीणमोह
१०. जिन

(विक्रम की पांचवीं शती)

उमास्वाति के बाद लगभग सभी आचार्यों ने जिन के सयोगी और अयोगी—ये दो भेद करके ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख किया है। स्वामीकुमारकृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उपशान्त अवस्था का उल्लेख नहीं है। उन्होंने सम्यग्दृष्टि से पूर्व की अवस्था मिथ्यादृष्टि को माना है तथा जिन के स्थान पर नाथ का प्रयोग करके उसके सयोगी और अयोगी—ये दो भेद किए हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा के टीकाकार शुभचन्द्र ने उपशान्त अवस्था की व्याख्या की है।^३

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ९/१०६-१०८;

मिच्छादो सद्विही, असंखगुणकम्मनिज्जरा होदि। तत्तो अणुवधारी, तत्तो य महव्वई णगी॥
पढमकसय्यउण्हं, विजोअओ तह य खवणसीलो य। दंसणभोहतिस्स य तत्तो उवसमग चत्तारि।
खवगे य खीणभोहो, सजोइणाहो तहा अजोईया। एदे उवरिं उवरिं, असंखगुणकम्मणिज्जरा॥

२. (क) षट्खंडागम, वेदनाखंड, गा. ७, ८ पृ. ६२७।

(ख) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा. ६६, ६७;

सम्मत्तुप्पत्तीये, सावयविरदे अणंतकम्मसे। दंसणमोहकखवगे, कसायउवसाभगे य उवसंते॥

खवगे य खीणमोहे, जिणेसु दव्वा असंखगुणिकमा। तथिवरीया काला, संखेज्जगुणकमा होत्ति॥

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. ५२।

गुणश्रेणी-विकास की दश अवस्थाओं में नौ की तो पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाएं हैं, जिनमें पूर्ववर्ती अवस्था की अपेक्षा उत्तरवर्ती अवस्था में असंख्यात गुणा अधिक निर्जरा होती है लेकिन सम्यग्दृष्टि की पूर्ववर्ती अवस्था का उल्लेख नहीं हुआ है। स्वामीकुमार ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में मिथ्यात्वी की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि की असंख्यात गुणा अधिक निर्जरा स्वीकार की है।^१ उनके अनुसार यह संभावना की जा सकती है कि सम्यग्दृष्टि की पूर्ववर्ती अवस्था मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उन्होंने मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि की असंख्यात गुणा अधिक निर्जरा स्वीकार की है। यहां एक प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि क्या मिथ्यादृष्टि के भी निर्जरा संभव है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्यात्वी की मिथ्यादृष्टि क्षयोपशम भव है अतः वह जो कुछ सही जानता या देखता है, वह निर्जरा का कारण है। यदि मिथ्यादृष्टि आत्मिक उज्ज्वलता या निर्जरा का हेतु नहीं होती तो गुणस्थान-सिद्धान्त में प्रथम तीन भेदों को स्थान नहीं मिलता। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने इस भक्त की पुष्टि में अनेक हेतु दिए हैं। लेकिन कुछ परम्पराएं मिथ्यादृष्टि को निर्जरा का हेतु नहीं मानती।

आचार्य के टीकाकार आचार्य शीलांक ने सम्यक्त्व-उत्पत्ति से पूर्व की कुछ अन्य अवस्थाओं का वर्णन किया है।^२ उनके अनुसार मिथ्यादृष्टि जीव, जिनके देशों में ओटाओटि कर्म बाकी रहे हैं तथा जो ग्रंथिभेद के समीप पहुंच गए हैं, वे निर्जरा की दृष्टि से तुल्य होते हैं। मिथ्यादृष्टि के बाद की निम्न पांच अवस्थाएं टीकाकार ने बताई हैं, जिनमें क्रमशः पूर्ववर्ती की अपेक्षा उत्तरवर्ती अवस्था में असंख्यात गुणा अधिक निर्जरा होती है—

१. धर्मपृच्छा के इच्छुक
२. धर्मपृच्छा में संलग्न
३. धर्म को स्वीकार करने के इच्छुक
४. धर्मक्रिया में संलग्न
५. पूर्वप्रतिपन्न धार्मिक

निर्युक्तिकार ने काल की दृष्टि से भी निर्जरा की तरतमता का संकेत दिया है किन्तु काल की दृष्टि से इसमें क्रम विपरीत हो जाता है।^३ टीकाकार शीलांक इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि एक अयोगी केवली जितने काल में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म एक सयोगी केवली उससे संख्येय गुणा अधिक काल में खपाता है। इसी प्रकार सयोगी केवली जितने काल में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म क्षीणमोह उससे संख्येय गुणा अधिक काल में खपाता है।^४ काल की संख्येय गुणा वृद्धि प्रतिलोम क्रम से चलती है।

इन दश अवस्थाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि निर्युक्तिकार का मुख्य उद्देश्य निर्जरा की तरतमत बताने वाली तथा मोक्ष के सम्मुख ले जाने वाली अवस्थाओं का वर्णन करना था न कि विकास की भूमिका पर क्रमिक आरोहण करने वाली भूमिकाओं का वर्णन करना। यह सत्य है कि हर पूर्व अवस्था की अपेक्षा उत्तर अवस्था में असंख्यात गुणा अधिक निर्जरा है पर ये अवस्थाएं क्रमिक ही आएँ, यह आवश्यक नहीं है। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व-प्राप्ति मोक्ष का प्रथम सोपान है और जिन

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ९/१०६।

२ आचारांगटीका पृ. ११८।

३ आनि २२३; तत्त्विवरीतो काले, संख्येयगुणाए सोढीए।

४ आचारांग टीका पृ. ११८।

होने के बाद व्यक्ति कृतार्थ हो जाता है फिर उसके लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं रहता।

विद्वानों ने इन दश अवस्थाओं को गुणस्थान-विकास की पूर्वभूमिका के रूप में स्वीकार किया है। डॉ. सगरमलजी जैन ने विस्तार से इस संदर्भ में चिन्तन किया है।^१ लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से यदि गुणस्थानों के साथ इन अवस्थाओं की तुलना करें तो संगति नहीं बैठती। प्रथम तीन गुणस्थानों का इन दश अवस्थाओं में कहीं भी समाहार नहीं है। गुणस्थान-विकास की दृष्टि से विरत के बाद अनंतवियोजक की स्थिति आए, यह आवश्यक नहीं है। यह स्थिति अविरतसम्यग्दृष्टि अर्थात् चौथे गुणस्थान में भी प्राप्त हो सकती है। चौथे गुणस्थान में गुणश्रेणी-विकास की प्रथम, चतुर्थ और पंचम—इन तीन अवस्थाओं का समावेश हो सकता है क्योंकि चौथे गुणस्थान में भी व्यक्ति अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का क्षय कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। जबकि गुणश्रेणी-विकास की अवस्थाओं में विरत के बाद अनंतवियोजक और दर्शनमोहक्षपक की स्थिति है। इन दश अवस्थाओं के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति उपशमश्रेणी लेने के बाद क्षपकश्रेणी लेता है अर्थात् छठी, सातवीं अवस्था में पहले चारित्रमोह का उपशम फिर आठवीं, नवीं अवस्था में चारित्र मोह की प्रकृतियों का क्षय करता है पर गुणस्थान सिद्धान्त के अनुसार यह बात संगत नहीं बैठती। गुणस्थान कमारोह के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति उपशमश्रेणी लेने के बाद क्षायकश्रेणी ले। वहां दोनो विकल्प संभव है, व्यक्ति पहले कषायों का उपशमन करता हुआ उपशम श्रेणी भी ले सकता है और क्षय करता हुआ क्षपकश्रेणी भी प्राप्त कर सकता है अतः कहा जा सकता है कि गुणश्रेणी-विकास की ये अवस्थाएं गुणस्थान-सिद्धान्त की पूर्व भूमिकाएं नहीं हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट अवधारणा बन जाती है कि गुणस्थान एवं गुणश्रेणी विकास की अवस्थाएं—इन देने का स्वतंत्र अस्तित्व था। उमास्वाति ने गुणस्थानों के अनेक नामों का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में किया है। उदाहरण के लिए कुछ नामों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

गुणस्थान-नाम

१. अविरत (चौथा गुणस्थान)
२. देशविरत (पांचवां गुण०)
३. प्रमत्तसंयत (छठा गुण०)
४. अप्रमत्तसंयत (सातवां गुण०)
५. बादरसम्पराय (आठवां, नवां गुण०)
६. सूक्ष्मसंपराय (दसवां गुण०)
७. उपशान्तकषाय (ग्यारहवां गुण०)
८. क्षीणकषाय (बारहवां गुण०)
९. केवली (तिरहवां, चौदहवां गुण०)

तत्त्वार्थसूत्र

- तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् । (९/३५)
- तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् । (९/३५)
- तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् । (९/३५)
- आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय
धर्मप्रमत्तसंयतस्य । (९/३७)
- बादरसम्पराये सर्वे । (९/१२)
- सूक्ष्मसंपरायच्छेदमस्थवीतरागयोश्चतुर्दश । (९/१०)
- उपशान्तक्षीणकषाययोश्च (९/३८) ।
- उपशान्तक्षीणकषाययोश्च (९/३८) ।
- परे केवलिनः (९/४०)

१. श्रमण, जनवरी-मार्च १९९२; गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव और विकास ।

निर्युक्ति साहित्य : एक पर्यवेक्षण

उमास्वाति ने इन नामों का उल्लेख संयत के विशेषण के रूप में किया है अतः इन नामों को देखकर यह कहा जा सकता है उमास्वाति के समय तक गुणस्थान-सिद्धांत पूर्ण रूप से विकसित नहीं था पर उसकी मान्यता बीज रूप में प्रचलित हो रही थी।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से गुणश्रेणी-विकास की अवस्थाएं एवं गुणस्थान—इन दोनों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। गुणश्रेणी-विकास की अवस्थाएं निर्जरा की तरतमता बताने वाले स्थानों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। ये अवस्थाएं क्रमिक ही हों, यह आवश्यक नहीं है किन्तु गुणस्थानों में आत्मा की क्रमिक उज्ज्वलता का दिग्दर्शन है अतः वहां उत्तरोत्तर क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन है।

भावनाएं

चित्त को अच्छे विचारों से बार-बार भावित करना भावना है। मस्तिष्कीय धुलाई में भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् महावीर ने मुनि के लिए 'भावियप्पा' विशेषण का प्रयोग किया है।^१ आचार्य हरिभद्र के अनुसार ध्यान के ज्येष्ठ चेतना का निर्माण करने वाली ध्यान के अभ्यास की क्रिया का नाम भावना है।^२

प्रशस्त भावनाओं के रूप में अनित्य आदि बारह भावनाएं, पांच महाव्रत की पच्चीस भावनाएं, मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएं जैन साधना-पद्धति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। बारह भावनाओं पर अनेक स्वतंत्र ग्रंथों की रचना हुई है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कांदर्पी, किल्बिषिकी आदि अप्रशस्त भावनाओं का वर्णन मिलता है।^३ निर्युक्तिकार ने प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि की भावना को अप्रशस्त भावभावना माना है। निर्युक्तिकार ने प्रशस्त भावना के रूप में उत्तराध्ययन सूत्र में संकेत मात्र से निर्दिष्ट ज्ञान आदि भावनाओं का स्वरूप स्पष्ट किया है।^४ उन्होंने इसमें वैराग्यभावना का और समावेश कर दिया है।

दर्शन भावना

युगप्रधान आचार्य, केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी आदि अतिशायी एवं ऋद्धिधारी मुनियों के अभिमुख जाना, वंदन करना, दर्शन करना, कीर्तन एवं स्तुति करना दर्शन भावना है।^५ जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने ध्यान शतक में धर्मध्यान के साथ भावनाओं का संबंध जोड़ा है। उनके अनुसार जो अपने आप को शंका आदि दोषों से रहित तथा प्रशम स्थैर्य आदि गुणों से युक्त कर लेता है, उसकी दर्शन-विशुद्धि होने के कारण ध्यान में स्थिरचित्तता हो जाती है।^६

ज्ञानभावना

अपने आपको ज्ञान से भावित करना ज्ञानभावना है। जीव आदि नवतत्त्व, बंध, बंधहेतु,

१. दश ९/५०।

२. आवहाटी २ पृ. ६२; भाव्यत इति भावना
ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः।

३. उ. ३६/२६३-६६।

४. उ. १९/९४; एवं नाणेण चरणेण दंसणेण तवेण य।
भावणाहि य सुद्धाहिं, सम्मं भावित्तु अप्पयं।।

५. आनि ३५२-५४।

६. आवहाटी २ पृ. ६७, गा. ३२।

बंधन तथा बंधनफल—इनको अच्छी तरह जानना ज्ञानभावना है। वाचना, पृच्छना आदि पांच प्रकार के स्वाध्याय में उपयुक्त रहना तथा ज्ञान-प्राप्ति के लिए नित्य गुरुकुलवास में रहना भी ज्ञानभावना है। साधक को 'मुझे विशिष्ट ज्ञान होगा' यह भावना प्रतिफल करते रहना चाहिए।^१

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अनुसार ज्ञान का नित्य अभ्यास, ज्ञान-प्राप्ति में चित्त की स्थिरता, सूत्र और अर्थ की विशुद्धि तथा ज्ञान के महात्म्य से परमार्थ को जान लेना ज्ञानभावना है। इससे व्यक्ति का चित्त स्थिर हो जाता है और सहज ही ध्यान में प्रवेश होने लगता है।^२

चारित्रभावना

अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का निरतिवार पालन करना चारित्र भावना है। निर्युक्तिकार के अनुसार वैराग्य, अप्रमाद और एकत्व भावनाएं भी चारित्र भावना की अनुगत हैं।^३ ध्यान शतक के अनुसार नए कर्मों का अग्रहण, पुराने बंधे हुए कर्मों का निर्जरण तथा शुभ कर्मों का ग्रहण चारित्र भावना है। इस भावना से बिना प्रयत्न किए भी ध्यानावस्था प्राप्त होने लगती है।^४

तपोभावना

विविध प्रकार के तप-अनुष्ठान में संलग्न रहना तपोभावना है। निर्युक्तिकार ने तपोभावना को आत्मचिंतन के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार मेरा दिन तपस्या से अवध्य कैसे हो? मैं कौन सी तपस्या करने में समर्थ हूँ? मैं किस द्रव्य के योग से कौन सा तप कर सकता हूँ? मैं कैसे क्षेत्र और काल में तथा किस अवस्था में तप कर सकता हूँ? इस चिंतन से स्वयं को जोड़ने वाला तपोभावना से भावित होता है।^५

वैराग्य भावना

अनित्य आदि बारह भावनाओं से स्वयं को भावित करना वैराग्य भावना है।^६ ध्यान शतक के अनुसार जो जगत् के स्वभाव को जानता है, निस्संग (अनासक्त) है, अभय है, आशंसा से मुक्त है, वह वैराग्य भावना से भावित चित्त वाला होता है। ध्यान में सहज ही उसकी निश्छलता सध जाती है।^७

प्रणिधि/प्रणिधान

दशवैकालिकनिर्युक्ति के आठवें अध्ययन में वर्णित प्रणिधि का वर्णन आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्रणिधि का एक अर्थ खजाना होता है लेकिन साधना की दृष्टि से प्रणिधि या प्रणिधान शब्द एकाग्रता या समाधि का वाचक है। साधना के क्षेत्र में एकाग्रता प्रथम सोपान है, जिसके माध्यम से साधक अपने लक्ष्य की ओर गति करता है। बिना प्रणिधान के मन, वचन और कथा को समाहित नहीं किया जा सकता। निर्युक्तिकार ने भाव प्रणिधि के दो भेद किए हैं—इंद्रिय-प्रणिधि और नोइंद्रिय-प्रणिधि।^८

शब्द, रस, रूप, गंध और स्पर्श में राग-द्वेष नहीं करना प्रशस्त इंद्रिय-प्रणिधि है। इसके विपरीत

१. आनि ३५७-५९।

२. आवहाटी २ पृ. ६७ गा. ३१।

३. आनि ३६०, ३६१।

४. आवहाटी २ पृ. ६८ गा. ३३।

५. आनि ३६२।

६. आनि ३६३।

७. आवहाटी २ पृ. ६८ गा. ३४।

८. दशनि २७०।

उच्छृंखल एवं शब्द आदि विषयों में मूर्च्छित इन्द्रियां अप्रशस्त इन्द्रिय-प्रणिधि है।^१ दुष्प्रणिहित इन्द्रिय वाले व्यक्ति की स्थिति को उपमा के माध्यम से स्पष्ट करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं—'तप आदि करने पर भी जिसकी इन्द्रियां दुष्प्रणिहित होती हैं, वह मोक्षमार्ग से वैसे ही भटक जाता है, जैसे उच्छृंखल अश्व वाला सारथि।'^२ क्रोध, मान आदि चार कषायों का निरोध करना नोइन्द्रिय प्रणिधि है।^३

बाह्य और आभ्यन्तर चेष्टा से इन्द्रिय और कषाय का निरोध करना प्रणिधि है। प्रणिधान संयमी जीवन का मूल है लेकिन यदि माया या अहंकार के वशीभूत होकर साधक इन्द्रिय या नोइन्द्रिय का निग्रह करता है तो वह अप्रशस्त प्रणिधि है। अप्रशस्त प्रणिधि वाला मुनि कर्मों को बाध कर स्वयं भारी बन जाता है। जैसे कंटकाकीर्ण गड्ढे में गिरने वाला व्यक्ति अपने अंगभंग कर लेता है, वैसे ही दुष्प्रणिहित साधक अपने प्रव्रजित जीवन को खंडित कर लेता है। ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूप संयम की साधना के लिए प्रशस्त प्रणिधि का प्रयोग करने वाला साधक अपने कर्मों को वैसे ही भस्म कर देता है, जैसे सूखे तिनकों को अग्नि।^४

साधना के बाधक तत्त्व

आचार्य भद्रबाहु आध्यात्मिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिनिधि पुरुष थे। उनकी अध्यात्म-चेतना की रश्मियों का प्रकाश निर्युक्ति-साहित्य पर भी पड़ा। निर्युक्तियों में निरूपित आध्यात्मिक तत्त्व जीवन को नयी दिशा देने वाले हैं। निर्युक्तिकार ने स्थान-स्थान पर कषाय के उपशमन की प्रेरणा दी है। उनके अनुसार तप करते हुए भी जिसके कषाय उत्कट हैं, वह बाल तपस्वी हस्ति-स्नान के समान व्यर्थ परिश्रम करता है तथा उसका श्रमण्य इक्षु-पुष्प की भांति निष्फल होता है।^५

निर्युक्तिकार ने अध्यात्म-विकास में बाधक १३ तत्त्वों की चर्चा की है—आलस्य, मोह, अवज्ञा, जड़ता, क्रोध, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, व्याक्षेप, कुतूहल और क्रीडा।^६ ये सभी हेतु अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढ़ने वाले व्यक्ति के सामने बाधा बनकर उपस्थित होते हैं किन्तु इन कारणों के आलोक में स्वयं का निरीक्षण कर व्यक्ति अपनी अध्यात्म-साधना को प्रशस्त कर सकता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी चित्त में विक्षेप पैदा करने वाले नौ कारणों का उल्लेख किया है—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकता और अनवस्थितता। इन नौ हेतुओं को पतञ्जलि ने योगमल, योगप्रतिपक्ष और योगान्तराय के रूप में स्वीकार किया है।^७

आचार्य तुलसी ने 'मनोनुशासनम्' में बाधक तत्त्वों का उल्लेख न करके समाधिस्थ व्यक्ति के सात विशेषणों का निर्देश दिया है।^८ निर्युक्तिकार द्वारा उल्लिखित तेरह बाधक तत्त्वों को यदि विलोम करके लिखा जाए तो मनोनुशासनम् में वर्णित सातों गुण इनमें समाहित हो जाते हैं। निर्युक्ति की भाषा में इनको विघ्न रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—१. रोग, २. शारीरिक अक्षमता, ३. अविनय, ४

१. दशनि २७१-२७३।

२. दशनि २७४।

३. दशनि २७५।

४. दशनि २७९-८३।

५. दशनि २७६, २७७।

६. उनि १६३, १६४।

७. पातञ्जलयोगदर्शन; १/३०।

८. मनो १/२; आरोग्यवान् दृढसहननो विनीतोऽकृतकलो रक्षाप्रतिबद्धोऽग्रमनोऽनलसंयत् ।।

कलह, ५. आसक्ति, ६. प्रमाद, ७. आलस्य ।

मनुष्य जन्म की दुर्लभता के दश दृष्टान्त भी आध्यात्मिक चेत्ना को झकझोरने वाले हैं। ये दृष्टान्त न केवल जीवन की दुर्लभता का ज्ञान कराते हैं वरन् सार्थक एवं आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा भी देते हैं। मूलतः ये दृष्टान्त आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लिखित हैं लेकिन प्रासंगिक होने के कारण यहां भी इनकी पुनरुक्ति हुई है।

त्रिवर्ग

उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने एवं उच्चतर आदर्शों को प्राप्त करने के लिए भारतीय मनीषियों ने चार पुरुषार्थों की कल्पना की, उन्हें चतुर्वर्ग भी कहा जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ भारतीय संस्कृति के प्राण तत्त्व रहे हैं। यद्यपि निर्युक्तिकार निवृत्तिपरक धर्म-परम्परा का वहन करने वाले आचार्य थे पर उन्होंने अपने साहित्य में धर्म और मोक्ष के साथ अर्थ और काम का भी विशद विवेचन किया है। आचार्य वात्स्यायन ने कामसूत्र के प्रारम्भ में धर्म, अर्थ और काम को नमस्कार किया है।^१ ऐसा संभव लगता है कि निर्युक्तिकार के समय तक भी त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम का ही प्रचलन रहा। मोक्ष को इसके साथ नहीं जोड़ा गया। मोक्ष को न जोड़ने का एक कारण यह भी रहा कि मोक्ष की प्राप्ति सबके लिए संभव नहीं थी। बाद के आचार्यों ने इनमें मोक्ष को जोड़कर चार पुरुषार्थों की प्रस्थापना की और इनको साध्य और साधन के रूप में प्रतिष्ठित किया। धर्म और अर्थ को साधन के रूप में तथा मोक्ष और काम को साध्य के रूप में अंगीकार किया। धर्म का साध्य है मोक्ष और अर्थ का साध्य है काम।

भारतीय मनीषियों ने धर्म को जीवन का नियामक सिद्धान्त, अर्थ को जीवन के भौतिक साधन का आधार, काम को जीवन की उचित कामनाओं की तृप्ति तथा मोक्ष को सर्व बंधनों से मुक्ति के रूप में स्वीकार किया। निर्युक्तिकार ने त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम का व्यवस्थित विवेचन किया है तथा मोक्ष को धर्म का फल स्वीकार किया है।^२ कुछ धार्मिक परम्पराओं में धर्म, अर्थ और काम को विरोधी तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया लेकिन निर्युक्तिकार के अनुसार धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों युगपद् विरोधी से लगते हैं परन्तु जिनेश्वर भगवान् के वचनों में अवतीर्ण होकर ये अविरोधी बन जाते हैं।^३ आचार्य वात्स्यायन ने इसी बात को प्रकारान्तर से कहा—‘धर्मानुकूलो अर्थकामी सेवेत’ अर्थात् धर्म के अनुकूल अर्थ और काम का सेवन करना चाहिए। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार व्यक्ति भले ही ऐश्वर्य प्राप्त करे, धन संचय करे, उसका उपभोग करे पर वह धर्मानुकूल हो। त्रिवर्ग में से किसी एक का असंतुलित उपभोग बड़ा दुःखदायी होता है।^४ कहने का तात्पर्य है व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों का उपभोग इस प्रकार करे कि ये तीनों एक दूसरे से संबद्ध भी रहें और परस्पर विघ्नकारी भी न हों। भारतीय ऋषियों ने मोक्ष को परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया है। निर्युक्ति-साहित्य में मोक्ष का वर्णन विकीर्ण रूप में अनेक स्थानों पर मिलता है। यहां संक्षेप में निर्युक्तिगत त्रिवर्ग—धर्म,

१. कामसूत्र १/१/१; धर्मार्थकामेभ्यो नमः ।

२. दर्शानि २४१।

३. दर्शानि २४०।

४. कौटि. १/३/६/३;

धर्मार्थविरोधेन कामं सेवेत । न निःसुखः स्याद् ।
समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धनम् । एको ह्यस्या-
सेवितो धर्मार्थकमानामात्मानमितरो च पीडयति ।

अर्थ और काम का वर्णन किया जा रहा है—

धर्म

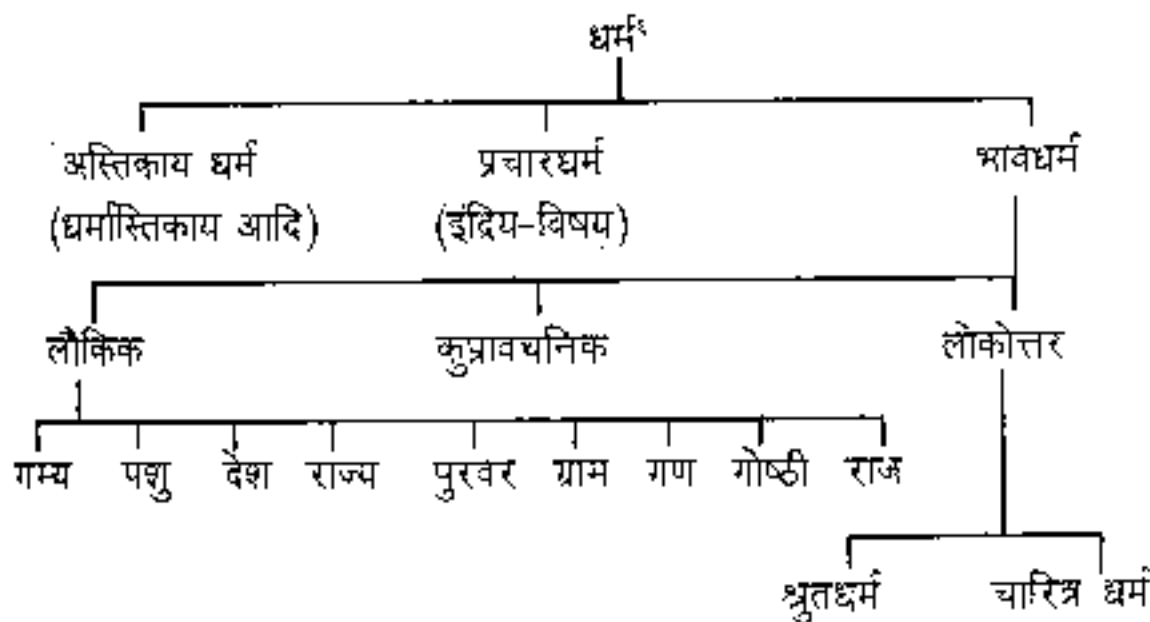
दशवैकालिक की भांति निर्युक्तिकार ने भी धर्म को उत्कृष्ट मंगल के रूप में स्वीकार किया है।^१ ठाणं सूत्र में धर्म के तीन प्रकार मिलते हैं—१. श्रुतधर्म, २. चारित्रधर्म, ३. अस्तिकाय धर्म।^२

आचार्य भद्रबाहु ने धर्म का वर्णन अनेक स्थानों पर किया है पर उनके भेद-प्रभेदों के वर्णन में एकरूपता नहीं है। कहीं संक्षिप्त नय से तथा कहीं विस्तार से वर्णन हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति के वतुर्विंशतिस्तव में आए धर्म शब्द की व्याख्या में धर्म के दो भेद किए गए हैं—द्रव्य और भाव। निर्युक्तिकार ने द्रव्यधर्म को अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया है—

- द्रव्य का धर्म जैसे वस्तु का तिक्त आदि धर्म।
- अनुपयुक्त—उपयोग रहित व्यक्ति का धार्मिक अनुष्ठान। (यहां अनुपयुक्त को द्रव्य कहा है।)
- द्रव्य ही धर्म जैसे धर्मास्तिकाय।
- गम्यधर्म आदि दशधर्म जैसे किसी देश में मातुल-दुहिता गम्य होती है।
- कुतीर्थिकों—एकान्तवादियों का धर्म।

भावधर्म के श्रुत और चारित्र दो भेद हैं। श्रुतधर्म में स्वाध्याय आदि का तथा चारित्र धर्म में क्षमा आदि दश श्रमणधर्मों का समाहार होता है।^३

दशवैकालिकनिर्युक्ति में धर्म के मुख्यतः दो भेद किए हैं—अगारधर्म और अनगारधर्म। अगारधर्म बारह प्रकार का तथा अनगारधर्म दश प्रकार का है। कुल मिलाकर धर्म के बाईस भेद हो जाते हैं।^४ दशवैकालिक के प्रथम अध्यायन की निर्युक्ति में वर्णित धर्म के भेद-प्रभेदों को निम्न चार्ट से जाना जा सकता है—



१. दशनि ८८, १२०/२।

४. आवनि १०६४।

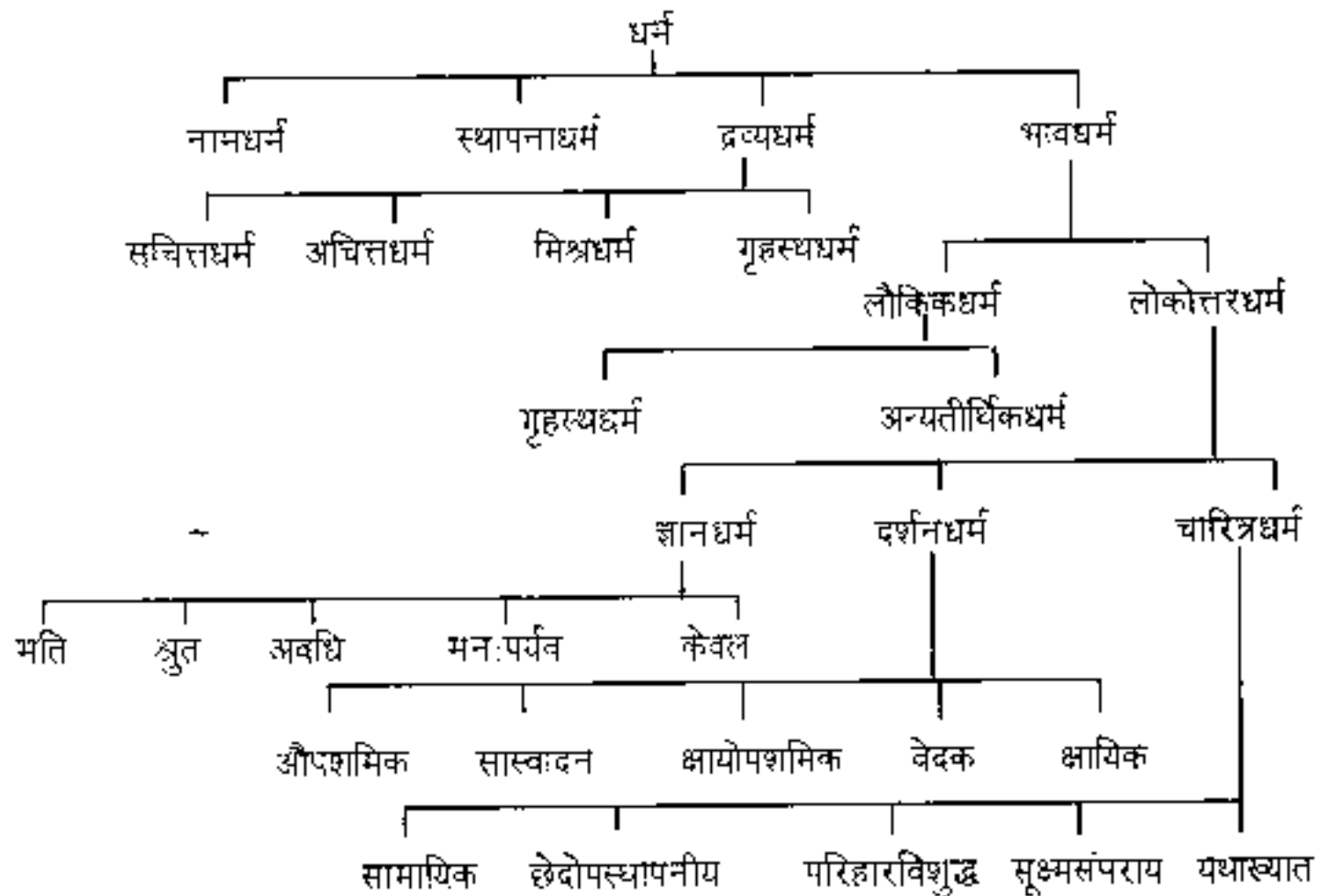
२. ठाणं ३/४१०।

५. दशनि २२३-२५।

३. आवनि १०६३, हाटी पृ. ५।

६. धर्म के विस्तृत वर्णन हेतु देखें, दशनि ३६-४०, अचू पृ. १०, ११, हाटी प. २१-२३।

सूत्रकृतांग निर्मुक्ति (सूत्रि १००, १०६) के अनुसार धर्म के भेद-प्रभेद इस प्रकार है—



अर्थ

सांसारिक प्राणी के लिए भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री अर्थ से ही संभव है। महाभारत में कृषि, वाणिज्य और गो-पालन को अर्थ कहा गया है^१ क्योंकि इनके मूल में अर्थ-प्राप्ति का लक्ष्य रहता है। आचार्य वात्स्यायन अर्थ को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि विद्या, भूमि, सुवर्ण, पशु, बर्तन, उपकरण, मित्र एवं अन्य वस्तुओं को प्राप्त करना तथा उनकी वृद्धि करना अर्थ है।^२ महाभारत में धर्म और काम को अर्थ का ही अंग माना है। कौटिलीय ने भी अर्थ को धर्म और काम का मूल माना है।^३ समय के अनुसार अर्थ के विनिमय एवं उसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन काल में सिक्कों का अस्तित्व होते हुए भी वस्तुओं का विनिमय प्रायः वस्तुओं से होता था। आज वह रुपयों से होने लगा। निर्मुक्तिकार के समय अर्थ (सम्पत्ति) को छह रूपों में सुरक्षित रखा जाता था—धान्य, रत्न, स्थावर, द्विपद, चतुष्पद, कुन्य।

धान्य—धान्य २४ प्रकार का होता है।^४

रत्न रत्न के भी २४ प्रकार हैं।^५ निर्मुक्तिकार ने चंदन, शंख, अगर, चर्म, दंत, केश के सौगंधिक

१. महा शांतिपर्व १६७/११, १२।

२. कामसूत्र; १/२/८; विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धान्य-भाण्डोपस्कर-मित्रादीनामर्जनमर्जितस्थ विवर्धनमर्थः।

३. महा शांतिपर्व १६७/१४,

कौटि. १/३/६/३ अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।

४. दशनि २२९, २३०; निभा १०२९, १०३०।

५. दशनि २३१, २३२, निभा १०३१।

द्रव्य आदि को भी रत्नों के अंतर्गत माना है। कीमती होने के कारण संभवतः इनको रत्न के अंतर्गत रखा गया है।

स्थावर—भूमि, घर और वन-सम्पदा—ये तीन स्थावरसम्पत्ति के अंतर्गत आते हैं।^१ आज की भाषा में इन्हें अचल सम्पत्ति कहा जा सकता है।

द्विपद—दो पहियों से चलने वाली गाड़ी एवं दास आदि। उस समय दास आदि को भी समृद्धि का प्रतीक माना जाता था क्योंकि दास खरीदे जाते थे।

चतुष्पद—चतुष्पद के गाय आदि १४ प्रकार हैं।^२

कुप्य—सामान्य रूप से प्रतिदिन घर में काम आने वाले सभी उपकरण।^३

इस प्रकार चौंसठ प्रकार से सम्पदा का संग्रह या विनिमय किया जाता था।

काम

आगमों में जिन दश संज्ञाओं का उल्लेख है, उनमें मैथुन संज्ञा इसी का पर्याय है। विषय और इंद्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला मानसिक सुख काम है। महाभारत में अर्थ की समृद्धि से होने वाले आनंद को काम कहा गया है।^४ वात्स्यायन के अनुसार आत्मा से संयुक्त मन से अधिष्ठित कान, त्वचा, आंख, जिह्वा और नाक आदि इंद्रियों का अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होना काम है। उन्होंने उसी प्रवृत्ति को काम माना है, जो धर्म के अनुकूल हो।^५ आधुनिक विचारकों में फ्रायड ने इस मनोवृत्ति पर सूक्ष्मता से चिन्तन किया और इसे मौलिक वृत्ति के रूप में स्वीकार किया। संसार से विरक्त एवं निवृत्ति मार्ग पर प्रस्थित होते हुए भी निर्युक्तिकार ने काम की जिन अवस्थाओं का वर्णन किया है, वह उनके बाहुश्रुत्य एवं अन्य ग्रंथों के गहन अध्ययन की ओर संकेत करता है। दशवैकालिकनिर्युक्ति में काम के दो भेद मिलते हैं—१. असंप्राप्त काम २. संप्राप्त काम।

संप्राप्त काम का अर्थ है—प्रिय व्यक्ति के सामने रहने पर होने वाली मानसिक एवं शारीरिक अवस्थाएं। असंप्राप्त काम का तात्पर्य है—प्रिय की अनुपस्थिति में होने वाली अवस्थाएं। असंप्राप्त काम की दश अवस्थाएं हैं—

१. अर्थ—किसी के रूप को सुनकर होने वाली आसक्ति।
२. चिंता—बार-बार उसी के गुणों का चिन्तन।
३. श्रद्धा—प्रिय के प्रति पूर्ण समर्पणभाव, उससे मिलने की अभिलाषा।
४. संस्मरण—वियोग में बार-बार उसी की स्मृति।
५. विक्लवता—वियोग होने पर आहार आदि में अरुचि होना, बैचेनी होना।
६. लज्जा-परित्याग—गुरु-जनों के सामने भी बार बार उसी के नाम एवं गुणों का स्मरण।
७. प्रमाद—सब कार्यों को छोड़कर उसी का चिन्तन तथा शब्दादि विषयों में अरुचि।

१. दशनि २३३।

२. दशनि २३४।

३. दशनि २३५।

४. मभा., वनपर्व ३७/८।

५. कामसूत्र; १/२/११; श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाग्रणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां त्वेषु त्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः.....।
आत्मसंयुक्तेन मनसा धर्मानुकूलेन प्रवृत्तिः कामः।

६. दशनि २३७, २३८।

८. उन्माद—कार्य और अकार्य का ज्ञान न रहना तथा निरर्थक बकवास करना।

९. तद्भाव—हर वस्तु में प्रिय का चिंतन करके उसका आलिंगन आदि करना।

१०. मरण—उसकी याद में प्राण-परित्याग कर देना।^१

चूर्णिकार ने मरण को नौवीं तथा तद्भाव को दसवीं अवस्था स्वीकार किया है किन्तु टीकाकार हरिभद्र ने तद्भाव को नौवीं तथा मरण को दसवीं अवस्था के रूप में स्वीकार किया है। अवस्थाओं की दृष्टि से टीकाकार हरिभद्र का कम अधिक संगत लगता है।

बृहत्कल्प भाष्य में असंप्राप्त काम के दस लक्षणों का वर्णन कुछ अंतर के साथ मिलता है—

१. चिन्ता	६. सभी विषयों के प्रति चित्त में अरुचि
२. प्रिय को देखने की इच्छा	७. मूर्च्छा
३. स्मृति में दीर्घ निःश्वास छोड़ना	८. उन्माद
४. कामज्वर	९. बेभान होना
५. दाह का अनुभव	१०. मरण।

उत्तराध्यायन की सुखबोधाटीका में इन अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन है।^२ स्थानांग टीका में काम के अभिलाषा, चिन्ता, सततस्मरण, उत्कीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृत्यु ये दश भेद मिलते हैं।^३ वात्स्यायन ने कामसूत्र में काम के दस स्थान बताए हैं, उनमें शाब्दिक भिन्नता पर यदि ध्यान न दिया जाए तो अर्थ की दृष्टि से ये असंप्राप्त काम के संवादी हैं—

१. आंखों में प्रेम की झलक।	६. लज्जा का भाग जाना।
२. चित्त की आसक्ति।	७. अन्य विषयों में मन नहीं लगना।
३. संकल्प की उत्पत्ति।	८. उन्माद।
४. निद्रा का भाग जाना।	९. मूर्च्छा।
५. काम-भावना से दुर्बलता का अनुभव।	१०. मृत्यु।

निर्युक्तिकार ने संप्राप्त काम के १४ भेदों का उल्लेख किया है—

१. दृष्टिपात	८. नखनिपात
२. दृष्टिसेवा (निरंतर उसी को देखना)	९. चुम्बन
३. संभाषण	१०. आलिंगन
४. प्रणय प्रकट करने के लिए मुस्कराना	११. आदान—गोद में बिठाना
५. गीत, नृत्य आदि करना	१२. करण—वस्त्र रहित करना
६. अवगूहन	१३. आसेदन
७. आपस में दांत मिलाना	१४. रतिक्रीड़ा

१. दशअचू पृ. १४२, श्राटी प. १९४।

२. बृभा २२५८; चिन्ता य दङ्गमिच्छद्, दीहं नीससद् तह जरो दाहो चित्तारोयग मुच्छा, उम्भतो न याणई मरणं।।

३. उसुटी प. ८५।

४. स्याटी प. ४२३, ४२४।

५. कामसूत्र ५/१/२, ३; चक्षुःप्रीतिः मन-संगः संकल्पोत्पत्तिर्निद्राच्छेदः तनुता विषयेभ्यो व्यावृत्तिः लज्जाप्रणयः उन्मादः मूर्च्छा-मरणमिति तेषां लिंगानि।

६. दशनि २३८, २३९।

आचार्य बाभ्रवीय का कामसूत्र वर्तमान में अनुपलब्ध है लेकिन पंडित यशोधर एवं वात्स्यायन ने अपने ग्रंथों में इनके उद्धरण दिए हैं। बाभ्रवीय के अनुसार प्रिय की सन्निकटता में काम के मुख्यतः आठ तथा विस्तार से ६४ अंग होते हैं। आठ अंग इस प्रकार हैं—१. आलिंगन २. चुम्बन, ३. नखच्छेद, ४. दशनच्छेद, ५. सह शमन, ६. सीत्कार, ७. सम्भोग, ८. मुखसम्भोग।

दक्षसंहिता में संप्राप्त और असंप्राप्त—इन दोनों ही कामों का समाहार आठों अंगों में किया गया है—१. स्मरण, २. कीर्तन, ३. कीड़ा, ४. स्नेह युक्त दृष्टिक्षेप, ५. गुप्त संभाषण, ६. संकल्प, ७. प्रिय-प्राप्ति के लिए अध्यवसाय, ८. क्रियानिष्पत्ति।^१

मनुस्मृति में धर्म, अर्थ और काम की सर्वश्रेष्ठता के संबंध में अनेक मतों को प्रस्थापित कर अंत में त्रिवर्ग में तीनों को श्रेष्ठ मानता है।^२ भगवान् महावीर ने धर्म को शरण, गति और प्रतिष्ठा के रूप में स्वीकार किया है तथा इसे सर्वोच्च स्थान दिया है।^३

वर्ण-व्यवस्था एवं वर्णसंकर जातियां

वैदिक ग्रंथों में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके विभाजन के पीछे ऋषियों का चिन्तन था आचार और कर्म का विवेक लेकिन जब यह वर्ण-व्यवस्था अधिकार के साथ जुड़ गयी तब इसमें विकृति का प्रवेश होने लगा। जाति या वर्ण के आधार पर व्यक्ति को पशु से भी बदतर माना जाने लगा, यह मानवीय अधिकार का दुरुपयोग था। भगवान् महावीर ने जाति एवं वर्ण-व्यवस्था के विरोध में अपनी आवाज को बुलन्द किया और कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों का निरूपण किया।^४

यद्यपि निर्युक्तिकार ने 'मनुष्य जाति एक है' इस स्वर को बुलन्द किया है लेकिन वे अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती साहित्य एवं संस्कृति से बहुत प्रभावित भी रहे हैं। इसके अनेक उदाहरण निर्युक्ति-साहित्य में मिलते हैं। वर्ण-व्यवस्था का जो वर्णन आचारांगनिर्युक्ति में मिलता है, उसमें वैदिक परम्परा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वर्ण-व्यवस्था एवं वर्णान्तर जाति के ऐसे भेदों का कोई उल्लेख जैन आगम-साहित्य में नहीं मिलता। ब्रह्म की व्याख्या में स्थापना ब्रह्म के अंतर्गत उस समय की प्रचलित अनेक वर्ण एवं वर्णान्तर जातियों का उल्लेख आचारांग निर्युक्ति में मिलता है।

सर्वप्रथम ऋग्वेद के दसवें मंडल पुरुष-सूक्त में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का संकेत मिलता है। यजुर्वेद के अनुसार सर्वप्रथम ब्राह्मण, फिर क्षत्रिय, वैश्य और अंत में शूद्र की उत्पत्ति हुई।^५ ऋग्वेद के अनुसार विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य तथा पैर से शूद्र उत्पन्न हुए।^६ उस विराट् पुरुष के सहस्र शिर, सहस्र आंखें तथा सहस्र पैर थे तथा वह भूत और भविष्य

१. दक्षसंहिता; स्मरणं कीर्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

२. मनु. २/२२४; धर्मार्थावुच्यते श्रेष्ठः कामार्थो धर्म एव च। अर्थ एवेह दा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥

३. उ. २३/६८।

४. उ. २५/३१; कम्मुणा बंधो होइ, कम्मुण होइ खतिओ। वदस्सो कम्मुणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मुणा॥

५. यजुर्वेद ३०.५; ब्राह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्रिये राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्;

६. ऋग्वेद १०/१०/१२; ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहु राजन्यः कृतः। ऊरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजयत्॥

था।^१ वैदिक परम्परा की इस मान्यता का जैन पुराण-साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। महापुराण एवं पद्मपुराण के अनुसार ऋषभदेव ने भुजाओं में शस्त्र धारण कर क्षत्रियों की सृष्टि की, ऊरुओं से देशाटन कर वैश्यों की रचना की क्योंकि वैश्य विभिन्न देशों की यात्रा कर व्यापार द्वारा आजीविका चलते थे। शूद्रों की रचना पैरों से की क्योंकि वे सदा नीच वृत्ति में तत्पर रहते थे। ऋषभ के पुत्र भरत ने मुख से शास्त्रों का अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणों का सृजन किया।^२ गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के आधार पर मैंने की है। इनका विनाश भी मेरे हाथ में है।^३ निर्युक्तिकार के अनुसार भगवान् ऋषभ के राज्यारूढ़ होने से पूर्व एक ही (क्षत्रिय) जाति थी। ऋषभ के राजा बनने के बाद फिर क्रमशः शूद्र, वैश्य और श्रावक धर्म का प्रवर्तन करने पर ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई।^४ टीकाकार ने निर्युक्तिकार की संवादी व्याख्या की है किन्तु चूर्णिकार का मत निर्युक्तिकार से भिन्न है। उनके अनुसार ऋषभदेव के समय जो उनके आश्रित थे, वे क्षत्रिय कहलाए। बाद में अग्नि की खोज होने पर उन्म गृहपतियों में जो शिल्प और वाणिज्य का कर्म करने वाले थे, वे वैश्य कहलाए। भगवान् के दीक्षित होने पर भरत के राज्याभिषेक के बाद भगवान् के उपदेश से श्रावक धर्म की उत्पत्ति हुई। ये श्रावक धर्माश्रित थे तथा 'मा हण' 'मा हण' रूप अहिंसा का उद्घोष करते थे अतः लोगों ने उनका नाम माहण—ब्राह्मण रख दिया। जो न भगवान् के आश्रित थे और न किसी प्रकार का शिल्प आदि करते थे, वे अश्रावक शोक एवं द्रोह स्वभाव से युक्त होने के कारण शूद्र कहलाए। शूद्र का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ शू अर्थात् शोक स्वभाव युक्त तथा द्र अर्थात् द्रोह स्वभाव युक्त किया है।^५ चूर्णिकार द्वारा किए गए क्रम-परिवर्तन में एक कारण यह संभव लगता है कि चूर्णिकार पर वैदिक परम्परा का प्रभाव पड़ा है। पद्मपुराण के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने जिन पुरुषों को विपत्तिग्रस्त मनुष्यों के लिए नियुक्त किया, वे क्षत्रिय कहलाए। जिनको वाणिज्य, खेती एवं पशुपालन आदि के व्यवसाय में लगाया, वे वैश्य कहलाए। जो निम्न कर्म करते थे तथा शास्त्रों से दूर भागते थे, उन्हें शूद्र संज्ञा से अभिहित किया गया।^६ महापुराण में भी इसका संवादी वर्णन है।^७ वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में मुख्य रूप से पांच सिद्धांत प्रचलित हैं—१. देवी सिद्धांत २. गुण सिद्धांत ३. कर्म सिद्धांत ४. वर्ण एवं रंग का सिद्धांत ५. जन्म का सिद्धांत।^८

वर्णसंकर जातियां

चार वर्णों के बाद अनेक जातियां तथा उपजातियां उत्पन्न हुईं। इसका कारण अनुलोम-प्रतिलोम विवाह थे। महापुराण के अनुसार वर्णसंकर उत्पन्न करने वाले दंड के पात्र होते थे।^९ संयोग के आधार पर १६ जातियां उत्पन्न हुईं, जिनमें सात वर्ण तथा नौ वर्णान्तर कहलायीं।^{१०} ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, क्षत्रियसंकर^{११}, वैश्यसंकर^{१२} और शूद्रसंकर^{१३} ये सात वर्ण हैं। इन सात वर्णों में अंतिम तीन

१. ऋग्वेद १०/९०/१, २.

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

पुरुष एवेदं सर्वं, यद् भूतं यच्च भाव्यम्।।

२. महापु. १६/२४३-४६, पद्म ५/१९४, १९५।

३. गीता ४/१३: यातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागज्ञः।

४. अग्नि १९।

५. आचू. पृ. ४. ५।

६. पद्म ३/२५६-५८, हरि. ९/३९।

७. महापु. १६/१८३।

८. विस्तार हेतु देखें प्रचीन भारतीय संस्कृति पृ. ३८४-९६।

९. महापु. १६/२४८।

१०. अग्नि २०।

११. ब्राह्मण तथा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न।

१२. ब्राह्मण तथा वैश्य स्त्री से उत्पन्न।

१३. क्षत्रिय और शूद्र स्त्री से उत्पन्न।

अनंतर योग से उत्पन्न होते हैं इसलिए अंतिम वर्ण शूद्र का व्यापदेश होता है।^१

निर्युक्तिकार के अनुसार अम्बष्ठ आदि ९ वर्णान्तर जातियों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है^२ —

वर्णान्तर	अम्बष्ठ	उग्र	निषाद/ परासर	अयोगव	मागध	सूत	क्षत्त	वैदेह	चाण्डाल
पुरुष स्त्री	ब्राह्मण वैश्य	क्षत्रिय शूद्र	ब्राह्मण शूद्र	शूद्र वैश्य	वैश्य क्षत्रिया	क्षत्रिय ब्राह्मणी	शूद्र क्षत्रिया	वैश्य ब्राह्मणी	शूद्र ब्राह्मणी

मनुस्मृति में वर्णान्तर के स्थान पर वर्णसंकर शब्द का प्रयोग हुआ है। मनुस्मृतिकार ने वर्णसंकर संतान उत्पन्न होने के तीन कारण माने हैं—१. व्यभिचार २. एक गोत्र में विवाह ३. यज्ञोपवीत संस्कार आदि छोड़ना।^३ मनुस्मृति में चार वर्णों से उत्पन्न निम्न वर्णसंकर जातियों का उल्लेख मिलता है—

वर्णान्तर	अम्बष्ठ ^४	उग्र ^५	निषाद/ पारशव	अयोगव ^६	मागध ^७	सूत ^८	क्षत्त ^९	वैदेह ^{१०}	चाण्डाल ^{११}
पुरुष स्त्री	ब्राह्मण वैश्य	क्षत्रिय शूद्र	ब्राह्मण शूद्र	शूद्र वैश्य	वैश्य क्षत्रिया	क्षत्रिय ब्राह्मणी	शूद्र क्षत्रिया	वैश्य ब्राह्मणी	शूद्र ब्राह्मणी

गौतमधर्म सूत्रकार ने विवाह के प्रसंग में अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, दौष्मन्त और पारशव को अनुलोम विवाहों^{१२} से उत्पन्न वर्णसंकर जातियां मानी हैं^{१३} तथा सूत, मागध, अयोगव, कृत, वैदेह और चाण्डाल— इन छह को प्रतिलोम विवाह^{१४} से उत्पन्न वर्णसंकर जातियां स्वीकार की हैं।^{१५} मनुस्मृति में कृत के स्थान पर क्षत्र/क्षत्त शब्द का प्रयोग मिलता है।^{१६} गौतम सूत्र में इन वर्णसंकर जातियों की संख्या ग्यारह मिलती है। निर्युक्तिकार और मनुस्मृतिकार ने निषाद और पारशव^{१७} को एकार्थक माना है। जबकि गौतमसूत्र में इन दोनों को भिन्न माना है। गौतम सूत्र के अनुसार इनकी उत्पत्तिक्रम में भी कुछ

१. अति २१।

२. अति २२-२५।

३. मनु १०/२४।

४. मनु १०/८।

५. मनु १०/९।

६. मनु १०/८।

७. (क) मनु १०/१२।

(ख) मनुस्मृति में अयोगव के स्थान पर अयोगव का प्रयोग हुआ है।

८. मनु १०/११।

९. मनु १०/११।

१०. मनु १०/१२।

११. मनु १०/११।

१२. मनु १०/१२।

१३. अनुलोम विवाह का अर्थ है उच्च वर्ण के पुरुष का अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह।

१४. गौ. १/४/१४; अनुलोमः अनन्तरैकान्तरद्वयन्तरासु जाताः सवर्गाम्बष्ठेग्र निषाददौष्मन्तपारशवाः।

१५. प्रतिलोम विवाह का अर्थ है पुरुष का अपने से उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह।

१६. गौ. १/४/१५ प्रतिलोमस्तु सूतमागधायोगवकृतवैदेहकचण्डालाः।

१७. मनु १०/२६।

१८. आचारां निर्युक्ति में पारशव का परासर नाम मिलता है।

भिन्नता है, जो इस प्रकार है —

वर्णान्तर	अम्बष्ठ	उग्र	निषाद	क्षत्रिय	पारस	पूत	पानध	अयोगव	कृत	वैदेहक	चाण्डाल
पुरुष	क्षत्रिय	क्षत्रिय	ब्राह्मण	क्षत्रिय	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	वैश्य	शूद्र	शूद्र
स्त्री	वैश्य	शूद्र	वैश्य	शूद्र	शूद्र	ब्राह्मणी	क्षत्रिया	वैश्य	ब्राह्मणी	क्षत्रिया	ब्राह्मणी

इन जातियों का विस्तृत वर्णन महाभारत के अनुशासन पर्व में मिलता है।^१ जैन पुराणों में भी अनेक जातियों एवं उपजातियों का उल्लेख मिलता है।^२

वर्णान्तर के संयोग से उत्पन्न जातियां

निर्युक्तिकार ने वर्णान्तर से उत्पन्न चार जातियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार उग्र पुरुष से क्षत्र स्त्री में उत्पन्न जाति श्वपाक, वैदेह पुरुष से क्षत्र स्त्री में उत्पन्न जाति वैणव, निषाद पुरुष से अम्बष्ठ अथवा शूद्र स्त्री में उत्पन्न जाति बुक्कस तथा शूद्र पुरुष और निषाद स्त्री से उत्पन्न जाति कुक्कुरक कहलाती है।^३ मनुस्मृति में वर्णसंकर जातियों के संयोग से उत्पन्न अनेक जातियों का उल्लेख है। उनकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—

वर्णसंकर	आवृत ^४	आभीर ^५	धिग्वण ^६	पुक्कस ^७	कुक्कुरक ^८	श्वपाक ^९	वैणव ^{१०}	मैत्रेयक ^{११}	मार्गव ^{१२}
पुरुष	ब्राह्मण	ब्राह्मण	ब्राह्मण	निषाद	शूद्र	क्षत्र	वैदेह	वैदेह	निषाद
स्त्री	उग्र	अम्बष्ठी	अयोगवी	शूद्रा	निषादी	उग्र	अम्बष्ठी	अयोगवी	अयोगवी

मज्झिमनिकाय में बुक्कस और वैणव आदि पांच जातियों को हीन माना है।^{१३} वैदिक ग्रंथों में और भी अनेक वर्णसंकर जातियों का उल्लेख मिलता है लेकिन यहां केवल निर्युक्ति में आयी वर्णसंकर जातियों की तुलना के लिए ग्रंथान्तर के उद्धरण दिए हैं। चूर्णिकार ने इनको सच्छंदमतिविगणित माना है अर्थात् वैदिक परम्परा में वर्ण एवं वर्णसंकर जातियों की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह सच्छंदमति की कल्पना है।^{१४}

स्थावरकाय

आचार्यग सूत्र का प्रारम्भ अस्तित्व-बोध की जिज्ञासा से होता है। भगवान् महावीर स्पष्ट कहते हैं कि पांच स्थावर जीवों के अस्तित्व के साथ ही अन्य प्राणियों का अस्तित्व टिका हुआ है। जो लोक (स्थावर जीवों) के अस्तित्व को नकारता है, वह अपने अस्तित्व को नकारता है।^{१५} स्थावर जीवों में

१. तौ. १/४/१४, १५।

२. मभा. अनुशासन पर्व।

३. जैन पुराणों का पृ. ५२, ५३।

४. जणि २६, २७।

५-७. मनु १०/१५।

८, ९. मनु १०/१८।

१०, ११. मनु १०/१९।

१२. मनु १०/३३।

१३. मनु. १०/३४ मार्गव को दास और कैवर्त भी कहा जाता था।

१४. मज्झिम २/५/३।

१५. आचू पृ. ६।

१६. आचरो १/६६।

जीवत्व-निरूपण का मुख्य आधार है—प्रत्यक्ष दर्शन। महावीर ने प्रत्यक्ष ज्ञान (केवल ज्ञान, केवल दर्शन) के द्वारा इन अति सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व देखा। आचार्य सिद्धसेन कहते हैं—भगवन्! आपकी सर्वज्ञता की सिद्धि में एक प्रमाण ही पर्याप्त है कि आपने षड्जीवनिकाय का निरूपण किया।^१ समूचे भारतीय दर्शन में षड्जीवनिकाय का निरूपण महावीर की एक मौलिक प्रस्थापना है।

वैदिक धर्म में पृथ्वी, जल आदि को देववाद के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। जैसे पृथ्वी देवता, जल देवता, अग्नि देवता आदि। कुछ दार्शनिकों ने इन्हें पंच भूतों के रूप में स्वीकार किया। इस संदर्भ में महावीर ने द्वादशांगी के प्रथम अंग आचारांग में अपना कान्त-स्वर मुखर करते हुए कहा—‘पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि के आश्रित तो अनेक ब्रह्म जीव हैं ही पर ये स्वयं जीव हैं। पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों की हिंसा करने वाला उनके आश्रित रहने वाले सूक्ष्म या बादर पर्याप्त या अपर्याप्त अनेक जीवों की हिंसा करता है।’^२ सृष्टि-संतुलन की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि किसी भी काय के जीवों की हिंसा से सम्पूर्ण जीव-मंडल प्रभावित होता है।

ये स्थावर जीव मूक, अंध, बधिर प्राणी की भांति अपनी वेदना को व्यक्त करने में असमर्थ हैं पर इनकी वेदना को आत्मवत् स्वीकार करना चाहिए, यही अहिंसा की उत्कृष्टता है।^३ जैसे कोई धतूरा मिश्रित द्रव पी ले तो मूर्च्छित होने के कारण उसमें चैतन्य या वेदना के लक्षण स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ते वैसे ही स्त्यानर्द्धि रूप सघन मूर्च्छा के कारण इनमें चैतन्य स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होता। ये जीव अमनस्क वेदना की अनुभूति करते हैं। निर्युक्तिकार के अनुसार जैसे मनुष्यों के अंग-प्रत्यंगों का छेदन करने से उनको पीड़ा होती है, वैसे ही पृथ्वीकाय के अंगोपांग न होने पर भी अंगोपांग के छेदन-भेदन तुल्य वेदना होती है।^४ आचार्यो में पुनरावृत्ति का खतरा उठाकर भी पृथ्वी आदि के स्वरूप एवं अस्तित्व-सिद्धि का पृथक्-पृथक् विस्तृत विवेचन किया गया है। महावीर कहते हैं कि व्यक्ति अपनी आसक्ति एवं अज्ञान के कारण सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर पाता। आचारांगनिर्युक्ति में स्थावर जीव में जीवत्व-निरूपण के प्रसंग में पर्यावरण-संरक्षण एवं सृष्टि-संतुलन के महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध होते हैं। यद्यपि निर्युक्तिकार ने पर्यावरण जैसे शब्द का प्रयोग नहीं किया लेकिन इस संदर्भ में जितनी गहराई से आचारांग सूत्र एवं उसकी निर्युक्ति में चिंतन हुआ है, वैसा अन्य किसी प्राचीन ग्रंथ में मिलना दुर्लभ है। आचारांगनिर्युक्ति में शस्त्र की उत्पत्ति एवं हिंसा के मनोवैज्ञानिक कारण प्रस्तुत हैं। उनके अनुसार दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काया तथा अविरति—ये सबसे बड़े शस्त्र हैं।^५ आज मनोवैज्ञानिक स्पष्ट रूप से इस बात की उद्घोषणा कर चुके हैं कि शस्त्र का निर्माण एवं युद्ध सर्वप्रथम मनुष्य के मस्तिष्क में होता है फिर युद्धक्षेत्र में लड़ा जाता है।

आधुनिक जीव-वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के जीवों की खोज की है किन्तु निर्युक्तिकार ने जिस सूक्ष्मता से जीवों के भेदों का निरूपण किया है, वहां तक अभी विज्ञान की पहुंच नहीं हो सकी है। सभी स्थावरकाय के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद मिलते हैं। सूक्ष्म जीव समूचे लोक में तथा बादर जीव लोक

१. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १/१३।

२. आचार्य १/२७, आनि १०२, १०३।

३. आचार्य १/२८, २९।

४. आनि ९७, ९८।

५. आनि ३६।

के एक भाग में व्याप्त रहते हैं। पृथ्वीकाय में बादर पृथ्वी के दो भेद मिलते हैं—श्लक्ष्ण बादर पृथ्वी और खर बादर पृथ्वी। खर बादर पृथ्वी के बालुका, शर्करा आदि छत्तीस प्रकार हैं।^१ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के भेद से पृथ्वीकाय आदि के अनेक भेद होते हैं।^२ इसी के आधार पर पृथ्वीकाय की सात लाख योनियां होती हैं। पृथ्वी के एक, दो या संख्येय जीव दृष्टिगोचर नहीं होते। पृथ्वी का असंख्येय जीवात्मक पिंड ही दृष्टिगत होता है।^३ अर्थात् पृथ्वीकाय के जीव इतने सूक्ष्म हैं कि असंख्य जीवों के पिंड ही चर्म चक्षुओं के लिए ग्राह्य हो सकते हैं। अनंतकाय वनस्पति में बादर निगोद के अनंत जीवों के शरीरों का पिंड दृग्गोचर हो सकता है किन्तु सूक्ष्म निगोद के अनंतानंत जीवों का संघात ही दृग्गोचर होता है।^४ पृथ्वीकाय जीवों की सूक्ष्मता को जैन आचार्यों ने एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। कोई चक्रवर्ती की दासी पृथ्वी या नमक के टुकड़े को वज्रमय शिलापुत्र से २१ बार पीसे तो भी कुछ जीव संघटित होते हैं, कुछ नहीं। कुछ जीव परितापित होते हैं, कुछ नहीं। कुछ जीव स्पृष्ट होते हैं, कुछ नहीं। वैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है कि एक चम्मच मिट्टी में जितने सूक्ष्म जीव हैं, उतनी सम्पूर्ण विश्व की आबादी है। जूलियस हेक्सले ने अपनी पुस्तक 'पृथ्वी का पुनर्निर्माण' में इस तथ्य को उद्धाटित किया है कि एक पेंसिल की नोक से जितनी मिट्टी उठ सकती है, उसमें दो अरब से अधिक विषाणु होते हैं तथा पेंसिल की नोक के अग्र भाग पर स्थित मिट्टी में जीवों की संख्या विश्व के समस्त मनुष्यों की संख्या के बराबर है। भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने पृथ्वीकायिक जीवों की अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग बतलाई है।

पृथ्वीकाय जीवों के परिमाण को रूपक के माध्यम से समझाते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर यदि एक-एक पृथ्वीकायिक जीव को रखा जाए तो वे सारे जीव असंख्य लोकों में समाएंगे। दूसरा रूपक देते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति प्रस्थ, कुडव आदि साधनों से सारे धान्य का परिमाण करता है वैसे ही लोक को कुडव बनाकर पृथ्वीकायिक जीवों का परिमाण करे तो वे जीव असंख्येय लोकों को भर सकते हैं। साधारण वनस्पति के जीवों को प्रस्थ आदिसे माप कर अन्यत्र प्रक्षिप्त करे तो अनंत लोक भर जाएंगे।^५ इसी प्रकार अन्य कार्यों के भेद एवं उनका परिमाण भी ज्ञातव्य है।^६

स्थावरकाय में जीवत्व-सिद्धि

आचारांग सूत्र में वनस्पति में जीवत्व-सिद्धि के अनेक हेतु दिए हैं किन्तु अन्य पृथ्वी आदि स्थावर जीवों की जीवत्व-सिद्धि में तार्किक हेतु न देकर आज्ञागम्य करने का निर्देश किया है।^७ निर्युक्तिकार ने पृथ्वी आदि पांच स्थावरों में जीवत्व-सिद्धि के अनेक तार्किक एवं व्यावहारिक हेतु प्रस्तुत किए हैं। स्थावरकाय की जीवत्व-सिद्धि में दिए गए तर्क निर्युक्तिकार की मौलिक देन है तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी उन्होंने जीवत्व के अनेक हेतु प्रस्तुत किए हैं। पृथ्वीकाय आदि में उपयोग, योग, अध्ववसाय, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, अचक्षुदर्शन, लेण्या, संज्ञा, सूक्ष्म श्वास-

१. आनि ७२-७६।

२. आनि ७७, ७८।

३. आनि ८२।

४. आनि १४३।

५. आनि ८७, ८८, १४४।

६. अग्नि (क) १०८, ११८, १२७-३०, १६६।

अग्नि (ख) १०९, १२०, १३४, १४५, १६८।

७. अपारो १/३८।

निःश्वास तथा कणाय आदि का अस्तित्व होता है।^१

निर्युक्तिकार ने प्रत्येक स्थावरकाय के निक्षेप, प्ररूपणा, लक्षण, परिमाण, उपभोग, हिंसा के शस्त्र, वेदना, वध और निवृत्ति—इन ९ द्वारों का वर्णन किया है।^२ ये सभी द्वार आधुनिक जीवविज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। त्रस जीवों में गति, आगति, भाषा आदि के स्पष्ट चिह्न दिखाई देने से उनके चैतन्य में कोई सदेह नहीं होता पर पृथ्वीकाय आदि जीवों में चैतन्य के व्यावहारिक लक्षण दिखाई नहीं देते अतः उनकी सजीवता स्थापना नहीं होती।

पृथ्वीकाय

पृथ्वीकाय में चैतन्य-सिद्धि का हेतु देते हुए कहा गया कि जैसे मानव शरीर में मस्सा आदि समानजातीय मासांकुर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही पृथ्वीकाय में समानजातीय वृद्धि होती है।^३ खोदी हुई नमक की खान में नमक बढ़ता जाता है, समुद्र में मूंगा उत्पन्न होता है अतः पृथ्वी सजीव है। आधुनिक भूवैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि शिलाखंड, पर्वत आदि में हानि-वृद्धि होती है। वैज्ञानिक सर्वेक्षण के अनुसार केदारनाथ और बद्रीनाथ तीर्थस्थानों की ऊंचाई में पिछले ७० वर्षों में १०६ मीटर की वृद्धि हुई है तथा हिमालय की पर्वत-शृंखलाएं एक शताब्दी में १० सेमी. की गति से ऊंची हो रही हैं। इसी प्रकार इंडोनेशिया के द्वीप समूह की भूमि भी ऊपर उठ रही है। द्वीप की भूमि का उठाव एवं पर्वतों की वृद्धि से पृथ्वी की सजीवता सिद्ध होती है।

प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वी इतनी कठोर है तो उसमें चैतन्य का लक्षण कैसे घटित हो सकता है, इसका उत्तर देते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जैसे शरीर में हड्डी कठोर होती है पर उसमें चेतना अनुगत होती है, वैसे ही कठोर होते हुए भी पृथ्वीकाय में चैतन्य है।^४

प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु तथा एफ. आर. एम. आदि विद्वानों ने अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि पत्थर, तांबा, लोहा आदि उत्तेजित किए जा सकते हैं तथा थोड़ी देर उत्तेजित होने के बाद इनमें धकान के चिह्न भी देखे जाते हैं। पर्वत आदि में क्लान्ति, चयापचय और मृत्यु—चैतन्य के ये तीनों लक्षण पाए जाते हैं। पृथ्वी का मानव-स्वभाव पर भी आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। भूवैज्ञानिक मानते हैं कि पृथ्वी में क्रोध, अहंकार, युद्ध, शांति, क्रूरता आदि स्वभाव होते हैं। उनके इस स्वभाव का प्रभाव मानव समुदाय पर स्पष्ट रूप से पड़ता है। जूलियस हेक्सले का मानना है कि कैलिफोर्निया प्रांत या साइबेरिया भेजने पर मनुष्य अपनी हिंसकवृत्ति भूलकर गाय या बकरी की भांति पालतू बन जाते हैं। डॉ. चार्ल्स कैला के अनुसार अमरिकी गृहयुद्ध का कारण भूमि है।

अप्काय

पानी में जीव है इसे अनेक दार्शनिक स्वीकार करते थे पर पानी स्वयं जीव है, यह महावीर की नयी प्रस्थापना है। पानी में जीवत्व-सिद्धि का हेतु देते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जैसे तत्काल उत्पन्न (सप्ताह पर्यन्त) कललावस्था प्राप्त हाथी का द्रव शरीर सचेतन होता है, जैसे तत्काल उत्पन्न अंडे का मध्यवर्ती उदक-रस सचेतन होता है, वैसे ही अप्काय के जीव तरल होते हुए भी सजीव होते हैं।^५

१. आनि ८४।

२. आनि ६८।

३. षड्, टी. पृ. २३८, भिक्षुन्यायकर्मिका ७/११।

४. आनि ८५।

५. आनि ११०।

तैजस्काय

विज्ञान अभी तक तैजस्काय में जीवत्व के लक्षण नहीं खोज पाया है लेकिन भगवान् महावीर ने अपने ज्ञानचक्षुओं से इसमें चैतन्य के लक्षण देखे। निर्युक्तिकार व्यावहारिक हेतुओं द्वारा तैजस्काय में जीवत्व के लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—‘जैसे रात्रि में खद्योत ज्योति करता है, वह उसके शरीर की शक्ति विशेष है। इसी प्रकार अंगारे में भी प्रकाश आदि की जो शक्ति है, वह तैजस्कायिक जीवों से आविर्भूत है। जैसे ज्वरित व्यक्ति की उष्मा सजीव शरीर में ही होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीवों ने प्रकाश या उष्मा उनके शरीर की शक्ति-विशेष है।^१ जैसे आहार करने पर मनुष्य के शरीर की वृद्धि होती है, वैसे ही ईंधन आदि के द्वारा अग्नि बढ़ती जाती है अतः तैजस्काय सजीव है।^२ जैसे मनुष्य ऑक्सीजन के आधार पर जीता है, वैसे ही अग्नि भी ऑक्सीजन के आधार पर ही प्रज्वलित रहती है अन्यथा वह बुझ जाती है।

वायुकाय

वायु इन्द्रियगम्य नहीं, केवल अनुभूतिगम्य है। इसके अस्तित्व को सिद्ध करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं—‘जैसे देवताओं का शरीर चक्षुर्ग्राह्य नहीं होता, जैसे—अंजन, विद्या तथा मंत्र-शक्ति से मनुष्य अंतर्धान हो जाता है वैसे ही चक्षुर्ग्राह्य न होने पर भी वायु का अस्तित्व है।’^३ गाय, मनुष्य आदि की भांति किसी भी प्रेरणा के बिना ही वायु अनियमित रूप से इधर-उधर गति करती है, अतः वह सजीव है।

वनस्पतिकाय

आचारांग सूत्र में वनस्पति और मानव की बहुत सुंदर तुलना की गयी है संभवतः इसीलिए पुनरुक्ति के भय से निर्युक्तिकार ने वनस्पति में जीवत्व-सिद्धि का कोई हेतु नहीं दिया। आचार्यो में वर्णित मनुष्य और वनस्पति की तुलना द्रष्टव्य है^४

मनुष्य	वनस्पति
१. मनुष्य जन्मता है।	वनस्पति भी जन्मती है।
२. मनुष्य बढ़ता है।	वनस्पति भी बढ़ती है।
३. मनुष्य चैतन्ययुक्त है।	वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है।
४. मनुष्य छिन्न होने पर क्लान्त होता है।	वनस्पति भी छिन्न होने पर क्लान्त होती है।
५. मनुष्य आहार करता है।	वनस्पति भी आहार करती है।
६. मनुष्य अनित्य है।	वनस्पति भी अनित्य है।
७. मनुष्य अशाश्वत है।	वनस्पति भी अशाश्वत है।
८. मनुष्य उपचित और अपचित होता है।	वनस्पति भी उपचित और अपचित होती है।
९. मनुष्य विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है।	वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है।

१. आनि ११९।

२. भिक्षुन्यायकर्णिका ७/११।

३. आनि १६७।

४. अचार्यो १/११३।

चूर्णिकार के अनुसार वनस्पति में स्वप्न, दोहद, रोग आदि सभी लक्षण पाए जाते हैं।^१ वनस्पति में जीवत्व के अनेक हेतु षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में है।^२ पौधों में अनुभूति, संवेदनशीलता और चेतना होती है, इसका सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य जगदीशचन्द्र वसु ने किया। उन्होंने यंत्र के माध्यम से पौधों की प्रतिक्रियाओं को ग्राफ पर उतारकर दिखलाया। उन्होंने देखा कि पौधों में हीनता और उच्चता के भाव भी होते हैं। उनमें हिंसक को देखकर भय तथा अपमान होने पर क्रोध संज्ञा जागृत होती है। आचार्य वसु ने पौधों को मदिरा पिलाई। पौधे पर मदिरा का वही असर हुआ, जो मानव पर होता है। पौधे ने अपनी मदहोशी ग्राफ पर अंकित कर दी। अमेरिका में यह खोज हो चुकी है कि पौधों की अपनी भाषा होती है। वे अपनी सांकेतिक भाषा में आने वाले खतरों या कीड़े-मकोड़ों से बचने हेतु रसायन बनाते हैं तथा पड़ोसी पेड़ को सूचना देते हैं। अफ्रीका के घने जंगलों में कुछ ऐसे मांसाहारी वृक्ष पाए जाते हैं, जिनकी शाखाओं पर ढालनुमा फूल लगते हैं तथा इन पर होने वाले कांटे दो फीट लम्बे होते हैं। जब कोई प्राणी मूल से ऊपर से गुजरता है तो ये अपनी कंटिली शाखाओं को फैलाकर प्राणी को घेर लेते हैं और अपने जहरीले कांटों से व्यक्ति का खून पी जाते हैं।

आधुनिक वनस्पति विज्ञान के जनक काले दान लिनिअस के अनुसार पौधे बोलने व कुछ सीमा तक गति करने के अलावा मानव से किसी भी अर्थ में कम नहीं होते। जापान का वैज्ञानिक हशीमोटो पौधों से बातचीत कर लेता था। वह फोलोग्राफ के चिह्नों को ध्वनि के रूप में रूपान्तरित करने में सफल हो गया था अतः उसने पौधों को एक से बीस तक की गिनती सिखा दी। जब पौधों से पूछा जाता कि दो और दो कितने होते हैं तो वह जिन ध्वनियों में उत्तर देता, उसे रेखाकृति में बदलने पर चार पृथक्-पृथक् रेखाकृतियां उभर आतीं।

निर्युक्तिकार ने न केवल तर्क द्वारा स्थावर जीवों में जीवत्व-सिद्धि की है अपितु उनकी हिंसा न करने का भी निर्देश दिया है। उन्होंने बार-बार इस बात की उद्घोषणा की है कि व्यक्ति अपने सुख की खोज में इन पृथ्वी, अप् आदि जीवों की हिंसा करता है।^३ स्थावरकाय में जीवत्व-निरूपण निर्युक्तिकार की मौलिक एवं वैज्ञानिक देन है।

भिक्षु का स्वरूप

निर्युक्तियां लगभग आचारपरक ग्रंथों पर लिखी गयीं अतः इनमें स्वतः आचार के अनेक विषयों का समावेश हो गया है। पंच आचार का सुंदर वर्णन दशवैकालिक निर्युक्ति में मिलता है।^४ इसी प्रकार पर्युषणाकल्प का वर्णन भी साध्वाचार की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मुनि के वर्षावास स्थापित करने के अनेक विकल्प उस समय की आचार-परम्परा का दिग्दर्शन कराते हैं।^५ उत्तराध्ययननिर्युक्ति में वर्णित परीषह का विवरण कर्मशास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। निर्युक्तिकार ने लगभग ९ द्वारों के माध्यम से परीषहों का सर्वांगीण वर्णन किया है।^६ इसी प्रकार सामाचारी, विनय, समाधिमरण, षड्जीवनिकाय आदि का वर्णन भी जैन आचार की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

१. शृंगु गृ. ३५; सुयण-दोहद-रोगविलक्षण पञ्चम भागियव्य।

२. षड्दर्शनसमुच्चय टी. गृ. २४२-४५।

३. अनि ९४।

४. दशनि १५४-६१।

५. दनि ५३-१२०।

६. उनि ६९-१४१।

विस्तारभय से यहां केवल भिक्षु का स्वरूप एवं भिक्षाचर्या का ही वर्णन किया जा रहा है।

भारतीय परम्परा में भिक्षु/संन्यासी का स्थान सबसे ऊंचा रहा है। प्रायः सभी धर्मों के आचार्यों ने भिक्षु के स्वरूप का निर्णय किया है। वैदिक परम्परा में मनुस्मृति, भगवद्गीता, महाभारत तथा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर संन्यासी के गुणों एवं उसके स्वरूप का वर्णन मिलता है। बौद्ध-परम्परा में 'धम्मपद' के अंतर्गत 'भिक्षुवग्ग' में भिक्षु के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। जैन परम्परा में प्रायः सभी आगम भिक्षु/साधु को लक्ष्य करके लिखे गये हैं अतः स्फुट रूप से भिक्षु के गुणों एवं उसके करणीय-अकरणीय का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है किन्तु दशवैकालिक में 'स-भिक्षु' तथा उत्तराध्ययन में 'स-भिक्षुय' नामक स्वतंत्र अध्ययन हैं, जिनमें भिक्षु के स्वरूप, लक्षण, चर्या आदि का निरूपण किया गया है।

दशवैकालिकनिर्युक्ति में 'स-भिक्षु' अध्ययन के नाम की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि सकार तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है—१. निर्देश, २. प्रशंसा और ३. अस्तिभाव।^१

'स-भिक्षु'—इस शब्द में सकार का प्रयोग निर्देश और प्रशंसा के अर्थ में हुआ है। जो दशवैकालिक में वर्णित अनुष्ठेय कार्यों का पालन करता है, वह (स) भिक्षु है। यहां सकार निर्देश के अर्थ में प्रयुक्त है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो साधक/साधु इस आगम के पूर्ववर्ती नौ अध्ययनों में कथित आचार का पालन करता है तथा उसकी सम्यक् परिपालना और पुष्टि के लिए भिक्षा करता है, वह भिक्षु है। जो केवल उदरपूर्ति के लिए भिक्षाटन करता है, वह भिक्षु नहीं होता।^२ 'स' और 'भिक्षु' (स-भिक्षु) इस यौगिक वाक्यांश में भिक्षु शब्द विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है। इसके अनुसार भिक्षाशील व्यक्ति भिक्षु नहीं, किन्तु अहिंसक जीवन-निर्वाह के लिए शुद्ध एषणा करने वाला भिक्षु होता है।^३ दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन की निर्युक्ति में भिक्षु के २० तथा दशवें अध्ययन की निर्युक्ति में २८ पर्यायवाची नामों की चर्चा करके उन सबको भिन्न-भिन्न निरुक्तों से समझाया गया है।^४

निर्युक्तिकार ने द्रव्य और भाव भिक्षु के स्वरूप द्वारा भिखारी और भिक्षु में भेदरेखा स्पष्ट की है।^५ उनके अनुसार भिक्षु शब्द का एक निरुक्त है—जो भेदन करता है, वह भिक्षु है। इस अर्थ में जो कुल्हाड़ी से वृक्ष का छेदन-भेदन करता है, वह भी भिक्षु कहलाता है परन्तु वह द्रव्य भिक्षु है। भाव भिक्षु वह होता है, जो तपस्वी कुल्हाड़ी से मुक्त होकर कर्मों का छेदन-भेदन करता है।^६ जो भिक्षा मांगकर खाता है परन्तु स्त्री-सहित और आरंभी है, मिथ्यादृष्टि और हिंसक है, संचय करता है, सचित्तभोजी और उद्विष्टभोजी है, अर्थ-अनर्थ पाप में प्रवृत्त होता है, वह द्रव्य भिक्षु है। यथार्थ भिक्षु वह होता है, जो भिक्षु के आचार का अक्षरशः पालन करता है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य की वृद्धि करता रहता है।^७ आचारांगनिर्युक्ति में अनगार के स्वरूप को इस भाषा में प्रकट किया है—जो गुप्तियों से गुप्त, समितियों से समित, यतनाशील तथा सुविहित होते हैं, वे अनगार कहलाते हैं।^८ आचारांग के अनुसार जो ऋजु होता है, मुक्तिपथ पर प्रस्थित होता है तथा अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता,

१. दशनि ३०६।

२. दशनि ३०७।

३. दशनि ३०७/१।

४. दशनि १३४, १३५, २२०-२२।

५. दशनि ३१४-१६।

६. दशनि ३११, ३१७।

७. दशनि ३१२-३१४।

८. आनि १०५।

वह अनगार कहलाता है।^१ सूत्रकृतांग के अनुसार जो निरभिमानी, विनीत, पापमलप्रक्षालक, दान्त, रागद्वेषरहित, शरीर के प्रति अनासक्त, अनेक परीषहों से अपराजित, अध्यात्मयोगी, विशुद्ध चारित्र-सम्पन्न, सावधान, स्थितात्मा, यशस्वी, विवेकशील और परदत्तभोजी होता है, वह भिक्षु है।^२ उत्तराध्ययन के सभिवक्षुय अध्ययन की निर्युक्ति में भिक्षु की निम्न कसौटियां बताई गई हैं—जो राग-द्वेष, मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति, सावध्य योग, गौरवत्रय, शल्यत्रय, विकथा, आहार-भय आदि संज्ञाओं तथा कषाय और प्रमाद आदि का भेदन करता है, वह भिक्षु है।^३

जैसे पीतल और सोना रंग से समान होने पर भी एक नहीं होते, वैसे ही केवल नाम और रूप की समानता तथा भिक्षा करने मात्र से भिक्षु नहीं हो सकता।^४ निर्युक्तिकार ने भिक्षु के १७ मौलिक गुण निर्दिष्ट किए हैं, जो भिक्षुत्व के पैरामीटर कहे जा सकते हैं—संवेग, निर्वेद, विषय-विवेक, सुशीलसंसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय, शांति, मार्दव, आर्जव, विमुक्ति, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक-परिशुद्धि।^५

दशवैकालिकनिर्युक्ति में भिक्षु का स्वरूप बाईस उपमाओं से समझाया गया है। भिक्षु सर्प के समान एकदृष्टि, पर्वत के समान कण्ठों में अप्रकंपित, अग्नि के समान तेजस्वी तथा अभेददृष्टि वाला, सागरसम गंभीर एवं ज्ञान-रत्नों से युक्त, नभ के समान स्वावलम्बी, वृक्ष के समान मान-अपमान में सम, भ्रमर के समान अनियतवृत्ति, मृग के समान अप्रमत्त, पृथ्वी के समान सहिष्णु, कमल की भांति निर्लेप, सूर्य के समान तेजस्वी, पवन की भांति अप्रतिबद्धविहारी, विष की भांति सर्वरसानुपाती, तिनिश की तरह विनम्र, वंजुल की तरह विषधातक, कणेर की तरह स्पष्ट, उत्पल की भांति सुगंधित, भ्रमर की भांति अनियतवृत्ति, चूहे की तरह उपयुक्त देश-कालचारी, नट की भांति प्रयोजन के अनुरूप परिवर्तन करने वाला, कुक्कुट की भांति संविभागी तथा कांच की तरह निर्मल हो।^६

भिक्षु की आंतरिक साधना को प्रकट करने वाला एक महत्त्वपूर्ण विशेषण है—**वोसट्टचत्तदेह**।^७ शारीरिक क्रियाओं का त्याग करने वाला **वोसट्टदेह** तथा शरीर का परिकर्म—रनान-मर्दन, उबटन आदि नहीं करने वाला **‘चत्तदेह’** कहलाता है। ये दोनों शब्द भिक्षु की आंतरिक और बाह्य दोनों साधना के द्योतक हैं तथा **‘इमं सरीरं अणिच्चं’** की आत्मगत भावना को व्यक्त करते हैं।

भिक्षु वह होता है, जो निदान नहीं करता।^८ निदान का अर्थ है भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए साधना का विनिमय कर देना। भिक्षु भावी फलाशंसा से विरत होता है। वह अपनी साधना के बदले ऐहिक फल-प्राप्ति की कामना नहीं करता। उसका स्व होता है आत्मा, पदार्थ उसके लिए आदर्श नहीं होते। वे मात्र उपयोगिता की दृष्टि से गृहीत होते हैं।

पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा—ये दो महान् दोष हैं। वास्तविक भिक्षु इन दोनों से बचकर चलता है। उसका आलंबन सूत्र होता है—**पत्तेयं पुण्णपावं**। प्रत्येक प्राणी के अपना-अपना पुण्य और पाप तथा

१ अ. १/३५; अगगारे उज्जुकडे नियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमणे विधाहि।

२ सू. १/१६/५।

३ उति ३७१, ३७२।

४. दशनि ३२५।

५. दशनि ३२३, ३२४।

६. दशनि १३२, १३३, अचू. पृ. ३६, ३७।

७. दश १०/१३।

८. दश १०/१३।

अपनी-अपनी क्षमता-अक्षमता होती है। जो इस मर्म को समझ लेता है, वह पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा से बच जाता है। जो इस मर्म को नहीं पहचानता, वह प्रव्रजित हो जाने पर और भिक्षाजीवी भिक्षु हो जाने पर भी परनिन्दा और आत्म-श्लाघा से नहीं बच सकता। निर्युक्तिकार ने भिक्षु के आंतरिक और व्यावहारिक गुणों का सुन्दर निरूपण किया है।

भिक्षाचर्या

श्रमण संस्कृति में भिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुनिचरण के साथ भिक्षाचरी का गहरा संबंध है। 'भिक्षावित्ति सुहावहा', 'उपवासात् परं भैक्ष्यम्'—ये सूक्त भिक्षावृत्ति के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाले हैं। माधुकरी भिक्षा उत्कृष्ट अहिंसक जीवन शैली का उदाहरण है। यद्यपि वैदिक और बौद्ध साहित्य में भी माधुकरी भिक्षा का उल्लेख मिलता है पर प्रायोगिक रूप से भगवान् महावीर ने जिस प्रकार की असावद्य—पापरहित भिक्षावृत्ति का उपदेश दिया, वह अद्भुत है।^१ जो आजीविका के निमित्त दीन, कृपण, कार्पाटिक आदि भिक्षा के लिए घूमते हैं, वे द्रव्य भिक्षु हैं, वास्तविक नहीं।^२ अतः भिक्षाचर्या और भिखारीपन दोनों अलग-अलग हैं।

वैदिक परम्परा में भिक्षा के संदर्भ में अजगरी एवं कापोती वृत्ति का उल्लेख भी मिलता है। भागवत में ऋषभ की भिक्षावृत्ति को अजगरी वृत्ति के रूप में उल्लिखित किया है। मांगे बिना सहज रूप से जो मिले, उसमें संतुष्ट रहना अजगरी वृत्ति है।^३ संभव है अनियतता और निश्चेष्टता के आधार पर इस भिक्षावृत्ति का नाम अजगरी वृत्ति पड़ा होगा। ऋषभ के लिए गो, मृग और काक आदि वृत्तियों का भी संकेत मिलता है।^४ जैन आगम साहित्य में गोचरी और मृगचारिका (उ १९/८३, ८४) का उल्लेख मिलता है। महाभारत में ब्राह्मण के लिए कापोती वृत्ति का संकेत मिलता है।^५ इसे उज्ज्वल वृत्ति भी कहा जाता था। अनेषणीयशक्ति के आधार पर कापोती वृत्ति का उल्लेख उत्तराध्ययन में मिलता है।^६ कबूतर की शांति साधु को एषणा आदि दोषों से शक्ति रहना चाहिए।

दशवैकालिक सूत्र का प्रथम अध्ययन माधुकरी भिक्षा के साथ प्रारम्भ होता है। वहां साधु की भिक्षा को भ्रमर से उपमित किया गया है। निर्युक्तिकार ने सूत्र की गाथाओं के आधार पर अनेक प्रश्नोत्तरों के माध्यम से माधुकरी भिक्षा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। भ्रमर की उपमा साधु की भिक्षावृत्ति पर पूर्णतः लागू नहीं होती। प्रश्न उपरिथत हो सकता है कि भ्रमर तो अदत्त ग्रहण करते हैं तथा असंयत होते हैं अतः इस उपमा को देने से श्रमण को असंयत मानना पड़ेगा।^७ इस प्रश्न का समाधान देते हुए निर्युक्तिकार स्पष्ट कहते हैं कि उपमा एकदेशीय होती है। जिस प्रकार चन्द्रमुखी दारिका कहने पर

१. (क) भ्रमपद, पुष्पयग्य ४/६; यदाणि भमरो पुष्पं, वण्णगंधं अहेठयं। पलेति रत्तमादाय, एवं गामे मुनी चरे।।
(ख) मभा. उद्योगपर्व ३४/१७; यथा भधु सभादत्ते, रक्षन् पुण्णग्णि षट्पदः। तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसदा।।

२. दश ५/१/९२; अहो जिणेहिं असावज्जा, विती साहूग देसिये।।

३. दशगि ३१२।

४. भाग. ५/५/३२।

५. भाग ५/५/३४; एवं गो-मृग-काकचर्याया व्रजस्तिष्ठन्नसीनः।।

६. मभा शांतिपर्व २४३/२४; कुम्भघान्त्यैरुज्ज्वलितैः कापोती चारिथितारत्तथाः। यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् रुण्डमभिवर्धते।।

७. उ. १९/३३; कवोच आ इमं विती।

८. दशगि ११४, ११५।

दारिका के मुख की चन्द्रमा की सौम्यता से तुलना की जाती है न कि कलंक आदि अन्य चीजों से।^१ इसी प्रकार भ्रमर की उपमा देने के दो हेतु हैं—अनियतवृत्ति और अहिंसा का अनुपालन।^२ दशवैकालिक सूत्र एवं उसकी निर्युक्ति के अनुसार भ्रमर की तुलना से साधु की भिक्षा की तुलना करने पर निम्न बातें फलित होती हैं—

१. जैसे भ्रमर अपने जीवन-निर्वाह के लिए पुष्प आदि को म्लान या क्लान्त नहीं करता, वैसे ही मुनि दूसरों को कष्ट पहुंचाए बिना स्वयं की आवश्यकता-पूर्ति करते हैं।^३

२. जैसे मधुकर पुष्पों से सहज निष्पन्न रस को ग्रहण करता है, वैसे ही मुनि गृहस्थों से सहज-निष्पन्न आहार को ग्रहण करते हैं।^४ सहज निष्पन्नता के सदर्थ में निर्युक्तिकार ने पूर्वपक्ष के रूप में एक शंका उठाई है कि यदि कोई यह कहे कि गृहस्थ श्रमणों की अनुकम्पा अथवा पुण्योपार्जन के निमित्त से सुविहित श्रमणों के लिए भोजन बनाते हैं अतः पाकोपजीवी होने के कारण हिंसाजन्य दोष से लिप्त होते हैं। शंका समाधान के रूप में इसका उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जैसे तृणों के लिए वर्षा नहीं होती, मृगों के लिए तृण नहीं बढ़ते तथा भ्रमरों के लिए शतशाखी पुष्प नहीं फलते वैसे ही गृहस्थ भी साधु के लिए भोजन नहीं पकाते।^५ जैसे वृक्ष स्वभावतः फलते-फूलते हैं, वैसे ही गृहस्थ भी स्वभावतः पकाते एवं पकवाते हैं अतः भ्रमर की भांति मुनि सहज निष्पन्न आहार की गवेषणा करते हैं।^६ दूसरा विकल्प प्रस्तुत करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जंगल में, दुर्भिक्ष में और महामारी में भी मुनि रात्रि-भोजन नहीं करते। फिर भी गृहस्थ रात में भोजन बनाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे ग्राम एवं नगर हैं, जहां न तो साधु जाते हैं और न रहते हैं फिर भी वहां गृहस्थ भोजन पकाते हैं अतः स्पष्ट है कि गृहस्थ स्वभावतः स्वयं के लिए तथा अपने परिजनों के लिए समय पर भोजन पकाते हैं।^७

३. जैसे भ्रमर अनेक फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्रमण अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करता है।^८

४. जैसे मधुकर किसी एक वृक्ष या फूल पर ही आश्रित नहीं रहता, वैसे ही श्रमण भी किसी एक गांव, घर या व्यक्ति पर आश्रित न रहकर अनियत रूप से सामुदायिक भिक्षा ग्रहण करता है।^९

५. जैसे भ्रमर दूसरे दिन के लिए कुछ भी संग्रह करके नहीं रखता, वैसे ही श्रमण भी आवश्यकता-पूर्ति के लिए ग्रहण करता है, संचय के लिए नहीं। भ्रमर अदत्त भोजन ग्रहण करते हैं किन्तु श्रमण अदत्त की इच्छा भी नहीं करते।^{१०}

साधु परकृत, परनिष्ठित (परार्थ निष्पन्न) तथा विमतधूम आहार की एषणा करते हैं। वे नवकोटि से परिशुद्ध तथा उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित आहार ग्रहण करते हैं।^{११}

१. दशनि ९२।

२. दशनि ११६।

३. दशनि ११९, दश. १/२;

न य पुष्पं क्लामेद्, सो य पीणेद् अप्ययं ।

दश १/४

ययं च वितिं लब्धमो, न य कोइ उवहम्मई ।

४. दश १/४; अहागडेसु रीयति, पुष्केसु भमरा जहा ।

५. दशनि ९४, ९५।

६. दशनि ११७, ११८।

७. दशनि १००-१०३।

८. दश. १/२; जहा दुमस्स पुष्केसु, भमरो आवियद् रसं ।

९. दश. १/५;

मधुकारसमा बुद्धा, जे भवति अणिसिग्गा ।

गाणापिंडरया दत्ता, तेण बुच्चति साहुणो ॥

१०. दश. १/३; दाणभत्तेसणे रया, दशनि ११४।

११. दशनि १०४, १०५।

दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन का नाम द्रुमपुष्पिका है। निर्युक्तिकार ने द्रुमपुष्पिका, आहार-एषणा, गोचर, त्वक्, उच्छ आदि चौदह शब्दों को प्रथम अध्ययन के एकार्थक के रूप में प्रस्तुत किया है। टीकाकार ने एक अन्य मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार ये प्रथम अध्ययन के अर्थाधिकार हैं। ये नाम अर्थाधिकार और एकार्थक दोनों ही प्रतीत नहीं होते। वस्तुतः इन नामों में त्रिविध एषणाओं को रूपकों के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। ये नाम भोजन के ग्रहण एवं उपभोग से संबंधित हैं। चूर्णिकार आचार्य जिनदास के अनुसार इन उपमाओं से मुनि की माधुकरी वृत्ति को उपमित किया गया है, इस दृष्टि से ये दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन के नाम हैं।^१ द्रुमपुष्पिका में मुनि की माधुकरी भिक्षा का उल्लेख है। संभव है इसीलिए अर्थ की निकटता के कारण इन शब्दों को द्रुमपुष्पिका शब्द के एकार्थक के रूप में ग्रहण कर लिया गया। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार माधुकरी वृत्ति का मूलकेन्द्र द्रुम-पुष्प है। उसके बिना वह नहीं सधती। द्रुमपुष्प की इस अनिवार्यता के कारण 'द्रुमपुष्पिका' शब्द समूची माधुकरी वृत्ति का योग्यतम प्रतिनिधित्व करता है।^२ द्रुमपुष्पिका के एकार्थक इस प्रकार हैं—
आहार-एषणा—तीनों एषणाओं से युक्त।

गोचर—गोचर शब्द माधुकरी वृत्ति का द्योतक है। गाय की भांति अनेक घरों से धोड़ा-थोड़ा चरना, आहार ग्रहण करना। दोनों चूर्णिकारों ने गोचर शब्द की व्याख्या भिन्न संदर्भ में की है। उन्होंने एक कथा के माध्यम से इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जैसे बछड़ा घास डालने वाली कुल्लवधू के बनाव, शृंगार या रूप में आसक्त नहीं होता, उसकी दृष्टि अपने चारे पर रहती है, वैसे ही मुनि भिक्षा की दृष्टि से घरों में परिव्रजन करे पर रूप आदि को देखने में आसक्त न हो।^३ भिक्षा-शुद्धि के संदर्भ में तत्त्वार्थ राजवार्तिक में गोचरी का यही अर्थ सम्मत है।^४

त्वक्—त्वक् की भांति अक्षर भोजन करने का सूचक।

उच्छ—अज्ञातपिंड का सूचक।

मेष—अनाकुल रहकर शांति से एषणा करने का सूचक।

• जोक—प्रद्विष्ट दायक को उपदेश से शांत करने का सूचक।^५ चूर्णिकार जिनदास ने जोक के रूपक को अनैषणा में प्रवृत्त दायक को मृदुभाव से निवारण करने का सूचक माना है।^६

सर्प—आहार में प्रवृत्त मुनि की संयम के प्रति एक दृष्टि तथा अनासक्त होने का सूचक।

व्रण—व्रण पर लेप करने की भांति अनासक्त भाव से भोजन करने का सूचक।

अक्ष—गाड़ी के अक्ष पर स्नेह-लेपन की भांति संयम-भार निर्वहण के लिए भोजन करने का सूचक।

इषु—जैसे इषु—बाण लक्ष्यवेधक होता है, वैसे ही भिक्षु के लिए लक्ष्यप्राप्ति हेतु भोजन करने का सूचक।

गोला—लाख के गोले का निर्माण अग्नि से न अति दूर और न अति निकट रहकर किया जाता है अतः

गोचर-ग गत मुनि के मितभूमि में स्थित रहने का सूचक।

१. दशजिचू पृ. ११, १२ स्तेहिं उवम्मं कीरहं ति क'उं ताणि
भण्णंति नामाणि तस्स अज्झयगस्स।

२. दसवेआलियं पृ. ४।

३. दशनि ३४, अचू पृ. ७, ८।

४. दशजिचू पृ. १२, दशअचू पृ. ८।

५. रावा. ९/६ पृ. ५९७।

६. दशअचू पृ. ८।

७. दशजिचू पृ. १२।

पुत्र—यह परिभोगैषणा की विशेषता का वाचक शब्द है। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह ने पुत्र की व्याख्या में ज्ञाताधर्मकथा की सुसुमा कथा की ओर संकेत किया है, जिसमें पिता और पुत्रों ने परिस्थितिवश केवल जीवित रहने की आशांसा से अपनी पुत्री का मांस खाया था। संयुक्त निकाय में बुद्ध ने कथा के माध्यम से भिक्षुओं को बताया है कि किस दृष्टि से एवं किस उद्देश्य से भोजन करना चाहिए।^१

उदग—तृषापनयन के लिए परिस्थितिवश दुर्गन्धयुक्त पानी पी लेना। यह अस्वादवृत्ति का सूचक है।^२

दिग्म्बर साहित्य में भी भिक्षावृत्ति के कुछ नाम मिलते हैं^३—१. उदरग्निशमन २. अक्षप्रक्षण ३. गोचरी ४. श्वभ्रपूरण ५. भ्रमरी। ये सभी नाम द्रुमपुष्पिका के एकार्थक की भांति साधु की भिक्षाचरी के प्रतीक हैं। जैसे भंडार में आग लग जाने पर शुचि और अशुचि कैसे भी पानी से उसे बुझा दिया जाता है, उसी तरह भिक्षु जठराग्नि को शांत करने के लिए भोजन करे। गण्डी के चक्र में तैल लगाने की भांति शरीर की आवश्यकता-पूर्ति हेतु भोजन करे। जिस प्रकार गाय शब्द आदि विषयों में गृद्ध नहीं होती हुई आहार ग्रहण करती है, उसी प्रकार साधु भी आसक्त न होते हुए सामुदानिक रूप से आहार ग्रहण करे। श्वभ्रपूरण को गर्तपूरक भिक्षावृत्ति भी कहते हैं। जिस किसी प्रकार से पेट रूपी गड्ढा भरने हेतु साधक सरस और नीरस आहार करे तथा भ्रमर की भांति फूलों को क्लान्त किए बिना थोड़ा-थोड़ा आहार अनेक घरों से ग्रहण करे।^४

माधुकरी भिक्षा जैन साधु की उत्कृष्ट अहिंसक जीवन-शैली का निदर्शन है। साधु अपने जीवन-निर्वाह हेतु किसी भी प्रकार का आरम्भ समारम्भ न करता है, न करवाता है और न ही अनुमोदन करता है। निर्युक्तिकार ने अनेक तार्किक हेतुओं से माधुकरी भिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट किया है।

१. एक आदमी अपने इकलौते पुत्र के साथ परिवार सहित प्रवास कर रहा था। चलते-चलते वे एक दुर्गम एवं गहन जंगल में पहुंचे। भोजन के बिना प्राणान्त की स्थिति आने लगी। पुत्र ने कहा—'पिताश्री! आप मुझे मारकर शरीर को पोषण दें। आप रहेंगे तो सारा परिवार सुरक्षित रहेगा।' पिता ने विवशता में पुत्र के मांस का भक्षण किया और परिवार सहित अरण्य के बाहर निकल गया। कथा के माध्यम से बुद्ध ने प्रेरणा देते हुए कहा कि जैसे पिता ने स्वाद अथवा बल, शक्ति, लावण्य वर्धन हेतु अपने पुत्र के मांस का भक्षण नहीं किया। केवल शरीर में चलने का साधर्थ्य आ सके इसलिए मांस-भक्षण किया, वैसे ही संसार रूपी जंगल को पार करने के लिए परिमित और धर्मप्राप्त भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। स्वाद, सौन्दर्य या बलवर्धन हेतु नहीं। अधिक संभव लगता है कि परिभोगैषणा के संदर्भ में निर्युक्तिकार ने बौद्ध साहित्य से यह रूपक ग्रहण किया हो।

२. दशअचू पृ. ८; किसी वणिक् ने परदेश में छह रत्नों को अर्जित किया। बीच में चोरों की अटवी होने से उन्हें सुरक्षित ले जाना संभव नहीं था। रत्नों की सुरक्षा के लिए उसने एक उपाय सोचा। उसने फटे-पुराने कपड़े पहनकर पत्थर के टुकड़ों को हाथ में ले लिया और मूल रत्नों को कहीं छिपा दिया। 'रत्न वणिक् जा रहा है' इस प्रकार बोलता हुआ वह पागलों की भांति अध्वरण करने लगा। चोरों ने उसे तीन बार पकड़कर छोड़ दिया। उन्होंने उसे पागल समझ लिया। चौथी बार वह अपने मूल रत्नों को लेकर भागने में सफल हो गया। रास्ते में उसे तीव्र प्यास की अनुभूति हुई। प्राण-रक्षा के लिए उसने मृत पशु-पक्षी वाली दुर्गन्धयुक्त छोटी तलाई का पानी पीया और रत्न सहित सकुशल अपने घर पहुंच गया। इसी प्रकार मुनि को पांच महाव्रत रूपी रत्नों की विषय रूप चोरों से रक्षा के लिए आहार करना चाहिए।

३. रणसार गा. १००; उदरग्निसमणक्खमक्खण-गेयारि-सुब्भपूरणं भमरं। णाऊण तप्पघारे, निच्चैवं भुंजे भिक्खू।

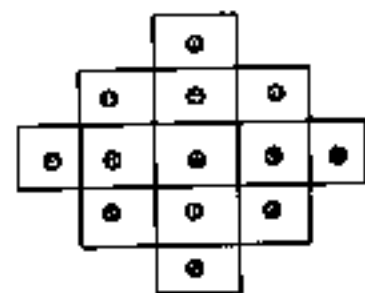
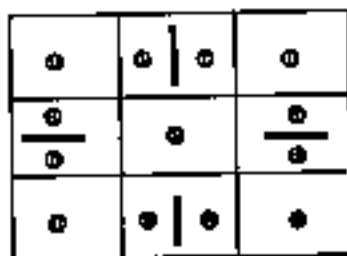
४. रावा. ९/६ पृ. ५९७।

दिशा

आगम-साहित्य में दिशा के बारे में बहुत विमर्श हुआ है। दिशाएं व्यक्ति के मानस को प्रभावित करती हैं इसीलिए बैठने, सोने या शुभकार्य करने में दिशा का ध्यान रखने की बात अनेक स्थानों पर निर्दिष्ट है। भगवान् महावीर ने उत्तरपुरत्थिम—उत्तर पूर्व अर्थात् ईशाण कोण को सर्वश्रेष्ठ दिशा माना है तथा मांगलिक एवं शुभ कार्यों को इसी दिशा में सम्पन्न करने का निर्देश दिया है। ठाणं सूत्र में दिशा के तीन भेद मिलते हैं—१. ऊर्ध्व दिशा २. अधः दिशा ३. तिर्यक् दिशा।^१ वहां उत्तर और पूर्व दिशा में प्रव्रज्या देने, आहार-मंडली में सम्मिलित करने, स्वाध्याय करने, आलोचना-प्रतिक्रमण करने तथा तप रूप प्रायश्चित्त करने का निर्देश है।^२ आचारांगनिर्युक्ति में दिशा के बारे में बहुत विस्तृत एवं व्यवस्थित विवेचन मिलता है। निर्युक्तिकार ने दिशा के सात निक्षेप किए हैं—१. नाम दिशा २. स्थापना दिशा ३. द्रव्य दिशा ४. क्षेत्र दिशा ५. ताप दिशा ६. प्रज्ञापक दिशा ७. भाव दिशा।

द्रव्य दिशा

जो दश दिशाओं के उत्थान का कारण है, वह द्रव्य दिशा है। यह जघन्यतः तेरह प्रदेशी और तेरह आकाश प्रदेशों में अवगाढ़ तथा उत्कृष्टतः अनंत प्रदेशी और असंख्यत आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होती है।^३ तेरह प्रदेशों की स्थापना का काम इस प्रकार रहता है—मध्य में एक और चार विदिशाओं में एक-एक पांच प्रदेशावगाढ़ पांच परमाणु तथा चार दिशाओं में आयत रूप में स्थित दो-दो परमाणु—इस प्रकार जघन्यतः तेरह आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ तेरह प्रदेशी स्कन्ध दश दिशाओं के उत्थान के हेतु हैं, यही द्रव्य दिशा कहलाती है। तेरह प्रदेशों की स्थापना इस प्रकार है—



कुछ आचार्य दश परमाणुओं को दश दिशाओं में स्थापित कर उन्हें दिशाओं के उत्थान का हेतु मानते थे लेकिन टीकाकार शीलोक ने इसका खंडन किया है क्योंकि दश दिशाओं का आकार चतुरस्र होता है और वह दश परमाणुओं से संभव नहीं है अतः तेरह परमाणु ही दश दिशाओं के उत्थान के कारण हैं, न्यून या अधिक नहीं।^४ विशेषावश्यक भाष्य में अन्य मतों का उल्लेख भी मिलता है।^५

क्षेत्रदिशा

तिर्यक् लोक के मध्य में मेरु के मध्यभाग में आठ रुचक प्रदेश हैं। ये रुचक प्रदेश चार ऊपर तथा चार नीचे गोस्तन आकार वाले हैं। ये रुचक प्रदेश दिशाओं तथा विदिशाओं के उत्पत्ति-स्थल हैं।^६

१. ठाणं ३/३२०।

२. ठाणं २/१६७, १६८।

३. आनि ४०।

४. आनि ४१, विभा २६९८ महेटी पृ. ५३६;

उक्कोसमणंतपएसियं च सा होइ दव्वदिता।

५. आटी पृ. ९, न पुन दशप्रदेशिकं यत् कैश्चिदुक्तमिति, प्रदेशाः परमाणवस्तैर्निष्पादितं कार्यद्रव्यं तावत्स्वेव क्षेत्रप्रदेशेष्ववगाढं जघन्यं द्रव्यमाश्रित्य दशदिविभागारिकल्पनातो द्रव्यदिग्गमिति।

६. विभा २६९९, २७०० टी पृ. ५३६-५३८।

७. ठाणं १०/३०, आनि ४२ टी. पृ. ९।

चार विदिशाओं की आदि भी मेरु पर्वत के रुचक प्रदेशों से होती है। इनकी आदि एक प्रदेश से होती है तथा आगे भी अलोक तक ये एक प्रदेश विस्तीर्ण ही होती हैं। इनके प्रदेशों में वृद्धि नहीं होती। सन्पूर्ण लोक की अपेक्षा से ये असंख्येय प्रदेशात्मिका तथा सादि सपर्यवसित होती हैं। अलोक की अपेक्षा से ये प्रदेशात्मिका तथा सादि अर्णववर्जित होती हैं। एक प्रदेशात्मिका होने के कारण ये छिन्न मुक्तावलि के आकार वाली होती हैं।^१ विमला और तमा का वर्णन भी दिशा और विदिशाओं की भांति ही है। अंतर केवल इतना है कि इनकी उत्पत्ति चार प्रदेशों से होती है। ये दोनों दिशाएं चतुरस्र दण्डाकार होती हैं अतः इनका संस्थान रुचक प्रदेशों जितना है।^२ भगवती के अनुसार ऐन्द्री आदि चार महादिशाएं जीव के देश रूप तथा प्रदेश रूप हैं पर आग्नेयी आदि चार विदिशाएं एक प्रदेशात्मिका होने के कारण जीव रूप नहीं हैं क्योंकि जीव का अवगाह असंख्यात प्रदेशों में ही संभव है।^३ निर्युक्तिकार ने संक्षेप में भगवती सूत्र का संवादी वर्णन किया है।^४

संस्थान के बारे में चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि सभी दिशाएं मध्य में आदि सहित तथा बाह्य पार्श्व में अपर्यवसित -अंतरहित होती हैं। बाह्य भाग में अलोकाकाश के कारण अपर्यवसित होती हैं। इन सभी दिशाओं की आगमिक संज्ञा 'कडजुम्भ' है।^५ भगवती सूत्र में चार महादिशाओं का लोक और अलोक की अपेक्षा से अलग-अलग संस्थान का उल्लेख किया है जबकि निर्युक्तिकार ने इन्हें केवल शकटोर्द्धि—गाड़ी की उद्धि (ओढ़ण) संस्थान वाला बताया है। विदिशाओं तथा ऊर्ध्व और अधः दिशाओं के संस्थान भगवती सूत्र जैसे ही हैं।^६

तापदिशा

सूर्य के आधार पर जिन दिशाओं का निर्धारण होता है, वे तापदिशाएं कहलाती हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में तापदिशा के स्थान पर तापक्षेत्रदिशा का उल्लेख मिलता है।^७ सूर्य की किरणों के स्पर्श से उत्पन्न प्रकाशात्मक परिताप से युक्त क्षेत्र तापक्षेत्र कहलाता है। उससे सम्बन्धित दिशाएं तापक्षेत्रदिशा कहलाती हैं। ये दिशाएं सूर्य के अधीन होने के कारण अनियत होती हैं।^८ जिस क्षेत्र में जिस ओर सूर्य उदित होता है, उस क्षेत्र के लिए वह पूर्व दिशा है। जिस ओर सूर्य अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा है। उसके दक्षिण पार्श्व में दक्षिण दिशा तथा उत्तर पार्श्व में उत्तर दिशा है।^९ ये चार तापदिशाएं कहलाती हैं। भरत, ऐरवत्, पूर्वीविदेह, अपरविदेह में निवासी मनुष्यों के उत्तर में मेरु तथा दक्षिण में लवण समुद्र है।^{१०}

प्रज्ञापक दिशा

कोई प्रज्ञापक जहां कहीं स्थित होकर दिशाओं के आधार पर किसी को निमित्त अथवा सूत्रार्थ का कथन करता है, वह जिस ओर अभिमुख है, वह पूर्व दिशा है। उसकी पीठ के पीछे वाली पश्चिम दिशा

१. अ. १३/५३।

२. अ. १३/५४।

३. अ. १०/५, ६।

४. अ. ४४।

५. अ. ४५।

६. अ. ४६।

७. आव. ८०९, ...खेतदिशा तावखेत पन्नवण।

८. आव. मटी प. ४३९; तपनं तापः सूर्यकिरणस्पर्शजनित, प्रकाशात्मकः परितापः तदुपलक्षितं क्षेत्रं तापक्षेत्रं तदेव दिक्, अथवा तापयतीति तापः—सविता तदनुसारेण क्षेत्रात्मिका दिक् तापक्षेत्रदिक्, सा च सूर्यायत्तत्वाद-नियता।

९. अ. ४७, ४८, विष्ठा २७०१।

१०. अ. ५०, आव. मटी प. ४३९।

निर्युक्ति साहित्य : एक पंचवेक्षण

है। उसके दक्षिण पार्श्व में दक्षिण दिशा तथा बाईं ओर उत्तर दिशा है।^१ इन चार दिशाओं के अंतराल में चार विदिशाएँ हैं। इन आठ दिशाओं के अंतराल में आठ अन्य दिशाएँ हैं। इन सोलह तिर्यग् दिशाओं का पिण्ड शरीर की ऊँचाई के परिमाण वाला होता है। पैरों के नीचे अधो दिशा तथा मस्तक के ऊपर ऊर्ध्वदिशा है। ये अठारह प्रज्ञापक दिशाएँ हैं। इन प्रकल्पित अठारह दिशाओं के नाम इस प्रकार हैं—
१ पूर्व २ पूर्व दक्षिण ३ दक्षिण ४ दक्षिण पश्चिम ५ पश्चिम ६ पश्चिम उत्तर ७ उत्तर ८ उत्तर पूर्व ९ सामुत्थानी १० कपिला ११ खेलिज्जा १२ अभिधर्मा १३ पर्याधर्मा १४ सावित्री १५ प्रज्ञा (पूर्णा) १६ वृत्ति १७ अधः दिशा १८ ऊर्ध्व दिशा।^२ आचारांगनिर्युक्ति (गा. ५७) में आए षण्णविती शब्द को यदि 'प्रज्ञापनी' मानकर एक शब्द माना जाए तो प्रज्ञापक दिशा के केवल १७ नाम ही होते हैं। षण्णविती को यदि दो शब्द माने तो प्रज्ञा और वृत्ति—ये दो संस्कृत रूपान्तरण संभव हैं। षण्णविती के स्थान पर यदि षुण्णविती पाठ को स्वीकार करें तो पूर्णा और वृत्ति—ये दो नाम हो सकते हैं। चूँकि ये आठ नाम आचारांगनिर्युक्ति के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलते अतः केवल संभावना ही व्यक्त की जा सकती है, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। दिशाओं के इन नामों के बारे में यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि ये नाम नक्षत्र विशेष से संबंधित रहे होंगे अथवा ज्योतिष की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व रहा होगा। डॉ. सागरमलजी जैन का अभिमत है कि सामुत्थानी आदि आठ नाम सूर्य की सूर्योदय से सूर्यास्त तक की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं।

प्रज्ञापक दिशाओं में अष्टाभिन्क सोलह तिर्यक् दिशाएँ शकटोर्द्धि संस्थान वाली हैं। ऊँची और नीची—ये दो दिशाएँ सीधे और ओंधे मुंह रखे हुए शरावों के आकार वाली होती हैं।^३

भावदिशा

जिससे या जिसमें पृथ्वी, नारक आदि के रूप में संसारी प्राणियों का व्यपदेश किया जाता है, वह भावदिशा है।^४ कर्मों के वशीभूत होकर जीव इन भाव दिशाओं में गमन एवं आगमन करते हैं। अठारह भाव दिशाएँ इस प्रकार हैं—

१. पृथ्वी
२. जल
३. अग्नि
४. वायु
५. मूल बीज
६. स्कन्ध बीज

७. अग्रबीज
८. पर्वबीज
९. द्वीन्द्रिय
१०. त्रीन्द्रिय
११. चतुरिन्द्रिय
१२. तिर्यक् पंचेन्द्रिय

१३. समूर्च्छिम मनुष्य
१४. कर्मभूमिज मनुष्य
१५. अकर्मभूमिज मनुष्य
१६. अन्तर्द्वीपज मनुष्य
१७. नारक
१८. देव

१. आनि ५१, ५२, विभा २७०२।

२. आनि ५५-५८।

३. आनि ५९।

४. (क) आवमटी प. ४३९; दिश्यते अयमभुक् संसारीति यय सा दिग् भावः—पृथिवीत्वादिलक्षणः पर्यायः स एव दिग् भावदिक्।
(ख) विभामहेटी पृ. ५३८; येषु पृथिव्यादिस्थानेषु कर्मपरतंत्रस्य जीवस्य गमागमौ संपद्येते सा भावदिग्मुच्यते।

५. आनि ६०, विभा २७०३, २७०४।

पृथ्वि-जल-जलण-वायु, मूला स्कन्ध-पौरबीया य। वि-ति-चत-पंचिन्द्रिय, तिरिय-नारका-देवसंस्थाया।।
समूर्च्छिम कम्मकम्मभूमिगनरा तहंतरदीवा। भावदिता दिस्तइ ज संसारी नियममेदाहि।।

आगमों में आसुरी दिशा का उल्लेख भी मिलता है। नारकीय दिशा आसुरिका दिशा कहलाती है। भवनपति तथा व्यन्तर देवों से सम्बन्धित दिशा को भी आसुरी या आसुरिका दिशा कहा जाता है।^१ आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार रौद्रकर्मकारी मनुष्य असुर होते हैं। वे अपनी आसुरी वृत्ति के कारण उस दिशा में जाते हैं, जहां क्रोध और रौद्र कर्म के परिणाम भुगतने की परिस्थितियां होती हैं। उत्तराध्ययन में हिंसक, अस्त्यभाषी, रुग्ण तथा मांसाहार जैसे कुर-कर्म करने वाले को आसुरी दिशा में जाने वाला बतलाया है।^२ सूयगडो के अनुसार हिंसापरायण आत्मघाती, विजय में लूटने वाले व्यक्ति चिरकाल तक आसुरी-नरकदिशा में रहते हैं।^३

बृहत्कल्पभाष्य और आवश्यकनिर्गुक्ति की हारिभद्राय टीका^४ में शव के परिष्ठापन के प्रसंग में दिशाओं के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। शव के परिष्ठापन के लिए दक्षिण-पश्चिमदिशा अर्थात् नैऋती दिशा को श्रेष्ठ माना है। उसके अभाव में दक्षिण, उसके अभाव में पश्चिम, उसके अभाव में आग्नेयी (दक्षिण पूर्व), उसके अभाव में वायव्य (पश्चिम उत्तर), उसके अभाव में पूर्व, उसके अभाव में उत्तर तथा उसके अभाव में उत्तरपूर्व दिशा का उपयोग करना चाहिए। किस दिशा में मृतक साधु का शव परिष्ठापित करने का क्या असर होता है, इसका वर्णन व्याख्या साहित्य में मिलता है। नैऋत दिशा में शव का परिष्ठापन करने से अन्न-पान और वस्त्र का प्रचुर लाभ होता है और समूचे संघ में समाधि होती है। दक्षिण दिशा में परिष्ठापन करने से अन्न-पान का अभाव होता है। पश्चिम दिशा में उपकरणों की प्राप्ति दुर्लभ होती है, आग्नेयी दिशा में परिष्ठापित करने से साधुओं में परस्पर तू-तू, मैं-मैं होती है। वायव्य दिशा में साधुओं में परस्पर तथा गृहस्थ एवं अन्यतीर्थिकों के साथ कलह होता है। पूर्वीदिशा में परिष्ठापन गण-भेद एवं चारित्र-भेद का कारण बनता है। उत्तरदिशा में करने से रोग तथा पूर्वोत्तर दिशा में परिष्ठापन करने से अन्य कोई साधु मृत्यु को प्राप्त होता है।^५

दिशाएं और वास्तुशास्त्र

वास्तुशास्त्र दिशाओं पर आधारित विद्या विशेष है, जिसमें दिशाओं के आधार पर गृह आदि का निर्माण एवं उसके प्रभाव पर विस्तार से चिंतन किया गया है। वास्तुशास्त्र में आठ दिशाओं का उल्लेख मिलता है—१. पूर्व २. पश्चिम ३. उत्तर ४. दक्षिण ५. ईशाणकोण, ६. अग्निकोण, ७. नैऋतकोण ८. वायव्य कोण। वास्तु-विशेषज्ञों के अनुसार पूर्वदिशा अग्नितत्त्व को इंगित करने वाली दिशा है। पश्चिम दिशा वायु तत्त्व को इंगित करती है। इसका स्वामी वरुण है। इस दिशा का प्रभाव अस्थिर एवं चंचल माना गया है। उत्तरदिशा में जल तत्त्व विद्यमान रहता है। इस दिशा का स्वामी कुबेर है। वास्तु-शास्त्री चिंतन-मनन के लिए उत्तरदिशा को उत्तम मानते हैं क्योंकि यह दिशा ध्रुव तारे की भांति स्थिरता की द्योतक है। दक्षिण दिशा में पृथ्वी तत्त्व माना है, जिसका स्वामी यम है। ईशाण कोण को वास्तु-शास्त्र में ईश्वर तुल्य महत्त्व दिया गया है क्योंकि यह उत्तर और पूर्व दो शुभ दिशाओं के मध्य है।

१. सूयगडो भाग १ पृ. १२०।

२. उ. ७/५-१०।

३. सू. १/२/६३।

४. आवहाटी २ पृ. ९३, ९४।

५. बृभा ५५०५, ५५०६।

दिस अवरदक्षिण दक्षिणा य अवरा य दक्षिणापुत्वा ।
अवरुत्तरा य पुत्वा, उत्तर पुत्तुत्तरा चैव ॥
समाही य भत्तपाणे, उवकरणे तुमंतुमा य कलहो य ।
भेदो गेलन्नं वा चरिमा पुण कइद्दए अण्णं ॥

वैशेषिक दर्शन ने दिशा को द्रव्य रूप में स्वीकार किया है लेकिन नहावीर ने इसे आकाश विशेष के रूप में स्वीकार किया क्योंकि दिशाएं आकाश विशेष का ही एक भाग हैं। स्वरविज्ञान एवं ज्योतिष-विद्या में दिशाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। दिशाओं के बारे में वैज्ञानिकों ने अपनी शोध प्रस्तुत की है कि दिशाओं के भी अपने विकिरण होते हैं, जो व्यक्ति के मानस को बहुत अंशों में प्रभावित करते हैं। भौगोलिक एवं दिशाओं की उत्पत्ति की दृष्टि से जैन आगम-साहित्य में जितनी सूक्ष्मता से चिंतन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। दिशाओं का वर्णन निर्युक्तिकार के बाहुश्रुत्य को प्रकट करने वाला है।

करण

ज्योतिष-शास्त्र में करण का महत्वपूर्ण स्थान है। सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययननिर्युक्ति में 'करण' का वर्णन मिलता है। वहां कालकरण के अंतर्गत ज्योतिष में प्रसिद्ध 'करण' के ग्यारह भेद मिलते हैं— १. बव २. बालव ३. कौलव ४. स्त्रीविलोकन ५. गरादि ६. वणिज ७. विष्टि ८. शकुनि ९. चतुष्पाद १०. नाग ११. किंस्तुघ्न। इनमें प्रथम सात चल तथा शेष चार स्थिर करण हैं।^१

तिथि के अनुसार करण-चक्र

एक तिथि में दो करण होते हैं अतः तिथि के आधे भाग को करण कहा जाता है। सूर्य से चन्द्रमा की प्रति ६ अंश की दूरी एक करण का बोधक है क्योंकि तिथि १२ अंश के अंतर पर होती है। चल करणों की एक माह में प्रत्येक की आठ बार आवृत्ति होती है। शकुनि अदि शेष चार स्थिर करण हैं, ये माह में केवल एक बार आते हैं। इनकी तिथियां और उनके भाग निश्चित होते हैं इसलिए ये ध्रुवकरण कहलाते हैं। कृष्णपक्ष की चतुर्विंशती के उत्तरखंड में सदा 'शकुनिकरण' होता है। अमावस्या के प्रथम अर्धभाग में 'चतुष्पादकरण' और दूसरे अर्धभाग में 'नागकरण' होता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के प्रथम अर्धभाग में 'किंस्तुघ्नकरण' होता है।^२ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के उत्तरार्ध से बव, बालव, कौलव आदि करणों की क्रमशः आवृत्ति होती है। इस प्रकार हर महीने में लगभग ६० करण होते हैं।

करण निकालने की विधि

शुक्लपक्ष की तिथि को दो से गुणा करके उसमें दो घटाकर सात का भाग देने से जो शेष बचे, वह दिन का करण होता है। रात्रि में इसी विधि से एक जोड़ने पर वह रात्रि का करण होता है।^३ जैसे शुक्लपक्ष की चतुर्थी का करण जानना है— $4 \times 2 = 8 - 2 = 6 \div 7$ शेष ० = ६। अतः छठा करण वणिज होगा। रात्रि में एक बढ़ाने से इससे अगला करण विष्टि होगा। कृष्णपक्ष में २ को घटाया नहीं जाता, जैसे—कृष्णा दशमी में दो का गुणा करने पर २० होते हैं सात का भाग देने पर छह अवशेष रहते हैं अतः उस दिन वणिज नामक दैवसिक करण होगा।

करण का समाप्ति-काल जानने की विधि

तिथि के प्रारम्भिक काल व समाप्ति-काल के मध्य करण का समाप्ति काल होता है। तिथि के समाप्ति काल में से प्रारम्भिक काल घटाने पर तिथि का ठहराव घंटा मिनट में आ जाता है। इस

१. स्त्रीविलोकन का दूसरा नाम तैत्तिल भी मिलता है।

२. उनि १९०, १९१, सूनि ११, १२, जंबू ७/१२३।

३. सूनि १३, उनि १९२।

४. उनि १९२/१, विभा ३३४९ टी पृ. ६३९।

ठहराव का आधा समय तिथि के प्रारम्भिक काल में जोड़ने या समाप्ति काल में से घटाने पर करण का समाप्ति काल आ जाता है।

जिन तिथियों में विष्टिकरण होता है, उन तिथियों को भद्रा तिथि कहा जाता है। भद्रातिथि में शुभकार्य वर्जित रहते हैं। विष्टि के अतिरिक्त शेष करण शुभ माने जाते हैं। ध्रुवकरण शुभ नहीं माने जाते। जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति ने कौन सी तिथि को कौन सा करण होता है, इसका उल्लेख मिलता है। उसका चार्ट इस प्रकार है—

तिथि	कृष्णपक्ष		तिथि	शुक्लपक्ष	
	पूर्वाह्नकरण	उत्तरार्धकरण		पूर्वाह्नकरण	उत्तरार्धकरण
१.	बालव	कौलव	१	किंस्तुघ्न	बव
२	स्त्रीविलोकन	गर	२	बालव	कौलव
३.	वणिज	विष्टि	३	स्त्रीविलोकन	गर
४.	बव	बालव	४	वणिज	विष्टि
५.	कौलव	स्त्रीविलोकन	५	बव	बालव
६.	गर	वणिज	६	कौलव	स्त्रीविलोकन
७.	विष्टि	बव	७	गर	वणिज
८	बालव	कौलव	८	विष्टि	बव
९.	स्त्रीविलोकन	गर	९	बालव	कौलव
१०.	वणिज	विष्टि	१०	स्त्रीविलोकन	गर
११.	बव	बालव	११	वणिज	विष्टि
१२.	कौलव	स्त्रीविलोकन	१२	बव	बालव
१३.	गर	वणिज	१३	कौलव	स्त्रीविलोकन
१४.	विष्टि	शकुनि	१४	गर	वणिज
१५.	चतुष्पाद	नाग	१५	विष्टि	बव

निर्युक्तिकार ने यह प्रसंग ज्योतिष-शास्त्र से प्रसंगवश लिया है। यद्यपि उन्होंने करण की विस्तृत व्याख्या नहीं की है लेकिन जितना वर्णन है, वह ज्योतिष-विद्या की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

काव्य

निर्युक्तिकार को काव्य-साहित्य का भी गहरा ज्ञान था। समकालीन अनेक काव्य ग्रंथ उनके दृष्टिपथ से गुजरे, ऐसा प्रतीत होता है। 'पद' का वर्णन करते हुए प्रसंगवश उन्होंने काव्य के अनेक तत्त्वों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। निर्युक्तिकार ने काव्य के अंतर्गत ग्रथित पद के चार भेद किए हैं—

१. गद्यकाव्य २. पद्यकाव्य ३. गेयकाव्य ४. चौर्णकाव्य। ठाणं सूत्र में काव्य के चार भेदों में चौर्ण के स्थान पर कथ्य काव्य नाम मिलता है।^१ कथ्य काव्य कथात्मक होता है।

मुख्यतः काव्य के दो ही प्रकार होते हैं—गद्य और पद्य। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार चौर्ण और गेय काव्य के स्वतंत्र प्रकार नहीं हैं अतः ये गद्य के ही अवान्तर भेद हैं। फिर भी स्वरूप की विशिष्टता

१. जंबू ७/१२५।

२. दशनि १४६।

३. ठाणं ४/६४४।

के कारण इन्हें स्वतंत्र स्थान दिया गया है। गेय काव्य संगीतात्मक होता है अतः इसे काव्य की श्रेणी में रखना औचित्य की दृष्टि से ठीक है।

गद्यकाव्य

विश्वनाथ के अनुसार छंदबंधहीन शब्दार्थ संपन्न को गद्य काव्य कहा जाता है।^१ दशमैकालिकनिर्युक्ति में साहित्यिक दृष्टि से गद्यकाव्य का स्वरूप प्रकट किया गया है। उसके अनुसार जो सूत्र आदि के विभाग से कमगः, ग्रथित, मधुर, हेतुयुक्त, पादविहीन—चरण आदि से रहित, विरामसंयुक्त, अंत में अपरिमित अर्थात् बृहद् आकार वाला तथा जिसका पाठ मृदु हो, वह गद्यकाव्य कहलाता है।^२

पद्यकाव्य

छंद की दृष्टि से पद्यकाव्य के तीन भेद अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—सम, अर्धसम और विषम।^३ अनुयोगद्वारसूत्र में पद्य के स्थान पर वृत्त शब्द का प्रयोग मिलता है।^४ जिसके चारों चरण समान अक्षर, विराम और मात्रा वाले हों, वह समपद्य कहलाता है।^५ टीकाकार ने मतान्तर प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जहां चारों पादों में समान अक्षर हों, वह समपद्य कहलाता है।^६ जिसके प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में समान अक्षर, विराम और मात्रा हों, वह अर्धसमपद्य कहलाता है।^७ विषम पद्य का अर्थ है—सभी पादों में अक्षर, मात्रा और विराम विषम—असमान हों।^८

गेयकाव्य

जो गाया जाता है, उसे गेय कहते हैं। आधुनिक काव्यशास्त्रियों ने गेयकाव्य की अनेक परिभाषाएं तथा अनेक भेद किए हैं। संगीत रत्नाकर में दशांश लक्षणों से लक्षित स्वर सन्निवेश, पद, ताल एवं मार्ग इन चार अंगों से युक्त गान को गीत कहा है।^९ निर्युक्तिकार ने गेय काव्य के पांच भेद किए हैं—

१. तंत्रीसम—वाद्यों के तारों पर अंगुलि-संचार के साथ गाया जाने वाला गीत।
२. वर्णसम—जहां दीर्घ अक्षर आने पर गीत का स्वर दीर्घ, ह्रस्व अक्षर आने पर ह्रस्व, प्लुत अक्षर आने पर प्लुत तथा सानुनासिक अक्षर आने पर गीत का स्वर सानुनासिक हो, वह वर्णसम कहलाता है।
३. तालसम—ताल-वादन के अनुरूप स्वर में गाया जाने वाला गीत।
४. ग्रहसम—वीणा आदि द्वारा गृहीत स्वरों के अनुसार गाया जाने वाला गीत।
५. लयसम—वाद्यों को आहत करने पर जो लय उत्पन्न होती है, उसके अनुसार गाया जाने वाला गीत।^{१०}

१. साहित्यदर्पण ६/३३०।

२. दशनि १४७।

३. दशनि १४८।

४. अनुब्र ३०७/१०।

५. दशअचू पृ. ४०; तत्थ चउसु वि पादेसु समक्खर-विराममत्तं समं।

६. दशहाटी प. ८८; अन्ये तु व्याचक्षते समं यत्र चतुर्थे पादेसु समान्यक्षराणि।

७. दशअचू पृ. ४०; जस्स पडम ततिया त्रितिया चउत्था य पादा समक्खर-विराम-मत्ता तं अद्धसमं।

८. दशअचू पृ. ४०; जस्स चत्तारि वि पादा विसमा तं विसमं।

९. संगीत-रत्नाकार, टीका पृ. ३३।

१०. दशनि १४९।

११. वंश-जलका से तंत्री का स्पर्श किया जाता है और नखों से तार को दबाया जाता है, तब जो एक भिन्न प्रकार का स्वर उठता है, उसे 'लय' कहते हैं।

ठाणं^१ और अनुयोगद्वार^२ में रेयकाव्य के सात प्रकार मिलते हैं—

ठाणं	अनुयोगद्वार
तंत्रीसम	अक्षरसम
तालसम	पदसम
पादसम	तालसम
संगरागः	संगरागः
ग्रहसम	ग्रहसम
निःश्वसितोच्छ्वसितसम	निःश्वसितोच्छ्वसितसम
संचारसम	संचारसम

अनुयोगद्वार में तंत्रीसम के स्थान पर अक्षरसम तथा पादसम के स्थान पर पदसम का उल्लेख है। स्वर के अनुकूल निर्मित रेयपद के अनुसार गाया जाने वाला गीत पादसम, सांस लेने और छोड़ने के क्रम का अतिक्रमण न करते हुए गाया जाने वाला गीत निःश्वसितोच्छ्वसितसम तथा सितार आदि के साथ गाया जाने वाला गीत संचारसम कहलाता है।

चौर्णकाव्य

जो गद्य और पद्य मिश्रित होता है, वह चौर्णकाव्य कहलाता है। विश्वनाथ ने चौर्ण को गद्यकाव्य का भेद माना है।^३ आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध चौर्णकाव्य में निबद्ध है। गद्यकाव्य की लगभग विशेषताएं इसमें घटित होती हैं। चौर्णकाव्य की निम्न विशेषताएं हैं—

- जो अर्थबहुल हो अर्थात् जिसमें एक-एक पद के अनेक अर्थ हों।
- जो महान् अर्थ वाला हो, जो अनेक नयवादों की गंभीरता से महान् हो।
- जो हेतुयुक्त हो।
- जो च, वा, ह आदि निपातों से युक्त हो।
- जो प्र, परा, सं आदि उपसर्गों से युक्त हो।
- जो बहुपाद अर्थात् जिसके चरणों का कोई निश्चित परिमाण न हो।
- जो अव्यवच्छिन्न—विरामरहित हो।
- जो गम शुद्ध हो अर्थात् जिसमें सदृश अक्षर वाले वाक्य हों।
- जो नय शुद्ध हो अर्थात् जिसका अर्थ नैगम आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रतिपादित हो।

यातायातपथ

प्राचीनकाल में आज की भांति यातायात सुविधाएं उपलब्ध नहीं थीं लेकिन फिर भी निर्युक्तिकार ने मार्ग शब्द की व्याख्या में द्रव्य मार्ग के अंतर्गत तत्कालीन यातायात के अनेक मार्गों का स्पष्ट संकेत किया है।^४ ये मार्ग उस समय की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को स्पष्ट करने वाले हैं।

१. फलक मार्ग—जहां कीचड़ अधिक होता या गड्ढों को पार करना होता, वहां उसे पार करने के लिए लकड़ी के फलक बिछा दिए जाते, उसे फलक मार्ग कहा जाता था।^५

१. डा. ७/४८/१३।

२. अनुद्वा ३०७/८

३. साहित्यदर्पण ६/३३०।

४. दशनि १५०।

५. मूनि १०८।

६. सूत्र १७ १२३।

२. लतामार्ग — चूर्णिकार के अनुसार नदियों में डालने वाली लताओं का आलम्बन लेकर पार करने का मार्ग। जैसे—चारुदत्त लता के सहारे नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे पहुंचा था।^१ जंगलों में पथिक भी लताओं को पकड़कर इधर से उधर चले जाते थे।
३. आंदोलनमार्ग — यह संभवतः झूलने वाला मार्ग रहा होगा। विशेषतः यह मार्ग दुर्ग आदि पर बनाया जाता था, जहां खाई आदि की गहराई झूलकर पार की जाती अथवा झूले के सहारे एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर जाने वाला मार्ग।^२ कभी-कभी व्यक्ति वृक्षों की शाखाओं को पकड़कर झूलते और दूसरी ओर पहुंच जाते।^३ वर्तमान में भी नदियों को पार करने के लिए कहीं-कहीं ऐसे मार्ग मिलते हैं, जैसे हरिद्वार में लक्ष्मण-झूला।
४. वेत्रमार्ग — नदियों को पार करने में सहायक मार्ग। जहां नदियों में वेत्र-लताएं सघन होतीं, वहां पथिक उन लताओं के सहारे एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुंच जाता था।^४
५. रज्जुमार्ग — मोटे रस्सों के सहारे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचने का मार्ग। यह पर्वत जैसे अति दुर्गम स्थानों को पार करने के काम आता था।^५ आज भी पहाड़ी स्थानों पर ऐसे मार्ग देखे जाते हैं। चूर्णिकार के अनुसार गंगा आदि नदियों को पार करने में रज्जु मार्ग का सहारा लिया जाता था।^६ पथिक एक किनारे पर रज्जु को वृक्ष से बांध देते और उस लम्बे रज्जु के सहारे तैरते हुए दूसरे किनारे पहुंच जाते।
६. दवनमार्ग — दवन का अर्थ है—यान-वाहन। सभी प्रकार के वाहनों के यातायात में यह मार्ग काम आता था। इस पथ पर हाथी, घोड़े, रथ, बैल आदि सहजतया आते-जाते थे। ये मार्ग मुख्य रूप से शहरों को जोड़ने वाली सड़कों का कार्य करते थे।
७. बिलमार्ग — गुफा के आकार वाले मार्ग, जिन्हें मूषिक पथ भी कहा जाता था। यह मार्ग सामान्यतया पर्वतों पर होता था। पर्वतीय चट्टानों को काटकर चूहों के बिल जैसी छोटी-छोटी सुरंगें बनायी जाती थीं।^७ अंधकारमुक्त होने के कारण इनमें दीपक लेकर प्रवेश करना पड़ता था।^८
८. पाशमार्ग — चूर्णिकार के अनुसार यह वह मार्ग है, जिसमें व्यक्ति अपनी कमर को रज्जु से बांधकर रज्जु के सहारे आगे बढ़ता था। सोने आदि की खदान में इसी के सहारे नीचे गहन अंधकार में उतरा जाता था और रज्जु के सहारे ही बाहर आया जाता था।^९ टीकाकार के अनुसार जिस मार्ग में पक्षियों को फंसाने के लिए पाश डाल दिए जाते, वह पाशमार्ग कहलाता था।^{१०}
९. कीलकमार्ग — वह मार्ग, जहां स्थान-स्थान पर कीले गड़े जाते थे। पथिक उन कीलों या खंभों की

१ सूत्र १ पृ. १९३
२ सूटी नं. १३६
३ सूत्र १ पृ. १९४।
४ सूटी नं. १३१।
५ सूटी नं. १३१।

६ सूत्र १ पृ. १९४; रज्जुहि गगं उत्तरति।
७ सूटी पृ. १३१, बिलमार्गो यत्र तु गुह्यकारेण बिलेन गम्यते।
८ सूत्र १ पृ. १९४, बिलं शीवगोहि पविशति
९ सूत्र १ पृ. १९४।
१० सूटी नं. १३१; पाशमार्गः पाशकूटआगुरन्वितो मार्ग इत्यर्थः।

पहचान से अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता था। दिग्भ्रम न हो इस दृष्टि से ये मार्ग विशेष रूप से मरुप्रदेश में बनाए जाते थे, जहां बालू के टीलों की अधिकता होती थी।^१

१०. अजमार्ग— इतना संकरा पथ, जिसमें केवल अज (बकरी) या बछड़े के चलने जितनी पगड़ंडी मात्र होती थी। यह मार्ग विशेषतः पहाड़ों पर होता था, जहां बकरों या भेड़ों पर यातायात किया जाता था। इसे मेंढपथ भी कहा जाता था। इन मार्गों पर दो व्यक्ति एक साथ नहीं चल सकते थे। टीकाकार के अनुसार चारुदत्त इसी मार्ग से स्वर्णभूमि पहुंचा ^{११}।^२ वृणिकार ने इसे लोहे से जटिल पथ माना है, यह पथ स्वर्णभूमि में था।^३

११. पक्षिपथ— भारुण्ड आदि विशालकाय पक्षियों के सहारे होने वाला आकाशमार्गीय यातायात। यह मार्ग सर्वसुलभ नहीं था। ऐसा संभव लगता है कि मांत्रिक या तांत्रिक लोग इन विशालकाय पक्षियों का उपयोग वाहन के रूप में करते थे। आज भी शतुर्मुख का वाहन के रूप में उपयोग किया जाता है। पाणिनी का हंसपथ, महानिदेस का शकुनपथ और कालिदास का खगपथ और सुरपथ इसी पक्षिपथ के वाचक हैं।

१२. छत्रमार्ग— ऐसा मार्ग, जहां छत्र के बिना आना-जाना निरापद नहीं होता था।^४ संभव है यह जंगल का मार्ग हो, जहां हिंस्र पशुओं का भय रहता हो। पशु छत्र के डर से इधर-उधर भाग जाते अथवा धूप से रक्षा के लिए इनका उपयोग किया जाता था।

१३. जलमार्ग— जहाज, नौका आदि से यातायात करने का मार्ग।^५ इसे वारिपथ भी कहा जाता था।

१४. आकाशमार्ग— चारणलब्धि सम्पन्न मुनियों, विद्याधरों तथा मंत्रविदों के आने-जाने का मार्ग।^६ इसे 'देवपथ' भी कहा जाता था।

प्राचीनकाल में रथ के लिए विशिष्ट मार्ग बनाए जाते थे, जो चौड़े और समतल होते थे। शकट संकरे मार्ग पर भी चल सकते थे। उत्पथ पर तीव्र गति से शकट चलाने पर वे भग्न हो जाते थे।^७ जल को पार करने हेतु भस्त्रा का प्रयोग किया जाता था। चमड़े को सीकर उसमें हवा भर दी जाती थी, जो इनलप के चक्रों के समान पानी पर तैरती थी। भस्त्रासे रास्ता तय करने वाले को भास्त्रिक कहते थे।^८

धार्मिक संस्कृति

आगम-साहित्य को पढ़ने से तत्कालीन देश, काल और संस्कृति का ज्ञान हो जाता है क्योंकि वे विस्तृत शैली में लिखे गए हैं। निर्युक्तिकार का मूल लक्ष्य सूत्र में आए पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था अतः उन्होंने सलक्ष्य इस विषय में कोई रुचि नहीं ली किन्तु प्रसंगवश धर्म, समाज, राजनीति,

१ सूटी पु. १३१; कौलकमार्गो यत्र बालुकोत्कर्षे मरुकादिविष्ये कौलकाभिज्ञानेन गम्यते।

२ सूटी पु. १२६

३ सूचू १ पु. १९४।

४ सूटी पु. १३१; छत्रमार्गो यत्र छत्रमन्तरेण गंतुं न शक्यते।

५ सूटी पु. १३१; जलमार्गो यत्र नद्यदिना गम्यते।

६ सूचू १ पु. १९४; अणासमग्गो चारण-विज्जाहरणं।

७ वज्रसू पु. ५२।

८ महाभाष्य ४/४/१६।

निर्युक्ति साहित्य : एक पर्यवेक्षण

संस्कृति, इतिहास और विज्ञान आदि का वर्णन किया है। यहां हम निर्युक्ति एवं उनके व्याख्या-साहित्य के आधार पर इन विषयों की संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं।

निर्युक्तिकार के समय धर्म का सर्वोपरि महत्त्व था। उसे उत्कृष्ट मंगल के रूप में स्वीकार किया जाता था। धर्म के नाम पर लोगों को भ्रमित भी किया जाता था। परिव्राजक लोग धार्मिक सिद्धांतों के नाम पर लोगों को ठगा करते थे।^१ अंधविश्वास के आधार पर देवी-देवताओं की अंधपूजा की जाती थी। परिस्थितिवश मलोत्सर्ग पर डाले गए फूलों को देखकर हिंगुशिव की उत्पत्ति इसका प्रत्यक्ष निदर्शन है।^२ कार्य विशेष की पूर्ति हेतु लोग मनुष्यों की बलि भी देते थे।^३ कुछ संन्यासी या भिक्षु सप्त व्यसनों से आक्रान्त होते थे।^४ ब्राह्मण यदि किसी श्रेणी को रोषपूर्वक या निर्दयता से मार देता तो उसे प्राणदंड तक का प्रायश्चित्त दिया जाता था।^५ साधु-साध्वियों को तत्त्व विषयक शंका होने पर श्रावक तथा राजा आदि उनको प्रतिबोध एवं प्रेरणा देते थे।^६ यदि वाचना अधूरी रह जाती तो आगाढ़ योग में प्रतिपन्न शिष्यों का अध्यापन पूरा कराने हेतु कभी-कभी दिवंगत होकर भी आचार्य पुनः दिव्य प्रभाव से उस शरीर में प्रवेश कर वाचना पूर्ण करते थे।^७ शक्ति प्राप्त करने अथवा शंका-समाधान हेतु संघ आचार्य सहित देवता का कायोत्सर्ग करता था, जैसे—आचार्य दुर्बलिका पुष्पमित्र ने गोष्ठामाहिल द्वारा शंका उपस्थित किए जाने पर कायोत्सर्ग का प्रयोग कर देवता का आह्वान किया।^८

साधु-संन्यासी एवं परिव्राजक धार्मिक वाद-विवादों में वृश्चिक, सर्प आदि विद्याओं तथा मायूरी, नाकुली आदि प्रतिपक्ष विद्याओं का प्रयोग करते थे।^९ साधु लोग कभी-कभी ऐसी विद्याओं का प्रयोग भी कर लेते थे, जिससे दूसरों का अनिष्ट हो जाता था।^{१०} चोर उन्नामिनी-अवनामिनी विद्या में प्रवीण होते थे। चोर आदि भी उपदेश देने पर सरलता से प्रतिबुद्ध होकर प्रव्रजित हो जाते थे, जैसे—कपिल मुनि के द्वारा प्रतिबोध देने पर बलभद्र आदि पांच सौ चोर प्रतिबुद्ध हो गए।^{११} छोटे से निमित्त को पाकर राजा लोग प्रतिबुद्ध हो जाते थे, जैसे—वृद्ध बैल को देखकर करकंडु, इंद्रकेतु की दुर्दशा देखकर दुर्मुख, कंकण की आवाज सुनकर नमि राजर्षि तथा आम्रवृक्ष की श्रीहीनता को देखकर गांधार राजा नगति प्रतिबुद्ध हो गए।^{१२} अनशन से पूर्व बारह वर्ष की संलेखना का बहुत सुंदर कम आचारांगनिर्युक्ति में प्रतिपादित है।^{१३}

प्रसंगवश निर्युक्तिकार ने वैदिक क्रियाकाण्डी मान्यताओं का भी हेतु-पुरस्सर खंडन किया है। अग्नि में घी की आहुति डालने से सूर्यदेवता प्रसन्न होकर वर्षा करते हैं। इस मान्यता का खंडन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि होम करने से वर्षा होती है तो फिर दुर्भिक्ष क्यों होता है? यदि यह कहा जाए कि दुरिष्ट (बुरा नक्षत्र) या अविधिपूर्वक होम करने से दुर्भिक्ष होता है तो फिर जहां दुरिष्ट या अविधि से होम किया जाए वहीं दुर्भिक्ष होना चाहिए, सब जगह दुर्भिक्ष क्यों होता है? वर्षा का कारण

१. दशनि ८८, ८४, देखें कथा सं. २२ पृ. ४८३।

२. दशनि ६३।

३. दशनि ७९।

४. दशनि ७९।

५. दनि १०५।

६. उनि १७२/२-५।

७. उनि १७२/४।

८. आचू पृ. ६१; पसत्पदेवबले दुब्बलियपूसमित्तप्पमुहेण संघेण देवयाणं बलनिमित्तं काउस्सग्गो कओ।

९. उनि १७२/८, ९।

१०. उनि ११९।

११. उनि २५१।

१२. उनि २५८।

१३. अति २८८-९४।

इंद्र है तो क्या निर्घात, दिग्दाह आदि से इंद्र के कार्य में विघ्न नहीं होता? इन हेतुओं से यह मानना चाहिए कि स्वाभाविक रूप से ऋतु के अनुसार वर्षा होती है।^१

दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक तथ्य

माधुकरी भिक्षा के प्रसंग में ईश्वरकर्तृत्व के बारे में पूर्वपक्ष के साथ उसका हेतु-पुरस्सर उत्तरपक्ष प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्मा ने हर प्राणी को आजीविका दी है इसीलिए वृक्ष भी भ्रमरों के लिए फलते-फूलते हैं। वैदिकों के इस मंतव्य का निर्युक्तिकार ने सैद्धान्तिक दृष्टि से तो खंडन किया ही साथ ही व्यावहारिक तर्क देते हुए कहा कि अनेक ऐसे वनखंड हैं, जहां न तो भ्रमर जाते हैं और न वहां निवास करते हैं फिर भी वनखंड में वृक्ष फलते-फूलते हैं अतः फलना और फूलना वृक्षों का स्वभाव है।^२

दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति में दश अवयवों की चर्चा तथा उदाहरण एवं हेतु के भेद-प्रभेदों का वर्णन न्याय-दर्शन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। न्याय एवं दर्शन के क्षेत्र में तर्क, हेतु और उदाहरणों का प्रवेश निर्युक्तिकाल में हुआ संभव लगता है। पंडित दत्तसुखभाई मालवणिया ने 'आगम युग का जैन दर्शन' पुस्तक में विस्तार से इनका वर्णन किया है।

चौथे अध्ययन की निर्युक्ति में १४ द्वारों के द्वारा जीव की व्याख्या की गयी है,^३ जिसमें आत्मा का अस्तित्व, पुनर्जन्म, आत्मा की परिणमनशीलता, आत्मा का देहव्यापित्व एवं आत्मकर्तृत्व आदि अनेक सिद्धांतों की चर्चा हुई है। दशवैकालिकनिर्युक्ति में सैद्धान्तिक दृष्टि से जीव के २० लक्षणों की चर्चा की गयी है।^४ वहां सैद्धान्तिक दृष्टि से जीव के तीन भेद किए गए हैं—१. ओघजीव २. भवजीव ३. तद्भवजीव। आयुष्य कर्म के होने पर जीव जीता है, आयुष्य कर्म के क्षीण होने पर मृत या सिद्ध हो जाता है, वह ओघजीव है। जिस आयुष्य के आधार पर जीव किसी भव में स्थित रहता है अथवा उस भव से संक्रमण करता है, वह भवायु है। तद्भव आयु जीव दो प्रकार के होते हैं—तिर्यञ्चतद्भव आयु और मनुष्यतद्भव आयु क्योंकि तिर्यञ्च और मनुष्य ही मरकर पुनः तिर्यञ्च और मनुष्य में उत्पन्न हो सकते हैं।^५ संकुचित और विकसित होना जीव का मूल गुण है। वह अपने असंख्येय प्रदेशात्मक गुण के कारण समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है।^६

सूत्रकृतांग की 'आहारपरिण्णा' अध्ययन की निर्युक्ति में आहार संबंधी सैद्धान्तिक एवं तात्त्विक वर्णन हुआ है। जीव जन्म के समय पहले तैजस और कार्मण शरीर से आहार ग्रहण करता है। बाद में जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र से आहार ग्रहण करता है।^७ आहार की दृष्टि से एकेन्द्रिय जीव, देवता और नारकी जीवों के प्रक्षेप—कवल आहार नहीं होता।^८ केवली समुद्घात के समय जीव मंथान के प्रारम्भ और उपसंहार में (तीसरे और पांचवें समय में) तथा लोक को पूरित करते हुए चौथे समय में अनाहारक रहते हैं। इस प्रकार समुद्घात की अपेक्षा केवली

१. दशनि २५/१-३; यद्यपि यह प्रसंग बाद में जोड़ा गया है पर वर्तमान

में ये निर्युक्ति-गाथा के रूप में प्रसिद्ध हैं।

२. दशनि ९७।

३. दशनि १९३, १९४।

४. दशनि १९९, २००।

५. दशनि १९५-१७।

६. आनि १८१।

७. सूनि १७८।

८. सूनि १७४।

तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अनाहारक रहते हैं। चौदहवां गुणस्थान भी अनाहारक होता है। इस अतिरिक्त अंतराल गति में विग्रह गति करने वाला जीव एक या दो समय अनाहारक रहता है।^१

दशवैकालिकनिर्युक्ति ने वर्णित भाषा एवं उसके भेदों का वर्णन तथा सूत्रकृतांग निर्युक्ति परमाधार्मिक देवों के कार्यों का वर्णन सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। दशाश्रुतरकांधनिर्युक्ति उपासक और श्रावक का अंतर तात्त्विक दृष्टि से नए तथ्यों को प्रकट करने वाला है।^२

सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थितियां

साहित्य समाज का दर्पण होता है। किसी भी साहित्य के आलोक में तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान किया जा सकता है। निर्युक्तिकार ने कथाओं के माध्यम से प्रसंगवश सभ्यता, संस्कृति एवं सामाजिक परम्पराओं के अनेक तथ्यों की ओर इंगित किया है। सामाजिक दृष्टि से चार वर्गों की उत्पत्ति का इतिहास अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।^३ निर्युक्तिरालीन सभ्यता में दासप्रथा का पूर्णरूपेण बहिष्कार नहीं हुआ था। व्यक्तियों का क्रय-विक्रय चलता था।^४ बलिप्रथा प्रचलित थी।^५ परिपूर्ण कलश को लौकिक मंगल के रूप में माना जाता था।^६ कन्याएं स्वयंवर भी करती थीं, जैसे—मथुरा के राजा जितशत्रु की पुत्री निर्वृति ने स्वयं दूसरे स्थान पर जाकर स्वयंवर किया।^७ बहुपत्नी प्रथा समृद्धि एवं गौरव का प्रतीक मानी जाती थी। राजा लोग अनेक रानियां रखते थे।^८ गांधर्व विवाह भी प्रचलित थे।^९

गर्भधारण, गर्भपात एवं गर्भ के पोषण की विधियां प्रचलित थीं। साधु उन विधियों को गृहस्थ को नहीं बता सकता था।^{१०} गर्भवती पत्नी को छोड़कर घर का प्रमुख व्यक्ति दीक्षित हो जाता था।^{११} पिता अपनी पुत्री के साथ अकरणीय कार्य कर लेता था और उस कार्य में कभी-कभी पत्नी अपने पति का सहयोग भी कर देती थी।^{१२} दक्षिणापथ में मामा की बेटी अन्य मानी जाती थी अर्थात् उसके साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया जा सकता था पर गोल्ल देश ने यह संबंध निषिद्ध था।^{१३} धन के लिए बेटी अपनी मां की हत्या तक कर देती थी।^{१४} अविद्या प्रकर्ष पर थी।^{१५} चोरों द्वारा चुराई हुई वस्तु की पुनः प्राप्ति अशुभ मानी जाती थी।^{१६} इक्षुदंड को शुभ शकुन माना जाता था।^{१७}

शिल्पी लोग अनेक कलात्मक चीजें बनाते थे। चित्रकला की दृष्टि से मिट्टी के मनोहारी फूल बनाए जाते थे।^{१८} वस्त्र बुनते समय बुनाई में जुलाहा, हाथी, घोड़े आदि के चित्र बना देता था, जिसे वातव्य कहा जाता था।^{१९} वस्तु-विनिमय के साथ-साथ रुपयों द्वारा भी लेन-देन चलता था।^{२०} भारतीय व्यापारी विदेशों में व्यापारार्थ जाते थे। सार्धवाह मुत्र अचल वाहनों को भरकर पारसकुल (ईरान)

१. सूनि १७६, १७७।

२. दनि ३७-४०।

३. आनि १९ आचू. पृ. ५।

४. दनि १०७, १०८, उनि २४७।

५. दशनि ७९।

६. दशनि ४१।

७. उशांटी प. १४८-५०।

८. उसुटी प. १४२; राइणो अणेगाओ महादेवीओ, एणेगा वारएण रयणीए राइणे वासभवणे आगच्छइ।

९. उसुटी प. १९०; स तेण गंधव्वविवाहेण विवाहिण।

१०. आनि २५४।

११. दशअचू पृ. ४।

१२. उनि १३५-३७।

१३. दशअचू पृ. १०।

१४. दशनि ५१।

१५. दशनि ८५।

१६. दनि १६, दचू प. १२।

१७. उसुटी प. २३।

१८. दशनि १४३ टी. प. ८७।

१९. दशनि १४३ टी. प. ८७।

२०. उशांटी प. २०९।

गया।^१ चम्पा नगरी का वणिक् पुत्र पालित नौकाओं में माल भरकर पिहुण्ड नगर पहुंचा।^२ विदेशी लोग भारत में रत्न खरीदने आते थे। एक बार एक व्यापारी के पुत्रों ने विदेशी व्यापारियों को सारे रत्न बेच दिए।^३ अन्य देशों से आए माल की कड़ी जांच की जाती थी।^४

कपड़ों के लिए पक्का रंग जलौक के माध्यम से तैयार किया जाता था। जलौक को जीवित व्यक्ति के शरीर पर छोड़ दिया जाता। वह उसका रक्त चूसकर जो रंग बनाती, वह कपड़े आदि रंगने के काम आता था।^५ सुगंधित द्रव्यों का चूर्ण बनाकर उसका प्रयोग वशीकरण एवं दूसरों को मोहित करने के लिए किया जाता था।^६ मुकुन्द नामक वाद्य गंभीर स्वर के कारण वाद्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता था।^७ सोलह सेर द्राक्षा, चार सेर धातकी के पुष्प और ढाई सेर इक्षु—इनको मिलाकर मद्य बनाया जाता था।^८

शिक्षा के लिए विद्यार्थी अन्य स्थानों पर भी जाते थे। उनके भोजन-पानी एवं आवास की व्यवस्था धनी सेंट कर देते थे, जिसे—कलिल ब्राह्मण की व्यवस्था सेठ शालिभद्र ने की थी।^९ शिक्षा पूर्ण कर लौटे विद्यार्थी का राजा सार्वजनिक सम्मान करता था। नगर को पताकाओं से सजाकर उसे हाथी पर बिठाकर ससम्मान घर पहुंचाया जाता तथा अनेक प्रकार के उपहार भी दिए जाते थे। सोमदेव ब्राह्मण के पुत्र रक्षित का ऐसा ही राजकीय सम्मान किया गया।^{१०}

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में ऋषभपुर, राजगृह और पाटलिपुत्र नगर की उत्पत्ति का संकेत मिलता है।^{११} इसी प्रकार भद्रपुर नगर के उत्पत्ति के कथानक का संकेत भी निर्युक्तिकार ने दिया है।^{१२} राजतंत्र होने से राजभय के कारण मुनि की आचार-परम्परा में राजा की आज्ञा को आपवादिक कारण में रखा जाता था।^{१३} राजा यदि किसी व्यक्ति की सरलता से प्रसन्न होता तो करोड़ों रुपये देने के लिए तैयार हो जाता।^{१४} राजकुमार यदि दुर्व्यसनों में फँस जाता तो सर्वगुणसम्पन्न होते हुए भी राजा उसे देशनिकाला दे देता। उज्जैनी का राजपुत्र मूलदेव कला-मर्मज्ञ होते हुए भी जुए के व्यसन से आक्रान्त था अतः राजा ने उसे देशनिकाला दे दिया।^{१५} राजा लोग वेश्याओं को अंतःपुर में रख लेते थे। मथुरा के राजा ने काला नामक वेश्या को अपने अंतःपुर में रखा, जिससे कालवैशिक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।^{१६} गुप्तचर निरपराध मुनियों को भी चोर समझ कर उन्हें दंडित कर देते थे।^{१७} उस समय राज्य की ओर से अठारह प्रकार के कर प्रचलित थे।^{१८} निर्युक्तिकार ने युद्ध के लिए केवल यान, कवच, प्रहरण और युद्ध-कौशल को ही आवश्यक नहीं माना, इसके अतिरिक्त नीति, दक्षता, प्रवृत्ति और शरीर का

१. उसुटी प. ६४।

२. उनि ४२६।

३. उशांटी प. १४७।

४. उसुटी प. ६५।

५. उनि १०८ चू. प. १५१।

६. उनि १४७, १४८।

७. उनि १५२, उशांटी प. १४३।

८. उनि १५१।

९. उनि २४६, उसुटी प. १२४।

१०. उसुटी प. २३।

११. उनि १०१।

१२. उनि ९६।

१३. उनि ७३।

१४. उनि २५०।

१५. उसुटी प. ५९।

१६. उसुटी प. १२०।

१७. उनि १०८, ११७।

१८. उशांटी प. ६०५।

आरोग्य—इन अंगों को भी आवश्यक माना है।^१ चूर्णिकार ने इन अंगों के महत्त्व और उनके परस्पर संबंध पर सुंदर प्रकाश डाला है।^२ व्यूह-रचना के द्वारा युद्ध किया जाता था। राजा चंडप्रद्योत और द्विमुख के बीच युद्ध में चंडप्रद्योत ने गरुड़-व्यूह एवं द्विमुख ने सागर-व्यूह की रचना की थी।^३

आज वैज्ञानिक यह मानते हैं कि शस्त्र का निर्माण सर्वप्रथम मनुष्य के मस्तिष्क में होता है। निर्युक्तिकार ने द्रव्य शस्त्रों की चर्चा करते हुए दुष्प्रयुक्त अंतःकरण तथा मन और दाणी के असंयम को मूल भावशस्त्र के रूप में माना है।^४ भावशस्त्र सक्रिय है तो द्रव्यशस्त्रों का निर्माण होता रहता है। सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में तीन प्रकार के शस्त्रों की चर्चा है—१. विद्याकृत, २. मंत्रकृत, ३. दिव्य। ये तीनों पांच प्रकार के होते हैं—१. पार्थिव २. वारुण ३. आग्नेय ४. वायव्य ५. मिश्र अर्थात् दो या तीन का मिश्रण, जैसे—पार्थिव और वारुण से निष्पन्न शस्त्र।^५ चूर्णिकार के अनुसार जो साधे जाते हैं अथवा जिनका अभ्यास किया जाता है, वे विद्याकृत मंत्र हैं तथा जिनको साधने अथवा अभ्यास करने की अपेक्षा न हो, वे मंत्रकृत शस्त्र कहलाते हैं।^६ स्थविर जिनदास ने भी अपनी चूर्णि में अनेक प्रकार के शस्त्रों की चर्चा की है—१. एक धार वाले—परशु आदि। २. दो धार वाले—बाण आदि। ३. तीन धार वाले—तलवार आदि। ४. चार धार वाले—चतुष्कर्ण आदि। ५. पांच धार वाले—अजानुफल आदि।^७

इतिहास

निर्युक्ति-साहित्य में ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक दोनों प्रकार के तथ्यों का संकलन मिलता है—

- भगवान् ऋषभ से पूर्व मनुष्य जाति एक थी, उसमें जातिकृत भेद नहीं था।^८
- हजार वर्ष तक उग्र तप करने वाले ऋषभ का कुल संकरित प्रमाद-काल एक अहोरात्र तथा बारह वर्ष से अधिक उग्र तप करने वाले महावीर का प्रमाद-काल अन्तर्मुहूर्त का था।^९
- सूत्रकृतांग का दूसरा अध्ययन ऋषभ ने अष्टायुध पर्वत पर अट्टानवे पुत्रों को संबोधित कर प्रतिपादित किया, जिसे सुनकर वे सब प्रव्रजित हो गए।^{१०}
- पुष्कर तीर्थ की उत्पत्ति राजा प्रद्योत और उदयण की कथा से ज्ञात होती है।^{११} वासवदत्ता ने वशीकरण चूर्ण का प्रयोग करके उदयन को आकृष्ट किया था।^{१२}

विज्ञान

वर्तमान में विज्ञान प्रकर्ष पर है पर निर्युक्ति एवं चूर्णि-साहित्य में भी कुछ वैज्ञानिक तथ्य मिलते हैं। आज विज्ञान ने Space (क्षेत्र) और Time (समय) के बारे में काफी चिन्तन किया है। आइंस्टीन ने इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किए हैं लेकिन जैन दर्शन ने जिस सूक्ष्मता से इनके बारे में चिन्तन किया है, वहां तक विज्ञान की पहुंच नहीं हो सकी है। निर्युक्तिकार के अनुसार काल से भी

१. उनि १५५।

२. उचू पृ. ९३।

३. उमुटी पृ. १३६; रदओ गरुडव्यूहो पज्जोएण, सागरव्यूहो दोमुहेण।

४. आनि ३६।

५. सूनि ९८, सूचू १ पृ. १६५।

६. सूचू १ पृ. १६५; विज्जा ससाहगा, मंतो असाहगो।

७. दशजिचू पृ. २२४।

८. आनि १९, विस्तृत वर्णन हेतु देखें इसी ग्रंथ में वर्ण व्यवस्था एवं वर्णान्तर जातियां पृ. ६९-७२।

९. उनि ५१८, ५१९।

१०. सूनि ४१।

११. उनि ९६।

१२. उनि १४८।

अधिक सूक्ष्म होता है क्षेत्र क्योंकि अंगुल श्रेणिमात्र क्षेत्र के प्रदेशों के अपहार में असंख्येय उत्सर्पिणियां और अवसर्पिणियां बीत जाती हैं।^१

उसे समय ऐसे द्रव्यों का संकेत किया जाता था, जिससे दीए की जलती बिना तेल के ही केवल पानी से जलती थी। काश्मीर आदि देशों में काजी के पानी से दीया जलाया जाता था।^२ चक्रवर्ती का गर्भगृह उष्णकाल में उष्ण तथा शीतकाल में शीत रहता था।^३ नालिका आदि के द्वारा समय का सही ज्ञान कर लिया जाता था।^४ जमदग्निजटा, तमालपत्र आदि गंध द्रव्यों को मल्लिका—चमेली पुष्प से वासित कर दिया जाता तो वह गंधद्रव्य करोड़ मूल्य वाला हो जाता था।^५ सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में पद्म का वर्णन आश्चर्य पैदा करने वाला है।^६ विज्ञान के द्वारा यह खोज का विषय है कि ऐसा कमल कहाँ होता है और उसे कैसे पाया जा सकता है? निर्युक्तिकार ने सोने के आठ गुणों का संकेत किया है—

१. विषघाती—विष का नाश करने वाला।
२. रसायण—यौवन बनाए रखने में सनर्थ।
३. मंगलार्थ—मांगलिक कार्य में प्रयुक्त।
४. प्रविनीत—यथेष्ट आधूषणों में परिवर्तित होने वाला।
५. प्रदक्षिणावर्त्त—तपने पर दीप्त होने वाला।
६. गुरु—सार वाला।
७. अदाह्य—अग्नि में नहीं जलने वाला।
८. अकुथनीय—कभी खराब न होने वाला।^७

निर्युक्तिकार ने सोने की कण, छेद, ताप, ताड़ना आदि चार कसौटियों का भी उल्लेख किया है।^८ सोने को चनकाने के लिए सौराष्ट्रिक मिट्टी का प्रयोग किया जाता था।^९ कृत्रिम सोना तैयार किया जाता था। वह शुद्ध सोने जैसा लगता पर कसौटियों पर खरा नहीं उतरता था।^{१०}

स्वास्थ्य-विज्ञान एवं आयुर्वेद

निर्युक्तिकार आयुर्वेद के भी विज्ञाता थे। प्रसंगवश उन्होंने तत्कालीन आयुर्वेद एवं चिकित्सा के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकेत दिया है। रोगी के फोड़े को काटकर उसकी सिलाई की जाती थी। गलयंत्र के द्वारा अपथ्य के प्रति कुत्सा पैदा की जाती थी, जिससे अजीर्ण-दोष की निवृत्ति हो जाती थी।^{११}

जेठ और आषाढ़मास की वायु का शरीर में निरोध होने से व्यक्ति चलने-फिरने में असमर्थ हो जाता था।^{१२} आज की भाषा में इसे लू लगना कहा जा सकता है। सांप, बिच्छू आदि काटने पर मंत्रों का प्रयोग किया जाता था।^{१३} दो रजनी पिंडदार और हल्दी, माहेन्द्र फल, त्रिकटुक के तीन अंग—सूठ,

१. अग्नि ८९।

२. सूचू १ पृ. १६३; कल्मीरदिषु च काञ्जिकेनानि दीपको दीप्यते।

३. सूचू १ पृ. १६३; चक्रवर्त्तस्स गर्भगृहं सीते उष्णं उष्णे सीतं।

४. दशनि ५८।

५. उनि १४६।

६. सूनि १६२-६५।

७. दशनि ३२६।

८. दशनि ३२७।

९. दशजिघृ १ पृ. १७९।

१०. दशहाटी प. २६३।

११. दशनि ३४१।

१२. उनि १३०, १३६।

१३. दशहाटी प. २३६।

पीपल, कालीमिर्च, सरस—आर्द्रक तथा कनकमूल—बेल की जड़—इन सात द्रव्यों को पानी के साथ गोली बनाने से वह गोली खाज, तिरमिरा—आंख का रोग, आधासीसी (अर्ध शिरोरोग), समस्त शिरोरोग, तार्त्तीयक (तीन दिनों से आने वाला ज्वर), चातुर्थिक (चार दिनों से आने वाला ज्वर) आदि रोगों को शान्त करती तथा चूहे, साँप आदि के काटने पर भी काम आती थी। गर्गनी ने दे दिन से आने वाले ज्वर को द्वितीयक, तीन दिन आने वाले ज्वर को तृतीयक और चार दिन से आने वाले ज्वर को चतुर्थक कहा है।^१ उन्होंने ज्वर के कुछ और भेदों का भी उल्लेख किया है। सर्दी देकर बढ़ने वाला ज्वर शीतक तथा गर्मी से आने वाला ज्वर उष्मक कहा जाता था। इसी प्रकार विषणुष्य से उत्पन्न ज्वर विषणुष्यक तथा कंसणुष्य से उत्पन्न ज्वर कासपुष्पक कहलाता था। शरदऋतु के प्रारम्भ में उत्पन्न ज्वर शारदिक कहलाता था।^२ बल, रूप आदि को बढ़ाने के लिए वमन-विरेचन का प्रयोग किया जाता था।^३

बाह्य और आंतरिक तग करने से शरीर में हलकापन आता है तथा बाहु कृश होती हैं।^४ क्षेत्र विशेष के प्रभाव से भी शरीर कृश होता है।^५ खाद्य पदार्थों में तेल और दही का संयोग विरोधी है।^६ तेल, घी आदि पीने से सौन्दर्य-वृद्धि होती थी। रंग-निखार आदि के लिए तैल-मर्दन तथा उद्घातन आदि किया जाता था।^७ ऐसी गोलीयों का निर्माण किया जाता था, जिनका सेवन करने से एक महीने तक भूख की अनुभूति नहीं होती और न ही शक्तिहीनता की प्रतीति होती थी।^८ विष का प्रभाव नष्ट करने हेतु विशेष प्रकार के गंध या लेप तैयार किए जाते थे तथा बुद्धि बढ़ाने की औषधियाँ बनायी जाती थी।^९ इसी प्रकार लेप विशेष के प्रयोग से कांटे भी स्वतः निकल जाते थे।^{१०} सद्यः बनाए हुए घेवर प्राणकारी, हृद्य और कफ का नाश करने वाले होते थे।^{११}

परवर्ती एवं अन्य ग्रंथों पर प्रभाव

निर्गुक्तिग्रंथों आगमों की प्रथम व्याख्या है अतः इसमें वर्णित अनेक विषयों से परवर्ती रचनाकार प्रभावित हुए हैं। निर्जरा की तरतमता बताने वाली गुणश्रेणी-विकास की दश अवस्थाओं का सबसे प्राचीन उल्लेख आचारांगनिर्गुक्ति में मिलता है।^{१२} गोम्मटसार और षट्खंडागम में शब्दशः ये गाथाएं उद्धृत की गयी हैं। मात्र उपशमक के आगे 'कसाय' शब्द का प्रयोग अतिरिक्त मिलता है।^{१३} षट्खंडागम का वेदना खंड और गोम्मटसार का जीवकाण्ड देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये गाथाएं मूलग्रंथ का अंश नहीं अपितु कहीं से उद्धृत या प्रक्षिप्त की गयी हैं। उमास्वाति ने भी ये अवस्थाएं निर्गुक्तिकार से ली हैं, यह कहा जा सकता है।^{१४}

१. उनि १४९, १५०।

२. अष्टाध्यायी ५/२/८१।

३. अष्टाध्यायी ५/२/८१।

४. दशजिह्वु ११५।

५. अचू पृ. २२२।

६. अचू पृ. २२१।

७. अचू पृ. १३०; विद्वरीत असम्म जहा तिल्लदहीणं।

८. सूचू १ पृ. १०।

९. सूचू १ पृ. १६३।

१०. सूचू १ पृ. १६३।

११. सूचू १ पृ. १६३।

१२. सूटी पृ. १११; सद्यः प्राणकरा हृद्य घृतपूर्णः कफागहाः।

१३. आनि २२३, २२४।

१४. षट्. वेदनाखंड, गा. ७, ८, गोजी ६६, ६७।

१५. विस्तार के लिए इसी ग्रंथ में देखें—निर्जरा की तरतमता के स्थान, पृ. ७२-७७।

गुणश्रेणी-विक्रान्तः ३०० गणों के अतिरिक्त आचार्य उमास्वाति ने परीषद् का प्रसंग भी उत्तराध्ययननिर्युक्ति से लिया है क्योंकि दोनों के वर्णन में बहुत संवादित्व है। उमास्वाति ने संवर के अंतर्गत परीषद् का वर्णन किया है अतः वहाँ जितने परीषद् किसमें पाए जाते हैं तथा किस कर्म के उदय से कौन से परीषद् उदय में आते हैं, यह वर्णन अप्रासंगिक सा लगता है लेकिन निर्युक्तिकार ने परीषद् के बारे में लगभग ९ द्वारों से सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत की है अतः वहाँ यह वर्णन प्रासंगिक लगता है।

निर्युक्तिकार ने एक साथ एक जीव में उत्कृष्ट २० परीषद् स्वीकार किए हैं^१ लेकिन तत्त्वार्थ सूत्रकार ने उत्कृष्टतः १९ परीषद् स्वीकार किया है।^२ आचार्य भद्रबाहु ने शीत और उष्ण तथा चर्मा और निषद्या को विरोधी मानकर एक समय में एक व्यक्ति में २० परीषद् स्वीकार किए हैं किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रकार ने शीत और उष्ण में एक तथा चर्मा, निषद्या और जग्या इन तीनों में एक परीषद् को एक समय में स्वीकार किया है अतः एक समय में १९ परीषद् एक जीव में प्राप्त होते हैं।

निर्युक्तिगाथा के संवादी तत्त्वार्थ के सूत्र इस प्रकार हैं—

तत्त्वार्थ

१. सूत्रासम्परायच्छब्दमरुधवीतरागयोश्चतुर्दश (९/१०)
२. एकादश जिने (९/११)
३. बादरसम्पराये सर्वे (९/१२)
४. ज्ञानावरणे प्रज्ञज्ञाने (९/१३)
५. दर्शननेहन्तराययोरदर्शनालाभौ (९/१४)
६. चरित्रमोहे नागन्यारति-स्त्री निषद्याकेश
भाषना-सत्कार-पुरस्काराः (९/१५)
७. वेदनीये शेषाः (९/१६)
८. एकादशे भज्या युगपदैकोनविंशतेः (९/१७)

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

- चउदस य सुहुमरागमि छउमत्थवीयरगे (८०)
- एक्कारस जिणमि (८०)
- बावीस बादरसम्पराये (८०)
- पण्णऽण्ण गपरीसह नागादरणमि हुति (७५)
- गा. ७५. ७८
- अरती अवेत्त इत्थी, निसीहिया जायण य अक्कोसे ।
- सक्कारपुरक्कारे, चरित्तमोहमि सत्तेए ॥७६॥
- एक्कारस वेयणिज्जमि (गा. ७९)
- ग. ८३

निर्युक्ति में प्रयुक्त निक्षेप-पद्धति का अनुसरण भी परवर्ती आचार्यों ने कुछ समय तक किया लेकिन बाद के आचार्यों ने इसे इतना उपयोगी नहीं माना, जैसे—आचारांगनिर्युक्ति में कषाय के आठ निक्षेप किए गए हैं।^३ वे ही आठ निक्षेप कषाय पाहुड़ में भी मिलते हैं।^४ केवल उत्पत्ति कषाय के स्थान पर समुत्पत्ति कषाय का नाम मिलता है। कषायपाहुड़ के कर्त्ता ने ये निक्षेप आचारांगनिर्युक्ति से उद्धृत किए हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। गंच आचार, भाषा के भेद तथा विनय से संबंधित गाथाएं मूलाचार, भगवती आराधना, निशीथभाष्य आदि अनेक ग्रंथों में संक्रांत हुई हैं।

ठाणं संकलन प्रधान अंग आगम है अतः बहुत संभव है कि निर्युक्ति-साहित्य के अनेक विषय कलान्तर से उसमें प्रक्षिप्त हुए हैं। हमारे अभिमत के अनुसार अथा और हेतु के भेद-प्रभेद दशवैकालिक

१. उनि ८३।

२. त. ९/१७; एकादशे भज्या युगपदैकोनविंशतेः ।

३. त. १९३।

४. कपा. भाग १ पृ. २५७; कषाओ तव गिक्खिविक्खो णानकसाओ द्ववणकसाओ द्वक्कसाओ पच्चक्कसाओ समुत्पत्तिक्कसाओ आदेक्कसाओ रक्कसाओ भावक्कसाओ ।

निर्युक्ति से ठाण में संक्रांत हुए हैं।^१ 'जातक' में भी निर्युक्ति की कुछ गाथाएं संक्रांत हुई हैं। उदाहरणार्थ उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गा. २५७) की संवादी गाथा द्रष्टव्य है—

करकण्डु नाम कलिङ्गानं, गन्धारानञ्च नगजी ।

निमिराजा विदेहानं, पञ्चालानञ्च दुमुखो॥^२

निर्युक्तिकार अपने समकालिक एवं पूर्ववर्ती आचार्यों की रचना से भी प्रभावित हुए हैं। निर्युक्ति में वर्णित वर्णान्तर जातियों का उल्लेख वैदिक धर्म ग्रंथों से लिया गया प्रतीत होता है। महाभारत, गौतमसूत्र एवं मनुस्मृति आदि ग्रंथों में इनका पूरा वर्णन मिलता है। दशवैकालिकनिर्युक्ति में वर्णित असंप्राप्त और संप्राप्त काम के भेद एवं वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित काम के अंगों में अद्भुत साम्य है। दशवैकालिकनिर्युक्ति में काव्य संबंधी वर्णन किसी काव्यशास्त्र के ग्रंथ से लिया गया है। निर्युक्तिकार स्वयं भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'एव विहिण्णू कवी वेत्ति' अर्थात् विचक्षण कवियों ने ऐसा कहा है।^३

आगम-संपादन का इतिहास

महाराष्ट्र के मंजर गांव में पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी 'धर्मदूत' पत्र का अवलोकन कर रहे थे। उसमें बौद्ध ग्रंथों के संपादन एवं प्रकाशन की योजना थी। इस सूचना ने गुरुदेव के मन में टीस पैदा कर दी। उनके मन ने विकल्प उठा कि जब बौद्ध आगमों का आधुनिक दृष्टि से संपादन हो सकता है तो फिर जैन आगमों का संपादन क्यों नहीं हो सकता? गुरुदेव के मन में एक संकल्प जागा कि आगमों की विशाल श्रुतराशि भी अच्छे ढंग से संपादित होकर जनता के समक्ष आनी चाहिए। गुरुदेव ने अपने मन की वेदना मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) आदि संतों के सम्मुख प्रस्तुत की। संतों ने गुरुदेव की कल्पना एवं वेदना को समझा और एक स्वर में कहा कि हम आपकी इस भावना को पूरा करेंगे। तप-अनुष्ठान से उज्जैन चातुर्मास में जो आगम-कार्य प्रारंभ हुआ, वह आज तक अनवरत गति से चल रहा है।

आगम-कार्य प्रारंभ करने से पूर्व आचार्य तुलसी ने तीन बातों की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया—१. वर्तमान परिस्थितियों का संदर्भ २. युगानुरूप साहित्यिक सौन्दर्य ३. आकर्षक शैली। इसके साथ-साथ तटस्थता, प्रामाणिकता, समीक्षात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अध्ययन और समन्वय-नीति—इन पांच मापदंडों को भी संपादन का आधार बनाने की प्रेरणा दी।

आचार्य तुलसी की आगम-संपादन कार्य के प्रति कितनी तड़प थी, इसे इस घटना से जाना जा सकता है। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी गुजरात प्रवास पर थे। वैशाख महीने की चिलचिलाती धूप में १२ मील का विहार कर गुरुदेव लगभग सवा दश बजे सांतलपुर पहुंचे। स्थान पर पहुंचते ही गुरुदेव ने कायोत्सर्ग किया। संतों ने सोचा आज संभवतः आगम-संशोधन का कार्य स्थगित रहेगा पर दोपहर में नियत समय होते ही आचार्य श्री ने संतों को याद किया और पाठ-संशोधन का कार्य प्रारंभ कर दिया। गुरुदेव ने अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए कहा—“विहार चाहे कितना ही लम्बा क्यों न हो, आगम-

१ (क) कथा का वर्णन देखें दशनि गा. १६२-७९, ठाणं ४/२४६-५०।

(ख) हेतु का वर्णन देखें दशनि गा. ४९-८५, ठाणं ४/४९९-५०४।

२. जातक ४०८/५

३. दशनि १४८।

कार्य में कोई अवरोध नहीं जाना चाहिए। आगे-आगे करते-करते समय मेरा मानसिक तोष इतना बढ़ जाता है कि समस्त शारीरिक क्लान्ति मिट जाती है। आगम-व्याख्य हमारे लिए वरदान सिद्ध हुआ है। यदि हम इसके लिए कुछ भी धन करते हैं तो यह हमारे लिए अत्यंत सौभाग्य की बात है। इससे बढ़कर दूसरा और कौन-सा पुण्य-कार्य होगा।'

आचार्य तुलसी के इस फौलादी संकल्प, आचार्य महाप्रज्ञ के संपादन-कौशल एवं अन्य संतों की कार्पनिष्ठा से बत्तीसी का मूल पाठ प्रकाशित होकर विद्वानों के समक्ष पहुंच गया है। इसके अतिरिक्त अनेक आगमों का हिन्दी अनुवाद, भाष्य एवं टिप्पण का कार्य भी सम्पन्न हो चुका है।

निर्युक्ति-संपादन का इतिहास

एकार्थक कोश का कार्य सम्पन्न हो चुका था। सन् १९८४ का चातुर्मासिक प्रवास जोधपुर था। उससे पूर्व गुरुदेव तुलसी एवं युवाचार्य श्री (आचार्य महाप्रज्ञ) का विराजना जैन विश्व भारती, लाडनू में हुआ। अग्रिम कार्य की योजना में युवाचार्य प्रवर ने फरमाया—“निर्युक्तियों पर अभी तक कोई काम नहीं हुआ है अतः अब इस कार्य को हाथ में लेना चाहिए।” निर्युक्तियों के संपादन का कार्य मुझे सौंपा गया। हस्तप्रतियों से पाठ-संपादन के कार्य का अनुभव नहीं था अतः मन में सोचा कि यह कार्य तो बहुत सरल है क्योंकि प्रकाशित प्रतियों से शुद्ध पाठ उधारना है तथा कुछ परिशिष्ट तैयार करने हैं अतः दो तीन महीनों में यह कार्य सम्पन्न हो जाएगा।

जोधपुर चातुर्मासिक प्रवास के दौरान चूर्णि और टीका में प्रकाशित सारी निर्युक्तियों के क्रमांक आदि शुद्ध करके प्रतिलिपि कर आचार्य प्रवर एवं युवाचार्य श्री को फाइलें निवेदित कीं। फाइलें देखने के बाद आचार्य तुलसी ने फरमाया—अहमदाबाद में आवश्यक निर्युक्ति पर कार्य हो रहा है, उसे देखने पर कार्य को एक दिशा मिल सकती है। गुरुदेव तुलसी का संकेत पाकर मैं और समर्पण सरलप्रज्ञाजी अहमदाबाद पहुंचे। वहां लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर में लगभग चार महीने तक काम करने का मौका मिला। पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने जब निर्युक्तियों की फाइलें देखीं तो सुझाव देते हुए कहा—‘आगमों की प्रथम व्याख्या निर्युक्ति है अतः यह बहुत महत्वपूर्ण साहित्य है। इसका हस्त-आदर्शों के माध्यम से पाठ-संपादन होना चाहिए।’ उनकी प्रेरणा से वहीं पर हस्त-आदर्शों से पाठ-संपादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर की लाइब्रेरी में हम लोग प्रातः आठ बजे से सांय ५ बजे तक कार्य करते। अहमदाबाद का चार महीने का प्रवास अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा। लाडनू आने के बाद मुनि श्री दुलहराजजी के निर्देशन में निर्युक्तियों की गाथा-संख्या के बारे में पुनः एक बार पर्यालोचन किया गया। कितनी भाष्य-गाथाएं निर्युक्ति गाथा में तथा निर्युक्ति गाथाएं भाष्य-गाथाओं में मिल गयीं, इस संदर्भ में अनेक गाथाओं के बारे में पाद-टिप्पण लिखे तथा कितनी गाथाएं बाद में प्रक्षिप्त हुई इस बारे में भी विमर्श प्रस्तुत किया। ऐसी गाथाओं को मूल क्रमांक से अलग रखा। इस क्रम में टीका और चूर्णि में प्रकाशित निर्युक्तियों एवं हमारे द्वारा संपादित निर्युक्तियों की गाथा-संख्या में काफी अंतर आ गया।

यद्यपि उन पांच निर्युक्तियों के संपादन का कार्य सन् १९८५ में सम्पन्न हो गया था लेकिन बीच में देशी शब्द कोश, व्यवहारभाष्य आदि ग्रंथों के कार्य में संलग्न होने तथा पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के हित्य से संबंधित कुछ ग्रंथों के संपादन एवं प्रकाशन में समय लगने से निर्युक्तिपंचक के प्रकाशन

में विलम्ब हो गया। विलम्ब होना भी 'देर आए दुरुस्त आए' उक्ति को चरितार्थ करने वाला रहा। उस समय निर्युक्तियों का अनुवाद होना संभव नहीं था। बाद में मुनि श्री दुलहराजजी स्वामी की मानसिकता बनी और उन्होंने बहुत कम समय में पाँचों निर्युक्तियों का अनुवाद कर दिया।

हस्तप्रतिधों से पाठ-संपादन का कार्य अत्यंत दुरूह और जटिल है। बिना धैर्य और एकाग्रता के व्यक्ति इस कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी पाठ-संपादन के कार्य को अत्यंत महत्त्व देते थे। जब-जब इस कार्य के प्रति मेरे मन में असुविधा या निराशा जागती, मेरे हाथ श्लथ होते, तब-तब गुरुदेव प्रेरणा-प्रोत्साहन देकर नए प्राणों का संचार कर देते। अनेकों बार उनके मुखरविंद से यह सुनने को मिला - "देखो! आगम का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इससे नया इतिहास बनेगा और धर्मसंघ की अपूर्व सेवा होगी।" पूज्य गुरुदेव पाठ-संपादन को कितना महत्त्वपूर्ण मानते थे, यह निम्न घटना से स्पष्ट हो जाता है—

एक बार आचार्य तुलसी के समक्ष आचारांग का वाचन चल रहा था। मुनि श्री नथमल जी (आचार्य महाप्रज्ञ) आचारांग के गूढ़तम रहस्यों को खोल रहे थे। अनेक विद्वानों आधु-साध्वियों दत्तचित्त होकर व्याख्या सुन रही थीं। प्रसंगवश मुनि श्री दुलहराजजी ने आचार्य प्रवर को निवेदन किया— 'पाठ-संपादन जैसे कार्य में मुनि श्री नथमलजी का इतना समय लगना कुछ अटपटा सा लगता है। इस कारण मुनि श्री को मौलिक सृजन के लिए अवकाश नहीं मिलता। ऐसी प्रतिभाएं यदा-कदा ही आती हैं अतः इनका समुचित लाभ उठाना चाहिए, जिससे संघ को अधिक लाभ मिल सके।' गुरुदेव तुलसी ने मुनि श्री के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा— "तुम पाठ-संशोधन को मौलिक कार्य नहीं मानते, यह तुम्हारी भूल है। मैं मानता हूँ कि शोधकार्य का सबसे प्रमुख अंग है—मूल पाठ का निर्धारण। यह कार्य हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता। दूसरी बात पाठ-संशोधन के क्रिया-काल में ये कितने लाभान्वित हुए हैं, यह बात इनके मुख से ही सुनो।" मुनि नथमलजी ने अपना मतव्य प्रस्तुत करते हुए कहा— "पाठ-निर्धारण में पौर्वापर्य का अनुसंधान अत्यंत अपेक्षित होता है और यह तभी संभव है जब एक-एक शब्द पर चिंतन केन्द्रित कर उसके हार्द को समझा जाए। इस प्रक्रिया से विचारों की स्पष्टता, चिंतन की गूढ़ता और अर्थ-संग्रहण की प्रौढ़ता बढ़ती है। मैं इसे मौलिक अध्ययन मानता हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इसके परिपार्श्व में जो कुछ लिखा जाएगा, वह मौलिक ही होगा।"

आचार्य तुलसी ने अपने जीवन में नारी-विकास के अनेक स्वप्न देखे और वे फलित भी हुए। एक स्वप्न की चर्चा करते हुए बीदासर में (१२/२/६७) गुरुदेव ने कहा— "मैं तो उस दिन का स्वप्न देखता हूँ, जब साध्वियों द्वारा लिखी गई टीकाएं या भाष्य विद्वानों के सामने आएंगी। जिस दिन वे इस रूप में सामने आएंगी, मैं अपने कार्य का एक अंग पूर्ण समझूंगा।" पूज्य गुरुदेव तुलसी का यह स्वप्न पूर्ण रूप से सार्थक नहीं हुआ है, पर आचार्य महाप्रज्ञ के निर्देशन में इस दिशा में प्रयास जारी है। वर्तमान में अनेक साध्वियां आगम-संपादन एवं साहित्य-सृजन के कार्य में संलग्न हैं। भगवती जोड़ जैसे बृहत्कार्य ग्रंथ रत्न का संपादन भी महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा जी द्वारा सात खंडों में संपादित होकर प्रकाशित हो चुका है।

पाठ-संपादन

आधुनिक विद्वानों ने पाठानुसंधान के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला है। पाश्चात्य विद्वान् इस कार्य को चार भागों में विभक्त करते हैं—१. सामग्री संकलन २. पाठ-चयन ३. पाठ-सुधार ४. उच्चतर आलोचना। प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन में हमने चारों बातों का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है। पाठ-संशोधन के लिए मुख्य दो आधार हमारे सामने रहे—

१. निर्युक्ति की हस्तलिखित प्रतियां।

२. निर्युक्तियों पर लिखा गया व्याख्या-साहित्य (चूर्णि, टीका आदि)

व्याख्याग्रंथ होने के कारण निर्युक्तियों की ताड़पत्रीय प्रतियां कम मिलती हैं। पाठ-संपादन में हमने चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में कागज पर लिखी प्रतियों का ही उपयोग किया है। पाठ-संशोधन में प्रतियों के पाठ को प्रमुखता दी गयी है किन्तु किसी एक प्रति को ही पाठ-चयन का आधार नहीं बनाया है और न ही बहुमत के आधार पर पाठ का निर्णय किया है। अर्थमीमांसा, टीका की व्याख्या एवं पैर्वापरव के आधार पर जो पाठ संगत लगा, उसे मूलपाठ के अन्तर्गत रखा है। पाठ-संपादन की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि लिपिदोषों के कारण जितने आदर्श उतने ही पाठ-भेद मिलते हैं। वैसी स्थिति में सही पाठ-निर्धारण करना कठिन हो जाता है। पांडुलिपि के लिपिदोष में अनवधानता आदि तो कारण बने ही किन्तु मुख्य कारण यह रहा कि प्रतिलिपि करने वाले लगभग लिपिक थे। वे आगमों में प्रतिपाद्य विषयों को नहीं जानते थे। अनभिज्ञता के कारण उनकी लिपि में अनेक त्रुटियां समाविष्ट हो गयीं। कहीं-कहीं विद्वान लिपिकों ने अपने पांडित्य को जोड़ना चाहा, इसलिए भी पाठ-भेद की वृद्धि हो गयी।

पाठ-निर्धारण में चूर्णि और टीका का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अनेक पाठ हस्तप्रतियों में स्पष्ट नहीं थे लेकिन चूर्णि एवं टीका की व्याख्या से स्पष्ट हो गए। कहीं-कहीं सभी प्रतियों में समान पाठ होने पर भी पूर्वापर के आधार पर चूर्णि एवं टीका के पाठ को मूलपाठ में रखा है तथा प्रतियों के पाठ को पाठान्तर में दिया है।

कहीं-कहीं अन्य व्याख्या ग्रंथों में मिलने वाली गाथाओं से भी पाठ-निर्धारण किया है, जैसे—उत्तराध्ययननिर्युक्ति की अनेक गाथाएं आवश्यकनिर्युक्ति में तथा दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति की गाथाएं निशीथ भाष्य में मिलती हैं।

आचारांग आदि की चूर्णि में मूलपाठ के पाठ-भेद हेतु वाचना-भेद का उल्लेख मिलता है; जैसे—‘नागार्जुनीयास्तु एवं पठंति’ आदि। निर्युक्ति गाथाओं के पाठ-भेद हेतु वाचना-भेद का उल्लेख नहीं मिलता केवल ‘पाठान्तरस्तु’, ‘पाठान्तरे तु’ ऐसा उल्लेख मिलता है। संभव है कि माधुरी एवं वलभीवाचना तक निर्युक्ति के पाठों में पाठान्तरों का समावेश नहीं हुआ था।

पांचों निर्युक्तियों में अनेक समान गाथाएं पुनरुक्त हुई हैं। उनमें जहां जैसा पाठ मिला, उसको वैसा ही रखा है। प्रामाणिकता की दृष्टि से अपनी ओर से पाठ को संवादी या समान बनाने का प्रयत्न नहीं किया है। केवल नीचे टिप्पण में संवादी संदर्भस्थल दे दिए हैं।

प्राचीनता की दृष्टि से जहां कहीं हमें मूल व्यंजनयुक्त पाठ मिला, उसे मूलपाठ के रूप में स्वीकार किया है। लेकिन पाठ न मिलने पर यकार श्रुति के पाठ भी स्वीकृत किए हैं। इसलिए एक ही शब्द

के भिन्न-भिन्न पाठ भी मिलते हैं, जैसे—गजपुर-गयपुर, तित्थगर-तित्थयर आदि।

हमने प्रायः व्यंजनों के पाठान्तर नहीं लिए हैं, जैसे—

ध > ह — तध > तह, सोधी > सोही।

भ > ह — पभू > पहू, विभू > विहू।

क > ग — एक > एग।

त > य — तात > ताय, जात > जाय।

मात्रा संबंधी पाठान्तरों का भी कम उल्लेख किया है—

कहइ > कहई, देति > दिति, तेणोत्ति > तेणुत्ति आदि।

हस्तप्रतियों में अनेक गाथाओं के आगे 'दारं' का उल्लेख है पर उन सबको द्वारगाथा नहीं माना जा सकता। फिर भी यदि एक भी प्रति में 'दारं' का उल्लेख है तो उस गाथा के आगे हमने 'दारं' का संकेत कर दिया है।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में जहाँ निक्षेपपरक संवादी गाथाएं हैं, वहाँ लिपिकार ने गाथा पूरी न लिखकर केवल गाथा के संकेत मात्र कर दिया है यह हमने उन गाथाओं की पूर्ति कर दी है। ऐसा संभव लगता है कि समान पाठ होने के कारण लिपिकार ने अपनी सुविधा के लिए उसका संकेत मात्र कर दिया। फिर भी आगम-साहित्य की भांति निर्युक्तियों में न जाव, वण्णग या जहा का प्रयोग हुआ और न ही अधिक संक्षेपीकरण हुआ।

गाथा-निर्धारण में हमने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि जो भी गाथाएं निर्युक्ति की भाषा-शैली से प्रतिकूल या विषय से असंबद्ध लगीं, उन्हें मूल क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा है। ऐसी गाथाओं के बारे में हमने नीचे आलोचनात्मक टिप्पणी लिख दी है कि किस कारण से गाथा निर्युक्ति की न होकर बाद में प्रक्षिप्त हुई अथवा भाष्य-गाथा के साथ जुड़ गयी है।

शोधविद्यार्थियों के लिए प्रत्येक शब्द की सूची का महत्त्व है पर निर्युक्तिपंचक में हमने केवल महत्त्वपूर्ण एवं पारिभाषिक शब्दों का ही अनुक्रम परिशिष्ट सं. १२ में दिया है। सभी शब्दों की सूची देने से पुस्तक का कलेवर बढ़ जाता तथा अनेक विशेषण, क्रियाविशेषण, निपात एवं धातुओं की पुनरुक्ति भी होती। अन्य अनुदित आगमों की भांति निर्युक्तिपंचक में हर पारिभाषिक शब्द पर टिप्पणी प्रस्तुत नहीं की है। कहीं-कहीं विमर्शनीय शब्द पर पादटिप्पण में ही संक्षिप्त टिप्पणी दे दी है।

निर्युक्तिपंचक में जो गाथाएं आपस में संवादी थीं, उनको हमने तुलनात्मक परिशिष्ट में समाविष्ट नहीं किया है क्योंकि उनको तो पदानुक्रम के द्वारा भी जाना जा सकता है।

ग्रंथ के अंत में पन्द्रह परिशिष्ट दिए गए हैं। यद्यपि सभी परिशिष्ट महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन पहला, दूसरा, छठा, सातवां, ग्यारहवां, बारहवां एवं चौदहवां—ये सात परिशिष्ट विशेष महत्त्व के हैं। इन पांच निर्युक्तियों में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन पर लघु भाष्य मिलते हैं। दशवैकालिक की प्रकाशित टीका और हमारे द्वारा संपादित भाष्य-गाथा की संख्या में काफी अंतर है। अतः प्रथम परिशिष्ट में विद्वानों की सुविधा के लिए भाष्य गाथाओं का समीकरण प्रस्तुत कर दिया है, जिससे वे सुविधापूर्वक टीका में भाष्य-गाथाएं खोज सकें। छठा और सातवां परिशिष्ट आकार में बृहद् होने पर भी महत्त्वपूर्ण हैं। छठे परिशिष्ट में निर्युक्तिपंचक गत सभी कथाओं का हिंदी अनुवाद दे दिया है, जिससे कथा के क्षेत्र

में काम करने वालों के लिए सुविधा हो सकेगी। सन्तवे परिशिष्ट में महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं का सार्थ संकलन है।

प्रत्येक निर्युक्ति के प्रारम्भ में गाथाओं का हिंदी में विषयानुक्रम दिया गया है। तत्पश्चात् चूर्णि, टीका एवं हमारे द्वारा संपादित गाथाओं के समीकरण का चार्ट प्रस्तुत कर दिया है, जिससे सुगमता से चूर्णि या टीका में गाथा को खोजा जा सके।

निर्युक्तियों का अनुवाद

एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद करना एक बहुत दुरूह और जटिल कार्य है। इसे विज्ञान की भाषा में स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा कहा जाता है। जिस भाषा में अनुवाद किया जाता है, वह लक्ष्य भाषा तथा जिस भाषा की सामग्री अनुदित होती है, वह स्रोतभाषा कहलाती है। अनुवादक का स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा—इन दोनों पर पूरा अधिकार होना आवश्यक है। आधुनिक विद्वानों ने अनुवाद के चार भेद किए हैं^१

१. शाब्दिक अनुवाद

३. भावानुवाद

२. शब्द-प्रतिशब्द अनुवाद

४. छायानुवाद

निर्युक्तिपंचक में किए गए अनुवाद में शाब्दिक अनुवाद के साथ भावानुवाद और छायानुवाद भी किया गया है। दशश्रुतस्कंध की 'पञ्जोसवणा' कण्ठ की निर्युक्ति का शब्दानुवाद करना अत्यंत कठिन था; वहां भावानुवाद से ही उद्देश्य का उद्घाटन हुआ है। कुछ जटिल गाथाओं को छोड़कर प्रायः गाथाओं का अनुवाद पढ़ते समय पाठक को यही प्रतीत होगा कि मानो वे मूलरचना ही पढ़ रहे हों अतः अनुवाद को जटिल न बनाकर सहज, सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। अनुवाद के संदर्भ में मुनि श्री दुलहराजजी ने पंडित बेचरदासजी की इस टिप्पणी को ध्यान में रखा है—“मूल का अर्थ स्पष्ट करते समय मौलिक समय के वातावरण का ख्याल न रखकर यदि परिस्थिति का ही अनुसरण किया जाए तो वह मूल की टीका या अनुवाद नहीं, किन्तु मूल का मूसल जैसा हो जाता है।”^२

निर्युक्तियों का अनुवाद अभी तक कहीं से भी प्रकाशित नहीं हुआ है अतः निर्युक्तियों के प्रकाशन के समय चिंतन चला कि प्रकृत भाषा न जानने वाले अनुसंधित्सु एवं जन-सामान्य की सुविधा हेतु पाठ-संपादन के साथ अनुवाद भी दे दिया जाए। जिन गाथाओं को हमने मूल क्रमांक में नहीं जोड़ा, उन गाथाओं का भी पाठकों की सुविधा के लिए अनुवाद दे दिया है।

निर्युक्तिकार तो कथा का संकेत मात्र करते हैं अतः निर्युक्तिकार द्वारा निर्दिष्ट अधिकांश कथाओं का अनुवाद चूर्णि या टीका के आधार पर किया है। उत्तराध्ययन की चूर्णि संक्षिप्त है अतः उत्तराध्ययननिर्युक्ति की कथाओं का अनुवाद नेमिचन्द्र की टीका सुखबोधा के आधार पर किया है। चित्रसंभूत के अंतर्गत ब्रह्मदत्त की कथा में निर्युक्तिगाथा तथा सुखबोधा की टीका में अंतर मिलता है। निर्युक्ति-गाथा में जो नाम या घटना प्रसंग हैं, वे सुखबोधा के संवादी नहीं हैं। दशश्रुतस्कंधनिर्युक्ति की सभी कथाओं का विस्तार उसकी चूर्णि में नहीं मिलता अतः उसकी कुछ कथाओं का अनुवाद निशीथचूर्णि के आधार पर किया गया है।

प्रयुक्त प्रति-परिचय

निर्युक्ति की प्रायः हस्तप्रतियां स्पष्ट एवं साफ-सुथरी मिलीं। आचारांग एवं सूत्रकृतांग की निर्युक्तियां दीमक लगने से कहीं-कहीं स्पष्ट नहीं थीं। कुछ प्रतियों के पन्नों में पानी या सीलन लगने से भी अक्षर अस्पष्ट हो गए थे। सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की एक प्रति से अनेक प्रतियों की लिपि की गयी है फिर भी उनमें आपस में काफी अंतर है। यहाँ संपादन में प्रयुक्त हस्तप्रतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

दशवैकालिक निर्युक्ति

(अ) यह तेरापंथ धर्मसंघ के हस्तलिखित भंडार से प्राप्त है। यह २८ सेमी. लम्बी तथा ११ सेमी. चौड़ी है। इसमें कुल ९ पत्र हैं। अन्तिम पत्र खाली है। इसमें ४४४ ग्रंथाग्र है। यह भाष्य मिश्रित निर्युक्ति की प्रति है। इसके अंत में "श्री दशवैकालिकनिर्युक्तिः संवत् १४९५ वर्षे भाद्र सुदी १४ श्री पत्तनमहानगरेऽलेखि॥" का उल्लेख है। पत्र में अक्षर स्पष्ट हैं।

(ब) यह लालभाई दत्तपतभाई विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। यह २५.५ सेमी. लम्बी तथा ११.५ सेमी. चौड़ी है। इसकी क्रमांक सं. १६२५६ है। इसमें कुल १२५ पत्र हैं, जिसमें १२०-२५ तक पांच पत्रों में दशवैकालिक निर्युक्ति लिखी हुई है। पानी से भीगी तथा अक्षर महीन होने से इसके पाठन में असुविधा होती है। इसमें अंत में ग्रंथाग्र ४४४ बतलाया है। यह भी भाष्य मिश्रित निर्युक्ति की प्रति है। इसमें लिपिकर्ता और लेखन-समय का कोई निर्देश नहीं है। अनुमानतः इसका लेखन-समय विजय की पन्द्रहवीं शताब्दी होना चाहिए।

(ग) यह राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १९२० है। यह ३१ सेमी. लम्बी तथा १२.५ सेमी. चौड़ी है। इस प्रति के प्रारम्भिक ३८ पत्रों में दशवैकालिक की टीका है। निर्युक्ति ३९ वें पत्र से प्रारम्भ होकर ४७ वें पत्र पर समाप्त होती है। प्रति बहुत स्वच्छ एवं साफ-सुथरी लिखी हुई है। इसके अंत में "दशवैकालिकनिज्जुत्ती सम्मत्ता गाथा ४४८ श्लोक संख्या ५५८ शुभं भवतु" लिखा हुआ है। यह करीब पन्द्रहवीं शताब्दी की प्रति होनी चाहिए।

(अचू) अगस्त्यसिंह कृत चूर्णि, जो प्राकृत ग्रंथ परिषद्, अहमदाबाद से प्रकाशित है। इसके संपादक मुनि पुण्यविजयजी हैं। इसमें प्रकाशित निर्युक्ति-गाथा के पाठान्तर 'अचू' से निर्दिष्ट है।

(जिचू) ल्यविर जिनदासकृत चूर्णि, जिसमें निर्युक्ति-गाथा पूरी नहीं अपितु संकेत रूप से दी हुई है। यह ऋषभदेव केसरीलाल श्वे. संस्था, रतलाम से प्रकाशित है। इसके पाठान्तर जिचू से निर्दिष्ट है।

(अचूपा.) अगस्त्यसिंह कृत चूर्णि के अंतर्गत पाठान्तर।

(जिचूपा) जिनदासकृत चूर्णि के अंतर्गत उल्लिखित पाठान्तर।

(हाटी) दशवैकालिक की आचार्य हरिभद्रकृत टीका में स्वीकृत निर्युक्ति-गाथा के पाठ। यह देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार से प्रकाशित है।

(हाटीपा) हरिभद्राय टीका के अंतर्गत संकेतित पाठान्तर।

(भा) हरिभद्राय टीका में प्रकाशित भाष्य गाथा के पाठान्तर।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

(अ) यह लाइनू जैन विश्व भारती के हस्तलिखित भंडार से प्राप्त है। इसमें आचारांग और उत्तराध्ययन—ये दो निर्युक्तियाँ हैं। प्रारम्भ के ६ पत्रों में आचारांगनिर्युक्ति है। बीच के दो पत्र लुप्त हैं अतः उत्तराध्ययननिर्युक्ति २८९ गाथा से प्रारम्भ होती है। इसके अंत में "उत्तराध्ययननिर्युक्तिः संपूर्णा ग्रंथाग्र ६०७॥ इत्येवमुत्तराध्ययनस्येमा ज्ञानमुक्ता निर्युक्तिः" का उल्लेख है। पन्द्रहवें पत्र में यह निर्युक्ति सम्पन्न हो जाती है। अन्तिम पत्र में पीछे केवल दो लाइनें हैं, बाकी पूरा पत्र खाली है।

(ला) यह लालभाई दलपतभाई विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसके अक्षर सुन्दर और स्पष्ट हैं। कुल १६ पत्रों में यह निर्युक्ति सम्पन्न हो जाती है। अंत में "३६ उत्तरज्ज्ञयणाणं निज्जुत्ति सम्मत्ताओ। ग्रंथाग्र ॥७०८॥ श्री॥" का उल्लेख है।

(ह.) मुनि पुण्यविजयजी द्वारा प्रकाशित शान्त्याचार्य की टीका में लिए गए पाठान्तर। यह पेन्सिल से संशोधित टीका लालभाई दलपतभाई विद्यामन्दिर पुस्तकालय में है। ह और ला प्रति में बहुत समानता है। संभव है मुनि पुण्यविजयजी द्वारा ला प्रति से ही पाठान्तर लिए गए हों। मुनिश्री ने आधी गाथाओं के ही पाठान्तरों का संकेत किया है, पूरी निर्युक्ति का नहीं।

(शां) उत्तराध्ययन की शान्त्याचार्य कृत टीका में प्रकाशित निर्युक्ति-गाथा के पाठान्तर।

(शांटीपा) शान्त्याचार्य टीका के अंतर्गत उल्लिखित पाठान्तर।

(चू.) जिनदासकृत प्रकाशित चूर्ण के पाठान्तर।

आचारांग निर्युक्ति

(अ) यह लालभाई दलपतभाई विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक सं ८८ है। यह ३२.५ सेमी. लम्बी तथा १२.५ सेमी. चौड़ी है। इसमें कुल आठ पत्र हैं। इसके अंत में "आचारनिज्जुत्ती सम्मत्ता" ऐसा उल्लेख मिलता है। इसमें लिपिकर्ता और लेखन-समय का उल्लेख नहीं मिलता। यह बहुत जीर्ण प्रति है। दीमक लगने के कारण अनेक स्थलों पर अक्षर स्पष्ट नहीं हैं। यह तकार प्रधान प्रति है। हासिये में बायी ओर आचा. निर्युक्ति का उल्लेख है। पत्र के बीच में तथा दोनों ओर हासिये में रंगीन चित्र हैं। अनुमानतः इसका लेखन-समय चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी होना चाहिए।

(ब) यह लाइनू जैन विश्व भारती भंडार से प्राप्त है। यह २५.८ सेमी. लम्बी तथा १०.५ सेमी. चौड़ी है। इसमें आचारांग तथा उत्तराध्ययन दोनों की निर्युक्तियाँ लिखी हुई हैं। इस प्रति का सातवां और आठवां पत्र लुप्त है अतः कुछ आचारांग की तथा कुछ उत्तराध्ययन की गाथाएं नहीं हैं। दोनों ओर हासिए में कुछ भी लिखा हुआ नहीं है। इसमें कुल १५ पत्र हैं। यह ज्यादा पुरानी नहीं है। अनुमानतः इसका लेखन-समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी होना चाहिए।

(म) यह प्रति भी लालभाई दलपतभाई विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १९५४८ है। इसमें ३६७ ग्रंथाग्र है। यह २५.५ सेमी. लम्बी तथा १०.५ सेमी. चौड़ी है। अंत में "आचारांगनिज्जुत्ती सम्मत्ता" मात्र इतना ही उल्लेख है। इसमें ७२ से ८४ पत्र तक आचारांगनिर्युक्ति है। प्रारम्भ में मूलपाठ लिखा है। इसके चारों ओर हासिए में संक्षिप्त अवचूरि लिखी हुई है। पत्र के बीच में चित्रांकन है तथा अंतिम पत्र पर विषयसूची दी हुई है।

(क) यह भी लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर से प्राप्त है। यह ३२ सेमी. लम्बी तथा ११ सेमी. चौड़ी है। इसकी क्रमांक संख्या १८७७२ है। इसमें कुल ५५ पत्र हैं। आचारांगनिर्युक्ति ४६ वें पत्र से प्रारम्भ होकर ५५ के प्रथम पत्र में समाप्त हो जाती है। अंत में ३६९ ग्रंथाग्र दिया है। हासिए के बायीं ओर आचानि-लिखा हुआ है। पाठ-संपादन के बाद मिलने के कारण क और ख प्रति से केवल महापरिज्ञा अध्ययन की निर्युक्ति-गाथा के पाठान्तर ही लिए हैं। अनुमानतः इसका समय पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी होना चाहिए।

(ख) यह लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक सं. १९५१ है। इस प्रति में अक्षर बहुत साफ और आधुनिक लिपि के हैं। इसके अंत में ग्रंथाग्र ३६९ दिया है। यह २५.६ सेमी. लम्बी तथा १०.५ सेमी. चौड़ी है। इसके प्रारम्भिक ८ पत्रों में आचारांगनिर्युक्ति लिखी हुई है। अनुमानतः इसका समय सोलहवीं-सतरहवीं शताब्दी होना चाहिए।

(चू.) ऋषभदेव केशरीमल श्वे संस्था रतलाम से प्रकाशित जिनदास चूर्णि के पाठान्तर।

(टी) मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन से आचार्य शीलांककृत आचारांग और सूत्रकृतांग—ये दोनों टीकाएं संयुक्त रूप से प्रकाशित हैं। इसके सम्पादक मुनि जम्बूविजयजी हैं। यह निर्युक्ति समेत टीका है। इसके पाठान्तर 'टी' से निर्दिष्ट हैं।

(टीपा) आचारांग टीका के अंतर्गत पाठान्तर।

सूत्रकृतांग निर्युक्ति

(अ) यह लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या ८९ है। यह ३३.७ सेमी. लम्बी तथा १२.७ सेमी. चौड़ी है। इसमें कुल ५ पत्र हैं। यह तकारप्रधान प्रति है। दीमक लग जाने से इसके अक्षर स्पष्ट नहीं हैं। प्रति के दोनों ओर हासिया तथा बीच में फूल की आकृति है। इसमें २०८ गाथाएं हैं। ग्रंथाग्र २६० है, ऐसा प्रति के अंत में उल्लेख मिलता है। प्रति में लिपिकर्ता और लिपि के समय का उल्लेख नहीं मिलता। इसका समय अनुमानतः चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी होना चाहिए।

(ब) यह भी लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या ८३६३ है। यह ३३.१ सेमी. लम्बी तथा १२.७ सेमी. चौड़ी है। इसमें कुल ४४ पत्र हैं। सूत्रकृतांग निर्युक्ति चालीस से चवालीसवें पत्र तक है। दोनों ओर हासिए में चित्रांकन है। अंत में "२०८ सूयकडनिज्जुत्ती सम्मत्ता" उल्लेख के साथ निम्न पद्य लिखा हुआ है—

पद्मोपमं पत्रपरम्परान्वितं, वर्णोज्ज्वलं सूक्तमरंदसुंदरम्।

मुमुक्षुभृंगप्रकरस्य वल्लभं, जीयान्चिरं सूत्रकृदंगपुस्तकम्॥

अनुमानतः इसका समय सोलहवीं शताब्दी होना चाहिए।

(स) यह भी लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १२१३८ है। यह २८.४ सेमी. लम्बी तथा ११.४ सेमी. चौड़ी है। इसमें कुल छह पत्र हैं। दोनों ओर हासिया तथा मध्य में लाल बिन्दु है। अंत में "सूयकडनिज्जुत्ती सम्मत्ता गाहाणं शत २५०॥ शुभं भवतु॥ श्री॥" इतना उल्लेख है। अनुमानतः इसका समय सोलहवीं शताब्दी होना चाहिए।

(द) यह लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १४४४३ है। यह २५.८ सेमी. लम्बी तथा १०.५ सेमी. चौड़ी है। अंत में ब प्रति में उल्लिखित पद्मोपमं... संस्कृत श्लोक लिखा हुआ है तथा उसके बाद अंत में "पूज्य वाचनाचार्यश्रेणिशिरोमणि हर्षप्रमोदगणेशिष्यआनन्दप्रमोदगणिना" ऐसा उल्लेख मिलता है।

(क) यह भी लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या २९०९९ है। यह २५.५ सेमी. लम्बी तथा १०.९ सेमी चौड़ी है। इसमें कुल ४४ पत्र हैं। ३९ पत्र से ४४ पत्र तक निर्युक्ति लिखी हुई है। प्रति के दोनों ओर हासिया तथा बीच में खाली स्थान है। अंत में "ग्रं २०८ सूयगडनिज्जुत्ती सम्मत्ता।" का उल्लेख है तथा ब प्रति वाला पद्मोपमं.....संस्कृत श्लोक पूरा लिखा हुआ है। इसकी स्पाही बहुत गहरी है अतः अक्षर पढ़ने में असुविधा रहती है।

(चू.) सूत्रकृतांग चूर्णि प्राकृत ग्रंथ परिषद् से प्रकाशित है। इसके संपादक मुनि पुण्यविजयजी हैं। इसमें निर्युक्तिगाथागत पाठान्तर को 'चू.' संकेत से निर्दिष्ट किया गया है।

(चूपा.) सूत्रकृतांग चूर्णि के अंतर्गत आए हुए पाठान्तर।

(टी.) मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित आचार्य शीलांक कृत सूत्रकृतांग टीका के अंतर्गत निर्युक्ति-गाथा के पाठान्तर। यह मुनि जम्बूविजयजी द्वारा संपादित है।

(टीपा) शीलांकाचार्य की टीका के अंतर्गत उल्लिखित पाठान्तर।

दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति

(अ) यह महिमा ज्ञान भक्ति भंडार से उपलब्ध है। इस प्रति में मूल निर्युक्ति के साथ अन्य अनेक गाथाएं भी लिखी हुई हैं। वैसे भी दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति की किसी भी प्रति में गाथा-संख्या की एकरूपता नहीं है।

(ब) यह लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर से प्राप्त है। यह २७ सेमी. लम्बी और १२.३ सेमी. चौड़ी है। इसमें मूलपाठ, निर्युक्ति और चूर्णि सम्मिलित है। इसमें कुल १०६ पत्र हैं। ४६ से ४९ पत्र तक दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति लिखी हुई है। इसमें पूरी निर्युक्ति नहीं है। प्रारम्भ में १ से ११ गाथाएं हैं। उसके बाद पज्जोसवणा की प्रारम्भिक सात गाथाओं को छोड़कर अंत तक पूरी गाथाएं हैं। यह प्रति बहुत नवीन है अतः अशुद्धियां बहुत हैं। अनेक स्थलों पर पाठान्तर नहीं लिए हैं। अधिकांश ह्रस्व इकार के स्थान पर दीर्घ ईकार है। इसकी क्रमांक संख्या २३१६७ है। अंत में "आयारदसाणं निज्जुत्ती" मात्र झलना ही उल्लेख है।

(बी) यह राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर की प्रातः ह। इसकी क्रमांक संख्या १३०३० है। प्रति में पहले चूर्णि तथा बाद में निर्युक्ति है। निर्युक्ति ४७ वें पत्र से प्रारम्भ होकर ५१ वें पत्र में समाप्त होती है। प्रति के अंत में केवल "आयारदसाणं निज्जुत्ती सम्मत्ता" का उल्लेख है। लेखक या समय का संकेत नहीं है। यह प्रति ज्यादा प्राचीन नहीं है।

(ला) यह लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर की प्रति है। इसका क्रमांक २३१६७ है। प्रति साफ-सुथरी है। इसमें आयारदसा का मूलपाठ, निर्युक्ति और चूर्णि—ये तीनों लिखे हुए हैं। निर्युक्ति ७९ के दूसरे पत्र से प्रारम्भ होती है तथा ८३ के प्रथम पत्र में समाप्त हो जाती है। यह प्रति अनुमानतः

सोलहवीं शताब्दी की होनी चाहिए।

(मु) जिनदास कृत चूर्णि में प्रकाशित निर्युक्ति-गाथा के पाठान्तर।

(चू.) मणिविजयजी गणितग्रंथमाला भावनगर से प्रकाशित दशाश्रुतस्कंध चूर्णि के पाठान्तर।

दशवैकालिक की एक नई निर्युक्ति

यह प्रति लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर के हस्तलिखित भंडार से मिली है। इसकी क्रमांक संख्या १९४१९ है। इसमें ३९ पत्र हैं। प्रारम्भ में दशवैकालिक मूल लिखा हुआ है। अंतिम पत्र में लिपिकर्ता ने दस गाथाओं वाली दशवैकालिकनिर्युक्ति लिखी है। इसकी प्रारम्भिक चार गाथाएं दशवैकालिकनिर्युक्ति की संवादी हैं। बाद की छह गाथाओं में चूलिका की रचना का संक्षिप्त इतिहास है। प्रति के अंत में "इति दशवैकालिकनिर्युक्तिः समाप्ता। संवत् १४४२ वर्षे कार्तिक शुक्ला ५ लिखित।" का उल्लेख है। यह प्रति नागेन्द्र गच्छ के आचार्य गुणमेषविजयजी के लिए लिखी गयी थी।

कृतज्ञता-जापन

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी का नाम मेरे लिए मंगलमंत्र है। हर कार्य के प्रारम्भ में आदि मंगल के रूप में उनके नाम का स्मरण मेरे जीवन की दिनचर्या का स्वाभाविक क्रम बन गया है। इसलिए मेरी हर सफलता का श्रेय गुरुदेव के चरणों में निहित है।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ एवं युवाचार्य श्री महाश्रमण मूर्तिमान् श्रुतपुरुष है। उनके शक्ति-संप्रेषण, मार्गदर्शन और आशीर्वाद से ही यह गुरुतर कार्य सम्पन्न हो सका है। भविष्य में भी उनकी ज्ञान-रश्मियों का आलोक मुझे मिलता रहे, यह अभीप्सा है।

प्रस्तुत कार्य की विविध संपूर्ति में महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी के निश्छल वात्सल्य एवं प्रेरणा का बहुत बड़ा योग रहा है। भविष्य में भी मेरी साहित्यिक यात्रा में उनका पथदर्शन और प्रोत्साहन निरन्तर मिलता रहे, यह आकांक्षा है।

आगम-कार्य में मुनि श्री दुलहराजजी का निःस्वार्थ मार्गदर्शन मुझे कई सालों से उपलब्ध है। पाठ-संपादन एवं कथाओं के अनुवाद में मुनिश्री की बहुश्रुतता ने मेरे कार्य को सुगम बनाया है। अनेक परिशिष्ट की अनुक्रमणिका एवं पाठान्तरों के निरीक्षण तथा प्रूफ रीडिंग में मुनि श्री हीरालालजी स्वामी का आत्मीय सहयोग भी मेरे स्मृति-पटल पर अंकित है।

समणी नियोजिका मुदितप्रज्ञाजी ने व्यवस्थागत सहयोग से इस कार्य को हल्का बनाया है। ग्रंथ-प्रकाशन के बीच में ही जैन विश्व भारती की लेटर प्रेस बंद होने से इसके प्रकाशन में अनेक जटिलताएं सामने आईं पर जैन विश्व भारती के अधिकारियों के उदार सहयोग एवं जगदीशजी के परिश्रम से इस ग्रंथ के प्रकाशन का कार्य सम्पन्न हो सका है। निर्युक्तिसाहित्य: एक पर्यवेक्षण भूमिका के कम्पोज एवं सेटिंग में कुसुन सुराणा का सहयोग भी मूल्यार्ह रहा है।

ज्ञात-अज्ञात, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जिन-जिनका सहयोग इस कार्य की संपूर्ति में मिला है, उनके सहयोग की स्मृति करते हुए मुझे अत्यंत आत्मिक आह्लाद की अनुभूति हो रही है। भविष्य में भी सबका आत्मीय सहयोग मिलता रहेगा, इसी आशा और विश्वास के साथ।

डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

विषयानुक्रम

पहला अध्ययन

१. मंगलाचरण ।
२. आदि, मध्य और अंत मंगल ।
३. चार अनुयोगों का नामोल्लेख ।
- ४, ५. चरणकरणानुयोग का अधिकार और उसके द्वार ।
६. दशवैकालिक का अनुयोग ।
७. दसकालिक—दस और काल के निक्षेप-कथन की प्रतिज्ञा ।
- ८, ९. एक और दश शब्द के निक्षेप ।
- ९/१. जीवन की धाला, क्रीड़ा आदि दश दशाएं ।
१०. काल शब्द के निक्षेप ।
११. दशवैकालिक नामकरण की सार्थकता ।
१२. दशवैकालिक वक्तव्यता की द्वार गाथा ।
१३. दशवैकालिक निर्यूहक आचार्य शय्यभक्त को वंदना ।
१४. प्रस्तुत रचना का कारण और उसका निर्यूहण-काल ।
१५. आत्मप्रवाद पूर्व से धर्मप्रज्ञप्ति (चौथा अध्ययन) तथा कर्मप्रवाद पूर्व से पिण्डवणा (पाँचवां अध्ययन) के उद्धरण का संकेत ।
१६. संस्थप्रवाद पूर्व से वाक्यशुद्धि तथा नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से शेष सभी अध्ययनों के उद्धरण का संकेत ।
१७. गणिपिटक—द्वादशांगी से दशवैकालिक के निर्यूहण का उल्लेख ।
१८. अध्ययनों के विषय-वर्णन की प्रतिज्ञा ।
- १९-२२. अध्ययनों के विषयों का संक्षिप्त वर्णन ।
२३. दो चूलिकाएं एवं उनका प्रयोजन ।
२४. प्रत्येक अध्ययन की विषय-वस्तु के कथन की प्रतिज्ञा ।
२५. प्रथम अध्ययन के चार द्वार ।

- २५/१, २. अध्ययन के चार प्रकार और द्रुमपुष्पिका के साथ उनकी संयोजना ।
- २६, २७. अध्ययन शब्द के निवृत्त ।
२८. आचार्य को दीपक की उपमा ।
२९. भाव आय—लाभ का स्वरूप ।
३०. भाव अध्ययन का स्वरूप ।
- ३१, ३२. द्रुम शब्द के निक्षेप तथा एकार्थक ।
३३. पुष्प शब्द के एकार्थक ।
३४. द्रुमपुष्पिका अध्ययन के एकार्थक ।
३५. पुच्छा का महत्त्व ।
३६. धर्म शब्द के निक्षेप और उनका नानात्व ।
- ३७-३९. द्रव्य धर्म के भेद-प्रभेद ।
४०. लोकोत्तर धर्म के भेद ।
४१. द्रव्य और भाव मंगल का स्वरूप ।
४२. अहिंसा का स्वरूप तथा उसके भेद ।
४३. सत्तरह प्रकार के संयम का उल्लेख ।
४४. बाह्यतप के भेद ।
४५. आभ्यंतर तप के भेद ।
४६. शिष्य की ग्रहणशक्ति के आधार पर उदाहरण और हेतु का प्रयोग ।
४७. न्याय के पाँच और दश अध्ययनों का उल्लेख ।
- ४७/१. उदाहरण और हेतु के भेद-प्रभेद ।
४८. उदाहरण के एकार्थक ।
४९. उदाहरण के दो भेद—चरित और कल्पित तथा उनके चार-चार भेद ।
५०. आहरण के चार प्रकार ।
५१. द्रव्य अपाय में दो वणिक् भाइयों की कथा ।
५२. क्षेत्र, काल और भाव अपाय की कथाओं का संकेत ।
- ५३, ५४. द्रव्य आदि अपाय और पारलौकिक चिन्तन ।
- ५५, ५६. द्रव्यानुयोग के आधार पर अपाय का चिन्तन ।
- ५७, ५८. उपाय के चार प्रकार और उनके उदाहरणों का संकेत ।

- ५९-६२. विभिन्न हेतुओं के द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ।
६३. स्थापना कर्म में पौंडरीक और हिंगुशिव की कथा ।
६४. द्रव्यानुयोग के आधार पर स्थापनाकर्म का निरूपण ।
- ६५, ६६. प्रत्युत्पन्नविनाश के प्रसंग में गांधर्विक आदि का उदाहरण ।
- ६७, ६८. द्रव्यानुयोग के संदर्भ में प्रत्युत्पन्नविनाश का प्रतिपादन ।
- ६९, ७०. आहरणतद्देश में अनुशिष्टि आदि चार भेदों का कथन और सुभद्रा का उदाहरण ।
७१. आत्मकर्तृत्व की सिद्धि ।
७२. उपालम्भ में भृगावती की कथा का संकेत ।
७३. आत्मा का अत्यन्त अभाव युक्त नहीं ।
७४. अर्थ और हेतु की पृच्छा में कोणिक तथा निश्चा वचन में गौतम का उदाहरण ।
- ७५, ७६. नास्तिक को पृच्छा जाने वाला प्रश्न और अन्यापदेश से वक्तव्यता ।
७७. आहरणतद्देश के भेद तथा उसके उदाहरणों का संकेत ।
७८. प्रतिलोम हेतु में अभय तथा गोविंदवाचक का उदाहरण ।
७९. आत्म उपन्यास के अन्तर्गत पिंगल संन्यासी का उदाहरण ।
८०. उपन्यास आहरण के भेदों का कथन ।
८१. तद्वस्तुक में कार्पटिक का उदाहरण ।
८२. उपन्यास के चौथे भेद 'प्रतिनिभ' में परिभ्राजक का उदाहरण ।
८३. हेतु के यापक, स्थापक आदि चार भेदों का कथन ।
८४. यापक और स्थापक हेतु के उदाहरणों का संकेत ।
८५. व्यसक और लूथक हेतु के उदाहरणों का संकेत ।
८६. धर्म के गुण तथा उसका महत्त्व ।
८७. दृष्टान्त द्वारा धर्म के महत्त्व का कथन ।
८८. धर्म उत्कृष्ट मंगल क्यों ?
८९. जिनशासन में पारमार्थिक धर्म की प्रतिपालना ।
- ८९/१-३. जिनशासन में ही शुद्ध धर्म का पालन क्यों ?
९०. मुनि की प्रासुक भिक्षाचर्या का उल्लेख ।
९१. अप्रासुक भिक्षाचरी और उसका परिणाम ।
- ९२, ९३. दृष्टान्त-शुद्धि में भ्रमर का उदाहरण ।
- ९४-१०४. अनेक प्रश्नोत्तरों के द्वारा साधु की शुद्ध भिक्षाचर्या का उल्लेख ।
१०५. नवकोटि शुद्ध भिक्षाचर्या का उल्लेख ।
१०६. दृष्टान्त-शुद्धि और भूतनिर्दिष्ट उपसंहार वाक्य ।
- १०७, १०८. द्रव्य और भाव विहंगम का स्वरूप ।
१०९. कर्मगति के आधार पर विहंगम का वर्णन ।
११०. विहायोगति आदि गति के आधार पर विहंगम का स्वरूप ।
१११. चलनकर्मगति के आधार पर विहंगम की व्याख्या ।
११२. संज्ञासिद्धि से विहंगम का कथन ।
११३. उपसंहार विशुद्धि का उल्लेख ।
११४. अदत्त के अग्रहण में भ्रमर की उपमा ।
११५. असंयत भ्रमर से श्रमण की उपमा असंगत ।
११६. उपमा की एकदेशीयता का उल्लेख ।
११७. भ्रमर अदत्त लेते हैं लेकिन मुनि अदत्त नहीं लेते ।
११८. सहज निष्पन्न आहार-ग्रहण में भ्रमर एवं श्रमण की तुलना ।
११९. मुनि को 'मधुकरसम' कहने में आने वाली विप्रतिपत्ति का निराकरण ।
१२०. प्रथम अध्ययन में एषणा और ईर्या समिति के पालन का हेतु-निर्देश ।
- १२०/१, २. श्रमण और मधुकर की समानता का उपसंहार द्वारा उल्लेख ।
- १२०/३, ४. तीर्थन्तरीय साधुओं एवं श्रमणों की चर्या में अन्तर ।
- १२१, १२२. साधु के लक्षण ।

१२३. न्याय के प्रतिज्ञा आदि दस अवयवों का नामोल्लेख ।
 १२३/१-११. प्रतिज्ञा आदि दस अवयवों की व्याख्या ।
 १२४. प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति का उपसंहार ।
 १२५. नय का स्वरूप ।
 १२६. नयों की बहुविध वक्तव्यता ।

दूसरा अध्ययन

१२७. भ्रामण्य और पूर्वक शब्द के निक्षेप ।
 १२८. द्रव्य और भाव भ्रमण का स्वरूप ।
 १२९-३१. भ्रमण का स्वरूप ।
 १३२, १३३. भ्रमण को सर्प, गिरि आदि की विविध उपमाएँ ।
 १३४, १३५. भ्रमण शब्द के एकार्थक ।
 १३६. पूर्व शब्द के चौदह निक्षेप ।
 १३७. काम शब्द के निक्षेप ।
 १३८. द्रव्य काम का स्वरूप एवं भाव काम के भेद ।
 १३९. इच्छाकाम और मदनकाम का स्वरूप ।
 १४०. धर्म से विच्युति का हेतु—कामभाव ।
 १४१. काम की प्रार्थना : रोग को निमंत्रण ।
 १४२. पद शब्द के निक्षेप ।
 १४३-४५. पद के भेद-प्रभेदों का उल्लेख ।
 १४६. ग्रथित पद के चार भेद ।
 १४७. गद्य काव्य का स्वरूप ।
 १४८. पद्य के भेदों का उल्लेख ।
 १४९. मेय के भेद-प्रभेद ।
 १५०. चूर्णपद का स्वरूप ।
 १५१. इन्द्रिय-विषय आदि अपराध पदों का उल्लेख ।
 १५१/१. अठारह हजार शीलांगों का निर्देश ।
 १५२. अठारह हजार शीलांगों की निष्पत्ति ।

तीसरा अध्ययन

१५३. महद् और क्षुल्लक शब्द के निक्षेप ।
 १५४. आचार शब्द के निक्षेप ।
 १५५. द्रव्याचार का स्वरूप ।
 १५६. भावाचार के भेदों का कथन ।
 १५७. दर्शनाचार के आठ भेदों का उल्लेख ।

- १५७/१. तीर्थ के प्रभावक कौन ?
 १५८. ज्ञानाचार के आठ भेदों का उल्लेख ।
 १५९. चारित्र्याचार के आठ भेदों का उल्लेख ।
 १६०. तप-आचार के द्वांरह भेदों का उल्लेख ।
 १६१. दीर्घाचार का स्वरूप ।
 १६२. कथा के भेदों का उल्लेख ।
 १६३. अर्थकथा का स्वरूप ।
 १६३/१. अर्थकथा से सम्बन्धित कथा का निर्देश ।
 १६४. कामकथा का स्वरूप ।
 १६५. धर्मकथा के आक्षेपणी आदि चार भेद ।
 १६७. आक्षेपणी कथा के भेद ।
 १६८. आक्षेपणी कथा का स्वरूप ।
 १६९-७१. विक्षेपणी कथा के भेद और स्वरूप ।
 १७२. संवेजनी कथा के प्रकार ।
 १७३. संवेजनी कथा का स्वरूप ।
 १७४. निर्वेदनी कथा का स्वरूप ।
 १७५. निर्वेदनी कथा का रस ।
 १७६. संवेजनी और निर्वेदनी कथा की फलश्रुति ।
 १७७, १७८. शिष्यों को कथा कहने का क्रम और उसका फल ।
 १७९. मिश्रकथा का स्वरूप ।
 १८०. विकथा के प्रकार ।
 १८१. प्ररूपक के आधार पर कथा का अकथा और विकथा होना ।
 १८२. अकथा का स्वरूप ।
 १८३. कथा का स्वरूप ।
 १८४. विकथा का स्वरूप ।
 १८५-८७. भ्रमण के लिए अकथनीय और कथनीय कथा का स्वरूप ।
 १८८. क्षेत्र, काल, पुरुष और सामर्थ्य के आधार पर कथा कहने का निर्देश ।

चौथा अध्ययन

१८९. चतुर्थ अध्ययन के अधिकारों का उल्लेख ।
 १९०. छद्म, जीव और निकाम—इन शब्दों के निक्षेप कथन की प्रतिज्ञा ।

१९१. एक शब्द के निक्षेप ।
 १९२. षट् शब्द के छह निक्षेपों का उल्लेख ।
 १९३, १९४. जीव के निक्षेप, प्ररूपणा, लक्षण आदि तेरह द्वारों का निर्देश ।
 १९५. जीव शब्द के निक्षेप तथा भेदों का कथन ।
 १९६. ओषजीव के जीवितव्य का कथन ।
 १९७. भवजीव एवं तदुभवजीव के जीवितव्य का कथन ।
 १९८. जीव के भेदों का कथन ।
 १९९, २००. जीव के लक्षण ।
 २०१. जीव के अस्तित्व की सिद्धि ।
 २०२. जीव के अस्तित्व को नकारने में होने वाली बाधा ।
 २०३. जीव और शरीर के पृथक्त्व की सिद्धि ।
 २०४. वायु के उदाहरण द्वारा जीव के अस्तित्व की सिद्धि ।
 २०५. आत्मा के अमूर्तत्व की प्ररूपणा ।
 २०६. कारणाभाव आदि चार अभावों के आधार पर आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ।
 २०७. तर्क द्वारा जीव के त्रिकालावस्थान की सिद्धि ।
 २०८. जीव के नित्यत्व, अमूर्तत्व और अन्यत्व की सिद्धि ।
 २०९. जीव का परिमाण (संख्या) ।
 २१०. उपमा द्वारा जीव के परिमाण का निर्देश ।
 २११. काय शब्द के निक्षेपों का उल्लेख ।
 २११/१. अपकाय के सम्बन्ध में एक पहली ।
 २१२. निकाय काय के साथ शेष नाम आदि कायों का उल्लेख ।
 २१३. द्रव्य और भावशस्त्रों का उल्लेख ।
 २१४. स्वकाय, परकाय और तदुभयकाय शस्त्रों का उल्लेख ।
 २१५. योनिभूत बीज का विमर्श ।
 २१६. पृथिवी आदि कायों का यथाक्रम कथन ।
 २१७. चतुर्थ अध्ययन के एकार्थक ।

पाँचवाँ अध्ययन

- २१७/१. पिड और एषणा की निक्षेप-प्ररूपणा का कथन ।
 २१८. पिड शब्द के निक्षेप तथा द्रव्यपिड और भावपिड का उल्लेख ।
 २१८/१. पिड शब्द की अर्थवत्ता ।
 २१८/२, ३. द्रव्येषणा एवं भावेषणा का कथन ।
 २१८/४. द्रव्येषणा के अधिकार में पिडनिर्युक्ति का कथन ।
 २१९. सम्पूर्ण पिडेषणा का नवकोटि में अवतरण ।
 २१९/१. नवकोटि के भेद—उद्गमकोटि और विशोधिकोटि ।
 २२०. उद्गमकोटि और विशोधिकोटि के भेद ।
 २२०/१. अविशोधिकोटि के भेद ।
 २२१. कोटियों के भेद ।
 २२१/१. राग, द्वेष आदि की योजना से २७० कोटियों का उल्लेख ।

छठा अध्ययन

२२२. महाचार कथा के विषय का निर्देश ।
 २२३. अगार और अन्तगार धर्म के भेदों का निर्देश ।
 २२४. गृहस्थ धर्म के बारह भेदों का संकेत ।
 २२५. श्रमण धर्म के क्षमा आदि दस भेदों का नामोल्लेख ।
 २२६. अर्थ शब्द के निक्षेप तथा भेदों का कथन ।
 २२७. अर्थ के धान्य, रत्न आदि छह भेदों का उल्लेख ।
 २२८. अर्थ के भेद-उपभेद की संख्या का निर्देश ।
 २२९, २३०. चौबीस प्रकार के धान्यों का नामोल्लेख ।
 २३१, २३२. चौबीस प्रकार के रत्नों का नामोल्लेख ।
 २३३. स्थावर तथा ह्रिपद के भेदों का संकथन ।
 २३४. चतुष्पद के दश भेदों का निर्देश ।
 २३५. कुप्य के अनेक भेद तथा अर्थ के ६४ भेदों का संकेत ।

- २३६-२३९. संप्राप्त काम के चौदह और असंप्राप्त काम के दस प्रकारों का कथन ।
 २४०. धर्म, अर्थ और काम की परस्पर विरोधिता
 २४०।१ अविरोधिता ।
 २४१. श्रमण और धर्मार्थकाम विशेषण की सार्थकता ।
 २४२. परलोक, मुक्तिमार्ग और मोक्ष की निश्चिति ।
 २४३. अठारह असंयम-स्थानों में से एक स्थान का भी सेवन करने वाला श्रमण नहीं ।
 २४४. अठारह असंयम-स्थानों का निर्देश ।

सातवाँ अध्याय

२४५. वाक्य शब्द के निक्षेप ।
 २४६. वाक्य के एकार्थक ।
 २४७. द्रव्य एवं भाव भाषा के भेदों का उल्लेख ।
 २४८. द्रव्य और भाव भाषा के आधार पर आराधनी और विराधनी भाषा का विमर्श ।
 २४९. सत्य भाषा के दस प्रकार ।
 २५०. मृषा भाषा के दस प्रकार ।
 २५१. सत्यामृषा (मिश्र) भाषा के प्रकार ।
 २५२, २५३. असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा के भेदों का निर्देश ।
 २५४. सभी भाषाओं के दो-दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त ।
 २५५-५७. श्रुत विषयक भाव भाषा का कथन ।
 २५८. चारित्र्य विषयक भाव भाषा का कथन ।
 २५९. शुद्धि शब्द के निक्षेप ।
 २६०, २६१. द्रव्य शुद्धि के भेद ।
 २६२, २६३. भाव शुद्धि के भेद ।
 २६४. भाव शुद्धि से ही वाक्य शुद्धि का निर्देश ।
 २६५. भाषा के असंयम का परिज्ञान करने का निर्देश ।
 २६६. मौन रहता हुआ भी वचनगुप्त नहीं ।
 २६७. दिन भर बोलता हुआ भी वचनगुप्त ।
 २६८. चिन्तनपूर्वक बोलने का निर्देश ।

आठवाँ अध्याय

२६९. प्रणिधि शब्द के निक्षेप ।
 २७०. द्रव्य और भावप्रणिधि का उल्लेख ।
 २७१. इन्द्रियप्रणिधि का स्वरूप ।
 २७२, २७३. इन्द्रियों की उच्छृंखलता से होने वाले दोष ।
 २७४. दुष्प्रणिहित इन्द्रिय वाले व्यक्ति की अवस्था का निर्देश ।
 २७५. नोइन्द्रियप्रणिधि का स्वरूप ।
 २७६. दुष्प्रणिहित व्यक्ति की तपस्या की व्यर्थता ।
 २७७. उत्कट कषाय से श्रामण्य की निष्फलता ।
 २७८. प्रणिधि के भेद ।
 २७९. प्रशस्त और अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधि का स्वरूप-कथन ।
 २८०. अप्रशस्त इन्द्रियप्रणिधि से कर्मबंध तथा प्रशस्त से कर्मक्षय ।
 २८१. संयम की साधना के लिए प्रणिधि का आसेवन और अनायतनों का वर्जन ।
 २८२. दुष्प्रणिहित योगी के लक्षण ।
 २८३. सुप्रणिहित योगी का स्वरूप ।
 २८४. अप्रशस्त प्रणिधि के वर्जन का निर्देश ।
 २८५. आचार प्रणिधि के चार अधिकारों का कथन ।

नौवाँ अध्याय

२८६. विनय तथा समाधि के निक्षेप ।
 २८७. विनय के पाँच भेदों का नामोल्लेख ।
 २८८. लोकोपचार विनय के प्रकार ।
 २८९. अर्थविनय का प्रतिपादन ।
 २९०. कामविनय और भयविनय का वर्णन ।
 २९१. मोक्षविनय के भेदों का निर्देश ।
 २९२. दर्शनविनीत का स्वरूप ।
 २९३. ज्ञानविनीत की पहचान ।
 २९४. चारित्र्यविनीत का लक्षण ।
 २९५. तपविनीत का स्वरूप ।
 २९६. अनाशासनाविनय का स्वरूप-कथन ।
 २९७. कायिक, वाचिक और मानसिक विनय के भेद-प्रभेद ।

२९८. कायविनय के आठ भेदों का कथन ।
 २९९. वाचिक और मानसिक विनय के भेदों का उल्लेख ।
 ३००, ३०१. प्रतिरूप और अप्रतिरूप विनय तथा अनाशातनाविनय के भावन प्रकार ।
 ३०२. विनय करने योग्य तेरह पदों का निर्देश ।
 ३०३. विनय के भावन भेदों का संकेत ।
 ३०४. द्रव्यसमाधि और भावसमाधि का स्वरूप ।

बसवां अध्ययन

३०५. सकार शब्द के निक्षेप ।
 ३०६. द्रव्य संस्कार का स्वरूप तथा अध्ययन के अधिकारों का निर्देश ।
 ३०७. भिक्षु कौन ?
 ३०७/१. 'सकार' का प्रशंसा के अर्थ में प्रयोग ।
 ३०८. भिक्षु शब्द के निक्षेप, निरुक्त आदि पांच द्वारों का उल्लेख ।
 ३०९. भिक्षु शब्द के निक्षेप ।
 ३१०. भेदक, भेदन और भेत्तव्य का निरूपण ।
 ३११-३१५. द्रव्यभिक्षु का स्वरूप ।
 ३१५/१. असाधु कौन ?
 ३१६. भावभिक्षु का स्वरूप ।
 ३१७-३१९. भिक्षु शब्द के निरुक्त ।
 ३२०-३२२. भिक्षु शब्द के एकार्थक ।
 ३२३, ३२४. भिक्षु की पहचान के तत्त्व ।
 ३२५. भिक्षु को स्वर्ण की उपमा ।
 ३२६. स्वर्ण के आठ गुणों का नामोल्लेख ।
 ३२७. स्वर्ण की चार कसौटियां ।
 ३२८, ३२९. स्वर्ण की भांति गुणयुक्त व्यक्ति ही वास्तविक साधु ।

३३०. अध्ययन में वर्णित गुणयुक्त भिक्षु ही भाव भिक्षु ।
 ३३१. केवल भिक्षा करने मात्र से भिक्षु नहीं ।
 ३३२. उद्दिष्टभोजी तथा हिंसक व्यक्ति भिक्षु कैसे ?
 ३३३. वास्तविक भिक्षु की पहचान ।

प्रथम चूलिका

३३४. चूलिका शब्द के निक्षेप ।
 ३३५. द्रव्यचूला तथा क्षेत्रचूला का स्वरूप ।
 ३३६. भावचूला का स्वरूप ।
 ३३७. द्रव्यरति के भेदों का कथन ।
 ३३८. द्रव्यरति और भावरति ।
 ३३९. कर्म के उदय से अरति और परीषद् सहन से निर्वृति—सुख की प्राप्ति ।
 ३४०. प्रथम चूलिका के नामकरण की सार्थकता ।
 ३४१. रति नाम की सार्थकता ।
 ३४२. धर्म में रति और अधर्म में अरति की गुण-कारिता ।
 ३४३. मोक्ष-प्राप्ति के उपाय ।
 ३४४. रति-अरति के स्थानों को जानने का निर्देश ।

द्वितीय चूलिका

३४५. दूसरी चूलिका के कथन की प्रतिज्ञा ।
 ३४६. अवगृहीत, प्रगृहीत आदि विहारचर्या का निर्देश ।
 ३४७. मुनि की प्रशस्त विहारचर्या का उल्लेख ।
 ३४८. दशवैकालिक का अध्ययन : मनक के समाधिमरण का कारण ।
 ३४९. दशवैकालिक की रचना के प्रयोजन का निर्देश ।

गाथाओं का समीकरण

दोनों मासिक निर्युक्ति की गाथाएं चूर्ण एवं टीका दोनों में मिलती हैं पर उनकी गाथा-संख्याओं में बहुत अन्तर है। संपादन में भी हमने गाथाओं के बारे में विमर्श किया है कि कितनी गाथाएं बाद में प्रक्षिप्त हुई हैं और कितनी मूल की थीं। अतः संपादित गाथा-संख्या भी टीका एवं चूर्ण में प्रकाशित गाथा-संख्या की संवादी नहीं है। पाठकों की सुविधा के लिए हम यहां चार्ट प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे गाथाओं को खोजने में सुविधा रहेगी। जिनदास कृत चूर्ण में निर्युक्ति की गाथा संख्या का केवल संकेत-मात्र है, पूरी गाथा नहीं है, अतः समीकरण में उसका समावेश नहीं किया है।

संपादित	अच्छू	हाटी	संपादित	अच्छू	हाटी
१	×	१	२१	१०	२२
२	×	२	२२	११	२३
३	×	३	२३	१२	२४
४	×	४	२४	×	२५
५	×	५	२५	×	२६
६	×	६	२५/१	×	२७
७	×	७	२५/२	×	२८
८	१	८	२६	×	२९
९	२ ^१	९	२७	×	३०
९/१ ^१	×	१०	२८	×	३१
१०	३	११	२९	×	३२
११	×	१२	३०	×	३३
१२	४	१३	३१	१३	३४
१३	×	१४	३२	१४	३५
१४	×	१५	३३	×	३६
१५	५	१६	३४	१५	३७
१६	६	१७	३५	१६	३८
१७	७	१८	३६	१७	३९
१८	×	१९	३७	१८	४०
१९	८	२०	३८	१९	४१
२०	९	२१	३९	२०	४२
			४०	×	४३

१. अच्छू के संपादक मुनि पुण्यविजयजी ने इस गाथा के अंक तो दिए हैं किंतु इसे निगा नहीं माना है।

२. यह गाथा तंदुलवीचारिक प्रकीर्णक की है। प्रसंगानुसार इसे उद्धृत किया गया है। हारिभद्रोया टीका में यह निगा के क्रम में है।

संपादित	अक्षु	हाटी	संपादित	अक्षु	हाटी
४१	२१	४४	७५	X	७९
४२	X	४५	७६	X	८०
४३	X	४६	७७	X	८१
४४	X	४७	७८	X	८२
४५	X	४८	७९	X	८३
४६	२२	४९	८०	X	८४
४७	२३	५०	८१	X	८४ ^१
४७/१	X	५१	८२	X	८५
४८	२४	५२	८३	X	८६
४९	२५	५३	८४	X	८७
५०	X	५४	८५	X	८८
५१	X	५५	८६	२६	८९
५२	X	५६	८७	२७	९०
५३	X	५७	८८	२८	९१
५४	X	५८	८९	२९	९२
५५	X	५९	८९/१	X	९३
५६	X	६०	८९/२	X	९४
५७	X	६१	८९/३	X	९५
५८	X	६२	९०	३०	भा २
५९	X	६३	९१	३१	भा ३
६०	X	६४	९२	३२	९६
६१	X	६५	९३	X	९७
६२	X	६६	९४	३३	९८
६३	X	६७	९५	३४	९९
६४	X	६८	९५।१	X	१००
६५	X	६९	९५।२	X	१०१
६६	X	७०	९५।३	X	१०२
६७	X	७१	९६	३५	१०३
६८	X	७२	९६।१	X	१०४
६९	X	७३	९६।२	X	१०५
७०	X	७४	९७	३६	१०६
७१	X	७५	९७।१	X	१०७
७२	X	७६	९८	३७	१०८
७३	X	७७	९९	३८	१०९
७४	X	७८	९९।१	X	११०

१. टीका की मुद्रित प्रति में ८४ का अंक दो बार दिया हुआ है।

संपादित	अक्षू	हाटी	संपादित	अक्षू	हाटी
१००	३९	१११	१२३।५	×	१४२
१०१	४०	११२	१२३।६	×	१४३
१०२	४१	११३	१२३।७	×	१४४
१०३	४२	११४	१२३।८	×	१४५
१०४	४३	११५	१२३।९	×	१४६
१०५	४४	×	१२३।१०	×	१४७
१०६	×	११६	१२३।११	×	१४८
१०७	×	११७	१२४	५५	१५१ ^१
१०८	×	११८	१२५	५६	१४९
१०९	×	११९	१२६	५७	१५०
११०	×	१२०	१२७	५८	१५२
१११	×	१२१	१२८	५९	१५३
११२	×	१२२	१२९	६०	१५४
११३	×	१२३	१३०	६१	१५५
११४	४५	१२४	१३१	६२	१५६
११५	४६	१२५	१३२	६३	१५७
११६	४७	१२६	१३३	६४	×
११७	४८	१२७	१३४	६५	१५८
११८	४९	१२८	१३५	६६	१५९
११९	५०	१२९	१३६	६७	१६०
१२०	५१	१३०	१३७	६८	१६१
१२०।१	×	१३१	१३८	६९	१६२
१२०।२	×	१३२	१३९	७०	१६३
१२०।३	×	१३३	१४०	७१	१६४
१२०।४	×	१३४	१४१	७२	१६५
१२१	५२	१३५	१४२	७३	१६६
१२२	५३	१३६	१४३	७४	१६७
१२३	५४	१३७	१४४	७५	१६८
१२३।१	×	१३८	१४५	×	१६९
१२३।२	×	१३९	१४६	७६	१७०
१२३।३	×	१४०	१४७	७७	१७१
१२३।४	×	१४१	१४८	७८	१७२

१. हाटी में इसे भिन्नकर्तृकी गाथा माना है।

२. हाटी में १५१, १४९ और १५० की गाथा में क्रम-
व्यत्यय है।

३. हाटी में इसके लिए "इयं च किल भिन्नकर्तृकी"
ऐसा उल्लेख मिलता है।

संवादित	अक्षु	हाटी	संवादित	अक्षु	हाटी
१४९	७९	१७३	१८१	१०७	२०८
१५०	८०	१७४	१८२	१०८	२०९
१५१	८१	१७५	१८३	१०९	२१०
१५१।१	X	१७६	१८४	११०	२११
१५२	८२	१७७	१८५	१११	२१२
१५३	८३	१७८	१८६	११२	२१३
१५४	८४	१७९	१८७	११३	२१४
१५५	८५	१८०	१८८	११४	२१५
१५६	८६	१८१	१८९	११५	२१६
१५७	८७	१८२	१९०	११६	२१७
१५७।१	X	१८३	१९१	११७	२१८
१५८	८८	१८४	१९२	११८	२१९
१५९	८९	१८५	१९३	११९	२२०
१६०	९०	१८६	१९४	१२०	२२१
१६१	९१	१८७	१९५	१२१	२२२
१६२	९२	१८८	१९६	१२२	भा. ७
१६३	९३	१८९	१९७	१२३	भा. ८
१६३।१	X	१९०	१९८	१२४	भा. ९
१६४	९४	१९१	१९९	१२५	२२३
१६५	९५	१९२	२००	१२६	२२४
१६६	९६	१९३	२०१	१२७	भा. २५
१६७	X	१९४	२०२	१२८	भा. २८
१६८	९७	१९५	२०२।१	१२९	X
१६९	X	१९६	२०३	X	भा. ३०
१७०	९८	१९७	२०४	१३०	भा. ३३
१७१	९९	१९८	२०५	१३१	भा. ३४
१७२	X	१९९	२०६	१३२	२२५
१७३	१००	२००	२०७	१३३	२२६
१७४	१०१	२०१	२०८	१३४	२२७
१७५	X	२०२	२०९	१३५	भा. ५६
१७६	१०२	२०३	२१०	१३६	भा. ५७
१७७	१०३	२०४	२११	१३७	२२८
१७८	१०४	२०५	२११।१	१३८	उगा
१७९	१०५	२०६	२१२	१३९	२२९
१८०	१०६	२०७	२१३	१४०	२३०

१. अक्षु में १२९ वीं गाथा का आंशिक उल्लेख है।

गाथाओं का समीकरण

१३

संपादित	अधू	हाटी	संपादित	अधू	हाटी
२१४	१४१	२३१	२४१	१६७	२६५
२१५	१४२	२३२	२४२	१६८	२६६
२१६	१४३	मा. ६०	२४३	१६९	२६७
२१७	१४४	२३३	२४४	१७०	२६८
२१७।१	X	२३४	२४५	१७१	२६९
२१८	१४५	२३५	२४६	१७२	२७०
२१८।१	X	२३६	२४७	१७३	२७१
२१८।२	X	२३७	२४८	१७४	२७२
२१८।३	X	२३८	२४९	१७५	२७३
२१८।४	X	२३९	२५०	१७६	२७४
२१९	X	२४०	२५१	१७७	२७५
२१९।१	X	२४१	२५२	१७८	२७६
२२०	१४६	मा. ६२	२५३	१७९	२७७
२२०।१	X	२४२	२५४	१८०	२७८
२२१	१४७	२४३	२५५	१८१	२७९
२२१।१	X	२४४	२५६	१८२	२८०
२२२	१४८	२४५	२५७	१८३	२८१
२२३	१४९	२४६	२५८	१८४	२८२
२२४	१५०	२४७	२५९	१८५	२८३
२२५	१५१	२४८	२६०	१८६	२८४
२२६	१५२	२४९	२६१	१८७	२८५
२२७	१५३	२५०	२६२	१८८	२८६
२२८	१५४	२५१	२६३	१८९	२८७
२२९	१५५	२५२	२६४	१९०	२८८
२३०	१५६	२५३	२६५	१९१	२८९
२३१	१५७	२५४	२६६	१९२	२९०
२३२	१५८	२५५	२६७	१९३	२९१
२३३	१५९	२५६	२६८	१९४	२९२
२३४	१६०	२५७	२६९	१९५	२९३
२३५	१६१	२५८	२७०	१९६	२९४
२३६	१६२	२५९	२७१	१९७	२९५
२३७	१६३	२६०	२७२	१९८	२९६
२३८	१६४	२६१	२७३	१९९	२९७
२३९	१६५	२६२	२७४	२००	२९८
२४०	१६६	२६३	२७४।१	X	X
२४०।१	X	२६४	२७५	२०१	२९९

संपादित	अक्ष	हाटी	संपादित	अक्ष	हाटी
२७६	२०२	३००	३०८	२३२	३३२
२७७	२०३	३०१	३०९	२३३	३३३
२७८	२०४	३०२	३१०	२३४	३३४
२७९	२०५	३०३	३११	२३५	३३५
२८०	२०६	३०४	३१२	२३६	३३६
२८१	२०७	३०५	३१३	२३७	३३७
२८२	२०८	३०६	३१४	२३८	३३८
२८३	२०९	३०७	३१५	२३९	३३९
२८४	२१०	३०८	३१५।१	X	३४०
२८५	X	X	३१६	२४०	३४१
२८६	२१० ^१	३०९	३१७	२४१	३४२
२८७	२११	३१०	३१८	२४२	३४३
२८८	२१२	३११	३१९	२४३	३४४
२८९	२१३	३१२	३२०	२४४	३४५
२९०	२१४	३१३	३२१	२४५	३४६
२९१	२१५	३१४	३२२	२४६	३४७
२९२	२१६	३१५	३२३	२४७	३४८
२९३	२१७	३१६	३२४	२४८	३४९
२९४	२१८	३१७	३२५	२४९	३५०
२९५	२१९	३१८	३२६	२५०	३५१
२९६	२२०	३१९	३२७	२५१	३५२
२९७	२२१	३२०	३२८	२५२	३५३
२९८	२२२	३२१	३२९	२५३	३५४
२९९	२२३	३२२	३३०	२५४	३५५
३००	२२४	३२३	३३१	२५५	३५६
३०१	२२५	३२४	३३२	२५६	३५७
३०२	२२६	३२५	३३३	२५७	३५८
३०३	२२७	३२६	३३४	२५८	३५९
३०४	२२८ ^१	३२७	३३५	२५९	३६०
३०५	X	३२८	३३६	२६०	३६१
३०६	२३०	३२९	X	X	३६२
३०७	२३१	३३०	३३७	२६१	X
३०७।१	X	३३१			

१. २१० का अंक अक्ष में दो बार दिया गया है।

२. अक्ष में २२९ का अंक नहीं है। २२८ के बाद २३० का अंक है।

गाथाओं का समीकरण

१५

संपादित	अक्ष	हाटी	संपादित	अक्ष	हाटी
३३८	२६२	×	३४५	२६७	भा ६३
३३९ ^१	×	×	३४६	२६८	३६८
३४०	×	३६३	३४७	२६९	३६९
३४१	२६३	३६४	३४८	२७०	३७०
३४२	२६४	३६५	३४९	२७१	३७१
३४३	२६५	३६६	३४९।१	×	×
३४४	२६६	३६७	३४९।२	×	×

दशवैकालिक निर्युक्ति

१. सिद्धिगतिमुक्तायाणं, कम्मविसुद्धाणं सब्बसिद्धाणं ।
नमिऊणं दसकालियनिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि' ॥
२. आई मज्झवसाणे, काउं मंगलपरिग्गहं विहिणा ।
नामाइ मंगलं पि य, चउव्विहं पण्णवेऊणं ॥
३. सुयनाणं अणुयोगेणाऽहिगयं^१ सो चउव्विहो होइ ।
चरणकरणाणुयोगे, धम्मं 'गणिए य'^२ दविए थ ॥
४. अपुहत्तपुहत्ताइ^३, निदिसिउं एत्थ होइ अहिगारो ।
चरणकरणाणुयोगेण, तस्स दारा इमे होति ॥
५. निक्खेवेगट्ठ-निरुत्त-विही पविस्सो य केण वा कस्स ।
तहार-भेय-लक्खण, तदरिहपरिसा य सुत्तथो ॥
६. एयाइं पख्वेउं, कप्पे वण्णियगुणेण गुरुणा उ ।
अणुयोगो दसवेयालियस्स विहिणा कहेयव्वो ॥
७. दसकालियं ति नामं, संखाए कालओ य निहेसो ।
दसकालिय-सुयखंधं, अज्झयणुहेस निक्खिविउं ॥
८. नामं ठवणा दविए, माउगपद-संगहेक्कए चेव ।
पज्जव-भावे य तहा, सत्तेते एक्कका होति^४ ॥दारा॥

१. प्रारंभ की सात गाथाएं दोनों चूणियों (अगस्त्यसिंहस्थविरचित तथा जिनदास महत्तर-कृत) में निदिष्ट नहीं हैं। ये गाथाएं भद्रबाहु के बाद जोड़ी गई हैं, किन्तु टीकाकार हरिभद्र के समय तक ये निर्युक्तिगाथा के रूप में प्रसिद्ध हो गई थीं इसलिए प्रायः गाथाओं के आगे टीकाकार ने 'आहु निर्युक्तिकारः' लिखा है। इन गाथाओं की बाद में जोड़ने का एक प्रमाण यह है कि गा. ६ में 'कणे' शब्द बृहत्कल्पभाष्य की ओर संकेत करता है। गा. ५ 'निक्खेवेगट्ठ' बृहत्कल्पभाष्य (भा. १४९) की है। इसकी व्याख्या बृहत्कल्पभाष्य की

पीठिका में विस्तार से की गई है। निर्युक्ति-कार बृहत्कल्पभाष्य का अपने ग्रन्थ में संकेत नहीं करते क्योंकि वे भाष्य से पूर्ववर्ती हैं। अतः ये गाथाएं बाद में जोड़ी गई हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

२. णेण अहि० (अ) ।

३. काले य (हा, रा), टीका में 'काले य' पाठ की व्याख्या है—'काले चेति कालानुयोगश्च गणितानुयोगश्चेत्यर्थः' (हाटी प. ४) ।

४. अपुहत्तपुहुं (हा, जिचू) ।

५. मणिया (जिचू) ।

९. नामं ठवणा दविण, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
 एसो खलु निक्खेवो, दसगस्स उ छव्विहो होति^१ ॥
१०. बाला 'मंदा किट्ठा'^२, बला य पण्णा य हायणि पवंचा ।
 पब्भार-मुम्मुही सायणी य, दसमी उ कालदसा^३ ॥
११. दब्बे अद्ध-अहाउय, उवक्कमे देस-काल काले य ।
 तह य पमाणे वण्णे, भावे पगयं तु भावेण^४ ॥
१२. सामाइयअणुकमओ, वण्णेउं विगयपोरिसीए^५ ऊ ।
 निज्जूहं किल^६ सेज्जंभवेण दसकालियं तेणं^७ ॥
१३. 'जेण व जं व पडुच्चा'^८, जत्तो जावन्ति जह् य ते ठविया ।
 सो तं च तओ ताणि य, तहा य कमसो कहेयव्वं ॥दरं॥
१४. सेज्जंभवं गणधरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं ।
 मणगपियरं दसकालियस्स निज्जूहं वंदे ॥

१. यह गाथा अचू और जिचू में व्याख्यात है किन्तु अचू की भूमिका में इस गाथा को निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं माना है। (अचूभूमिका पृ. ८)

२. किट्ठा मंदा (रा, हा) ।

३. टीका में यह गाथा निर्युक्ति के क्रम में है किन्तु जिनदासचूणि में यह गाथा उद्धृत गाथा के रूप में उल्लिखित है। यह गाथा मूलतः 'तंदुलवेयालिय' प्रकीर्णक (गा. ३१) की है किंतु बाद में यह निर्युक्तिगाथा के रूप में लिपिकारों या टीकाकार द्वारा जोड़ दी गई है, ऐसा प्रतीत होता है। हमने इसे निगा के क्रम में नहीं रखा है। द्र. दशुनि ३, पंकभा २५२, निभा ३५४५, ठाणं १०।१५४ ।

४. आवनि ६६० ।

५. ०पोरसीए (अ), ०सीओ (रा) ।

६. किर (हा) ।

७. यह गाथा अचू में संकेतित नहीं है किन्तु टीकाकार इस गाथा के लिए 'चाह निर्युक्ति-कारः' लिखते हैं। इसके पूर्वोपर संबंध को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह गाथा अन्य अःचार्यों द्वारा रची गई है क्योंकि इस गाथा की विषयवस्तु का ही पुनरावर्तन अगली गाथाओं में हुआ है।

इस गाथा के बाद जिनदासवृत्त चूणि में 'इमाओ निर्युक्तिगाहाओ चउरो अज्झप्पस्साण-यणं', अहिगम्मन्ति व', जह दीवा', अट्ठविहं' इनका उल्लेख है लेकिन हस्तप्रतियों में ये गाथाएं आगे (गा २६, २७, २८, ३०) इस क्रम में मिलती हैं।

८. जेणेव जं च पडुच्च (जिचू) ।

१४. मणमं पडुच्च सेज्जभवेण निज्जहिया दसज्जभयणा ।
वेयालियाइ ठविया, तम्हा दसकालियं^१ नामं^२ ॥दारं॥
१५. आयप्पवायपुब्बा, निज्जुळा होइ धम्मपण्णत्ती ।
कम्मप्पवायपुब्बा, पिडस्स तु एसणा तिविधा ॥
१६. सच्चप्पवायपुब्बा, निज्जुळा होति 'वक्कसुद्धी उ'^३ ।
अवसेसा निज्जुळा, नवमस्स उ ततियवत्थूतो ॥
१७. वित्तिओ वि य आदेसो, गणिपिडगातो दुवालसंगातो ।
एयं किल^४ निज्जुळा, मणगस्स अणुगहट्ठाए ॥
१८. दुमपुण्फियादओ^५ खलु, दस अज्जभयणा सभिव्खुयं जाव ।
अहिगारे वि य एत्तो, वोच्छं पत्तेयमेक्केक्के^६ ॥दारं॥
१९. पढमे धम्मपसंसा, सो य 'इह जिणसासणे न अन्नत्थ'^७ ।
वित्तिए धित्तीए सक्का, काउं जे^८ एस धम्मो त्ति ॥
२०. तत्तिए आयारकहा उ, 'खुड्डिया आय-संजमोवाओ'^९ ।
तह जीवसंजमो वि य, होति चउत्थम्मि अज्जभयणे ॥

१. दसवेयालियं (स) ।

२. १३, १४ ये दोनों गाथाएं दोनों चूर्णियों में संकेतित नहीं हैं किन्तु भावार्थ कथानक के रूप में है । पंडित दसमुखभाई के अनुसार ये हरिभद्रकृत हैं क्योंकि इनमें शय्यभवन को नमस्कार किया गया है । किन्तु इन गाथाओं के बारे में विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि ये गाथाएं स्वयं हरिभद्र द्वारा रचित होतीं तो १३वीं गाथा के प्रारम्भ में वे स्वयं 'अवयवार्थ तु प्रतिद्वारं निर्युक्तिकार एव यथावसरं वक्ष्यति' (हाटी प १०) तथा १४वीं गाथा के प्रारंभ में 'चाह निर्युक्तिकारः' का उल्लेख नहीं करते । इसके अतिरिक्त गाथा १२ में जेण, जं, जत्तो और जावंति इन चार द्वारों के कथन की प्रतिज्ञा की है । इसमें जत्तो का उल्लेख करने वाली तीन गाथाएं १५, १६, १७ दोनों चूर्णियों में प्राप्त हैं, फिर 'जेण' का निरूपण करने वाली गाथाओं को निर्युक्ति-गाथा क्यों नहीं मानी जाए ? संभव है कथानक देने से गाथाओं का संकेत चूर्णिकारों ने नहीं किया हो अथवा लिपिकर्त्ताओं द्वारा

गाथाओं का संकेत लिखना छूट गया हो या फिर जिन प्रतियों के आधार पर मुद्रित चूर्ण का संपादन किया गया उसमें संकेत नहीं दिये गये हों । सभी हस्तप्रतियों में ये गाथाएं मिलती हैं ।

३. ० सुद्धि त्ति (ब) ।

४. फिर (हा, अचू) ।

५. ० याइया (हा), ० याइओ (अ) ।

६. इस गाथा में गा. १२ के 'जावंति' द्वार का स्पष्टीकरण है अतः अचू और जिचू में व्याख्यायित न होने पर भी इसे निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है । (देखें—टिप्पण गा. १३, १४) ।

७. इहेव जिणसासणम्मि त्ति (हा, अचू), हरिभद्र ने टीका में 'जिनसासने शर्मो नान्यत्र' ऐसा उल्लेख किया है । इसी आधार पर टीका और चूर्ण का मुद्रित पाठ स्वीकृत न कर आदर्शों का पाठ स्वीकृत किया है ।

८. जे इति पूरणार्थो निपातः (हाटी प. १३) ।

९. खुड्डियायार संजमो० (ब) ।

२१. भिक्खुविसोधो तव-संजमस्स गुणकारिया तु पंचमए ।
छट्ठे आथारकहा, महती जोगा^१ महयणस्स ॥
२२. वयणविभत्ती पुण सत्तमम्मि पणिहाणमट्टमे^२ भणियं ।
नवमे विणओ दसमे, समाणियं एस भिक्खु त्ति ॥
२३. दो अज्झयणा चूलिय, विसीययंते थिरीकरणमेणं ।
बित्तिए^३ विवित्तचरिया^४, असीयणगुणातिरेगफला ॥
२४. 'दसकालियस्स एसो'^५, पिडत्थो वणिगतो समासेणं ।
एत्तो एक्केक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि^६ ॥
२५. पढमज्झयणं दुमपुप्फियं ति चत्तारि तस्स दाराइ ।
वणित्तुवक्कमाई^७, धम्मपसंसाइ अहिगारो^८ ॥
- २५।१. ओहो जं सामन्नं, सुताभिहाणं चउव्विह तं च ।
अज्झयणं अज्झीणं, आयज्झवणा य पत्तेयं^९ ॥
- २५।२. नामादि चउव्वेयं, वण्णेऊणं सुयाणुसारेणं ।
दुमपुप्फिय आओज्जा, चउसुं पि कमेण भावेसु^{१०} ॥

१. जोगो (अ, ब) ।

२. ० हाण मट्टमे (अ) ।

३. बीए (ब) ।

४. विवत्त० (अ) ।

५. दसवेयालियस्स उ (जिचू), दसकालियस्सेह (अचू) ।

६. वन्नइ० (जिचू), प्रस्तुत गाथा दोनों चूर्णियों में उपलब्ध है । किन्तु मुनि पुण्यविजयजी ने अगस्त्यसिंह चूर्ण के संपादन में इसे निर्युक्ति-गाथा के क्रम में न रखकर उद्धृत गाथा के रूप में प्रस्तुत किया है । पंडित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार यह गाथा उपसंहारात्मक और संपूर्ति रूप है । टीका तथा आदशों में यह गाथा मिलती है । हमने इस गाथा को निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है क्योंकि अन्य निर्युक्तियों में भी ऐसी उपसंहारात्मक गाथाएं मिलती हैं—

उत्तरज्झयणाणोसो, पिडत्थो वणिगतो समासेणं ।
एत्तो एक्केक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥

(उत्ति २७)

७. वन्निउ० (अ), वण्णेउ० (हा) ।

८. दोनों चूर्णियों में प्रस्तुत गाथा उल्लिखित नहीं है, लेकिन इसका भावार्थ दोनों चूर्णियों में मिलता है । कुछ पाठांतर के साथ उत्तराध्ययन निर्युक्ति में भी ऐसी गाथा मिलती है । देखें—उत्ति २८ ।

९. उत्ति २८।१ ।

१०. २५।१, २ इन दोनों गाथाओं का चूर्णियों में कोई उल्लेख नहीं है । केवल 'तत्थ उवक्कमो जहा आवस्सए' इतना ही उल्लेख है । ये गाथाएं विशेषावश्यकभाष्य (गा. ९५८, ९५९) की हैं । हस्तलिखित आदशों में ये गाथाएं मिलती हैं । किन्तु ये गाथाएं व्याख्या के प्रसंग में बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती हैं अतः इन्हें निगा के क्रम में नहीं रखा है । टीकाकार हरिमद्र ने इनके लिए 'चाह निर्युक्तिकारः' ऐसा उल्लेख किया है ।

२६. अज्झप्पस्साणयणं, कम्माणं अवचओ उवचियाणं ।
अणुवचओ य नवाणं, तम्हा अज्झयणमिच्छंति^१ ॥
२७. अधिगम्मंति व^२ अत्था, इमेण अधिगं च नयणमिच्छंति ।
अधिगं च साहु गच्छति, तम्हा अज्झयणमिच्छंति^३ ॥
२८. जह् दीवा दीवसयं, पदिप्पए^४ सो य दिप्पती^५ दीवो ।
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति^६ ॥
२९. नाणस्स दंसणस्स य^७, चरणस्स य जेण आगमो होइ^८ ।
सो 'होइ भावआओ'^९, आओ लाभो त्ति निदिट्ठो ॥
३०. अट्ठविधं कम्मरयं, पोराणं जं खवेइ जोगेहि ।
एयं भावज्झयणं, णायव्वं^{१०} आणुपुव्वीए^{११} ॥
३१. नामदुमो ठवणदुमो, 'दव्वदुमो चेव होति भावदुमो'^{१२} ।
एमेव य पुप्फस्स वि, चउव्विहो होति निक्खेवो ॥
३२. दुमा य पादवा रुक्खा, 'विडिमी य अगा तरु'^{१३} ।
कुहा महीरुहा वच्छा, रोवगा भंजगा^{१४} वि य ॥

१. उनि ६, अनुट्ठा ६३१।१ ।

२. य (जिच्) ।

३. उनि ७ ।

४. पडिप्पई (रा) ।

५. दिप्पई (हा), दिप्पए (अ, रा) ।

६. अनुट्ठा ६४३।१, उनि ८, चंदा ३० ।

७. वि (हा) ।

८. होई (हा) ।

९. होई भावाओ (अ) ।

१०. नेयव्वं (अ, हा) ।

११. २६-३० तक की गाथाओं का अच् में कोई उल्लेख नहीं है । जिनदासचूणि में 'अज्झप्प-
स्साणयणं गाहाओ पंच भाणिमव्वाओ'- इतना

उल्लेख है । वहाँ १२वीं गाथा के बाद भी गा.
२६, २७, २८ और ३० का संकेत दिया है तथा
'दमाओ निरुत्तिगाहाओ चउरो' इतना उल्लेख
है । इससे स्पष्ट है कि जिनदास के समक्ष ये
गाथाएं निर्युक्तिगाथा के रूप में थीं । टीकाकार
ने इन पाँचों गाथाओं की व्याख्या की है तथा
आदर्शों में भी ये गाथाएं मिलती हैं । इनमें
कुछ गाथाएं अक्षरशः उत्तराध्ययन निर्युक्ति में
मिलती हैं ।

१२. खेत काल भाव दुमे (जिच्) ।

१३. अगमा विडिमा तरु (हा), अगमा विडिमी
तरु (अ), अगमा विडिवा तरु (रा) ।

१४. वंजगा (हा), जम्भगा (अ) ।

३३. पुष्पाणि य कुसुमाणि य, फुल्लाणि तद्देव होंति पसवाणि ।
सुमणाणि य सुहृमाणि, य 'पुष्पाणं' होंति एगट्टा^१ ॥
३४. 'दुमपुष्पिणा य'^२ आहारएसणा-गोघरे तथा उंछे ।
मेस-जलोया^३ सप्पे, वणज्ज-इसु-भोल-पुत्तुदए^४ ॥
३५. कत्थइ पुच्छति सीसो, कहिचऽपुट्टा कहंति^५ आयरिया ।
सीसाणं तु हितट्टा, विपुलतराणं तु पुच्छाए ॥
३६. नामं ठवणाधम्मो, दव्वधम्मो य भावधम्मो य ।
एतेसि नाणसं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए^६ ॥
३७. दव्वं च 'अत्थिकायो, पयारधम्मो'^७ य भावधम्मो य ।
दव्वस्स पज्जवा जे, ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥
३८. धम्मत्थिकायधम्मो, पयारधम्मो य विसयधम्मो य ।
लोइय-कुप्पावयणिय^८, लोगुत्तर लोगऽणेगविहो ॥
३९. गम्म-पसु-देस-रज्जे, पुरवर-गाम-गण-गोट्टि^९-राईणं^{१०} ।
सावज्जो उ कुत्तिथियधम्मो न जिणेहि^{११} तु पसत्थो ॥

१. एगट्टा पुष्पाणं होंति णायब्बा (अ, ब), प्रस्तुत गाथा दोनों चूर्णियों में गाथा रूप में उल्लिखित नहीं है। पुष्प के एकार्थक दोनों चूर्णियों में मिलते हैं अतः पंडित मालवणियाजी का कहना है कि चूर्ण के एकार्थक शब्दों के आधार पर हरिभद्र ने उसे पद्यबद्ध कर दिया हो, किन्तु ऐसा संभव नहीं लगता, क्योंकि स्वयं हरिभद्र अपनी टीका में 'पुष्पकार्थिक-प्रतिपादनायाह' ऐसा नहीं कहते तथा चूर्ण में तो मात्र तीन-चार एकार्थक शब्द हैं, गाथा में कुछ अन्य एकार्थक भी हैं। प्रथम अध्ययन का नाम 'दुमपुष्पिण' है। अतः दुम शब्द के एकार्थक के पश्चात् पुष्प के एकार्थक प्रासंगिक हैं। उसके बाद ३७वीं गाथा में प्रथम अध्ययन

के एकार्थक हैं। अतः प्रस्तुत गाथा निर्युक्तिकार द्वारा ही रचित प्रतीत होती है। सभी हस्त-प्रतियों में यह गाथा उपलब्ध है।

२. ० फियं च (अचू), ० प्फियाह (व) ।
३. जलूगा (जिचू, हा) ।
४. उसु-पुत्त-गोलुदए (अचू) ।
५. कहिति (अ, रा, अचू) ।
६. तु० सुनि १०० ।
७. ०कायप्पयार० (हा) ।
८. ०वण्णे (हा) ।
९. गुट्टि (अ, ब) ।
१०. राईणं ति (जिचू) ।
११. जिणेसु (अचू) ।

४०. दुविहो लोपुत्तरिओ, सुयधम्मो खसु चरित्तधम्मो य ।
सुयधम्मो सज्जकओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो^१ ॥
४१. दब्बे भावे वि^२ य मंगलाणि^३ दब्बम्मि पुण्णकलसादो ।
धम्मो उ भावमंगलमेत्तो 'सिद्धि ति'^४ काऊणं ॥
४२. हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा 'सा उ'^५ ।
दब्बे भावे य तहा, अहिंसज्जीवाइवाओ^६ ति^७ ॥
४३. पुढवि-दग-अगणि मारुय, वणसई^८ वि-ति-चउ-पणिदि अज्जीवे ।
पेहोपेह-पमज्जण, परिठवण मणो-वई काए ॥
४४. अणसणमूणोयरिया, वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्जओ तवो होइ^९ ॥
४५. पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
भाणं उस्सगो वि य, अब्भितरओ तवो होइ^{१०} ॥
४६. जिणवयणं 'सिद्धं चेव'^{११}, भण्णए^{१२} कत्थई उदाहरणं ।
आसज्ज उ सोयारं, हेऊ वि कहिचि भण्णेज्जा ॥
४७. कत्थइ^{१३} पंचावयवं, दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं ।
न य पुण सव्वं भण्णति, हंदी सवियारमक्खातं ॥

१. भुनिश्री पुण्यविजयजी ने अपने द्वारा संवादित अष्ट में प्रस्तुत गाथा को निर्युक्तिगाथा के रूप में स्वीकृत नहीं किया है। इसका भावार्थ गद्य रूप में दोनों चूर्णियों में उपलब्ध है। टीका तथा आदर्शों में भी यह निर्युक्तिगाथा के क्रम में है अतः इसे प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता। विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से भी यह गाथा यहाँ प्रासंगिक लगती है।

२. × (जिच्) ।

३. ० लाई (हा) ।

४. सिद्ध ति (ब) ।

५. हिंसा (अ, व) ।

६. ० अज्जीवा ० (ब) ।

७. ४२ से ४५ तक की गाथाएं टीका तथा सभी हस्तप्रतियों में उपलब्ध हैं। दोनों चूर्णियों में

गाथा का संकेत न होने पर भी इनकी विस्तृत व्याख्या मिलती है। कुछेक विद्वानों के अनुसार ये गाथाएं बाद में प्रक्षिप्त हुई हैं किन्तु अगस्त्यसिंह चूर्णि (पृ. ११) की २०वीं गाथा की व्याख्या में कहा है कि संयम और सप निर्युक्ति विशेष से कहे जाएंगे, अतः यहाँ इनका उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये गाथाएं चूर्णिकार के सामने निर्युक्ति-गाथा के रूप में थीं।

८. वणसई (हा) ।

९. हीही (हा), तु० उसू ३०।८ ।

१०. उसू ३०।३० ।

११. सिद्धमेव (जिच्) ।

१२. भण्णती (अच्), भण्णइ (ब), भण्णई (अ) ।

१३. कत्थ वि (जिच्), कत्थति (अच्) ।

- ४७।१. तत्थाहरणं दुविहं, चउव्विहं होइ एकमेवकं तु ।
हेळ चउव्विहो खलु, तेण उ साहिज्जए अत्थो^१ ॥
४८. 'णातं आहरणं'^२ ति य, दिट्ठंतोवम्म निदरिसणं तह य ।
एगट्ठं तं दुविहं, चउव्विहं जेव नायव्वं ॥
४९. चरितं च कप्पितं या^३, दुविहं तत्तो चउव्विहेक्केक्कं ।
आहरणे तद्देसे, तद्दोसे जेवुव्वसासे ॥दारं॥
५०. चउघा खलु आहरणं, होति अवाओ उवाय ठवणा य ।
तह य पडुप्पसविणासमेव पढमं चउविगप्पं^४ ॥
५१. दव्वावाए दोन्नि उ, वाणियगा भायरो धणनिमित्तं ।
वहपरिणएकमेवकं, दहम्मि मच्छेण निज्जेओ ॥
५२. सेत्तम्मि अवक्कमणं, दसारवग्गस्स होइ अवरेणं ।
दीवायणो^५ य काले, भावे मंडुक्कियाखवओ^६ ॥
५३. सिक्खगअसिक्खगाणं, संवेगथिरट्ठयाइ दोण्हं पि ।
दव्वाइयाइ एवं, दंसिज्जंते 'अवाया उ'^७ ॥
५४. दवियं कारणगहियं, विगिचियव्वमसिवाइ सेत्तं च ।
बारसहि एस्सकालो^८, कोहाइविवेग भावम्मि ॥

१. इस गाथा का दोनों चूर्णियों में कोई उल्लेख नहीं मिलता । यह गाथा प्रक्षिप्त प्रतीत होती है क्योंकि आगे की गाथा में पुनः इसी विषय की पुनर्शक्ति हुई है । यहां यह गाथा विषयवस्तु की दृष्टि से भी अप्रासंगिक लगती है ।

२. नायमुदाहरणं (हा) ।

३. च (जिच्), या (हा) ।

४. भवे चउहा (अ,ब), ५० से ८५ तक की गाथाओं का दोनों चूर्णियों में कोई संकेत नहीं है किन्तु व्याख्या और कथानक मिलते हैं । मुनि पुण्यविजयजी ने ५६, ७३ और ८२ इन तीन गाथाओं को उद्धृतगाथा के रूप में माना है । ऐसा अधिक संभव लगता है कि चूर्ण की व्याख्या के अनुसार किसी अन्य आचार्य ने इन गाथाओं की रचना की हो किन्तु गाथा ५०वीं की व्याख्या में टीकाकार हरिभद्र

स्पष्ट लिखते हैं कि—'स्वरूपमेषां प्रपञ्चेन भेदतो निर्युक्तिकार एव वक्ष्यति' (हाटी प. ३५) तथा गा. ५२ की व्याख्या में 'प्रकृत-योजनां पुननिर्युक्तिकार एव करिष्यति, किम-काण्डः एव नः प्रयासेन' (हाटी प. ३६) । इसके अतिरिक्त गा. ७९ की व्याख्या में भी 'भावार्थस्तु प्रतिभेदं स्वयमेव वक्ष्यति निर्युक्ति-कारः' (हाटी प. ५५) कहा है । इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि टीकाकार के सामने ये गाथाएं निर्युक्तिगाथाओं के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थीं । अतः हमने इनको निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है ।

५. देवा० (अ,ब) ।

६. ० खमओ (ब) ।

७. अवायाओ (अ) ।

८. एस० (अ) ।

५५. दब्बादिएहि निच्चो, एगतेणेव 'जेसि अप्पा' उ ।
होति अभावो तेसि, सुह-दुहसंसारमोक्खाणं ॥
५६. सुहदुखसंपओगो^२, न 'विज्जई निच्चवायपक्खम्मि' ।
एगंतुच्छेयम्मि य, सुहदुखविकप्पणमजुत्तं^३ ॥
५७. एमेव चउविगप्पो, होइ उवाओ वि तत्थ दब्बम्मि ।
'धातुब्बाओ पढमो'^४, नंगलकुलिएहि खेत्तं तु ॥
५८. कालो य नालियाइहि^५, होइ भावम्मि पंडिओ अभओ ।
'चोरनिमित्तं नट्टिय'^६, बहुकुमारि परिकहेति ॥
५९. एवं तु इहं^७ आया, पच्चक्खं^८ अणुवलब्भमाणो वि ।
सुहदुखमादिएहि, गिज्झइ हेऊहि अत्थि ति ॥
६०. जह वऽस्साओ^९ हत्थि, गामा नगरं तु^{१०} पाउसा सरयं ।
ओदइयाउ उवसमं, संकंती देवदत्तस्स ॥
६१. 'एवं सउ'^{११} जीवस्स वि, दब्बादो संकमं पडुच्चा उ ।
अत्थित्तं साहिज्जइ, पच्चक्खेणं परोक्खं पि^{१२} ॥
६२. एवं सउ जीवस्स वि, दब्बादो संकमं पडुच्चा उ ।
परिणामे साहिज्जति, पच्चक्खेणं परोक्खे वि^{१३} ॥
६३. ठवणाकम्मं एककं, दिट्ठंतो तत्थ पोंडरीयं तु ।
अह्वा वि सन्नठवकण^{१४}, हिंसुसिवकयं उदाहरणं ॥
६४. सम्बभिचारं^{१५} हेतुं, सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहि ।
उवबूहइ सप्पसरं, सामत्थं चप्पणो नाउं ॥

१. जेसिमप्पा (अ)

२. ० दुह० (हा) ।

३. संभवति निच्चपक्खवातम्मि (अच्) ।

४. मुद्रित अच् में यह गाथा उद्धृत गाथा के रूप में है ।

५. पाठांतरं वा—धातुब्बाओ भणिओ (हाटी) ।

६. ०याईहि (ब, रा) ।

७. चोरस्स कए नट्टिय (रा), चोरस्स कए नट्टि (हा), टीकाकार ने इस पद की व्याख्या न कर 'चोरनिमित्तं नट्टिय' पद की व्याख्या की है । हमने इस पाठ को मूल मानकर टीका के

मुद्रित पाठ को पाठांतर में दिया है ।

८. अहं (अ) ।

९. प्रत्यक्षमिति तृतीयार्थे द्वितीया (हा) ।

१०. अस्साओ (ब) ।

११. व (ब) ।

१२. एवस्स उ (अ) ।

१३. अन्ये तु द्वितीयगाथापश्चाद् पाठान्तरोज्यथा व्याचक्षते । (हाटी प. ४३) ।

१४. यह गाथा रा और ब प्रति में नहीं है ।

१५. ० वकणेहि (ब) ।

१६. सन्निभि० (ब) ।

६५. होति पडुप्पन्नविणासणम्मि गंधव्विया उदाहरणं ।
सोसो वि कत्थवि^१ जइ, अज्झोवज्जिज्ज तो गुरुणा ॥
६६. वारेयव्वु उवाएण, जइ य^२ वाळलिओ^३ वदेज्जाहि ।
सव्वे वि नत्थि भावा, किं पुण जीवो स वत्तव्वो^४ ॥
६७. जं भणसि नत्थि भावा, वयणमिणं अत्थि नत्थि ? जइ अत्थि ।
'एव पइण्णाहाणी'^५, असओ णु निसेहए को नु ? ॥
६८. नो य विवक्खापुव्वो, सद्दोऽजीवुब्भवो त्ति न य सावि ।
जमजीवस्स उ सिद्धो, पडिसेहणीओ तो^६ जीवो ॥
६९. आहरणं तद्देसे, चउहा अणुसट्ठि तह उवालंभो^७ ।
पुच्छा निस्सावयणं, होइ सुभद्दाणुसट्ठीए^८ ॥ वारं ॥
७०. साहुक्कारपुरोगं, जह सा अणुसासिया पुरजणेणं ।
वेयावच्चाईसु वि, एव जयंतेववूहिज्जा^९ ॥
७१. जेसि पि अत्थि आया^{१०}, वत्तव्वा ने छि अम्ह वि स अत्थि ।
किंतु^{११} अकत्ता न भवइ, वेययई जेण सुहदुक्खं ॥
७२. उवलम्भम्मि मिगावइ, नाहियवाई वि एव वत्तव्वो ।
नत्थि त्ति कुविण्णाणं, आयाऽभावे सइ अजुत्तं ॥
७३. अत्थि त्ति जा वितक्का, अहवा नत्थि त्ति जं कुविण्णाणं ।
अच्चंतमभावे पोगलस्स, एयं चिय 'न जुत्तं'^{१२} ॥
७४. पुच्छाए कोणिओ खलु, निस्सावयणम्मि गोयमस्सामी ।
नाहियवाई^{१३} पुच्छे, जीवत्थित्तं अणिच्छंतं ॥
७५. केणं ति नत्थि आया, जेण 'परोक्खो त्ति'^{१४} तव कुविण्णाणं ।
होइ परोक्खं तम्हा, नत्थि त्ति निसेहए को णु ! ॥

१. कत्थइ (अ, ब) ।

२. वा (हा), व (रा) ।

३. वेळलिओ (रा) ।

४. वीत्तव्वो (हा) ।

५. एवं पइन्नहाणी (ब) ।

६. उ (रा) ।

७. उवलंभो (रा) ।

८. ० सिट्ठीए (रा) ।

९. जयंते विवूहिज्जा (ब), जयंतेणुवोहेज्जा (रा, हा) ।

१०. जीवो (रा) ।

११. जं तु (ब) ।

१२. अजुत्तं (अ, ब), प्रस्तुत गाथा अचू में उद्धृत गाथा के रूप में प्रकाशित है ।

१३. ० वायं (ब) ।

१४. परोक्खं ति (अ) ।

७६. अन्नावदेसओ नाहियवाई जेसि नत्थि^१ जीवो उ ।
दाणाइफलं तेसि, न विज्जई^२ 'चउह तद्दोस'^३ ॥
७७. पढमं अधम्मजुत्तं, पडिलोमं अत्तणो उवन्नासं ।
दुरुवणियं तु चउत्थं, अधम्मजुत्तम्मि नलदामो^४ ॥दारं॥
७८. पडिलोमं जह् अभावा, पज्जाय हरेइ अवाहिओ सतां ।
गोविदवायगो वि य, जह् परपक्खं नियत्तइ ॥
७९. अत्तउवन्नासम्मि य, तलागभेयम्मि पिगलो थवई ।
अणिमिसिगिण्हण^५ भिक्खुग^६, दुरुवणीए उदाहरणं ॥
८०. चत्तारि उवन्नासे, तव्वत्थु तयन्नवत्थुगे चव ।
'पडिनिभहेउम्मि य तत्थ होंति'^७ इणमो उदाहरणा ॥
८१. तव्वत्थुगम्मि पुरिसो, सब्बं भमिऊण साहइ अपुव्वं ।
तदअन्नवत्थुगम्मि वि, अन्नत्ते होइ एगत्तं ॥
८२. तुज्झ पिता मह पिउणो, धारेति अणूणगं पडिनिभम्मि^८ ।
किं नु जवा किज्जंते^९? जेण मुहाए न लब्भंति^{१०} ॥
८३. 'अहवा वि इमो हेऊ, विण्णेओ तत्थिमो चउविगण्णो'^{११} ।
जावग थावग वंसग, लूसग हेऊ चउत्थो उ ॥दारं॥
८४. उब्भामिगा य महिला, जावगहेउम्मि उट्टलिडाई^{१२} ।
लोगस्स मज्झजाणण, थावगहेऊ^{१३} उदाहरणं ॥
८५. सा सगडित्तिरी^{१४} वंसगम्मि हेऊम्मि होइ नायव्वा ।
तउसग-वंसग-लूसग, हेउम्मि य मोयगो य पुणो^{१५} ॥

१. न अत्थि (रा) ।
२. विज्जइ (हा) ।
३. चतुर्धा तद्दोष इति, अनुस्वारस्त्वलाक्षणिकः
(हाटी प. ५२) ।
४. नलदाहो (अ), ० दामा (रा) ।
५. अणमि० (ब) ।
६. भिक्खुग (रा) ।
७. पडिनिभए हेउम्मि य होंति (हा) ।
८. सयसहस्सं (ब) ।
९. किज्जंती (अ) ।
१०. दोनों चूर्णियों में यह गाथा निगा के क्रम में
नहीं है । किंतु कुछ पाठभेद के साथ उद्धृत

गाथा के रूप में प्रकाशित है--

तुज्झ पिता मज्झ पिऊ,
धारेति अणूणतं सतसहस्सं ।
जदि सुतपुव्वं दिज्जतु,
अह ण सुतं खोरयं देहि ॥

११. अन्ये त्वेवं पठन्ति—हेउ त्ति दारमहुणा,
चउव्विहो सो उ होइ नायव्वो (हाटी) ।
१२. उट्टलिडाई (हा) ।
१३. ०हेउं (अ) ।
१४. ०त्तिरी (अ,ब) ।
१५. इन हेतुओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए
देखें छाणं ४।४९९-५०४ ।

८६. धम्मो गुणा अहिंसादिया उ ते परममंगलपतिष्णा^१ ।
देवा वि लोगभुज्जा, पणमंति^२ सुधम्ममिति हेऊ ॥
८७. दिट्ठतो अरहंता^३, अणगारा य बहवे उ^४ जिणसिस्सा^५ ।
वत्तणुवत्ते णज्जति, अं नरवतिणो वि पणमंति ॥
८८. उवसंहारो देवा, जहू तह राया वि पणमति^६ सुधम्मं ।
'तम्हा धम्मो मंगलमुक्किट्ठं निगमणं एवं'^७ ॥
८९. वितियपइष्णा^८ जिणसासणम्मि साहेति साहवो^९ धम्मं ।
हेऊ जम्हा सब्भाविएसुअहिंसादिसु^{१०} जयंति ॥
- ८९।१. जहू जिणसासणनिरया, धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं ।
न कुत्तिथिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ^{११} ॥
- ८९।२. तेसु वि य धम्मसद्धो, धम्मं नियमं च ते पसंसंति ।
नणु भणिओ सावज्जो, कुत्तिथिधम्मो जिणवरेहि ॥
- ८९।३. जो तेसु^{१२} धम्मसद्धो, सो उवयारेण निच्छएण इहं ।
जहू सीहसद्धु सीहे, पाहणुवयारओज्जत्थ ॥

१. ०पइल्लो (रा) ।
२. पणमति (जिचू) ।
३. अरि ० (अ) ।
४. य (अचू, जिचू) ।
५. ० सीसा (रा, हा, जिचू) ।
६. पणमंति (जिचू) ।
७. तम्हा मंगलमुक्किट्ठमिति निगमणं होति
णायव्वं (जिचू), ० मंगलमुक्किट्ठमिइ अ
निगमणं (हा), ० मंगलमुक्किट्ठमिइ निगमणं च
(अ, रा) ।
८. वीय ० (ब), विइयपइन्ता (हा) ।
९. साहुणो (अ, ब) ।
१०. साभाविएसु अहिंसादिसु (जिचू), साभावियं
अहिंसादिसु (अचू), अन्ये तु व्याचक्षते—
सब्भाविएहिं (हाटी) ।
११. गा० ८९ के बाद ८९।१, २, ३—इन तीन
गाथाओं का दोनों चूर्णियों में कोई उल्लेख
१२. तेसि (ब) ।

नहीं है। टीका में ये गाथाएं निर्युक्तिगाथा
के क्रम में प्रकाशित हैं किन्तु पूर्वापर सम्बन्ध
को देखते हुए ये गाथाएं भाष्य की प्रतीत
होती हैं। ये तीनों गाथाएं ८९वीं गाथा की
व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। दूसरी बात यह है
कि गा. ८९ के बाद ९० की गाथा का सीधा
सम्बन्ध जुड़ता है। मुद्रित टीका में प्रथम
भाष्यगाथा के रूप में 'एस पइष्णासुद्धि'.....
गाथा है। इस गाथा में हेतुविसुद्धि का वर्णन
है तथा प्रतिज्ञासुद्धि की बात बताई जा चुकी
है, इसका उल्लेख है। हाटी गा. ९३-९५
(८९/१-३) इन तीन गाथाओं में प्रतिज्ञासुद्धि
का वर्णन है। भाष्यकार के उक्त कथन से
८९/१-३—इन तीनों गाथाओं को भाष्य
गाथा मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती।
(देखें परिशिष्ट १ गा. १-३) ।

९०. जं भत्त-पाण-उवगरण-वसहि-सयणासणादिसु जयंति^१।
फासुयमकयमकारियमणुमतमणुदिसितभोई^२ ॥
९१. अप्फासुय'-कय-कारित-अणुमय-उद्विद्धुभोइणो' हंदि^३।
तस-थावरहिंसाए, जणा अकुसला उ लिप्पंति^४ ॥
९२. जह 'भमरो त्ति'^५ य एत्थं, दिट्ठंतो होति आहरणदेसे।
चंदमुहिदारिगेयं', सोमत्तावधारणं ण सेसं ॥
९३. एवं भमराहरणे, अणिययवित्तिताणं न सेसाणं।
गहणं दिट्ठंतविसुद्धि, सुत्ता' भणिया इमा चज्झा^६ ॥
९४. एत्थ'^७ य भणेज्ज कोई, समणाणं कीरए'^८ सुविहियाणं।
पाकोवजीविणो'^९ ति य, लिप्पंतारंभदेसेणं ॥
९५. 'वासति न'^{१०} तणस्स'^{११} कते, न तणं वड्ढति कते मयकुलाणं।
न य रुक्खा सतसाहा'^{१२}, पुप्फंति'^{१३} कते महुयराणं ॥
- ९५।१. अग्निग्नि हवी हूयइ, आइच्चो तेण पीणिओ संतो।
वरिसइ पयाहियट्ठं, तेणोसहिओ परोहंति'^{१४} ॥

१. जयंती (अ)।

२. फासुय-अकय-अकारिय-अणुमयमणुदिवुभोई
य (हा) ० मकय अकारिय अणुमयमणुदिवु-
भोई य (रा)।

३. अप्फासुय (हा), न फासुय (जिचू)।

४. ० भोयणो (हा)।

५. ९०, ९१ ये दोनों गाथाएं दोनों चूर्णियों में
निर्युक्तिगाथा के रूप में निर्दिष्ट हैं। हरिभद्र
ने अपनी व्याख्या में इन गाथाओं के विषय में
'भाष्यकृद्' या 'निर्युक्तिकृद्'—ऐसा कोई
उल्लेख नहीं किया है। किन्तु भुद्रित टीका
की प्रति में इन गाथाओं के आगे 'भाष्यम्'
का उल्लेख है। हमने इन्हें निगा के क्रम में
रखा है।

६. भमरा तू (जिचू)।

७. ० दाहकेयं (रा)।

८. सुत्ते (रा)।

९. इस गाथा के बारे में दोनों चूर्णियों में कोई
उल्लेख नहीं है किन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से
यह पूर्व गाथा से जुड़ी हुई है अतः संभव है
चूर्णिकार ने सरल समझकर इसकी व्याख्या
न की हो। इसके अतिरिक्त इसी गाथा की
'इमा चज्झा' शब्द की व्याख्या में टीकाकार
कहते हैं कि 'इयं चान्या सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति-
ताविनि', (हाटी प. ६५) अतः स्पष्ट है कि
यह निर्युक्तिगाथा है।

१०. तत्थ (जिचू)।

११. कीरई (अ, ब), कीरती (अचू)।

१२. पागोव ० (हा, ब) पावोव ० (रा)।

१३. वासइ व (जिचू)।

१४. तिणस्स (अ, रा)।

१५. सयसाला (हा)।

१६. फुल्लंति (अचू), फुल्लंति (हा)।

१७. परोहंति (रा)।

- १५।२. किं दुग्धिभक्खं जायइ ? , जइ एवं अहं भवे दुरिट्ठं तु ।
किं जायइ सव्वत्था, दुग्धिभक्खं अहं भवे इदो ? ॥
- १५।३. वासइ 'तो किं' विग्घं, निग्घायाइहि जायए तस्स ।
अहं वासइ उउसमए, न वासई तो तणद्धाए' ॥
१६. 'किं च' दुमा पुप्फंती^१, भमराणं कारणा अहासमयं ।
मा भमर-महुगरिगणा^२, किलामएज्जा अणाहारा ॥
- १६।१. कस्सइ बुद्धी एसा, वित्ती उवकप्पिया पयावइणा ।
सत्ताणं तेण दुमा, पुप्फंती महुयस्सिणट्ठा ॥
- १६।२. तं न भवइ जेण दुमा, नामागोयस्स पुव्वविहियस्स ।
उदएणं पुप्फफलं, निवत्तयंती^३ इमं चण्णं^४ ॥
१७. अत्थि बहू वणसंडा, भमरा जत्थ^५ न उवेति न वसंति ।
तत्थ वि पुप्फंति दुमा, पगती एसा दुमगणार्ण ॥

१. इह (रा) ।

२. किं तो (रा) ।

३. गाथा १५ के बाद की तीन गाथाओं का दोनों चूर्णियों में कोई संकेत नहीं है किन्तु अचू में 'एत्थ चोदेति' तथा जिबू में 'एत्थंतरे सीसो चोदेइ' कहकर इन तीनों गाथाओं का भावार्थ दिया है । इन तीनों गाथाओं में १५वीं गाथा का ही विस्तार तथा व्याख्या है, अतः ये भाष्य-गाथाएं प्रतीत होती हैं । मुद्रित टीका की प्रति में ये निर्युक्तिगाथा के क्रम में प्रकाशित हैं, किन्तु हरिभद्र ने अपनी व्याख्या में इन गाथाओं के बारे में कोई संकेत नहीं दिया है । हमने इनको भाष्यगाथा के रूप में स्वीकृत किया है । इन गाथाओं को निगा के क्रम में न रखें तो भी चालू विषयक्रम में कोई अंतर नहीं आता । विषय की दृष्टि से १५ की गाथा १६ से सीधी जुड़ती है । (देखें परि० १ गा. ६-८)

४. कितु (जिबू) ।

५. ० फेंती (अचू), पुप्फंति (हा) ।

६. महुयर० (अ, व)

७. निव्वयंति (रा) ।

८. १६/१-२ इन दोनों गाथाओं की संक्षिप्त व्याख्या चूर्ण में मिलती है किन्तु गाथाओं का संकेत नहीं है । टीका में यह निगा के क्रम में व्याख्यात है । किन्तु यह गाथा भाष्य की होनी चाहिए । (देखें टिप्पण गा. १५।३) । ये गाथाएं रा प्रति में नहीं मिलती हैं । ये दोनों गाथाएं व्याख्यात्मक सी प्रतीत होती हैं । इन दोनों को निगा के क्रम में न रखने से भी चालू विषयक्रम में कोई अंतर नहीं पड़ता । १६ की गाथा विषयवस्तु की दृष्टि से १७ से सीधी जुड़ती है । (देखें परि १ गा. ९, १०)

९. अं च (हा) ।

- १७।१. जइ पगई कीस पुणो, सव्वं कालं न देति पुप्फफलं ।
जं काले पुप्फफलं, ददति गुरुराह अत एव^१ ॥
१८. पगती एस जुमाणं, जं उज्जययम्मि आगए संते ।
पुप्फंति पादवगणा, फलं च कालेण बंधंति ॥
१९. किन्नु गिही रंधंती, समणार्णं 'कारणा अहासमयं'^२ ।
मा समणा भगवंतो, किलामएज्जा अणाहारा ॥
- १९।१. समणऽणुकंपनिमित्तं, पुण्णनिमित्तं च गिहमिवासी उ ।
कोई भणएज्ज पागं, करंति सो भणइ न जम्हा^३ ॥
१००. कंतारे दुब्भिक्खे^४, आयंके वा महइ^५ समुप्पन्ने ।
रत्ति समणसुविहिया, सव्वाहारं न भुंजंति ॥
१०१. अह कीस पुण गिहत्था, रत्ति आदरतरेण^६ रंधंति ।
समणेहि सुविहिएहि, चउव्विहाहारविरएहि^७ ॥
१०२. अत्थि बहु गाम-नगरा^८, समणा जत्थ न उव्वंति न वसंति ।
तत्थ वि रंधंति गिही, पगती एसा गिहत्थार्णं ॥
१०३. पगती एस गिहीणं, जं गिहिणो गाम-नगर-निगमेसुं ।
रंधंति 'अप्पणो परियणस्स'^९ 'अट्ठाए कालेण'^{१०} ॥
१०४. 'एत्थ समणा सुविहिया'^{११}, परकड-परनिट्ठियं विगयधूमं ।
आहारं एसंती^{१२}, जोगाणं साहणट्ठाए ॥

१. १७।१ गाथा हाटी में निगा के क्रम में प्रकाशित है। दोनों चूर्णियों में इस गाथा का संकेत न होने पर भी भावार्थ मिलता है। यह गाथा स्पष्ट रूप से भाष्य की प्रतीत होती है क्योंकि इसमें १७ की गाथा का ही स्पष्टीकरण है तथा इस गाथा के उत्तरार्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'गुरुराह अत एव'। भाष्यकार ही निर्युक्तिकार के बारे में ऐसा उल्लेख कर सकते हैं। (देखें परि. १ गा. ११)

२. कारणे सुविहियाणं (जिचू), कारण सुविहियाणं (अचू)।

३. यह गाथा टीका में निगा के क्रम में व्याख्यात है। मुनि पुण्यविजयजी ने अचू में इसे निगा

के क्रम में स्वीकृत नहीं किया है। यह गाथा भाष्य की होनी चाहिए क्योंकि यह व्याख्या रूप है। (देखें परि० १ गा० १२)

४. दुब्भिक्खे (जिचू)।

५. महया (अ,व), महई (अचू)।

६. आयात ० (रा०)।

७. इस गाथा का जिचू में कोई उल्लेख नहीं है।

८. देसा (अचू)।

९. परियणस्स अप्पणो (रा)।

१०. कालेण अट्ठाए (अ,व,रा)।

११. एत्थ प समणसुवि ० (अचू), तत्थ समणा तवस्सी (हा,रा)।

१२. एसंति (हा)।

१०५. नवकोडीपरिसुद्धं, उगम-उप्पायणेसणासुद्धं ।
छद्धानरक्खणट्ठा, अहिंस-अणुपालणट्ठाए^१ ॥
१०६. विट्ठंतसुद्धि एसा, उवसंहारो य सुत्तनिहिट्ठो ।
संतो विज्जंती त्ति य, संति सिद्धि च साहंति^२ ॥
१०७. धारेइ तं तु दब्बं, तं दब्बविहंगमं वियाणाहि ।
भावे विहंगमो पुण, गुणसण्णासिद्धिओ दुविहो ॥
१०८. विहमागासं^३ भण्णइ, गुणसिद्धी तप्पइट्ठिओ लोगो ।
तेण उ विहंगमो सो, भावत्थो वा गई दुविहा ॥
१०९. भावगई कम्मगई, भावगई पप्प अत्थिकाया उ ।
सब्बे विहंगमा खलु, कम्मगईए इमे भेया ॥
११०. विहगगई चलणगई, कम्मगई उ समासओ दुविहा ।
तदुदयवेयगजीवा, विहंगमा पप्प विहगगई ॥
१११. 'चलणं कम्मगई'^४ खलु, पडुच्च संसारिणो भवे जीवा ।
पोगलदब्बाइ वा, विहंगमा एस गुणसिद्धी ॥
११२. सण्णासिद्धि पप्पा, विहंगमा होति पक्खिणो सब्बे ।
इहइ पुण अहिगारो, विहायगमणेहि^५ भमरेहि ॥
११३. दाणेति^६ दत्त गिण्हण, भत्ते भज-सेव फासुणेण्हणया ।
एसणतिगम्मि निरया, उवसंहारस्स सुद्धि इमा ॥
११४. अवि भमरमधुकरिणणा^७, अविदिण्णं आवियंति^८ कुसुमरसं ।
समणा पुण भगवंतो, नादिण्णं भोत्तुमिच्छंति ॥

१. टीकाकार हरिभद्र ने इस गाथा को 'भिन्नकर्तृकी' माना है। दोनों चूर्णियों में यह निर्युक्ति गाथा के क्रम में व्याख्यात है। यह गाथा मूलाचार में भी है। हमने इसे निगा के रूप में स्वीकृत किया है।
२. १०६-१३ की गाथाओं का दोनों चूर्णियों में कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु टीकाकार हरिभद्र ने निर्युक्ति गाथा के रूप में इनकी व्याख्या की है। गा. १०६ की व्याख्या में टीकाकार कहते हैं—चोक्तं निर्युक्तिकारेण संति विज्जंती त्ति य (हाटी प ६८) तथा १०७वीं गाथा के प्रारंभ में भी—अवयवार्थं सूत्रस्पर्शकनिर्युक्त्या प्रतिपादयति (हाटी प ६८) १०८वीं गाथा के बारे में भी निर्युक्ति-

कारेणाभ्यधायि (हाटी प ६९) का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट है कि हरिभद्र के समक्ष ये गाथाएं निर्युक्तिगाथा के रूप में प्रसिद्ध थीं। चूर्णि में इन गाथाओं का उल्लेख न होने का कोई स्पष्ट कारण प्रतीत नहीं होता।

३. विजहाति विमुञ्चति जीवपुव्वलानिति विहं (हाटी प ६९) ।
४. चलनं कम्मगई (व.हा) ।
५. विहासग ० (हा) ।
६. दाणिति (अ), दाणे त्ति (ब) ।
७. ० महुयरगणा (हा, रा),
८. आदियंति (जिष्णु) ।

११५. असंजतेहि^१ भमरेहि, जदि समा संजता खलु भवति ।
एयं^२ उवमं किच्चा, नूणं अस्संजता समणा ॥
११६. उवमा खलु एस कता, पुव्वुत्ता देसलवखणो वयणा^३ ।
अणियतवित्तिनिमित्तं, अहिंसअणुपालणद्वाए ॥
११७. जह दुमगणा उ तह नगर जणवया पयण-पायणसभावा ।
जह भमरा तह मुणिणो, नवरि^४ 'अदत्तं न भुजंति'^५ ॥
११८. कुसुमे सभावपुष्के^६, आहारंति भमरा जह तहेव^७ ।
भत्तं सभावसिद्धं, समणसुविहिता गवेसंति ॥
११९. उवसंहारो भमरा, जह तह समणा वि अवधजीवि त्ति ।
दंतं^८ त्ति पुण पदम्मी, 'णातब्बं वक्कसेसमिणं'^९ ॥
१२०. 'जह एत्थ चेव'^{१०} इरियादिएसु सव्वम्मि दिक्खियपयारे ।
तस-थावरभूयहियं, जयंति सव्वभावियं साहू ॥
- १२०।१. उवसंहारविसुद्धी, एस समत्ता उ निगमणं तेणं ।
वुच्चंति साहुणो त्ति य, जेणं ते महयुरसमाणा^{११} ॥
- १२०।२. तम्हा दयाइगुणसुद्धिएहि भमरोव्व अवहवित्तोहि ।
साहूहि साहिउ त्ति, उक्किट्ठं मंगलं धम्मो ॥
- १२०।३. निगमणसुद्धी तित्थंतरा^{१२} वि धम्मत्थमुज्जया विहरे ।
भण्णइ कायाणं ते, जयणं न मुणंति न कुणंति^{१३} ॥
- १२०।४. न य उगमाइसुद्धं, भुजंती महयरा वणुवरोही ।
नेव य तिगुत्तिगुत्ता, जह साहू निच्चकालं पि ॥

१. अस्संज ० (अचू), अस्संजएहि (हा), असंज-
एहि (जिचू) ।

२. एयं (हा,व) ।

३. तृतीयार्था चेह पंचमी (हाटी प ७३)

४. नवर (जिचू) ।

५. अदिण्णं न गेण्हंति (अचू) ।

६. सहावपुल्ले (हा,व) ।

७. तहा उ (हा) ।

८. दत्ति (अ,व), दंति (अ) ।

९. पायव्वो वक्कसेसोऽयं (हा) ।

१०. जो एत्थेवं (जिचू) ।

११. १२०।१-४ ये चार गाथाएं हाटी में निगा के
क्रम में प्रकाशित हैं । किन्तु दोनों चूर्णियों में

इन गाथाओं का कोई संकेत नहीं मिलता ।

इन गाथाओं में उपसंहार विगुद्धि और
निगमनशुद्धि का उल्लेख है । ये गाथाएं
व्याख्यात्मक हैं, अतः भाष्य की होनी चाहिए
क्योंकि निर्युक्तिकार प्रायः इतने विस्तार से
किसी भी विषय की व्याख्या नहीं करते ।
तथा इन चार गाथाओं को निर्युक्ति के क्रम
में न रखने पर भी विषयवस्तु की क्रमबद्धता
में कोई अंतर नहीं आता । (देखें परि १
गा. १३-१६)

१२. ० तरी (रा) ।

१३. करेंति (रा) ।

१२१. कायं वायं च मणं च, इंदियाइं च पंच दमयंति^१ ।
धारंति बंधवेरं, संजमयंती^२ कसाए य ॥
१२२. जं च तवे दण्णुत्ता, तेणेति दण्णुक्कणं^३ पुण्णं ।
तो साधुणो ति भण्णंति^४, साह्वो^५ निगमणं जेयं ॥
१२३. ते उ 'पतिण्ण-विभत्ती'^६, हेउ-विभत्ती विवक्खपडिसेहो ।
दिट्ठंतो आसंका, तप्पडिसेहो निगमणं च^७ ॥
- १२३।१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं ति, पइण्णा अत्तवयणनिहेसो^८ ।
सो य इहेव जिणमए, नन्नइथ पइण्णपविभत्ती^९ ॥
- १२३।२. सुरपूइओ ति हेऊ, धम्मट्ठाणे ठिया उ जं परमे ।
हेउविभत्ती निरुवहि, जियाण अवहेण य जियंति ॥
- १२३।३. जिणवयणपदुट्ठे वि हु, ससुराईए अधम्मरुइणो वि ।
मंगलबुद्धीइ जणो, पणमइ आई दुयविपक्खो ॥
- १२३।४. बितियदुयस्स^{१०} विवक्खो, सुरेहि पुज्जंति 'जण्णजाई वि'^{११} ।
बुद्धाई वि सुरत्तया, वुत्तंते^{१२} णायपडिवक्खो ॥
- १२३।५. एवं तु अवयवाणं, चउण्ह पडिवक्खु पंचमोज्जयवो ।
एत्तो छट्ठोज्जयवो, विवक्ख पडिसेह तं^{१३} वोच्छं ॥
- १२३।६. सायं समत्त पुमं, हास-रई आउनामगोयसुहं ।
धम्मफलं आइदुगे, विवक्खपडिसेह मो^{१४} एसो ॥

१. दमयंति (हा) ।

२. ०यंति (रा, हा) ।

३. साह्व ० (अ, ब, हा) ।

४. भण्णइ (अ, ब) ।

५. साधुणो (रा) ।

६. पइण्णविसुद्धी (जिच्) ।

७. व्वं (ब) ।

८. पाठांतरं वा साध्यवचननिर्देश इति (हाटी प ७५) ।

९. १२३/१-११ ये ११ गाथाए टीका में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु पूर्णि में इनका कोई संकेत नहीं मिलता । गा. १२३वीं गाथा की व्याख्या ही इन ११ गाथाओं में की गई है । १२३।१ वीं गाथा के आरंभ में टीकाकार

कहते हैं कि—'व्यासार्थं तु प्रत्ययवर्गं वक्ष्यति ग्रंथकार एव' इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने गा. १२३ की व्याख्या में इन गाथाओं की रचना की हो । ये गाथाएं निगा की नहीं होनी चाहिए क्योंकि निर्युक्ति-कार किसी भी विषय की इतनी विस्तृत व्याख्या नहीं करते । (देखें परि. १ गा. १७-२७) ।

१०. बीय ० (रा) ।

११. जहण्णजाईहि (रा) ।

१२. वुत्तंते (अ) ।

१३. णं (रा) ।

१४. मो इति निपातो वाक्यालंकारार्थे (हाटी प ७८)

- १२३।७. अजिहंदिय सोवहिणो, वधमा जइ ते वि नाम पुज्जंति ।
अम्मी वि होज्ज सीओ, हेउविभत्तीण पडिसेहो ॥
- १२३।८. बुद्धाई उवयारे, पूयाठाणं जिणा उ सम्भावं ।
दिट्ठंतपडिस्सेहो, छट्ठो एसो अवयवो उ ॥
- १२३।९. अरहंत^१ मग्गमासी, दिट्ठंतो साहुणो वि समचित्ता ।
पागरएसु गिहीसु, एसंते अवहमाणा उ ॥
- १२३।१०. तत्थ भवे आसंका, उद्दिस्स जई वि कारण पागो ।
तेण र विसमं नायं, वासतणा तस्स पडिसेहे ॥
- १२३।११. तम्हा उ सुरनराणं, पुज्जत्ता मंगलं सया धम्मो ।
दसभो एस अवयवो, पइण्णहेऊ पुणो वयणं ॥
१२४. 'हुमपुप्फियनिज्जुत्ती, समासओ वणिण्या विभासाए'^२ ।
जिण-चउदसपुब्बी^३, वित्थरेण कहयंति से अत्थं^४ ॥
१२५. णायम्मि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वम्मि चैव अत्थम्मि ।
जइयव्वमेव इयं^५ जो, उवदेसो सो नयो नाम^६ ॥
१२६. सव्वेसि पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहु^७ ॥

हुमपुप्फियनिज्जुत्ती सम्मत्ता

१. अरि ० (अ) ।

२. हुमपुप्फियाए निज्जुत्तिसमासो वणिणो विभासा य (अचू, व) ।

३. चोदस ० (अचू) ।

४. अट्ठं (अचू, हा) । इस गाथा से स्पष्ट है कि यह गाथा भद्रबाहु प्रथम के बाद जोड़ी गई है । क्योंकि यदि वे स्वयं लिखते तो 'जिण चउदसपुब्बी वित्थरेण कहयंति से अत्थं, ऐसी बात नहीं कहते । यह गाथा हाटी में नहीं मिलती ।

५. इति (अ, व) ।

६, ७. देखें अनुदा ७१५।५, ६ ये दोनों गाथाएं प्रायः सभी अध्ययनों के अंत में संकेत रूप में मिलती हैं । लेकिन अभी स्थलों पर इनको निर्युक्ति गाथा के क्रम में नहीं जोड़ा है । जहां जूणि-टीका या आदर्शों में पूरी गाथाएं दी हुई हैं वहीं हमने इनको निर्युक्ति गाथा संख्या के क्रम में जोड़ा है ।

१२७. सामण्णपुब्बगस्स^१ तु^२, निक्खेवो होइ नामनिप्फन्नो ।
सामण्णस्स चउक्को, तेरसगो पुब्बगस्स भवे ॥
१२८. समणस्स उ निक्खेवो, चउक्खिहो^३ होति^४ आणुपुब्बीए ।
दब्बे सरीर भविओ, भावेण उ^५ संजओ समणो ॥
१२९. जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।
न हणति न हणावेति य सममणई^६ तेण सो समणो^७ ॥
१३०. नत्थि 'य सि कोइ'^८ वेसो^९, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु ।
एएण होति समणो, एसो अओ वि पज्जाओ^{१०} ॥
१३१. तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होति पावमणो ।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु^{११} ॥
१३२. उरग-गिरि-जलण-सागर-नभतल^{१२}-तरुणसमो 'य जो'^{१३} होइ ।
भमर-मिग-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो 'य सो'^{१४} समणो^{१५} ॥
१३३. विस-तिमित-वात^{१६} चंजुल, कणिजाइयअसमेण^{१७} सअपेणं ।
भमरंदर-नड-कुक्कुड, अहागसमेण भवितव्वं^{१८} ॥
१३४. पव्वइए अणगारे, पासंडी^{१९} चरक तावसे भिक्खु ।
परिवायए^{२०} य समणे, निगंथे संजते मुत्ते ॥

१. ० पुब्बगस्स (जिचू) ।

२. उ (हा) ।

३. चउक्कओ (हा) ।

४. होइ (हा) ।

५. भावे उण (जिचू) ।

६. समं अणइ (ब) सम अणए (रा) ।

७. अनुद्धा ७०८।३, विभा. ३३१५ ।

८. से कोति (अचू), सि तस्य (हा) ।

९. वेस्सो (विभा) ।

१०. अनुद्धा ७०८।६, आवनि ८६८, विभा ३६१६ ।

११. अनुद्धा ७०८।४, आवनि ८६७, विभा ३३१७ ।

१२. गगण (अचू), नहयल (रा) ।

१३. जइ (अ) ।

१४. जओ (हा), यतो (अ, रा, अचू) ।

१५. अनुद्धा ७०८।५ ।

१६. वाउ (अचू), वाउ (जिचू) ।

१७. कणवीर ० (अचू) ।

१८. होयव्वं (हा) होइव्वं (रा) यह गाथा दोनों चूर्णियों में निर्युक्तिगाथा के रूप में व्याख्यात है । टीकाकार ने इस गाथा की व्याख्या तो की है किन्तु 'इयं किल गाथा भिन्नकर्तृकी अतः पवनादिषु न पुनरुक्तदोषः'—ऐसा उल्लेख किया है । यह गाथा सभी हस्तप्रतियों में मिलती है । हमने इसे निगा के क्रम में रखा है ।

१९. पासंडे (हा) ।

२०. परिवाइए (हा), परिवायओ (जिचू) ।

१३५. 'तिण्णे ताई दविए'^१, भुणो य खंते य दंत विरए य ।
लूहे तीरट्ठी^२ऽवि य, ह्वंति समणस्स नामाई ॥
१३६. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले^३ दिसि ताव खेत्ते य ।
पणवग^४ पुव्ववत्थू, पाहुड-अइपाहुडे भावे^५ ॥
१३७. नामं ठवणाकामा, दव्वकामा य वात्ताकामा य ।
एसो खलु कामाणं, 'निक्खेवो चउविहो होइ'^६ ॥
१३८. सद्-रस-रूव-गंधा, फासा उदयंकरा य जे दव्वा ।
दुविधा य भावकामा, इच्छाकामा^७ मदणकामा ॥
१३९. इच्छा पसत्थमपसत्थिगा^८ य मयणम्मि वेद उवओगो^९ ।
तेणऽहिगारो तस्स उ, वदंति धीरा निरुत्तमिणं ॥
१४०. विसयसुहेसु पसत्तं, अबुहजणं कामरागपडिबद्धं ।
उक्कामयंति जीव'^{१०}, धम्मातो तेण ते कामा ॥
१४१. अन्नं पि 'य सि'^{११} नामं, कामा रोगं ति पडिया बेंति ।
कामे पत्थेमाणो रोगे, पत्थेति खलु जंतू ॥
१४२. नामपदं ठवणपदं दव्वपदं चेव होति भावपदं ।
एक्केक्कं पि य एत्तो, णेगविहं होति नायस्वं ॥
१४३. 'आउट्टिम उक्किण्ण'^{१२}, ओणेज्जं^{१३} पीलियं^{१४} च रंगं च ।
गथिम-वैठिम-पूरिम-वातिम-संवातिमं छेज्ज'^{१५} ॥
१४४. भावपदं पि य दुविहं, अवराहपदं च नो य अवराहं ।
'दुविहं नोअवराह'^{१६}, माउग नोमाउगं चेव ॥

१. तिण्णो तातो णेया (जिचू), तिण्णे णेया दविए (अचू) ।	८. पसत्था अपसत्था य (जिचू), ० मपसत्थगा (अ), अनुस्वारोऽलाक्षणिकः (हाटी प ८६) ।
२. तीरट्ठे (हा) ।	९. वेदमुव ० (अ, व, अचू) ।
३. काल (अचू) ।	१०. अन्ये पठन्ति—उत्क्रामयन्ति यस्मादिति (हाटी प ८६) ।
४. पणवग (रा) ।	११. य से (अ, व, अचू, हा) ।
५. व प्रति में यह गाथा नहीं मिलती । इस गाथा के बाव जिचू में 'दव्वपुव्वमं गाहा' मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है तथा इसकी व्याख्या भी मिलती है । किन्तु इस गाथा का संकेत किसी भी आदर्श में नहीं मिलता । टीका और अचू में भी यह निर्दिष्ट नहीं है ।	१२. आओडिममुक्किण्ण (अचू) ।
६. चउविहो होइ निक्खेवो (अ, रा) ।	१३. उणिज्जं (अ, जिचू), उणेज्जं (हा), उव-णिज्जे (रा) ।
७. ० कामा य (जिचू) ।	१४. पीलियं (अ, हा) ।
	१५. संवाइमच्छेज्जं (अ, हा) ।
	१६. नोअवराहं दुविहं (रा, हा) ।

१४५. नोमाउगं पि दुविहं, गहियं च पइण्णगं च बोधव्वं ।
गहियं चउप्पयारं, पइण्णगं होइ णेगविहं^१ ॥
१४६. गज्जं पज्जं गेयं, चुण्णं च चउव्विहं तु गहियपदं ।
तिसमुद्धानं सव्वं, इति^२ वेति सलक्खणा कइणो ॥
१४७. मधुरं हेतुमिजुत्तं^३, गहितमपादं विरामसंजुत्तं ।
अपरिमियं चऽवसाणे, कव्वं गज्जं ति नायव्वं ॥
१४८. पज्जं तु^४ होति तिविहं, सममद्धसमं च नाम विसमं च ।
पाएहि अवखरेहि य एव विहण्णू कवी वेति ॥
१४९. तंतिसमं 'वण्णसमं, तालसमं'^५ गहसमं लयसमं च ।
कव्वं तु होइ गेयं, पंचविहं गेयसण्णाए^६ ॥
१५०. अत्थवहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसगगंभीरं ।
बहुपायमवोच्छिन्नं^७, गम-णयसुद्धं च^८ चुण्णपदं ॥
१५१. इंदियविसय^९-कसाया, परीसहा^{१०} 'वेयणा पमादा य'^{११} ।
एत्ते अवराहपया, जत्थ विसीयंति दुम्मेहा ॥
- १५१।१. अट्टारस उ सहस्सा, सीलंगाणं जिणेहि पणत्ता ।
तेसि^{१२} परिरक्खणट्ठा^{१३}, अवराहपयाणि^{१४} वज्जेज्जा^{१५} ॥
१५२. जोगे करणे सण्णा, इंदिय-भोमादि समणधम्मो य ।
सीलंगसहस्साणं, अट्टारसगस्स निप्फत्तो^{१६} ॥

सामण्णपुब्बगनिज्जुत्ती सम्मत्ता

१. इस गाथा का संकेत दोनों चूर्णियों में नहीं है किन्तु भावार्थ है । यह अधिक संभव लगता है कि लिपिकर्त्ताओं द्वारा इस गाथा का संकेत छूट गया हो अथवा स्वयं चूर्णिकार ने ही सरल समझकर इसका संकेत न दिया हो, अन्यथा विषय और क्रमबद्धता की दृष्टि से यह प्रासंगिक लगती है । अतः यह निर्युक्ति-गाथा ही होनी चाहिए । मुनि पुण्यविजयजी ने इसे निगा नहीं माना है ।
२. इय (रा) ।
३. ० निउत्तं (अ, रा, अचू) ।
४. पि (अचू, जिचू) ।
५. तालसमं वण्णसमं (अ, रा, हा) ।
६. गीयसन्नाए (अ, हा) ।

७. बहुपयम ० (अचू) ।
८. तु (रा) ।
९. ० विसया (जिचू) ।
१०. ० सहे (रा) ।
११. वेयणा य उवसग्गा (रा, जिचू, हा) ।
१२. तेसि (अ) ।
१३. पडिर ० (हा) ।
१४. ० पए उ (हा) ।
१५. यह गाथा दोनों चूर्णियों में संकेतित नहीं है किन्तु चूर्ण में इस गाथा का भाव एक वाक्य में निर्दिष्ट है । यह भाष्य की गाथा होनी चाहिए ।
१६. उप्पत्ती (अचू, जिचू), पंचगा ११६३ ।

१५३. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले पहाण पइभावे ।
एएसि महंतार्ण, पडिवक्खे खुहुया होंति ॥
१५४. पतिखुहुएण पगतं, आयास्स तु चतुक्कनिकखेवो ।
नामं ठवणा दविए, भावायारे य बोधव्वे^१ ॥
१५५. नामण-धोवण^२-वासण-सिक्खावण सुकरणाऽविरोधीणि ।
दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं विद्याणाहि^३ ॥
१५६. दंसण-नाण-चरित्ते^४, तव आयारे य वीरियायारे ।
एसो भावायारो, पंचविहो होइ नायव्वो ॥
१५७. निस्संकिय-निककंखिय, निव्वितिगिच्छा 'अभूढदिट्ठो य'^५ ।
उववूह-धिरीकरणे, वच्छल्ल-वभायणे^६ ॥
- १५७।१. 'अइसेस इड्डियायरिय, वाइ-धम्मकहि'^७ खमग-नेमिस्सो ।
विज्जा रायागणसम्मता^८, य तित्थं पभावेंति^९ ॥
१५८. काले विणए 'बहुमाणे, उवधाने'^{१०} तहा^{११} अनिण्हवणे ।
वज्जण-अत्थ-तदुभए, अट्टविघो नाणमायारो^{१२} ॥
१५९. पणिधानजोगजुत्तो, पचहिं समितोहि 'तिहि य'^{१३} गुत्तोहि ।
एस चरित्तायारो, अट्टविहो होइ नायव्वो^{१४} ॥
१६०. बारसविहम्मि वि तवे, सव्वितरवाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाइ^{१५} अणाजोवी, नायव्वो सो तवायारो^{१६} ॥

१. बोधव्वे (अचू, हा) ।
२. होवण (अचू), धावण (व, रा, हा) ।
३. निभा ६ ।
४. चरित्तं (जिधू) ।
५. ० दिट्ठि य (निभा २३) ।
६. इड्डि धम्मकहि-वादि-आयरिय (निभा ३३) ।
७. रायगणसम्मया (हा) ।
८. इस गाथा का दोनों चूर्णियों में कोई उल्लेख नहीं है । टीका में यह निर्युक्तिगाथा के क्रम में प्रकाशित है । मूलतः यह गाथा निशीथभाष्य (गा. ३३) की है । वहां निस्संकिय (१५७) द्वारगाथा के प्रत्येक द्वार की विस्तृत व्याख्या की गई है । १५७।१ गाथा आठवें प्रभावना-

द्वार की व्याख्या रूप है । यहां यह प्रसंगवश लिपिकारों द्वारा लिख दी गई है । यदि यह निर्युक्ति की मानें तो निर्युक्तिकार केवल एक ही द्वार की व्याख्या क्यों करते ? शेष सभी द्वारों की व्याख्या भी करते । इस गाथा को निगा के क्रम में नहीं माना है ।

९. ० माणोवहाणे (रा) ।
१०. तह य (हा) ।
११. मकार अलासणिकः निभा ८ ।
१२. तिहि य (व, निभा), तीहि (व, रा) ।
१३. निभा ३५ ।
१४. ० लाए (निभा, अचू) ।
१५. निभा ४२, पंकभा १२१४, तु पंचना ५६९ ।

१६१. अणिभूहितबलविरिओ, परवकमति जो जहुत्तमाउत्तो^१ ।
जुंजइ य जहत्थामं^२, नायव्वो वीरियायारो^३ ॥
१६२. अत्थकहा कामकहा, धम्मकहा चेव^४ मीसिया^५ य कहा ।
एत्तो एक्केक्का वि य, णेगविहा होइ नायव्वा ॥
१६३. विज्जा-सिप्पमुवाओ^६, अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं ।
सामं दंडो भेओ, उवप्पयाणं^७ च अत्थकहा ॥
- १६३।१. सत्थाहसुओ, दक्खत्तणेण सेट्ठीसुओ य रूवेणं ।
बुद्धीए^८ अमच्चसुओ, जीवइ पुण्णेहि रायसुओ^९ ॥
१६४. दक्खत्तणगं^{१०} पुरिसस्स, पंचगं सइकमाहु^{११} सुदेरं ।
बुद्धी पुण साहस्सा, सयसहस्साइ पुण्णाइ ॥
१६५. रूवं वयो य वेसो, दक्खिण्ण^{१२} सिक्खियं च विसएसुं ।
दिट्ठं सुयमणुभूयं, च संथवो चेव कामकहा ॥
१६६. धम्मकहा बोधव्वा, चउव्विहा धीरपुरिसपण्णत्ता ।
अक्खेवाणि विक्खेवणि, संवेगे चेव निव्वेगे^{१३} ॥
१६७. आयारे ववहारे, पण्णत्ती चेव दिट्ठिवाए य ।
एसा चउव्विहा खलु, कहा उ अक्खेवणी होइ^{१४} ॥
१६८. विज्जा चरणं च तवो^{१५}, पुरिसक्कारो^{१६} य समिति-गुत्तीओ ।
उवदिस्सइ खलु जहियं, कहाइ अक्खेवणीइ रसो ॥

१. ० तमुवउत्तो (रा) ।

२. जहाथामं (अ, अचू, हा) ।

३. निभा ४३, तु. पंचभा ११२६, मूला. ४१३ ।

४. एव (जिचू) ।

५. मिसिया (अ, व) ।

६. सिप्पे उवाओ (जिचू) ।

७. अणुप्प ० (ब) ।

८. बुद्धीए (हा, रा) ।

९. इस गाथा की कथा दोनों चूर्णियों में उपलब्ध है। मुनि पुण्यविजयजी ने इसे निर्मुक्तिगाथा के रूप में स्वीकृत नहीं किया है। हस्तप्रतियों में यह गाथा मिलती है किन्तु ऐसा संभव है कि चूर्ण की कथा के आधार पर यह गाथा टीका में बाद में जोड़ दी गई हो। निर्मुक्तिकार इतने विस्तार से किसी भी कथा का उल्लेख

न कर मात्र संकेत करते हैं। अगली गाथा से भी कथानक समझा जा सकता है।

१०. ० णये (जिचू), ० णयं (हा) ।

११. सयग ० (अ) ।

१२. दक्खत्तं (हा) ।

१३. निव्वेगे (ब), निव्वेए (अचू), तु. ठाणं ४।२४६ ।

१४. यह गाथा अचू में व्याख्यात है लेकिन गाथा के रूप में इसका उल्लेख नहीं है। जिचू, टीका और सभी हस्त आदर्शों में यह गाथा निर्मुक्तिगाथा के क्रम में मिलती है। तु. ठाणं ४।२४७ ।

१५. ततो (अचू) ।

१६. पुरिसाकारो (रा) ।

१६९. कहिऊण ससमयं तो कहेइ परसमयमहु विवज्जासो^१ ।
मिच्छा 'सम्मावाए, एमेव हवन्ति दो भेया'^२ ॥
१७०. जा ससमयवज्जा खलु, होइ कहा लोगवेयसंजुत्ता ।
परसमयाणं च कहा, ऐसा विक्खेवणी नाम ॥
१७१. जा ससमएण पुब्बि, अक्खाया तं छुभेज्ज परसमए ।
परसासण वक्खेवा, परस्स समयं परिकहेति ॥
१७२. आय-पर सरीरगया^३, इहलोए चेव तह य परलोए ।
एसा चउव्विहा खलु, कहा उ संवेयणी होइ^४ ॥
१७३. वीरिय विउव्वणिङ्की^५, नाण-चरण-दंसणाण^६ तह इड्डी ।
उवदिस्सइ खलु जहियं, कहाइ संवेयणीइ^७ रसो ॥
१७४. पावाणं कम्माणं, असुभविवागो कहिज्जए^८ जत्थ ।
इह य परत्थ य लोए, कहा उ निव्वेयणी नाम^९ ॥
१७५. थोवं पि पमायकयं, कम्मं साहिज्जए^{१०} जहि नियमा ।
पउरासुहपरिणामं^{११}, कहाइ निव्वेयणीइ रसो^{१२} ॥
१७६. सिद्धी य देवलोगो, सुकुलुप्पत्ती य होइ संवेगो ।
नरगो तिरिक्खज्जोणी, कुमाणुसत्तं च निव्वेओ^{१३} ॥
१७७. वेणइयस्स पढमया, कहा उ अक्खेवणी कहेतव्वा ।
तो ससमयगहितत्थे, कहेज्ज विक्खेवणि^{१४} पच्छा ॥

१. विवच्चासा (हा) ।

२. ० वाओ एवं वि य हुंति (अ),

० एवं वि य होइ च भेओ (ब), १६९-१७२

तक की गाथाओं की व्याख्या जिचू में उप-

लब्ध है लेकिन गाथाओं का उल्लेख नहीं है ।

अचू में भी १६९ तथा १७२ गाथा की

व्याख्या है, पर गाथाओं का उल्लेख नहीं है ।

टीका और सभी आदर्शों में ये गाथाएं उप-

लब्ध हैं । विषयवस्तु की दृष्टि से ये गाथाएं

पूर्वापर की गाथाओं से जुड़ी हैं, अतः इनको

निगा के क्रम में जोड़ा है ।

तु. ठाणं ४।२४८ ।

३. सरीरम्मी (अ,ब,रा) ।

४. नाम (ब,रा), तु. ठाणं ४।२४९ ।

५. विउव्वणिङ्की (ब) ।

६. दंसणस्स (अचू) ।

७. संवेइणी (ब) ।

८. अहिज्जए (ब) ।

९. तु. ठाणं ४।२५० ।

१०. ० ज्जई (रा,हा) ।

११. वहुयासुह ० (अ,ब,रा) ।

१२. इस गाथा का दोनों चूणियों में कोई उल्लेख

नहीं है । किन्तु टीका और आदर्शों में यह

गाथा मिलती है । यहां यह गाथा विषयवस्तु

की दृष्टि से भी प्रासंगिक लगती है ।

१३. जिचू में इस गाथा का कोई संकेत नहीं है ।

१४. ० वणी (अचू, हा) ।

१७८. अक्खेवणि^१ अक्खत्ता, जे जीवा ते लभन्ति सम्मत्तं ।
 विक्खेवणीएँ भज्जं, गाढतराणं च मिच्छत्तं^२ ॥
१७९. धम्मो अत्थो कामो, उवइस्सइ जत्थ सुत्तकव्वेसु ।
 लोगे वेदे समए, सा लकहा मीसिया नामं^३ ॥
१८०. इत्थिकहा भत्ताकहा रायकहा चोर-जणवयकहा य ।
 नड-नट्ट-जल्ल-मुट्ठिय कहा उ^४ ऐसा भवे विकहा ॥
१८१. एता चेव कहाओ^५, 'पण्णवग पख्खवगे'^६ समासज्ज ।
 अकहा कहा य^७ विकहा 'व होज्ज'^८ पुरिसंतरं पप्प ॥
१८२. मिच्छत्तं वेदंतो, 'जं अण्णाणी कहं'^९ परिकहेति ।
 लिगत्थो व गिही दा, सा अकहा देसिया समए ॥
१८३. तव संजम गुणधारी, जं चरणरया^{१०} कहेति सब्भाव ।
 सब्बजगज्जीवहियं, सा उ कहा देसिया समए ॥
१८४. जो संजतो^{११} पमत्तो, रागदोसवसगओ परिकहेइ ।
 सा उ विकहा पवयणे, पण्णत्ता धीरपुरिसेहि ॥
१८५. सिंगाररसुत्तइया^{१२} मोहकुवित फुंफुगा^{१३} हसहसंती^{१४} ।
 जं सुणमाणस्स कहं, समणेण न सा कहेयव्वा ॥
१८६. समणेण कहेतव्वा, तव-नियम-कहाविरागसंजुत्ता ।
 जं सोऊण मणूसो^{१५}, वच्चइ संवेगनिव्वेदं^{१६} ॥
१८७. अत्थमहंती वि^{१७} कहा, अपरिकिलेसबहुला^{१८} कहेतव्वा ।
 हंदि^{१९} महया चडगरत्तणेण अत्थं कहा हणइ^{२०} ॥

१. ० वणी (हा) ।	११. संजमो (जिबू) ।
२. जिबू में इस गाथा का कोई उल्लेख नहीं है ।	१२. ० रसुगुतिया (अचू), ० रसुत्तइया (रा), ० रसुत्तरिया (अ) ।
३. जिबू में इस गाथा के स्थान पर मीसिया कहा—लोइय वेइय गाहा—ऐसा उल्लेख है । ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चार्द्ध गाथा का 'लोगे वेदे' के स्थान पर यह पाठ रहा है ।	१३. फुंफुगा (अ), फंफेगा (रा) ।
४. य (रा) ।	१४. सहासिति (हा), हसहसेति (अचू), ० हसिती (रा) ।
५. कहातो (अचू) ।	१५. मणूसो (अ, ब) ।
६. पण्णवयपख्खवगे (हा) ।	१६. ० निव्वेगं (अचू) ।
७. व (अचू) ।	१७. व (अ, ब) ।
८. हविज्ज (हा), व ह्वज्ज (अ) ।	१८. अपरिकेस ० (अचू, अ) ।
९. अण्णाणी जं कहं (अ, रा) ।	१९. हंति (ब) ।
१०. चरणस्थ (हा) ।	२०. कहइ (ब) ।

१८८. 'खेत्तं कालं पुरिसं'^१, सामत्थं चउप्पणो^२ वियाणेत्ता ।
समजंज उ अणवज्जा, पगयम्मि कहा कहेयव्वा ॥

खुड्धियाधारकहानिज्जुत्ती सम्मत्ता

१८९. जीवाऽजीवाभिगमे^३, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य ।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाइ^४ अहिगारा ॥

१९०. छज्जीवणिकाए खलु, निक्खेवो होइ नामनिष्कसो ।
एएसि तिण्हं पि उ^५, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥दारं॥

१९१. नामं ठवणा दविए, माउगपद संगहेक्कए चेव ।
पज्जव-भावे य तहा, सत्तेते एक्कका होत्ति^६ ॥

१९२. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ छक्कगस्सा^७, निक्खेवो छव्विहो^८ होइ ॥

१९३. जीवस्स उ निक्खेवो परूवणा लक्खणं च अत्थित्तं ।
अस्साऽमुत्तत्तं^९ निच्चकारगो^{१०} य देहवावित्तं^{११} ॥दारं॥

१९४. गुणिउद्धगतित्ते^{१२} या निम्मयसाफल्लया य परिमाणे ।
जीवस्स तिविहकालम्मि परिक्खा होइ कामव्वा ॥दारं॥

१९५. नामं ठवणाजीवो 'दब्बे जीवो'^{१३} य भावजीवो य ।
'ओहे भवगहणम्मि'^{१४} य तब्भवजीवे य^{१५} भावम्मि ॥

१. खेत्तं देसं कालं (जिचू), देसं खेत्तं कालं
(अचू) ।

२. व पुणो (व) ।

३. ० बाहिगमो (हा, अचू) ।

४. ० याए (अचू) ।

५. य (अ,व) ।

६. यह गाथा यहां पुनस्तुत हुई है । (देखें दशनि
८)

७. छक्कगस्स उ (अ,व,रा) ।

८. चउव्विहो (रा) ।

९. अस्सामुत्तत्ते (अ,व) ।

१०. ० कारए (अ,व) ।

११. ० वावित्ति (व) ।

१२. ० उद्धगतित्ते (जिचू) ।

१३. दब्बजीवो (हा, रा, अचू) ।

१४. ओह भवगह ० (हा, अचू), ० भवगहणम्मो
(व) ।

१५. उ (अ,व) ।

१९६. संते आउयकम्मे, धरती तस्सेव जीवती उदए ।
तस्सेव निज्जराए, मओ त्ति सिद्धो^१ नयमएणं^२ ॥
१९७. जेण य धरति भगवतो, जीवो जेण उ भवाउ संकमई^३ ।
जाणाहि तं भवाउं, चउव्विहं तव्वभवे दुविहं ॥
१९८. दुविधा^४ य होति जीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सव्वलोए, दो चेव य बायरविहाणे^५ ॥
१९९. आदाने परिभोगे, जोगुवओगे कसाय-लेसा य ।
आणापाणू इंदिय, बंधोदय निज्जरा चेव ॥दारां॥
२००. चित्तं जेयण सण्णा, विण्णाणं धारणा य बुद्धी य ।
ईहा भती वितक्का, जीवस्स उ लक्खणा एए ॥दारां॥

१. सिद्धा (अ) ।

२. १९६, १९७ इन दो गाथाओं के आगे टीका में 'भाष्यम्' (हाटी भागा ७, ८) लिखा हुआ है। यद्यपि टीकाकार हरिभद्र ने अपनी व्याख्या में इन गाथाओं के भाष्य होने का कोई उल्लेख नहीं किया है किन्तु मुद्रित प्रति में इनको निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं जोड़ा गया है। आदर्शों में निर्युक्ति और भाष्य की गाथा साथ में ही लिखी गयी है अतः उनके आधार पर निर्णय नहीं किया जा सकता। दोनों चूर्णियों में ये गाथाएं निर्युक्तिगाथा के रूप में व्याख्यात हैं। विषयवस्तु और क्रम-बद्धता की दृष्टि से भी ये निर्युक्तिगाथा प्रतीत होती हैं।

३. ० मइ (अ) ।

४. दुविहा (हा, अणू) ।

५. प्रस्तुत गाथा के आगे टीका की मुद्रित प्रति में 'भाष्यम्' (हाटी भागा ९) लिखा है लेकिन यह गाथा निर्युक्ति की है, उसके कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं—

(१) दोनों चूर्णियों में यह निर्युक्ति गाथा के रूप में व्याख्यात है।

(२) इससे अगली गाथा भाष्य की है, जिसको पढ़ने मात्र से स्पष्ट हो जाता है कि १९८ की गाथा भाष्य की न होकर निर्युक्ति गाथा है—

सुहुमा य सव्वलोए,

परियावग्ग भवन्ति नायव्वा ।

दो चेव बायराणं,

पज्जत्तिवरे य नायव्वा ॥

(हाटी प १२२)

भाष्यकार प्रायः निर्युक्ति की व्याख्या करते हैं। कहीं-कहीं पूरा चरण अपनी व्याख्या में ले लेते हैं, इसमें भी ऐसा ही है।

(३) गा. १९३ और १९४ में जीव से संबंधित निक्षेप आदि १३ द्वारों का उल्लेख है। आगे सभी द्वारों की निर्युक्तिकार ने संक्षिप्त व्याख्या की है, फिर इस प्ररूपणा द्वार की व्याख्या भी निर्युक्ति-कार की ही होनी चाहिए।

२०१. सिद्धं जीवस्स अत्थित्तं, सद्दादे वाणुमीयते ।
नासतो भुवि भावस्स, सद्दो भवति' केवलो' ॥

२०२. मिच्छा भवेउ सव्वत्था, जे केई पारलोइया ।
कत्ता चेवोपभोत्ता य, जदि जीवो न विज्जई' ॥

२०२।१. लोगसत्थाणि*.....

१. हवइ (हा,अ,व) ।

२. मुद्रित टीका की प्रति में गा. २०१, २०२ के आगे भी 'भाष्यम्' (हाटी प १२६) लिखा हुआ है। दोनों चूर्णियों में ये गाथाएं निर्युक्ति के क्रम में व्याख्यात हैं। यह गाथा निम्न प्रमाणों के आधार पर निर्युक्ति की प्रतीत होती है—

(१) गा. १९३, १९४ में जीव के १३ द्वारों का उल्लेख है। निक्षेप, प्ररूपणा और लक्षण का वर्णन १९५-२०० तक की गाथाओं में हो गया अतः अब चौथे द्वार 'अस्तित्व' की व्याख्या इन दो गाथाओं में हुई है।

(२) गा. २०१ की अगली भाष्यगाथा में टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि 'एत-द्विवरणापैवाह भाष्यकारः' (हाटी प १२६) इससे स्पष्ट है कि २०१ गाथा निर्युक्ति की है और इसकी व्याख्या इस गाथा में भाष्यकार ने की है।

३. विज्जइ (हा,अ,व) ।

इस गाथा के आगे भी टीका में 'भाष्यम्' लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'भाष्यम्' टीका की मुद्रित प्रति में संपादक द्वारा लिखा गया है। अन्यथा टीका की व्याख्या तथा हस्त आदर्शों में कहीं भी यह

गाथा भाष्य गाथा के रूप में संकेतित नहीं है।

इससे अगली गाथा स्पष्ट रूप से भाष्य की है क्योंकि भाष्य गाथा २९ (हाटी प १२७) की गाथा में २०२ की गाथा का अंतिम चरण 'जइ जीवो न विज्जई' पूरा चरण ले लिया है तथा २०२ की गाथा की ही व्याख्या की है। भाष्यकार की यह विशेषता है कि वे अनेक स्थलों पर निर्युक्ति गाथा का पूरा चरण अपनी गाथा में ले लेते हैं। यदि २०२ की गाथा भाष्य की मानी जाये तो फिर भागा २९ (हाटी प १२७) की गाथा में भाष्यकार इसनी पुनरुक्ति नहीं करते। इस प्रमाण से चूर्ण की प्राचीनता के आधार पर हमने २०१, २०२ की गाथा को निर्युक्ति गाथा के क्रम में रखा है। (देखें—१९६ तथा १९८ का टिप्पण)।

४. २०२ की गाथा के बाद दोनों चूर्णियों में केवल 'लोगसत्थाणि' इतना ही संकेत मिलता है। मुनि पुण्यविजयजी ने पूरी गाथा उपलब्ध न होने पर भी इसे निर्युक्ति गाथा के क्रमांक में जोड़ा है। (गा. १३९ अचू पृ ६८)। यह किसी भी हस्तप्रति में नहीं मिलती अतः इसे निगा के क्रम में नहीं रखा है।

२०३. 'लोइगा वेइगा' चेव, तहा साभाइया विऊ ।
निच्चो जीवो पिहो देहा, इति सव्वे ववट्ठिया ॥
२०४. फरिसेण जहा वाऊ, गिज्झती कायसंसितो ।
नाणादीहि तहा जीवो, गिज्झती कायसंसितो ॥
२०५. अणिदियगुणं जीवं, दुण्णेयं मंसचक्खुणा ।
सिद्धा पासंति सव्वणू, नाणसिद्धा य साहुणो ॥
२०६. कारणविभाग कारणविणास बंधस्स पच्चयाभावा ।
विरुद्धस्स य अत्थस्सा ऽ पादुब्भावा ऽ विणासा य ॥ दारं ॥

१. लोइया वेइया (हा) ।

२. ववट्ठिया (अ) ।

इस गाथा का अचू में कोई उल्लेख नहीं है किन्तु जिचू में यह गाथा मिलती है । मुद्रित टीका की प्रति में इसके आगे 'भाष्यम्' लिखा है किन्तु यह निर्युक्ति की गाथा है क्योंकि इसमें अन्यत्व नामक पाचवें द्वार की व्याख्या है तथा इससे अगली गाथा के प्रारंभ में टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि एतदेव व्याचष्टे (भा. ३१ हाटी प १२७) अर्थात् इसी गाथा की व्याख्या अगली भाष्यगाथा में की है । भाष्य की व्याख्या से भी वह गाथा स्पष्ट रूप से निर्युक्ति की प्रतीत होती है । भाष्य गाथा इस प्रकार है—

लोणे अच्छेज्ज भेज्जो,

केए सपुरीसदद्धमसियालो ।

समए ज्जहमासि मओ,

तिविहो दिक्खाइ संसारो ॥

(भा. ३१ हाटी प १२७)

३. गिज्झई (हा), गेज्झती (अचू) ।

४. २०४, २०५ की गाथा हाटी में भाष्यगाथा के

क्रम में हैं किन्तु दोनों चूणियों में निर्युक्ति-गाथा के रूप में व्याख्यात हैं । पिछली गाथाएं पूर्वलिखित प्रमाणों से तो निर्युक्तिगाथा हैं ही । साथ ही छंद रचना की दृष्टि से भी निर्युक्ति की सिद्ध होती हैं । टीका में २५, २६, ३०, ३३, ३४ (हाटी प १२६, १२७) की गाथाएं भाष्यगाथा के क्रम में हैं । ये सभी श्लोक अनुष्टुप् छंद में हैं । इनके अतिरिक्त अन्य सभी भाष्यगाथाएं आर्या छंद में हैं । इस प्रमाण से स्पष्ट है कि टीका की मुद्रित प्रति के आधार पर इनको भाष्यगाथा नहीं माना जा सकता । अतः इन पांच गाथाओं को (२०१, २०५) हमने निर्युक्तिगाथा माना है ।

५. पिछली गाथाओं की भांति यहाँ भी गा. २०६ की व्याख्या में ११ भाष्य गाथाएं लिखी गयी हैं (भा. ३७-४७ हाटी प १२८-१३१) । २०६वीं गाथा की व्याख्या में टीकाकार कहते हैं—“वक्ष्यति च निर्युक्तिकारः जीवस्य सिद्धमेवं निच्चसममुत्तमन्नतं (गा. २४०) व्यासार्थस्तु भाष्याववसेयः (हाटी प १२८) ।

२०७. निरामयाऽऽमयभावा^१, बालकयाणुसरणा दुवस्थाणा^२ ।
 सोताईहि^३ अगहणा^४, जातीसरणा^५ यणभिलासा ॥दारं॥
२०८. सव्वण्णुवदिट्ठता, सकम्मफलभोयणा^६ अमुत्तत्ता ।
 जीवस्स सिद्धमेवं^७, निच्चत्तममुत्तमन्नत्तं ॥दारं॥
२०९. 'जीवस्स उ परिमाणं'^८, वित्थरओ जाव लोगमेत्तं तु ।
 ओगाहणा य सुहुमा, तस्स पदेसा असंखेज्जा^९ ॥
२१०. पत्थेण व कुडवेण^{१०} व, जह कोइ मिणेज्ज सव्वघन्नाई ।
 एवं मविज्जमाणा, हवन्ति लोगा अणंता उ^{११} ॥
२११. नामं ठवणसरीरे^{१२}, गतो निकायत्थिकाय दविए य ।
 माउग-पज्जव-संगह^{१३}-भारे तह भाव-काए थ ॥

१. निरामय आमय ० (ब,रा) ।
 २. दुवद्धाणा (अचू) ।
 ३. सुताईहि (हा), सोयाईहि (अ,ब) ।
 ४. अगहणं (जिचू) ।
 ५. जाईसरणं (जिचू) ।
 'प्रकृतसंबन्धमेव निर्युक्तिगाथासाह' (हाटी प १३१) इस गाथा की व्याख्या में दो भाष्य-गाथाएं (४९,५० हाटी प १३२) लिखी गयी हैं । टीका के अनुसार भी—एतामेव निर्युक्ति-गाथां लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः (हाटी प १३२) ।
 ६. ० भोयणं (जिचू) ।
 ७. सिद्धिमेवं (अ) ।
 ८. जीवस्थिकायमाणं (जिचू) ।
 ९. २०९, २१० की गाथा टीका की सुद्रित प्रति में भाष्यगाथा के क्रम में उपलब्ध है । लेकिन अचू में यह निर्युक्तिगाथा के क्रम में व्याख्यात है । यह गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए

क्योंकि गाथा १९३, १९४ में जीव के १३ द्वारों का उल्लेख है । उनमें प्रायः सभी द्वारों का निर्युक्तिकार ने वर्णन किया है । कुछ द्वारों का वर्णन भाष्यकार ने किया है । इसका स्पष्ट उल्लेख टीका में मिलता है । २०९, २१० की गाथा में अंतिम द्वार 'परिमाण' की व्याख्या है, अतः यह निगा होनी चाहिए ।

जिनदास चूर्ण में इस गाथा से पूर्व 'एगस्स अणेगाण य' गाथा का संकेत है । यह गाथा पूर्णरूप से किसी भी आदर्श में नहीं मिलती है तथा हाटी और अचू में भी निर्दिष्ट नहीं है ।

१०. कुलएण (हा,अ), कुलवेण (जिचू) ।
 ११. हाटी भागा ५७ ।
 १२. ० सरीरी (रा) ।
 १३. संगह-पज्जव (अ) ।

२१११. एगो कायो दुहा जातो, एगो चिट्ठि एगो मारितो ।
जीवंतो मएण मारितो, तं लव माणव ! केण हेतुणा^१ ? ॥
२१२. एत्थं पुण अधिकारो, निकायकायेण होति सुत्तम्मि ।
उच्चारितत्थं सदिसाण^२, कित्थणं सेसगाणं पि ॥
२१३. दब्बं तत्थं गि-जिसं तेहंनिल-खार-लोणमाईयं ।
भावो तु दुप्पउत्तो, वाया काओ अविरई य^३ ॥
२१४. किंची सकायसत्थं, किंची परकाय-तदुभयं किंचि ।
एतं तु दब्बसत्थं, 'भावे य असंजमो'^४ सत्थं^५ ॥
२१५. 'जोणिब्भूते बीए'^६, जीवो वक्कमत्ति^७ सो व^८ अन्नो वा ।
जोवि य मूले जीवो, सो 'वि य'^९ पत्ते पढमयाए'^{१०} ॥
२१६. सेसं सुत्तप्फासं, काए काए अहक्कमं ब्रूया ।
अज्झयणत्था पंच य^{११}, पगरण-पद-वज्जणविसुद्धा^{१२} ॥
२१७. जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपण्णत्ती ।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे य एगट्ठा ॥

छज्जजीवणियानिज्जुत्ती सम्मत्ता

१. मुनि पुण्यविजयजी ने इस गाथा को निर्युक्ति गाथा के क्रम में रखा है। जिबू में भी इस गाथा का संकेत व व्याख्या मिलती है। टीकाकार हरिभद्र ने 'वृद्धास्तु व्याचक्षते' ऐसा कहकर इसे उद्धृत गाथा के रूप में प्रस्तुत किया है। भाषाशैली की दृष्टि से यह गाथा निर्युक्ति की प्रतीत नहीं होती तथा यह गाथा यहां प्रासंगिक भी नहीं लगती। अधिक संभव है कि बाद के आचार्यों ने यह गाथा लिखी हो जैसा कि हरिभद्र ने उल्लेख किया है।

२. सरिसाण (अ, व)।

३. आनि ३६।

४. भावे असंजमो (अचू, हा)।

५. आनि ९६, ११४, १२४, १५०।

६. बीए जोणिब्भूए (हा, अ, व, रा)।

७. वुक्कमइ (हा), वक्कमइ (व)।

८. य (हा)।

९. चिय (आनि १३८)।

१०. इस गाथा की व्याख्या दो भाष्य गाथाओं में की गयी है। (हाटी प १४०, १४१)।

११. उ (रा)।

१२. यह गाथा मुद्रित टीका में भाष्यगाथा के क्रम में तथा अचू में निर्युक्ति गाथा के क्रम में है। हस्त आदशों में भी यह गाथा प्राप्त है। चूणि के आधार पर इसे हमने भी निगा के क्रम में रखा है। (हाटी भागा ६०)।

- २१७।१. पिडो य एसणा या, दुपयं नामं तु तस्स नायव्वं ।
चउच्चउनिक्खेवेहि, पव्वणा तस्स कायव्वं^१ ॥
२१८. नामं ठवणापिडो, 'दव्वे भावे य होति णातव्वो'^२ ।
गुड^३-ओदणाइ^४ दव्वे, भावे कोहादिया चउरो^५ ॥
- २१८।१. पिडि संधाए जम्हा, ते उइया संहया य संसारे ।
संधाययंति जीव, कम्मेणदुप्पगारेण^६ ॥दारं॥
- २१८।२. दव्वेसणा उ तिक्खिहा, सच्चित्ताचित्तमीसदव्वणं ।
दुपय-चउप्पय-अपया, तर-गय-करिसावण-दुमाणं ॥
- २१८।३. भावेसणा उ दुक्खिहा, पसत्थ-अपसत्थगा य नायव्वं ।
नाणाईण पसत्था, अपसत्था कोहमादीणं ॥
- २१८।४. भावस्सुवगारित्ता, एत्थं दव्वेसणाइ अहिगारो ।
तीइ पुण अत्थजुत्ती, वत्तव्वा पिडनिज्जुत्ती ॥

१. दोनों चूणियों में इस गाथा का कोई उल्लेख नहीं है। टीका में यह निर्युक्ति गाथा के क्रमांक में है। इस गाथा से पूर्व टीका में भाष्य गाथा है। यह गाथा विषयवस्तु की दृष्टि से भाष्यगाथा के साथ जुड़ती है। यह निर्युक्ति की प्रतीत नहीं होती। क्योंकि निर्युक्तिकार प्रायः 'णामं ठवणा' वाली गाथा से ही अध्ययन का प्रारंभ करते हैं।

२. दव्वपिडो य भावपिडो य (जिचू, अ, व) ।

३. गुड (अ, ब, अचू, रा) ।

४. ओदणा य (अ, व) ।

५. पिडनिर्युक्ति में कुछ अंतर के साथ निम्न गाथा मिलती है—

नामं ठवणापिडो,

दव्वे खेसे य काल भावे य ।

एसो खमु पिडस्स उ,

निक्खेवो छव्विहो होइ ॥

(पिनि ५)

६. २१८।१-४ तक की गाथाओं का दोनों चूणियों में कोई उल्लेख नहीं है। गा. २१८ के बाद दोनों चूणिकारों ने मात्र इतना संकेत किया है कि—'नाम निष्फण्णे पिडनिज्जुत्ती भाणियव्वा' (जिचू पृ. १६५) 'नाम निष्फण्णे पिडनिज्जुत्ती सव्वा' (अचू पृ. ९८) ये चार गाथाएं निर्युक्ति की हैं या नहीं, यह विवादास्पद है। अन्य अनेक स्थलों पर टीकाकार 'आह निर्युक्तिकारः वा आह भाष्यकारः' उल्लेख करते हैं वैसे इन गाथाओं के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। हमने इन्हें निगा के क्रम में नहीं रखा है। ये भाष्यगाथा ज्यादा संगत लगती हैं। फिर भी इनके बारे में गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

२१९. पिडेसणा य^१ सव्वा, संखेदेणोयरइ नवसु कोडीसु ।
न हणइ न पयइ न किणइ, कारावण^२-अणुमईहि नव ॥
- २१९।१. सा नवहा दुह कीरइ, उग्गमकोडी विसोहिकोडी य ।
छसु पउमा ओयरई, कीय-तिगम्मो विसोहो उ^३ ॥
२२०. कोडोकरणं दुविहं, उग्गमकोडी विसोधिकोडी य ।
उग्गमकोडी छक्कं, विसोधिकोडी 'भवे सेसा'^४ ॥
- २२०।१. कम्ममुहेसिय चरिम तिग, पूतियं मीस चरिम पाहुडिया ।
अज्झोयर अविसोही, विसोहिकोडी भवे सेसा^५ ॥
२२१. नव 'चेवज्झारसगं, सत्तावीसं'^६ तहेव चउपण्णा ।
नउती^७ दो चेव 'सता उ सत्तरा होंति'^८ कोडीणं ॥
- २२१।१. रागाई मिच्छाई, रागाई समणधम्म ताणाई ।
नव नव सत्तावीसा, नव नउईए य गुणगारा^९ ॥
- "पिडेसणानिज्जुत्ती समत्ता

१. उ (अ,व) ।

२. करावण (व,रा) ।

इस गाथा का भावार्थ दोनों चूर्णियों में मिलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि गा. २१८ के बाद यह गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि चूर्णि में २१८ की गाथा के बाद केवल इसी गाथा की संक्षिप्त व्याख्या मिलती है । हमने इसको निर्युक्तिगाथा के क्रम में संलग्न किया है ।

३. इस गाथा का चूर्णि में कोई उल्लेख नहीं है ।

इस गाथा को हमने तिगा के क्रम में सम्मिलित नहीं किया है । क्योंकि अगली गाथा में भी इसी गाथा का भाव प्रतिपादित हुआ है ।

४. अणेगविहा (अ,रा) ।

इस गाथा की उत्थानिका में स्वविर अगस्थसिंह ने 'एत्थ निज्जुत्तिगाहा' का उल्लेख किया है । किंतु आचार्य हरिभद्र ने इसे स्पष्ट रूप से भाष्य गाथा मानते हुए लिखा है—'एतदेव व्याचिख्यासुराह भाष्य-कारः' (हाटी प १६२ भागा ६२) चालू प्रसंग एवं पौर्वापर्य के औचित्य के आधार पर यह निर्युक्ति की गाथा होनी चाहिए ।

५. इस गाथा का भी चूर्णि में कोई उल्लेख नहीं है । यह गाथा २२० की व्याख्या में लिखी गई है ऐसा संभव लगता है अतः यह भाष्य-गाथा होनी चाहिए ।

६. ० सगा सत्तावीसा (हा) ।

७. नउई (हा,अ,व,रा) ।

८. सया सत्तरिया हंति (हा), सया सत्तरी होंति (व) ।

९. इस गाथा की व्याख्या टीका और चूर्णि दोनों में नहीं मिलती । मुद्रित टीका के टिप्पण में 'प्रतिभातीयं प्रक्षिप्तप्राया' ऐसा उल्लेख है फिर भी संपादक ने इसको निर्युक्ति गाथा के क्रमांक में जोड़ा है । यह गाथा हस्त आदशों में मिलती है किन्तु किसी भी व्याख्याकार ने इसको व्याख्यायित नहीं किया है, इसलिए हमने इसको निर्युक्तिगाथा के क्रम में संलग्न नहीं किया है । आदशों में तो लिपिकारों द्वारा निर्युक्तिगाथा के साथ प्रसंगवश अन्य अनेक गाथाएं भी लिखी गयी हैं अतः उनको पूर्ण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ।

२२२. 'जो पुर्व्व'¹ उद्दिष्टो², आधारी सो अहीणमइरित्तो ।
'सा चेव'³ य होइ कहा, आयारकहाइ⁴ महईए ॥
२२३. धम्मो बावीसतिविहो⁵, अगारधम्मोऽणगारधम्मो य ।
पढमो य बारसविहो, दसहा पुण वित्तियओ⁶ होति ॥
२२४. पंच य अणुव्वयाइ⁷, गुणव्वयाइं च होति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइ⁸ चउरो, मिहिधम्मो बारसविहो उ⁹ ॥
२२५. खंती य¹⁰ मइवऽजव, मुत्ती तव-संजमे य बोधव्वे ।
सच्चं सोचं अकिचणं च, बंभं च जइधम्मो ॥
२२६. धम्मो एसुवदिट्ठो, अत्थस्स चउव्विहो उ निक्खेवो ।
ओहेण छव्विहऽत्थो, चउसट्ठिविहो विभागेण ॥
२२७. धन्नाणि¹¹ रतण थावर, दुपद चउपद तहेव कुवियं च ।
ओहेण छव्विहऽत्थो, एसो धीरेहि पण्णत्तो¹² ॥दारं॥
२२८. 'चउवीसं चउवीसं'¹³, तिग-दुग-दसहा अणंगहा चेव¹⁴ ।
'सव्वेसि पि इमेसि', विभागमह संपवक्खामि¹⁵ ॥
२२९. धन्नाणि¹⁶ चउवीसं¹⁷, जव-गोधुम¹⁸-सालि-वीहि सट्ठीया¹⁹ ।
कोट्ठव अणुका¹⁰ कंगू, रालग तिल मुग मासा य²¹ ॥

१. जह चेव य (अचू), पुर्व्वं जधा य (जिचू) ।

२. निहिट्ठो (रा) ।

३. सच्चेव (अ, ब, हा) ।

४. ० कहाए (अचू) ।

५. बावीसविहो (जिचू, हा, अ) ।

६. बीयओ (हा, अ, ब), बीइओ (रा) ।

७. ० वया य (अचू) ।

८. य (हा) ।

९. इ (ब) ।

१०. धण्णार्ह (निभा) ।

११. तु. निभा १०२८ । निभा की १०२८ की गाथा के दो चरण २२७ के पूर्वार्द्ध तथा दो चरण २२८ के उत्तरार्द्ध में आए हैं ।

१२. चउवीसा चउवीसा (हा, जिचू, ब, रा) ।

१३. दसहा य होयणेगविहो (अचू) दसहा अणेगविघं (निभा) दसहा अणेगविह एव (हा) ।

१४. ० विभागमहयं पवक्खामि (हा), एएसि तु पदाणं पत्तेयपरुवणं वोच्छां (अ, रा) तु. निभा १०२८ ।

१५. धण्णार्ह (हा) ।

१६. चउवीसं (ब) ।

१७. गोधुम (हा, अ, ब, निभा) ।

१८. सट्ठिया (निभा) ।

१९. अणया (निभा), अणुया (हा, अ, ब) ।

२०. देखें—निभा १०२९ ।

२३०. अतसि-हरिमंथ^१ तिपुडग^२-निष्काव सिलिद^३ रायमासा य ।
 इवखू मसूर^४ तुवरी^५, कुलत्थ तह धन्नग कलाया^६ ॥दारं॥
२३१. रयणाणि^७ चतुब्बीसं^८, सुवण्ण-तउ^९-तब-रयय-लोहाइं ।
 सीसग-हिरण्ण-पासाण-वइर^{१०}-मणि-मोत्तिय-पवालं ॥
२३२. संखो^{११} तिणिसाअगह^{१२}-चंदणाणि वत्थाऽऽमिलाणि कट्टाणि ।
 तह 'चम्म-दंत'^{१३} बाला, गंधा दब्बोसहाइं च ॥दारं॥
२३३. 'भूमी घर-तरुगणा य'^{१४}, तिविधं पुण थावरं मुणेयब्बं^{१५} ।
 चक्कार बद्ध माणुस, दुविधं पुण होति दुपयं तु^{१६} ॥दारं॥
२३४. गावी 'महिंसी उट्टी'^{१७}, अय-एलग-आस-आसतरगा य ।
 घोडग-गद्दह^{१८}-हत्थी, 'चतुप्पदा होति दसधा तु'^{१९} ॥दारं॥
२३५. नाणाविहोवकरणं^{२०}, णेगविहं कुप्पलक्खणं होति ।
 एसो अत्थो भणितो, छव्विह चतुसट्ठिभेओ उ^{२१} ॥
२३६. कामो चउवीसतिहो^{२२}, संपत्तो खलु तहा असंपत्तो ।
 संपत्तो चउदसहा^{२३}, दसहा पुण होयऽसंपत्तो ॥

१. हरिमिय (अचू), हरिमंथ (निभा), हरि-
 मित्थ (रा) ।
 २. तिउडग (हा, ब) ।
 ३. निष्कावऽलिसिद (अचू), निष्काव अलसिद
 (निभा) ।
 ४. आसुरि (अचू) ।
 ५. तुवरी (रा) ।
 ६. धाणग कलाय (निभा १०३०) ।
 ७. ० णाई (अचू), ० णाइ (निभा, ब) ।
 ८. चउबीसं (जिचू) ।
 ९. सुवण्ण-तनु (निभा) ।
 १०. वयर (अ), वेर (निभा १०३१) ।
 ११. संख (निभा), संखे (ब) ।
 १२. तिणिसो अगह (अचू), तिणिसा गुह (हा,
 जिचू), ० अगुलु (निभा) ।
 १३. दंत चम्म (निभा १०३२) ।
 १४. भूमि-घर-तरुगणादि (निभा), भूमीघरं तरु-
 गणा (अचू), ० घराइं तरुगण (अ, ब, रा),

- भूमी घरा य तरुगण (हा) ।
 १५. तु नायब्बं (अ, ब), समासेणं (निभा) ।
 १६. निभा १०३३ ।
 १७. उट्टी महिंसी (निभा), ० उट्टा (हा, जिचू) ।
 १८. गद्दह (हा, अ, ब) ।
 १९. चउप्पयं होति दसहा उ (अचू, हा) निभा
 १०३४ ।
 २०. ० वगरणं (हा, अ, ब, जिचू) ० विहसुवगरणं
 (रा) ।
 २१. य (अ, ब), निभा (१०३५) में यह कुछ अंतर
 के साथ मिलती है—
 नाणाविहं उपकरणलक्खण
 कुप्पं समासतो होति ।
 चतुसट्ठिपडोगारा,
 एवं भणितो भवे अत्थो ॥
 २२. चउवीसविहो (हा, अ, ब, रा) ।
 २३. चोदसहा (अचू) ।

२३७. 'तत्थ असंपत्तऽत्थो'^१, चिता तह सद्ध संभरणमेव^२ ।
विवकवय लज्जनासो, पमाय उम्माय तब्भावो^३ ॥
२३८. मरणं च होइ दसमो, 'संपत्तं पि'^४ य समासओ वोच्छं ।
दिट्ठीए संपातो, दिट्ठीसेवा य संभासो^५ ॥
२३९. 'हसित ललितोऽवगूहित'^६, 'नह'^७-दंत-निवाय-चुंबणं धेव^८ ।
'आलिगण-आदाण'^९, 'करसेवणऽणंग-कीडा य'^{१०} ॥
२४०. धम्मो अत्थो कामो, तिन्नेते^{११} पिडिता पडिसवत्ता ।
जिणवयणं ओतिण्णा^{१२}, असवत्ता होति नातब्बा ॥
- २४०।१. जिणवयणम्मि परिणए, अवत्थविहि आणुठाणओ धम्मो ।
सच्छासयप्पयोगा, अत्थो वीसंभओ कामो^{१३} ॥
२४१. धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिवं अणावाहं ।
तमभिप्पेया^{१४} साहू, तम्हा धम्मत्थकाम त्ति ॥
२४२. 'परलोगु मुत्तिमंगो'^{१५}, नत्थि ह्व^{१६} मोक्खो त्ति वेत्ति अविहिण्णू ।
सो^{१७} अत्थि अवितहो^{१८}, जिणवयम्मि पवरो^{१९} न अन्नत्थ ॥
२४३. अट्टारसठाणाइं, आयारकहाइ जाइं^{२०} भणियाइं ।
तेसिं अन्नतरागं, सेवतो^{२१} न होइ सो समणो ॥

१. तत्थासं० (अ, क), ० पत्तोऽत्थो (अचू) ।

२. संसरण ० (हा) ।

३. तब्भावणा य (अचू, जिचू) ।

४. संपत्तम्मि (अ, ब) ।

५. २३७, २३८ की तुलना वास्त्यायन काम-सूत्र से ।

६. हसित-ललित-उवगूहित (हा, जिचू), ० ललि-उव ० (ब) ।

७. दंत नह (हा, अचू, रा) ।

८. होइ (हा, अचू) ।

९. ० गणमायाणं (हा, अचू) ।

१०. करऽणंग अणंगकिट्ठा य (अचू) ० सेवण संग-किट्ठा य (हा) ० कीला य (ब) ।

११. भिन्ने ते (हा) ।

१२. उत्तिन्ना (हा), ओइन्ना (अ) ।

१३. इस गाथा का चुनिद्वय में कोई उल्लेख नहीं है । टीका तथा हस्तआदर्शों में यह उपलब्ध है । यह गाथा २४० की संवादी है । संभव है यह बाद में जोड़ी गई हो ।

१४. तमभिप्पिया (अचू) ।

१५. परलोग मुत्तिमंतो (अचू) ।

१६. हि (ब) ।

१७. ते (अचू) ।

१८. अवितहो (अचू) ।

१९. पवरो (अचू) ।

२०. जा य (रा) ।

२१. सेवतो (अचू, रा) ।

२४४. वयच्छक्कं कायच्छक्कं, अवाप्पे सिहिभावणं ।
'पलियं निसेज्जा य'^१, सिणाणं सोभवज्जणं^२ ॥

'धम्मत्थकामनिज्जुत्ती समत्ता'^३

२४५. तिवखेवो तु^४ चउक्को, वक्के^५ 'दब्बं तु'^६ भासदब्बाइ ।
भावे भासादब्बो, तस्स य एगद्धिया इणमो ॥

२४६. वक्कं वयणं च गिरा, सरस्सती भारती^७ य गो वाणी ।
भासा पणवणी देसणी य, वइजोग^८ जोगे य ॥

२४७. 'दब्बे तिविधा गहणे य, निसिरणे'^९ तह भवे पराघाते ।
भावे दब्बे य सुते, चरित्तमाराहणी^{१०} चैव ॥दारं॥

२४८. आराहणी उ दब्बे, सच्चामोसा विराहणी होंति ।
सच्चामोसा मीसा, असच्चमोसा य पडिसेधो^{११} ॥

२४९. 'जणवय-सम्मय-ठवणा'^{१२}, नामे रुवे पडुच्च सच्चे य ।
ववहार भाव जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य^{१३} ॥दारं॥

२५०. कोधे माणे माया, लोभे पेज्जे तहेव दोसे य ।
हास भए अक्खाइय, उवघाते निस्सिता दसमा ॥दारं॥

२५१. उप्पन्न-विगत^{१४}-मीसग, जीवमजीवे य जीव अज्जीवे^{१५} ।
'तहज्जंत मीसया'^{१६} खलु, परित्त अद्धा य अद्धा ॥दारं॥

२५२. आमंतणी आणवणी^{१७}, जायणि तह पुच्छणी य पणवणी ।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य^{१८} ॥

१. ०यंको गिहिणिसेज्जा (अचू) ।

२. सोह० (अचू,हा)यह गाथा कुछ प्रतियों में सूत्र गाथा के रूप में निदिष्ट है । दोनों धूर्णियों तथा टीका में इसके लिए स्पष्ट रूप से निर्युक्तिगाथा का संकेत है ।

३. महस्सियायारकहज्जमयणनिजुत्ती सम्मत्ता (अचू) ।

४. य (हा,ब) ।

५. वक्को (अचू) ।

६. दब्बम्मि (अ,ब) ।

७. भारही (हा), भारई (अ,ब) ।

८. वपजोग (हा) ।

९. दब्बे भावे तिविहा गहणे अ निसिरणे (अचू) ।

१०. चरित्त आरा ० (अ,रा) ।

११. ०सेहा (हा) ।

१२. जणवत समुत्ति ठवणा (अचू) ।

१३. तु. मूलाचार ५।३०८ ।

१४. विगत (हा,अ,ब) ।

१५. छंद की दृष्टि से यहां अज्जीव पाठ है ।

१६. तह मिस्सिया अणता (रा) ।

१७. आणवणी (अचू) ।

१८. तु. मूला ५।३१५ ।

२५३. अणभिगगहिता भासा, भासा य अभिगगहम्मि बोधव्वा^१।
संसयकरणी भासा, 'वोगड अव्वोगडा'^२ चेव ॥
२५४. 'सच्चा वि'^३ य सा दुविधा, पज्जत्ता खलु तहा अपज्जत्ता ।
पढमा दो पज्जत्ता, उवरिल्ला दो अपज्जत्ता ॥दारं॥
२५५. सुतधम्मो पुण तिविधा, सच्चा मोसा असच्चमोसा य ।
सम्महिट्ठी 'तु सुते, उवउत्तो भासए'^४ सच्चं ॥
२५६. सम्महिट्ठी तु सुतम्मि, अणुवउत्तो अहेतुगं चेव ।
जं भासति सा मोसा, मिच्छादिट्ठी वि य तहेव ॥
२५७. 'भवति तु'^५ असच्चमोसा, सुतम्मि उवरिल्लए तिनाणम्मि^६।
जं उवउत्तो भासति, एत्तो वोच्छं चरित्तम्मि ॥दारं॥
२५८. पढम-वितिया^७ चरित्ते, भासा दो चेव होति नायव्वा ।
सचरित्तस्स तु भासा, सच्चामोसा तु इयरस्स ॥दारं॥
२५९. 'नामं ठवणासुद्धी'^८ दव्वसुद्धी य भावसुद्धी य ।
एतेसि पत्तेयं, परुवण होति कायव्वा^९ ॥
२६०. 'तिविधा य'^{१०} दव्वसुद्धी, तद्ववादेसतो पहाणे य ।
'तद्वव्वं आदेसो'^{११}, अनन्नमीसा हवति सुद्धी ॥
२६१. वण्ण-रस-गंध-फासेसु मणुण्णा^{१२} सा पहाणओ सुद्धी ।
तत्थ तु सुविकल मधुरा तु सम्मया चेव उक्कोसा ॥
२६२. एमेव भावसुद्धी, 'तब्भावाऽऽदेसतो पधाने'^{१३} य ।
तब्भावगमादेसो^{१४}, अनन्नमीसा हवति सुद्धी ॥
२६३. दंसण-नाण-चरित्ते, तवोविसुद्धी पधानमादेसो^{१५} ।
जम्हा तु विसुद्धमलो, तेण विसुद्धो भवति सुद्धो^{१६} ॥

१. बोधव्वा (हा,अ) ।

२. वोकड अव्वोकडा (अचू), वायड अव्वायडा (हा), व्याकृता—स्पष्टा, अव्याकृता—अस्पष्टा (हाटी प. २१०) ।

३. सच्चा वि (जिचू) ।

४. सुओवउत्तु सो भासई (हा) ।

५. हवइ उ (अ,ब,जिचू,हा) ।

६. तु नाणम्मि (ब) ।

७. वीयाइ (रा) ।

८. नामदुवणा ० (अचू) ।

९. काइव्वा (ब) ।

१०. तिविहा उ (हा, जिचू) ।

११. तद्वव्वगमाएसो (हा, जिचू), तद्वव्विग ० (अ, ब) तद्वव्वगमादेसे (रा) ।

१२. फासे समणुण्णा (हा,ब) ।

१३. ० वाएसओ पहाणे (हा) ।

१४. तब्भावविग ० (अ,ब) ।

१५. ०भादेसो (अचू) ।

१६. सिद्धो (हा) ।

२६४. जं वक्कं वदमाणस्स, संजमो सुज्झई न पुण हिंसा ।
न य अत्तकलुसभावो, तेण इहं वक्कसुद्धिं त्ति ॥
२६५. वयणविभत्तीकुसलस्स, 'संजमम्मि य' उवद्धितमतिस्स^१ ।
दुब्भासितेण होज्ज हु, विराधणा तत्थ जातितव्वं ॥
२६६. वयणविभत्तिअकुसलो, वओगतं बहुविधं अजाणंतो ।
जइ^२ वि न भासति किंचो, 'न चेव वइगुत्तयं'^३ पत्तो ॥
२६७. वयणविभत्तिकुसलो, वओगतं बहुविधं वियाणंतो ।
'दिवसमवि भासमाणो, अभासमाणो व वइगुत्तो'^४ ॥
२६८. पुव्वं^५ बुद्धोइ पेहिता^६, 'ततो वक्कमुदाहरे'^७ ।
'अचक्खुओ व'^८ नेतारं, बुद्धिमन्नेउ ते गिरा^९ ॥

वक्कसुद्धिनिज्जुत्ती समत्ता

२६९. जो^{१०} 'पुव्वं उवदिट्ठो'^{११}, आयारो सो अहीणमतिरित्तो ।
दुविधो य होति पणिधी, दव्वे भावे य नायव्वो ॥
२७०. दव्वे निधाणमादी, मायपउत्ताणि^{१२} चेव^{१३} दव्वणि ।
भाविदिय नोइंदिय, दुविहो उ 'पसत्थ-अपसत्थो'^{१४} ॥
२७१. सइसे य रुवेसु य गंधेसु रसेस तह य फासेसु ।
न वि रज्जति न वि दुस्सति^{१५}, एसो^{१६} खलु इंदियप्पणिधी ॥
२७२. 'सोइंदियरस्सीहि उ, मुक्काहि'^{१७} सइमुच्छित्तो जीवो ।
आदियति^{१८} अणाउत्तो, सइगुणसमुत्थिते^{१९} दोसे ॥

१. संजमम्मी (अचू, हा) ।

२. समुज्जुयमइस्स (हा), समुज्जुयमयस्स (व, रा) ।

३. जति (अचू) ।

४. तहा वि न वयिगुत्तयं (जिच्), ० वयगुत्तयं (हा) ० वतिगुत्तयं (अचू) ।

५. दिवसं पि भासमाणो तहा वि वयगुत्तयं पत्तो (अ, ब, हा) ।

६. पुव्वि (अचू) ।

७. पासित्ता (अचू) ।

८. पच्छा वयभुयाहरे (हा, अ) ।

९. अचक्खुअव्व (अ, ब) ।

१०. इस गाथा का जिच् में कोई उल्लेख नहीं है ।

११. सो (जिच्) ।

१२. पुव्वि उदिट्ठो (हा, अ, ब, रा) ।

१३. माइपउत्ताणि (व) ।

१४. वेह (रा) ।

१५. पसत्थमण० (अचू) ।

१६. इसइ (अ, रा) ।

१७. एसो (अचू) ।

१८. ० रस्सीयुम्मुक्काहि (अचू) ० रस्सीहि मुक्का ० (रा) ।

१९. आइयइ (अ, ब, हा), आययइ (रा) ।

२०. ० समुट्ठिए (हा, व) ।

२७३. 'जह एसो'^१ सद्देसुं, एसेव कमो तु सेसएहिं पि ।
चउहिं पि इंदिएहिं, रुवे मंधे रसे फासे ॥
२७४. जस्स 'पुण दुप्पणिहिताणि'^२ इंदियाइं तवं चरंतस्स ।
सो हीरति असहीणेहिं^३, सारही इव^४ तुरंगेहिं ॥
- २७४।१. अहवा वि दुप्पणिहिंदियो उ मज्जार-वग समो होइ ।
अप्पणिहिइंदियो पुण, भवइ उ अस्संजओ चेव^५ ॥
२७५. कोहं माणं मायं, लोभं च महाभयाणि^६ चत्तारि ।
जो रंभइ सुद्धप्पा, एसो नोइंदियप्पणिधी ॥
२७६. जस्स वि य^७ दुप्पणिहिता, होति कसाया तवं करंतस्स^८ ।
सो बालतवस्सो विव^९, गयण्हाणपरिस्समं^{१०} कुणति ॥
२७७. सामणमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होति ।
मन्नामि 'उच्छुफुल्लं व'^{११}, निप्फलं तस्स सामणं^{१२} ॥
२७८. 'एसो दुविहो पणिधी, सुद्धो'^{१३} जदि^{१४} दोसु तस्स तेसि च ।
'एत्तो पसत्थमपसत्थ'^{१५}, लक्खणज्जक्कत्थनिप्फन्नं^{१६} ॥दारं॥
२७९. मायागारवसहितो, इंदियनोइंदिएहिं अपसत्थो ।
धम्मट्ठाय^{१७} पसत्थो, इंदिय-नोइंदियप्पणिधी ॥
२८०. अट्ठविधं कम्मरथं, बंधति अपसत्थपणिहिमाउत्तो ।
तं चेव खवेति पुणो, पसत्थपणिहिसमायुत्तो ॥

१. जहा एसो (जिचू), एसो जह (ब) ।

२. खलु दुप्पणिहिआणि (रा,हा,रा), ०दुप्पणिहि-
याइं (ब) ।

३. असहीणे (अ,ब), ।

४. वा (हा,अचू) ।

५. यह गाथा मुनि पुण्यविजयजी ने टिप्पण में
दी है । इस गाथा की किसी भी
व्याख्याकार ने व्याख्या नहीं की है तथा
अ, ब और रा आदर्श में भी नहीं है । इसलिए
इसे निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं रखा है ।

६. महब्भ ० (हा,अचू,जिचू,रा) ।

७. त (अचू) ।

८. चरंतस्स (हा,अ,ब,रा) ।

९. वि य (रा) ।

१०. गतण्हात ० (अचू) ।

११. ०फुल्लमिव (अचू), ० पुष्पं व (रा), ० पुष्पं
च (अ,ब) ।

१२. चारित्तं (ब) ।

१३. एसा दुविधा पणिही सुद्धा (रा) ।

१४. जइ (अ,ब,हा) ।

१५. एत्तो य पसत्थपसत्थ (रा) ।

१६. ०खणमज्ज ० (अ,ब,हा) ।

१७. धम्मत्थाए (अचू), धम्मत्था य (हा,जिचू) ।

२८१. दंसण-नाण-चरित्ताणि^१, संजमो तस्स साधणट्ठाए ।
पणिधी पडजितब्बोऽणायतणाइ^२ च वज्जाणि^३ ॥
२८२. दुप्पणिधियजोगो पुण, लंछिज्जति संजमं अयाणंतो ।
वीसत्थ 'निसिट्ठंगो व'^४, कंटइल्ले जह पडंतो ॥
२८३. सुप्पणिधितजोगो पुण, न लिप्पती पुब्बभणितदोसेहि ।
निदहति य कम्माइ, सुक्कतिणाइ^५ जहा अग्गी ॥
२८४. तम्हा तु अप्पसत्थं, पणिघाणं उज्झिक्कण समणेण ।
पणिघाणम्मि पसत्थे, 'भणितो आयारपणिधि त्ति'^६ ॥
२८५. छक्काया समितीओ, तिण्णि य^७ गुत्तीओ पणिहि दुविहा उ ।
आयारप्पाणिहंए, अहिगारा 'हंति चउरेते'^८ ॥

आयारप्पणिहिनिज्जुत्ती समत्ता

२८६. विणयस्स समाधीए^९, 'निक्खेवो होइ दोण्ह वि चउक्को'^{१०} ।
दब्बविणयम्मि तिणिसो^{११}, 'सुवण्णमिच्चादि दब्बाणि'^{१२} ॥
२८७. लोगोवयारविणयो, अत्थनिमित्तं च कामहेउं च ।
भय-विणय-मोक्खविणयो^{१३}, विणओ खलु पंचहा होइ^{१४} ॥
२८८. अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च^{१५} अतिधिपूया य ।
लोगोवयारविणयो, देवयपूया य विभवेण^{१६} ॥

१. चरित्तं च (अचू) ।
२. पडजितब्बो अणायतणाइ (हा,ब,रा) ।
३. वज्जाइ (अ,जिचू,हा) ।
४. निसिट्ठंगो व (रा, अचू, हा) ० ट्ठंगुब्ब (अ,ब) ।
५. सुक्कमिव तणं (अचू), सुक्कतणाइ (हा) ।
६. भणितं आयार पणिघाणं (अचू) भणिया आ० (ब) ।
७. उ (अ) ।
८. हंतिमे चउरो (अ), होइ चउरो (रा) ।

यह गाथा केवल निर्युक्ति की हस्तप्रतियों में उपलब्ध है। व्याख्याकारों ने इसके बारे में कोई उल्लेख नहीं किया है। संभव है इसको सरल समझकर छोड़ दिया हो अथवा बाद के

आचार्यों ने जोड़ दिया हो। मुनि पुण्यविजयजी ने चूणि में इस गाथा को टिप्पण में दिया है। किन्तु भाषा शैली की दृष्टि से यह निर्युक्ति की गाथा प्रतीत होती है।

९. समाधीय य (रा,अचू), य सुत्तस्स य (उशांटी प १६) ।

१०. य दोण्ह वि निक्खेवतो चउक्को य (अचू) ।

११. तिणिसो (रा) ।

१२. ० मिन्वेवमाईणि (हा), ० मिच्चाइ दब्बाइ (ब) ।

१३. सुक्ख० (हा,ब,रा) सर्वत्र ।

१४. भणियो (अ,रा), णोओ (उशांटी प १६),

१५. × (हा) ।

१६. विह० (हा) ।

२८९. अम्भासवत्ति^१ छंदाणुवत्तणं देस-कालदाणं च ।
अम्भुट्टाणं अंजलि, आसणदाणं च अत्थकत्ते ॥
२९०. एमेव कामविणयो, भये य 'नायब्बु आणुपुब्बीए'^२ ।
मोक्खम्मि वि पंचविधो, 'परूवणा तस्सिमा होति'^३ ॥
२९१. दंसण-नाण-चरित्ते, तवे य तह ओवयारिए चेव ।
एसो उ^४ मोक्खविणयो, पंचविधो होइ नायब्बो ॥
२९२. दब्बाण सव्वभावा, उवदिट्ठा जे जहा जिणवरेहिं ।
ते तह सहहति नरो, दंसणविणओ भवति तम्हा ॥
२९३. नाणं सिक्खति नाणी, गुणेति नाणेण कुणति किच्चाणि^५ ।
नाणी नव्वं न बंधति, नाणविणीओ भवति तम्हा ॥
२९४. अट्ठसिधं कम्मरयं^६, जग्गह 'रित्तं करेति'^७ जयमाणो^८ ।
नवमन्नं च न बंधति, चरित्तविणीओ^९ भवति तम्हा ॥
२९५. अवणेति तवेण तमं, उवणेति य मोक्खमग्गमप्पाणं^{१०} ।
तव-विणय-निच्छित्तमत्तो^{११}, तवोविणीओ हवति तम्हा ॥
२९६. अध ओवयारिओ^{१२} पुण^{१३}, दुविहो विणओ समासतो होति ।
पडिरूवजोग 'जुंजण, तह य अणासातणाविणओ'^{१४} ॥
२९७. पडिरूवो खलु विणओ, कायियजोगे य वाय^{१५}-माणसिओ ।
अट्ठ चउत्तिवह दुविहो, परूवणा तस्सिमा होति ॥
२९८. अम्भुट्टाणं अंजलि-आसणदाणं 'अभिगह-कित्ती'^{१६} य ।
'सुसूसण-अणुगच्छ'^{१७}-संसाधण-काय अट्ठविहो ॥

१. ० सवित्ति (अ, हा) ।

२. नेयब्बो आणु ० (अचू), नेयव्वमाणु ० (हा),
नेयव्वु आणु ० (अ,व) ।

३. विणओ खलु होइ नायव्वो (रा) ।

४. य (हा) ।

५. किच्चाइ (अ,व,हा) ।

६. कम्मरयं (अ) ।

७. रित्तीकरेति (ब) ।

८. जइमाणो (अ,व) ।

९. ० विणओ (हा) ।

१०. सग्गमोक्खमं (अ,व,हा) ।

११. निच्छयमर्हं (हा,अ) ।

१२. ओवयारिओ (अचू) ।

१३. खलु (जिचू) ।

१४. जुंजणओऽणञ्जासतणा विणओ (अचू), जुंजण
तह अणसां (रा) ।

१५. वाइ (हा) ।

१६. ० गहा किई (ब) ।

१७. ० सणमणुं (हा,अ) ।

२९९. हित-मित-अफरुसभासी^१, अणुवीईभासि वाइओ विणओ ।
अकुसलमणोनिरोहो^२, कुसलमणउदीरणा^३ चेव ॥
३००. पडिरुवो खसु विणओ, पराणुवित्तीपरो^४ मुणेयव्वो ।
अप्पडिरुवो विणओ, नायव्वो केवलीणं तु ॥
३०१. एसो भे परिकहितो, विणओ पडिरुवलवखणो तिविधो ।
बावन्न विधिविधानं, वेत्ति अणासातणाविणयं^५ ॥
३०२. तित्थकर^६-सिद्ध-कुल-गण-संव-किरिय^७-धम्म-नाण-नाणीणं ।
आयरिय-थेरुवज्झाय^८-गणीणं तेरस पदाणि^९ ॥
३०३. अणसातणा^{१०} य भत्तो, बहुमाणो तह य वणसंजलणा ।
तित्थगरादी तेरस, चतुग्गुणा^{११} होति^{१२} बावन्ना ॥
३०४. दब्बं जेण व दब्बेण, समाधो आहितं^{१३} च जं दब्बं ।
भावसमाधि चउव्विध, दंसण-नाण-तव-वरित्ते^{१४} ॥
- विणयसमाहिनिज्जुत्तो समत्ता

३०५. मामं ठवणसकारो, दब्बे भावे य होति नायव्वो ।
'दब्बम्मि पसंसाई'^{१५}, भावे जीवो तदुवउत्तो^{१६} ॥
३०६. निद्देसपसंसाए^{१७}, अत्थीभावे य होति तु सकारो ।
निद्देसपसंसाए, 'अहिगारो एत्थ अज्झयणे'^{१८} ॥

१. ०रुसावाई (अ,ब,हा) ।

२. ० चित्तनिरोहो (रा, हा), ० मणनिरोहो (जिचू) ।

३. कुसलस्स उदी० (ब), ०रणं (रा) ।

४. ० णुअत्तिमइओ (अ, हा), ० णुवित्तीमओ (रा) ।

५. वेत्तअणच्चासा ० (अचू) ।

६. तित्थगर (हा), तित्थयर (अ,ब) ।

७. किया (हा) ।

८. थेरओज्झा (हा) ।

९. पयाइं (रा) ।

१०. अणासा० (अ,ब,रा,जिचू) ।

११. चउगुणा (अ) ।

१२. होति (अचू), हुंति (अ) ।

१३. आधितं (अचू), आहितं (हा,ब) ।

१४. तु. दधुनि ९ ।

१५. दब्बे पसंसमाई (हा) ।

१६. इस गाथा की व्याख्या गद्य रूप में दोनों चूर्णियों में मिलती है किन्तु गाथा का संकेत नहीं मिलता । टीका तथा आदर्शों में यह गाथा उपलब्ध है । अचू में यह निगा के क्रम में प्रकाशित नहीं है किन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से यह गाथा यहां प्रासंगिक लगती है तथा भाषाशैली की दृष्टि से भी यह निगा की प्रतीत होती है ।

१७. तद्देस प ० (अ) ।

१८. य बहुमाणेण अधिगारा (अचू) ।

३०७. जे भावा 'दसकालिय सुत्ते'^१, करणिज्ज वणिणय जिणेहि ।
तेसिं समाणणम्मी^२, जो 'भिवखू भण्णति'^३ स भिवखू ॥
- ३०७।१. चरम-मरुगादियाणं, भिवखुजीवीण काउणमपोहं ।
अज्झयणगुणनित्तो, होइ पसंसाइ उ सभिवखू^४ ॥
३०८. भिवखुस्स य^५ निक्खेवो, निरुत्त एमट्ठियाणि^६ लिगाणि ।
अगुणट्ठिओ न भिवखू^७, अवयवा पंच दाराइं ॥
३०९. नामं ठवणाभिवखू दब्बभिवखू य भावभिवखू य ।
दब्बम्मि आगमादी, अण्णोऽपि य पज्जवो^८ इणमो ॥
३१०. भेदतो भेदणं चेव, भिदितव्वं तहेव य ।
एतेसिं तिण्हं पि य, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥
३११. जध दारुकम्मकारो, भेदण भेत्तव्वसंजुतो^९ भिवखू ।
अन्ने वि दब्बभिवखू, जे जायणगा^{१०} अविरता य ॥
३१२. 'गिहिणो विसयारंभग'^{११}, अज्जुप्पण्णं जणं विमग्गंता ।
जीवणिय दोण-किविणा, ते विज्जा दब्बभिवखु त्ति ॥
३१३. मिच्छादिट्ठी^{१२} तसथावराण, पुढवादिबेदियादीण^{१३} ।
निच्छं वधकरणता, अवंभचारी य संचइया^{१४} ॥
३१४. दुपय-वतुप्पय-धण-धम्म-कुविथ-तिग-तिग-परिग्गहे निरता ।
सच्चित्तभोइ^{१५} पयमाणगा य उद्दिट्ठभोई^{१६} य ॥

१. दसवेयालियम्मि (हा,अ,ब,जिचू) ।

२. समाणणे (रा), समावणम्मि ति (अ,हा) ।

३. भिवखू इति भवति (अचू), भिवखू इइ भण्णइ (ब,रा) ।

४. इस गाथा का दोनों चूर्णियों में कोई उल्लेख नहीं है । केवल टीका तथा हस्त आवशों में यह गाथा मिलती है । यह गाथा प्रसंगानुसार बाद के आचार्यों द्वारा जोड़ी गई प्रतीत होती है । इस गाथा को निगा न मानने से भी विषयवस्तु की क्रमबद्धता में कोई अंतर नहीं आता ।

५. उ (अ,ब) ।

६. मेग० (रा) ।

७. भिवखु त्ति (अचू) ।

८. पज्जवो (अचू) ।

९. भेयव्व० (अ), भित्तव्व (हा,ब) ।

१०. जातणका (अचू) ।

११. गिहिणो वि सया ० (हा), हरिभद्र ने गृहिणो-
ऽपि सदारंभका इस प्रकार पदच्छेद करके
व्याख्या की है (हाटी प २६०) ।

१२. मिच्छदिट्ठी (अ,ब,हा) ।

१३. ० बिइदियाणं (अ), ० बेइदियाणं (ब,रा) ।

१४. ० ईया (अ) ।

१५. ० भोति (अचू), ० भोइ य (अ) ।

१६. ० भोती (अचू) ।

३१५. करणतिए जोगतिए, सावज्जे आयहेतु पर उभए ।
अट्ठाऽणट्ठपवत्ते, 'ते विज्जा'^१ दब्बभिक्षु त्ति ॥
- ३१५।१. इत्थी परिग्गहाओ, आणा-दाणाइ भाव संगोओ ।
सुद्धतवाऽभावाओ, कुतित्थियाऽबंभचारि^२ त्ति^३ ॥
३१६. आगमतो उवउत्ते, तग्गुण 'संवेदए तु'^४ भावम्मि ।
तस्स निरुत्तं भेदग-भेदण-भेत्तव्वएण तिधा^५ ॥
३१७. भेत्ताऽऽगमोवउत्तो^६, दुविहं तवो भेदणं च भेत्तव्वं ।
अट्ठविधं कम्मखुहं, तेण^७ निरुत्तं स भिक्षु त्ति ॥
३१८. भिदंतो 'य जह'^८ खुहं^९, भिक्खू जत्तएणो जती होति ।
संजमचरओ चरओ, भवं खवेतो^{१०} भवंतो तु^{११} ॥
३१९. जं भिक्खमेत्तवित्तो^{१२}, तेण व^{१३} भिक्खू खवेति जं व अणं ।
'तव-संजमे'^{१४} तवस्सि त्ति, वावि अणो वि पज्जाओ ॥
३२०. तिण्णे तायी^{१५} दविए, वती य खंते य दंत विरते य ।
मुणि-तावस^{१६} पण्णवगुजु^{१७}-भिक्खू^{१८} बुद्धे जति विदू य ॥
३२१. पव्वइए अणगारे, पासंडी चरग बभणे चेव ।
'परिवायगे य'^{१९} समणे, निगंथे संजते मुत्ते ॥
३२२. साधू लूहे य तधा, तीरट्ठी 'होति चेव'^{२०} नातव्वे ।
नामाणि एवमादीणि, होति तव-संजमरताणं ॥

१. विज्जा ते (रा) ।	८. याधि (अचू) ।
२. ०वेर (रा) ।	९. खुदं (जिचू) ।
३. इस गाथा का दोनों चूर्णियों में कोई उल्लेख नहीं है किन्तु टीकाकार ने दब्बभिक्षु के क्रम में इस गाथा की व्याख्या की है । आदर्शों में यह गाथा मिलती है पर अधिक संभव है कि प्रसंगानुसार यह गाथा बाद में जोड़ी गई है । विषयवस्तु की दृष्टि से भी अप्रासंगिक सी लगती है अतः इसको निगा के क्रम में नहीं रखा है ।	१०. खिवंतो (हा), खवंतो (अ,ब) ।
४. ० दयो य (ब,हा) ।	११. य (ब) ।
५. तहा (ब), तिहा (अ,हा) ।	१२. ० मत्तरित्ती (हा) ।
६. भित्ता० (अ) ।	१३. वि (अ) ।
७. तस्स (जिचू) ।	१४. संजम तवे (रा) ।
	१५. ताती (अचू) ।
	१६. तावत (अचू) ।
	१७. मण्णवगज्जु (ब), ० गुज्जु (अचू,अ) ।
	१८. भिक्खु (अचू,ब) ।
	१९. परिव्वाये (अचू) ।
	२०. चेव होइ (अ,ब) ।

३२३. संवेगो निखेओ, विसयविरागो^१ सुसीलसंसग्गो^२ ।
आराधणा तवो नाण-दंसण-चरित्त-विणए य ॥
३२४. खंती य महवज्जव, विमुत्तया^३ 'तह अदीणय'^४ तित्तिक्खा ।
आवस्सगपरिसुद्धी य होंति भिक्खुस्स लिगाणि^५ ॥
३२५. अज्झयणगुणी भिक्खू, न सेस 'इति एस णे पतिण्णत्ति'^६ ।
अगुणत्ता इति हेतु, को दिट्ठतो ? सुवण्णमिव^७ ॥
३२६. विसघाति^८ रसायण मंगलत्त^९ विणए^{१०} पयाहिणावत्ते ।
गुरुए अडज्जकुच्छे^{११}, अट्ट सुवण्णे गुणा भणिता^{१२} ॥

१. ० लिवेगो (हा.अ.रा) ।
२. ० संसग्गी (व.अ.चू) ।
३. विमुत्तिया (रा) ।
४. तह य अदीण (अ) ।
५. लिगाइ (अ.व.हा) ।
६. इह णो पइल्ल-को हेऊ (व.रा.हा), इय णो ० (अ) ।
७. पंचवस्तु में "एत्तोच्चिय णिहिट्ठो 'पुब्बायरि-एहिं' भावसाहू त्ति"—ऐसा उल्लेख करके दशवैकालिक निर्युक्ति के दसवें अध्यायन की निर्युक्तिगाथाएं उद्धृत की हैं। टीकाकार ने पुब्बायरिएहिं का अर्थ भद्रबाहुप्रभृति किया है। कुछ गाथाओं में पाठ भेद भी मिलता है। जैसे—

तु.—सुत्तत्थगुणी साहू ण,
सेस इह णो पइण्ण इह हेऊ ।
अगुणत्ता इति णेओ,
दिट्ठतो पुण सुवण्णं च ॥
(पंचवस्तु गा. ११९१)

८. ० घाय (व), ० घाइ (जिचू) ।
९. मंगलत्थ (अ.व.हा) ।
१०. विणए (पंव) ।
११. अडज्जु ० (अ), ० कुत्थे (अ.व.हा),
पंव ११९२ ।

१२. हुंति (रा) ।

पंचवस्तु में विसघाति (दशनि गा. ३२६) की गाथा के बाद तीन गाथाएं और हैं जो दशवैकालिकनिर्युक्ति में नहीं हैं। इन गाथाओं के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'पुब्बायरिएहिं' शब्द में अन्य आवायों का समावेश भी हो जाता है। इन तीनों गाथाओं में विसघाइ (दशनि ३२६) की व्याख्या है अतः यह भी संभव है कि स्वयं पंचवस्तुकार ने इन गाथाओं की रचना कर दी हो। वे गाथाएं इस प्रकार हैं—

इय मोहविसं पायइ,
सिवोवएसा रसायणं होइ ।
गुणओ य मंगलत्थं,
कुणइ विणीओ य ओगति ॥
मग्गाणुसारि पयाहिण,
गंभीरो गुरुयओ तहा होइ ।
कोहमिणा अडज्जो,
अकुत्थ सह सीलभावेण ॥
एवं दिट्ठंतगुणा सज्जम्मि,
वि एत्थ होंति णायब्बा ।
ण हि साहम्मभावे,
पायं जे होइ दिट्ठतो ॥

(पंचवस्तु—११९३-९५)

२२७. चतुकारणपरिसुद्धं, कस-छेदण^१-ताव-ताडणाए^२ य ।
 'जं तं विसघाति रसायणादि गुणसंजुतं होति'^३ ॥
२२८. 'तं कसिणगुणोवेत'^४, होति सुवण्णं न सेसणं जुत्ती ।
 न हि^५ नामरूपमेत्तेण^६, एवमगुणो हवति भिक्खू^७ ॥
२२९. जुत्तीसुवण्णगं पुण^८, सुवण्णवण्णं तु जइ वि कीरेज्जा^९ ।
 न हु होति तं सुवण्णं, सेसेहि गुणेहज्जतेहि^{१०} ॥
२३०. 'जे अज्झगणे भणित्ता भिक्खूगुणा तेहि होति सो भिक्खू'^{११} ।
 वण्णेणं जच्चसुवण्णगं, व संते गुणनिधिम्मि ॥
२३१. जो भिक्खू^{१२} गुणरहितो, भिक्खू^{१३} हिडति^{१४} न होति सो भिक्खू ।
 वण्णेणं जुत्तिसुवण्णगं व असत्ती^{१५} गुणनिधिम्मि^{१६} ॥
२३२. उद्दिट्ठकडं^{१७} भुंजति, छक्कायपमद्वो^{१८} घरं^{१९} कुणति ।
 पच्चक्खं च जलगते, जो पियति कहं^{२०} नु सो भिक्खू ?^{२१} ॥

१. छेय (पंव ११९६) ।

२. ताडणाए (रा,अचू,हा) ।

३. तं विसघाय-रसायण गुरुगमडज्झं अकुच्छं च (रा) ।

इत गाथाओं के क्रम में पंचवस्तु में दशनि
 ३२७ की गाथा के बाद एक अतिरिक्त गाथा
 और मिलती है । वह इस प्रकार है—

इयरम्मि कसार्हया,
 विसिट्ठलेसा तहेगसारत्तं ।
 अवमारिणि अणुकंपा,
 वसणे अइनिच्चलं चित्तं ॥

(पंचवस्तु गा. ११९७,
 द्र. टिप्पण गा. ३२६)

४. तं निहसगुणोवेयं (जिबू) ।

५. वि (रा), य (अचू) ।

६. ०मत्तेणं (अचू) ।

७. पंव ११९८ ।

८. इह (रा) ।

९. कीरिज्जा (अ,व,हा), कीरित्ता (पंव ११९९) ।

१०. गुणेहि संतेहि (अ,व,रा) ।

११. जे इह सुत्ते भणिया साहुगुणा तेहि होइ सो
 साहु (पंव १२००) ।

१२. साहु (पंव) सर्वत्र ।

१३. भेक्खं (अचू) ।

१४. गिण्हइ (व,हा) ।

१५. संते (रा) ।

१६. द्र. पंव १२०१ ।

१७. ०कयं (हा) ।

१८. ०पमद्वणो (अचू,रा,पंव) ।

१९. गिहं (रा) ।

२०. कह (हा) ।

२१. पंव १२०२ ।

३३३. तम्हा जे 'अज्जमयणे, भिक्खुगुणा'^१ तेहि होति सो भिक्खू ।
तेहि य' सउत्तरगुणेहि, होइ' सो भाविततरो उ' ॥

सभिक्खुनिज्जमुत्ती समसा

३३४. दठवे खेत्ते काले, भावम्मि य चूलियाय निक्खेवो ।
तं पुण उत्तरतंतं, सुत गहितत्थं तु^२ संगहणी^३ ॥

३३५. दठवे सच्चित्तादी, कुक्कुड'चूलामणी' मयूरादी ।
खेत्तम्मि लोगनिककुड^४, 'मंदरचूडा य कूडादी'^५ ॥

३३६. अतिरित्त अधिगमासा, अधिगा 'संवच्छरा य'^६ कालम्मि ।
भावे खयोवसमिए, इमा उ 'चूडा मुणेयव्वा'^७ ॥

१. इह सत्ये साहुगुणा (पंख १२०४) ।

२. उ (अ) ।

३. चेव (अचू) ।

४. पंख में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

अच्छंतपरिसुद्धेहि मोक्खसिद्धि ति काळणं ।

इस गाथा के बाद रा प्रति में निम्न गाथा मिलती है—

संजम-चरित्त-तव-विणय-नियम-

गुणकलिय सीलकलिए य ।

अज्जव मइव लाघव,

खंती य समन्निओ चेव ॥

५. x (जिचू) ।

६. संघयणी (अ,ब) ।

७. कुक्कुड (अ) ।

८. चूलामणी (अचू) ।

९. ० निक्खुड (अचू) ।

१०. मंदरचूला य कूडा य (अचू) ० चूलाइकुडाई (ब) ।

११. संवच्छराइ (ब) ।

१२. चूलाउ णेयव्वा (अचू) ० चूला मु० (ब) ।

३३७. दव्वरती खलु दुविहा, कम्मरती चेव 'नो य कम्मरती'^१।
कम्मरतिवेदणीयं^२, नोकम्मरती तु सदादी ॥
३३८. सद्-रस-रुच-गंधा, फासा रइकारणाणि दव्वाणि ।
दव्वरती भावरती, उदए एमेव अरती वि ॥
३३९. उदएण समुप्पज्जइ, परीसहाणं तु सा भवे अरई ।
निव्वुइसुहं तु काउं, सम्मं अहियासणिज्जा उ' ॥
३४०. वक्कं तु पुव्वभणियं, धम्मे रइकारणाणि वक्काणि ।
जेण इहं चूडाए, तेण निमित्तेण रइवक्का'^४ ॥
३४१. जध नाम आतुरस्सिह^५ सोवणखेज्जेसु^६ कीरमाणेसु ।
जंतणमपत्थकुच्छा^७ 'समदोसविरती'^८ हितकरी तु ॥

१. नोकम्म ० (अ) ।

२. ०रईवेयणियं (अ) ।

हरिभद्र टीका की मुद्रित पुस्तक में ३३७-३८ दोनों गाथाएं निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं हैं। किन्तु टीकाकार हरिभद्र की व्याख्या से प्रतीत होता है कि उन्होंने इन्हीं दोनों गाथाओं की व्याख्या की है (हाटी प. २७०)। अगस्त्यसिंह तथा जिनदास ने भी इन गाथाओं को आधार मानकर व्याख्या की है। पुण्य-विजयजी ने भी इन्हीं दो गाथाओं को स्वीकृत किया है। कुछ आदर्शों में ये गाथाएं नहीं मिलती। टीका में इन दो गाथाओं के स्थान पर यह गाथा मिलती है—

दव्वे दुहा उ कम्मे,
नोकम्मरई य सद्दव्वाई ।
भावरई तस्सेव उ,
उदए एमेव अरई वि ॥

(हाटी प २७०)

किसी किसी प्रति में इस गाथा का पूर्वाह्न इस प्रकार है—

दव्वेयरवेयणियं नोकम्मे सहमाइ रइजणगा ।

यह गाथा दोनों चूणियों में तथा 'अ' प्रति में निर्दिष्ट नहीं है। गा. ३३७-३८ का भाव ही इस गाथा में है अतः टीका में उपलब्ध होने पर भी इसको निर्युक्ति गाथा में सम्मिलित नहीं किया है।

३. यह गाथा केवल 'ब' प्रति में प्राप्त है। किंतु गद्य में भावार्थ दोनों चूणियों में है। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह अप्रासंगिक नहीं लगती तथा हस्तआदर्श में भी मिलती है। इसलिए इसको निर्युक्तिगाथा के क्रम में जोड़ा है।

४. जेणमिमीए तेणं रइवक्केसा हवइ चूडा (हा) ।

यह गाथा दोनों चूणियों में अनुपलब्ध है किन्तु यह टीका तथा दोनों हस्त आदर्शों में मिलती है। यह निर्युक्तिगाथा प्रतीत होती है। संभव है चूणिकार ने सरल समझकर इसकी व्याख्या न की हो। मुनि पुण्यविजयजी ने इसे निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं रखा है।

५. आउरिस्सिह (रा) ।

६. सिव्वण० (अचू) ।

७. ०सवच्छ० (अचू) ।

८. ०विरुत्ती (अचू) ।

३४२. अट्टविहकम्मरोगाउरस्स, जीवस्स^१ 'तह चिगिच्छाए'^२।
घम्मे रती अधम्मे अरती, गुणकारिणी^३ होति ॥
३४३. सज्झाय-संजम-तवे, वेयावच्चे य भाणजोगे य।
जो रमति न^४ रमति, 'असंजमम्मि सो पावए सिद्धि'^५॥
३४४. तम्हा धम्मे^६ रतिकारणाणि अरइकारणाणि य^७ अहम्मे।
ठाणाणि ताणि जाणे, जाइं भणिताणि^८ अज्झयणे ॥

रइवक्कानिज्जुत्ती समत्ता

३४५. अधिगारो पुब्बुत्तो, चतुव्विहो वितियचूलियज्झयणे।
सेसाणं दाराणं, अहक्कमं घोसणा^९ होति ॥
३४६. दब्बे^{१०} सरीरभव्विओ, भावेण य^{११} संजतो इहं तस्स।
ओगहिता^{१२} पग्गहिता, विहारचरिया^{१३} मुणेतव्वा ॥
३४७. अणिएयं पतिरिक्कं अण्णातं सामुदाणियं उंछं।
अप्पोवधी अकलहो, विहारचरिया इसिपसत्था ॥

विवित्तचरियानिज्जुत्ती समत्ता

१. जीवस्स (हा)।
२. तवतिग० (अचू), तह तिगि० (हा)।
३. ०कारिया (अ,व,रा), कारिता (अचू)।
४. नो (हा)।
५. अस्संजमम्मि सो वच्चेई सिद्धि (हा,अ,न, रा)।
६. धम्मम्मि (जिचू)।
७. उ (हा)।
८. ०ताइं (अ,व,हा)।
९. फासणा (रा,हा,भा)।

यह गाथा विवादास्पद है। टीकाकार ने इसके बारे में 'एतदेवाह भाष्यकारः' ऐसा उल्लेख किया है। अतः इसे निर्युक्ति के क्रम में नहीं जोड़ा है। किन्तु दोनों चूणिकारों ने 'इमा उवग्घातनिज्जुत्ति पढमगाहा' ऐसा

उल्लेख किया है। यहां चूणिकार का मत सम्यक् प्रतीत होता है। इसके पश्चात् दोनों चूणियों में 'दो सुत्तफासिया गाथाओ सुत्ते वेव भणिहिंति' ऐसा उल्लेख मिलता है। मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार ये दो गाथाएं 'उद्देसे निद्देसे'... तथा 'किं कइविहं'... 'सुत्त-फासिय है। लेकिन उनका मत संगत नहीं लगता। यहां ये दो गाथाएं दब्बे सरीर'... (३४६) अणिएतं (३४७) सूत्रस्पष्टिक होनी चाहिए क्योंकि इन दोनों गाथाओं में सूत्र के विषय का ही संक्षिप्त विवेचन है।

१०. दब्ब (अचू)।
११. उ (रा)।
१२. उग्गहिता (अ,हा)।
१३. ०चरिता (अचू)।

३४८. छहि^१ मासेहि अधीतं अज्जयणमिणं तु अज्जमणगेणं ।
छम्मासा परियाओ, अह कालगतो समाधोए ॥

३४९. आणंद अंसुपातं^२ कासी^३ सेज्जंभवा तहि थेरा ।
जसभदाणं^४ यं^५ पुच्छा, 'कधणा य वियालणा संघे'^६ ॥

इसकासियनिज्जुत्ती समत्ता

३४९।१. णायम्मि गिण्हियब्बे अगिण्हियब्बम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइयब्बमेव इति जो, उवदेसो सो नयो ताम ॥

३४९।२. सव्वेसि पि नयाणं, बहुविहवत्तब्बयं निसामेत्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू^७ ॥

१. छहि (हा), ब प्रति में स्थानाभाव के कारण केवल प्रथम पद ही मिलता है ।

२. ०प्पायं (घ) ।

३. काही (स) ।

४. जसभदस्स (अ, रा, हा) ।

५. × (स) ।

६. वियारणा कया संघे (स) ।

७. ३४९।१, २ ये दोनों गाथाएं अगस्त्यसिंह चूणि

के अंत में दी हुई हैं लेकिन गाथाओं के क्रम में नहीं जोड़ा है । आदर्शों में ये गाथाएं मिलती हैं तथा टीका में भी इन दोनों की व्याख्या की गई है । ये गाथाएं दशनि १२५, १२६ में आयी हुई हैं इसलिए पुनरुक्ति के कारण उन्हें पुनः निगा के क्रम में नहीं जोड़ा है ।

पहला अध्यायन : द्रुमपुष्पिका

१. कर्मों से मुक्त, सिद्धि गति को प्राप्त सब सिद्धों को नमस्कार कर मैं दशवैकालिक सूत्र की निर्वृत्ति करूंगा ।

२. ग्रन्थ के आदि, मध्य और अंत का विधिवत् मंगलाचरण करने के लिए नाम, स्थापना आदि चार मंगलों की प्ररूपणा कर मैं आगे का क्रम बताऊंगा ।

३. श्रुतज्ञान में अनुयोग का अधिकार है । वह अनुयोग चार प्रकार का है—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग ।

४-५. अनुयोग दो प्रकार का होता है—अपृथक्त्व अनुयोग (जिसमें सब अनुयोगों की एक साथ चर्चा हो) और पृथक्त्व अनुयोग (जिसमें पृथक् रूप से एक ही अनुयोग की चर्चा हो) । अनुयोग का निर्देश करने के बाद इस प्रसंग में चरणकरणानुयोग का अधिकार आता है । उसके ११ द्वार ये हैं—निक्षेप, एकार्थक, निरुक्त, विधि, प्रवृत्ति, किसके द्वारा ? किसका ? उसके द्वारभेद, लक्षण, तद्द्योग्यपरिषद् और सूत्रार्थ ।

६. इन निक्षेप आदि द्वारों की प्ररूपणा कर, बृहत्कल्प सूत्र में वर्णित गुणों से मुक्त आचार्य को विधिपूर्वक दशवैकालिक का अनुयोग कहना चाहिए ।

७. 'दशवैकालिक' यह नाम संख्या और काल के निर्देशानुसार किया गया है । दशकालिक, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन और उद्देशक आदि का निक्षेप करने के लिए अनुयोग अपेक्षित है ।

८. (दश के प्रसंग में) 'एक के सात निक्षेप होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, मातृकापद, संग्रह, पर्याय और भाव ।

९. 'दश' शब्द का छह प्रकार से निक्षेप होता है—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ।

१०. काल के आधार पर जीवन की दस अवस्थाएं होती हैं—बाला, मंदा, कीड़ा, बला, प्रज्ञा, ह्यायनी, प्रपञ्चा, प्राग्भारा, मृन्मुखी और नायनी ।

१०. काल शब्द का निक्षेप—

द्रव्यकाल—वर्तना लक्षण वाला काल ।

अद्वाकाल—चन्द्र-सूर्यकृत काल ।

यथायुष्मककाल—देवता आदि का आयुष्य ।

उपक्रमकाल—अभिप्रेत अर्थ के समीप ले जाने वाला ।

१. एक का अभाव होने पर दस का अभाव भी होता है । दस आदि सारे एक के अधीन हैं ।

२. प्रत्येक अवस्था का कालमान दस-दस वर्ष का है ।

देशकाल—अवसर ।

कालकाल—मरणकाल ।

प्रमाणकाल—दिवस आदि का विभाग ।

वर्णकाल—श्वेत, कृष्ण आदि वर्णगत काल ।

भावकाल—औदयिक आदि भाव ।

प्रस्तुत प्रकरण में भावकाल का प्रसंग है ।

११. सामायिक (आवश्यक का प्रथम अध्ययन) के अनुक्रम से वर्णन करने के लिए आचार्य शर्यभवा ने दिन के अंतिम प्रहर में इस आगम का निर्यूहण किया, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक है ।

१२. जिस आचार्य ने, जिस वस्तु (प्रकरण) को अंगीकार कर, जिस पूर्व से, जितने अध्ययन, जिस क्रम से स्थापित किए हैं, उस आचार्य का, उस प्रकरण का, उस पूर्व का, उतने अध्ययनों का क्रमशः प्रतिपादन करना चाहिए ।

१३. मैं दशवैकालिक के निर्यूहक गणधर शर्यभवा को वंदना करता हूँ । वे मुनि मनक के पिता थे और स्वयं जिनेश्वर भगवान् की प्रतिमा देखकर प्रतिबुद्ध हुए थे ।

१४. आचार्य शर्यभवा ने अपने पुत्र शिष्य मुनि मनक के लिए दस अध्ययनों का निर्यूहण किया । निर्यूहण विकाल में हुआ इसलिए इस ग्रंथ का नाम दश-वैकालिक हुआ ।

१५, १६. आत्मप्रवाद पूर्व से धर्मप्रज्ञप्ति (चतुर्थ अध्ययन), कर्मप्रवाद पूर्व से तीन प्रकार की पिण्डैषणा (पंचम अध्ययन), सत्यप्रवाद पूर्व से व्ययशुद्धि (सप्तम अध्ययन) तथा शेष अध्ययनों (१, २, ३, ६, ८, ९, १०) का सबमें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से निर्यूहण हुआ है ।

१७. दूसरे विकल्प के अनुसार शर्यभवा ने अपने पुत्र मुनि मनक को अनुगृहीत करने के लिए संपूर्ण दशवैकालिक का निर्यूहण द्वादशांगी—गणिपिटक से किया ।

१८. 'द्रुम-पुष्पिका' से 'संभिक्षु' पर्यन्त दस अध्ययन हैं । अध्ययनों के अधिकार के प्रसंग में प्रत्येक अध्ययन का मैं पृथक्-पृथक् रूप से वर्णन करूंगा ।

१९-२२. प्रथम अध्ययन में जिनशासन में प्रचलित धर्म की प्रशंसा है । दूसरे अध्ययन में धृति का वर्णन है । धृति से ही व्यक्ति धर्म की आराधना कर सकता है । तीसरे अध्ययन में आत्म-संयम में हेतुभूत लघु आचार कथा का, चौथे अध्ययन में जीव संयम का, पांचवें अध्ययन में तप और संयम में गुणकारक भिक्षा की विशेषि का, छठे अध्ययन में महान् संयमी व्यक्तियों द्वारा आचरणीय महती आचारकथा का, सातवें अध्ययन में वचन-विभक्ति (बोलने का विवेक) का, आठवें अध्ययन में आचार-प्रणिधि का, नौवें अध्ययन में विनय का तथा अंतिम दसवें अध्ययन में भिक्षु का स्वरूप प्रतिपादित है ।

२३. इस आगम के दो अध्ययन और हैं, जिन्हें चूला कहा जाता है । पहली चूला में संयम में विषाद-प्राप्त साधु को स्थिर करने के उपाय निदिष्ट हैं और दूसरी में अत्यधिक प्रसादगुण फलवाली विविक्त चर्या—अप्रतिबद्ध चर्या का निर्देश है ।

२४. दशवैकालिक आगम का यह संक्षिप्त वाक्यार्थ है। अब एक-एक अध्ययन का क्रम से वर्णन करेंगे।

२५. प्रथम अध्ययन का नाम 'द्रुमपुष्पिका' है। इसके चार अनुयोगद्वार हैं। उपक्रम आदि का वर्णन करने के पश्चात् अब धर्म-प्रशंसा का अधिकार है।

२५।१. (निक्षेप तीन प्रकार का है—ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापकनिष्पन्न) ओघ निष्पन्न का अर्थ है—सामान्य श्रुत। उसके चार प्रकार हैं—अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा।

२५।२. श्रुत (अनुयोगद्वार सूत्र) के अनुसार अध्ययन के नाम, स्थापना आदि चार भेदों का वर्णन कर अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा—इन चारों से द्रुमपुष्पिका की सम्बन्ध-योजना करनी चाहिए।

२६. अध्ययन का अर्थ है—अध्यात्म का आनयन। उपचित (संचित) कर्मों का अपचय और नए कर्मों का अनुपचय, यह सारा अध्यात्म का आनयन है। यही अध्ययन है।

२७. जिससे अपो-बोध होता है, वह अधिगम—अध्यात्म है अथवा जिससे अर्थबोध में अधिक गति होती है, वह अध्ययन है। इससे मुनि संयम के प्रति तीव्र प्रयत्न करता है, इसलिए (भव्य जन) अध्ययन की इच्छा करते हैं।

२८. जैसे दीपक स्वयं प्रज्वलित होता हुआ अन्य सैकड़ों दीपकों को प्रज्वलित करता है, (वैसे ही) दीपक के समान आचार्य स्वयं प्रकाशित होते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं।

२९. आय का अर्थ है लाभ। जिससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की प्राप्ति होती है वह भाव आय है।

३०. पूर्वं संचित आठ प्रकार की कर्मरजों को मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से क्षीण करना क्षपणा है। इस भाव अध्ययन को क्रमशः अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा के साथ योजित करना चाहिए।

३१. 'द्रुम' और 'पुष्प' शब्द के चार-चार निक्षेप हैं—नाम द्रुम, स्थापना द्रुम, द्रव्य द्रुम और भाव द्रुम तथा नाम पुष्प, स्थापना पुष्प, द्रव्य पुष्प और भाव पुष्प।

३२. द्रुम, पादप, वृक्ष, अगम, विटपी, तह, कुह महीरह, वच्छ, रोपक और वृज्जक—ये द्रुम के पर्यायवाची शब्द हैं।

३३. पुष्प, कुसुम, फुल्ल, प्रसव, सुमन और सूक्ष्म (सूक्ष्मकायिक)—ये पुष्प के एकार्थक शब्द हैं।

३४. द्रुमपुष्पिका, आहार-एषणा, गोचर, त्वक्, उच्छ, मेष, जोक, सर्प, व्रण, अक्ष, दृषु, लास्य का गोलक, पुत्र (पुत्रमांस) और उदक—ये सब प्रथम अध्ययन के एकार्थक हैं। (अन्य मान्यता)

के अनुसार ये प्रथम अध्ययन के अर्थाधिकार हैं) ।^१

३५. कहीं शिष्यों के पुछने पर और कहीं न पुछने पर भी आचार्य शिष्यों के हित के लिए अर्थ का निर्देश करते हैं। शिष्यों के पुछने पर होने वाला निर्देश अधिक लाभप्रद और विस्तृत होता है।

३६. नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये धर्म के चार निक्षेप हैं। इनके भेदों का यथाक्रम से वर्णन करूंगा।

३७. धर्म के चार प्रकार हैं—द्रव्यधर्म, अस्तिकायधर्म, प्रचारधर्म और भावधर्म। द्रव्य के जो पर्याय हैं, वे उस द्रव्य के धर्म हैं।

३८. धर्मास्तिकाय अस्तिकाय धर्म है और प्रचारधर्म विषयधर्म है। भावधर्म के तीन प्रकार हैं—लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म अनेक प्रकार का है।

३९. गम्य, पशु, देश, राज्य, पुरवर, ग्राम, गण, गोष्ठी और राज—ये लौकिक धर्म हैं। कुतीर्थियों का धर्म कुप्रावचनिक धर्म है। पर सावद्य होने के कारण जिनेश्वर भगवान द्वारा प्रशंसित नहीं है।

४०. लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म। श्रुत धर्म स्वाध्याय रूप है। क्षमा, मुक्ति आदि दश धमण धर्मों का समावेश चारित्र धर्म में होता है।

४१. 'मंगल' शब्द के चार निक्षेप हैं—नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल और भावमंगल। परिपूर्ण कलश आदि द्रव्यमंगल हैं। धर्म से सिद्धि प्राप्त होती है, इसलिए वह भावमंगल है।

१. हाटी ५० १९ : एवमेतार्थकाधिकानि, अर्थाधिकारा एवाभ्ये।

१. आहार-एषणा—तीनों एषणाओं से युक्त।

२. गोचर—गाय की तरह चरना—घर-घर जाकर आहार लेना।

३. त्वक्—त्वक् की भांति असार भोजन का सूचक।

४. उंध्य—अज्ञात पिंड का सूचक।

५. मेघ—अनाकुल रहकर एषणा करने का सूचक।

६. जोक—अनैषणा में प्रवृत्त दायक को मृदुभाव से निवारण करने का सूचक।

७. सर्प—गोचर में प्रविष्ट मुनि की संयम के प्रति एकदृष्टि होने का सूचक।

८. वण—वण पर लेप करने की भांति भोजन करने का सूचक।

९. अक्ष—अक्ष पर लेपन की भांति संयमभार निर्वहन के लिए भोजन करने का सूचक।

१०. इषु—तीर सक्षय-वेधक होता है। मुनि के लिए सक्षयवेध के लिए भोजन करने का सूचक।

११. गोला—लाख का गोला—गोचराग्रगत मुनि के मितभूमि में स्थित रहने का सूचक।

१२. पुत्र—पुत्रमांस की भांति अस्वादवृत्ति से भोजन करने का सूचक।

१३. उदक—दुर्गन्धयुक्त पानी को पीना केवल कृपापनयन के लिए। यह अस्वादवृत्ति का सूचक।

ये सभी उदाहरण अर्थ की निकटता के कारण द्रुमपुष्पिका अध्ययन के एकार्थक माने गए हैं।

४२. हिंसा का प्रतिपक्षी तत्त्व अहिंसा है। उसके चार विकल्प हैं—

१. द्रव्यतः अहिंसा भावतः अहिंसा ।
२. द्रव्यतः अहिंसा भावतः हिंसा ।
३. द्रव्यतः हिंसा भावतः अहिंसा ।
४. द्रव्यतः हिंसा भावतः हिंसा ।

४३. संयम के सतरह भेद हैं—पृथ्वी संयम, पानी संयम, अग्नि संयम, वायु संयम, वनस्पति संयम, इंद्रिय संयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रिय संयम, पंचिन्द्रिय संयम, अजीव (उपकरण) संयम, प्रेक्षा संयम, उपेक्षा संयम, प्रभार्जन संयम, परिष्ठापन संयम, मन संयम, वचन संयम और काय संयम ।

४४. बाह्य तप के छह प्रकार हैं—अतपान, ऊनोदरी, वृत्तिसंश्लेष, रसपरित्याग, कायकसेवा और प्रतिसंसीनता ।

४५. आभ्यन्तर तप के छह प्रकार हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ।

४६. वीतराग के वचन सत्य ही हैं फिर भी श्रोता की अपेक्षा से कहीं उदाहरण और कहीं हेतु भी दिया जाता है ।

४७. यह हेतु कहीं-कहीं पंच अवयवात्मक (प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन) होता है और कहीं-कहीं दस अवयवात्मक भी होता है । हेतु और उदाहरण संबंधा प्रतिषिद्ध नहीं हैं, फिर भी यहां इन सबका विवेचन नहीं किया गया है, क्योंकि दूसरे आगमों में इनका विश्लेषण पक्ष-प्रतिपक्ष सहित किया गया है ।

४७।१. आह्वरण (उदाहरण) के दो भेद हैं । वे दोनों भेद चार-चार विभागों में विभक्त हैं । हेतु के चार भेद हैं । इससे प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि होती है ।

४८. दो और चार भेदों में विभक्त उदाहरण के ये एकार्थक शब्द हैं—ज्ञात, उदाहरण, दृष्टान्त, उपमा और निदर्शन ।

४९. उदाहरण के दो भेद हैं—चरित और कल्पित । इन दोनों में प्रत्येक के चार-चार भेद हैं—आह्वरण, तद्देश, तद्दोष और उपन्यास ।

५०. आह्वरण के चार भेद हैं—अपाय, उपाय, स्थापना और प्रत्युत्पन्न-विनाश । अपाय के चार भेद हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ।

५१. द्रव्य अपाय का उदाहरण—दो वणिक् भाई धनार्जन के लिए दूर देश गए । जब वे अर्जित धन को लेकर स्वदेश आने लगे तब धन के लोभ से उनमें एक-दूसरे को मारने का अभ्युत्साह उत्पन्न हुआ । धन को अनर्थकारक समझकर उन्होंने उसको तालाब में फेंक दिया । उसे एक मत्स्य निगल गया । उस मत्स्य के पेट से निकले हुए धन से अपनी माँ की मृत्यु देखकर वे विरक्त हो गए और अन्त में मुनि बन गए ।^१

१. देखें—परि० ६, कथा सं० १ ।

५२. क्षेत्र अपाय का उदाहरण है—दशार्ह वर्ग का दूसरे क्षेत्र में अपक्रमण । काल अपाय में द्वैपायन ऋषि और भाव अपाय में क्षपक मेंढकी का उदाहरण ज्ञातव्य है ।^१

५३. शैक्ष और अशैक्ष—दोनों प्रकार के मुनियों में मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न करने और उनके स्थिरीकरण हेतु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपाय का निदर्शन किया जा रहा है ।

५४. विशिष्ट प्रयोजन से गृहीत द्रव्य का प्रयोजन की निवृत्ति हो जाने पर त्याग कर देना चाहिए । इसी प्रकार अकल्याणकारी क्षेत्र का परित्याग कर देना चाहिए । भविष्य में अनिष्ट की संभावना हो तो बारह वर्ष पहले ही उस स्थान को छोड़ देना चाहिए । यह क्षेत्र अपाय है । क्रोध आदि अप्रशस्त भावों का परित्याग करना भाव अपाय है ।

५५. जो वादी द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की दृष्टि से आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं उनके लिए सुख-दुःख, संसार और मोक्ष का सर्वथा अभाव हो जायेगा ।

५६. एकान्त नित्यवाद के पक्ष में सुख-दुःख का प्रयोग घटित नहीं होता । इसी प्रकार एकान्त उच्छेदवाद में भी सुख-दुःख की कल्पना संगत नहीं बैठती ।

५७. उपाय के भी चार प्रकार होते हैं—द्रव्य उपाय, क्षेत्र उपाय, काल उपाय और भाव उपाय । द्रव्य उपाय में प्रथम अर्थात् लौकिक है—धातुवाद । उसमें सुवर्ण आदि धातुओं को विशेष प्रयोग से शुद्ध करना होता है । लांगल (हल), कुलिका आदि द्वारा क्षेत्र की शुद्धि करना क्षेत्र उपाय है ।

५८. नालिका आदि साधनों से काल का ज्ञान किया जाता है, यह काल उपाय है । भाव उपाय में बुद्धिमान् अभयकुमार का निदर्शन है । चोर को पकड़ने के लिए अभयकुमार नर्तक द्वारा खेल दिखाने से पूर्व जनता को वृद्धकुमारी का कथानक कहता है ।^२

५९. आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुपलब्ध है फिर भी सुख-दुःख आदि हेतुओं द्वारा उसके अस्तित्व का बोध होता है ।

६०, ६१. जिस प्रकार देवदत्त नामक व्यक्ति की घोड़े से हाथी पर, ग्राम से नगर में, वर्षा ऋतु से शरद ऋतु में और उदय भाव से उपशम भाव में संक्रांति होती है उसी प्रकार सत् जीव का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि में संक्रमण होता है । इस अपेक्षा से भी जीव का अस्तित्व प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से साधा जाता है ।

६२. सत् जीव का द्रव्य आदि में संक्रमण होता है । इस अपेक्षा से ही आत्मा के परोक्ष होने पर भी उसकी परिणमनशीलता प्रत्यक्षतः सिद्ध होती है ।

६३. स्थापना कर्म के उदाहरण में दो दृष्टांत हैं—पींडरीक तथा मालाकार^३ ।

एक मालाकार मार्ग में शारीरिक बाधा से पीड़ित हो गया । उसने मलोत्सर्ग कर करंठक में संगृहीत पुष्प उस पर डाल दिए । लोगों ने कारण पूछा तो वह बोला—मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि यहाँ हिंगुशिव नामक अन्तर देव प्रगट हुआ है । उसकी पूजा करने के लिए मैंने ऐसा किया है ।^४

१. देखें—परि० ६, कथा सं० ४ ।

२. देखें—परि० ६, कथा सं० ५ ।

३. देखें—सूयगद्यो २।१ ।

४. देखें—परि० ६, कथा सं० ७ ।

६४. किसी तत्त्व की सिद्धि के लिए तत्काल सव्यभिचारी हेतु दिया जाता है तथा स्वपक्ष और परपक्ष का प्रज्ञावल जानकर उसे अभिव्यक्ति देते हुए दूसरे हेतुओं से उसी हेतु का समर्थन किया जाता है ।

६५, ६६. प्रत्युत्पन्नविनाश में गान्धर्विकों (संगीतकारों) का उदाहरण है ।^१ इसी प्रकार यदि शिष्य किसी भी महिला के प्रति आसक्त हो जाए तो गुरु ऐसा उपाय करे कि दोष का निवारण हो जाए । (यह लौकिक चरणानुयोग का उदाहरण है) । द्रव्यानुयोग के अनुसार यदि कोई वातुलिक नास्तिक कहे कि बट-पट आदि पदार्थों का अस्तित्व नहीं है, फिर जीव का अस्तित्व कैसे होगा ?

६७. इस प्रश्न के समाधान में आचार्य कहते हैं—तुमने कहा 'पदार्थ नहीं हैं' तुम्हारा यह वचन सत् है या असत् ? यदि सत् है तो प्रतिज्ञाहानि (स्वीकृत पक्ष की असिद्धि) होती है और वचन असत् है तो भावों का निषेधक कौन होगा ?

६८. विवक्षापूर्वक बोला गया शब्द अजीव से उत्पन्न नहीं हो सकता और अजीव की विवक्षा नहीं हो सकती । अतः आत्मा का प्रतिषेध करने वाली शब्द छवनि 'आत्मा नहीं है' से ही जीवत्व की सिद्धि होती है ।

६९. आहरणदेश के चार प्रकार हैं—अनुश्लिष्ट, उपालम्भ, पृच्छा और निश्चावचन । अनुश्लिष्ट के प्रसंग में सुभद्रा का उदाहरण है ।^२

७०. जैसे सुभद्रा नागरिकों द्वारा साधुकार (धन्यवाद) पुरस्सर सम्मानित हुई वैसे ही वैयावृत्य आदि में संलग्न मुनियों का भी आचार्य सद्गुण-कीर्तन से सम्मान करे ।

७१. कुछ दार्शनिक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं पर उसे अकर्ता मानते हैं । हम कहते हैं 'आत्मा है' यह सत्य है किंतु वह अकर्ता नहीं है । क्योंकि अकर्ता को सुख-दुःख का बोध नहीं होता । आत्मा सुख-दुःख का वेदन करती है, इसलिए वह कर्ता है ।

७२. उपालम्भ द्वार की विवक्षा में मृगावती का उदाहरण है ।^३ नास्तिकवादी को भी ऐसे ही कहना चाहिए कि 'आत्मा नहीं है'—आत्मा के अस्तित्व का निषेध करने वाला यह ज्ञान आत्मा के अभाव में संगत कैसे हो सकेगा ?

७३. आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो तर्क हैं और नास्तिक विषयक जो कुविज्ञान है, वह जीव के अत्यन्त अभाव में संगत नहीं हो सकता ।

७४, ७५. पृच्छा के प्रसंग में कोणिक^४ तथा निश्चावचन के प्रसंग में गौतम स्वामी^५ का उदाहरण है । जीव के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाले नास्तिकवादी से यह प्रश्न पूछा जाए—'आत्मा नहीं है' इस कथन के पीछे हेतु क्या है ? यदि परोक्ष प्रमाण को हेतु मानते हो तो यह तुम्हारा कुविज्ञान है क्योंकि परोक्ष तो परोक्ष ही है, वह 'आत्मा नहीं है' ऐसा निषेध कैसे कर सकता है ?

७६. किसी दूसरे हेतु से नास्तिकवादी से यह कहना चाहिए कि जिन आदियों की मान्यता से आत्मा नहीं है उनके लिए दान, होम, यज्ञ आदि के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग, मोक्ष आदि भी नहीं हैं ।

१. देखें—परि० ६, कथा सं० ८ ।

२. देखें—परि० ६, कथा सं० ९ ।

३. देखें—परि० ६, कथा सं० १० ।

४. देखें—परि० ६, कथा सं० ११ ।

५. देखें—परि० ६, कथा सं० १२ ।

७७. उदाहरण (आहरण) के चार दोष हैं—अधर्मयुक्त, प्रतिलोभ, आत्मोपन्यास और दुरुपनीत । अधर्मयुक्त-उदाहरणदोष में नलदाम का उदाहरण है ।^१

७८. प्रतिलोभ-उदाहरणदोष में अभयकुमार का उदाहरण है । अभयकुमार ने राजा प्रद्योत का हरण किया और गोपेन्द्र (अथवा गोविन्द) वाचक ने परपक्ष का निवर्तन किया ।

७९. आत्मोपन्यास-उदाहरणदोष में पिगल स्थपति का उदाहरण है, जिसको तासाव फूटने के प्रसंग में जीवित ही गड़वा दिया था ।^२ दुरुपनीत-उदाहरणदोष में मत्स्य-वधक भिक्षुक का उदाहरण है ।^३

८०. उपन्यास-उदाहरणदोष के चार प्रकार हैं—तद्वस्तु-उपन्यास, अन्यवस्तु-उपन्यास, प्रतिनिध-उपन्यास और हेतु-उपन्यास । इनके उदाहरण ये हैं—

८१. तद्वस्तु-उपन्यास में व्यक्ति सब जगह धूमकर अपूर्व अर्थ का कथन करता है ।^४ तदन्य-वस्तु-उपन्यास में अन्यत्व में एकत्व का प्रतिपाद होता है । (जैसे 'अन्यः जीवः अन्यच्च शरीरम्'—यहां अन्य शब्द साधारण है, अतः जीव और शरीर में एकत्व है ।)

८२. प्रतिनिध-उपन्यास में—तुम्हारे पिता ने मेरे पिता से एक लाख मुद्राएं कर्ज में ली थी ।^५ हेतु-उपन्यास—तुम यह यव (धान्य विशेष) क्यों खरीद रहे हो ? उत्तर दिया—क्योंकि यव मुफ्त नहीं मिल रहे हैं ।^६

८३. अथवा हेतु के चार प्रकार हैं—यापक, स्थापक, व्यंसक और लूषक ।

८४. यापक हेतु का उदाहरण—एक उद्भ्रामिका (व्यभिचारिणी) महिला ने अपने पति को उष्ट्र लिण्डिका (ऊंट की सींगणी) देकर व्यापार करने के लिए भेजा ।^७

स्थापक हेतु का उदाहरण—एक परिव्राजक ने लोक का मध्य भाग बताया ।^८

८५. व्यंसक हेतु में शकट तित्तिरी का उदाहरण ज्ञातव्य है ।^९ अपुष-व्यंसक प्रयोग में तथा पुनः लूषक हेतु में मोदक का उदाहरण है ।^{१०}

८६. 'अहिंसा, तप आदि गुणों से युक्त धर्म ही परम मंगल है',—यह प्रतिज्ञा वचन है । देव तथा लोकपूज्य पुरुष भी सुधर्म को नमस्कार करते हैं, यह हेतु है ।

८७. इस सन्दर्भ में दृष्टांत है—अर्हत् भगवान् और अर्हत् भगवान् के अनेक अनगार शिष्य देवादिपूजित थे । इसका निश्चय कैसे किया गया ? वर्तमान के आधार पर अतीत जाना जाता है । वर्तमान में नरपति आदि विशिष्ट व्यक्ति भी भाव साधु को नमस्कार करते हैं ।

८८. उपनय—जैसे तीर्थंकरों को देव नमस्कार करते हैं वैसे ही राजा भी सुधर्म के प्रति नत होते हैं । इसलिए धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है, यह निगमन वचन है ।

१. देखें—परि० ६, कथा सं० १३ ।

२. देखें—परि० ६, कथा सं० १६ ।

३. देखें—परि० ६, कथा सं० १७ ।

४. देखें—परि० ६, कथा सं० १८ ।

५. देखें—परि० ६, कथा सं० १९ ।

६. देखें—परि० ६, कथा सं० २० ।

७. देखें—परि० ६, कथा सं० २१ ।

८. देखें—परि० ६, कथा सं० २२ ।

९. देखें—परि० ६, कथा सं० २३ ।

१०. देखें—परि० ६ कथा सं० २४ ।

८९. दूसरा प्रतिज्ञा-वचन है—जिन शासन में प्रव्रजित मुनि धर्मोपदेश करते हैं। उसका हेतु-वचन है—‘क्योंकि वे पात्रमायिक अहिंसा आदि तत्त्वों के आचरण में प्रयत्नशील रहते हैं’।

८९।१. जैसे जिनशासन में निरत मुनि शुद्ध धर्म का पालन करते हैं, वैसे धर्म की परिपालना के उपाय अन्यतीर्थिकों में नहीं देखे जाते।

८९।२. उन अन्यतीर्थिकों में भी धर्म शब्द प्रचलित है और वे अपने-अपने धर्म की प्रशंसा भी करते हैं किंतु जिनेश्वर भगवान् ने कृतीर्थिकों के धर्म को सावध बताया है।

८९।३. अन्यतीर्थिकों में जो धर्म शब्द है, वह मात्र औपचारिक है। निश्चय धर्म तो जिनशासन में ही है। जैसे—सिंह शब्द प्रधानतः सिंह के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है पर उपचार से इसका प्रयोग अन्यत्र किसी नाम आदि में भी होता है।

९०. जिनेश्वर भगवान् के शासन में प्रव्रजित मुनि भक्त, पान, उपकरण, वसति, शयन, आसन आदि में यतना का व्यवहार करते हैं तथा वे प्रासुक, अकृत, अकारित, अननुमत और अनुद्दिष्ट भोजी होते हैं।

९१. (चरक आदि) अन्यतीर्थिक अप्रासुक, कारित, अनुमत और उद्दिष्टभोजी होते हैं तथा वे अकुशल व्यक्ति तस और स्थावर के हिंसा-जनित पापकर्म से लिप्त होते हैं।

९२, ९३. उदाहरणदेश में भ्रमर का उदाहरण दिया जाता है। जैसे—चन्द्रमुखी दारिका - बालिका का मुंह चन्द्रमा जैसा है। यहाँ दृष्टान्त में चन्द्रमा के सौम्यत्व का अवधारण है पर उसके शेष धर्म—कलङ्क आदि का ग्रहण नहीं है। इसी प्रकार भ्रमर के उदाहरण में उसकी अनियतवृत्तित्व का ग्रहण है, शेष धर्मों का नहीं। यह दृष्टान्त-विशुद्धि सूत्रकथित है और यह दूसरी दृष्टान्त-विशुद्धि सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति में भी निर्दिष्ट है।

९४. कोई व्यक्ति यह कहे कि गृहस्थ सुविहित श्रमणों के लिए ही रसोई करते हैं, भोजन बनाते हैं अतः सुविहित श्रमण यदि वह भिक्षा ग्रहण करते हैं तो वे ‘पाकोपजीवी’ होने के कारण हिंसाजन्य दोष से लिप्त होते हैं। (इसके उत्तर में कहा गया)

९५. तृणों के लिए वर्षा नहीं होती, मृगकुल के लिए तृण नहीं बढ़ते और भ्रमरों के लिए शतशाखी वृक्ष पुष्पित नहीं होते। इसी प्रकार गृहस्थ भी साधु के लिए भोजन नहीं बनाते।

९५।१. अग्नि में घी की आहूति डाली जाती है। उससे प्रसन्न होकर सूर्यदेव लोकहित के लिए वर्षा करता है और उस वर्षा से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।

९५।२, ३. होम करने से वर्षा होती है तो फिर दुर्भिक्ष क्यों होता है? यदि दुर्भिक्ष का निमित्त दुरिष्ट (बुरा नश्वर) या अविधि से किया यज्ञ है तो सब जगह दुर्भिक्ष क्यों होता है? (दुरिष्ट तो निमित्त देश में होता है)। यदि वर्षा का कारण इन्द्र है तो क्या निर्घात, दिग्दाह आदि से इन्द्र के काम में विघ्न होता है? मानना चाहिए कि वर्षा ऋतु के अनुसार ही होती है। वह धान्य, तृण आदि के लिए नहीं होती।

९६. आहार न मिलने के कारण भ्रमर और मधुकरीगण क्लान्त न हो जाएं, क्या इसीलिए समय पर वृक्ष फलते-फूलते हैं ?

९६।१. किसी की बुद्धि में यह बात भी आ सकती है कि प्रजापति ने हर प्राणी को आजीविका दी है अतः वृक्ष भी मधुकरी-गण के लिए ही फलते-फूलते हैं ।

९६।२. ऐसा नहीं होता, क्योंकि वृक्ष तो जन्मान्तरों में अजित नामगोत्रकर्म के उदय से फूलते-फलते हैं । दूसरा कारण यह है—

९७. अनेक ऐसे वनखंड हैं जहां न तो कभी भ्रमर कहीं से आते हैं और न वहां निवास करते हैं, फिर भी उस वनखंड के वृक्ष फूलते हैं । फूलना-फलना वृक्षों की प्रकृति है ।

९७/१, २. यदि वृक्षों की प्रकृति ही ऐसी है तो वे हर समय फल-फूल क्यों नहीं देते । वे समय पर ही फल-फूल क्यों देते हैं ? आचार्य ने कहा—क्योंकि वृक्षों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे अनुकूल ऋतु में ही फूलते हैं और काल-परिपाक से ही फलवान् बनते हैं ।

९९. आहार न मिलने के कारण श्रमण भगवान् क्लान्त न हो जाएं, क्या इसी उद्देश्य से गृहस्थ यथासमय श्रमणों के लिए आहार बनाते हैं ?

९९।१, १००, १०१. कोई यह कहे कि श्रमणों की अनुकम्पा अथवा पुण्योपार्जन के निमित्त से गृहस्थ मुनि के लिए आहार बनाते हैं, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जंगल में, दुग्धक्षेत्र में और महान् आर्तक (महामारी) में भी तपस्वी श्रमण रात्रिभोजन नहीं करते । तपस्वी श्रमण रात्रि में चारों प्रकार के आहार से विरत होते हैं । फिर भी गृहस्थ अत्यन्त प्रसन्नता से रात्रि में भोजन क्यों पकाते हैं ?

१०२. अनेक ग्राम और नगर ऐसे भी हैं जहां न तो साधु जाते हैं और न रहते हैं फिर भी वहां गृहस्थ भोजन तो पकाते ही हैं, क्योंकि गृहस्थों की यह प्रकृति है ।

१०३. गृहस्थों की यह प्रकृति है कि वे ग्राम, नगर और निगम में अपने लिए तथा परिजनों के लिए समय पर भोजन पकाते हैं ।

१०४. वहां पर तपस्वी श्रमण संयम योगों की साधना के लिए परकृत (परार्थ आरब्ध), परनिष्ठित (परार्थ निष्पन्न) और विगतधूम (धूम, अंगार आदि आहार के दोषों से रहित) आहार की एषणा करते हैं ।

१०५. साधु अहिंसा की परिपालना के लिए नवकोटि से परिशुद्ध^१ तथा उद्गम, उत्पादन एवं एषणा के दोषों से रहित आहार ग्रहण करे । वह छह कारणों^२ से आहार करे ।

१. नवकोटि परिशुद्ध—भोजन के लिए न स्वयं हिंसा करे, न करवाए और न अनुमोदन करे । भोजन न खरीदे, न खरीदाए, न खरीदने वाले का अनुमोदन करे । भोजन न पकाए, न पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे ।

२. आहार करने के छह कारण ये हैं—क्षुधा की वेदना को शांत करने के लिए, सेवा के लिए, पंथगमन के लिए, संयम पालन के लिए, प्राणों को ठिकाए रखने के लिए तथा धर्मचिन्ता के लिए ।

१०९. यह दृष्टांत-शुद्धि है। उपसंहार सूत्र में ही निदिष्ट है। संति का अर्थ है—है। वे मुनि शांति और सिद्धि को साध लेते हैं।

१०७. जो द्रव्य—विहंगम की उत्पत्ति के हेतुभूत कर्म—को धारण करता है, वह द्रव्य विहंगम है। भाव विहंगम के दो प्रकार हैं—गुणसिद्धि विहंगम और संज्ञासिद्धि विहंगम।

१०८-११०. विह का अर्थ है—आकाश। लोक आकाश-प्रतिष्ठित है। जिस कारण से विह को आकाश कहा गया है उसी कारण से गुणसिद्धि अर्थात् अन्वर्थ संबंध से भावविहंगम का कथन हुआ है।

अथवा गति के दो प्रकार हैं भावगति और कर्मगति। धर्मास्तिकाय आदि चार अस्तिकायों की गति है—भावगति। चारों अस्तिकाय विहंगम हैं—सभी आकाश में अपने अस्तित्व को धारण किए रहते हैं। कर्मगति के दो भेद हैं—विहायोगति और चलनगति। कर्मगति के ही ये दो भेद हैं, भावगति के नहीं। विहायोगतिकर्म के उदय का वेदन करने वाले जीव विहायोगति के कारण विहंगम कहलाते हैं।

१११. चलनकर्मगति की अपेक्षा से संसारी जीव तथा पुद्गल द्रव्य विहंगम हैं। प्रस्तुत में गुणसिद्धि अन्वर्थ संबंध से भावविहंगम का कथन है।

११२. संज्ञासिद्धि की अपेक्षा से सभी पक्षी विहंगम हैं। प्रस्तुत सूत्र में यहाँ आकाश में गमन करने वाले भ्रमरों का प्रसंग है।

११३. प्रस्तुत श्लोक में 'दान' शब्द 'दत्तग्रहण'—दिए हुए का ग्रहण करने के अर्थ में तथा 'भज् सेवायां' धातु से निष्पन्न 'भक्त' शब्द प्रासुक भोजन-ग्रहण का वाचक है। मुनि तीन प्रकार की एषणाओं—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा में निरत रहते हैं। उपसंहार-शुद्धि का कथन इस प्रकार है—

११४. भ्रमर तथा मधुकरीगण तो अदत्त—बिना दिया हुआ मकरंद पीते हैं किंतु ज्ञानी श्रमण अदत्त भोजन ग्रहण करने की इच्छा भी नहीं करते।

११५. यदि संयमी मुनि असंयत भ्रमरों के समान होते हैं तो इस उपमा से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रमण असंयत ही होते हैं।

११६. मुनि को भ्रमर की उपमा पूर्वोक्त देशलक्षणउपनय से दी गई है। इस उपमा का निर्देश केवल अनियतवृत्ति बताने के लिए है। यह अहिंसा के पालन का संकेत भी देती है।

११७. जैसे वृक्ष स्वभावतः फलते-फूलने हैं, वैसे ही गृहस्थ भी स्वभावतः पकाते और पकवाते हैं। जैसे भ्रमर हैं वैसे ही मुनि हैं। दोनों में अंतर इतना ही है कि मुनि अदत्त आहार का उपभोग नहीं करते, भ्रमर करते हैं।

११८. जैसे भ्रमर सहज विकसित फूलों का रस लेते हैं वैसे ही सुविहित श्रमण भी सहज निष्पन्न आहार की गवेषणा करते हैं।

११९. जैसे भ्रमर अवधजीवी हैं, वैसे ही श्रमण भी अवधजीवी हैं। यह उपसंहार है। 'दांत' शब्द का पुनः प्रयोग केवल वाक्यशेष ही जानना चाहिए।

१२०. जैसे इस अध्ययन में एषणा समिति के विषय में मुनि आचरण करते हैं, वैसे ही ईर्ष्या समिति आदि तथा समस्त श्रमण धर्म के विषय में मुनि यतनाशील रहते हैं। परमात्म रूप में मुनि त्रस और स्थावर प्राणियों के हित के लिए यतनाशील होते हैं।

१२०।१. यह उपसंहार-विशुद्धि समाप्त है। अब निगमन का अवसर है। वह इस प्रकार है—‘इसलिए मुनि मधुकर के समान कहे गए हैं’।

१२०।२. इसलिए दया आदि गुणों में सुस्थित तथा श्रमर की तरह अवधजीवी मुनियों के द्वारा प्रतिपादित धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।

१२०।३,४. निगमन-शुद्धि इस प्रकार है—चरक, परिव्राजक आदि अन्यतीथिक भी धर्म के लिए उत्तमविहारी हैं, फिर वे साधु क्यों नहीं हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि अन्य-तीथिक पृथ्वी आदि छह काय की यतना नहीं जानते और ज्ञान के अभाव में तदनु रूप आचरण भी नहीं करते। वे न सद्गम आदि दोषों से रहित शुद्ध भोजन ग्रहण करते हैं, न श्रमर की तरह प्राणियों के अनुपरोधी होते हैं और न मुनियों की भांति सदा तीन गुप्तियों से गुप्त होते हैं। (इसलिए वे साधु की श्रेणी में नहीं आते।)

१२१. मुनि शरीर, वाणी, मन तथा पाँचों इंद्रियों का दमन करते हैं। वे ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं तथा कषायों का नियमन करते हैं।

१२२. जो मुनि तप में उत्तमशील हैं तथा साधु-लक्षणों से परिपूर्ण हैं वे ही ‘साधु’ शब्द से अभिहित किए जाते हैं। यह निगमन वाक्य है।

१२३. प्रस्तुत अध्ययन के अर्थाधिकार के दश अवयव ये हैं—१. प्रतिज्ञा २. प्रतिज्ञाविभक्ति ३. हेतु ४. हेतुविभक्ति ५. विपक्ष ६. प्रतिषेध ७. दृष्टांत ८. आशंका ९. आशंका-प्रतिषेध और १०. निगमन।

१२३।१. ‘धर्म उत्कृष्ट मंगल है’—यह प्रतिज्ञा है। यह आप्तवचन का निर्देश है। वह धर्म इस जिनमत में ही है अन्यत्र नहीं, यह प्रतिज्ञाविभक्ति है।

१२३।२. ‘देवों द्वारा पूजित’—यह हेतु है। जो व्यक्ति उत्कृष्ट धर्म में स्थित है, वे ही देवों द्वारा पूज्य हैं। जो व्यक्ति निष्कषाय हैं और जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचाते हुए जीते हैं वे ही परम धर्मस्थान में स्थित हैं—यह हेतुविभक्ति है।

१२३।३. जो जिनवचनों के प्रति प्रद्विष्ट हैं, अधर्मरुचि वाले हैं तथा जो श्वसुर, माता, पिता आदि ज्येष्ठ जन हैं, इन सबको व्यक्ति मंगलबुद्धि से नमस्कार करता है, यह आद्यद्वय—प्रतिज्ञा और प्रतिज्ञाशुद्धि का विपक्ष है।

१२३।४. यज्ञ-याग करने वाले भी देवों द्वारा पूजे जाते हैं—यह हेतु और हेतुशुद्धि का विपक्ष है। ब्रुह, कपिल आदि भी देवपूजित कहे जाते हैं—यह ज्ञात—दृष्टांत प्रतिपक्ष है।

१२३।५. इन चार अवयवों का प्रतिपक्ष पाँचवाँ अवयव है—‘विपक्ष’। इसके बाद विपक्ष-प्रतिषेध नामक छठा अवयव कहेंगे।

१२३।६. सातवेवनीय, सम्यक्स्वमोहनीय, पुंवेदमोहनीय, हास्यमोहनीय, रतिमोहनीय, शुभ-
आयुष्य, शुभनाम और शुभगोत्र—ये सब धर्म के ही फल हैं। इसलिए धर्म ही मंगल है। यह
प्रतिज्ञा और प्रतिज्ञाशुद्धि का विपक्षप्रतिषेध है।

१२३।७. अजितेन्द्रिय, सोपाधिक भायावी और परिग्रही तथा हिंसक व्यक्ति भी पूजे जाते
हैं तब तो अग्नि भी शीतल हो जाए। यह हेतु तथा हेतुविभक्ति का विपक्षप्रतिषेध है।

१२३।८. बुद्ध, कपिल आदि तो औपचारिक रूप से पूजा के पात्र हैं। वास्तविक पूजा के
पात्र तो जिनेश्वर भगवान् ही हैं। यह दृष्टान्त-विपक्ष-प्रतिषेध नामक छठा अवयव है।

१२३।९. अरिहंत भगवान् तथा उनके मार्गानुवर्ती समक्षित साधु भी यहाँ दृष्टान्त स्वरूप हैं। वे
मुनि पाकरत गृहस्थों के घरों में अहिंसक वृत्ति से आहार की एषणा करते हैं। यह दृष्टान्तवाक्य है।

१२३।१०. यहाँ एक तर्क उपस्थित होता है कि यदि गृहस्थ अपने परिजनों के साथ मुनि को
भी उद्दिष्ट करके आहार पकाता है तो उससे क्या? यह विषम दृष्टान्त है, क्योंकि इससे साधुओं की
अनवच्छवृत्ति का अभाव हो जाता है। यह आठवां अवयव है। नौवां अवयव है—दृष्टान्तप्रतिषेध।
जैसे—वर्षा ऋतु में सहज निष्पन्न तृण।

१२३।११. अतः देवों और मनुष्यों के द्वारा पूजनीय होने के कारण धर्म ही शाश्वत मंगल
है। यह प्रतिज्ञाहेतु का पुनर्वचन अर्थात् निगमन नामक दसवां अवयव है।

१२४. यह द्रुमपुष्पिका की निर्युक्ति संक्षिप्त में व्याख्यात है। इसका अर्थविस्तार अर्हत् और
चतुर्दशपूर्वी बता सकते हैं।

१२५. अर्थ को मल्लीभांति जान लेने पर उपादेय के ग्रहण और हेय के अग्रहण में प्रयत्न करना
चाहिए, यह जो उपदेश है, वह नय है।^१

१२६. सभी नयों की अनेक प्रकार की वक्तव्यता सुनकर जो चारित्र्य और क्षमा आदि गुणों में
स्थित है, साधु है, वह सर्वनयसम्मत होता है।

दूसरा अध्ययन : आमण्यपूर्वक

१२७. 'आमण्यपूर्वक' यह नामनिष्पन्न निक्षेप है। 'आमण्य' शब्द के चार निक्षेप हैं तथा
'पूर्वक' शब्द के तेरह निक्षेप हैं।

१२८. आमण्य शब्द के क्रमशः चार निक्षेप ये हैं - १. नामआमण्य २. स्थापनाआमण्य ३. द्रव्य-
आमण्य ४. भावआमण्य। द्रव्यआमण्य के दो भेद हैं—आगमतः द्रव्यआमण्य और नोआगमतः द्रव्य-
आमण्य। भावआमण्य संयत मुनि ही हैं।

१२९. जैसे मुझे दुःख अप्रिय है वैसे ही सब जीवों को है ऐसा जानकर जो व्यक्ति न हिंसा
करता है, न करता है तथा जो समता में गतिशील होता है, वह समण है।

१. हारिमद्वीया वृत्ति पत्र ८० में यह गाथा
ज्ञानमय की अपेक्षा से तथा पत्र ८१ में यही

गाथा क्रियानय की अपेक्षा से व्याख्यात है।

१३०. सब जीवों में जिसके लिए कोई प्रिय या अप्रिय नहीं होता, वही 'समन'—समान मन वाला होता है। यह श्रमण का दूसरा पर्यायवाची नाम है।

१३१. इसलिए जो सुमन वाला होता है, भाव से पापमन वाला नहीं होता, स्वजन-परजन तथा मान और अपमान में सम होता है, वह 'समन' है।

१३२. जो भुनि सर्प के समान (एक दृष्टि), पर्वत के समान (कठों में अप्रकंपित), अग्नि के समान (अभेददृष्टि), सागर के समान (गंभीर और ज्ञान रत्नों से युक्त), नभस्तल के समान (स्वावलंबी), वृक्ष के समान (मान-अपमान में सम), भ्रमर के समान (अनियतवृत्ति), भृग के समान (अप्रमत्त), पृथ्वी के समान (सहिष्णु), कमल के समान (निलेप), सूर्य के समान (तेजस्वी) और पवन के समान अप्रतिबद्धविहारी होता है, वही वास्तविक श्रमण है।

१३३. मुनि की तरह सर्वरसानुपाती, तिमिर की तरह धिमन्न, पवन की तरह अप्रतिबद्ध, वज्र की तरह विषयातक, कणेर की तरह स्पष्ट, उत्पल की तरह सुगंधित, भ्रमर की भांति अनियतवृत्ति, चूहे की भांति उपयुक्त देश-कालचारी, नट की तरह प्रयोजन के अनुरूप परिवर्तन करने वाला, कुक्कुट की भांति संविभागी और कांच की तरह निर्मल होना चाहिए।

१३४, १३५. प्रवर्जित, अनगार, पाषण्ड, चरक, तापस, मिश्र, परिधायक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्रामी, द्रव्य, भुनि, क्षान्त, दान्त, विरत, रुक्ष और तीरार्थी—ये श्रमण के पर्यायवाचक शब्द हैं।

१३६. पूर्व शब्द के तेरह निक्षेप हैं—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. क्षेत्र ५. काल ६. दिशा ७. तापक्षेत्र ८. प्रज्ञापक ९. पूर्व १०. वस्तु ११. प्राप्ति १२. अतिप्राप्ति और १३. भाव।

१३७. काम शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

१३८. शब्द, रस, रूप, गंध, स्पर्श और मोहोदय में निमित्त बनने वाले पदार्थ द्रव्यकाम हैं। भावकाम के दो प्रकार हैं—इच्छाकाम और मदनकाम।

१३९. इच्छा प्रशस्त भी होती है और अप्रशस्त भी (प्रशस्त इच्छा है धर्मेच्छा, मोक्षेच्छा आदि। अप्रशस्त इच्छा है—युद्धेच्छा, राज्येच्छा आदि)। मदनकाम का अर्थ है वेद का विपाकोदय। प्रस्तुत प्रसंग में मदनकाम का अधिकार है, धीरपुरुष उसका निरुक्त बतलाते हैं।

१४०. विषयजन्य सुखों में आसक्त, कामराग में प्रतिबद्ध तथा अज्ञानी व्यक्तियों को धर्म से उत्क्रांत—दूर कर देने के कारण ये 'काम' कहलाते हैं।

१४१. बुद्धिमान् व्यक्ति 'काम' का अपर नाम रोग बतलाते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति काम की अभिलाषा करता है, वह वास्तव में रोग की अभिलाषा करता है।

१४२. पद के मुख्य रूप से चार प्रकार हैं—नामपद, स्थापनापद, द्रव्यपद और भावपद। प्रत्येक पद अनेक प्रकार का है, यह ज्ञातव्य है।

१४३. द्रव्यपद के ११ प्रकार हैं—

१. आकीर्ण—रूप आदि के सिक्के को दोनों ओर से कूटकर बनाना ।
२. उत्कीर्ण—प्रस्तर आदि में नाम आदि उत्कीर्ण करना ।
३. उपनेय—वकुल आदि के संस्थान में मिट्टी के फूल बनाना ।
४. पीडित—संवेष्टित वस्त्र में सलवटे ।
५. रंग—वस्त्र का रंग ।
६. ग्रथित—गूँधी हुई माला ।
७. वेष्टित—पुष्पमय मुकुट ।
८. पूरित—छिद्रमय पुष्पकरंडक ।
९. वातव्य—जुलाहे द्वारा वस्त्र बुनते समय उसमें अश्व आदि का रूप बुनना ।
१०. संघात्य—अनेक जोड़ों से बनाया हुआ वस्त्र, कंचुकी आदि ।
११. छेद्य—पत्रछेद्य आदि ।

१४४. भावपद के दो प्रकार हैं—अपराधपद तथा नो-अपराधपद । नो-अपराधपद दो प्रकार का है—मातृकापद (त्रिपदी) और नो-मातृकापद ।

१४५. नो-मातृकापद के भी दो प्रकार हैं—ग्रथित और प्रकीर्णक । ग्रथितपद चार प्रकार का है तथा प्रकीर्णक के अनेक प्रकार हैं ।

१४६. ग्रथितपद के चार प्रकार ये हैं—गद्य, पद्य, गेय और चोर्ण । इनके लक्षणों को जानने वाले लक्षणज्ञ कवि इन सबको त्रिसमुत्थान अर्थात् धर्म, अर्थ और काम—इन तीन विषयों से उत्पन्न बतलाते हैं ।

१४७. जो मधुर, सहेतुक, क्रमणः ग्रथित, चरणरहित, विरामसंयुक्त तथा अन्त में अपरिमित होता है, वह गद्य काव्य कहलाता है ।

१४८. पद्य तीन प्रकार का होता है—सम, अर्धसम और विषम । 'सम' का तात्पर्य है—पादों में सम तथा अक्षरों में सम । कुछ कहते हैं—सम का अर्थ है—चारों पादों में समान अक्षर हों । अर्धसम का अर्थ है—पहले तथा तीसरे तथा दूसरे और चौथे पाद में समान अक्षर हों । विषम का अर्थ है—सभी पादों में अक्षरों की संख्या विषम हो । ऐसा विधिज्ञ—छन्दशास्त्र के ज्ञाता कहते हैं ।

१४९. गीत संज्ञक भेदकाव्य के पांच प्रकार हैं—

१. तंत्रीसम—जो वीणा आदि तंत्री शब्दों के साथ गाया जाता है ।
२. तालसम—जो ताल के साथ गाया जाता है ।
३. वर्णसम—जो निषाद आदि वर्णों के साथ गाया जाता है ।
४. ग्रहसम—जो सरस्वती के साथ गाया जाता है ।
५. लयसम—जो तंत्री की विशेष छवि के साथ गाया जाता है ।

१५०. जो अर्थबहुल, महान् अर्थ का स्रोतक, हेतु तथा निपात और उपसर्गों से युक्त होने के कारण गंभीर, अपरिमित पादवाला, अव्यवच्छिन्न तथा गम (अक्षरों का उच्चारण) और नयों से शुद्ध हो—वह चौर्णपद कहलाता है।^१

१५१. इन्द्रिय, विषय, कषाय, परीषह, वेदना तथा उपसर्ग—ये अपराधपद हैं। अज्ञानी व्यक्ति इनमें विषाद को प्राप्त होते हैं।

१५१।१. जिनेश्वर भगवान् ने अठारह हजार शीलान्गों (भाव समाधि के भेदों अथवा कारणों) की प्ररूपणा की है। उनकी रक्षा के लिए अपराधपदों का वर्जन करना चाहिए।

१५२. अठारह हजार शीलान्गों की निष्पत्ति के आधारभूत तत्त्व ये हैं—योग तीन, करण तीन, संज्ञा चार, इन्द्रिय पाँच, भीम आदि पाँच स्थावर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तथा अजीवनिकाय और दस प्रकार के श्रमण धर्म।

तीसरा अध्ययन : क्षुल्लिकाचारकथा

१५३. नाम महद्, स्थापना महद्, द्रव्य महद्, क्षेत्र महद्, काल महद्, प्रधान महद्, प्रतीत्य महद् तथा भाव महद्—ये महद् के निक्षेप हैं। इनके प्रतिपक्षी क्षुल्लक होते हैं।

१५४. यहाँ प्रतीत्य-क्षुल्लक आचार का अधिकार है। आचार के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

१५५. द्रव्य आचार अर्थात् द्रव्य का उस-उस अवस्था में परिणमन। द्रव्य आचार के छह प्रकार हैं—नामन (झुकना), धावन (धोना), वासन (सुगंध देना), शिक्षापण (शिक्षण), सुकरण (सरलता से रूपान्तरित करना), अविरोध (अधिकृत मिश्रण—गुड़, दही आदि का)।

१५६. भाव आचार के पाँच प्रकार हैं—दर्शन आचार, ज्ञान आचार, चारित्र्य आचार, तप आचार तथा वीर्य आचार।

१५७. दर्शन आचार के आठ प्रकार हैं—निःशक्ति, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, असूक्ष्मदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

१५७।१. अतिशेष अर्थात् अवधि आदि ज्ञान से युक्त, ऋद्धि सम्पन्न, आचार्य, वादी, धर्म-कथक, अपक, नैमित्तिक, विद्यासिद्ध, राजसम्मत और गणसम्मत व्यक्ति तीर्थ की प्रभावना करते हैं।

१५८. ज्ञान आचार के आठ प्रकार हैं—काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिष्टवृत्त, व्यंजन, अर्थ और तदुभय।

१५९. चारित्र्य आचार के आठ प्रकार हैं—पाँच समितियों तथा तीन गुणधर्मों से प्रणिधान-योगयुक्त होना।

१६०. तीर्थकरों द्वारा दृष्ट, बाह्य और आभ्यन्तर भेदों से प्ररूपित बारह प्रकार के तप में अस्नान और निस्पृह रहना तप आचार है।

१. वृत्तिकार ने ब्रह्मचर्य अध्ययन अर्थात् आचारांग को चौर्णपद माना है—चौर्णपदं

ब्रह्मचर्याध्ययनपदवदिति, पृष्ठ ८८।

१६१. जो अपने बल और वीर्य का गोपन नहीं करता, जो शास्त्रोक्त विधि से आचार में पराक्रम करता है तथा अपने सामर्थ्य के अनुसार स्वयं को उसमें नियोजित करता है, वह वीर्याचार है।

१६२. कथा के मुख्यतः चार प्रकार हैं—अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा तथा मिश्रकथा। प्रत्येक कथाविभाग के अनेक प्रकार हैं।

१६३. विद्या, शिल्प, उपाय, अनिर्वेद, संचय, दक्षता, साम, दंड, भेद और उपप्रदान—ये अर्थाजिन के हेतु हैं। इनकी कथा करना अर्थकथा है।

१६३।१. सार्थवाहपुत्र ने अपनी दक्षता से, श्रेष्ठीपुत्र ने अपने रूप से, अमात्यपुत्र ने अपनी बुद्धि से तथा राजपुत्र ने अपने पुण्य से अर्थाजिन किया।

१६४. सार्थवाहपुत्र ने दक्षता से पांच रुपयों का, श्रेष्ठीपुत्र ने सौन्दर्य से सौ रुपयों का, अमात्यपुत्र ने बुद्धि से हजार रुपयों का तथा राजपुत्र ने पुण्य से लाख रुपयों का लाभ कमाया।^१

१६५. सुंदर रूप, उदग्र अवस्था, उज्ज्वल वेष, दक्षता, विषयकला की शिक्षा, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत और संस्तव—ये कामकथा के हेतु हैं।

१६६. तीर्थंकरों द्वारा प्रज्ञप्त धर्मकथा के चार प्रकार हैं—आश्लेषणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी।

१६७. आश्लेषणी कथा के चार प्रकार हैं—आचार विषयक, व्यवहार विषयक, प्रज्ञप्ति विषयक—संशय निवारण के लिए प्रज्ञापना, दृष्टिवाद विषयक—सूक्ष्म तत्त्वों का प्रतिपादन।

१६८. विद्या, चारित्र्य, तप, पुरुषार्थ, समिति तथा गुप्ति का जिस कथा में उपदेश दिया जाता है, वह आश्लेषणी कथा का रस (सार) है।

१६९. अपने सिद्धान्तों का निरूपण करके, पर-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना अथवा पर-सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर स्व-सिद्धान्तों का निरूपण करना—ये विक्षेपणी कथा के दो भेद हैं। अथवा मिथ्यावाद का प्रतिपादन कर सम्यग्वाद का प्रतिपादन करना या सम्यग्वाद का प्रतिपादन कर मिथ्यावाद का प्रतिपादन करना—ये विक्षेपणी कथा के दो भेद हैं।

१७०. जो कथा स्वसिद्धान्त से शून्य केवल रामायण, वेद आदि से संयुक्त है तथा परसिद्धान्त का कथन करने वाली है, वह विक्षेपणी कथा है।

१७१. अपने सिद्धान्तों में जो बात कही गई है, उसका दूसरे सिद्धान्तों में क्षेपण करना तथा कथ्यमान परशासन के व्याक्षेप के द्वारा पर-समय का कथन करना—यह विक्षेपणी कथा है।

१७२. संवेजनी कथा के चार प्रकार हैं—स्वशरीरविषयक, परशरीरविषयक, इहलोक-विषयक तथा परलोकविषयक।

१७३. जिसमें वीर्य, वैश्विकश्रद्धा, ज्ञानश्रद्धा, चरणश्रद्धा, दर्शनश्रद्धा बताई जाती है, वह संवेजनी कथा का रस (सार) है।

१. देखें—परि० ६, कथा सं० २५।

१७४. जिस कथा में पापकर्मों के अशुभविपाकों का कथन हो, वह निर्वेदनी कथा है। उसके चार विकल्प हैं -

१. इहलोककृत कर्म-बंधन - इहलोक में वेदनीय।
२. इहलोककृत कर्म-बंधन - परलोक में वेदनीय।
३. परलोककृत कर्म-बंधन - इहलोक में वेदनीय।
४. परलोककृत कर्म-बंधन - परलोक में वेदनीय।

१७५. जहां अल्प प्रमादकृत कर्मों का भी प्रचुर अशुभ परिणामों का कथन होता है, वह निर्वेदनी कथा का सार है।

१७६. सिद्धि, देवलोक, सुकुल में उत्पत्ति—यह संवेग का कारण है। नरक, तिर्यञ्चयोनि तथा कुमानुषत्वं निर्वेद का कारण है।

१७७. शिष्य को सबसे पहले आक्षेपणी कथा कहनी चाहिए। जब स्व-सिद्धान्त का पूरा ज्ञान हो जाए तब विक्षेपणी कथा कहनी चाहिए।

१७८. आक्षेपणी कथा से प्रेरित जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। विक्षेपणी कथा से सम्यक्त्व का लाभ हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। इस कथा से भ्रमसति जीव ग्राह्यतर मिथ्यात्व को भी प्राप्त हो सकता है।

१७९. जिन सूत्रों तथा काव्यों में तथा लौकिक ग्रन्थों—रामायण आदि में, यज्ञ आदि क्रियाओं में तथा सामयिक ग्रन्थों—तरंगवती आदि में धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों का कथन किया जाता है वह मिश्रकथा है।

१८०. स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा, चौरकथा, जनपदकथा, नटकथा, नृत्यकथा, जल्लकथा (डोर पर करतब दिखाने वाले की कथा) तथा मल्लकथा - ये विकथा के प्रकार हैं।

१८१. ये कथाएं ही प्रज्ञापक—प्ररूपक तथा श्रोता की अपेक्षा से अकथा कथा या विकथा होती हैं।

१८२. मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का वेदन करता हुआ जो अज्ञानी प्रज्ञापक कथा कहता है वह विकथा है, ऐसा तीर्थंकरों ने प्रवचन में कहा है। वह अज्ञानी लिङ्गस्थ—द्रव्य मुनि भी हो सकता है और गृहस्थ भी।

१८३. तप, संयम आदि गुणों के धारक, चारिवरत श्रमण संसारस्थ प्राणियों के लिए जो हितकर तथा परमार्थ का उपदेश देते हैं, वही प्रवचन में 'कथा' कही गयी है।

१८४. जो संयमी मुनि प्रमाद तथा राग-द्वेष के वशीभूत होकर कथा कहता है, वह विकथा है - ऐसा तीर्थंकर आदि धीर पुरुषों ने प्रवचन में कहा है।

१८५. जिस कथा को सुनकर श्रोता के मन में श्रृंगार रस की भावना उत्तेजित होती है, मोहजनित उद्रेक होता है, कामाग्नि प्रज्वलित होती है, श्रमण ऐसी कथा न कहे।

१८६. श्रमण को तप, नियम और वैराग्य से संयुक्त कथा कहनी चाहिए, जिसको सुनकर मनुष्य संवेग और निर्वेद को प्राप्त कर सके।

१८७. महान् अर्थवाली कथा को भी इस प्रकार कहना चाहिए कि उसको सुनने वाले को परिवर्तन न हो क्योंकि अति-विस्तार से कही जाने वाली कथा का भावार्थ नष्ट हो जाता है।

१८८. क्षेत्र, काल, पुरुष (श्रोता) तथा अपने सामर्थ्य को जानकर भ्रमण प्रकृत (समयाप्तुकूल) विषय में पापानुबन्धरहित कथा करे।

चौथा अध्ययन : षड्जीवनिकाय

१८९. प्रस्तुत षड्जीवनिकाय के अधिकार में जीव और अजीव का ज्ञान, चारित्र्यधर्म, यतना का कथन, उपदेश तथा धर्मफल का निरूपण किया गया है।

१९०. षड्जीवनिकाय शब्द का नाम-निष्पन्न निक्षेप होता है। अब इस लोकां (१९१. जीव और निकाय) पदों की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करूंगा।

१९१. एक शब्द के सात निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, भातृकापद, संग्रह, पर्याय और भाव।

१९२. षट् शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

१९३, १९४. 'जीव' शब्द के निक्षेप, प्ररूपणा, लक्षण, अस्तित्व, अन्यत्व, अमूर्तत्व, नित्यत्व, कर्तृत्व, देहव्यापित्व, गुणित्व, ऊर्ध्वगतित्व, निर्मयता (विकार रहितत्व), साफल्य, परिमाण आदि के द्वारा जीव की त्रिकालविषयक परीक्षा करणीय है।

१९५. जीव शब्द के चार निक्षेप हैं—नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव और भावजीव। ओषजीव, भवजीव, तद्भवजीव—ये भावजीव के तीन निक्षेप हैं।

१९६. आयुष्य कर्म के होने पर, जिस ओषआयुष्य कर्म के उदय से जीता है, वह जीव है। उसी आयुष्य कर्म के क्षीण हो जाने पर उसे नय की अपेक्षा से 'सिद्ध' या 'मृत' कहा जाता है। यह ओषजीव की व्याख्या है।

१९७. जिस आयुष्य के आधार पर जीव किसी भव में स्थित रहता है अथवा उस भव से संक्रमण करता है, वह भवायु है। भवायु चार प्रकार की है—तारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। तद्भवआयु दो प्रकार की है—तिर्यञ्च तद्भवआयु, मनुष्य तद्भवआयु।

१९८. लोक में जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बाह्य। सूक्ष्म जीव संपूर्ण लोक में व्याप्त है। बाह्य जीव के दो प्रकार हैं पर्याप्त और अपर्याप्त।

१९९, २००. आदान, परिभोग, योग, उपयोग, कषाय, लेष्या, आनापान, इन्द्रिय, बंध, उदय, निर्जरा, चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, धारणा, बुद्धि, ईहा, मति, वितर्क—ये जीव के लक्षण हैं।

२०१. जीव का अस्तित्व सिद्ध है। 'जीव' इस शब्द से ही जीव के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। जो असत् है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है उसके विषय का केवल कोई शब्द नहीं होता।

२०२. यदि कर्मों के कर्ता और भोक्ता जीव का कोई अस्तित्व न हो तो सारी पारलौकिक क्रियाएं (पुण्य, पाप आदि) मिथ्या हो जाएंगी।

१. तिर्यञ्च और मनुष्य ही मरकर पुनः तिर्यञ्च और मनुष्य के रूप में उत्पन्न हो सकते हैं, दूसरे नहीं—तद्भवजीवितं च तस्मान् मृतस्य

तस्मिन्नेवोत्पन्नस्य यत् तदुच्यते इति—
हाटी पत्र १२२।

२०३. लौकिक, वैदिक तथा सामयिक विद्वानों का यह मानना है कि जीव नित्य है और वह शरीर से पृथक् है।

२०४. देह से संस्पृष्ट वायु का जैसे स्पर्श से ज्ञान होता है, वैसे ही देह-संगत ज्ञान आदि से जीव का ज्ञान होता है।

२०५. जीव इंद्रियग्राह्य गुणों से रहित है। वह मांसचक्षु—अक्षरस्थ के द्वारा दुर्ज्ञेय है। सिद्ध और अज्ञेय तथा अपारिद्ध—केवलज्ञानों धर्मण ही उसे जानते-देखते हैं।

२०६. कारणविभाग का अभाव तथा कारणविनाश का अभाव, बंध के हेतु का अभाव, विरुद्ध अर्थ की अनुत्पत्ति तथा सत् का अविनाश—इन कारणों से जीव का नित्यत्व सिद्ध होता है। नित्यत्व से अमूर्तत्व और अमूर्तत्व से शरीर से पृथक्त्व सिद्ध होता है।

२०७. निराभय व्यक्ति आमयुक्त (रोगयुक्त) हो जाता है। बचपन में किए गए कार्यों की स्मृति होती है, उपस्थान—कृतकर्मों का फल भोगा जाता है, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से उसका ग्रहण न होने पर भी स्वसंवेदन से उसकी सिद्धि होती है। जाति-स्मृति ज्ञान तथा जन्मते ही बालक की स्तनपान की अभिलाषा भी आत्मा के नित्यत्व की साक्षी है।

२०८. सर्वज्ञ द्वारा यह उपदिष्ट है कि आत्मा नित्य, स्वकर्मफलभोक्ता तथा अमूर्त है। अतः आत्मा का नित्यत्व, अमूर्तत्व तथा अन्यत्व स्वयं सिद्ध है।

२०९. जीव का परिमाण विस्तार की अपेक्षा लोक जितना है। उसकी अवगाहना सूक्ष्म तथा उसके प्रदेश असंख्येय हैं।

२१०. यदि कोई व्यक्ति प्रस्थ^१ अथवा कुडव^२ से सभी प्रकार के धान्यों का परिमाण करता है, इस प्रकार मापे जाने पर लोक अनन्त होते हैं।

२११. निकाय (अथवा काय) पद के बारह निक्षेप हैं—नामकाय, स्थापनाकाय, शरीरकाय, गतिकाय, निकायकाय, अस्तिकाय, द्रव्यकाय, मातृकाकाय, पर्यायकाय, सग्रहकाय, भारकाय तथा भावकाय।

२११/१. एक कांवरिया अपने कांवर में पानी से भरे दो घड़ों को रखकर जा रहा था। एक ही अष्काय दो घड़ों में विभक्त था। कांवरिये का पैर फिसला। एक घड़ा फूट गया। उसका अष्काय मर गया। संतुलन न रहने के कारण दूसरा घड़ा भी नीचे गिर कर फूट गया। उसका अष्काय भी मर गया। मरे हुए अष्काय ने जीवित अष्काय को मार डाला। मनुष्य! बोल, इसका हेतु क्या है?

२१२. प्रस्तुत सूत्र में निकायकाय का प्रसंग है। शेष कायों का कथन उच्चरित अर्थ की सदृशता से है।

२१३. शस्त्र के दो प्रकार हैं—द्रव्यशस्त्र तथा भावशस्त्र। अग्नि, विष, स्नेह, अम्ल, क्षार, लवण आदि द्रव्यशस्त्र हैं। दुष्प्रयुक्त वचन, दुष्प्रयुक्त काया तथा अविरति—ये भावशस्त्र हैं।

१. लौकिक—इतिहासज्ञ। वैदिक—त्रिविध के ज्ञाता। सामयिक—बौद्ध आदि दार्शनिक—
हाटी ५० १२७।

२. केवली समुद्घात के चौथे समय की अपेक्षा से।

३. प्रस्थ—चार कुडव प्रमाण।

४. कुडव—चार सेतिका प्रमाण।

२१४. द्रव्यशस्त्र के तीन प्रकार हैं—किञ्चित् स्वकायशस्त्र, किञ्चित् परकायशस्त्र और किञ्चित् उभयकायशस्त्र । असंयम भावशस्त्र है ।

२१५. योनीभूत बीज में जो जीव उत्पन्न होता है, वह पूर्व बीज का जीव भी हो सकता है और अन्य जीव भी । जो मूल जीव होता है वही प्रथम पत्र रूप में परिणत होता है ।

२१६. शेष सूत्रानुसार प्रत्येक काय का यथाक्रम अध्ययनार्थ कहना चाहिए । वे अध्ययनार्थ पांच हैं (देखें—गाथा १८९) । इनको प्रकरण, पद और व्यंजन से विभुद्ध करके कहना चाहिए ।

२१७. जीवाजीवाभियम, आचार, धर्मप्रज्ञप्ति, चारित्र्यधर्म, चरण और धर्म—ये शब्द एकार्थक हैं ।

पाँचवाँ अध्ययन : पिण्डैषणा

२१७।१. पिण्डैषणा शब्द में दो पद हैं—पिण्ड और एषणा । इन दोनों पदों की चार-चार निक्षेपों से प्ररूपणा करनी चाहिए ।

२१८. पिण्ड शब्द के चार निक्षेप हैं—नामपिण्ड, स्थापनापिण्ड, द्रव्यपिण्ड तथा भावपिण्ड । गुह, ओदन आदि द्रव्यपिण्ड हैं तथा क्रोध, मान, माया और लोभ यह भावपिण्ड है ।

२१८।१ पिण्डि घातु संघात अर्थ में है । क्रोध आदि उदय में आकर विषाकोदय और प्रदेशोदय से संहत—योजित होकर ही आठ प्रकार के कर्मों से जीवों को प्रवृत्त करते हैं । अतः क्रोध आदि कषायपिण्ड हैं ।

२१८।२. द्रव्यैषणा के तीन प्रकार हैं—सचित्तद्रव्यैषणा, अचित्तद्रव्यैषणा तथा मिश्रद्रव्यैषणा ।

सचित्तद्रव्यैषणा के तीन प्रकार हैं—(१) द्विपद—मनुष्य आदि । (२) चतुष्पद—हाथी आदि । (३) अपद—वृद्ध आदि ।

अचित्तद्रव्यैषणा—कार्ष्णिण आदि ।

मिश्रद्रव्यैषणा—अलंकृत द्विपद आदि ।

२१८।३. भावैषणा के दो प्रकार हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त । ज्ञान आदि की एषणा प्रशस्त भावैषणा है तथा क्रोध आदि की एषणा अप्रशस्त भावैषणा है ।

२१८।४. ज्ञान आदि की उपकारी होने के कारण यहाँ द्रव्यैषणा का प्रसंग है । उसकी अर्थ-योजना में पिण्डनिर्युक्ति यहाँ वक्तव्य है ।

२१९. सभी प्रकार की पिण्डैषणा संक्षेप में नवकोटि में समवतरित होती है । जैसे—न हिंसा करना, न पकाना, न खरीदना । कराने और अनुमोदन के भंगों से इसके नौ विकल्प होते हैं ।

२१९।१. उस नवकोटि के दो भेद हैं—उद्गमकोटि और विशोधिकोटि । प्रथम छह कोटि में उद्गमकोटि का समवतार होता है और शेष त्रीनत्रिक में इस विशोधिकोटि का समावेश होता है ।

२२०. कोटिकरण के दो प्रकार हैं—उद्गमकोटि और विशोधिकोटि । उद्गमकोटि के छह भेद हैं और शेष विशोधिकोटि के अन्तर्गत हैं ।

१. हिंसा न करना, न कराना और न अनुमोदन करना । न पकाना, न पकवाना और न

अनुमोदन करना । न खरीदना, न खरीदवाना और न अनुमोदन करना ।

२२०।१. आधाकर्म, औद्देशिक, पूतिकर्म, मिश्र, चरमप्राभृतिका और अख्यवपूरक—ये अविशोधिकोटि में हैं तथा शेष विशोधिकोटि में हैं।

२२१. राग, मिथ्यात्व आदि की योजना से ये—ती कोटियां^१ ही अठारह, सत्तावीस, चौपन, नब्बे और दो सौ सत्तर कोटियां हो जाती हैं।

२२१।१. ती कोटि को राग, द्वेष—इन दो भेदों से गुणन करने पर (९×२) अठारह भेद होते हैं। मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति से गुणन करने पर (९×३) सत्तावीस भेद होते हैं। सत्तावीस भेदों को राग, द्वेष इन दो से गुणन करने पर चौपन भेद होते हैं। नवकोटि को दसविध श्रमण धर्म से गुणा करने पर नब्बे भेद होते हैं। तथा नब्बे भेदों को ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से गुणन करने पर दो सौ सत्तर कोटियां होती हैं।

छठा अध्ययन : महाचारकथा

२२२. तीसरे अध्ययन में जिस आचार का निर्देश दिया गया है, वही आचार यहां अन्युनाति-रिक्त रूप में इस महाचारकथा में बताया जाएगा।

२२३. धर्म के मुख्य दो प्रकार हैं—अगार धर्म और अनगार धर्म। अगार धर्म बारह प्रकार का है और अनगार धर्म दस प्रकार का है। इस प्रकार धर्म के बाधोक्त प्रकार हैं।

२२४. पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह बारह प्रकार का गृहिधर्म या अगार धर्म है।

२२५. क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य—यह दस प्रकार का यतिधर्म है, अनगार धर्म है।

२२६. यह धर्म तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट है। 'अर्थ' शब्द के चार निक्षेप हैं—नामअर्थ, स्थापना अर्थ, द्रव्यअर्थ तथा भावअर्थ। संक्षेप में द्रव्यअर्थ छह प्रकार का है तथा विस्तार में उसके चौंसठ भेद हैं।

२२७. तीर्थंकरों तथा गणधरों ने छह प्रकार के अर्थ की प्रज्ञापना दी है—धान्य, रत्न, स्थावर, (भूमि, गृह आदि अचल सम्पत्ति) द्विपद, चतुष्पद तथा कुप्य—ताम्रकलश आदि उपकरण।

२२८. धान्य के चौबीस, रत्न के चौबीस, स्थावर के तीन, द्विपद के दो, चतुष्पद के दस तथा कुप्य के अनेक प्रकार हैं। इन सब प्रकारों की मैं प्ररूपणा करूंगा।

२२९, २३०. धान्य के चौबीस प्रकार—

१. यव (जौ)	९. रालक	१७. मोठ
२. गेहूं	१०. तिल	१८. राजमाष
३. शालि	११. मूंग	१९. इक्षु
४. ज्वीहि	१२. उडद	२०. मसूर
५. साठी चावल	१३. अलसी	२१. अरहर
६. कोद्व	१४. हरिमंथ (काला चना)	२२. कुलधी
७. अणुक	१५. तिपुटक (मालव देश में प्रसिद्ध धान्य)	२३. घनिया
८. कांगणी	१६. निष्पाव	२४. मटर

दशवैकालिक निर्मुक्ति

२३१, २३२. रत्नों के चौबीस प्रकार—

१. स्वर्ण	९. वज्र	१७. वस्त्र
२. अपु (कलई)	१०. मणि	१८. अमिला (ऊनी वस्त्र)
३. ताम्र	११. मुक्ता	१९. काष्ठ
४. चांदी	१२. प्रवाल	२०. शर्म (महिष, सिंह आदि का)
५. लोह	१३. शंख	२१. दांत (हाथी के)
६. सीसा	१४. तिनिश	२२. बाल (चमरी गाय के)
७. हिरण्य (रूपया)	१५. अगल	२३. गंध (सौगंधिक द्रव्य)
८. पाषाण	१६. चन्दन	२४. द्रव्य (पीपर आदि औषधि)

२३३. स्थावर के तीन प्रकार हैं—भूमि, गृह तथा वृक्ष समूह। द्विपद के दो प्रकार हैं—चक्रारवद्ध (दो पहियों से चलने वाली गाड़ी, रथ आदि) तथा मनुष्य (दास, भूतक आदि)।

२३४. चतुष्पद के दस प्रकार हैं—गौ, महिष, उष्ट्र, अज, भेड़, अश्व, अश्वतर, घोड़ा, गर्दभ और हाथी।

२३५. प्रतिदिन घर के काम में आने वाले विविध प्रकार के उपकरण कुप्य कहलाते हैं। धान्य आदि छह प्रकार के द्रव्यों के ये ६४ प्रकार हैं।

२३६. काम के दो प्रकार हैं—संप्राप्त और असंप्राप्त। संप्राप्त काम के चौदह भेद हैं तथा असंप्राप्त के दस भेद हैं।

२३७-२३९. असंप्राप्त काम के दस भेद ये हैं—अर्थ, चिन्ता, श्रद्धा, संस्मरण, विबलवता, ज्वलजानाश, प्रमाद, उन्माद, तद्भावना तथा मरण। संप्राप्त काम के संक्षेप में चौदह भेद ये हैं—दृष्टि-संपात, वृष्टि-सेवा (दृष्टि से वृष्टि मिसाना), संभाषण, हसित, ललित, उपगृहित, दन्तनिपात, नखनिपात, चुंबन, आलिगन, आदान, करण, आसेवन और अनंगक्रीड़ा।

२४०. धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों युगपत् विरोधी से लगते हैं, परंतु ये जिनेश्वर भगवान् के वचनों में अवतीर्ण होकर अविरोधी बन जाते हैं।

२४०।१. जिनवचन में यथावत् परिणत होने पर अपनी योग्यता के अनुसार अनुष्ठान करने से 'धर्म' होता है। स्वच्छ आशय के प्रयोग से तथा पुण्यवत् से 'अर्थ' और विश्रम्भ—उचित पत्नी को अंगीकार करने से 'काम' होता है।

२४१. धर्म का फल है—मोक्ष। वह शाश्वत, अतुलनीय, कल्याणकर और अनाबाध है। मुनि उस मोक्ष की अभिलाषा करते हैं, इसलिए वे 'धर्माधिकाम' हैं।

२४२. 'परलोक नहीं है, मुक्ति का मार्ग नहीं है और मोक्ष नहीं है'—यह बात न्यायमार्ग को न जानने वाले लोग कहते हैं। किंतु जिनप्रवचन में ये सब सत्यरूप में स्वीकृत हैं तथा ये पूर्वापर-अविरोधी हैं। शीतराग प्रवचन से अन्यत्र अन्य धर्मांतों में ऐसा नहीं है।

२४३. आचारकथा में जिन अठारह स्थानों का कथन किया है, उनमें से एक का भी सेवन करने वाला श्रमण नहीं होता।

२४४. वे अठारह स्थान ये हैं—छह प्रत, छह काय, अजरूप, गृहस्थ भाजन, पलंग, निषद्या, स्नान और शोभा का वर्जन ।

सातवाँ अध्ययन : वाक्यशुद्धि

२४५. 'वाक्य' शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । भाषक के द्वारा गृहीत भाषा के योग्य पुद्गल 'द्रव्य वाक्य' है तथा शब्द रूप में परिणत भाषा के शब्द 'भाव वाक्य' है ।

२४६. 'वाक्य' के ये एकार्थक हैं—वाक्य, वचन, गिरा, सरस्वती, भारती, गौ, वाक्, भाषा, प्रज्ञापनी, देशनी, वाक्योग तथा योग ।

२४७. द्रव्यभाषा के तीन प्रकार हैं—ग्रहणद्रव्यभाषा^१, निसर्गद्रव्यभाषा^२ तथा पराधातुद्रव्यभाषा^३ । भावभाषा के तीन प्रकार हैं—द्रव्यभावभाषा, श्रुतभावभाषा और चारित्रभावभाषा । इसे ही सामान्यतः आराधनी कहा जाता है ।

२४८. द्रव्य विषयक सत्य भाषा आराधनी भी होती है और विराधनी भी होती है । मृषा भाषा विराधनी है । सत्यमृषा भाषा (मिश्र भाषा) आराधनी और विराधनी—वोनों हैं । असत्यमृषा अर्थात् व्यवहार भाषा न आराधनी है और न विराधनी ।

२४९. सत्य भाषा के दस प्रकार हैं—

१. जनपद सत्य	६. प्रतीत्य सत्य
२. सम्मत सत्य	७. व्यवहार सत्य
३. स्थापना सत्य	८. भाव सत्य
४. नाम सत्य	९. योग सत्य
५. रूप सत्य	१०. औपम्य सत्य ।

२५०. मृषा भाषा के दस भेद हैं—

१. क्रोधनिसृत	६. द्वेषनिसृत
२. माननिसृत	७. हास्यनिसृत
३. मायानिसृत	८. भयनिसृत
४. लोभनिसृत	९. आश्चर्यायिकानिसृत
५. रागनिसृत	१०. उपधातनिसृत ।

२५१. सत्यमृषा (मिश्र) भाषा के दस भेद हैं—

१. उत्पन्नमिश्रित	६. जीव-अजीव मिश्रित
२. विगत मिश्रित	७. अनन्त मिश्रित
३. उत्पन्न-विगत मिश्रित	८. प्रत्येक मिश्रित
४. जीव मिश्रित	९. अध्वा मिश्रित
५. अजीव मिश्रित	१०. अध्वा-अध्वा मिश्रित ।

१. काययोग के द्वारा भाषा द्रव्यों का ग्रहण ।
२. वाक्योग के द्वारा भाषा द्रव्यों का उत्सर्ग ।

३. निसृष्ट भाषा के द्रव्यों से अन्य द्रव्यों का तथाविध परिणाम आपादित करना ।

२५२. असत्यामृषा (व्यवहार भाषा) के बारह प्रकार हैं—

१. आमंत्रणी	७. इच्छानुलोमा
२. आज्ञापनी	८. अनभिगृहीता
३. याचनी	९. अभिगृहीता
४. प्रच्छन्नी	१०. संशयकारिणी
५. प्रज्ञापनी	११. व्याकृत
६. प्रत्याख्यानी	१२. अव्याकृत ।

२५३. असत्यामृषा भाषा के ये प्रकार हैं—

- ० अनभिगृहीतभाषा—किसी अर्थ की ओर संकेत न करनेवाली, जैसे—डिब्ब आदि ।
- ० अभिगृहीतभाषा—किसी अर्थ का स्पष्ट संकेत करनेवाली, जैसे—घट आदि ।
- ० संशयकरणीभाषा—अनेक अर्थ देनेवाली भाषा, जैसे—संशय शब्द । इसके दो अर्थ हैं—
नमक और अरब ।
- ० व्याकृत भाषा—स्पष्ट अर्थ देने वाली भाषा ।
- ० अव्याकृत भाषा—अस्पष्ट भाषा, जैसे—बच्चों द्वारा बपयप करना आदि ।

२५४. सभी भाषाएं दो-दो प्रकार की हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त ।^१ प्रथम दो भाषाएं—सत्य और मृषा—ये पर्याप्त हैं तथा दो भाषाएं—सत्यमृषा और असत्यामृषा—ये अपर्याप्त हैं ।

२५५. श्रुत धर्म विषयक भावभाषा के तीन प्रकार हैं—सत्यभाषा, मृषाभाषा तथा व्यवहार-भाषा । श्रुतोपयुक्त सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सत्य भाषा बोलता है ।

२५६. श्रुत में अनुपयुक्त सम्यग्दृष्टि जो अहेतुक भाषा बोलता है, वह मृषा भाषा है । मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति भी श्रुतोपयुक्त या श्रुत-अनुपयुक्त होकर जो कुछ बोलता है, वह मृषा भाषा है ।

२५७. जो श्रुत—आगम का परावर्तन करता है तथा जो अंतिम तीन ज्ञानों—अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान में उपयुक्त होकर बोलता है वह असत्यमृषा (व्यवहार) भाषा है । अब आगे चारित्र्य विषयक भाव-भाषा का कथन करेंगे ।

२५८. चारित्र्य विषयक भावभाषा के दो प्रकार हैं—सत्यभाषा और मृषाभाषा । सचरित्र—चरित्रपरिणामवाले व्यक्ति की तथा चारित्र्य की वृद्धि करनेवाली भाषा सत्य तथा अचरित्र—चरित्र-परिणाम से शून्य व्यक्ति की तथा अचरित्र की वृद्धि करनेवाली भाषा मृषा होती है ।

२५९. शुद्धि के चार प्रकार हैं—नामशुद्धि, स्थापनाशुद्धि, द्रव्यशुद्धि तथा भावशुद्धि । अब इनकी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करणीय है ।

२६०, २६१. द्रव्यशुद्धि के तीन प्रकार हैं—तद्-द्रव्यशुद्धि, आदेश-द्रव्यशुद्धि, प्राधान्य-द्रव्यशुद्धि । जो द्रव्य अन्य द्रव्यों से असंयुक्त होकर ही शुद्ध होता है, वह 'तद्-द्रव्यशुद्धि' है (जैसे—दूध, दही आदि) । आदेश-द्रव्यशुद्धि के दो भेद हैं—अन्यत्व शुद्धि—शुद्ध वस्त्रों वाला व्यक्ति । अनन्यत्व शुद्धि—शुद्ध दांतों वाला व्यक्ति । प्राधान्यशुद्धि का तात्पर्य है—वर्ण, रस, गंध और स्पर्श

१. पर्याप्त का अर्थ है—जिस भाषा का एक पक्ष—सत्य या मृषा में निक्षेप होता हो ।

इससे विपरीत भाषा अपर्याप्त है । (हाटी० प० २१०)

की मनोज्ञता । जैसे—वर्ण शुक्ल, रस मधुर, गंध सुरभि और स्पर्श मृदु । ये उत्कृष्ट और कमनीय माने जाते हैं ।

२६२. द्रव्यशुद्धि की भांति भावशुद्धि भी तीन प्रकार की है—तद्भावशुद्धि, आदेशभावशुद्धि तथा प्रधानभावशुद्धि । तद्भावशुद्धि अन्य भावों से निरपेक्ष होती है । आदेशभावशुद्धि सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों होती है ।

२६३. दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य तथा तप विषयक विशुद्धि ज्ञानादि की अपेक्षा से प्रधानभावशुद्धि है । ज्ञान आदि की शुद्धि से ही आत्मा कर्ममल से विशुद्ध होती है और वह विशुद्ध आत्मा मुक्त होती है ।

२६४. जिस वाक्य को बोलने से संयम की शुद्धि होती है, हिंसा नहीं होती, आत्मा में कालुष्य नहीं होता, वह वाक्य-शुद्धि है ।

२६५. जो वचन-विभक्ति (वाच्य और अवाच्य का विवेक) में कुशल होता है, जो संयम में प्रवृत्त चित्त वाला है, वह भी असद् वचनों से विराधक बन जाता है, इसलिए मुनि को असद् वचनों—वर्जनीय वचनों का परिज्ञान कर लेना चाहिए ।

२६६. जो वचन-विभक्ति में अकुशल है, बहुविध वाग्योग से अज्ञानकार है, वह कुछ भी नहीं बोलने पर भी वाग्गुप्त नहीं होता ।

२६७. जो वचन-विभक्ति में कुशल है, अनेक प्रकार के वचोयोग का ज्ञाता है, वह दिन भर बोलता हुआ भी वाग्गुप्त होता है ।

२६८. पहले बुद्धि से सोचकर, फिर वचन बोले । जैसे अंधा व्यक्ति अपने नेता—हाथ पकड़कर ले जानेवाले—का अनुगमन करता है, वैसे ही वाणी बुद्धि का अनुगमन करती है ।

आठवाँ अध्ययन : आचारप्रणिधि

२६९. जिस आचार का तीसरे अध्ययन में प्रतिपादन कर चुके हैं, वह न्यूनातिरिक्त प्रस्तुत अध्ययन में भी जान लेना चाहिए । प्रणिधि के दो प्रकार हैं—द्रव्यप्रणिधि और भाव-प्रणिधि ।

२७०. निधान आदि द्रव्य तथा मायाप्रयुक्त द्रव्य द्रव्यप्रणिधि कहलाते हैं । भावप्रणिधि के दो प्रकार हैं—इन्द्रियप्रणिधि और नोइन्द्रियप्रणिधि । इन्द्रियप्रणिधि के दो प्रकार हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त ।

२७१. शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श में न राग हो और न द्वेष हो, वह प्रशस्त इन्द्रिय-प्रणिधि है ।

२७२, २७३. उच्छृंखल श्रोत्रेन्द्रिय की रज्जु से बंधा हुआ शब्द-मूर्च्छित जीव अनुपयुक्त होकर शब्दगुणों से समुत्पन्न दोषों को ग्रहण करता है । जैसा शब्दविषयक यह दोष है वैसे ही क्रम अन्य सभी इन्द्रियों के विषय में है । व्यक्ति शेष चारों इन्द्रियों के रूप, गंध, रस और स्पर्श विषयगत दोषों को ग्रहण करता है ।

२७४. तपश्चरण करने पर भी जिस व्यक्ति की इन्द्रियां दुष्प्रणिहित (असमाहित) होती हैं, वे इन्द्रियां उसको निर्वाण से दूर ले जाती हैं, जैसे—उच्छृंखल अश्व सारथि को उत्पथ पर ले जाते हैं।

२७४।१. अथवा दुष्प्रणिहित इंद्रिय वाला व्यक्ति मार्जार और बक के समान होता है। अप्रणिहित इंद्रिय वाला असंयमी ही होता है।

२७५. क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार महाभय हैं। जो शुद्धात्मा इनका निरोध करता है, वह नो-इन्द्रियप्रणिधि है।

२७६. तपश्चरण करते हुए भी जिस व्यक्ति के कषाय दुष्प्रणिहित—अनिरुद्ध होते हैं, वह बाल-तपस्वी की भांति 'गजस्तान' जैसा परिश्रम करता है।

२७७. आत्मपथ का अनुपालन करने पर भी जिस मुनि के कषाय उत्कट—तीव्र होते हैं, में मानता हूं कि उसका आत्मपथ इक्षुपुष्प की भांति निरर्थक है।

२७८. यदि बाह्य और आन्तरिक चेष्टा से इंद्रिय तथा कषायों का सम्यग् निरोध हो जाता है तो वह दोनों प्रकार की प्रणिधि शुद्ध है। तथा जहां निरोध नहीं होता वह प्रणिधि अशुद्ध है। इस प्रकार यह प्रशस्त और अप्रशस्त का लक्षण अध्यात्म निष्पन्न अर्थात् अध्यवसान से उत्पन्न है।

२७९. जो व्यक्ति माया और गौरवत्रिक से मुक्त होकर इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय (मन) का निग्रह करता है, वह अप्रशस्त प्रणिधि है। जो माया और गौरवत्रिक से रहित होकर इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय का निग्रह करता है, वह प्रशस्त प्रणिधि है।

२८०. अप्रशस्त प्रणिधि में आयुक्त मुनि आठ प्रकार के कर्मों का बंधन करता है। प्रशस्त प्रणिधि में आयुक्त मुनि उन्हीं आठ प्रकार के कर्मों का क्षय कर डालता है।

२८१. दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य—यह संपूर्ण संयम है। संयम की साधना के लिए प्रशस्त प्रणिधि का प्रयोग करना चाहिए और उसके अनायतन—वर्जनीय स्थानों का वर्जन करना चाहिए।

२८२. जैसे विश्वध (निर्भीक) और निसृष्ट (शरीर के प्रति अजागरूक) व्यक्ति कंटकाकीर्ण गड्ढे आदि में गिरकर अंग-भंग कर लेता है, वैसे ही दुष्प्रणिहित (असमाहित) संयमी संयम को नहीं जानता हुआ प्रवृजित जीवन को खण्डित कर देता है।

२८३. सुप्रणिहितयोगी पूर्व उल्लिखित दोषों से लिप्त नहीं होता। वह अपने कर्मों को वैसे ही मस्मसात् कर डालता है जैसे सूखे तिनकों को अग्नि।

२८४. इसलिए श्रमण अप्रशस्त प्रणिधान को छोड़कर प्रशस्त प्रणिधान में प्रयत्न करे। इसी-लिए आचारप्रणिधि का कथन किया गया है।

१. जैसे हाथी सरोवर में स्नान करता है और तट पर आकर पुनः धूल उछाल कर अपने शरीर को धूलमय कर देता है, वैसे ही वह

तपस्वी तपश्चरण रूप स्नान करने पर भी अन्यान्य कारणों से प्रभूत कर्मों का अर्जन कर लेता है।

२८५. आचारप्राणिधि के ये चार अधिकार हैं—बह्काय, पांच समितिमां, तीन गुप्तियां और ३१ प्रकार की प्राणिधियां ।

नौवां अध्ययन : विनयसमाधि

२८६. 'विनय' और 'समाधि'—इन दोनों पदों के चार-चार निक्षेप हैं । द्रव्यविनय में तिनिश (वृक्ष विशेष) और स्वर्ण आदि के उदाहरण दिए जाते हैं ।

२८७. भावविनय के पांच प्रकार हैं—लोकोपचार विनय, अर्थनिमित्तक विनय, कामहेतुक विनय, भयनिमित्तक विनय और मोक्षनिमित्तक विनय ।

२८८. लोकोपचार विनय के पांच प्रकार हैं—अभ्युत्थान, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथि पूजा और वैभव के अनुसार देवपूजा ।

२८९. अर्थ की प्राप्ति के लिए राजा आदि के पास रहना, उनकी इच्छा का अनुवर्तन करना, देशकालदान—राजा आदि को देश, काल आदि के विषय में सुभाष देना, अभ्युत्थान करना, हाथ जोड़ना, आसनदान आदि—यह अर्थविनय है ।

२९०, २९१. इसी प्रकार कामविनय और भयविनय भी ज्ञातव्य है । मोक्षविनय के पांच प्रकार ये हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक विनय ।

२९२. जिनेश्वर देव के द्वारा द्रव्यों की जितनी पर्यायें जिस प्रकार उपदिष्ट हैं उन पर वैसी ही श्रद्धा रखने वाला मनुष्य दर्शनविनय से संपन्न होता है ।

२९३. ज्ञानी ज्ञान को ग्रहण करता है, गृहीत ज्ञान का प्रत्यावर्तन करता है, ज्ञान से कार्य संपादित करता है । इस प्रकार ज्ञानी नए कर्मों का बंध नहीं करता । वह ज्ञानविनीत अर्थात् ज्ञान से कर्मों का अपनयन करने वाला होता है ।

२९४. चारित्र विनय से युक्त संयम में यत्मान मुनि आठ प्रकार के कर्मसमूह को रिक्त करता है और दूसरे नए कर्मों का बंध नहीं करता । वह चारित्रविनीत अर्थात् चारित्र से कर्मों का अपनयन करने वाला होता है ।

२९५. तपोविनय में निश्चलबुद्धि वाला जीव तपस्या से अज्ञान को दूर करता है तथा आत्मा को स्वर्ग और मोक्ष के निकट ले जाता है । वह तपोविनीत अर्थात् तपस्या से कर्मों का अपनयन करने वाला होता है ।

२९६. औपचारिक विनय संश्लेष में दो प्रकार का है—प्रतिरूपयोगयोजनविनय तथा अनाशातनाविनय ।

२९७. प्रतिरूपयोगविनय के तीन प्रकार हैं—कायिक योग, वाचिक योग तथा मानसिक योग । कायिकयोगविनय के आठ प्रकार, वाचिकयोगविनय के चार प्रकार और मानसिकयोगविनय के दो प्रकार हैं । उनकी प्ररूपणा इस प्रकार है—

२९८. कामविनय के आठ प्रकार हैं—अभ्युत्थान, अंजलीकरण, आसनदान, अभिग्रह, कृतिकर्म—वन्दन, शृश्रूषा, अनुगमन और संसाधन ।

२९९. हितभाषी, भितभाषी, अपश्यभाषी और अनुवीचिभाषी—यह वाचिक विनय है। अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उदीरणा (प्रवृत्ति) यह मानसिक विनय है।

३००. यह परानुवृत्त्यात्मक प्रतिरूप (उचित) विनय प्रायः छद्मस्थों के होता है और अप्रति-रूपविनय केवली के होता है।

३०१. यह तीन प्रकार का प्रतिरूपलक्षण विनय बताया गया है। अनाशातना विनय के बावन प्रकार हैं।

३०२, ३०३. तीर्थंकर, सिद्ध, कुल, गण, संघ, क्रिया, धर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, स्वविर, उपाध्याय और गणी—ये तेरह पद अनाशातना, भक्ति, बहुमान तथा वर्णसंज्वलना (सद्भूत गुणोत्कीर्तना)—इन चारों से गुणित होने पर बावन हो जाते हैं— $13 \times 4 = 52$ ।

३०४. द्रव्य स्वयं ही अथवा जिस द्रव्य से समाधि होती है वह द्रव्य अथवा जो द्रव्य तुला को सम करता है, वह द्रव्य द्रव्यसमाधि है। भावसमाधि के चार प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

वसवां अध्ययन : समिक्षा

३०५. 'सकार' के चार निक्षेप हैं—नामसकार, स्थापनासकार, द्रव्यसकार और भाव-सकार। द्रव्यसकार प्रशंसा आदि विषयक होता है तथा भावसकार है—सकारोपयुक्त जीव।

३०६. निर्देश, प्रशंसा और अस्तिभाव—इन तीन अर्थों में 'सकार' का प्रयोग होता है। प्रस्तुत अध्ययन में निर्देश-सकार और प्रशंसा-सकार का अधिकार है।

३०७. तीर्थंकरों ने दशवैकालिक सूत्र में जिन भावों को अनुष्ठेय बतलाया है, उनका अन्त तक आचरण करने वाला भिक्षुशील भिक्षु ही भिक्षु कहलाता है।

३०७।१. चरक (परिव्राजक), मरुक (ब्राह्मण) आदि भिक्षोपजीवी व्यक्तियों का निरसन करने के लिए बताया गया है कि जो भिक्षु इस अध्ययन में अभिहित गुणों से युक्त होता है, वह सद्भिक्षु होता है। यहां 'सकार' प्रशंसा अर्थ में निदिष्ट है।

३०८. भिक्षु शब्द के निक्षेप, निरुक्त, एकार्थक, लिंग (संवेग आदि) तथा जो भिक्षु अगुणों में अवस्थित है, वह भिक्षु नहीं होता—ये सारे द्वार कथनीय हैं। इस प्रसंग में प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों का कथन भी होगा।

३०९. भिक्षु शब्द के चार निक्षेप हैं—नामभिक्षु, स्थापनाभिक्षु, द्रव्यभिक्षु और भावभिक्षु। द्रव्यभिक्षु के दो भेद हैं—आगमतः द्रव्यभिक्षु तथा नो-आगमतः द्रव्यभिक्षु। द्रव्यभिक्षु का एक भेद और है, जो आगे कहा जा रहा है।

३१०. भेदक होता है पुरुष। भेदने का साधन होता है—परशु आदि। भेत्तव्य होता है—काष्ठ आदि। इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करूंगा।

३११. जैसे लकड़ी का काम करने वाला वर्षकी भेदन और भेत्तव्य से संयुक्त होकर द्रव्य-भिक्षु कहलाता है वसी प्रकार अन्यान्य याचक तथा अविरत लोग भी द्रव्यभिक्षु हैं।

३१२. जो गृहस्थ का जीवन यापन करते हुए विषयों में आसक्त रहते हैं, ऋजुप्रज्ञ (भोले) व्यक्तियों के पास याचना करते हैं, वे द्रव्यभिक्षु हैं। तथा जो आजीविका के निमित्त दान—कृपण अर्थात् कार्पटिक आदि भिक्षा के लिए घूमते हैं, वे भी द्रव्यभिक्षु हैं।

३१३. जो मिथ्यादृष्टि हैं, सदा पृथिवी आदि स्थावर जीवों तथा हीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की हिंसा में रत रहते हैं, जो अन्नहाचारी और संचयशील हैं, वे भी द्रव्यभिक्षु हैं।

३१४. जो द्विपद, चतुष्पद, घन, धान्य तथा कुप्य आदि को ग्रहण करने के लिए तीन करण और तीन योग से निरत हैं, जो सचित्तभोजी हैं, जो पचन-पाचन में रत हैं तथा जो उद्दिष्ट-भोजी हैं, वे द्रव्यभिक्षु हैं।

३१५. जो तीन करण और तीन योग से, अपने लिए, दूसरों के लिए अथवा दोनों के लिए, प्रयोजनवश या अप्रयोजनवश पाप कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, वे द्रव्यभिक्षु हैं।

३१५।१. स्त्री—दासी आदि का ग्रहण करने से, आज्ञा-दान आदि भावसंग से—परिणामों की अशुद्धि से और शुद्ध तपश्चरण का अभाव होने से कुसीयिक अन्नहाचारी^१ हैं अर्थात् अतपस्वी हैं।

३१६. भावभिक्षु दो प्रकार का होता है—आगमतः और नोआगमतः। भिक्षु पदार्थ का ज्ञाता तथा उसमें उपयुक्त व्यक्ति आगमतः भावभिक्षु है। जो भिक्षुगुण का संवेदक है, वह नो-आगमतः भावभिक्षु है। भिक्षु शब्द के तीन निरुक्त हैं—भेदक, भेदन और भेत्तव्य।

३१७. आगमतः उपयुक्त मुनि भेदक है। दोनों प्रकार का तप—बाह्य और आभ्यन्तर भेदन (साधन) है और आठ प्रकार के कर्म भेत्तव्य हैं। आठ प्रकार के कर्मों का भेदन करने वाला भिक्षु होता है—यह भिक्षु का निरुक्त है।

३१८. कर्मों का भेदन करता हुआ मुनि भिक्षु होता है, संयम-गुणों में यत्न करने वाला यति होता है। सत्तरह प्रकार के संयम का अनुष्ठान करने वाला संयम-चरक होता है। भव—संसार का वन्त करता हुआ वह भवान्त होता है।

३१९. भिक्षामात्रवृत्ति होने से मुनि भिक्षु कहलाता है। अण- कर्मों का क्षय करने के कारण 'क्षपण', तथा तप-संयम में उद्यमशील होने से तपस्वी होता है। इस प्रकार भिक्षु के अन्यान्य पर्याय भी होते हैं।

३२०-३२२. तीर्ण, शायी, द्रव्य, व्रती, सान्त, दांत, विरत, मुनि, तापस, प्रज्ञापक, ऋजु, भिक्षु, बुद्ध, यति, विद्वान्, प्रवर्जित, अनगार, पाषण्डी, चरक, ब्राह्मण, परिव्राजक, श्रमण, निर्यन्ध, संयत, मुक्त, साधु, रुक्ष, तीरार्थी—ये तप-संयम में रत भावभिक्षु के पर्यायवाची नाम हैं।

३२३, ३२४. संवेग, निर्वेद, विषय-परित्याग, सुशील-संसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, विनय, क्षान्ति, मार्दव, आज्ञा, विमुक्ति, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक-परिशुद्धि—ये भावभिक्षु के लिये—चिह्न हैं।

१. हाटी प० २६१ : अन्नहाचारिण इति, ब्रह्मसूत्रेण शुद्धं तपोभिधीयते।

३२५. इस अध्ययन में कथित गुणों वाला व्यक्ति भावभिक्षु होता है और इन गुणों से रहित मुनि भावभिक्षु नहीं होता—यह प्रतिज्ञा वाक्य है। हेतु है—अगुणत्वात्—मुनि के योग्य गुणों का अभाव होने से और दृष्टान्त है—सुवर्ण।

३२६. स्वर्ण के आठ गुण हैं—

१. विषघाति—विष को नष्ट करने में समर्थ।
२. रसायन—व्यस्तंभन करने वाला।
३. मंगलार्थ—मार्गलिक प्रयोजनों में प्रयुक्त।
४. विनीत—परिवर्तित होने की क्षमता।
५. प्रदक्षिणावर्त्त—तप्त होने पर जिसका आवर्त्त दक्षिण की ओर हो।
६. गुरुक—सारसंपन्न।
७. अदाह्य—अग्नि में न जलने वाला।
८. अकुचनीय—कभी कुचिit न होने वाला।

३२७. जो स्वर्ण कष, छेद, ताप और ताडना—इन चार कारणों से परिशुद्ध होता है, वही विषघातक, रसायन आदि गुणों से युक्त होता है।

३२८. जो समस्त गुणों से समन्वित होता है, वही स्वर्ण होता है। जो कष, छेद आदि से परिशुद्ध नहीं होता, वह युक्तिमुवर्ण—कृत्रिम स्वर्ण होता है। इसी प्रकार नाम और रूप मात्र से मुनिगुणों से विकल कोई भी मुनि भिक्षु नहीं होता।

३२९. युक्तिमुवर्ण अर्थात् कृत्रिम स्वर्ण को भी जात्य स्वर्ण के वर्ण जैसा कर दिया जाता है, पर उसमें शेष गुण कष, छेद आदि न होने से वह यथार्थ में सोना नहीं होता।

३३०. प्रस्तुत अध्ययन में भिक्षु के जो गुण बताए गए हैं, उनके द्वारा ही वह भावभिक्षु होता है। पीत वर्ण वाले जात्यस्वर्ण में अन्यान्य गुण होने से ही वह शुद्ध स्वर्ण होता है।

३३१. जो भिक्षु भिक्षु-गुणों से शून्य है, वह भिक्षा ग्रहण करने मात्र से भिक्षु नहीं हो जाता। जैसे कष आदि गुणों के अभाव में वर्णवान् कृत्रिम स्वर्ण शुद्ध स्वर्ण नहीं हो जाता।

३३२. जो उद्दिष्टकृत भोजन करता है, षड्जीवनिकाय की हिसा करता है तथा प्रत्यक्षतः सजीव जल पीता है, वह भिक्षु कैसे हो सकता है ?

३३३. इसलिए इस अध्ययन में भिक्षु के जो गुण बताए गए हैं, उन गुणों से युक्त मुनि ही भावभिक्षु होता है। वह उन मूल और उत्तर गुणों की आराधना से भाविततर—चारित्र्यधर्म में भावित होता है।

प्रथम चूलिका : रतिवाक्या

३३४. 'चूडा' शब्द के चार निक्षेप हैं—द्रव्यचूडा, क्षेत्रचूडा, कालचूडा और भावचूडा। दशवैकालिक श्रुत का यह 'उत्तरतंत्र' है। इसमें दशवैकालिक श्रुत से ही अर्थ का ग्रहण तथा संग्रहणी—उक्त तथा अनुक्त अर्थों का संक्षिप्त संग्रह है।

३३५. द्रव्यचूडा के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। कुक्कुट चूडा सचित्त है। मणिचूडा अचित्त है। मयूरशिखा मिश्र है। क्षेत्रचूडा है—लोकनिष्कुट, मन्दरचूडा तथा कूट आदि।

३३६. अतिरिक्त अधिक मासों और अधिक संवत्सरों को कालचूडा कहते हैं। भावचूडा साधोपशमिक भाव है। इस प्रकार ये चूडाएं ज्ञातव्य हैं।

३३७. द्रव्यरति के दो प्रकार हैं—कर्मद्रव्यरति और नोकर्मद्रव्यरति। अनुदय प्राप्त रतिभेदनीय कर्मद्रव्यरति है और शब्द आदि द्रव्य नोकर्मद्रव्यरति है।

३३८. शब्द, रस, रूप, गंध और स्पर्श—ये रतिकारक द्रव्य हैं। यह द्रव्यरति है। कर्मों के उदय से होने वाली रति भावरति है। इसी प्रकार अरति को समझना चाहिए।

३३९. परीवर्तों के उदय से अरति उत्पन्न हो सकती है। मोक्षसुख की आकांक्षा से उसे सम्यक् रूप से सहन करना चाहिए।

३४०. वाक्य के विषय में गहरे (सामान्य अर्थवाक्यों में) कदा आ चूका है। प्रस्तुत चूडा में धर्म में रति उत्पन्न करने वाले वाक्य हैं, इसलिए इसका नाम 'रतिवाक्या' है।

३४१, ३४२. जिस प्रकार रोगी के फोड़े का सीवन-श्लेदन किया जाना उसके लिए हितकर होता है तथा गलबन्ध आदि से अपथ्य का प्रतिषेध तथा आमदोषविरति करना उसके आरोग्य के लिए होता है वैसे ही आठ प्रकार के कर्मरोग से पीड़ित जीव की चिकित्सा के लिए धर्म में रति तथा अधर्म में अरति का होना गुणकारक है।

३४३. जो मुनि स्वाध्याय, संयम, तप, वैद्यावृत्त्य और ध्यानयोग में रमण करता है तथा असंयम में रमण नहीं करता, वह सिद्धि को प्राप्त होता है।

३४४. इसलिए धर्म में रतिकारक और अधर्म में अरतिकारक जो स्थान, इस अध्ययन में निश्चित हैं, उनका सम्यग् अवबोध करना चाहिए।

दूसरी चूलिका : विविक्तचर्या

३४५. दूसरी चूलिका-अध्ययन में पूर्वोक्त चार प्रकार का अधिकार है। शेष द्वारों का क्रमशः कथन किया जाएगा।

३४६. साधु की विहारचर्या के आधार पर साधु के दो भेद हैं—द्रव्यतः साधु—शरीरभक्ष्य तथा भावतः साधु—संयत अर्थात् संयतगुण का संवेदक भावसाधु। प्रस्तुत अध्ययन में भावसाधु की अवगृहीता—अनियत तथा प्रगृहीता—अभिग्रहों से युक्त विहारचर्या का प्रतिपादन है।

१. आदि शब्द से वृत्तिकार ने अधोलोक के सीमन्तक, तिर्यग्लोक के मन्दर पर्वत तथा ऊर्ध्वलोक के ईशप्रारम्भारा का ग्रहण किया है। (हाटी प० २७०)

२. प्रथम चूलिका में द्रव्यचूडा, क्षेत्रचूडा, काल-

चूडा और भावचूडा का ग्रहण है (गाथा ३३४)। वृत्तिकार ने यहां नामचूडा, स्थापनाचूडा, द्रव्यचूडा और भावचूडा का ग्रहण किया है। (हाटी प० २७८)

३४७. अनिकेतवास, प्रतिरक्तता (एकान्तवास), अज्ञात तथा सामुदायिक भिक्षा, अल्प उपधि, अकलह—यह ऋषियों की प्रशस्त विहारचर्या/जीवनचर्या है।

३४८. मुनि मनक ने इस दशवैकालिक सूत्र को छह महीनों में पढ़ लिया। उसका प्रव्रज्याकाल इतना ही था। उसके बाद वह समाधिभरण को प्राप्त हो गया।

३४९. मुनि मनक के दिवंगत होने पर आचार्य शय्यभक्त की आंखों में आनन्द के आंसू आ गए। यशोधर आदि प्रमुख शिष्यों ने इसका कारण पूछा तो आचार्य शय्यभक्त ने मुनि मनक को अपना संसारपक्षीय पुत्र बताते हुए उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा दशवैकालिक सूत्र के निर्युक्ति का इतिवृत्त कह सुनाया। दशवैकालिक सूत्र को अब सुरक्षित रखा जाए या नहीं, इस प्रसंग पर संघ में विचार-विमर्श चला और इस आगम को भव्य जीवों के लिए बहुत कल्याणकारी बताया गया। तब से आज तक इस आगम का अध्ययन जैन परम्परा में अविच्छिन्न रूप से चल रहा है।

विषयानुक्रम

१. उत्तर शब्द के निक्षेप
२. उत्तर और अनुत्तर का स्वरूप
३. उत्तराध्ययन के अध्ययन का क्रम।
४. उत्तराध्ययन के स्रोत।
५. अध्ययन शब्द का निक्षेप तथा एकार्थक।
- ६,७. अध्ययन शब्द की व्युत्पत्ति।
८. आचार्य की दीपक से उपमा।
९. भाव आय का स्वरूप तथा एकार्थक।
१०. द्रव्यक्षपणा का स्वरूप।
११. भावक्षपणा का स्वरूप।
१२. श्रुतस्कन्ध के निक्षेप।
- १३-१७. उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों के नाम।
- १८-२६. अध्ययनों की विषयवस्तु।
२७. प्रत्येक अध्ययन के व्याख्या की प्रतिज्ञा।

पहला अध्ययन

२८. विनयश्रुत के उपक्रम आदि द्वार।
- २८।१,२. अध्ययन के चार प्रकार और विनयश्रुत के साथ उनकी संयोजना।
- २८।३,४. अध्ययन शब्द का निरुक्त।
२९. श्रुत शब्द के निक्षेप।
३०. संयोग शब्द के छह निक्षेप।
- ३१-६४. संयोग के भेद-प्रभेद।
६५. द्रुष्ट और आकीर्ण छोड़े के एकार्थक।

दूसरा अध्ययन

- ६६-६८. परीषह के निक्षेप।
६९. भावपरीषह के द्वार।
७०. कर्मप्रवाद पूर्व में परीषहों का वर्णन।
- ७१,७२. परीषहों का अधिकारी।
७३. परीषहों का समवतरण।
- ७४-७९. कर्मप्रकृति और परीषहों का सम्बन्ध।
८०. किस साधु में कितने परीषह?
- ८१,८२. परीषह और नय।

८३. एक समय में एक व्यक्ति में उत्कृष्ट परीषहों की संख्या।
८४. परीषहों का कालमान।
८५. सनत्कुमार चक्रवर्ती द्वारा सात सौ वर्षों तक परीषह-सहन।
८६. परीषहों का क्षेत्र-विमर्श।
८७. उद्देश आदि तीन द्वारों का कथन।
- ८८,८९. बाबीस परीषहों की कथाओं का संकेत।
९०. सुधा परीषह में हस्तीभूति का उदाहरण।
९१. वृषा परीषह में धनशर्मा मुनि का कथानक।
९२. शीत परीषह में भद्रबाहु के शिष्यों का उदाहरण।
९३. उष्ण परीषह में अर्हन्नक की कथा।
९४. दंशमशक परीषह में सुमनभद्र मुनि की घटना।
- ९५-९८. वस्त्र परीषह में सोमदेव मुनि का उदाहरण।
- ९९,१००. रति-अरति परीषह का उदाहरण।
- १०१-१०६. स्त्री परीषह में मुनि स्थूलभद्र का उदाहरण।
१०७. चर्या परीषह में संगम आचार्य का उदाहरण।
१०८. नैवेधिकी परीषह में कुरुदत्त की कथा।
- १०९,११०. शय्या परीषह की कथा का संकेत।
१११. आक्रोश परीषह में अर्जुनमाली का कथानक।
- ११२-११४. वद परीषह में स्कन्दक आचार्य की कथा।
११५. याचनापरीषह में बलदेव तथा अलाभ परीषह में हंढण मुनि का उदाहरण।
११६. रोग परीषह में कालवैशिक मुनि का उदाहरण।
११७. तृणस्पर्श परीषह के अन्तर्गत भद्र मुनि की घटना।
११८. मैल परीषह में सुनंद श्रावक की कथा।
११९. सत्कार परीषह में इंद्रदत्त पुरोहित की कथा।
१२०. प्रज्ञा परीषह का उदाहरण।
- १२१,१२२. ज्ञान परीषह के अन्तर्गत दो कथाओं का संकेत।

१२३-१४१. दर्शन परीषद् में आचार्य आपाङ्गभूति की कथा तथा अन्य अनेक कथानक।

तीसरा अध्ययन

१४२. एक शब्द के सात निक्षेप।
 १४३. संख्या शब्द के निक्षेप।
 १४४. अंग शब्द के चार निक्षेप।
 १४५. द्रव्य अंग के प्रकार।
 १४६-१४८. गन्ध द्रव्य के निर्माण की विविधता और उनकी फलश्रुति। वासवदत्ता एवं उदयन का उदाहरण।
 १४९, १५०. औषधि के अंग प्रतिपादन में अनेक रोगों को हरने वाली गुटिका के निर्माण की विधि।
 १५१. मद्यंग के निर्माण की विधि।
 १५२. आतोद्य अंगों के प्रकार।
 १५३, १५४. शरीर के अंग और उपांग।
 १५५. गुह्यंग के प्रकार।
 १५६, १५७. भाव अंग के भेद-प्रभेद।
 १५८. शरीरांग के एकार्थक।
 १५९. भावांग-संयम (दया) के एकार्थक।
 १६०. संसार में दुर्लभ क्या?
 १६१. मानव जीवन की दुर्लभता के दस दृष्टांत।
 १६२. मानव जीवन के दुर्लभ अंग।
 १६३, १६४. प्रेम श्रवण में होने वाले व्याक्षेप।
 १६५, १६६. मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि जीव का लक्षण।
 १६७-१७२. निह्व प्रकरण—निह्वों के वाद, प्रवर्तक, नगर तथा उनका अस्तित्व-काल।

चौथा अध्ययन

१७३. प्रमाद और अप्रमाद शब्द के चार-चार निक्षेप।
 १७४. पांच प्रकार के प्रमाद और अप्रमाद।
 १७५. प्रमादाप्रमाद अध्ययन का निह्व।
 १७६. असंस्कृत शब्द की निर्युक्ति।
 १७७. करण शब्द के छह निक्षेप।
 १७८. द्रव्यकरण के दो प्रकार।
 १७९. नोसंज्ञाकरण के दो प्रकार—प्रयोगकरण और विसंज्ञाकरण।

१८०, १८१. विसंज्ञाकरण की व्याख्या और प्रकार।

१८२. प्रयोगकरण के दो प्रकार।

१८२/१, २. शरीर के अंग और उपांग।

१८३, १८४. जीवमूलप्रयोगकरण।

१८५, १८६. उत्तर प्रयोगकरण के भेद।

१८७. अजीव प्रयोगकरण के भेद।

१८७/१. द्रव्यकरण के भेद-प्रभेद।

१८८. क्षेत्रकरण का स्वरूप।

१८९. कालकरण का स्वरूप।

१९०-१९२/१. प्रकारान्तर से करण के ग्यारह भेद तथा ध्रुवकरण और चलकरण।

१९३-१९६. भावकरण के भेद-प्रभेद।

१९७. अप्रमत्त रहने का निर्देश।

१९८, १९९. द्रव्यदीप तथा भावदीप के भेद-प्रभेद।

पांचवा अध्ययन

- २००, २०१. काम और मरण शब्द के निक्षेप।
 २०२. द्रव्यमरण, भावमरण आदि का स्वरूप।
 २०३, २०४. प्रस्तुत अध्ययन के द्वारों का निर्देश।
 २०५-२०७. मरण के अवीचि आदि १७ भेदों के नाम।
 २०८. अवीचि के एकार्थक तथा उसके भेद।
 २०९. अवधिमरण का स्वरूप।
 २१०. बलमरण तथा वशास्त मरण का स्वरूप।
 २११-२१३. अन्तःशल्यमरण का स्वरूप तथा उसकी गति।
 २१४, २१५. तद्भवमरण का स्वरूप।
 २१६. बालमरण, पंडितमरण तथा मिथ्यमरण का स्वरूप।
 २१७. छद्मस्थमरण और केवलमरण के अधिकारी।
 २१८. गृध्रपूष्ठ और वैहायस मरण का स्वरूप।
 २१९, २२०. भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन मरण का प्रतिपादन।
 २२१, २२२. एक समय में कितने मरण संभव?
 २२३. एक समय में होने वाले मरण की संख्या।
 २२४. प्रशस्त और अप्रशस्त मरण कितनी बार?
 २२५, २२६. 'कतिभाग' मरणद्वार का प्रतिपादन।
 २२७. अध्ययन की निर्युक्ति का उपसंहार।
 २२८. प्रशस्त मरण के भक्तपरिज्ञा आदि तीन भेद।

२२९. सकाम मरण की प्रशंसा ।

छठा अध्ययन

२३०. महत् और क्षुल्लक शब्द के निक्षेप ।

२३१, २३२. निर्ग्रन्थ शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

२३३. निर्ग्रन्थों के प्रकार ।

२३४. ब्राह्म और आश्विन्य ग्रन्थों के भेद ।

२३५. चौदह प्रकार के आश्विन्य ग्रन्थों (बंधनों) का नामोल्लेख ।

२३६. दस प्रकार के ब्राह्म ग्रन्थों (बंधनों) का नामोल्लेख ।

२३७. क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय अध्ययन का निष्कर्ष ।

सातवां अध्ययन

२३८, २३९. उरभ्र शब्द के निक्षेप तथा भेद-प्रभेद ।

२४०. औरञ्जीय अध्ययन का निरुक्त ।

२४१. प्रस्तुत अध्ययन के काकिणी आदि पांच दृष्टान्तों का उल्लेख ।

२४२. प्रस्तुत अध्ययन का निष्कर्ष ।

२४२/१. दीर्घायु का लक्षण ।

आठवां अध्ययन

२४३, २४४. कपिल शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

२४५. कापिलीय अध्ययन का निरुक्त ।

२४६-५२. कपिल के गृहस्थ और मुनि जीवन की कथा का उल्लेख ।

नवां अध्ययन

२४३, २४४. नमि शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

२४५. नमिप्रव्रज्या अध्ययन का निरुक्त ।

२४६. प्रव्रज्या शब्द के निक्षेप तथा द्रव्य और भाव प्रव्रज्या का स्वरूप ।

२४७-२७२. करकंडु, दुर्मख, नमी तथा नमगति राजाओं के वैराग्योत्पत्ति के कारणों का निर्देश ।

दसवां अध्ययन

२७३, २७४. द्रुम शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

२७५. भावद्रुम की व्याख्या तथा पत्र शब्द के निक्षेप ।

२७६. द्रुमपत्र अध्ययन के नाम की सार्थकता ।

२७७. शाल-महाशाल का पृष्ठचंपा में आगमन ।

२७८. गायलि की प्रव्रज्या ।

२७९-२९९. भगवान् महावीर का उपदेश तथा गौतम द्वारा सिद्ध पर्वत की यात्रा । दत्त, कौडिन्य तथा शैवाल—तीनों तापसों का संसर्ग, गौतम द्वारा प्रव्रज्या, तीनों की कैवल्योत्पत्ति के कारणों का निर्देश तथा गौतम की अश्रुति और उसका समाधान ।

३००-३०२. पांडुर पत्र तथा कोपल के संवाद की अर्थ-वत्ता तथा उपमा का उल्लेख ।

ग्यारहवां अध्ययन

३०३. बहु, श्रुत और पूजा—इन तीनों शब्दों के निक्षेप तथा द्रव्यबहु का उल्लेख ।

३०४. भाव बहु का वर्णन ।

३०५. द्रव्यश्रुत और भावश्रुत का स्वरूप ।

३०६. भव्य और सम्यक् दृष्टि का श्रुत है सम्यक् श्रुत तथा कर्मनिर्जरा का कारण ।

३०७. मिथ्यादृष्टि और अभव्य का श्रुत है मिथ्या-श्रुत तथा कर्मबंध का कारण ।

३०८. द्रव्यपूजा का स्वरूप ।

३०९. भावपूजा का स्वरूप ।

३१०. भावपूजा के अधिकारी ।

बारहवां अध्ययन

३११, ३१२. हरिकेश शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

३१३. हरिकेशीय अध्ययन का निरुक्त ।

३१४, ३१५. हरिकेश का पूर्वभव तथा उसके वैराग्योत्पत्ति का कारण ।

३१६. चंडाल शब्द के एकार्थक ।

३१७-३२१. हरिकेश के वर्तमान जन्म की कथा, विरक्ति का कारण तथा अभिनिष्क्रमण ।

तेरहवां अध्ययन

३२२, ३२३. चित्र और संभूत शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

३२४. चित्रसंभूत अध्ययन का निरुक्त ।

३२५-३५२. चित्र और संभूत के पूर्वभव का वर्णन तथा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के जीवन-संकेत ।

चौवहवां अध्ययन

३५३, ३५४. इषुकार शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

३५५. इषुकारीय अध्ययन का निरुक्त ।

३५६-३६६. इषुकार आदि के पूर्वभव तथा वर्तमान भव के कथा-संकेत ।

पन्द्रहवां अध्ययन

३६७, ३६८. भिक्षु शब्द के निक्षेप, उसके भेद-प्रभेद तथा निरुक्त ।

३६९, ३७०. द्रव्यभेत्ता और भावभेत्ता ।

३७१. राग, द्वेष, विकल्पा आदि आठ पदों की सुध (शुद्धा) संज्ञा ।

३७२. उत्तम भिक्षु की पहचान ।

सोलहवां अध्ययन

३७३. एक शब्द के सात निक्षेप ।

३७४. दश शब्द के निक्षेप तथा उसकी व्याख्या ।

३७५. ब्रह्म शब्द के निक्षेप तथा द्रव्यब्रह्म का स्वरूप ।

३७६. भावब्रह्म का स्वरूप और वर्जनीय स्थान ।

३७७. चरण शब्द के छह निक्षेप तथा द्रव्यचरण आदि का स्वरूप ।

३७८. समाधि के निक्षेप तथा द्रव्य और भाव-समाधि का स्वरूप ।

३७९. स्थान शब्द के पन्द्रह निक्षेप ।

सत्तरहवां अध्ययन

३८०. पाप शब्द के निक्षेप तथा द्रव्यपाप आदि का स्वरूप ।

३८१. भावपाप का स्वरूप ।

३८२. श्रमण शब्द के निक्षेप तथा द्रव्य और भाव-श्रमण का स्वरूप ।

३८३. पापश्रमण कौन ?

३८४. पापस्थान वर्जित का फल ।

अठारहवां अध्ययन

३८५, ३८६. संजय शब्द का निक्षेप तथा उसके भेद ।

३८७. संजतीय अध्ययन का निरुक्त ।

३८८-३९८. नरपति 'संजय' की जीवन-कथा, आचार्य गर्दभाती का प्रतिबोध और महाराज संजय की प्रव्रज्या ।

उन्नीसवां अध्ययन

३९९, ४००. मृग शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

४०१. भावमृग का वर्णन तथा पुत्र शब्द के निक्षेप ।

४०२. मृगपुत्रीय अध्ययन का निरुक्त ।

४०३-४१५. मृगापुत्र का जीवनवृत्त, जातिस्मृति से बोधिलाम, माता-पिता की अनुज्ञा से संयम-ग्रहण, उदकृष्ट आसन्न्य का पालन, मोक्ष-गमन ।

बीसवां अध्ययन

४१६. श्रुल्लक और महत् शब्द के निक्षेप ।

४१७, ४१८. निर्ग्रन्थ शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

४१९-४२१. निर्ग्रन्थ के प्रज्ञापना, वेद आदि ३७ द्वार ।

४२२. महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन का निष्कर्ष ।

इक्कीसवां अध्ययन

४२३. समुद्रपाल शब्द के निक्षेप तथा भेद-प्रभेद ।

४२४. समुद्रपालीय अध्ययन का निरुक्त ।

४२५-४३६. समुद्रपाल की जन्मकथा, विवाह, वैराग्योत्पत्ति का कारण, दीक्षा तथा मोक्ष-प्राप्ति ।

बावीसवां अध्ययन

४३७, ४३८. रथनेमि शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

४३९. रथनेमीय अध्ययन का निरुक्त ।

४४०, ४४१. रथनेमि के माता, पिता, भाई आदि के नाम ।

४४२. अरिष्टनेमि तीर्थंकर । रथनेमि और सत्यनेमि—दोनों प्रत्येक बुद्ध ।

४४३, ४४४. रथनेमि तथा राजीमती का पथवि-परिमाण आदि ।

तेवीसवां अध्ययन

४४५, ४४६. गौतम शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

४४७. भावगीतम का स्वरूप तथा केशी शब्द के निक्षेप ।

४४८. केशीगीतम अध्ययन का निरुक्त ।

४४९-४५१. केशीगीतम के संवाद के विषयों का संकेत ।

चौबीसवां अध्ययन

४४२, ४५३. प्रवचन शब्द के निक्षेप और उसके भेद-प्रभेद ।

४५४, ४५५. माता शब्द के निक्षेप और उसके भेद-प्रभेद ।

४५६. प्रवचनमाता अध्ययन का निरुक्त ।

पचसीसवां अध्ययन

४५७, ४५८. यज्ञ शब्द के निरुक्त और उसके भेद-प्रभेद ।

४५९. यज्ञीय अध्ययन का निरुक्त ।

४६०-४६६. जयघोष और विजयघोष मुनि की कथा ।

छब्बीसवां अध्ययन

४७७, ४७८. साम शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

४७८।१, २. सामाचारी के दश भेदों का नामोल्लेख ।

४७९, ४८०. आचार शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

४८१. सामाचारी अध्ययन का निरुक्त ।

सत्ताईसवां अध्ययन

४८२, ४८३. खलुं क शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

४८४. खलुं क (बुष्ट) ब्रैल के लक्षण ।

४८५. द्रव्य खलुं क का स्वरूप ।

४८६. बक्र कभी ऋजु नहीं हो सकते ।

४८७. अविनीत शिष्य को मच्छर आदि की उपमा ।

४८८, ४८९. खलुं क—अविनीत शिष्य के लक्षण ।

४९०. खलुं क भाव को छोड़कर ऋजु बनने की प्रेरणा ।

अष्टाईसवां अध्ययन

४९१, ४९२. मोक्ष शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन ।

४९३, ४९४. मार्ग शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन ।

४९५, ४९६. गति शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन ।

४९७. मोक्षमार्गगति अध्ययन का निरुक्त ।

उनतीसवां अध्ययन

४९८. प्रस्तुत अध्ययन के तीन नाम ।

४९९, ५००. अप्रमाद शब्द के निक्षेप, उसके भेद-प्रभेद तथा भाव अप्रमाद का स्वरूप ।

५०१, ५०२. श्रुत शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

५०३. भावश्रुत के प्रकार ।

५०४. अप्रमाद अध्ययन के नाम की सार्थकता ।

तीसवां अध्ययन

५०५, ५०६. तप शब्द के निक्षेप, उसके भेद-प्रभेद तथा भावतप के प्रकार ।

५०७. मार्ग और गति के निक्षेप का पूर्वोल्लेख ।

५०८. तपोमार्गगति अध्ययन का निरुक्त ।

इकतीसवां अध्ययन

५०९, ५१०. चरण शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख ।

५११, ५१२. विश्रि शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

५१३. चरणविधि के अनुसार आचरण करने का निर्देश ।

बत्तीसवां अध्ययन

५१४, ५१५. प्रमाद शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।

५१६. स्थान शब्द के पन्द्रह निक्षेप ।

५१७. प्रमाद को छोड़कर अप्रमत्त रहने का निर्देश ।

५१८. हजार वर्ष उग्र तपश्चरण करने वाले आदि-कर ऋषभ के एक अहोरात्र प्रमादकाल का कथन ।

५१९. भगवान् महावीर के साधक बारह वर्ष के साधनाकाल में अन्तर्मुहूर्त काल मात्र के प्रमाद का कथन ।

५२०. प्रमाद से संसार-भ्रमण ।

५२१. प्रमाद को छोड़कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में अप्रमत्त रहने का निर्देश ।

तेतीसवां अध्ययन

- ५२२-५२४. कर्म शब्द के निक्षेप और उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख ।
 ५२५-५२७. प्रकृति शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख ।
 ५२८. कर्म प्रकृतियों के संवरण तथा निर्जरा का उपदेश ।

चौतीसवां अध्ययन

- ५२९, ५३०. लेश्या शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख ।
 ५३१. जीवलेश्या के भेद ।
 ५३२, ५३३. अजीवद्रव्यलेश्या के दस प्रकार तथा उनके नामोल्लेख ।
 ५३४. द्रव्यकर्मलेश्या के कृष्ण, नील आदि छह प्रकार ।
 ५३५, ५३६. भावलेश्या के प्रकार और उनका स्वरूप ।
 ५३७. लोकर्मद्रव्यलेश्या के भेद ।
 ५३८. अध्ययन शब्द के निक्षेप तथा भेद-प्रभेद ।
 ५३९. भाव अध्ययन का स्वरूप ।
 ५४०. अप्रशस्त लेश्या को छोड़कर प्रशस्त लेश्या में ध्यान करने का निर्देश ।

पेतीसवां अध्ययन

- ५४१, ५४२. अनगार शब्द के निक्षेप, उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख तथा भाव अनगार का स्वरूप ।
 ५४३. मार्ग और गति के निक्षेप के पूर्वोल्लेख का निर्देश ।

छत्तीसवां अध्ययन

- ५४४, ५४५. जीव शब्द के निक्षेप, उसके भेद-प्रभेद तथा भाव-जीव के दस परिणामों का उल्लेख ।
 ५४६, ५४७. अजीव शब्द के निक्षेप, उसके भेद-प्रभेद तथा भाव-अजीव के दस परिणामों का उल्लेख ।
 ५४८, ५४९. विभक्ति शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।
 ५५०. सिद्ध आदि की विभक्ति का निरूपण ।
 ५५१. भावविभक्ति का उल्लेख तथा प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यविभक्ति के अधिकार का उल्लेख ।
 ५५२, ५५३. उत्तराध्ययन को पढ़ने के अधिकारी और अनधिकारी गौण ?
 ५५४. गुरु प्रसाद से इसका सांगोपांग अध्ययन संभव ।

गाथाओं का समीकरण

उत्तराख्ययन निर्युक्ति की गाथाएं चूणि और शान्त्याचार्य की टीका दोनों में मिलती हैं। पर प्रकाशित चूणि में गाथा का केवल संकेतमात्र है उसमें गाथा संख्या नहीं है। संपादन में हमने कुछ गाथाओं के बारे में विमर्श किया है अतः संपादित गाथा संख्या और टीका की गाथा संख्या में कुछ अंतर होना स्वाभाविक है। पाठकों की सुविधा के लिए हम यहां संपादित गाथा एवं प्रकाशित शान्त्याचार्य की टीका में आई गाथाओं का चार्ट प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे टीका की गाथा खोजने में सुविधा हो सके।

संपादित	पंटी	संपादित	पंटी	संपादित	पंटी
१	१	२५	२५	४९	४८
२	२	२६	२६	५०	४९
३	३	२७	२७	५१	५०
४	४	२८	२८	५२	५१
५	५	२९	२९	५३	५२
६	६	३०	३०	५४	५३
७	७	३१	३१	५५	५४
८	८	३२	३२	५६	५५
९	९	३३	३३	५७	५६
१०	१०	३४	३४	५८	५७
११	११	३५	३५	५९	५८
१२	१२	३६	३६	६०	५९
१३	१३	३७	३७	६१	६०
१४	१४	३८	३८	६२	६१
१५	१५	३९	३९	६३	६२
१६	१६	४०	४०	६४	६३
१७	१७	४१	४१	६५	६४
१८	१८	४२	४२	६६	६५
१९	१९	४३	४३	६७	६६
२०	२०	४४	४४	६८	६७
२१	२१	४५	४५	६९	६८
२२	२२	४६	४६	७०	६९
२३	२३	४७	४७	७१	७०
२४	२४	४८	X	७२	७१

संपादित	उटी	संपादित	उटी	संपादित	उटी
७३	७२	१०५	१०४	१३६	१३६
७४	७३	१०६	१०५	१३७	१३७
७५	७४	१०७	१०६	१३८	१३८
७६	७५	१०८	१०७	१३९	१३९
७७	७६	१०९	१०८	१४०	१४०
७८	७७	११०	१०९	१४१	१४१
७९	७८	१११	११०	१४२	१४२
८०	७९	११२	१११	१४३	१४३
८१	८०	११३	११२	१४४	१४४
८२	८१	११४	११३	१४५	१४५
८३	८२	११५	११४	१४६	१४६
८४	८३	११६	११५	१४७	१४७
८५	८४	११७	११६	१४८	१४८
८६	८५	११८	११७	१४९	१४९
८७	८६	११९	११८	१५०	१५०
८८	८७	१२०	१२०	१५१	१५१
८९	८८	१२१	१२१	१५२	१५२
९०	८९	१२२	१२२	१५३	१५३
९१	९०	१२३	१२३	१५४	X
९२	९१	१२४	१२४	१५५	१५५
९३	९२	१२५	१२५	१५६	१५६
९४	९३	१२६	१२६	१५७	१५७
९५	९४	१२७	१२७	१५८	१५८
९६	९५	१२८	१२८	१५९	१५९
९७	९६	१२९	१२९	१६०	१६०
९८	९७	१३०	१३०	१६१	१६०
९९	९८	१३१	१३१	१६२	X
१००	९९	१३२	१३२	१६३	१६०
१०१	१००	१३३	१३३	१६४	१६१
१०२	१०१	१३४	१३४	१६५	१६२
१०३	१०२	१३५	१३५	१६६	१६३
१०४	१०३	१३६	१३६	१६७	१६४

१. टीका में ११८ के बाद १२० का अंक है।

२. टीका में १६० का अंक दो बार आया है।

संपादित	उटी	संपादित	उटी	संपादित	उटी
१६८	१६५	१८८	१९६	२२१	२२७
१६९	१६६	१८९	१९७	२२२	२२८
१७०	X	१९०	१९८	२२३	२२९
१७१	X	१९१	१९९	२२४	२३०
१७२	X	१९२	२००	२२५	२३१
१७२।१	X	१९२।१	उगा	२२६	२३२
१७२।२	१६७	१९३	२०१	२२७	२३३
१७२।३	१६८	१९४	२०२	२२८	२३४
१७२।४	१६९	१९५	२०३	२२९	२३५
१७२।५	१७०	१९६	२०४	२३०	२३६
१७२।६	१७१	१९७	२०५	२३१	२३७
१७२।७	१७२	१९८	२०६	२३२	२३८
१७२।८	१७३	१९९	२०७	२३३	२३९
१७२।९	१७४	२००	२०८	२३४	२४०
१७२।१०	१७५	२०१	X	२३५	२४१
१७२।११	१७६	२०२	२०९	२३६	२४२
१७२।१२	१७७	२०३	२१०	२३७	२४३
१७२।१३	१७८	२०४	२११	२३८	२४४
१७२।१४	भा १	२०५	२१२	२३९	२४५
१७२।१५	भा २	२०६	२१३	२४०	२४६
१७३	१७९	२०७	२१४	२४१	२४७
१७४	१८०	२०८	२१५	२४२	२४८
१७५	१८१	२०९	२१६	२४३	२४९
१७६	१८२	२१०	२१७	२४४	२५०
१७७	१८३	२११	२१८	२४५	२५१
१७८	१८४	२१२	२१९	२४६	२५२
१७९	१८५	२१३	२२०	२४७	२५३
१८०	१८६	२१४	२२१	२४८	२५४
१८१	१८७	२१५	X	२४९	२५५
१८२	१८८	२१६	२२२	२५०	२५६
१८२।१	१८९	२१७	२२३	२५१	२५७
१८२।२	१९०	२१८	२२४	२५२	२५८
१८३	१९१	२१९	२२५	२५३	२५९
१८४	१९२	२२०	२२६	२५४	२६०
१८५	१९३	२२१	२२७	२५५	२६१
१८६	१९४	२२२	२२८	२५६	२६२
१८७	१९५	२२३	२२९	२५७	२६३

संपादित	उटी	संपादित	उटी	संपादित	उटी
२५६	२६३	२८५	२९२	३१६	३२३
२५७	२६४	२८६	२९३	३१७	३२४
२५८ ^१	२६५	२८७	२९४	३१८	३२५
२५९	२७१	२८८	२९५	३१९	३२६
२६०	X	२८९	२९६	३२०	X
२६१	X	२९०	२९७	३२१	३२७
२६२	२७२	२९१	२९८	३२२	३३० ^१
२६२।१	२७३	२९२	२९९	३२३	३३१
२६३	२६६	२९३	३००	३२४	३३२
२६४	२६७	२९४	३०१	३२५	३३३
२६५	२६८	२९५	३०२	३२६	३३४
२६६	२६९	२९६	३०३	३२७	३३५
२६६।१	२७०	२९७	३०४	३२८	३३६
२६७	२७४	२९८	३०५	३२९	३३७
२६८	२७५	२९९	३०६	३३०	३३८
२६९	२७६	३००	३०७	३३१	३३९
२७०	२७७	३०१	३०८	३३२	३४०
२७१	२७८	३०२	३०९	३३३	३४१
२७२	२७९	३०३	३१०	३३४	३४२
२७३ ^१	२८०	३०४	३११	३३५	३४३
२७४	२८१	३०५	३१२	३३६	३४४
२७५	२८२	३०६	३१३	३३७	३४५
२७६	२८३	३०७	३१४	३३८	३४६
२७७	२८४	३०८	३१५	३३९	३४७
२७८	२८५	३०९	३१६	३४०	३४८
२७९	२८६	३१०	३१७	३४१	३४९
२८०	२८७	३११	३१८	३४२	३५०
२८१	२८८	३१२	३१९	३४३	३५१
२८२	२८९	३१३	३२०	३४४	३५२
२८३	२९०	३१४	३२१	३४५	३५३
२८४	२९१	३१५	३२२	३४६	३५४
				३४७	३५५

१. २५८-२६७ तक गाथाओं की व्याख्या में चूणि और टीका में कमव्यत्यय है।

२. २७३ की गाथा के स्थान पर टीका में "नामं ठवणा दविए" का संकेत है।

३. टीका में ३२७ के बाद ३३० का अंक है।

संपादित	उत्ती	संपादित	उत्ती	संपादित	उत्ती
३४८	३५५	३७७	३८३	४०६	४१०
३४९	३५६	३७८	३८४	४०७	४११
३५०	३५७	३७९	३८५	४०८	४१२
३५१	३५८	३८०	३८६	४०९	४१३
३५२	३५९	३८१	३८७	४१०	४१४
३५३	३६०	३८२	३८८	४११	४१५
३५४	३६१	३८३	३८९	४१२	४१६
३५५	३६२	३८४	३९०	४१३	४१७
३५६	३६३	३८५	३९१	४१४	४१८
३५७	३६४	३८६	३९२	४१५	४१९
३५८	३६५	३८७	३९३	४१६	४२०
३५९	३६६	३८८	३९४	४१७	४२१
३६०	३६७	३८९	३९५	४१८	४२२
३६१	३६८	३९०	३९६	४१९	४२३
३६२	३६९	३९१	३९७	४२०	४२४
३६३	३७०	३९२	३९८	४२१	४२५
३६४	३७१	३९३	४००	४२२	४२६
३६५	३७२	३९४	४०१	४२३	४२७
३६६	३७३	३९५	४०२	४२४	४२८
३६७	३७४	३९६	४०३	४२५	४२९
३६८	३७५	३९७	४०४	४२६	४३०
३६९	३७६	३९८	४०५	४२७	४३१
३७०	३७७	३९९	४०६	४२८	४३२
३७१	३७८	४००	४०७	४२९	४३३
३७२	३७९	४०१	४०८	४३०	४३४
३७३	३८०	४०२	४०९	४३१	४३५
३७४	३८१	४०३	४१०	४३२	४३६
३७५	३८२	४०४	४११	४३३	४३७
३७६	३८३	४०५	४१२	४३४	४३८

१. ३५५ का अंक टीका में दो बार दिया हुआ है।

२. टीका में ३७९ का अंक दो बार दिया है।

३. टीका में ३८६ का अंक नहीं है।

४. टीका में ४०१ का अंक दो बार दिया है।

५. टीका में ४०८ के बाद पुनः ४०७ का अंक है।

६. टीका में ४२५ के बाद पुनः ४२२ का अंक है।

संपादित	उटी	संपादित	उटी	संपादित	उटी
४३४	४३४	४६७	४७०	४९८	५०३
४३५	४३५	४६८	४७१	४९९	५०४
४३६	४३६	४६९	४७२	५००	५०५
४३७	४३७	४७०	४७३	५०१	५०६
४३८	४३८	४७१	४७४	५०२	५०७
४३९	४३९	४७२	४७५	५०३	५०८
४४०	४४३ ^१	४७३	४७६	५०४	५०९
४४१	४४४	४७४	४७७	५०५	५१०
४४२	४४५	४७५	४७८	५०६	५११
४४३	४४६	४७६	४७९	५०७	५१२
४४४	४४७	४७७	४८०	५०८	५१३
४४५	४४८	४७८	४८१	५०९	५१४
४४६	४४९	४७८।१	४८२	५१०	५१५
४४७	४५०	४७८।२	४८३	५११	५१६
४४८	४५१	४७९	४८४	५१२	५१७
४४९	४५२	४८०	४८५	५१३	५१८
४५०	४५३	४८१	४८६	५१४	५१९
४५१	४५४	४८२	४८७	५१५	५२०
४५२	४५५	४८३	४८८	५१६	५२१
४५३	४५६	४८४	४८९	५१७	५२२
४५४	४५७	४८५	४९०	५१८	५२३
४५५	४५८	४८६	४९१	५१९	५२४
४५६	४५९	४८७	४९२	५२०	५२५
४५७	४६०	४८८	४९३	५२१	५२६
४५८	४६१	४८९	४९४	५२२	५२७
४५९	४६२	४९०	४९५	५२३	५२८
४६०	४६३	४९१	४९६	५२४	५२९
४६१	४६४	४९२	४९७	५२५	५३०
४६२	४६५	४९३	४९८	५२६	५३१
४६३	४६६	४९४	४९९	५२७	५३२
४६४	४६७	४९५	५००	५२८	५३३
४६५	४६८	४९६	५०१	५२९	५३४
४६६	४६९	४९७	५०२		

संपादित	उटी	संपादित	उटी	संपादित	उटी
५३८	५३५	५३९	५४४	५४७	५५२
५३९	५३६	५४०	५४५	५४८	५५३
५४०	५३७	५४१	५४६	५४९	५५४
५४१	५३८	५४२	५४७	५५०	५५५
५४२	५३९	५४३	५४८	५५१	५५६
५४३	५४०	५४४	५४९	५५२	५५७
५४४	५४१	५४५	५५०	५५३	५५८
५४५	५४२	५४६	५५१	५५४	५५९
५४६	५४३				

उत्तराध्ययन-निर्युक्ति

१. नामं ठवणा दविए, खेत दिसा ताव खेत पणवए ।
पति^१ काल-संचय-पहाण-नाण-कम गणणतो भावे^२ ॥
२. जहन्नं सूत्तरं^३ खलु, उक्कोसं वा अणुत्तरं होइ ।
सेसाणि^४ उत्तराई, अणुत्तराइ च नेयाणि^५ ॥
३. 'कम उत्तरेण'^६ पगतं, आयास्सेव उवरिमाई^७ तु ।
तम्हा उ उत्तरा खलु^८, अज्झयणा होति नायव्वा ॥
४. अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया ।
बंधे मोक्खे य कया, छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥
५. नामं ठवणज्झयणे, दव्वज्झयणे य भावज्झयणे ।
एमेव य अज्झोणे, आयज्झवणे^९ वि य तहेव ॥
६. अज्झप्पस्साणयणं, कम्माणं 'अवचओ उवचियाणं'^{१०} ॥
अणुवचओ य^{११} नवाणं, तम्हा अज्झयणमिच्छंति^{१२} ।

१. पव (ह) ।

२. कतपवयणप्पणामो, वोच्छं घम्माणुयोगसंगहियं ।
उत्तरज्झयणणुयोगं, गुरुवएसाणुसारेणं ॥१॥
तस्स फल-जोग-मंगल, समुदायत्था तहेव दाराइ ।
तब्भेय-निरुत्त-क्कम, पयोयणाइं च वच्चाइं ॥२॥

ये दोनों गाथाएं चूर्णि तथा किसी हस्तप्रति में 'नामं ठवणा दविए' गाथा से पूर्व मिलती हैं । टीकाकार ने इनकी व्याख्या नहीं की है । यह चूर्णिकार का मंगलाचरण भी हो सकता है । ये दोनों गाथाएं विशेषावश्यक भाष्य में श्रध्यान्तर से मिलती हैं—
कतपवयणप्पणामो, वोच्छं चरणगुणसंगहं सयलं ।
आवासयाणुयोगं, गुरुवएसाणुसारेणं ॥

तस्स फल-जोग-मंगल,
समुदायत्था तहेव दाराइ ।
तब्भेय निरुत्त-क्कम
पयोयणाइं च वच्चाइं ॥

(विभाकोटि भा० १, २)

३. सउत्तरं (ला, ह, वू) ।

४. सेसाइं (शां) ।

५. नेयाइं (ला, ह) ।

६. कमुत्त० (वू) ।

७. ० माई (ला) ।

८. खलु: वाक्यालंकारेज्वधारणे वा (शांटी प ५) ।

९. आएज्झ० (ला, ह) ।

१०. उवचओवचि० (ह) ।

११. व (ला, शां) ।

१२. देखें—अनुदा ६२१।१, दशनि २६ ।

७. अधिगम्मन्ति व अत्या, अणेण^१ अधिगं व णयणमिच्छन्ति ।
अधिगं व^२ साहु गच्छन्ति, तम्हा अज्झयणमिच्छन्ति^३ ॥
८. जह् दीवा दीवसयं, पदिप्पए^४ सो य दिप्पती^५ दीवो ।
दीवसमा आयरिया, दिप्पन्ति^६ परं च दीवेति^७ ॥
९. भावे पसत्थमियरो, नाणादी कोहमादिओ^८ कमसो ।
आउत्ति^९ आगमोत्ति य, लाभोत्ति य होति एगट्ठा ॥
१०. पल्हत्थिया अपत्था^{१०}, तत्तो उप्पिट्ठणा अपत्थयरी ।
निप्पीलणा अपत्था, तिन्नि अपत्थाइं पोत्तीए ॥
११. अट्ठविहं कम्मरयं, पोराणं जं^{११} खवेइ जोगोहि ।
एयं भावज्झयणं^{१२}, णेयव्वं आणुपुब्बीए ॥
१२. सुतखंधे^{१३} निक्खेवं, णामादि चउव्विहं पख्वेउं ॥
'नामाणि य अहिगारे'^{१४}, अज्झयणाणं पवक्खामि^{१५} ॥
१३. विणयसुयं च परीसह, चउरंगिज्जं असंखयं चेव^{१६} ।
अकाममरणं नियंठि^{१७}, ओरब्भं काविलिज्जं च^{१८} ॥
१४. नमिपव्वज्ज^{१९} दुमपत्तयं च, बहुसुयपुज्जं तहेव हरिएसं ॥
'चित्तसंभूति उमुयारिज्जं'^{२०}, सभिव्खु^{२१} समाहिठाणं^{२२} च ॥
१५. पावसमणिज्जं तह संजइज्जं^{२३} मियचारिया नियंठिज्जं ।
समुदपालिज्जं रहनेमिज्जं^{२४}, केसिगोतमिज्जं च ॥

१. इमेण (ला, ह) ।
२. य (ला) ।
३. वणनि २७ ।
४. ०प्पई (ला, ह) ।
५. दिप्पए (शां) ।
६. अप्यं च (शां) ।
७. दीवति (शां), अनुवा ६४३।१, दशानि २८ ।
८. ० मादितो (ला), मकारस्थालाक्षणिकत्वात्
कोष्ठादिकः (शांटी प ६)
९. आसोत्ति (ला) ।
१०. अमत्था (ह) ।
११. जी (ह) ।
१२. ०ज्झयणं (शां) ।
१३. सुतखंधे (ला) ।

१४. णामाणहिगारे वि य (ह) ।
१५. इस गाथा का चूणि में संकेत नहीं है किन्तु
संक्षिप्त व्याख्या प्राप्त है ।
१६. होइ (ह) ।
१७. नियंठिज्जं (ह) ।
१८. १३-१७ तक की गाथाओं के लिए चूणि में
'विणयसुयं च परीसह जाव जीवाजीवाभि-
गमोत्ति' मात्र इतना उल्लेख है ।
१९. ०पवज्जा (ह) ।
२०. चित्तसंभूतोमुया० (ला), ०संभूय उमु० (ह) ।
२१. सभिव्खुयं (ला, ह) ।
२२. ०हिट्ठाणं (ला) ।
२३. संजइज्जं (शां) ।
२४. ०नेमीयं (शां, ह) ।

१६. समिद्धो^१ जण्णइज्जं, सामायारी 'तहा खलुंकिज्जं ।
मोक्खगति अप्पमादो, तव-चरण-पमायठाणं च'^२ ॥
१७. कम्मप्पगढी लेसा, बोधव्वे^३ खलुअण्णारमव्वे^४ य ।
जीवाजीवविभत्ती^५, छत्तीसं उत्तरज्जयणा ॥
१८. पढमे विणओ 'वित्तिए, परीसहा'^६ दुल्लभंगता तत्तिए ।
अधिगारो 'य चउत्थे'^७, होइ 'पमादप्पमाए त्ति'^८ ॥
१९. मरणविभत्ती पुण पंचमम्मि विज्जाचरणं च 'छट्ठ अज्जयणे'^९ ।
रसगेहिपरिच्चाओ, सत्तमे अट्ठमे^{१०} 'अलाभो य'^{११} ॥
२०. निक्कंपया य नवमे^{१२}, दसमे अणुसासणोवमा भणिया ।
एक्कारसमे पूया, तवरिद्धी चेव बारसमे ॥
२१. तेरसमे य णियाणं, अनियाणं चेव होइ चउदसमे^{१३} ।
भिक्खुगुणा पन्नरसे^{१४}, सोलसमे बंभगुत्तीओ ॥
२२. पावाण वज्जणा खलु, सत्तरसे^{१५} भोगिद्धिविज्जहणट्टारे^{१६} ।
'एगूणे अप्पडिकम्म'^{१७}, अणाहया चेव बीसइमे ॥
२३. 'चरिया य विचित्ता'^{१८} एक्कवीसे बावीसमे^{१९} 'धिरं चरण'^{२०} ।
तेवीसइमे धम्मो, चउवीसइमे य समितीओ ॥
२४. 'बंभगुणा पणवीसे'^{२१}, सामायारी य होइ छव्वीसे ।
सत्तावीसे असढया, अट्ठावीसे य मोक्खगती ॥

१. ०इओ (शां) ।	११. य लोभे (ला) ।
२. खलुंकि मोक्खगती । अप्पमादो तवो मग्गो चरणविहि पमायठाणं च (ला,ह) ।	१२. नवमं (ह) ।
३. बोधव्वे (शां) ।	१३. चोदसमे (ह,ला) ।
४. ०अण्णार० (ला,ह) ।	१४. पन्नरसमे (ला) ।
५. ०विभत्ति (शां) ।	१५. यहां सत्तर शब्द रखने से छंद भंग नहीं होता है । लेकिन सभी प्रतियों में सत्तरसे पाठ उपलब्ध है ।
६. बीए परि० (शां) ।	१६. ०विचयणट्टारे (ला,ह) ।
७. उ चउत्थम्मि (ला) ।	१७. एकूणे अपडिकम्म (ह), ०अप्परिकम्मे (शां) ।
८. ०माएण (ला,ह), १८ से २६ तक की गायार्थों के लिए चूर्णि में "पढमे विणओ गाहा, एवं अत्थाहिगारगाहा भाणियव्वाओ" मात्र इतना उल्लेख है ।	१८. चरियविचित्ता (ला,ह) ।
९. छट्ठए भणियं (ला,ह) ।	१९. बावीसतिमे (ह) ।
१०. अट्ठमि (शां) ।	२०. धितीय चरणं च (ला,ह) ।
	२१. बंभगुण पन्नवीसे (शां) ।

२५. एगुणतोसे^१ आवस्सगप्पमादो^२ तवो य^३ होइ तीसइमे ।
चरणं च एकतीसे, वत्तीसे पमायठाणाइ^४ ॥
२६. तेत्तीसइमे कम्मं, चउतीसइमे^५ य होंति लेसाओ ।
भिवखुगुणा पणतीसे^६, जीवाजीवा य छत्तीसे ॥
२७. 'उत्तरज्झयणाणोसो, पिडत्थो'^७ वाण्णतो समासेणं ॥
एत्तो एक्केकं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥
२८. तत्थज्झयणं पढमं, विणयसुतं तस्सुवक्कमादीणि ।
दाराणि परूवेउं^८, अधिगारो एत्थ^९ विणएणं^{१०} ॥
- २८।१. ओहो जं सामन्नं, सुताभिहाणं चउच्चिहं तं च ।
अज्झयणं अज्झीणं, आयो भवणा य पत्तेयं^{११} ॥
- २८।२. नामादिचउब्भेयं, वण्णेऊणं सुयाणुसारेणं ।
विणयसुयं आउज्जं, चउसुं पि कमेण भावेसुं ॥
- २८।३. जेण सुहृप्पज्झयणं, अज्झप्पाणयणमहियणयणं वा ।
बोधस्स संजमस्स य, भोक्खस्स व तो तमज्झयणं ॥
- २८।४. अक्खीणं दिज्जंतं, अब्बोच्छित्तिणयतो अलोगो व ।
आओ नाणादीणं, भवणा पावाण कम्माणं ॥
२९. विणयो^{१२} पुब्बुद्धिदो, सुतस्स चउक्कओ उ निक्खेवो ।
दव्वसुयनिण्हगादी, भावसुय सुए उ उवउत्तो ॥
३०. संजोगे निक्खेवो, छक्को दुविहो उ दव्वसंजोगे ।
संजुत्तगसंजोगो, नायव्वियरेयरो चेव ॥

१. एगुणत्तीसइमे (ला,ह) ।

२. ०गप्पमादो (ह), ० पमातो (ला) ।

३. X (ह) ।

४. टाणाइ (ला) ।

५. चोत्तीसतिमे (ला,ह) ।

६. पणु० (ह) ।

७. उत्तरज्झयणाण पिडत्थे (चू) ।

८. पन्नवेउं (शा) ।

९. तत्थ (ला,ह) ।

१०. चूणि में यह गाथा रूप में संकेतित नहीं है, केवल भावार्थ प्राप्त है ।

११. २८।१-४ तक की चार गाथाएं 'ला' और 'ह' आदर्शों में उपलब्ध हैं । टीका और चूणि में

ये निर्युक्ति गाथा के क्रम में न होकर उद्धृत गाथा के रूप में स्वीकृत हैं । सूत्रतः ये गाथाएं विशेषावश्यक भाष्य की हैं । संभव है लिपिकरों ने इनको भी निर्युक्ति गाथाओं के साथ जोड़ दिया है । उक्ति १५ में अध्ययन के एकार्थक दिए हैं, वही बात २८।१ की गाथा में है । निर्युक्तिकार ऐसी पुनरुक्ति नहीं करते । इसके अतिरिक्त विषय की दृष्टि से भी २८वीं गाथा के बाद २९वीं गाथा क्रमबद्ध लगती है । १२. विनय का वर्णन देखें दशनि २८६-३०१ तक । शांत्याचार्य की टीका में ये गाथाएं उद्धृत गाथा के रूप में हैं । (देखें शांटी प १६, १७) ।

३१. संजुतगसंजोगो, सच्चित्तादीण^१ होइ दववाणं ॥
 दुममणु^२ सुवण्णमादी, संततिकम्मेण जीवस्स ॥
३२. मूले-फंदे-खंधे^३, तयाय साले^४ पवालपत्तोहि^५ ।
 पुप्फ-फले बीएहि य, संजुत्तो होइ दुममादी^६ ॥
३३. एगरस एगवण्णे, एगे मंधे^७ तथा दुफासे य ।
 परमाणू खंधेहि य, दुपदेसादीहि विण्णेयो^८ ॥
३४. जह धातू कणगादी, सभावसंजोगसंजुया होति ।
 इय संततिकम्मेण, अणाइसंजुत्तओ^९ जीवो ।
३५. इतरेतरसंजोगो परमाणूणं तथा पदेसाणं ॥
 अभिपेयमणभिपेओ^{१०}, अभिलावो चेव संबंधो ॥
३६. दुविहो परमाणूणं, हवति य संठाणखंधतो चेव ।
 संठाणे पंचविहो, दुविहो पुण होइ खंधेसु ॥
३७. परमाणुपुगला खलु^{११}, दोप्पि व बहुगा य संहता संता ।
 निव्वत्तयति खंधं, तं संठाणं अणित्थंत्वं^{१२} ॥
३८. परिमंडले य वट्टे, तंसे 'चउरंस आयए'^{१३} चेव ।
 घणपयर^{१४} पढमवज्जं, ओयपदेसे य जुम्मे य ॥
३९. पंचग बारसगं खलु, सत्तग वत्तीसगं च^{१५} वट्टम्मि ।
 तिय छक्कग पणतीसा, चत्तारि य होति तंसम्मि ॥
४०. नव चेव तथा चउरो, सत्तावीसा य अट्ट चउरसे ।
 तिग-दुग पन्नरसे वि^{१६} य, छव्वेव य आयए होति ॥

१. सच्चित्ता० (ला) ।

२. दुममणु (ह), मकारस्यालाक्षणिकत्वात् (शांटी प २३) ।

३. ०खंधे (ला) स्कन्धे इति सर्वत्र सूत्रत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी (शांटी प २३) ।

४. 'साले'ति एकारोऽलाक्षणिकः (शांटी प २४) ।

५. ०पत्ते य (ह) ।

६. 'दुममाह'ति मकारोऽलाक्षणिकः (शांटी प २४) ।

७. मंधे ति (ह) ।

८. पेयवो (ला), नायवो (ला) ।

९. ०संबद्धतो (ला) ।

१०. अभिपेय अभिपेतो (ला) ।

११. खलुगब्धोऽत्र विशेषं द्योतयति (शांटी प २६) ।

१२. अणिच्छत्तं (ह) ।

१३. मायए (शां) ।

१४. वनप्रतरं, प्राकृतत्वात् बिन्दुलोपः (शांटी प २७) ।

१५. तु (शां), ३९-४१ तक की गाथाओं का चूणि में गाथा रूप में संकेत नहीं मिलता किन्तु व्याख्या प्राप्त है ।

१६. व (ह, ला) ।

४१. 'पणयालीसा बारस'^१, छब्भेया आययम्मि संठाणे ।
वीसा चत्तालीसा, परिमंडलगे उ संठाणे ॥
- ४१।१ णिद्धस्स णिद्धेण दुहाहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुहाहिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेति बंधो, जह्मवज्जो विसमो समो वा^२ ॥
४२. धम्मादिपदेसाणं, पंचण्ह उ जो पदेससंजोगो ।
तिण्ह^३ पुण अणादीओ, सादीओ होति दोण्हं तु ॥
४३. अभिपेतमणभिपेतो, पंचसु विसएसु होति नायव्वो ।
अणुलोमोऽभिपेतो^४, अणभिपेतो य^५ पडिलोमो ॥
४४. सव्वा ओसघज्जुत्ती^६, गंधज्जुत्ती य भोवमविहो^७ य ।
रागविहि गीतवादिताविहो^८, अभिपेतमणुलोमा^९ ॥
४५. अभिलावे संजोगो, ढव्वे खेत्ते य कालभावे य ।
दुगसंजोगादीओ, अवखरसंजोगमादीओ ॥
४६. संबंधणसंजोगो, सच्चित्ताचित्तमीसओ चेव ।
दुपदादि हिरण्णादी, रह-तुरगादी य बहुधा उ ॥
४७. खेत्ते काले य तहा, दोण्ह वि दुविहो उ होइ संजोगो ।
भावम्मि होइ दुविहो, आदेसे चेवऽणादेसे ॥
४८. आदिट्ठो आदेसंसि, बहुविहे सरिसनाण-चरणगते ।
सामित्त पच्चयाइम्मि चेव किञ्चित्तओ वोच्छं^{१०} ॥
४९. 'ओदइय'^{११} ओवसमिए, खइए य तहा खओवसमिए य^{१२} ।
परिणाम-सखिवाए, य छव्विहो होतऽणादेसो^{१३} ॥

१. पणयाला बारसगं (ह) ।
२. प्रस्तुत गाथा प्रज्ञापना सूत्र (१३।२२।२) की है । टीकाकार और चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है । ला और ह प्रति में यह गाथा प्राप्त है । यह गाथा निगा की नहीं होनी चाहिए ।
३. तिग्नि (ह, ला) ।
४. अणुलोमं अभिपेतो (ला, ह) ।
५. उ (ह) ।
६. तोसघ० (ला) ।
७. होयण० (ला) ।
८. ०विही य (ला, ह) ।
९. ०प्येत अणु० (ह) ।

१०. 'ला' तथा अन्य हस्त आदर्शों में यह गाथा उपलब्ध है लेकिन टीकाकार और चूर्णिकार ने न इसकी सूचना दी है और न व्याख्या की है । टीका के संपादक ने 'स्वचिदम प्राक्' इतना उल्लेख करके इस गाथा को टिप्पण में दिया है । किन्तु प्रसंग के अनुसार यह निगा की होनी चाहिए । क्योंकि गाथा में निदिष्ट प्रतिज्ञा के अनुसार इस गाथा की व्याख्या उनि गा. ६० एवं ६१ में है ।
११. ववचित्तु 'उदयिए' सि पठ्यते (शांटी ५ ३३) ।
१२. उदइय-उवसम-खइएसु तह खइए य उवसमिए (चू) ।
१३. होति गा० (चू) ।

५०. आदेसो पुण दुविधो, अप्पियक्वहारऽणप्पितो चेव ।
एक्केक्को पुण तिविहो, अप्पाण^१ परे तदुभए य ॥
५१. ओवसमिए^२ य खइए, खयोवसमिए य पारिणामे य ।
एसो चउव्विहो खलु, नायव्वो अत्तसंजोगो ॥
५२. जो सन्निवाइओ खलु^३, भावो उदएण वज्जितो होइ ।
एक्कारससंजोगो, एसो चिय^४ अत्तसंजोगो ॥
५३. लेसा-कसायवेदण^५, वेदो अण्णाण मिच्छ मीसं च ।
जावइया ओदइया^६, सब्बो सो बाहिरो जोगो ॥
५४. जो सन्निवाइओ^७ खलु, भावो उदएण मीसितो होइ ।
पन्नारससंजोगो, सब्बो सो मीसओ^८ जोगो ॥
५५. बित्तिओ^९ वि य^{१०} आदेसो, अत्ताणे बाहिरे तदुभए य ।
संजोगो खलु भणिओ, तं कित्तेऽहं समासेणं ॥
५६. ओदइय^{११} ओवसमिए^{१२}, खइए य तहा खओवसमिए य ।
परिणाम-सन्निवाए य छव्विहो अत्तसंजोगो ॥
५७. नामम्मि^{१३} य खेरम्मि य, नायव्वो बाहिरो उ^{१४} संजोगो ।
कालेण बाहिरो खलु, मिस्सो^{१५} वि य तदुभए होइ ॥
५८. आयरिय सीस पुत्तो, पिया य जणणी य होइ धूया य ।
भज्जा पत्ति सीउण्हं, 'तमुज्ज छायाऽऽतवे चेव'^{१६} ॥
५९. आयरिओ तारिसओ, जारिसओ नवरि होज्ज सो चेव ।
आयरियस्स वि सीसो, सरिसो सब्बेहि वि गुणेहि ॥

१. अत्ताण (शां) अत्ताण त्ति आर्षत्वादात्मनि (शांटी प. ३३) ।
२. उवसमेण (चू) ।
३. खलु वाक्यालंकारे (शांटी प ३४) ।
४. चिय (ला) ।
५. कषायवेदनं प्राकृतत्वादिबहुलोपः (शांटी प ३४) ।
६. सोद० (ला), ला प्रति तकार बहुल है अतः ऐसे पाठान्तर प्रायः नहीं लिए हैं ।
७. सन्निवाओ (चू) ।

८. मीसिओ (शां) ।
९. बीओ (शां) ।
१०. X (चू) ।
११. उदइओ (ला,ह), ओदयिय (चू) ।
१२. उवस० (ह) ।
१३. प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी (शांटी प ३७) ।
१४. य (ला,शां) ।
१५. मीसो (शां) ।
१६. तमुज्जुछाया तहेव च (ला), तमुज्जु० (ह) ।

६०. एवं नाणे चरणे, सामित्ते अप्पणो य^१ पिउणो त्ति ।
 'मज्झकुले कुलगस्स य अहयं अब्भंतरो म्हि य^२' ॥
६१. पच्चयओ य बहुविहो, निव्वित्ती पच्चओ जिणस्सेव ।
 देहा य बद्धमुक्का, 'माइ-पित्ति-सुयादि'^३ य हवन्ति ॥
६२. संबंधणसंजोगो, कसायबहुलस्स होइ जीवस्स ।
 'पहुणो वा अपहुस्स'^४ व, मज्झं ति ममज्जमाणस्स'^५ ॥
६३. संबंधणसंजोगो, संसाराओ अणुत्तरणवासो ।
 तं छित्तु विप्पमुक्का, 'साधू मुक्का ततो तेण'^६ ॥
६४. संबंधणसंजोगे, खेत्तादीणं विभास जा भणिया ।
 खेत्तादिसु संजोगो, सो चैव विभासितव्वो तु^७ ॥
६५. गंडी गली-भराली, अस्से^८ गोणे य होंति एगट्ठा ।
 आइण्णे य विणीए, य भइए यावि^९ एगट्ठा^{१०} ॥

विणयसुयस्स निज्जुत्तो सम्मत्ता

६६. णासो परीसहाणं, चउव्विहो 'य दुविहो उ दव्वम्मि'^{११} ।
 आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य^{१२} सो तिव्विहो ॥
६७. जाणगसरीर भविए, तव्वतिरित्ते य से^{१३} भवे दुविहे ।
 कम्मे नोकम्मे या^{१४}, कम्मम्मि य अणुदओ भणितो ॥

१. उ (शां) ।

२. मज्झं कुलेऽयमस्स य अहयं अब्भंतरो मि त्ति (शां), मज्झायं कुलयस्स य अहयं अब्भंतरो-म्हि त्ति (शां) प ४०) ।

३. माय-पिय-सुयादय (ला, ह) ।

४. बहुणो व अप्पहुस्स (ला) ।

५. ममिज्जं (ला) ।

६. माइ-पिइ सुआइ (शां) ला प्रति में यह गाथा नहीं है ।

७. य (शां) ।

८. आसे (ला, ह) ।

९. यावि (शां) ।

१०. पूर्णि में इस गाथा का संकेत नहीं है लेकिन

टीकाकार ने (वृत्ति प ४९) इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिकृद्' ऐसा उल्लेख किया है । संभव है यह गाथा बाद की रचना हो क्योंकि प्रायः निर्युक्तिकार अध्ययन के प्रारम्भ में ही निर्युक्ति लिखते हैं बीच में नहीं । यह केवल अकेसी गाथा सूत्रगाथाओं के बीच में आयी है ।

११. दव्वे होइ दुविहो उ (ला, ह), दुव्विहो य दव्वम्मि (शां) ।

१२. उ (ला, ह) ।

१३. सो (ह) ।

१४. जः समुच्चए, दीर्घत्वं च प्राकृतलक्षणान् (शांटी प ७२)

६८. नोकम्मम्मि य तिविहो, सच्चित्ताचित्तमीसओ^१ चेव ।
भावे कम्मस्सुदओ, तस्स उ 'दारा इमे होति'^२ ॥
६९. कत्तो^३ कस्स व दब्बे, [समोतारे]^४ अहियास नए य वत्तणा कालो ।
खेत्तुहेसे पुच्छा, निहेसे सुत्तफासे य ॥
७०. कम्मप्पवायपुब्बे^५, सत्तरसे पाहुडम्मि जं सुत्तं ।
सणयं सउदाहरणं^६, तं चेव इहं पि णातव्वं ॥दारां॥
७१. तिण्हं पि नेगमणओ, परीसहो जाव उज्जुमुत्ताओ ।
तिण्हं इहं गयणां, नीसहो संजए होइ ॥
७२. पढमम्मि अट्ठभंगा, संगह जीवो व^७ अहव नोजीवो ।
ववहारे नोजीवो, जीवइव्वं तु सेसाणं ॥दारां॥
७३. समुतारो^८ खलु दुविहो, पगडो^९ पुरिसेसु चेव नायव्वो ।
एएसि नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुम्बोए ॥
७४. नाणावरणे वेदे, मोहम्मि य अंतराए चेव ।
एएसुं 'कम्मेसुं, आवीसपरीसहा होति'^{१०} ॥
७५. पण्णाऽण्णाण परीसह, नाणावरणम्मि होति दुन्नेते^{११} ।
एक्को य अंतराए, अलाभपरीसहो होइ ॥
७६. अरती अचेल इत्थी, निसीहिया जायणा^{१२} य अक्कोसे ।
सक्कारपुरवकारे, 'चरित्तमोहम्मि सत्तेए'^{१३} ॥
७७. 'अरतीइ दुगुंछाए'^{१४}, पुवेय भयस्स चेव माणस्स ।
कोहस्स य लोहस्स य, उदएण परीसहा सत्त ॥

१. सचित्ता० (ला) ।

२. दाराणिमे हुंति (शां) ।

३. कयरे (ह) ।

४. समोवार (शां), समोतारो (चू), 'समोतारे' शब्द न रहने से छंदभंग नहीं होता ।

५. ०पुब्बा (चू) ।

६. सोवा० (ला, शां, चू) ।

७. य (ह) ।

८. चूर्णि में इस गाथा की व्याख्या है, किंतु गाथा-संस्कृत नहीं है ।

९. समोवारो (शां, ला) ॥

१०. पयडि (शां) ।

११. आवीसं परीसहा हुंति णायव्वो (शां) ।

१२. दोन्नेते (ह) ।

१३. जाइणा (ह) ।

१४. सत्तेए चरित्तमोहम्मि (ला), सत्तेव चरि० (ह) ।

१५. अरतीए० (ला), अरई० (हा), अरई

दुगुंछा य (चू) ।

७८. दंसणमोहे दंसणपरीसहो, नियमसो भवे एगो ।
सेसा परीसहा पुण^१, एक्कारस वेयणिज्जम्मि ॥
७९. पंचेव आणुपुव्वी, चरिया सेज्जा वधे य^२ रोगे य ।
तण-फास 'जल्ल एव'^३ य, एक्कारस वेयणिज्जम्मि ॥
८०. बावीस बादरसंपराए, चउदस^४ य^५ सुहमरागम्मि ।
छउमत्थवीयरोग, चउदस एक्कारस जिणम्मि ॥
८१. एसणमणेसणिज्जं^६, तिण्हं अमाहणअभोयण नयाणं ।
अहियासण बोधव्वा^७, फासुग सदुज्जुसुत्ताणं ॥
८२. जं पप्प नेगमनओ, परीसहो वेयणा य^८ दोण्हं तु ।
वेयण पडुक्क जीवे, उज्जुसुओ सदस्स पुण^९ आया ॥दारं॥
८३. वीसं उक्कोसपदे, वट्ठंति जह्मतो भवति एगो ।
सीउसिण-चरियं, निसीहिया य जुगवं न वट्ठंति ॥दारं॥
८४. वासगसो^{१०} य तिण्हं, मुहुत्तमंतं^{११} च होति उज्जुसुए ।
सदस्स एगसमयं, परीसहो होइ नायव्वो ॥
८५. कंडू अभत्तच्छंदो^{१२}, अच्छीणं वेयणा तहा कुच्छी ।
कासं^{१३} सासं च जरं, अहियासे सत्तवाससए ॥दारं॥
८६. लोगे संधारम्मि य, परीसहा जाव उज्जुसुत्ताओ ।
तिण्हं सदनयाणं, परीसहा होति अत्ताणे ॥
८७. उद्देसो गुरुवयणं, पुच्छा सीसस्स उ मुणेयव्वा ।
'निद्देसो पुणिमे'^{१४} खलु, बावीसं सुत्तफासे य^{१५} ॥

१. खलु (शा) ।

२. व (शा) ।

३. जल्लमेव (शा) ।

४. चोदस (ला, ह) ।

५. x (ला) ।

६. मणेसणेज्जं (चू) ।

७. बोधव्वा (शा) ।

८. इ (ह) ।

९. तू (ला) ।

१०. वासगसो य त्ति आर्षेत्वाद्वर्षाग्रतः (शांटी प ७८) ।

११. मुहुत्तमंतं (ला, ह), मुहुत्तमंतं च इति प्राकृत-
त्वावन्तर्मुहुत्तं (शांटी प ७८) ।

१२. अभत्तच्छंदो (चू) ।

१३. कासं (ला) ।

१४. निद्देसे य इमे (ला, ह) ।

१५. उ (ला) ।

८८. कुमारए नदी लेणे, सिला पंथे महल्लए ।
तावस पडिमा सीसे, अगणी^१ निब्बेव भुगरे ॥दारे॥
८९. वणे रामे पुरे भिक्खा^२, संथारे मल्लधारणे^३ ।
अंगविज्जा सुए भोमे, सीसस्सागमणे इय^४ ॥दारे॥
९०. उज्जेणि^५ हत्थिमित्तो, भोयडपुर^६ हत्थिभूइ खुड्डो य ।
अड्ढीय वेयणट्टो, पादोवगओ य सादिब्ब^७ ॥दारे॥
९१. उज्जेणी धणमित्तो, पुत्तो से खुड्डओ य धणसम्भो ।
'तण्हाइओ अपीओ'^८, कालगओ एलगच्छपहे ॥दारे॥
९२. रायगिहम्मि वयंसा, सीसा चउरो उ^९ मद्वाहुस्स ।
वेभारगिरिगुहाए, सीतपरिगता समाधिगता ॥
९३. तगराए अरहमित्तो^{१०}, दत्तो^{११} अरहन्तओ य भद्दा य ।
वणियमहिलं चइत्ता^{१२}, तत्ताम्मि सिलायले विहरे ॥
९४. चंपाए सुमणभद्दो^{१३} जुवराया धम्मघोससीसो य ।
पंथम्मि मसगपरिपीतसीणितो सो वि कालगतो ॥
९५. वीयभय^{१४} देवदत्ता, गंधारं सावगं पडियरित्ता^{१५} ।
लहइ सयं गुलियाणं, पज्जोतेणाणि उज्जेणि ॥
९६. दट्ठूण चेडिमरणं, पभावई पव्वइत्तु कालगया ।
पुक्खरकरणं गहणं, दसपुर पज्जोयमुयणं^{१६} च ॥
९७. माया य रुद्धसोमा^{१७}, पिया य नामेण 'सोमदेवो त्ति'^{१८} ।
भाया य^{१९} फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्तो य आयरिया^{२०} ॥

१. अगणि (शां), छंद की दृष्टि से अगनी पाठ उचित लगता है । इससे पंचम वर्ण ह्रस्व हो जाता है और आठ वर्ण भी पूरे हो जाते हैं ।
२. भिक्खे (शां) ।
३. ०धारणं (शां) ।
४. वि य (ला) ।
५. उज्जेणी (शां) ।
६. भोगपुरे (शां) ।
७. ०इत्तोप्पीओ (शां) ।
८. य (ह) ।
९. अरिहं (शां, चू) ।

१०. × (ला)
११. चत्ता (ला) ।
१२. सुमिणं (ह, चू) ।
१३. ०भयं (चू), ०भए (ला) ।
१४. पडियरत्ता (ह) ।
१५. ०मुवणं (ला) ।
१६. मद्दं (ला) ।
१७. ०देवत्ति (शां) ।
१८. × (ला) ।
१९. देखें आवनि ७७५ ।

९८. सोहगिरि भद्रगुप्तो, वहरखमणा^१ पठित्तु पुश्वगयं ।
पव्वावितो य भाया, रक्खियखमणेहि जणओ य ॥
९९. अयलपुरे जुवराया^२, सीसो राघस्स^३ नगरिमुज्जेणि^४ ।
अज्जा राहखमणा^५, पुरोहितो रायपुत्तो य ॥
१००. कोसंबीए सेट्ठी, आसी नामेण तावसो तहियं ।
मरिऊण सूयरोण, जातो पुत्तास्स 'पुत्तो त्ति'^६ ॥
१०१. उसभपुरं रायगिहं, पाडलिपुत्तास्स होइ उप्पत्ती ।
नंदे सगडाले थूलभद्द सिरिए वररुई य^७ ॥
१०२. तिण्हं अणगाराणं, अभिगगहो आसि^८ चउण्हमासाणं ।
वसहीमेत्तानिमित्तं, 'को कहि वुत्थो'^९? तिसामेह ॥
१०३. गणियाघरम्मि एक्को, 'बित्तिओ वुत्थो'^{१०} उ वरघवसहीए ।
सप्पवसहीए^{११} तत्तिओ, को दुक्करकारओ इत्थं^{१२} ॥
१०४. वग्घो वा सप्पो वा, सरीरपीडाकरा^{१३} उ भइयव्वा ।
नाणं य^{१४} चरणं वा, 'चरित्तं व'^{१५} न पण्वत्ता भेतुं ॥
१०५. भगवं पि थूलभद्दो, तिक्खे चंकम्मिओ न पुण^{१६} छिन्तो ।
अग्गिसिहाए वुत्थो, चाउम्मासे न पुण^{१७} दड्ढो ॥
१०६. अन्तो वि य अणगारो, भणमाणो हं पि थूलभद्दसमो ।
कंबलओ चंदणियाए^{१८}, भइलितो एगराईए ॥
१०७. कोल्लयरे^{१९} वत्थव्वो, 'दत्तो सीसो य हिडओ तस्स'^{२०} ।
उवहरइ धाइपिडं, अंगुलिजलणा^{२१} य सादिव्वं ॥

१. वयर० (शां) ।	१०. वुत्थो बीओ (शां) ।
२. जुगराया (ला) ।	११. ०हीइ (शां) ।
३. राहस्स (शां) ।	१२. एत्थ (ला) ।
४. नगरमु० (ला), नगरीमु० (शां) ।	१३. ०पीला० (ला) ।
५. राहणखमणा (ला) ।	१४. व (ला, शां) ।
६. सो पुत्तो (ला) ।	१५. चरणं च (ह), चरित्तं व (शां) ।
७. चूणि में १०१ की गाथा संकेत के बाद १०२ से १०६ तक की गाथाओं के लिए 'पंच गाथाओ भाणियव्वाओ' मात्र इतना उल्लेख किया है ।	१६, १७. उण (शां) ।
८. आसी (ला) ।	१८. चंदणयाइ (शां) ।
९. ओ जहि वुत्थो (ला) ।	१९. कोल्लइरे (ला), कोल्लतिरे (निभा ४३९३)
	२०. दत्तो आहिडितो भवे सीसो (निभा) ।
	२१. ०जलणे (ह) ।

१०८. निषखंतो गयपुरातो, कुरुदत्तासुओ गओ य साकेयं ।
पडिमद्वियस्स^१ कुडिया, 'अग्गीसोसम्मि जालेंति'^२ ॥
१०९. कोसंती^३ जग्गदत्तो, सोअदत्तो य सोमदेवो य ।
आयरियसोमभूती^४, दोण्हं पि य होइ नायव्वो ॥
११०. सण्णातिगमण^५ 'वियडे, वेरग्गा'^६ दो वि ते नदीतीरे ।
पादोवगता नदिपूरण उदधि तु उवणीया^७ ॥दारं॥
१११. 'रायगिहे मालारो'^८, अज्जुणओ तस्स भज्ज खंदसिरी ।
मुग्गरपाणो गोट्ठो, सुदंसणो वंदओ णीति ॥
११२. सावत्थी जितसत्तू, धारिणिदेवी^९ य खंदओ पुत्तो ।
धूया पुरंदरजसा, दत्ता^{१०} सा दंडगी^{११} रण्णो ॥
११३. भुणिसुव्वयंतवासी, खंदगपमुहा य कुंभकारकडे ।
देवी पुरंदरजसा, दंडइ पालक्क^{१२} मरुगे^{१३} य^{१४} ॥
११४. पंचसया जंतेणं, वधिता तु पुरोहिण्ण रुट्ठेण ।
रागदोस^{१५} तुलग्गं, समकरणं चित्तयंतेहि^{१६} ॥
११५. जायण परीसहम्मी^{१७}, बलदेवो एत्थ^{१८} होइ आहरणं ।
किसि पारासर ढंडो, अलाभए 'होइ आहरणं'^{१९} ॥दारं॥
११६. महुराएँ कालवेसिय, जंबुय अहिउत्थ मुग्गसेलपुरं ।
राया पडिसेहेती^{२०}, जंबुयरूवेण उवसग्गं ॥

१. पडिमं डियस्स (ला) ।	९. धारणि ० (शां) ।
२. अग्गिसी० (ह), आगया अग्गी जालिति (शां) ।	१०. दिग्गा (ला ह) ।
३. कोसंखि (पू) ।	११. दंडङ्गी (ह) ।
४. ०रिओ० (ह), ० रितो० (ला) ।	१२. पालग्गि (ह), पालग्ग (ला) ।
५. स्वज्ञातिगमनं इत्यर्थे (शांटीप १११), सन्नायग (ह), सन्नातग (ला) ।	१३. मरुए (शां), मरुओ (ह) ।
६. वियडवेर ० (शां) ।	१४. निभा ३९६४ ।
७. चूर्णि में यह गाथा रूप में संकेतित नहीं है किन्तु कथानक के रूप में इसका भावार्थ दिया हुआ है । संभव है यह गाथा बाद में जोड़ी गई है ।	१५. रागदोस (ह) ।
८. ०गिहि मालगारो (शां), ०गिह मालगारो (पू) ।	१६. निभा ३९६५ ।
	१७. ०हम्मि (शां) ।
	१८. इत्थ (शां), तत्थ (ला) ।
	१९. होइआहरणं (ह) ।
	२०. पुरीसोवेती (ला) ।

११७. सावत्थीएँ कुमारो, भद्दो सो चारिओ सि वेरज्जे ।
खारेण तच्छियंगो, तिण्णफासपरीसहं^१ विसहे^२ ॥
११८. चंपाए सुनदो ताम, सावओ जल्लधारणदुगुंछी^३ ।
कोसंबीय^४ दुगंधो^५ उववन्मो^६ तस्स सादिब्बं ॥
११९. महुराएँ इंददत्तो, पुरोहितो साधुसेवओ सेट्ठी ।
पासाय विज्ज पाडण^७, पादच्छिज्जेंदकीले^८ य ॥
१२०. उज्जेणि^९ कालखमणा, सागरखमणा^{१०} सुवण्णभूमीय^{११} ।
इंदो आउयसेसं, पुच्छइ सादिब्बकरणं च ॥
१२१. परितंतो वायणाएँ, गंगाकूले पिया असगडाए^{१२} ।
संवच्छरेह^{१३}हिज्जइ, बारसहि असंखयउभयणं ॥
१२२. इमं च एरिसं तं च, तारिसं पेच्छ केरिसं जायं ।
इय भणइ थूलभद्दो, सन्नाइघरं गतो संतो^{१४} ॥
१२३. ओधाविउकामोवि^{१५} य, अज्जासाढो उ पणियभूमीए^{१६} ।
काळण रायख्वं, पच्छा सीसेण अणुसिट्ठो^{१७} ॥
१२४. जेण^{१८} भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि नायगे ।
सा मे मद्दी अवकमति, जातं सरणतो भयं ॥

१. तण ० (शां) ।
२. विसए (ह) ।
३. दुगुंछी (ला) ।
४. ० बीह (शा) ।
५. दुगुंधी (ला, ह) ।
६. उप्पण्णो (शां) ।
७. पडणं (ला) ।
८. ० छिज्जिदकीले (ला, ह) ।
९. उज्जेणी (शां) ।
१०. ० खवण (ह) ।
११. ० मीए (शां) ।
१२. असगडयाए (ला) ।
१३. ला और ह प्रति में १२२ और १२३ की गाथा में क्रमव्यत्यय है ।
१४. मोहाइओ ० (ला, ह) ।
१५. पणीय ० (शां) ।

१६. अणुसट्ठो (ला), ० सट्ठे (ह), १२३ से १४१ तक की गाथाओं में दर्शन-परीषद् के अन्तर्गत आषाढभूति की कथा है । इनमें १२३ से १४० तक की गाथाएं बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती हैं । क्योंकि प्रायः सभी परीषद्ओं की कथा निर्युक्तिकार ने १-२ गाथाओं में ही दी है । फिर इस परीषद् की कथा के लिए इतनी गाथाएं क्यों ? यह एक चिन्तनीय प्रश्न है । भाषा शैली तथा छन्द की दृष्टि से भी ये गाथाएं अतिरिक्त-सी प्रतीत होती हैं । निशोथ भाष्य की पूर्णि में भी ये गाथाएं मिलती हैं । केवल उनि की गाथा १२३, १२४, १३१ और १४०—ये चार गाथाएं नहीं मिलती तथा १३३ और १३४ की गाथा में क्रमव्यत्यय है ।

१७. जत्तो (निष् पृ २०) ।

१२५. बहुसुतं^१ चित्ताकहं, गंगा वहति पाडलं ।
वुज्जमाणाग ! भहं ते, लव^२ किञ्चि सुभासियं ॥
१२६. जेण रोहति बीयाणि, जेण जीवति कासपा ।
तस्स मज्जे विवज्जामि^३, जातं सरणतो भयं ॥
१२७. जमहं दिया य रातो, तप्पेमि^४ महुसप्पिसा ।
तेण मे उडओ^५ दड्ढो, जातं सरणतो भयं ॥
१२८. वग्घस्स मए भीतेण, पावगो सरणं कतो ।
तेण 'दड्ढं मम अंगं'^६, जातं सरणतो भयं ।
१२९. लंघण-पवण-समत्थो, पुब्बं^७ होऊण 'संपयं कीस'^८ ।
दंडगहियग्गहत्थो,^९ वयंस ! किं^{१०} नामओ वाही ॥
१३०. 'जेट्ठासाडेसु मासेसु, जो पुहे वासि मासो'^{११} ।
तेण मे भज्जते अंगं, जातं सरणतो भयं ॥
१३१. जेण जीवति^{१२} सत्ताणि, निरोहम्मि अणंतए ।
तेण मे भज्जते^{१३} अंगं, जातं सरणतो भयं ॥
१३२. जाव वुत्थं^{१४} सुहं वुत्थं,^{१५} पादवे निरुवद्दे ।
मूलातो उड्ढिया^{१६} वल्ली, जातं सरणतो भयं ॥
१३३. अम्भितरगा^{१७} खुभिता, पेलेत्ति^{१८} बाहिरा जणा ।
दिसं भयह मायंगा, जातं सरणतो भयं ॥
१३४. जत्थ राया सयं चोरो, भंडओ^{१९} य पुरोहितो ।
दिसं भयह नागरगा^{२०}, जातं सरणतो भयं ॥

१. बहुसुतं (ला) ।	११. जेट्ठामूलम्मि मासम्मि, मासो सुहसीयलो (निचू १ पृ २१) ।
२. लव ला (ला, शां) ।	१२. जीवति (ह) ।
३. मरीहामि (निचू १ पृ २०) ।	१३. भज्जंती (चू) ।
४. हुणामि (निचू १ पृ २०) ।	१४, १५. वुच्छं (शां, चू, ला) ।
५. उडओ (ह) ।	१६. उड्ढिया (ला) ।
६. अंगं महुं दड्ढं (निचू १ पृ २०) ।	१७. अंतरा य (ला) ।
७. पुब्बि (ला, ह, चू) ।	१८. पेलेत्ति (ला) ।
८. संपहं (शां), किण्ण चाएसि (निचू १ पृ २०)	१९. भंडओ (शां) ।
९. दंडलतिपग्गहत्थे (निचू), दंडयगहिं (शां) ।	२०. मायरिया (शां)
१०. को (शां) ।	

१३५. 'अचिरगतए य सूरिए'^१, चेइयधूभगए य वायसे ।
घरभित्तिगए^२ य आयवे, सहि ! सुहिओ^३ हु जणो न बुझती ॥
१३६. तुममेव^४ य 'अंब हे ! ^५ लवे, मा हु विमाणय जक्खमागयं ।
जक्खाहइए हु तायए, 'अस्सि दाणि'^६ किमग्ग तातयं ॥
१३७. 'नवमासा कुच्छिधालिए'^७, पासवणे^८ पुरिसे^९ य मद्दिए ।
'धूया मे'^{१०} गेहिए हडे, सलणए^{११}सलणए^{१२} मे य जायए^{१३} ॥
१३८. समयमेव य सुक्ख^{१४} लोविया, अप्पणिया हु वियड्डि^{१५} खाणिया ।
ओवाइयजइओ असी, कि छग्गदा^{१६} वेवेत्ति वग्गशी ॥
१३९. 'कडगे ते कुंडले य ते'^{१७}, अजियक्खि 'तिलए य ते कते'^{१८} ।
पवयणस्स जइहाहकारिए, 'दुट्ठ सेहि ! कत्तोऽसि'^{१९} आगता ॥
१४०. राईसरिसवमेत्ताणि,^{२०} परछिहाणि^{२१} पाससि ।
अप्पणो बिहलमेत्ताणि, पासतो वि न पाससि ॥
१४१. समणो सि^{२२} संजतो असी^{२३}, वंनचारी^{२४} समलेट्ठुकं वणो ।
वेहारिय^{२५} वायओ य ते, जेट्ठज्ज कि ते पडिग्गहे^{२६} ॥

परीसहउभयणस्स निज्जुत्तो सम्मत्ता

१. अतिलुगए य सुलिए (ला, ह) ।
२. ० भित्तिगए (शां, निचू), ० भित्तिगए (ला, ह) ।
३. सुहित्ते (निचू १ पृ २१) ।
४. समयमेव (निचू), तुम एव (चू) ।
५. अम्म हे (शां), अम्मए (निचू, चू) ।
६. अन्नं वाणि (ह), अन्नं दाइ (ला) ।
७. नवमास कुच्छीइ धालिता (शां, चू) ।
८. पासु० (ला) ।
९. पुलिसे (शां) ।
१०. धूता य मे (ला, ह) ।
११. सलणए य अस० (शां) ।
१२. निचू में यह गायक कुछ अंतर के साथ मिलती है—

नवमासा कुच्छिधालिए, सयं भुत्तपुलीसगोलिए ।
धूलियाए मे हडे भत्ता, जायं सरणतो भयं ॥

(निचू १ पृ २१)

१३. सुक्ख (शांटीपा) ।
१४. देशी वचनतः—तडामिका (शांटी प १३८)
१५. छेला (ला, शां) ।
१६. कडए य ते० (ला, ह), कडते य ते कुंडलए (निचू १ पृ २१) ।
१७. तिलयते य ते (शां), तिलए ते य कए (ला) ।
१८. दुट्ठ सेहि कत्तोऽसि (शां) ।
१९. छंद की दृष्टि से सरिसव के स्थान पर 'सरसव' पाठ होना चाहिए ।
२०. ० च्छिंदाइं (ला) ।
२१, २२. य सी (ला) ।
२३. ० चारि (ला) ।
२४. वेहारिय (ह, निचू), वेहाभय (ला) ।
२५. पडिगाहते (निचू १ पृ २१) ।

१४२. नामं ठवणा दविए माउगपद संगहेक्कए चेव ।
पज्जव^१ भावे य तथा, सत्तेते एक्कगा होति^२ ॥
१४३. नामं ठवणा दविए, खेतो काले य गणण भावे य ।
निक्खेवो उ^३ चउण्हं, गणणा^४ संखाए अहिगारो ॥
१४४. नामगं ठवणगं, दब्बगं चेव होइ भावगं ।
एसो खलु अंगस्सा, निक्खेवो चउज्जिहो होइ ॥
१४५. गंधंगमोसधंगं^५, मज्जाउज्जं सरीर-जुद्धंगं ।
एत्तो एक्केक्कं पि य, भेगविहं होइ णायध्वं ॥
१४६. जमदग्गिजडा हरेणुया^६ सबरनियसणियं^७ सपिण्णियं ।
रुक्खस्स य बाहिरातया^८, मल्लियवासित कोडि^९ अगधती ॥
१४७. 'ओसिर-हिरिबेराणं'^{१०}, पलं पलं भद्ददारुणो करिसो ।
सतपुप्फाणं भागो, भागो य तमालपत्तस्स ॥
१४८. एयं ण्हाणं एयं, विलेवणं एस चेव पडवासो^{११} ।
वासवदत्ताइ^{१२} कओ^{१३}, उदयणमभिघारयंतीए^{१४} ॥
१४९. 'दो रयणीओ महिदफलं'^{१५} च तिण्णि य समूसणंगाइं ।
सरसं च कणममूलं, एसा उदगट्टमा गुलिया ॥
१५०. एसा 'उ हणइ कंडु'^{१६}, तिमिरं अवहेडगं^{१७} सिरोरोगं ।
तेइज्जगचाउत्थिगं^{१८}, मूसगसप्पावरद्धं च ॥दारं॥
१५१. सोलस दक्खा भागा, चउरो भागा य धायगीपुप्फे^{१९} ।
आढगमो^{२०} उच्छुरसे, मागहमाणेण मज्जगं ॥दारं॥

१. पज्जय (ला) ।

२. दशनि = ।

३. य (शां) ।

४. गणण (शां) ।

५. गंधंग ओस० (ला) ।

६. ०णुअ (शां) ।

७. सबरियं सणयं (ला) ।

८. बाहिरातया (शां) ।

९. कोडी (शां) ।

१०. ओसीर० (ला), ओसीर हरि० (शां) ।

११. पडवासो (ह) ।

१२. ०त्ताउ (ह), ०त्ताए (ला) ।

१३. कए (ह) ।

१४. धारयंतीए (ला) ।

१५. हुन्नि य रयणी माहिद० (शां) ।

१६. हणंतो कंडु (चू), उ हरइ० (शां) ।

१७. अवभेदगं (ला) ।

१८. ०चाउत्थिग (ला, ह) ।

१९. धाउगी० (शां), धायती० (ह) ।

२०. आढगमो ति आर्यत्वादाऽऽककः

(शांटी प १४३) ।

१५२. एग भुकुंदा* तुरं, एगं अहिमारदारुयं* अग्गी ।
एगं सामलिपोंडं*, बद्धं आमेलओ होति ॥दारं॥
१५३. 'सीसं उरो य'* उदरं, पिट्टी* बाहाय* दोन्नि* उर्या य ।
एते अट्ठंगा खलु, 'अंगोवंगाइ सेसाइ'* ॥
१५४. होति उवंगा कण्णा, नासच्छो 'हत्थ-पाद-जंघा'* य ।
नह-केस-मंसु*^{१०}-अंगुलि, ओट्टा खलु अंगुवंगाणि^{११} ॥दारं॥
१५५. जाणावरणपहरणे, जुद्धे कुसलत्तणं च नीति च ।
दक्खत्तं ववसाओ, सरीरमारोग्गता^{१२} चेव^{१३} ॥दारं॥
१५६. भावंगं पि य दुविधं, सुतमंगं^{१४} चेव नोसुतंगं^{१५} च ।
सुतमंगं^{१६} बारसहा, चउत्थिहं नोसुयंगं^{१७} तु^{१८} ॥
१५७. माणुस्सं घम्मसुती, सद्धा-तव-संजमम्मि विरियं^{१९} च ।
एए भावंगा खलु, दुल्लभगा होति संसारे ॥
१५८. अंग दस भाग भेदे, 'अवयव असगल य चुण्णिया खंडे'^{२०} ।
देसं^{२१} पदेसे पव्वे, साहा^{२२} पडसं अज्जव खिणे य ॥
१५९. दया य संजमे लज्जा, दुगुंछाऽछलणा इय ।
तितिक्ष्वा य अहिंसा य, हिरी^{२३} एगट्ठिया पदा ॥

१. भुकुंदा (ह) ।

२. अहिमारदा० (शां) ।

३. सामालिय० (ला), सामलीपुंडं (शां) ।

४. सीसमुरो य (चू) ।

५. पट्टी (ला, ह), पिट्टि सि प्राकृतत्वात्पुण्डं
(शांटी प १४३) ।

६. बाहातो (ला) ।

७. दो य (ह) ।

८. सेसाणि भवे उवंगाणि (सूचू पृ ६) ।

९. अंघ हत्थ पाया (शांटी प १४३) ।

१०. मंस (ला) ।

११. अंगवंगाओ (ला), प्रकाशित टीका में यह
गाथा उद्धृत है तथा चुणि में यह संकेतित
नहीं है । सभी आदशों में यह उपलब्ध है ।
आगे इसी निर्युक्ति में ये दोनों गाथाएं (गाथा
१५३, १५४) पुनरुक्त हुई हैं लेकिन हमने
उनको निगा के क्रम में नहीं रखा है । देखें
टिप्पण १८२।१, २ ।

सूत्रकृतांग चुणि (पृ ६) में यह गाथा इस

प्रकार मिलती है—

होति उवंगा अंगुलि,

कण्णा नासा य पज्जणं चेव ।

नह-केस-वंत मंसू,

अंगोवंगेवमादीणि ॥

१२. ०मारोग्या (ला) ।

१३. आवनि ८४३ ।

१४. सुयमंतं (ला), सुयं अंगं (ह) ।

१५. नोसुयं अंगं (ला, ह) ।

१६. मकारश्च सर्वत्रालाक्षणिकः (शांटी प १४४) ।

१७. नोशब्दस्य सर्वनिषेधार्थत्वात् अश्रुतांगम्
(शांटी प १४४) ।

१८. च (शां) ।

१९. वीरियं (चू) ।

२०. ०यवाऽसगल चुण्ण खंडे य (शां) ।

२१. देसे (ला) ।

२२. साहा (ला, ह) ।

२३. विरती (ह, ला, चू) ।

१६०. माणुस्स खेत जाती, कुल-^१ख्वाऽऽरोग-आजयं^२ बुद्धी ।
सवणोग्गह सद्धा, संजमो य लोगम्मि दुलहाइं^३ ॥
१६१. खोल्लग पासग धम्मे, जूए रयणे य सुमिणं^४ चक्के य ।
चम्म जुगे परमाणू, दसदिट्ठता मणुयलंभे ॥
१६२. इंदियलद्धी निब्बत्तणा^५ य पज्जत्ति निरुवहय खेमं ।
धातारोग्गं^६ सद्धा, गाहग उवओग अट्ठो य^७ ॥
१६३. आलस्स मोहज्वण्णा, थंभा कोहा-पमाद किक्खणत्ता^८ ।
भय-संगा अण्णाणा, वक्खेव-कुतूहला रमणा ॥
१६४. एतेहि कारणेहिं, लद्धण 'सुदुल्लहं पि'^९ माणुस्सं ।
न लभइ 'सुइ हियकरि'^{१०}, संसारुत्तारिणि^{११} जीवो^{१२} ॥
१६५. मिच्छादिट्ठी^{१३} जीवो, उवइट्ठं पवयणं न सदहइ ।
सदहइ असम्भावं, उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं^{१४} ॥
१६६. सम्मदिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सदहइ ।
सदहइ असम्भावं, अणभोगा^{१५} गुरुनियोगा वा ॥
१६७. बहुरय-पदेस-अव्वत्त, समुच्छ^{१६} दुग तिग 'अवद्धिगा चेव'^{१७} ।
'एतेसि निग्गमणं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए'^{१८} ॥
१६८. बहुरय जमालिपभवा, जीवपदेसा य तीसगुत्ताओ ।
अव्वसाऽऽसाढाओ, सामुच्छेदाऽऽसमित्ताओ^{१९} ॥

१. ० रोगमाउ० (ला, ह) ।

है, विभा ३२४८ ।

२. टीकाकार के अनुसार कहीं-कहीं इस गाथा के स्थान पर (इंदियलद्धी १६२) की गाथा मिलती है—*कच्चिदेतत् स्थाने पठन्ति*.... इंदियलद्धी.... (द्र. उनि १६२ का टिप्पण, शांटी प १४५), द्र. आवनि ८३१ ।

३. सिमिण (आवनि ८३२) ।

४. निअत्तणा (चू) ।

५. धाणारो० (शां) ।

६. टीकाकार ने प्रस्तुत गाथा की मूलपाठ के रूप में व्याख्या नहीं की है लेकिन गा. न. १६० की व्याख्या करके 'कच्चिदेतत् स्थाने पठन्ति' कहकर इसकी पूर्ण व्याख्या की है । चूणिकार ने इसका इसी क्रम में संकेत दिया है । हस्त आवशों में यह गाथा इसी क्रम में मिलती

७. किक्खि० (शां), किमणत्ता (आवनि ८४१) ।

८. सुदुल्लभम्मि (ला) ।

९. सुयं हियकारी (ह), सुइ हियकरं (ला) ।

१०. ०त्तारणी (ला, ह) ।

११. आवनि ८४२ ।

१२. मिच्छदिट्ठी (ला, ह) ।

१३. ०वइट्ठं (ह) ।

१४. अणा० (ला) ।

१५. समुच्छा (ला, आवनि, निभा) ।

१६. ०द्वियाणं च (ह), अवद्धिया चेव (ला) ।

१७. सत्तेते निण्हगा खलु, वुग्गहो होंतज्वक्कता (निभा ५५९६), सत्तेते निण्हगा खलु, तिस्थम्मि उ वद्धमाणस्स (आवनि ७७८) ।

१८. आवनि ७७९ ।

१६९. गंगाए^१ दोकिरिया, छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेरा य गोठुमाहिल, पुठुमबद्धं पळ्वेति^२ ॥
१७०. सावत्थी उसभपुरं, सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं ।
पुरिमंतरंजि वसपुर, रहवीरपुरं च नगराई^३ ॥
१७१. चोदस सोलस वासा, चोदसवीसुत्तरा य दोणि सया ।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया उ चोयाला^४ ॥
१७२. पंचसया चुलसीया, छक्खेव सया णवुत्तरा होति ।
णाणुत्पत्तीय दुवे, उप्पणा णिक्खुए सेसा^५ ॥
- १७२।१. चोदसवासाई तदा, जिणेण उप्पाडितस्स णाणस्स ।
तो बहुरयाण दिट्ठी, सावत्थीए समुप्पन्ना^६ ॥
- १७२।२. जेट्ठा सुदंसण जमालिणोज्ज सावत्थि तिदुगुज्जाणे ।
पंचसया य सहस्सं, ठंकेण जमालि मोत्तुणं^७ ॥
- १७२।३. रायगिहे गुणसिलए, वसु चउदसपुब्बि तीसगुत्ते य ।
आमलकप्पा नगरी, मित्तसिरी कूर पिउडाई^८ ॥
- १७२।४. सेयवि पोलासाढे, जोगे तद्विस हिययसूले य ।
सोधम्म-नलिणिगुम्मे, रायगिहे मुरिय बलभद्दे^९ ॥

१. गंगातो (चू), गंगातो (विभा २७८४) ।

२. आबनि ७८०, गाथा १६९ के बाद 'सावत्थी उसभपुरं' आदि तीन गाथाओं का संकेत चूणि में मिलता है । टीका में ये तीनों गाथाएं तथा १७२।१ गाथा उल्लिखित और व्याख्यात नहीं हैं । १६७ से १७२ तक की गाथाएं आवश्यकनिर्युक्ति की हैं । १७२।२-१३ की गाथाएं टीका में निर्युक्ति गाथा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु ये गाथाएं तथा १७२।१ गाथा विशेषावश्यक भाष्य की हैं अतः इनको निगा के क्रम में नहीं जोड़ा है । इन गाथाओं के बारे में चूणिकार ने 'चोदस वासा तइया' 'जेट्ठा सुदंसण' गा. १७२।१, २ इन दो गाथाओं का संकेत देकर 'एवं ससण्ह वि निण्हयाण वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सामाहयनिज्जुतीए केह पुण निण्हए एत्थ आलावगे पडिकहंति' का उल्लेख किया है । ये गाथाएं विभा से यहां उद्धृत की हैं क्योंकि

टीकाकार ने भी इन गाथाओं के बारे में कहीं भी 'आह निर्युक्तिकारः' या निर्युक्तिक्कद् ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है तथा गाथाओं की व्याख्या न करके मात्र सम्प्रदाय का विस्तृत विवेचन दिया है जो किसी प्राचीन ग्रंथ से उद्धृत है । १७२।१-१३ इन १३ गाथाओं में १६८ एवं १६९ वीं गाथा की ही व्याख्या है ।

३. निभा ५६२२, विभा २७८ ।

४. निभा ५६१८, विभा २७८ ।

५. निभा ५६२१, विभा २७८७ ।

६. टीका में निहववाद के चालू क्रम में यह गाथा नहीं मिलती है किन्तु चूणि में इसका संकेत मिलता है । देखें विभा २७८८, निभा ५६११ ।

७. निभा ५५९७, विभा २७८९ ।

८. निभा ५५९८, विभा २८१६ ।

९. निभा ५५९९, विभा २८३९ ।

- १७२।५. मिहिलाए लच्छिधरे, महगिरि कोडिभ्र आसमित्ते य ।
णेउणियणुप्पवाए, रायगिहे खंडरक्खा य^१ ॥
- १७२।६. नदि-खेड जणव उल्लुग, महगिरि धणगुत्त अज्जगणे य ।
किरिया दो रायगिहे, महातवो तीरमणिणाए^२ ॥दारं॥
- १७२।७. पुरिमंतरंजि भुयगुह, बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य ।
परिवाय पोढुसाले, घोसण पडिसेहणा वाए^३ ॥
- १७२।८. विच्छुय सप्पे मूसग, मिगी वराही य काणि पोयाई ।
एयाहि विज्जाहि, सो उ परिव्वायगो कुसलो^४ ॥
- १७२।९. लोरी नल्लि बिताली, भादी सीही न ललुगि ओवाइ ।
एयाओ विज्जाओ, गिण्ह परिव्वाय महणीओ^५ ॥दारं॥
- १७२।१०. दसपुर नगरुच्छुधरे, अज्जरक्खिय पुसमित्त-तियगं च ।
गोढामाहिल नव अट्टमेषु पुच्छा य विभस्स^६ ॥
- १७२।११. पुढो जहा अबढो, कंचुइणं कंचुओ समन्नेति ।
एवं पुढुमबद्धं, जीवो^७ कम्मं समन्नेति^८ ॥
- १७२।१२. पच्चक्खाणं सेयं, अपरीमाणेण होइ कायव्वं ।
जेसि तु परीमाणं, तं दुट्ठं होइ आसंसा^९ ॥दारं॥
- १७२।१३. रहवीरपुरं नयरं, दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे य ।
सिवभूइस्सुवहिम्मि य, पुच्छा थेराण कहणा य^{१०} ॥
- १७२।१४. ऊहाए पण्णत्तं, बोडिय सिवभूइ उत्तराहि इमं ।
मिच्छादंसणमिणमो, रहवीरपुरे समुप्पन्नं^{११} ॥

१. निभा ५६००, विभा २८७२ ।
२. निभा ५६०१, विभा २९०७ ।
३. निभा ५६०२, विभा २९३४ ।
४. निभा ५६०३, विभा २९३५ ।
५. निभा ५६०४, विभा २९३६ ।
६. निभा ५६०७, विभा २९९२ ।

७. जीवं (शां, निभा) ।
८. निभा ५६०८, विभा २९९९ ।
९. विभा ३०३४ ।
१०. निभा ५६०९, विभा ३०३४ ।
११. निभा ५६१०, विभा ३०३३ ।

१७२।१५. बोडिय सिवभूतीए, बोडियलिगस्स होइ उप्पत्ती ।
कोडिण्णकोट्टवीरा^१, परंपरा फासुमुप्पन्ना^२ ॥

‘चत्तरंगिज्जस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता’

१७३. नामं ठवणपमादे^३, दब्बे भावे य होइ नायव्वो ।
एमेव अप्पमादो, चउव्विहो होइ नायव्वो^४ ॥
१७४. मज्जं विसय-कसाया, निहा विगहा य पंचमी भणिया ।
इइ^५ पंचविहो एसो, होइ ‘पमादोऽपमाओ’^६ य ॥
१७५. पंचविहो य पमादो, इहमज्जयणम्मि^७ अप्पमादो य ।
वणिज्जती^८ उ जम्हा, तेण पमायप्पमायं ति ॥
१७६. उत्तरकरणेण कयं, जं किची संखयं तु नायव्वं ।
सेसं असंखयं खलु, असंखयस्सेस^९ निज्जुत्ती ॥
१७७. नामं ठवणा दविए^{१०} खेत्ते काले तद्देव भावे य ।
एसो खलु करणम्मी, निक्खेवो छव्विहो होइ^{११} ॥
१७८. दव्वकरणं तु^{१२} दुविहं, सण्णाकरणं च नो य सण्णाए ।
फडकरणमट्ठकरणं, पेलूकरणं^{१३} च सण्णाए^{१४} ॥
१७९. नोसण्णाकरणं पुण, पयोगसा वीससा य बोधव्वं ।
सादीयसणादीयं^{१५}, दुविहं पुण वीससाकरणं^{१६} ॥

१. कौण्डिन्यकोट्टवीरी इति नामद्वयम् (शांटी प १८१) ।
२. १७२।१४, १५ ये दोनों गायार्ण विभा (शा. ३०३३, ३०३५) की हैं । निर्युक्ति की आदर्श प्रतियों में ये गायार्ण मिलती हैं लेकिन टीकाकार ने ‘भाव्यगाथे’ कहकर इनकी व्याख्या की है । श्रुति में भी इसका कोई उल्लेख नहीं है अतः हमने निगा के क्रम में नहीं माना है, विभा ५६२० ।
३. ठवणा० (चू) ।
४. निक्खेवो (ला, ह) ।
५. इय (ह, शा) ।
६. पमाओ य अपमाओ (शा) ।
७. मकार अलाक्षणिकः ।
८. ०ज्जए (शा) ।
९. असंखयस्स (ला, ह) ।
१०. करणं (शा) ।
११. ला प्रति में ‘णामं ठवणा’ केवल इतना ही पाठ है ।
१२. च (ला, ह) ।
१३. पेलू० (शा) ।
१४. पेलुकरणं च सन्नाते ‘ला’ प्रति में इतना ही पाठ है ।
१५. साईअणाईअं (शा) ।
१६. विस्ससा० (शा) । १७९-१८४ तक की गायार्णों का श्रुति में संकेत नहीं है किन्तु संक्षिप्त व्याख्या प्राप्त है ।

१८०. धम्माधम्मागासं^१, एयं तिविहं भवे अणादीयं ।
चक्खु अचक्खुप्फासे^२, एयं दुविहं तु सादीयं ॥
१८१. खंधेसु य दुपदेसादिएसु अब्भेसु अब्भक्खेसु^३ ।
तिप्फण्णगाणि^४ दब्बाणि जाणि^५ तं वीससाकरणं^६ ॥
१८२. दुविहं पओगकरणं, जीवेतर भूल उत्तरे जीवे ।
'भूले पंचसरीरा'^७, तिसु अंगोवंग नामं च ॥
- १८२।१. सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी बाहाय दोन्नि उरुया य ।
एते अट्ठंगा खलु, अंगोवंगाणि सेसाणि ॥
- १८२।२. होति उवंगा कण्णा, नासच्छी हत्थ-पाद-जंघा य ।
नह-केस-मंसु-अंगुलि-ओट्ठा खलु अंगुवंगाणि^८ ॥
१८३. तेसि उत्तरकरणं, बोधव्वं^९ कण्णखंधमादीयं ।
'इंदियकरणा च तहा'^{१०}, उवघायविसोहिओ^{११} होति ॥
१८४. संघायण^{१२}-परिसाडण, उभयं तिसु दोसु नत्थि संघातो ।
कालंतराइ तिण्हं, जहेव सुत्तम्मि निदिट्ठा^{१३} ॥
१८५. एत्तो उत्तरकरणं, सत्तिरकरणपओग^{१४} तिप्फण्णं ।
तं भेदाऽणेगविहं^{१५}, चउव्विहमिणं समासेणं ॥
१८६. संघातणा^{१६} य परिसाडणा, य मीसे तधेव पडिसेहे ।
पड-संख-सगड-यूणा-उट्ठ^{१७}-तिरिच्छाण^{१८} करणं च^{१९} ॥

१. ०शासा (शां) ।
२. चक्खुमच्च० (ला, ह), भकार अलाक्षणिकः ।
३. विज्जुमादीसुं (ला), विज्जमा ० (शां, सूनि) ।
४. णिव्वत्तगाणि (ला) ।
५. जाण (सूटी) ।
६. सूति ८ ।
७. मूलं पंचसरीरं (ला, ह) ।
८. ये दोनों गायार्ण प्रकाशित चूणि में उद्धृत गायार्ण के रूप में हैं । टीकाकार ने इन्हें निगा के क्रम में रखा है । किंतु इन गायार्णों की इसी निर्मुक्ति में पुनरुक्ति हुई है इसलिए इन्हें निगा के क्रम में नहीं रखा है । (दे. उनि १५३, १५४, निभा ५९३, ५९४)

९. बोधव्वं (शां) ।
१०. इंदियकरणा लाणि य (शां), इंदियकरणं च तहा (शांटीपा), ०करणाइ तहा (ला) ।
११. उवघाय ० (ला) ।
१२. संघायण (ह) ।
१३. निदिट्ठं (शां) ।
१४. ०करणं पओग (शां) ।
१५. ०विहं तं (ह) ।
१६. संघाडणा (निभा) ।
१७. उत्थ (ह) ।
१८. तिरिच्छादि (निभा १०८४, सूनि ७) ।
१९. तु (सूचु) ।

१८७. अजीवपयोगकरण^१, दध्वे वण्णादियाण पंचण्हं ।
चित्तकरणं^२ 'कुसुंभाईसु विभासा'^३ उ सेसाणं ॥
१८८. न विणा आगासेणं, कीरति जं किंचि खेतमागासं ।
वज्जणपरियावन्नं, उच्छुकरणमादियं बहुहा^४ ॥
१८९. कालो जो जावइओ, जं कीरइ जम्मि जम्मि कालम्मि ।
ओहेण नामतो एण, भत्तंति एक्कारसक्करणा^५ ॥
१९०. ववं च बालवं चेवं, कोलवं थीविलोयणं^६ ।
गरादि वण्णियं 'चेव, विट्ठी हवति सत्तमा'^७ ॥
१९१. सउणि^८ चउप्पय^९ नागं, किमुग्घं च करणं भवे एयं ।
एते चत्तारि धुवा, सेसा^{१०} करणा चला सत्त^{११} ॥
१९२. किण्ह-चउहसिरत्ति^{१२}, सउणो^{१३} पडिवज्जती^{१४} सदा करणं ।
एतो^{१५} अहवकमं खलु, चउप्पयं नाग किमुग्घं^{१६} ॥दारं॥
- १९२।१. पक्खतिधयो दुग्गुणिता, दुरुवहीणा य सुक्कपक्खम्मि ।
सत्तहिण्ण देवसियं, तं चियं रुवाहियं रत्ति^{१७} ॥
१९३. भावकरणं तु^{१८} दुविहं, जीवाजीवेषु होइ नायव्वं ।
तत्थ जमजीवकरणं^{१९}, तं पंचविहं तु नायव्वं ॥

१. अजियण्णओग (शां), अजीवप्प ० (चू) ।
२. चित्तकर (ह, शां) ।
३. कुंभादिएसु भासा (ह) ।
४. सूनि ९ ।
५. सूनि १० ।
६. तैत्तिलं तहा (सूनि ११) ।
७. विट्ठी, सुद्धपडिवण्णिणिसादीया (सूचू), विभा ४०७४ ।
८. सउणी (ला) ।
९. चउप्पयं (शां) ।
१०. अन्ने (शां) ।
११. सूनि १२, विभा ४०७६ ।
१२. चाउहसिरत्तीए (सूनि १३) ।
१३. सउणि (शां) ।

१४. ०ज्जए (शां, सूनि) ।
१५. तसो (सूनि) ।
१६. किमुग्घं (शां), किमुग्घं (ह) । इस गाथा का संकेत चूणि में नहीं है ।
१७. प्रस्तुत गाथा का संकेत चूणि में मिलता है लेकिन टीकाकार ने 'पूर्वाचार्यगाथा' कहकर उद्धृत गाथा के रूप में इसकी व्याख्या की है । निर्युक्ति की हस्तप्रतियों में यह गाथा नहीं मिलती है तथा सूत्रकृतांग टीका में भी इसको निगा न मानकर टिप्पण में दिया है । हमने इसको निगा के क्रम में नहीं रखा है । विभा ४०७३ ।
१८. च (चू) ।
१९. उ अजीव ० (शां), अजीव ० (ला) ।

१९४. वण्ण-रस-‘गंध-फासे, संठाणे’^१ चेव होइ नायव्वं ।
पंचविहं पंचविहं, ‘दुविहज्जुविहं च’^२ पंचविहं ॥
१९५. जीवकरणं तु दुविहं, सुतकरणं चेव नो य सुयकरणं ।
बद्धमवद्धं च सुए^३, निसीहमनिसीहवद्धं तु ॥
१९६. नोसुयकरणं दुविहं, गुणकरणं तह य जुंजणाकरणं ।
गुण-तव-संजम-जोगा, जुंजण मण-वयण^४-काए य ॥
१९७. कम्मगसरीरकरणं, आउयकरणं असंखयं तं तु ।
‘तेणध्धिगारो तम्हा, उ अप्पमादो’^५ चरित्तम्मि ॥दारं॥
१९८. दुविहो य^६ होइ दीवो, दव्वदीवो य भावदीवो य ।
एक्केक्को वि य दुविहो, आसास-पगास दीवो य ॥
१९९. संदीणमसंदीणो, संधियमस्संधिए^७ य नायव्वे^८ ।
आसास-पगासे या, ‘भावे दुविहो’^९ पुणेक्केक्को^{१०} ॥

असंखयस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

२००. कामाण^{११} तु णिक्खेवो, चउव्विहो छव्विहो य मरणस्स ।
कामा^{१२} पुव्वुद्दिट्ठा, पगयमभिप्पेयकामेहि ॥
२०१. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
मरणस्थ उ निक्खेवो, नायव्वो छव्विहो एसो^{१३} ॥

१. फास-गंधे सट्ठाणे (ह) ।

२. दुविहं अट्ठविहं (ह) ।

३. सुयं (शां) ।

४. वाय (शा) ।

५. तम्हा उ अप्पमादो, कायव्वो इह (ला) ।

६. X (ला) ।

७. ०मसंधिए (ला) ।

८. बोद्धव्वे (शां) ।

९. भावम्मि दुहा (ला) ।

१०. १९८, १९९ की गाथा चूणि में नहीं है पर
टीकाकार ने निर्युक्तिरूप माना है

(शांटीप २११) ।

११. कामाणं (चु) ।

१२. काम का वर्णन दशति गा. १६२-१६६ में
है ।

१३. प्रस्तुत गाथा की व्याख्या टीका और चूणि
दोनों में मिलती है । टीका के संपादक ने इसे
मूल निर्युक्ति क्रमांक में न रखकर टिप्पण में
दी है । हस्तप्रतियों में यह गाथा मिलती है
तथा प्रसंगानुसार भी यह निगा प्रतीत होती
है ।

२०२. दब्बमरणं कुसुंभादिएसु भावे^१ आउवखओ मुणेयव्वो ।
ओहे भवतब्बविण^२, मणुस्सभविण^३ अहिगारो ॥
२०३. मरणविभत्तिपरुवण^४, अणुभागो^५ चेव तह पदेसगं ।
कति मरइ एगसमए^६, कतिखुत्तो वावि एक्केक्कं ॥दारं॥
२०४. मरणम्मि एममेगे^७, कतिभागो मरइ सब्बजीवाणं ।
अणुसमय-संतरं वा, एक्केक्कं केच्चिरं कालं ? ॥दारं॥
२०५. आवीचि-ओहि-अंतिय^८, वलायमरणं वसट्टमरणं च ।
अंतोसल्लं तब्भव, बालं तह पंडियं भीसं ॥
२०६. छउमत्थमरण^९-केवलि-वेहाणस-गिद्धपिट्टमरणं^{१०} च ।
मरणं भत्तपरिण्णा, इंगिणि^{११} पाओवगमणं^{१२} च ॥
२०७. सत्तरसविहाणाइ, मरणे गुरुणो भणंति गुणकलिया ।
तेसि नामविभत्ति^{१३}, वोच्छाभि अहाणुपुब्बीए ॥
२०८. अणुसमयनिरंतरमवीचि^{१४} सन्नियं तं भणंति पंचविहं ।
दब्बे खेत्ते काले, भवे य भावे य संसारे ॥
२०९. एमेव ओहिमरणं, जाणि मतो ताणि चेव मरइ पुणो ।
'एमेव आइयंतियमरणं'^{१५} न वि मरइ ताणि^{१६} पुणो ॥
२१०. संजमजोगविसण्णा, मरंति जे तं वलायमरणं तु ।
इंदियविसयवसगता, मरंति जे तं वसट्टं तु ॥
२११. लज्जाए^{१७} गारवेण य^{१८}, 'बहुस्सुयमएण वावि'^{१९} दुच्चरियं ।
जे न कहंति^{२०} गुरुणं, न हु ते आराहगा होति ॥
२१२. गारवपंकनिबुद्धा, अइयारं जे परस्स न कहंति ।
दंसण-णाण-चरित्ते, ससल्लमरणं हवइ तेसि ॥

१. भावि (शां) ।

२. तब्भवमरणे (शांटीपा), भवे तब्बविण (ह) ।

३. मणुसभ० (ला) ।

४. मरणम्मी विभत्ती ०(चू) ।

५. अणुभावो (शां) ।

६. ०समयं (शां) ।

७. इक्कमिक्के (शां) ।

८. यंतिय उ (ह) ।

९. ०मरणं (ह) ।

१०. गद्धपट्ट ०(इ,ला) ।

११. इंगिणी (शां) ।

१२. पाउवगमरणं (ला) ।

१३. ०विभत्ती (ह) ।

१४. ०मावीचि (ह) ।

१५. एमेवाइमं मरणं (ह) ।

१६. ताइ (शां) ।

१७. लज्जाइ (शां) ।

१८. व (ला) ।

१९. ०मएणावि (ह) ।

२०. कहंति (ह), कहेति (ला) ।

२१३. एतं ससहस्रमरणं, मरिरुण महम्भए^१ दुरंतस्मि ।
सुचिरं^२ भमंति जीवा, दीहे संसारकंतारे ॥
२१४. 'मोत्तुं अकम्मभूमम'^३ नर-तिरिए सुरगणे य नेरइए ।
सेसाणं जीवाणं, तब्भवमरणं तु केसिचि^४ ॥
२१५. मोत्तूण ओहिमरणं, आवीची आइयं तु तं चेव ।
सेसा मरणा सव्वे, तब्भवमरणेण णेयव्व^५ ॥
२१६. अविरयमरणं 'बालमरणं ति'^६, विरयाण पंडियं वेत्ति ।
जाणाहि बालपंडियमरणं पुण देसविरयाणं ॥
२१७. मणपज्जवोहिताणी, सुतमतिताणी मरंति जे सभणा ।
छउमत्थमरणमेयं, केवलमरणं तु केवलिणो ॥
२१८. गिद्धादिभक्खणं 'गिद्धपिट्ठ, उब्बंघणाइ'^७ वेहासं ।
एए दोन्नि वि मरणा, कारणजाए अणुण्णाया ॥
२१९. भत्तपरिण्णा-इंगिणि^८, पाओवममं च तिणिण मरणाइ ।
कण्णस^९-मज्झिम-जेट्ठा, क्षिति-संघयणेण उ विसिट्ठा^{१०} ॥
२२०. सोवक्कमो य निरुक्कमो य दुविहोऽणुभावमरणस्मि ।
आउमकम्मपदेसगणंतणंता पदेसेहि ॥
२२१. दोन्नि व^{११} तिसि व^{१२} चत्तारि, पंच मरणाइ^{१३} आवीचिमरणस्मि ।
कत्ति मरति एगसमयसि^{१४}, विभासावित्थरं जाणे ॥

१. महाभ ए (ला) ।

२. सुचिरं (शां) ।

३. मोत्तूण कम्मय ० (चू) ।

४. केसि च (ला) ।

५. टीकाकार ने प्रत्यन्तरेण 'मोत्तूण ओहिमरणं' इत्यादि गाथा वृक्षयते, न चास्या भावार्थः सम्यगवबुध्यते, नापि पूर्णकृताऽसौ व्याख्या-तेति उपेक्ष्यते— ऐसा कहकर इसकी व्याख्या नहीं की है । चूर्णिकार ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है । हस्तप्रतियों में यह गाथा मिलती है तथा प्रसंगानुसार यह निगा के क्रम में उपयुक्त है । अतः व्याख्याकारों द्वारा

अस्वीकृत होने पर भी हमने इसे निगा के क्रम में रखा है ।

६. बालं मरणं (शां) ।

७. गद्धपट्ट उल्लंघणाइ (ला) ।

८. इंगिणी (शां) ।

९. कण्णस (ला), कण्णसं ति सूत्रत्वात् कतिष्ठं (शांटीप २३५) ।

१०. वसिट्ठा (ला), वसिट्ठा (ह) ।

११. X (ला) ।

१२. य (चू) ।

१३. मरणा (ला, ह) ।

१४. ०समए त्ति (ह), ०समए चि (ला) ।

२२२. सव्वे भवत्यजीवा, मरंति आवोइयं^१ सदा मरणं ।
ओधि च आइयंतिय, दोन्नि वि एताइ भयणाए ॥
२२३. ओधि च आइयंतिय^२, बालं तह पंढियं च मीसं च ।
छउमं केवलिमरणं, अत्तोन्नेण विरुज्झंति ॥
२२४. संखमसंखमणंता, कमो उ एक्केवकगम्मि अपसत्थे ।
'सत्तट्ठगअणुबंधो'^३, पसत्थए केवलिम्मि सइं ॥
२२५. वरणे अवांतयागो, एक्केवके मरति आदिमं मोत्तुं ।
अणुसमयादी नेयं^४, तु पढम-चरिमंतरं नत्थि ॥दारां॥
२२६. सेसाणं मरणाणं, नेओ संतरनिरंतरो उ गमो ।
सादी सपज्जवसिया, सेसा पढमित्तुगमणादी ॥
२२७. सव्वे 'एते दारा'^५, मरणविभत्तीएँ वणिण्या कमसो ।
सगलनिउणे पयत्थे^६, जिण-चउदसपुव्वि^७ भासंति^८ ॥
२२८. एगंतपसत्था तिणिण, एत्थ मरणा जिणेहि पणत्ता ।
भत्तपरिण्णा इंगिणि^९, पायवगमणं^{१०} च कमजेट्ठं ॥
२२९. इत्थं पुण अधिगारो, नायव्वो होइ मणुयमरणेणं ।
मोत्तुं अकाममरणं, सकाममरणेण मरियव्वं ॥

अकाममरणत्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

२३०. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले पहाण पति भावे ।
एतेसि महंताणं, पडिवक्खे खुल्लया^{११} होति ॥
२३१. निक्खेवो नियंठम्मि^{१२}, चउव्विहो दुविहो^{१३} य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥

१. आवोवियं (ला,ह) ।
२. आदियंती (ला,ह) ।
३. सत्तट्ठतोण्णु ०(ला) ।
४. नेतं (ला), नेतं (ह) ।
५. दारा एते (चू,ला) ।
६. पसत्थे (ह) ।
७. ०पुव्व (ह) ।
८. टीकाकार ने २०३ से २२७ तक की गाथाओं के लिए विकल्प से भाष्यगाथा का उल्लेख किया है—भाष्यगाथा वा द्वारगाथाद्वयादारभ्य लक्ष्यन्त इति (शांटीप २४०) । हमने इन

गाथाओं की निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है क्योंकि इन द्वारगाथाओं के बाद टीकाकार स्वयं कहते हैं कि 'भावार्थस्तु स्वत एव वक्ष्यति निर्युक्तिकारः' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि दोनों द्वारगाथाएं तथा उनकी व्याख्या निर्युक्तिकार द्वारा ही की जानी चाहिए ।

९. इंगिणी (ला) ।
१०. पाउवग ०(शां), पाओवगमं (ह) ।
११. खुट्ठिगा (ह), खुट्ठुगा (ला) ।
१२. नियंठम्मी (ला) ।
१३. दुविहो (शां) ।

२३२. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य निण्हगादीसु^१ ।
भावम्मि नियंठो खलु, पंचविहो होइ नायव्वो^२ ॥
२३३. उक्कोसो^३ उ नियंठो, जहन्नओ चेव होइ नायव्वो ।
अजहन्नमणुक्कोसा, होति नियंठा असंखेज्जा ॥
२३४. दुव्विहो य होइ गंधो, बज्झो अभिमतरो य नायव्वो ।
अंतो य चउदसविहो^४, दसहा पुण बाहिरो गंधो ॥
२३५. कोहे माणे माया, लोभे पेज्जे^५ तहेव दोसे य ।
मिच्छत्त-वेद-अरती, रति-हास-सोग-भय-दुगुंछा^६ ॥
२३६. खेत्त-वत्थू^७ धण-धम्मसंचयो भित्त-णातिसंजोगो ।
जाण-सयणासणाणि^८ य, दासी दासं च कुवियं च ॥
२३७. सावज्जगंथमुक्का, अभिमतखाहंरण^९ गयेणं ।
एसा खलु निज्जुत्ती, खुड्डागनियंठमुत्तस्स ॥
खुड्डागनियंठज्जस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता
२३८. निक्खेयो उ उरब्भे, चउव्विहो 'दुविहो य'^{१०} होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
२३९. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभविय-बद्धाउय,^{११} अभिमुहओ नामगोत्ते य ॥
२४०. उरभाउणामगोयं^{१२}, वेदंतो^{१३} भावतो 'उरब्भो उ'^{१४} ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, ओरब्भज्जं^{१५} ति अज्झयणं ॥

१. ०गाईसुं (शां) ।

७. वरथुं (ह) ।

२. इस गाथा के बाद हस्तआवश्यों और टीका पत्र २५७, २५८ में कुछ भाष्यगाथाएं हैं । यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है । देखें परि० १ ।

८. जाणासय० (ला) ।

३. उक्कोसओ (ह) । यह गाथा ला प्रति में नहीं है ।

९. ०तरा खाहि० (ह) ।

१०. दुव्विहो (ह), दुव्विहो य (शां) ।

४. चउदस० (ह) ।

११. ० बद्धाऊ (शां) ।

१२. उरब्भाउ ० (ला, चू), उरभाऊ ० (ह) ।

५. मिज्जे (शां) ।

१३. वेदितो (ला) ।

१४. उ ओरब्भो (शां) ।

६. दुगुंछा (ला) ।

१५. उरब्भज्जं (शां) ।

२४१. ओरब्भे^१ य कागिणी^२ अंबएँ य ववहार सागरे चैव ।
पंचेते दिट्ठंता, ओरब्भिज्जम्मि^३ अज्झयणे ॥
२४२. आरंभे रसगिद्धी^४, दुग्गतिगमणं च पच्चवाओ य ।
लवमा कया उरब्भे, ओरब्भिज्जस्स^५ निज्जुत्ती ॥
- २४२।१. आउरचिण्णाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदितो ।
सुक्कत्तिणेहि लाढाहि, एयं दीहाउलवखणं^६ ॥

उरब्भिज्जस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

२४३. निवखेवो कविलम्मी,^७ चउव्विहो 'दुविहो य होइ'^८ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
२४४. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहे ।
एगभविय-बद्धाउय, अभिसुहओ^९ नामगोत्ते^{१०} य ॥
२४५. कविलाउणामगोत्तं,^{११} वेदंतो भावतो भवे कविलो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं काविलिज्जं ति ॥
२४६. कोसंबि कासव जसा, कविलो सावत्थि इंददत्तो^{१२} य ।
इब्भे य सालिभदे, धणसेट्ठि पसेणई राया ॥
२४७. कविलो निच्चियपरिवेसियाइ आहारमेत्तसंतुट्ठो ।
वावारितो 'दुहि मासेहि',^{१३} सो निग्गओ रत्ति ॥

१. उरब्भे (ला) ।

२. कागिणी (ला) ।

३. ओरब्भीयम्मि (ह) ।

४. ०गिद्धि (चू), ०गेही (ह, ला) ।

५. उरब्भि० (शां, चू) ।

६. यह गाथा बाद में प्रक्षिप्त हुई है क्योंकि गा. २४२ के अंतिम चरण 'ओरब्भिज्जस्स निज्जुत्ती' से स्पष्ट है कि इस अध्ययन की निर्युक्ति यहीं समाप्त हो जाती है । इसके अतिरिक्त टीकाकार ने मूल उत्तराध्ययन सूत्र की पहली गाथा के साथ इस गाथा का संबंध

जोड़ा है तथा एक कथानक का संकेत दिया है । चूणि में इस गाथा का कोई संकेत नहीं है, अतः हमने इसे निगा के क्रम में नहीं रखा है ।

७. कविलम्मि (ह) ।

८. दुव्विहो य (शां) ।

९. ०मुहो (ह) ।

१०. ०गोए (शां) ।

११. ०गोयं (शां, चू) ।

१२. इंदणामो (ला) ।

१३. य बिहि मासेहि (ला), बिहि मासेहि (ह) ।

२४८. दक्खिण्ण^१ पत्थतो, बद्धो य तओ^२ य अप्पितो रण्णो ।
राया से^३ देति वरं, 'किं देमी केण ते'^४ अट्ठो^५ ॥
२४९. जहा लाभो^६ तहा लोभो, लाभा लोभो पवड्ढति ।
दोमासकयं कज्जं,^७ कोडीए वि न निट्ठिय^८ ॥
२५०. 'कोडि पि'^९ देमि अज्जो त्ति, भणति राया पहिट्ठमुहवण्णो^{१०} ।
सो वि चइऊण कोडि, 'जातो समणो'^{११} समियपावो ॥
२५१. छम्मासे^{१२} छउमत्थो, अट्ठारसजोयणाइ रायगिहे ।
बलभट्ठप्पमुहाणं,^{१३} इक्कड्ढासाण^{१४} पंचसया^{१५} ॥
२५२. अत्तिसेसे उप्पन्ने, होही^{१६} अट्ठो इमो त्ति नाऊणं ।
अट्ठाणगमणचित्तं, करेइ धम्मट्ठया गीयं ॥

काविलीयस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

२५३. निक्खेद्धो उ नमिम्मी, चउच्चिहो 'दुविहो य होइ'^{१७} दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
२५४. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य 'सो पुणो तिविहो'^{१८} ।
एगभविय बद्धाउय, अभिमुहओ नामगोत्ते य ॥
२५५. नमिआउणामगोत्तं, वेदतो भावतो नमी होइ ।
तस्स य खलु,^{१९} पव्वज्जा, नमिपव्वज्जं ति अज्झयणं ॥

१. दक्खिण्णे (शां) ।	से कहलाई है । पाश्चात्य विद्वान एत्सडोर्फ के
२. हतो (ला,ह) ।	अनुसार यह गाथा निर्युक्ति की है ।
३. वि से (ला) ।	९. कोडी वि (ह) ।
४. कि तेण ते (ला) ।	१०. पहट्ठो (ह,ला,चू) ।
५. अत्थो (शां) । २४७, २४८ इन दो गाथाओं	११. समणो जाओ (शां) ।
का चूणि में संकेत नहीं है । किंतु कथानक के	१२. छम्मासा (चू) ।
रूप में व्याख्या प्राप्त है ।	१३. भट्ठप्पमु (ला) ।
६. लाहो (शां) ।	१४. दोसाण (ह) ।
७. तीसरे चरण में छंदभंग है ७ वर्ण तथा	१५. पंचयमे (शां) ।
पंचम गुरु है ।	१६. होहिति (ला,ह) ।
८. यह गाथा मूल उसू ८।१७ में भी मिलती है ।	१७. दुविहो होइ (ला) ।
हस्तप्रतियों में तथा चूणि में 'सो भणइ' इस	१८. से भवे तिविहे (ला) ।
उल्लेख के साथ यह गाथा कपिल के मुख	१९. खलू (ला,ह) ।

२५६. पव्वज्जानिकसेवो, चउव्विहो अस्स^१-तित्थिगा दव्वे ।
भावम्मि उ पव्वज्जा, आरंभपरिग्गहच्चाओ ॥
२५७. करकंडू^२ कलिंसेसु, पंचालेसु य दुम्महो ।
नमीराया विदेहेसु, गंधारेसु य नग्गती ॥
२५८. वसभे य इंदकेऊ, वलए अंबे य पुप्फिए बोही ।
करकंडू 'दुम्महस्स य'^३ नमिस्स गंधाररण्णो य ॥
२५९. 'सेतं सुजातं'^४ सुविभत्तसिगं, जो पासिया वसहं गोठमज्जे ।
रिद्धि अरिद्धि 'समुपेहिया ण'^५, कलिगराया वि समिवख धम्मं ॥
२६०. गोठंगणस्स मज्जे, ठिकियसद्देण जस्स मज्जम्मि ।
दरिता वि दत्तवसभा, सुतिक्खसिगा समत्थो वि^६ ॥
२६१. पोरण य गयदण्णो, गलंतनयणो चलंतवसहोठ्ठो ।
सो चेव इमो वसभो, पड्डय-परिघट्टणं सहइ ॥
२६२. जो 'इंदकेऊं समलंकिय'^७ तु, दट्ठं^८ पडंतं पविमुप्पमाणं ।
रिद्धि अरिद्धि समुपेहिया ण, पंचालराया वि समिवख धम्मं ॥
- २६२।१. बुद्धिं च हाणिं च ससीव दट्ठं, पूरावरेणं च महानईणं ।
अहो अनिच्चं अधुवं च नच्चा, पंचालराया वि समिवख^९ धम्मं^{१०} ॥
२६३. मिहिलापतिस्स नमिणो, धुम्मासातंक वेज्ज^{११}पडिसेहो ।
कत्तिय सुविणग^{१२}-दंसण, अहि-मंदर नदिघोसे य ॥

१. अत्थि (ह) ।

२. कंडू (चू.सा) ।

३. दुम्महस्सा (शा) ।

४. सेवं सुजायं (शा) ।

५. समुपेहमाणो (शांटीपा ५० ३०५) ।

६. २६०, २६१ ये दोनों गाथाएं टीका में निर्युक्ति क्रम में नहीं हैं किन्तु व्याख्या में इनका संकेत मिलता है । चूणि में भी 'सियं सुजायं गाहाओ तिन्नि' के उल्लेख के साथ इन गाथाओं को स्वीकृत किया है । सभी आदर्शों में ये प्राप्त हैं । विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से भी ये निगा प्रतीत होती हैं ।

७. ०केऊ सुअलं० (ह) ।

८. बिट्ठं (ह) ।

९. समिवख त्ति आर्षत्वात् समीक्षते, पर्यालोचयति अनेकार्थत्वादङ्गीकुर्वते (उशांटी ५० ३०५) ।

१०. यह गाथा टीका में निर्युक्ति गाथा के क्रम में मिलती है । ला और ह प्रति में तथा चूणि में यह गाथा निर्दिष्ट नहीं है । ऐसा संभव लगता है कि प्रसंगवश यह गाथा बाद में जोड़ दी गई है ।

११. विज्ज० (शा) ।

१२. सुमिणग (शा) ।

२६४. दोन्नि वि नमी विदेहा^१, रज्जाइ^२ पयहिऊण पव्वइया ।
एगो नमितित्थगरो, एगो पत्तेयबुद्धो य ॥
२६५. जो को^३ नमितित्थगरो, सो साहसीय^४ परेवुडो भगवं ।
गंधमवहाय पव्वइ, पुत्तं रज्जे ठवेऊणं^५ ॥
२६६. बितिओ^६ वि नमीराया, रज्जं चइऊण गुणगणसमगं^७ ।
गंधमवहाय पव्वइ, अहिगारो एत्थ बितिएणं ॥
- २६६।१. पुप्फुत्तरातो चवणं, पव्वज्जा होइ एगसमएणं ।
पत्तेयबुद्धकेवलि, सिद्धिगया एगसमएणं ॥
२६७. बहुयाणं सद्दयं सोच्चा, एगस्स^८ य असद्दयं ।
वलयाण नमीराया, निक्खंतो मिहिलाहिवो^९ ॥
२६८. जो चूतखखं तु मणाभिरामं, समंजरी-पल्लव-पुप्फचित्तं ।
रिद्धि अरिद्धि समुपेहिया णं, गंधारराया वि समिक्ख घम्मं ॥
२६९. जदा रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतेउरं तहा ।
सव्वमेयं परिच्चज्ज, संचयं किं करेसिमं ? ॥
२७०. जदा ते पेटिए^{१०} रज्जे, कता किच्चकरा बहू ।
तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, 'अज्ज किच्चकरो भवं'^{११} ॥
२७१. जया सव्वं परिच्चज्ज, मोक्खायं घडसी^{१२} भवं ।
परं गरहसे^{१३} कीस^{१४} ? , अत्तनीसेसकारए^{१५} ॥
२७२. मोक्खमग्गपवन्नेसु^{१६}, साहसु बंधचारिसु ।
अहियत्थं निवारेंतो, न दोसं वत्तुमरहसि^{१७} ॥

नमिपव्वज्जाए निज्जुत्ती सम्मत्ता

१. वेदेहा (ह) ।
२. रज्जाई (ला), रज्जाइ (ह) ।
३. से (ह) ।
४. सो साहसीय (ला) ।
५. २६५, २६६, २६६।१ इन तीन गाथाओं के लिए चूर्णि में मात्र 'गाहाओ तिष्णि कंद्या' इतना ही उल्लेख है ।
६. बीओ (शा) ।
७. गुणसयसं (शा) ।
८. एकस्स (ह) ।
९. महिला० (ह), २५८ से २६७ तक की गाथाओं की व्याख्या में चूर्णि और टीका में

क्रम व्यत्यय है । हमने चूर्णि का क्रम स्वीकृत किया है ।

१०. पतिते (चू) पैतूके इत्यर्थः ।

११. × (ला) ।

१२. पडसी (ला) ।

१३. ०हसी (शा) ।

१४. केण (ला) ।

१५. ०निस्सेस० (ह, शांटीपा) ।

१६. ०मग्गं पवन्नेसु (शां, ला), ०मग्गपवण्णाणं (चू) ।

१७. ०मरिहसि (शां) ।

२७३. निक्खेवो उ दुमम्मी^१, चउव्विहो 'दुविहो य'^२ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^३ ॥
२७४. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य 'सो पुणो तिविहो'^४ ।
एगभविय-बद्धाउय, अभिमुहओ नामगोत्ते य ॥
२७५. दुमआउणामगोत्तं^५, वेदंतो भावतो दुमो होइ ।
एमेव य पत्तस्स वि, निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥
२७६. दुमपत्तेणोवम्मं^६, अहाठिईए^७ उवक्कमेण च ।
एत्थ कयं 'आदिम्मि, तो तं दुमपत्तमज्झयणं'^८ ॥
२७७. मगहापुरनगराओ, वीरेण विसज्जणं तु सीसाणं ।
सालमहासालाणं^९, पिट्ठीचंपं च आगमणं ॥
२७८. पव्वज्ज^{१०} गागिलिस्स य, गगगस्स^{११} य रज्जया उ तिण्ह वि ।
आगमणं चंपपुरि, वीरस्स 'य वंदण'^{१२} तेसि ॥
२७९. चंपाए पुण्णभद्दम्मि, चेइए नायओ पहियकित्ती ।
आमतेउं समणे, कहेति भगवं महावीरो ॥
२८०. अट्ठविहकम्ममहणस्स, तस्स 'पयई विसुद्धलेसस्स'^{१३} ।
अट्ठावए नगवरे, निसीहिया^{१४} निट्ठियट्ठस्स ॥
२८१. उसभस्स भरहपिउणो, तेलोक्कपयासनिग्गयजसस्स^{१५} ।
जो आरोहुं वंदइ, चरिमसरीरो य^{१६} सो साहु ॥

१. दुममि (शां) ।

२. X (ला) ।

३. चूर्णि में इस गाथा के स्थान पर 'णामं ठवणा'
इतना प्रतीक दिया है ।

४. से पुणे तिविहे (ला) ।

५. दुमआउयनाम० (ह) ।

६. ०त्तेणोवमियं (ह) ।

७. अघादिट्ठीए (ला) ।

८. आदिम्मि तो दुमपत्तं तु अज्झयणं (ला),
०दुमपत्तं ति अज्झयणं (ह), २७६-२९९ तक
की गाथाओं के बारे में चूर्णि में 'एतस्स पुणअज्झयणस्स उपोद्धातो जहा निज्जुत्तिगाहाहि'
मात्र इतना उल्लेख है । इस वाक्य से सभी
निर्युक्ति गाथाओं का ग्रहण हो जाता है ।

९. X (ला) ।

१०. पवज्ज (ह), पवज्जा (शां) ।

११. X (ला) ।

१२. अवंदणं (शां) ।

१३. पवत्तीए सुद्ध० (ला), पयईए विसुद्ध (ह) ।

१४. ०हिए (शां) ।

१५. तेलुक्कपयास० (शां) ।

१६. उ (ला) ।

२८२. साधुं संवासेती^१, य असाधु^२ न किर संवसावेति^३ ।
अह सिद्धपन्वतो सो, पासे वेयड्डसिहरस्स^४ ॥
२८३. चरिमसरीरो साहु, आरुहती नगवरं न अन्नो त्ति ।
एयं तु उदाहरणं, कासीय तहि जिणवरिदो ॥
२८४. होदणं तं भगवतो, गण्डति तहि गोतरो पड्डिकित्ती ।
आरुहइ^५ तं नगवरं, पड्डिमाओ वंदइ जिणाणं ॥
२८५. अह आगतो सपरिसो, सञ्चिद्धीए तहि तु वेसमणो ।
वदित्तु चेइयाइं, अह वंदइ गोयमं भगवं ॥
२८६. अह पोंडरीयनामं^६, कहेति तहि गोयमो पहियकित्ती ।
दसमस्स य पारणए, 'पन्वावेसी य'^७ कोडिन्ने^८ ॥
२८७. तस्स य वेसमणस्सा, परिसाए सुरवरो पत्तणुकम्मो^९ ।
तं पुंडरीयनामं^{१०}, गोयमकहियं निसामेति ॥
२८८. 'घेत्तूण पोंडरीयं'^{११}, वग्गुविमाणातो^{१२} सो चुओ संतो ।
तुंबवणे^{१३} घणगिरिस्स^{१४}, अज्जसुनंदा सुतो जातो ॥
२८९. 'दिन्ने कोडिन्ने या'^{१५}, सेवाले जेव होइ तइए उ^{१६} ।
एक्केक्कस्स य^{१७} तेसि, परिवारो^{१८} पंच पंच सया ॥
२९०. हेट्टिल्लाण चउत्थं, मज्झिल्लाणं तु होति छट्ठं तु ।
अट्टममुवरिल्लाणं, आहारो तेसिमो होइ ॥
२९१. कंदादी सच्चित्तो^{१९}, हेट्टिल्लाणं तु होति आहारो ।
वित्तियाणं^{२०} अच्चित्तो^{२१}, ततियाणं सुक्कसेवालो ॥

१. संवासेइ (शां) ।

२. असाहु (ह), असाहुं (शां) ।

३. ०वेइ (अ), ०वेई (शां) ।

४. अ प्रति के पाठ इस गाथा से प्राप्त होते हैं ।
इसके प्रारंभ के पत्र लुप्त हैं ।

५. आरुज्जइ (ह,अ) ।

६. पुंडरीयनायं (शां), ०यनाइं (ला) ।

७. पन्वावेसिय (ह), ०वेसीअ (शां) ।

८. कोडीहि (ला) ।

९. य तणुकम्मो (ह), ०पणुकंपो (ला) ।

१०. ०नायं (शां) ।

११. घित्तूण पुंडरीअं (शां) ।

१२. विग्गु० (अ) ।

१३. ०वण (ह) ।

१४. ०गिरिस्सा (शां,ह,ला) ।

१५. दिन्ने य कोडिन्ने यं (ह) ।

१६. य (शां,अ) ।

१७. × (ह) ।

१८. ०वारो य (ह) ।

१९. सच्चित्तो (ला,ह) ।

२०. वीआणं (शां) ।

२१. अचित्तो (ला) ।

२९२. तं पासिऊण इड्ढि, गोतमरिसिणो ततो तिवग्गा वि ।
अणगारा पब्बइया, सपरीवारा' विगतमोहा ॥
२९३. एगस्स खीरभोयण, हेऊ^१ नाणुप्पया मुणेयब्बा ।
एगस्स य^२ परिसादंसणेण एगस्स य जिणम्मि ॥
२९४. केवलपरिसं तत्तो, वच्चंता गोतमेण 'ते भणिया'^३ ।
इह^४ एह वंदह जिणं, कयकिच्च जिणेण सो भणितो ॥
२९५. सोऊण तं अरहतो, हियएणं गोतमो वि चित्तेइ ।
नाणं मे न उप्पज्जइ, भणिते य जिणेण सो ताहे ॥
२९६. चिरसंसट्ठं चिरपरिचियं^५ च^६ चिरमणुगयं च मे जाण ।
देहस्स उ^७ भेदम्मी^८, दोस्सि वि तुल्ला भविस्सामो ॥
२९७. जह मन्ने एतमट्ठं, अम्हे जाणामु खीणसंसारा ।
तह मन्ने एतमट्ठं, विमाणवासी वि जाणंति ॥
२९८. जाणगपुच्छं पुच्छति, अरहा किर गोतमं पहितकित्तो ।
किं देवाणं वयणं, गिज्झं आतो^९ जिणवराणं ॥
२९९. सोऊण तं भगवतो, मिच्छाकारस्स सो उवट्ठाति ।
तन्निस्साए^{१०} भगवं, सीसाणं देति अणुसिट्ठि^{११} ।
३००. परियट्ठियलावणं^{१२}, चलंतसंक्षि मुयंतविटागं ।
पत्तं^{१३} वसणप्पत्तं, कालप्पत्तं भणति गाहं^{१४} ॥
३०१. जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हे वि य होहिहा^{१५} जहा अम्हे ।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुरपत्तं^{१६} किसलयाणं^{१७} ॥

१. सप्परि० (शां,अ), सपरि० (ला) ।

२. हेउं (ला) ।

३. × (शां) ।

४. भणिया य (शां,अ) ।

५. इतो (ह), एय (ला), इउ (शां) ।

६. ०परिचियं (ह) ।

७. × (शां) ।

८. य (शां) ।

९. भेयंमि य (शां) ।

१०. आतो त्ति आर्षत्वाद् आहोस्वित् (शांटी प ३२३) ।

११. तन्नीसाए (शां) ।

१२. अणुसिट्ठि (ह,ला) ।

१३. ०लावणं (अ) ।

१४. पत्तं च (शां) ।

१५. गाहा (अ,ह,ला) यह गाथा अनुयोगद्वार में कुछ अंतर के साथ मिलती है—

परिजूरियपेरंतं, चलंतवेंटं पडंतनिच्छीरं ।

पत्तं वसणप्पत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं ॥

अनुवा ५६९।२

१६. होहिया (ह) ।

१७. पंडुरवत्तं (शां), पंडुपत्तं (ह) ।

१८. अनुवा ५६९।३ ।

३०२. नवि अस्थि न वि य^१ होही^२, उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं ।
उवभा खलु एस^३ कया, भवियजणविबोहणट्टाए ॥

हुमपत्तस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

३०३. बहु सुए 'पूजाए य'^४, तिण्हं पि चउक्कओ उ^५ निक्खेवो ।
दब्बबहुगेण बहुगा, जीवा तह पुगला चेव ॥
३०४. भावबहुगेण बहुगा, चउदसपुब्बा^६ अणंतगमजुत्ता ।
भावे खओवसमिए, खइयम्मि य केवलं नाणं ॥दारं॥
३०५. दब्बसुय^७ पोंडगादी^८, अहवा लिहियं तु पोत्थगादीसु^९ ।
भावसुयं पुण दुविहं, सम्मसुयं चेव मिच्छसुयं ॥
३०६. भवसिद्धिया उ जीवा, सम्महिट्ठो उ जं अधिज्जंति
तं सम्मसुएण सुयं, कम्मट्ठविधस्स सोहिकरं ॥
३०७. मिच्छहिट्ठो^{१०} जीवा, अभव्वसिद्धी य जं अधिज्जंति ।
तं मिच्छसुएण सुयं, कम्मादाणं च तं भणितं ॥
३०८. ईसर-तलवर-भाडंबियाण सिव-इंद-खंद-विण्हूणं ।
जा किर कीरइ पूया, सा पूया^{११} दब्बतो होइ ॥
३०९. तिस्थगर केवलीणं, सिद्धायरियाण सव्वसाहूणं ।
जा किर कीरइ पूया, सा पूया भावतो होइ^{१२} ॥
३१०. जे^{१३} किर चउदसपुब्बी^{१४}, सव्वक्खरसन्तिवाइणो निउणा ।
जा तेसि पूया खलु, सा भावे ताइ अधिगारो ॥

बहुत्सुयपूयाए निज्जुत्ती सम्मत्ता

१. × (ला) ।	७. बोंडगादी (ला), पुंड० (ह), पोंडयादी (शा) ।
२. होहिति (ला), होई (ह) । देखें—अनुदा ५६९।४ ।	८. पुत्थयाईसुं (शा), पोत्थयादीयं (ह) ।
३. पूजाए य (ला), पव्वज्जाए (अ), पज्जयाए (ह) ।	९. सा मिच्छादिट्ठी (चू) ।
४. य (शा,अ) ।	१०. × (ला) ।
५. चोइस० (ला,ह) ।	११. ३०९, ३१० की गाथा धूर्णि में निर्दिष्ट नहीं है किंतु संक्षिप्त व्याख्या है ।
६. दब्बसुय सि अनुत्वारलोपात् द्रव्यसूत्रम् (उशांटी प० ३४२) ।	१२. जो (ह) ।
	१३. चोइस० (ला), चउदसपुब्बि (ह) ।

३११. हरिएसे निक्सेवा, चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^१ ॥
३१२. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभविय-बद्धाउय, अभिमुहओ नामगोत्ते य ॥
३१३. हरिएसनामगोयं, वेदंतो भावओ उ^२ हरिएसो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, हरिएसिज्जं ति अज्झयणं ॥
३१४. पुव्वभवे संखस्स उ, जुवरणो अंतियं तु पव्वज्जा ।
जातीभदं तु काउं, हरिएसकुलम्मि आयातो^३ ॥
३१५. महुराए संखो खलु, पुरोहियसुओ य^४ गयपुरे आसी ।
दट्ठूण पाडिहेरं, हुयवहरत्थाए निक्खंतो ॥
३१६. हरिएसा चंडाला, सोवाग मयंग^५ बाहिरा पाणा ।
साणधणा य मयासा, सुसाणवित्ती य नीया य ॥
३१७. जम्मं मतंगतीरे, वाणारसि, गंडि^६ त्तिदुगवणं च ।
'कोसलिए य'^७ सुभदा, इसिवंता जण्णवाडम्मि ॥
३१८. बलकोट्टे बलकोट्टो, गोरी^८ गंधारि सुविणगवसंतो^९ ।
नाम निरुत्ती छणसप्प, संभवो 'दुंदुभे बोही'^{१०} ॥
३१९. भद्देणेव होयव्वं, पावति भद्दाणि भद्दओ ।
सविसो हम्मती^{११} सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुंचति^{१२} ॥

१. टीका में इस गाथा के स्यात् पर 'नामं ठवणा दविए' इतना ही पाठ प्राप्त है । लेकिन आदर्शों में गाथा उपलब्ध है । प्रसंगानुसार यही गाथा संगत लगती है ।

२. अ (शां) ।

३. आयाओ (अ, शां), ३१४-३२० तक की गाथाओं का चूर्ण में संकेत नहीं है किन्तु कथानक के रूप में गाथाओं का भावार्थ उपलब्ध है ।

४. X (ह) ।

५. मायंग (अ) ।

६. गंड (अ) ।

७. कोसलिएसु (शां), ० लिओ उ (ह) ।

८. गोरि (अ) ।

९. सुवणे य सुवसंतो (अ) ।

१०. दुंदुहे बीओ (शां), X (ला) ।

११. हम्मए (शां) ।

१२. मुंचति (अ, चू, शां), मुंचई (ह) ।

प्रकाशित चूर्ण में यह गाथा उगा के रूप में संकेतित है ।

३२०. उज्जाणे त्तिदुगम्मि,^१ गंडयजक्खो^२ त्ति विस्सुतो^३ आसि ।
तो गंडि त्तिदुगवणं, उज्जाणं होइ नायव्वं^४ ॥
३२१. इत्थीण कहत्थ^५ वट्ठती, जणवयराय कहत्थ^६ वट्ठती^७ ।
पडिगच्छह^८ रम्मतिदुगं, अइ !^९ सहसा बहुमुंडिए जणे ॥
- हरिएसिजस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

३२२. चित्ते संभूयम्मि य, निक्खेको 'चउक्कओ दुहा दव्वे'^{१०} ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
३२३. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एअमविथ-बद्धाउय,^{११} अंभिभुहओ नामगोत्ते य ॥
३२४. चित्ते संभूताउं,^{१२} वेदंतो^{१३} भावतो य^{१४} नायव्वो ।
तत्तो^{१५} समुद्वियमिणं, अज्झयणं चित्तसंभूयं ॥
३२५. सागेत्ते चंडवडिसयस्स, पुत्तो य^{१६} आसि मुणिचंदो ।
सो वि य सागरचंदस्स अंतिए पव्वए समणो ॥
३२६. तण्हाछुहाकिलंतं, समणं दट्ठूण अडविनीहुत्तं^{१७} ।
पडिलाभणा य बोही, पत्ता गोवालपुत्तोहि ॥
३२७. तत्तो दोस्सि दुगुंछं,^{१८} काउं 'दासा दसण्ण'^{१९} आयाया ।
दोस्सि य उसुयारपुरे, अहिगारो बंभदत्तेण ॥

१. तेंदुगम्मि य (अ), त्तिदुगम्मी (ला) ।

२. गंडतिज ०(ला), गंडज ०(ह) ।

३. वीसुतो (ला), वीसओ (ह) ।

४. टीका में यह गाथा निर्युक्ति गाथा के क्रम में नहीं है। लेकिन चूणि में इस गाथा का भावार्थ मिलता है। सभी आदर्शों में यह गाथा उपलब्ध है तथा क्रमबद्धता की दृष्टि से भी यह निगा की प्रतीत होती है ।

५. कहित्थ (शां) ।

६. कहियत्थ (अ) ।

७. वट्ठह य (अ) ।

८. पडिगच्छह (अ) ।

९. 'अयी'त्थामंजणे (शांटी प ३५५) ।

१०. चउक्कओ दुविहो य होइ दव्वम्मि (अ),
चउक्कओ दुविहो दव्वम्मि (ला) ।

११. बद्धाऊ (शां) ।

१२. संभूताउं (ला) ।

१३. वेइंतो (ह), वेअंतो (शां) ।

१४. उ (ह) ।

१५. तेसु उ (ला), तेसुं (ह) ।

१६. उ (ह) ।

१७. ०णीभूयं (ला), ०नीहुयं (ह), अटवीनिष्कान्त
मित्यर्थः (शांटीप ३७५) ।

१८. दुगुंछं (शां) ।

१९. दास दसन्ने (ह), ०दसन्नि (शां) ।

३२८. राया य तस्य बंधो, कडओ तइओ कणेरुदत्तो^१ त्ति ।
राया य पुष्फचूलो, दीहो पुण होइ कोसलियो^२ ॥
३२९. एए पंच वयसा, सव्वे सह दारदरिसिणो होत्था^३ ।
'संवच्छरं' अणूणं,^४ वसंति एक्केक्करज्जम्मि ॥
३३०. राया य बंधदत्तो, घणुओ सेणावती य वरधणुओ ।
इंदसिरी 'इंदजसा, इंदवसू'^५ 'चुलणिदेवो य'^६ ॥
३३१. चित्ते य विज्जुमाला, विज्जुमती चित्तसेणओ भद्दा ।
पंथग^७ नागजसा पुण,^८ कित्तिमई कित्तिसेणो य ॥
३३२. देवी य नागदत्ता, जसवइ रयणवइ जक्खहरिलो य ।
वच्छो य चारुदत्तो, उसओ कक्काइणी य सिला ॥
३३३. घणदेवो वसुमित्ते, सुदंसणे दारुए य नियडिल्ले ।
पुत्थी पिगल पोते, सागरदत्ते य^९ दीवसिहा ॥
३३४. कंपिल्ले मलयवती, वणराई^{१०} सिधुदत्त सोमा य ।
तह सिधुसेण पज्जुन्नसेण,^{११} वाणीर पतिगा य ॥
३३५. हरिएसा गोदत्ता, करेणुदत्ता^{१२} करेणुपदिगा य ।
कुंजर करेणुसेणा, इसिबुद्धी^{१३} कुरुमती^{१४} देवी ।
३३६. 'कंपिल्लं गिरितडगं',^{१५} चंपा हत्थिणपुरं च साएयं ।
समकडगं नंदोसा,^{१६} वंसीपासाय समकडगं ॥
३३७. समकडगातो अडवी, तण्हा^{१७} वडपायवम्मि संकेतो ।
गहणं वरधणुगस्स य, बंधणमक्कोसणं चेव ॥

१. कणेरुदत्तो (अ,शां) ।

६. पंथा (ह) ।

२. ३२८-३५२ तक की गाथाओं का चूणि में कोई संकेत नहीं है किन्तु चूणिकार ने 'सव्वा बंधदत्ती हिंडी भाणियव्वा' ऐसा उल्लेख किया है । हिंडी शब्द से ये सभी गाथाएं निगा के रूप में निदिष्ट हैं तथा टीकाकार ने भी 'हरिकेशववक्तव्यतामाह निर्युक्तिरुद्' ऐसा उल्लेख किया है ।

७. X (ह) ।

८. व (ह) ।

९. ०राई (सा) ।

१०. ०सेणा (ह) ।

११. कणेरु ० (शां) सर्वत्र ।

१२. ०बुद्धी (अ,ला) ।

१३. कुरुवती (अ) ।

१४. ०ल्लगिरितडगं (ह) ।

१५. ओसाणं (ह,शां) ।

१६. सतिण्हु (अ), तण्हा (ह) ।

३. भोच्चा (शां) ।

४. इंदवसू इंदजसा (अ) ।

५. ०देवी च (अ), ०देवीओ (सां) ।

३३८. सो हम्मतो^१ अमच्चो, देहि कुमारं 'कहि तुमे'^२ नीतो ? ।
गुलियविरेयणपीतो, कवडमओ छड्डितो तेहि ॥
३३९. तं सोऊण कुमारो, भीओ अह उप्पहं पलायित्था^३ ।
काऊण थेररुवं, देवो वाहेसिय कुमारं ॥
३४०. वडपुरगबंभयलयं,^४ वडथलगं चेव होइ कोसंबी ।
वाणारसि रायगिहं,^५ गिरिपुर-छड्डितो य अहिच्छत्तं ॥
३४१. वणहत्थी य कुमारं, जणयइ आहरणवसणगुणलुद्धो ।
वच्चंतो 'वडपुरओ, सावत्थी'^६ अंतरा गामो^७ ॥
३४२. गहणं नंदीकुडंगं, गहणतरागाणि पुरिसहिययाणि^८ ।
देहाणि^९ पुण्णवत्तं,^{१०} पियं खु नो दारओ जातो ॥
३४३. सुपतिट्ठे कुसकुंडि,^{११} भिकुंडिवित्तासियम्मि जियसत्तू ।
महुरातो अहिच्छत्तं, वच्चंतो अंतरा लभति ॥
३४४. इंदपुरे रुद्धपुरे,^{१२} सिवदत्त विसाहदत्त^{१३} 'धूया य'^{१४} ।
वडुगत्तणेण लभती, कन्नाओ दोस्सि रज्जं थ ॥
३४५. रायगिह-मिहिल^{१५}-हत्थिणपुरं च चंपा तहेव सावत्थी^{१६} ।
एसा उ नगरहिडी, बोधव्वा^{१७} बंभदत्तस्स ॥
३४६. रयणुप्पया य विजओ, बोधव्वो दीहरोस मोक्खे य ।
संभरण 'नलिणिगुम्मे, जातीय'^{१८} पगासणं चेव ॥
३४७. जातीपगासण^{१९} निवेयणं च, जातीपगासणं चित्ते ।
चित्तस्स य आगमणं, इड्ढिपरिच्चाय सुत्तत्थो ॥

१. हम्मही (अ), हम्मई (शां) ।

२. कहितु मे (ह) ।

३. पहारत्था (ह) ।

४. वडपुरग बंभयलयं ला प्रति में इतना ही पाठ मिलता है ।

५. ०गिहि (शां) ।

६. य पुराओ अहिच्छत्तं (शां, ह) ।

७. ला प्रति में यह गाथा नहीं है ।

८. ०याइ (अ), पुरिससहियाणि (ह) ।

९. देहाणि (शां) ।

१०. पुण्णवत्तं (अ) ।

११. कुसकुंडी (ह) ।

१२. महपुरे (ह, ला) ।

१३. विसादत्त (ला) ।

१४. धूया उ (अ), धूयाओ (शां) ।

१५. महिला (ना) ।

१६. सावत्थि (ह) ।

१७. बुद्धव्वा (अ), बोधव्वा (शां) ।

१८. नलिणिगुम्मे जाईइ (शां), ०जाइय (अ) ।

१९. जाईइ पगास (शां), जाइय प ० (अ), जाईए पगासणं (ह) ।

३४८. इत्थोरयण पुरोहित्य, भज्जाणं^१ 'विग्गहो विणासम्मि'^२ ।
सेणावइस्स भेदो, वक्कमणं^३ चेव पुत्ताणं ॥
३४९. संगामे अत्थि भेदो, मरणं पुण चयपादवुज्जाणे^४ ।
कङ्कगस्स य निब्भेदो, दंडो य पुरोहित्यकुलस्स^५ ॥
३५०. जतुधरपासादम्मि य, दारे य सयंवरे 'य थाले य'^६ ।
तत्तो य आस-रह-हत्थिए,^७ य तह कुंडए चेव ॥
३५१. कुक्कुडरव^८ तिलपत्ते, सुदंसणे दाए य नयणिल्ले^९ ।
मयिच्छिज्जं उरवि^{१०}, 'कला उ'^{११} तह आसणे चेव ॥
३५२. कंचुगपज्जुणम्मि^{१२} य, 'इत्थो वण कुंजरे'^{१३} कुसमती य ।
एते कप्पालंभा, बोधव्वा बंधदत्तस्स^{१४} ॥

चित्तसंभूज्जस्स निज्जुत्तो सम्मत्ता

३५३. उमुयारे निक्खेवो, चउज्जिहो दुविहो य^{१५} होइ दब्बम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
३५४. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभविय-बद्धाउय, अभिभुहो नामगोत्ते य ॥
३५५. उमुयारनामगोयं^{१६}, वेदंतो भावतो य उमुयारो ।
तत्तो समुट्ठियभिणं, उमुयारिज्जं ति अज्झयणं ॥

१. भिज्जाणं (शां), विज्जाणं (अ) ।

२. वुग्गहो विणासम्मि (शां) ।

३. उवकमणं (अ) ।

४. चोय ०(ला), धोय ०(ह) ।

५. कुलस्सा (ह) ।

६. जहा जे य (अ) ।

७. तत्तो य आसए हत्थिए (शां), तत्तो आसए
य हत्थिए (ला) ।

८. कुक्कुडरह (अ) ।

९. मियडिल्ले (ला) ।

१०. ०वरी (ला) ।

११. कालो उ (ला) ।

१२. ०पज्जत्तम्मि (ह) ।

१३. इत्था मणकुं ०(ला,अ,ह) ।

१४. टीकाकार ने इन पांच गाथाओं (३४८-
३५२) को निगा के कम में रखा है तथा
उनके लिए ऐसा उल्लेख किया है—'निर्युक्ति-
गाथाः पञ्चः ... विशिष्टसंप्रदायाभावान्न
विव्रियन्ते' (शोटीप ३८३) । हमने इन्हें निगा
माना है । यह भी संभावना की जा सकती है
कि ये पाँचों गाथाएं बाद में जोड़ी गई हों ।

१५. ×(ला) ।

१६. ०गोए (शां,बु) ।

३५६. पुव्वभवे संघडिया,^१ संपीया अन्नमन्नमणुरस्ता ।
 'भोत्तूण कामभोगे,^२ निग्गंथा पव्वए समणा^३ ॥
३५७. काऊण य सामणं, पत्तमशुम्मे विमाणे उववन्ना ।
 'पलिओधमा य'^४ चउरो, 'ठिती य'^५ उवकोसिया तेसि ॥
३५८. तत्तो य चूता संता, कुक्कणवयपुरवरम्मि^६ उसुयारे ।
 छप्पि^७ जणा उववन्ना, चरिमसरीरा विगयमोहा ॥
३५९. राया उसुयारो या, 'कमलावइदेवि'^८ अग्गमहिंसी से^९ ।
 भिगुनामे य पुरोहिय, वासिट्ठा^{१०} भारिया तस्स ॥
३६०. उसुयारपुरे नगरे, उसुयारपुरोहिओ य^{११} अणवच्चो ।
 पुत्तस्स कए बहूसो, परितप्पंती 'दुयग्गा वि'^{१२} ॥
३६१. काऊण समणरूवं, तहियं देवो पुरोहियं भणइ ।
 होहिंति तुज्झ पुत्ता, दोन्नि जणा देवलोगचुया ॥
३६२. तेहि य पव्वइयव्वं, जहा य न करेह अंतरायं ण्हे^{१३} ।
 ते पव्वइया संता, बोहेहिंती^{१४} जणं बहूगं ॥
३६३. तं वयणं सोऊणं, नगराओ नेति^{१५} ते वयग्गामं^{१६} ।
 वड्ढंति य ते तहियं, गाहेंति य णं असब्भावं ॥
३६४. एए समणा धुत्ता,^{१७} पेय-पिसाया य पोरुसादा^{१८} य ।
 मा तेसि अल्लियहा,^{१९} मा भे पुत्ता ! विणासेज्जा ॥

१. घडियाओ (शांटीपा), संघडिय स्ति देशीपद-
 मव्युत्पन्नमेव मित्राभिधायि (शांटीप ३९४) ।
२. भुत्तूण भोगभोगे (शां) ।
३. ३५६-६६ तक की गाथाओं का चूणि में कोई
 संकेत नहीं है किन्तु कथानक रूप में गाथाओं
 का संक्षिप्त भावार्थ है। टीकाकार ने इस
 गाथाओं के लिए निर्युक्तिकृत का उल्लेख
 किया है ।
४. ०वभाहं (शां) ।
५. ठिती उ (ला), ठिइ य (अ), ठिई (शां) ।
६. ०पुरम्मि (अ) ।
७. छावि (ला, लां) ।
८. असवतिदेवी य (ला) ।

९. य (अ) ।
१०. वासिट्ठी (अ) ।
११. उ (अ, ला) ।
१२. दुयत्ता वि (अ) । 'दुयग्गावि' स्ति देशीपद
 प्रक्रमाच्च द्वावपि वस्पती (शांटीप ३९४) ।
१३. 'ण्हे' स्ति अनयोः (शांटीप ३९४) ।
१४. बोहेहिंती (शां) ।
१५. निति (शां), निग्गओ (ला) ।
१६. ०ग्गामे (शां) ।
१७. वुत्ता (अ) ।
१८. पुरुषसम्बन्धिमांसभक्षका राक्षसा इति
 (शांटीप ३९४) ।
१९. अल्लियहा (अ) ।

३६५. षट्ठूण तहिं समणे, जाइं पोरणियं च सरिऊणं ।
बोहितऽम्मापियरं,^१ उसुयारं रायपत्ति^२ च ॥
३६६. सीमंधरो य राया, भिगू य वासिद्ध रायपत्ती य ।
बंभणी दारणा चेव,^३ छप्पेते परिनिव्वुडा^४ ॥
उसुयारिअस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

३६७. निव्वेवो भिक्खुम्मी,^५ चउअ्विहो दुविहो य^६ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो^७ य सो तिविहो^८ ॥
३६८. जाणगसरीरअविए, तव्वतिरित्ते य निण्हगादीसु ।
जो भिदेइ^९ खुहं खलु, सो भिक्खू^{१०} भावतो होइ ॥
३६९. भेत्ता य भेयणं वा, नायव्वं भिदियव्वयं चेव ।
एक्केक्कं पि य दुविहं, दव्वे भावे य नायव्वं ॥
३७०. रहकार-परसुमादी, दासगमादी य दव्वतो होति ।
साधू^{११} कम्मऽद्विहं, तवो य भावम्मि^{१२} नायव्वं ॥
३७१. 'रागहोसा दंडा, जोगा'^{१३} तह गारवा य सल्ला य ।
विगहाओ^{१४} सण्णाओ, खुहं कसाया पमाया^{१५} य ॥
३७२. एताइं तु खुहाइं, जे^{१६} खलु भिदंति सुव्वया रिसओ ।
ते भिन्नकम्मगंठी,^{१७} उव्विति अयरामरं ठाणं ॥
सभिक्खुयस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

३७३. नामं ठवणा दविए, माउगपद संगहेक्कए चेव ।
पज्जव-भावे य तहा, सत्तेते एक्कगा होति^{१८} ॥

१. बोहितेऽम्मापियरो (अ) ।

२. रायपुत्तं (शा) ।

३. एए (अ) ।

४. ० निव्वुडा (शां) ।

५. भिक्खुम्मि (ह) ।

६. X (ला, अ) ।

७. X (ला) ।

८. तिविहो य (ला) ।

९. निवइ (ह) ।

१०. X (अ) ।

११. होति (अ) ।

१२. भावं ति (ला) ।

१३. रागहोसा छुहं दंडा (ला, शांटीपा)

१४. विगहाओ (शां) ।

१५. पमाओ (अ) ।

१६. जं (अ) ।

१७. ० गंठि (ह) ।

१८. वेच्चं भणानि अ ।

३७४. 'दससु य छक्के'^१ दव्वे, नायव्वो दसपदेसिओ खंधो ।
ओगाहणा ठिईए, नायव्वो^२ पज्जददुगे^३ य ॥
३७५. बंभम्मी^४ उ चउक्कं, ठवणाबंभम्मि बंभणुप्पत्ती ।
दव्वम्मि वत्थिनिग्गह, अन्नाणीणं मुणेयव्वो ॥
३७६. भावे उ वत्थिनिग्गहो, नायव्वो तस्स रक्खणट्ठाए ।
ठाणाणि ताणि वज्जेज्ज, जाणि भणियाणि अज्झयणे ॥
३७७. चरणे छक्को दव्वे, गइ-चरणं^५ चेव 'भवद्धणे चरणं'^६ ।
खेत्ते काले जम्मि य, 'भावे उ'^७ गुणाण आचरणं ॥
३७८. 'समाधीए चउक्कं'^८ दव्वं दव्वेण जेण उ समाही ।
भावम्मि नाण-दंसण, तवे चरित्ते य नायव्वं ॥
३७९. नामं ठवणा दव्विए, खेत्तद्धा उड्ढ 'उवरती वसधो'^९ ।
संजम-पग्गह-जोहे, अचल-गणण-संधणा भावे ॥

बंभचेरसमाहिठाणस्स निज्जुत्तो सम्मसा

३८०. पावे छक्कं दव्वे, सच्चित्ताचित्तमीसगं^{१०} चेव ।
खेत्तम्मि निरयमादी, काले अइदुस्समादीओ ॥
३८१. भावे पावं इणमो, हिस-मुसा-चोरियं च अब्बंभं^{११} ।
तत्तो परिग्गहे च्चिय, अगुणा^{१२} भणिया उ^{१३} जे सुत्ते ॥
३८२. समणे चउक्कनिक्खेवओ^{१४}, उ^{१५} दव्वम्मि निण्हगादीया^{१६} ।
नाणी संजमसहिओ, नायव्वो भावतो समणो ॥

१. X (ला) ।

२. X (ला) ।

३. ०दुवे (अ, ला) ।

४. बंभम्मि (शां) ।

५. चरणे (ला) ।

६. भवद्धणे चरणं ति एकारोऽलाक्षणिकस्ततो
भक्षणचरणं (उशांटी प ४२१) ।

७. भावओ (अ) ।

८. ०धीए उ चउक्को (चू), समाहीइ चउक्कं
(शां) ।

९. उवरई वसही (शां) ।

१०. सचित्ता ० (अ, शां) ।

११. अबंभं (ला) ।

१२. गुणा (अ) ।

१३. य (शां) ।

१४. निक्खेवओ (अ) ।

१५. य (ला) ।

१६. ०गादी य (ला) ।

३८३. जे भावा अकरणिज्जा, 'इह अज्झयणम्मि'^१ वणिणय^२ जिणेहिं ।
ते भावे सेवन्तो, नायव्वो पावसमणो त्ति ॥
३८४. एताइं पावाइं, जे खलु वज्जन्ति सुव्वया रिसओ ।
ते पावकम्ममुक्का, सिद्धिमविग्घेण वच्चन्ति^३ ॥
पावसमणिज्जस्स विज्जुत्ती सम्मत्ता
३८५. निक्खेवो संजइज्जम्मि, 'चउव्विहो दुविहो य'^४ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
३८६. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभविय-वद्धाउय, अभिमुहओ^५ नामगोत्ते य ॥
३८७. 'संजयनाम गोत्तं',^६ वेदन्तो^७ भावसंजतो होइ ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं 'संजइज्जं ति'^८ ॥
३८८. कंपिल्लपुरवरम्मि य,^९ नामेणं संजतो नरवरिदो ।
सो सेणाए सहितो, नासीरं^{१०} निग्गतो^{११} कदाइ^{१२} ॥
३८९. हयमारुद्धो राया, भिए छुभित्ताण केसरुज्जाणे ।
ते तत्थ उ^{१३} उत्तत्थे^{१४}, वहेति रसमुच्छित्तो संतो ॥
३९०. अह केसरमुज्जाणे, नामेणं गइभालि अणगारो ।
'अप्फोवमंडवम्मि य,'^{१५} भायति भाणं भवियदोसो^{१६} ॥

१. इहमज्झ ० (शां) ।
२. कित्ति य (अ) ।
३. पार्वति (ला) ।
४. चउक्कतो दुविहो होइ (ला) ।
५. ०मुहो (अ) ।
६. ०नामगोत्तं (अ) ।
७. वेदन्तो (शां) ।
८. ०ज्जन्ति (अ) ।
९. X (ला) ।
१०. नासीरं—भृगयां प्रति (शांटीप ४३८) ।
११. नागतो (ला) ।

१२. चूर्णि में ३७७-३९८ तक की गाथाओं का उल्लेख या व्याख्या नहीं है, किन्तु चूर्णिकार ने स्पष्ट लिखा है 'निर्युक्तिगाथाः सूत्र-गाथाश्च प्रायसः प्रकटार्था एवं निर्युक्तिकारः सूत्रोक्तमेवार्थं क्वचिदनुवर्तन्ते' इस वाक्य से स्पष्ट है कि चूर्णिकार के सामने ये गाथाएं थीं ।

१३. X (ला) ।
१४. उत्तित्थो (अ) ।
१५. अप्फोय० (अ) ०मंडवम्मी (ला) ।
१६. भविय० (अ) ।

३९१. अह आसगतो राया, तं पासिय संभमागतो तत्थ ।
यणनि द'हा' अह वाणि,^१ हसिवज्जाए मणालितो^२ ॥
३९२. वीसज्जिऊण^३ आसं, अह अणगारस्स एति सो पासं ।
विणएण वंदिऊणं, अवरहं तो^४ खमावेति ॥
३९३. अह मोणमस्सितो^५ सो, अणगारो नरवइ^६ न वाहरइ ।
तस्स तव-तेयभीतो, इणमट्ठं सो उदाहरइ ॥
३९४. कंपित्तपुराहिवइ, नामेणं संजतो अहं राया ।
तुज्झ सरणागतो म्हि^७, तिदहिहा मा मि^८ तेएणं ॥
३९५. अभयं तुज्झ नरवती !, जलबुब्बुयसंनिभे य भाणुस्से ।
किं हिसाए^९ पसज्जसि, जाणंतो अप्पणो दुक्खं ? ॥
३९६. सम्बमिणं चइऊणं, अवस्सं जदा य होइ^{१०} गंतव्वं ।
किं भोगेसु पसज्जसि ? किपागफलोवमनिभेसु ॥
३९७. सोऊण य सो धम्मं, तस्सज्जगारस्स अंतिए राया ।
अणगारो पव्वइतो, रज्जं चइउं गुणसमगं ॥
३९८. काऊण तवच्चरणं^{११}, बहूणि वासाणि सो^{१२} भुयकिलेसो ।
तं ठाणं संपत्तो, जं संपत्ता न सोयंतो ॥
- 'संजइज्जस्स निज्जुत्तो सम्मत्ता'

३९९. निक्खेवो य^{१३} मियाए, चउक्कओ दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^{१४} ॥
४००. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभविय-वद्धाउय, अभिमुहओ नामगोत्ते य ॥

१. 'हा' इति छेदे (शांटीप ४४०) ।

२. इण्हि (शां) ।

३. मणालगो (अ) ।

४. वीसज्जेऊण (ला) ।

५. ते (शां) ।

६. मोणयासितो (ला, इ) ।

७. वइ (अ) ।

८. मि (ला), म्मि (इ) ।

९. मे (ला), 'मि' इति मां (शांटी प ४४०) ।

१०. हिसाइ (शां) ।

११. होति (ला) ।

१२. तव चरणं (अ) ।

१३. तो (ला) ।

१४. उ (ला) ।

१५. ३९९-४०१ तक की गाथाओं के लिए पूर्णि में 'गाथात्रयं शतार्थं' इतना ही संकेत दिया है ।

४०१. मिगआउनामगोयं^१, वेदेतो भावतो मिगो होइ ।
एमेव य पुत्तस्स वि, चउक्कओ होइ निक्खेवो ॥
४०२. मिगदेवोपुत्ताओ, बलसिरिनामा समुट्ठियं जम्हा ।
तम्हा मिगपुत्तिज्जं, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥
४०३. सुग्गीवे नयरम्मि य^२, राया नामेण आसि बलभद्दो ।
तस्सासि अग्गमहिस्सी, 'इट्ठा देवी मिगा'^३ नामं ॥
४०४. तेसि दोण्ह वि पुत्तो, आसो नामेण बलसिरी धिइमं^४ ।
वयरोसभसंघयणो, जुवराया^५ चरमभवधारी^६ ॥
४०५. उन्नंदमाणहियओ^७, पासाए तंदणम्मि सो रम्मे ।
कीलइ^८ पमदासहितो, देवो दोगुंदगो^९ चेव ॥
४०६. अह अन्नया कयाई, पासादतलम्मि सो ठितो संतो ।
आसोएति पुरधरे, संइ मग्गे पुजसम्मो ॥
४०७. अह पेच्छइ रायपहे, वोळंतं समणसंजयं तत्थ ।
तव-नियम-संजमधरं, सुतसागरपारणं धीरं ॥
४०८. अह देहति रायसुतो, तं समणं अणभिसाए दिट्ठोए ।
कहि एरिसयं रुवं, दिट्ठं 'मन्ने मए पुव्वं'^{१०} ॥
४०९. 'एवं चितयंतस्स'^{११}, सण्णीताणं तहि समुप्पन्नं ।
पुव्वभवे सामण्णं, मए वि एवं कयं आसि ॥
४१०. सो लद्धबोहिलाओ, चलणे जणगाण वंदिउं भणइ ।
वीसज्जिउमिच्छामो^{१२}, काहं समणत्तणं तात^{१३} ॥
४११. नाऊण^{१४} निच्छयमती, एव^{१५} करेहि त्ति तेहि सो भणितो ।
धन्तो सि तुमं पुत्तो^{१६} ! जंसि विरत्तो सुहसएहि^{१७} ॥

१. मिगाउणा० (ला) ।

२. × (ला) ।

३. देवी उ मिगावई (शां) ।

४. कुमारो (अ), धीमं (शां) ।

५. जुगराया (ला) ।

६. चरिम ० (अ, ला) ।

७. उन्नंदमाण० (अ), ओन्नंदमाण० (ला) ।

८. किलई (शां) ।

९. दुगुंदगो (मगं) ।

१०. भज्जे मए पुव्वि (ला) ।

११. एवमणुचित ० (शां) ।

१२. ०ज्जिउं इच्छामो (अ) ।

१३. ताया (शां) ।

१४. नाऊणं (ला) ।

१५. एवं (ला) ।

१६. पुत्ता (शां) ।

१७. ०सएसु (अ, शां) ।

४१२. सीहत्ता निक्खमिउं, सीहत्ता चेव विहरसू पुत्ता ! ।
जह नवरि^१ धम्मकामा, विरत्तकामा उ^२ विहरति ॥
४१३. नाणेण दंसणेण य, चरित्त-तव-नियम-संजमगुणेहि ।
खंतीए मुत्तीए^३, होहि तुमं 'बहुमाणो' उ^४ ॥
४१४. संवेगजणितहासो^५, मोक्खगमणवद्धचिधसन्नाहो ।
अम्मापिक्कण वयणं, सो पज्जलितो पाडच्छाय^६ ॥
४१५. इद्धोए निक्खंतो, काउं समणत्तणं परमधोरं^७ ।
तत्थ गतो सो धोरो^८, जत्थ गया खीणसंसारा^९ ॥
‘मिगापुत्तिज्जस्स निज्जुत्ती सम्मसा’

४१६. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले पहाण^{१०}-पति-भावे ।
एतेसि खुट्ठगाणं, पडिवक्ख^{११} महत्तगा होति ॥
४१७. निवखेओ नियंठम्मि, 'चउव्विहो दुविहो य'^{१२} होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
४१८. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य निण्हादीसु ।
भावे पंचविहे खलु, इमेहिं दारेहिं सो नेओ ॥

१. नवरं (भा) ।
२. य (ला) ।
३. मुत्तयाए (ला) ।
४. बहुमाणेणं (ला), बहुमाणा उ (अ) ।
५. ०जणियसद्धो (शाटीपा) ।
६. पयच्छियउ (अ) ।
७. ०धोरं (अ) ।
८. धीरो (ला) ।
९. ४०३-४१५ तक की गाथाओं में मृगापुत्र की कथा है । चूणिकार ने इन गाथाओं के लिए

स्पष्ट उल्लेख किया है कि 'सूत्रोक्तमप्यर्थं निर्युक्तिकारः पुनरपि ब्रवीति किं ? द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति' इसलिए इन गाथाओं की व्याख्या चूणिकार ने नहीं की है और न ही कथानक दिया है । टीकाकार ने इन गाथाओं के लिए 'निर्युक्तिक्कद्' का उल्लेख किया है ।

१०. अ ठाण (भा), य पहाण (अ) ।
११. पडिवक्खु (अ) ।
१२. चउव्विहो दु० (भा), चउव्विहो दुव्विहो य (अ) ।

४१९. पणवण वेद रागे, कप्प चरित्त पडिसेवणा नाणे ।
‘तित्थे लिग सरीरे’^१, खेत्ते^२ काल ‘गति(ठिति)’^३ संजम निगासे^४ ॥
४२०. जोगुवओग-कसाए, लेसा-परिणाम ‘बंधणे उदए’^५ ।
कम्मोदीरण उवसंपजहण^६ सण्णा य आहारे ॥
४२१. भव-आगरिसे कालंतरे समुग्घाय^७ खेत्त फुसणा य ।
भावे परिणामे खलु, ‘महानियंठाण अप्पबहू’^८ ॥
४२२. सावज्जगंयमुक्का, अब्भितरबाहिरेण गंधेण ।
एसा खलु निज्जुत्ती, महानियंठस्स सुत्तस्स ॥
महानियंठस्स निज्जुत्ती सम्भत्ता
४२३. ‘समुद्देण पालियम्मि’^९, निक्खेवो^{१०} चउक्कओ दुविहो^{११} दब्बे ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
४२४. समुद्दपालिआळ^{१२} य, वेदंतो भावतो य नायब्बो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, समुद्दपालिज्जमज्झयणं ॥
४२५. चंपाएँ सत्थवाहो, नामेण आसि पालिगो^{१३} नामं ।
वीरवरस्स भगवतो, सो^{१४} सीसो खीणभोहस्स^{१५} ॥

१. तित्थलिग सरीर (शां) ।
२. खित्ते (शां,अ) ।
३. गह ठिति (शां), ठिति शब्द न रहने से छंद भंग नहीं होता ।
४. भ २५।२७८।१, ४१९-२१ तक की गाथाओं के लिए चूणिकार ने ‘पणवण वेय रागे इत्यादि गाथात्रयसंगृहीतानि’ ऐसा उल्लेख किया है । संभव है ये गाथाएं भगवती सूत्र (२५।२७८।गा. १-३) के निर्युक्तिकार ने उद्धृत की हों । ये तीनों गाथाएं निर्युक्ति का अंग बन गई हैं क्योंकि ४१८ की गाथा में निर्युक्तिकार में स्पष्ट उल्लेख किया है कि ‘इमेहि वारेहि सो नेओ ।’
५. बंध वेदे य (भ २५।२७८।२) ।
६. उवसंपज्जण (ला), उवसंपजहण (भ) ।
७. समघाय (अ) ।
८. महानियंठाण अप्पबहुं (शां), अप्पाबहुयं नियंठाणं (भ २५।२७८।३) ।
९. ०पालियम्मी (ला), ०समुद्दे पालियम्मि य (अ), ०पालिअंमि अ (शां) ।
१०. दुव्विहो (ला), दुविहो (अ) ।
११. समुद्देण ०(अ), ०पालिआळ (शां) ।
१२. पासगो (ला) ।
१३. ×(ला) ।
१४. ४२५-४३६ तक की गाथाओं में समुद्र-पाल की कथा है । चूणिकार ने इन गाथाओं का संकेत धीरे व्याख्या न करके मात्र इतना उल्लेख किया है कि ‘सूत्रोक्तमेवार्थं यत्पुनः निर्युक्तिकारो ब्रवीति’ तथा टीकाकार ने भी इन गाथाओं के लिए ‘‘वदन्नाह निर्युक्ति-कारः’’ का उल्लेख किया है ।

४२६. अह अन्नया कयाई^१, पोएणं गणिम-घरिम-भरिएणं ।
तो नगरं संपत्तो, पिहुंढं नाम नामेणं ॥
४२७. ववहरमाणस्स तहि, पिहुंढे देइ वाणिओ धूयं ।
तं पि य पत्ति घेतूण, पत्थितो^२ सो सदेसस्स ॥
४२८. अह सा सत्थाहसुया, समुद्धमज्झम्म पसवती पुत्त ।
पियदंसणसङ्गं, नामेण 'समुद्धपालं' ति^३ ॥
४२९. खेमेणं संपत्तो, सो पालियसावगो घरं नियय^४ ।
घातीदसद्धपरिवुडो, अह वहुति सो उदधिनामो ॥
४३०. बावत्तरिकलाओ^५ य, सिबिखतो नीतिकोविओ जाहे ।
तो जोवणसंपुत्तो^६, जातो पियदंसणो अहियं ॥
४३१. अह तस्स पिया पत्ति, आणेती 'रुविणि त्ति'^७ नामेणं ।
चउसद्धिगुणोवेतं, अमरवधूणं सरिसरुवं ॥
४३२. अह रुविणीएँ^८ सहिओ, कीलइ सो भवणपुंडरीयम्मि ।
'दोगुंदगो व'^९ देवो, किकरपरिवारितो निच्चं^{१०} ॥
४३३. अह अन्नया कयाई, ओलोयणसंठिओ^{११} सदेवीओ ।
'वज्झं नीणिज्जंतं, पेच्छइ तो सो जणसएहि'^{१२} ॥
४३४. अह भणति^{१३} सन्निनाणी, भीतो संसारियाण दुक्खाणं ।
नीयाण^{१४} पावकम्माण, हा जहा पावगं इणमो ॥
४३५. संबुद्धो सो भगवं, संवेगमणुत्तरं च संपत्तो ।
आपुच्छिऊण जणए, निक्खंतो खाय-जस-कित्ती ॥
४३६. काऊण तवच्चरणं, बहूणि वासाणि सो धुतकिलेसो ।
तं ठाणं संपत्तो, जं संपत्ता^{१५} न सोयंति ॥

समुद्धपालोयस्स निज्जुत्ती सम्मसा

१. कयाई (अ) ।	९. दोगुंदगुव (शां,अ) ।
२. निग्गओ (शां,अ) ।	१०. चेव (अ) ।
३. °पालि त्ति (शां), °पाल त्ति (अ) ।	११. °यणदिट्ठिओ (ला) ।
४. नियवं (अ) ।	१२. वज्झंती णिज्जंतं °(ला), वज्झं णीणीज्जंतं पेच्छइ तो सो जणवएहि (शांटीपा) ।
५. बावत्तरि° (शां) ।	१३. भणति (ला) ।
६. जुवणमपुत्तो (शां) ।	१४. नीयाणं (ला) ।
७. रुविणी य (अ) ।	१५. संपत्तो (ला) ।
८. °णीइ (शां) ।	

४३७. रहनेमी निक्खेवो, चउक्कओ दुविहो^१ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^२ ॥
४३८. जाणमसरीरभविए, तव्वरि रित्ते य 'सो पुणो'^३ तिविहो ।
एगभविय-वद्धाउय, अभिमुहओ^४ नामगोत्ते^५ य ॥
४३९. रहनेमिनामगोय, वेदंतो^६ भावतो य^७ रहनेमी ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, रहनेमिज्जं ति अज्झयणं ॥
४४०. सोरियपुरम्मि नगरे, आसी राया समुहविजओ त्ति ।
तस्सासि अगमहिंसी, सिव त्ति देवी अणोज्जंगी^८ ॥
४४१. तेसि पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमी तहेव रहनेमी ।
तइओ य सच्चनेमी, चउत्थओ होइ दव्वनेमी ॥
४४२. जो सो अरिट्ठनेमी, बावीसइमो अहेसि^९ सो अरहा ।
रहनेमि सच्चनेमी, एए पत्तेयबुद्धा उ ॥
४४३. रहनेमिस्स भगवतो, 'गिहत्थएँ चउर'^{१०} हवन्ति वाससया ।
संवच्चर व्वउमत्थो, पंचसए केवली होंति^{११} ॥
४४४. नववाससए वासाहिए उ सव्वाउगस्स नायव्वं ।
एसो 'चेव उ'^{१२} कालो, 'रायमतीए वि'^{१३} नायव्वो ॥

रहनेमिज्जस्स निज्जुत्तो सम्मत्ता

४४५. निक्खेवो गोतमम्मि, चउक्कओ दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^{१४} ॥

१. दुविहो (अ) ।

२. चूर्णि में ४३७-३९ तक की गाथाओं के लिए 'रहनेमी निक्खेवो इत्यादि गाथात्रयं गतार्थं' —भाव इतना ही संकेत है ।

३. से भवे (अ, ला) ।

४. अभिमुहो (अ) ।

५. ०गोए (अ) ।

६. वेदंतो (शां) ।

७. उ (ला) ।

८. अणुज्जंगी (अ, शां), ४४०-४४ तक की गाथाओं का संक्षिप्त भावार्थ चूर्णि में है

किन्तु गाथा रूप में संकेत नहीं है । टीकाकार ने इन गाथाओं के लिए 'सम्प्रति निर्युक्ति-रनुत्थिते' का उल्लेख किया है ।

९. अहेसि त्ति अभूत् (शांटी प ४९७) ।

१०. गिहत्थस्स चउर (ला), गिहत्थ चउरो (अ) ।

११. होइ (ला) ।

१२. उ चेव (शां) ।

१३. ०मईए उ (शां) ।

१४. ४४५-४७ तक की गाथाओं के लिए चूर्णि में 'निक्खेवो गोतमम्मि' इत्यादि गाथात्रयं गतार्थं' भाव इतना उल्लेख है ।

४४६. जाणसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सो पुणो^१ तिविहो ।
एगभविय-बद्धाउय, अभिसुहओ नामगोत्ते य^२ ॥
४४७. गोतमनामागोयं^३, वेदेतो भावगोयमो होति ।
एमेव य केसिस्स वि, निक्खेवो चउक्कओ होइ ॥
४४८. गोतमकेसीओ या, संवादसमुट्ठियं तु जम्हेयं ।
तो केसिगोयमिज्जं, अज्जकयणं होइ नायव्वं ॥
४४९. सिक्खावए य लिगे य, सत्तणं च पराजए ।
पासावगत्तणे^४ चेव, तंतुद्धरणबंधणे ॥दारं॥
४५०. अगणीणिक्खावणे^५ चेव, तहा दुट्ठस्स निग्गहे ।
तहा पहपरिण्णा य, महासोतनिवारणे ॥दारं॥
४५१. संसारपारगमणे, तमस्स य विघायणे^६ ।
ठाणोवसंपथा चेव, एवं बारससू कमो^७ ॥दारं॥

केसिगोयमिज्जस्स निज्जुत्तो सम्मत्ता

४५२. निक्खेवो पवयणम्मि^८, चउव्विहो 'दुविहो य'^९ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
४५३. जाणसरीरभविए, तव्वतिरित्ते कुत्तिस्थियादीसुं^{१०} ।
भावे दुवालसंगं, गणिपिडगं होइ नायव्वं ॥
४५४. मातम्मि उ^{११} निक्खेवो, चउव्विहो 'दुविहो य'^{१२} होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
४५५. जाणसरीरभविए, तव्वतिरित्ते^{१३} य भायणे दव्वं ।
'भावम्मि य'^{१४} समितीओ, मातं खलु पवयणं जत्थ ॥

१. भवे (अ) ।

२. यह गाथा 'ला' प्रति में नहीं है ।

३. छंद की दृष्टि से 'नामागोयं' पाठ मिलता है ।

४. •त्तणं (अ) ।

५. छंद की दृष्टि से अगणी पाठ होना चाहिए ।

६. वि विघायणे (अ), य विघाडणे (ला) ।

७. बारससुकमो (ला) ।

८. णम्मि (ला), पवयणे य (अ) ।

९. × (ला) ।

१०. कुत्तिस्थिमाईसु (शा) ।

११. × (अ) ।

१२. दुव्विहो (ला) ।

१३. •रित्तं (ला) ।

१४. भावेणं (अ) ।

४५६. अट्टसु वि^१ समितीसु य^२, दुवालसंगं समोयरइ जम्हा ।
तम्हा पवयणमाया, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥
पवयणमायाए निज्जुत्ती सम्मसा^३
४५७. निक्खेवो 'जण्णम्मि य'^४, चउक्कओ दुविहो^५ य^६ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
४५८. जाणगसरीरभविए, तउवतिरित्ते य माहणादीसु^७ ।
तव-संज्जेहु^८ यया, मादं जण्णो मुणेयव्वो ॥
४५९. जयघोसा अणगारा, विजयघोसस्स जण्णकिच्चम्मि^९ ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं जण्णइज्जं ति^{१०} ॥
४६०. वाणारसिनगरीए, दो विप्पा आसि कासवसगोत्ता ।
धण-कणग-विपुलकोसा, छक्कम्मरया चउव्वेया ॥
४६१. दो वि य जमला भाउग, संपीया अन्नमत्तमणुरत्ता ।
जयघोस-विजयघोसा, आगमकुसला सदाररया ॥
४६२. अह अन्नया कदाई^{११}, जयघोसो ण्हाइउं गतो गंगं ।
अह 'पेच्छति मंडुक्क'^{१२}, सप्पेण तहिं गसिज्जंतं^{१३} ॥
४६३. सप्पोवि य कुररेणं^{१४}, उविखत्तो पाडिओ य भूमीए ।
सोवि य कुललो सप्पं, अक्कमिउं अच्छती^{१५} तत्थ ॥
४६४. सप्पो वि 'कुललवसगो, मंडुक्क'^{१६} खाइ चिचियायंतं^{१७} ।
सोवि य कुललो 'सप्पं, खायइ'^{१८} चंडेहिं गासेहि ॥

१. इ (घ) ।

२. × (अ) ।

३. समिईओ सम्मत्ताओ (ला) ।

४. जण्णम्मी (घ) ।

५. दुविहो (अ) ।

६. × (ला) ।

७. ०णाईसुं (शां) ।

८. ०किच्चं पि (अ) ।

९. ४५९-४७६ तक की गायार्थों के लिए चूणि में 'अध्ययननिर्युक्तिगाथा जयघोसा इत्यादि' मात्र इतना ही उल्लेख है । टीकाकार ने

'तत्रोपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमान्तर्गतं किञ्चिद-
भिधित्सुराह' का उल्लेख किया है ।

१०. कयाइ (अ) ।

११. पिच्छइ मंडुक्कं (शां) ।

१२. गलिज्जंतं (अ) ।

१३. कुललेणं (शां) ।

१४. अच्छए (शां, अ) ।

१५. ०लवसगओ मंडुक्कं (शां) ।

१६. चिचियाइयं (शां), चिचियाइतं (अ) ।

१७. खाइय सप्पं (शां) ।

४६५. तं अन्तमन्तघायं, जयघोसो पासिऊण पडिबुद्धो ।
गंगाओ उत्तरिउं, समणाणं आगतो वसधि^१ ॥
४६६. सो समणो पव्वइओ, निग्गंथो सव्वगंथउम्मुक्को ।
वोसरिऊण असारे, केसेहिं सभ परिकिलेसो^२ ॥
४६७. पंचमहव्वयजुत्तो, पंचिदियसंवुडो गुणसमिद्धो ।
घड्ढणजयणप्पहाणो, जाओ समणो समियपावो ॥
४६८. अह एगराइयाए, पडिमाए सो मुणी विहरमाणो ।
वसुहं^३ दूइज्जंतो^४, पत्तो वाणारसि नगारं ॥
४६९. सो उज्जाणनिसन्नो, मासवखमणेण खेदितसरीरो ।
भिवखट्ठु बंभणिज्जे, उवट्ठिओ जण्णवाडम्मि ॥
४७०. अह भणई जयघोसं^५, कीस तुमं आगतो ? इहं भंते !
न हु ते दाहामि इतो^६, जायाहिं^७ हु अन्नतो भिवखं ॥
४७१. सो एवं पडिसिद्धो, जण्णवाडम्मि य जायगेण तहिं ।
परमत्थदिट्ठुसारो, नेव य तुट्ठो न वि य रुट्ठो ॥
४७२. अह भणई अणगारो, अं जायग ! आउसो निसामेहिं^८ ।
वय-चरिय-भिवखचरिया, दिट्ठा साहूण चरणम्मि ॥
४७३. रज्जाणि उ अवहाया, रायरिसी^९ अणुचरंति भिवखाए ।
समणस्स उ मुत्तस्सा^{१०}, भिवखा चरणं च करणं च ॥
४७४. संजाणंतो भणती, जयघोसं जायगो विजयघोसो ।
अत्थि उ पभूतमन्नं, भुंजउ भगवं ! पगामाए ॥
४७५. भिवखेण न मे कज्जं, मज्झं^{११} करणं तु धम्मचरणेणं ।
पडिवज्ज धम्मचरणं, मा संसारम्मि हिडिहिसि ॥

१. वसहि (अ, शां) ।

२. परिकेसे (शां) ।

३. वसहं (अ) ।

४. ०ज्जंतं (अ) ।

५. जायगेणं (अ) ।

६. इमं (अ), इओ (शां) ।

७. जायाधि (ला) ।

८. निसामेह (शां) ।

९. रायसिरि (शां), रायरिसि (अ) ।

१०. मुक्कस्सा (शां), अकारोऽलाक्षणिकः (शांटीप ५३२) ।

११. मज्झ (शां) ।

४७६. सो समणो पक्वइओ, धम्मं सोऊण तस्स समणस्स ।
जयघोस-विजयघोसा, सिद्धिगया खीणसंसारा ॥
जाणइउजस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

४७७. निक्खेवो सामम्मि य, चउव्विहो 'दुविहो य'^१ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥

४७८. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य सक्करादीसु ।
भावम्मि दसविहं खलु, इच्छामिच्छादियं होति^२ ॥

४७८।१. इच्छा मिच्छा तहक्कारो, आवस्सिया य निसीहिया ।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा^३ ॥

४७८।२. उवसंपया य काले, सामायारी भवे दसविहा उ ।
एएसि तु पयाणं, पत्तेयपरूवणं वोच्छं^४ ॥

४७९. आयारे निक्खेवो, चउक्कओ दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^५ ॥

४८०. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य नमणमादीसु^६ ।
भावम्मि दसविधाए, सामायारीय आयरणा ॥

४८१. इच्छादिसाममेसुं, आयरणं वणिणयं तु जम्हेत्थ ।
तम्हा सामायारी, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥

सामायारीनिज्जुत्ती सम्मत्ता

१. दुविहो (शा) ।

२. कोष्ठकवर्ती दोनों गाथाओं का संकेत चूर्णि में नहीं मिलता है । धृत्तिकार शान्त्याचार्य (प. ५३२) तथा नेमिचंद्र (प. ३१०) ने इनको निर्युक्तिकृद् माना है । ये दोनों गाथाएं आवश्यकनिर्युक्ति ६६६, ६६७ की हैं । ऐसा संभव लगता है कि प्रसंगवश लिपिकारों या आचार्यों द्वारा ये गाथाएं बाद में जोड़ दी गई हैं । इसका प्रबल प्रमाण है कि ४७८ की गाथा के अंतिम चरण में 'इच्छामिच्छादियं होति' का उल्लेख है । यदि निर्युक्तिकार वसों का नामोल्लेख करते तो यह चरण अलग से नहीं

लिखते । इसके अतिरिक्त ४७८/२ में 'पत्तेय परूवणं वोच्छं' के उल्लेख से भी स्पष्ट है कि ये गाथाएं उत्तराध्ययन सूत्र से बाद में जोड़ी गयी हैं क्योंकि उत्तराध्ययन में वसों सामाचारियों का विस्तृत वर्णन है । यहाँ तो केवल नामोल्लेख मात्र है ।

३. आवनि ६६६, अनुद्धा २३९।१ ।

४. आवनि ६६७, अनुद्धा २३९।२ ।

५. ४७९-८१ तक की तीन गाथाओं के लिए चूर्णि में 'आयारे निक्खेवो इत्यादिगाथात्रयं' मात्र इतना उल्लेख है ।

६. ०णाईसुं (शा) ।

४८२. निव्वेवो खलुंक्कम्मि^१, चउव्विहो 'दुविहो य'^२ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिव्विहो ॥
४८३. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते वडल्लमादीसु^३ ।
पडिलोमो सव्वत्थेसु, भावतो होइ उ^४ खलुंको ॥
४८४. अवदाली उत्तसओ^५, जोत्त जुगभंज तुत्तभजे य ।
उप्पघ-विप्पहगामी, एय^६ खलुंका भवे गोणा ॥
४८५. जं किर दव्वं खुज्जं, कक्कडगुरुयं तहा दुरवणामं^७ ।
तं दव्वेसु खलुंकं, वंक-कुडिल-वेढमाइदं ॥
४८६. 'सुचिरं पि वंकुडाइ'^८, होहिंति अणुज्जइज्जमाणाइं ।
करमंदिदारुगाइं, 'गयंकुसाइं च वेँटाइ'^९ ॥
४८७. वंसमसमस्सभाणा, जञ्जु-पिण्डुमसगा^{१०} य जे होति ।
ते किर होति^{११} खलुंका, तिव्वम्मिउ-चंड-महविया ॥
४८८. जे किर गुरुपडिणीया^{१२}, सबला असमाहिकारगा पावा ।
'अहिगरणकारणं वा'^{१३} जिणवयणे ते किर खलुंका^{१४} ॥
४८९. पिसुणा परोवतापी, भिन्नरहस्सा परं परिभवन्ति ।
'निव्वय-निस्सील-सद्धा'^{१५}, जिणवयणे ते किर खलुंका ॥
४९०. तम्हा खलुंकभावं, चइरणं पंडितेण पुरिसेणं ।
कायव्वा होइ मती, उज्जुसभावम्मि^{१६} भावेणं ॥

खलुंकिज्जस्स निज्जुत्तो सम्मत्ता

१. खलुंकिज्जम्मि (चू) ।
२. दुव्विहो (ला) ।
३. ०मार्हसुं (अ, शां) ।
४. स (अ) ।
५. उत्तमतो (ला) ।
६. एए (ला) ।
७. दुरोणामं (ला) ।
८. सुचिरम्मि वंकुडाइं (ला) ।
९. गयंकुसा इव विँटाइं (शां) ।
१०. जसुयकविच्छय० (शां) ।
११. × (ला) ।
१२. ०पडणीया (अ, ला) ।

१३. ०कारगज्जा (शां) ।
१४. ४८८-९० तक की मायाओं के लिए चूणि में
'जे किर गुरुपडिणीया इत्यादिमायाययं' मात्र
इतना ही उल्लेख है ।
१५. निव्विअणिज्जा य सद्धा (शां), निव्वया
निस्सील० (ला), पाठान्तरतो निर्गता वचनी-
याद्—उपदेशवाक्यात्मकाद् ये ते निर्वचनीयाः,
चः समुच्चये भिन्नक्रमश्च, ततः 'शठाश्च'
मायाविनः, पठ्यते च—निव्वया निस्सीलसद्धा'
ति (शांटी प. ५४९) ।
१६. उज्जुसभा० (अ) ।

४९१. निक्खेवो भोक्खम्मि य, चउच्चिहो दुविहो य होइ दब्बम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
४९२. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य नियलमादीसु^१ ।
अट्टविहकम्ममुक्को, नायव्वो भावतो मोक्खो ॥
४९३. निक्खेवो मग्गम्मि वि, चउच्चिहो दुविहो^२ य होइ दब्बम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
४९४. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य जल-थलादीसु ।
भावम्मि नाण-दंसण-तव-चरणगूणा मूणेयव्वा ॥
४९५. निक्खेवो उ गतीए, चउक्कओ दुविहो^३ य होइ दब्बम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^४ ॥
४९६. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य पोमालादीसु ।
भावे पंचविहो खलु, मोक्खगतीए अहीगारो^५ ॥
४९७. मोक्खो मग्गो य गती, वणिज्जइ अम्ह एत्थ^६ अज्झयणे ।
तं एयं अज्झयणं, नायव्वं मोक्खमग्गगती ॥
- मोक्खमग्गगतीए निज्जुत्ती सम्मत्ता

४९८. आयाणपदेणेदं^७, सम्मत्तपरक्कमं ति अज्झयणं ।
गोणं तु अप्पमायं, एगे पुण वीयरगसुयं ॥
४९९. निक्खेवो अप्पमाए^८, चउच्चिहो दुविहो^९ य होइ दब्बम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
५००. जाणगसरीरभविए,^९ तव्वतिरित्ते अमित्तमादीसु ।
भावे 'अण्णाण असंवरादीस'^{१०} होति^{१०} नायव्वो ॥

१. ०माईसुं (भां, अ) ।

२. x (अ) ।

३. ४९५-९७ तक की गायार्थों के लिए चूणि में
'निक्खेवो उ गतीए इत्यादि गायार्थ' मात्र
इतना उल्लेख है ।

४. अहि० (ला) ।

५. इत्थ (शां) ।

६. ०पण्णेयं (शां) ।

७. अप्पमाए (शां) ।

८. जाणगभवियसरीरे (शां) ।

९. अण्णाणमसंव० (ला) ।

१०. होति (अ) ।

५०१. निक्खेवो य^१ सुयम्मी, चउक्कओ^२ दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
५०२. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य से^३ उ पंचविधे ।
'अंडय-बोंडय-वालय'^४, वागय तह कीडए चेव ॥
५०३. भावसुयं पुण दुविहं, सम्मसुयं चेव होइ मिच्छसुयं^५ ।
अघिगारो^६ सम्मसुए, इहमज्झयणम्मि नायव्वो^७ ॥
५०४. सम्मत्तमप्पमादो, 'इह अज्झयणम्मि'^८ वणिणतो जेण ।
तम्हेतं अज्झयणं, नायव्वं अप्पमादसुयं ॥

सम्मत्तपरक्कमस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

५०५. निक्खेवो उ तवम्मी^९, चउव्विहो दुविहो य^{१०} होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^{११} ॥
५०६. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य पंच तवमादी ।
भावम्मि होइ दुविहो, बज्झो अग्गिभतरो चेव^{१२} ॥
५०७. मग्गगतीणं दोण्ह वि, पुव्वुद्धिट्ठो चउक्कनिक्खेवो ।
पगतं तु भावमग्गे, सिद्धिगतीए उ नायव्वं^{१३} ॥
५०८. दुविह तवोमग्गगती, वणिणज्जइ जम्ह एत्थ अज्झयणे ।
तम्हा एयज्झयणं, तवमग्गगइ त्ति नायव्वं ॥

तवमग्गगइए निज्जुत्ती सम्मत्ता

१. उ (ला) ।

२. चउव्विहो (अ) ।

३. सो (शा) ।

४. वालय-अंडय-बोंडय (अ), ०पोंडय० (ला) ।

५. मिच्छासुयं (ला) ।

६. अघिगारो (शा) ।

७. नायव्वो (ला) ।

८. इहमज्झ० (शा) ।

९. तवम्मि (शा) ।

१०. × (ला) ।

११. ५०५-५०८ तक की गाथाओं की व्याख्या न देकर चूर्णिकार ने मात्र इतना ही संकेत किया है कि 'निक्खेवो उ तवम्मीत्यादि गाथा चतुष्टयं' ।

१२. भवे (ला) ।

१३. ०व्वो (शा,अ) ।

५०९. निषेखेवो चरणम्मि^१, चउव्विहो दुविहो^२ य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^३ ॥
५१०. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते गति-भिक्खमादीसु^४ ।
आचरणे आचरणं, 'भावे चरणं'^५ तु नायव्वं ॥
५११. निषेखेवो उ विहीए, चउव्विहो दुविहो य^६ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
५१२. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य इंदियत्थेसु ।
भावविही पुण दुविहा, संजमजोगो तवो चेव ॥
५१३. पगयं तु भावचरणे, भावविहीए य होइ नायव्वं ।
चइऊण अचरणविहिं, चरणविहीए उ जइयव्वं ॥
चरणविहीए निज्जुत्ती सम्मत्ता

५१४. निषेखेवो उ^७ पमाए, चउव्विहो दुविहो य^८ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^९ ॥
५१५. जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य मज्जमादीसु ।
निदा-विकह-कसाए, विसएसुं भावतो पमदो^{१०} ॥
५१६. नामं ठवणा दविए, खेतद्धा उड्डु^{११} उवरती वसधी^{१२} ।
संजम-पग्गह जोहे, अचल-गणण-संघणा-भावे^{१३} ॥
५१७. भावप्पमायपगयं^{१४}, संखाजुत्ते य भावठाणम्मि ।
चइऊणं ति^{१५} पमायं, जइयव्वं अप्पमादम्मि ॥

१. चरणम्मि (शां, चू); चरणम्मि (ला) ।

२. दुव्विहो (ला) ।

३. चूर्णि में ५०९-५१३ तक की गाथाओं के लिए पहली गाथा का संकेत देकर "इत्यादि गाथा पंच" मात्र इतना ही निर्देश है ।

४. गतिरुक्खं (ला) ।

५. भावाचरणं (शां) ।

६. × (ला) ।

७. अ (शां) ।

८. × (ला) ।

९. चूर्णिकार ने ५१४ से ५२१ तक की गाथाओं

की व्याख्या व संकेत न देकर मात्र 'निषेखेवो उ पमाते इत्यादि गाथा अष्ट' इतना उल्लेख किया है ।

१०. छंद की दृष्टि से पमादो के स्थान पर पमदो पाठ स्वीकृत किया है ।

११. × (ला) ।

१२. वसही (अ, शां) ।

१३. वणानि इ ।

१४. प्पगओ (अ) ।

१५. तु (अ), च (शां) ।

५१८. वाससहस्सं उगं, तवमाइकरस्स आयरंतस्स ।
जो किर पमायकालो, आहोरत्त^१ तु संकलियं ॥
५१९. वारसवासे अहिए, तवं चरंतस्स बद्धमाणस्स ।
जो किर पमायकालो, अंतमुहुत्तं^२ त संकलियं ॥
५२०. जेसिं तु पमाएणं, गच्छइ कालो निरत्थओ धम्मे ।
ते संसारमणंतं, हिडंति पमाददोसेणं ॥
५२१. तम्हा खलुप्पमायं, चइळणं पंडिएण पुरिसेण ।
दंसण-नाण-चरित्ते, कायव्वो अप्पमादो उ^३ ॥
- पमायट्ठाणस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

५२२. कम्मम्मि य निक्खेवो, चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^४ ॥
५२३. जाणगसरीरभवियं, तव्वतिरित्तं च तं भवे दुविहं ।
कम्मे नोएएओ या, कम्मम्मि य अणुदओ भणितो ॥
५२४. नोकम्मदव्वकम्मं, नायव्वं लेप्पकम्ममादीयं^५ ।
भावे उदओ भणितो, कम्मदुविहस्स नायव्वो ॥
५२५. निक्खेवो पगडीए, चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
५२६. जाणगभवियसरीरा, तव्वतिरित्ता 'य सा पुणो दुविहा'^६ ।
कम्मे नोकम्मे या, कम्मम्मि य^७ अणुदओ भणितो ॥
५२७. नोकम्मे दव्वाइ, 'गहणप्पाउग्गमुक्कगाइ'^८ च ।
भावे उदओ भणितो, मूलपगडि^९ उत्तराणं च ॥

१. अंतोमुहुत्तं (अ) ।

२. अंतोमुहुत्तं (ला) ।

३. य (अ) ।

४. ५२२-२८ तक की गाथाओं का चूर्ण में गाथा रूप में संकेत नहीं है किन्तु गाथाओं की संक्षिप्त व्याख्या मिलती है तथा 'कम्मम्मि निक्खेवो इत्यादि गाथा अष्ट' का उल्लेख है । किन्तु इस अध्यायन की मात्र सात ही गाथाएँ

हैं । आठवीं गाथा अन्वेषणीय है ।

५. लेप० (ला), लेव० (अ) ।

६. य होइ दुविहो उ (अ) ।

७. × (ला) ।

८. गहणप्पाउग्ग० (गां), गहणं पाओगमुक्कगायं (अ) ।

९. मूलप्पगडी (ला), मूलप्पगडि (अ) ।

५२८. 'पगति-द्विति'^१ अणुभागो, पदेसकम्मं च सुट्ठु नाऊणं ।
एतेसि संवरे खलु, 'खवणे उ सयावि'^२ जतितब्बं ॥

कम्मपयडीए तिज्जुत्ती सम्मत्ता

५२९. लेसाणं निक्खेवो, चउक्कओ दुविह होइ नायब्बो^३ ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^४ ॥

५३०. जाणसरीरभविया,^५ तव्वतिरित्ता य सा पुणो तिविहा ।
कम्मे नोकम्मे या, नोकम्मे होंति दुविहा उ ॥

५३१. जीवाणमजीवाण य, दुविहा जीवाण होइ नायब्बा ।
भवमभवसिद्धियाणं^६, दुविहाण वि होइ सत्तविहा ॥

५३२. अजीवकम्म नोदव्वलेसा, सा दसविहा तु नायब्बा ।
चंदाण य सूराण य, गह गण-नक्खत्त-ताराण^७ ॥

५३३. आभरणच्छायणाऽऽदंसगाण, मणि-कागिणीण जा लेसा ।
अज्जीवदव्वलेसा, नायब्बा दसविहा एसा ॥

५३४. जा दव्वकम्मलेसा,^८ सा नियमा छव्विहा उ^९ नायब्बा ।
किण्हा नीला काऊ, तैऊ पम्हा य सुक्का य ॥

५३५. दुविहा उ^{१०} भावलेसा, विसुद्धलेसा तहेव अविमुद्धा ।
दुविहा विसुद्धलेसा, उवसमखइया कसायाणं ॥

५३६. अविमुद्धभावलेसा, सा दुविहा नियमसो उ नायब्बा ।
पेज्जम्मि य दोसम्मि य, अहिगारो कम्मलेसाए ॥

५३७. नोकम्मदव्वलेसा, पओगसा वीससा उ^{११} नायब्बा ।
भावे उदओ भणितो, ऋण्हं लेसाण जीवेसु ॥

१. पगइठिइ (शां), पयतिद्विति (चू), पगिइ-
ठिइ (अ) ।

२. खमणे वि सया तु (अ) ।

३. दव्वम्मि (ला) ।

४. ३४वें अध्ययन की १२ निर्युक्तिगाथाएं
(५२९-४०) हैं। चूर्णिकार ने 'लेसाणं
निक्खेवो इत्यादि दश' इतना उल्लेख
किया है तथा कुछ गाथाओं का
संक्षिप्त भावार्थ भी दिया है। अंतिम दो

गाथाओं (गा. ५३९, ५४०) का वहां कोई
उल्लेख नहीं है।

५. ०सरीरभविए (ला,अ) ।

६. मस्वालाक्षणिकत्वात् (शांटीप ६४९) ।

७. ताराओ (अ) ।

८. कम्मदव्व० (अ,ला) ।

९. X(अ) ।

१०. य (अ,ला) ।

११. य (ला) ।

५३८. अण्मयणे निक्खेवो, चउव्विहो 'दुविहो होइ नायव्वो'^१ ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
५३९. जाणगसरीरभवियं,^२ तव्वतिरित्तं च पोत्थगादीसु^३ ।
अज्झप्पस्साणयणं, नायव्वं भावमज्झयणं ॥
५४०. एयासि^४ लेसाणं, नाऊण सुभासुभं तु परिणामं ।
चइऊण अप्पसत्थं, पसत्थलेसासु जतितव्वं ॥
लेसज्झयणत्स निज्जुत्तो सम्मत्ता

५४१. अणगारे निक्खेवो, चउव्विहो 'दुविहो' य^५ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^६ ॥
५४२. जाणगसरीरभविए तव्वतिरित्ते य निण्हगादीसु ।
भावे सम्महिट्ठी, अणारवासा विणिम्भुक्को^७ ॥
५४३. मग्गगईणं दोण्ह वि, पुव्वुहिट्ठो चउव्वकनिक्खेवो ।
अहिगारो^८ भावमग्गे, सिद्धिगईए उ^९ नायव्वो^{१०} ॥
अणगारमग्गगईए निज्जुत्तो सम्मत्ता

५४४. निक्खेवो 'जीवम्मि य'^{११}, चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥
५४५. जाणगसरीरभवियं, तव्वतिरित्तं च^{१२} जीवदव्वं तु ।
भावम्मि दसविहो खलु, परिणामो जीवदव्वस्स^{१३} ॥
५४६. निक्खेवो 'उ अजीवे',^{१४} चउव्विहो 'दुविहो य होइ दव्वम्मि'^{१५} ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥

१. दुविहो होइ दव्वम्मि (ला) ।

२. ०भवियसरीरं (शा) ।

३. पुत्थगाइसु (अ) ।

४. एएसि (ला) ।

५. दुव्विहो (अ) ।

६. ५४१-५४३ तक की गाथाओं के लिए चूणि में 'अणगारे निक्खेवो इत्यादि गाथात्रयं'—मात्र इतना ही संकेत है ।

७. विणिम्भुक्को (ला) । अ प्रति में केवल एक

चरण मिलता है ।

८. य (ला) ।

९. अ प्रति में ५४३, ५४४ ये दोनों गाथाएं नहीं हैं ।

१०. जीवम्मि (ला) ।

११. अ (शा) ।

१२. अ प्रति में गाथा का केवल उत्तरार्ध है ।

१३. अजीवम्मि (शा, अ) ।

१४. दुविहो होइ नायव्वो (शा) ।

५४७. जाणगसरीरभविए तत्त्वतिरित्ते अजीवदव्वम्मि^१ ।
भावम्मि दसविहो खलु, परिणामो अजीवदव्वस्स^२ ॥
५४८. निक्खेवो विभत्तोए, चउत्विहो 'दुविह होइ'^३ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो^४ ॥
५४९. जाणगसरीरभविया तत्त्वतिरित्ता य सा^५ भवे दुविहा ।
जोवाणमजीवाण य^६, जीवविभत्तो तहि दुविहा ॥
५५०. सिद्धाणमसिद्धाण य, अज्जीवाणं^७ तु होइ 'दुविहा उ'^८ ।
रूखीणमरूखीण य, विभासियत्वा जहासुत्ते ॥
५५१. भावम्मि विभत्ती खलु, नायव्वा छत्विहम्मि भावम्मि ।
अहिगारो एत्थं पुण, दव्वविभत्तीएँ अज्झयणे ॥

जीवाजीवविभत्तोए निज्जुत्ती सम्मत्ता

५५२. जे किर भवसिद्धीया, परित्तसंसारिया य भविया य ।
ते किर पढति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणा^९ ॥
५५३. जे 'होति अभवसिद्धा'^{१०}, गंठियसत्ता^{११} अणंतसंसारा ।
ते संकिलिढुकम्मा^{१२}, 'अभविय ते उत्तरज्झाए'^{१३} ॥
५५४. तम्हा जिणपण्णत्ते, अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते ।
अज्झाएँ जहाजोगं^{१४}, 'गुरुप्पसाया अहिज्जंति'^{१५} ॥

उत्तरज्झयणस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

१. अजीवदव्वं तु (शां) ।

२. ०दव्वम्मि (अ) ।

३. दुविहो य होइ (अ) ।

४. ५४८-५४९ तक की गाथाओं के लिए खूणि में 'निक्खेवो विभत्ती इत्यादि गाथा सप्त' का उल्लेख किया है। इन सात गाथाओं के अन्तर्गत अंतिम गाथा 'तम्हा जिणपण्णत्ते भी आ जाती है किन्तु खूणिकार ने इसे उद्धृत-गाथा भी माना है ।

५. से (शां) ।

६. व (अ) ।

७. अजीवाणं (ला) ।

८. दव्वाओ (ला) ।

९. उत्तरज्झाए (ला), ०ज्झयणे (शां) ।

१०. हुति अभवसिद्धीया (शां), ०सिद्धी (ला) ।

११. गंठिय० (ला) ।

१२. संकिलिढु ० (ला) ।

१३. अवविया उत्त० (ला), अव्वा जि ते अणत्ते (शांटीपा प ७१२) ।

१४. जहाजोगं (चू) ।

१५. ०पसाया अहिज्जंज्जा (शां), ०पसाया अहिज्जेज्जा (अ) ।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति

हिन्दी अनुवाद

पहला अध्ययन : विनयश्रुत

१. उत्तर शब्द के १५ निक्षेप हैं—

१. नाम उत्तर	६. तापक्षेत्र उत्तर	११. प्रधान उत्तर
२. स्थापना उत्तर	७. प्रजापक उत्तर	१२. ज्ञान उत्तर
३. द्रव्य उत्तर	८. प्रति उत्तर	१३. क्रम उत्तर
४. क्षेत्र उत्तर	९. काल उत्तर	१४. गणना उत्तर
५. दिशा उत्तर	१०. संचय उत्तर	१५. भाव उत्तर ।

२. प्रत्येक जघन्य वस्तु 'सोत्तर'—उत्तर सहित होती है और उत्कृष्ट वस्तु 'अनुत्तर'—उत्तर रहित होती है । शेष मध्यम वस्तु 'सोत्तर-अनुत्तर' दोनों होती हैं ।

३. प्रस्तुत प्रसंग में क्रम-उत्तर का प्रसंग है । ये उत्तर-अध्ययन (उत्तराध्ययन) आचारांग सूत्र के उत्तरकाल—पश्चात् पढ़े जाते थे इसलिए ये अध्ययन 'उत्तर' शब्द से वाच्य हुए हैं ।

४. ये अध्ययन दृष्टिवाद आदि अंगों से उत्पन्न हैं, जिनभाषित हैं, प्रत्येकबुद्ध मुनियों तथा परस्पर संवादों से समुत्थित हैं । इनमें बन्धन और बन्धन-मुक्ति का विवेक है । ये सारे छत्तीस उत्तराध्ययन हैं ।

५. अध्ययन शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम अध्ययन, स्थापना अध्ययन, द्रव्य अध्ययन तथा भाव अध्ययन । इसी प्रकार अक्षीण, आय और क्षणा के भी ये चार-चार निक्षेप होते हैं ।

६. अध्यात्म का आनयन अर्थात् आत्मा का अध्ययन । उपचित कर्मों का अपचय तथा नए कर्मों का अनुपचय—यह अध्ययन का प्रयोजन है ।

७. जिससे जीव आदि पदार्थों का ज्ञान होता है, ज्ञान आदि की अधिक प्राप्ति होती है, मुक्ति की शीघ्र साधना की जाती है, वह अध्ययन है ।

८. जैसे एक दीपक से सौ दीपक जलाए जाते हैं और वह दीपक भी जलता रहता है, वैसे ही आचार्य दीपक के समान होते हैं जो स्वयं को और दूसरों को प्रकाशित करते हैं ।

९. भाव अध्ययन प्रशस्त और द्रव्य अध्ययन अप्रशस्त होता है । जिससे ज्ञान आदि की प्राप्ति होती है, वह प्रशस्त और जिससे क्रोध आदि की जागृति हो, वह अप्रशस्त है । आय, आगम, लाभ—ये एकार्थक हैं ।

१०. वस्त्र की पर्यस्तिता, उत्पिष्टता और उत्पीड़ना—ये द्रव्य क्षणा हैं । ये तीनों ही क्रमशः अपथ्य, अपथ्यतर तथा अपथ्यतम हैं ।

११. शुभ योगों के द्वारा जो बंधे हुए चिरन्तन आठ कर्मरजों को विनष्ट करता है, यह परम्परा से भावक्षयण है । इस भाव अध्ययन को आगे से आगे जानना चाहिए ।

१२. श्रुतस्कंध शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । अब मैं अध्ययनों के नाम तथा उनका अर्थाधिकार बताऊंगा ।

१३-१७. उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन हैं । उनके नाम क्रमशः ये हैं—

(१) विनयश्रुत	(१३) चित्रसंभूत	(२५) यज्ञीय
(२) परीषद्	(१४) इष्टुकारीय	(२६) सामाचारी
(३) चतुरंगीय	(१५) सभिक्षु	(२७) खलुंकीय
(४) असंस्कृत	(१६) समाधि-स्थान	(२८) मोक्षगति
(५) अकाममरण	(१७) पापश्रमणीय	(२९) अप्रमाद
(६) निर्ग्रन्थीय	(१८) संयतीय	(३०) तप
(७) औरघ्र	(१९) भृगुचारिका	(३१) चरण
(८) कापिलीय	(२०) निर्ग्रन्थता	(३२) प्रमादस्थान
(९) नमिप्रज्ञया	(२१) समुद्रपालीय	(३३) कर्मप्रकृति
(१०) द्रुमपत्रक	(२२) रथमेमिक	(३४) लेश्या
(११) बहुश्रुत पूज्य	(२३) केशिनीतमीय	(३५) अनगारमार्ग
(१२) हरिकेशीय	(२४) समिति	(३६) जीवाजीवविषयि ।

१८-२६. छत्तीस अध्ययनों के अर्थाधिकार—विषय इस प्रकार हैं—

(१) विनय	(१३) निदान	(२५) ब्रह्मचर्य के गुण
(२) परीषद्	(१४) अनिदान	(२६) सामाचारी
(३) दुर्लभ अंग	(१५) भिक्षुगुण	(२७) अशठता
(४) प्रमाद-अप्रमाद	(१६) ब्रह्मचर्यगुण	(२८) मोक्षगति
(५) मरण-विभक्ति	(१७) पाप-वर्जन	(२९) आवश्यक अप्रमाद
(६) विद्या-चरण	(१८) भोग ऋद्धि का परित्याग	(३०) तप
(७) रसगृद्धि का परित्याग	(१९) अपरिकर्म	(३१) चारित्र
(८) अलाभ	(२०) अनाश्रयता	(३२) प्रमादस्थान
(९) निष्कंपता	(२१) विविक्तचर्या	(३३) कर्म
(१०) अनुशासन की उपमा	(२२) स्थिरचरण	(३४) लेश्या
(११) पूजा	(२३) धर्म	(३५) भिक्षुगुण
(१२) तपःऋद्धि	(२४) समितियां	(३६) जीव-अजीव

२७. उत्तराध्ययनों के समुदयार्थ का संक्षेप में यह वर्णन है । यहां मैं आगे एक-एक अध्ययन का प्रतिपादन करूंगा ।

२८. उनमें पहला अध्ययन है—विनयश्रुत । उसका उपक्रम आदि द्वारों से प्ररूपण करना चाहिए । प्रस्तुत अध्ययन में विनय का अधिकार है, प्रसंग है ।

२८।१. (निक्षेप तीन प्रकार का है—ओषनिष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापकनिष्पन्न) ओषनिष्पन्न का अर्थ है—सामान्य श्रुत । उसके चार प्रकार हैं—अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा ।

२८।२. श्रुत (अनुयोगद्वारा सूत्र) के अनुसार अध्ययन के नाम, स्थापना आदि चार भेदों का वर्णन करके अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा—इन चारों से विनयश्रुत की सम्बन्ध-योजना करनी चाहिए।

२८।३. जिससे आत्मा में शुभ की अत्यधिक प्राप्ति होती है, अध्यात्म का आनयन तथा संबोध, संयम और मोक्ष का अत्यधिक लाभ होता है, वह अध्ययन है।

२८।४. अव्यवच्छिन्ति नम अर्थात् द्रव्यास्तिकनय के अनुसार दीयमान अध्यात्म अलोक की भांति अक्षीण है। इससे ज्ञान आदि की प्राप्ति होती है तथा पाप-कर्मों का क्षय होता है।

२९. विनय का पहले वर्णन किया जा चुका है। श्रुत शब्द के चार निक्षेप हैं। द्रव्यश्रुत है—श्रुत का ग्रहण और श्रुत का निह्वान करना और भावश्रुत है—श्रुत में उपयुक्त—तन्मय।

३०. संयोग शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य स्नेह, काल और भाव। द्रव्य संयोग दो प्रकार का होता है—संयुक्तकसंयोग तथा इतरेतरसंयोग।

३१. संयुक्तकसंयोग सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्यों का होता है। सचित्त द्रव्य जैसे—द्रुम आदि। अचित्त द्रव्य जैसे—अणु आदि। मिश्र द्रव्य जैसे स्वर्ण आदि तथा कर्मसंतति उपलक्षित जीव।

३२. सचित्तसंयुक्तद्रव्यसंयोग—द्रुम आदि मूल, कंद, स्कन्ध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज से संयुक्त होता है।

३३. एक रस, एक वर्ण, एक गंध तथा दो स्पर्श—यह परमाणु का लक्षण है। वे द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों में संयुक्त होते हैं। यह अचित्तसंयुक्तकसंयोग है।

३४. मिश्रसंयुक्तद्रव्यसंयोग—जैसे स्वर्ण आदि धातुएं स्वभाव से ही संयोग-संयुक्त होती हैं। इसी प्रकार जीव कर्म-संतति से अनादि संयुक्त है।

३५. इतरेतरसंयोग का अर्थ है—परस्पर संयोग। परमाणुओं और प्रदेशों का इतरेतर-संयोग होता है। वह दो प्रकार का है—अभिप्रेत तथा अनभिप्रेत। अभिलाप है—वाचक शब्द का सम्बन्ध।

३६. परमाणुओं में दो प्रकार का इतरेतरसंयोग होता है—संस्थान से सम्बन्धित तथा स्कन्ध से सम्बन्धित। संस्थान विषयक संयोग के पांच प्रकार हैं तथा स्कन्ध विषयक संयोग दो प्रकार का है।

३७. दो या अधिक परमाणु पुद्गल एकत्रित होकर स्कन्ध बनते हैं। उनका संस्थान अनिरर्थस्थ होता है।

३८. परिमण्डल, वृत्त, व्यस्र, चतुरस्र और आयत—इन पांचों संस्थानों में प्रथम परिमंडल को छोड़कर चारों संस्थान धन और प्रतर के द्वारा दो-दो भागों में बंटते हैं—ओजःप्रदेशधनवृत्त और युग्मप्रदेश धनवृत्त। ओजःप्रदेश प्रतरवृत्त और युग्मप्रदेश प्रतरवृत्त। इसी प्रकार व्यस्र आदि के भी दो-दो भेद होते हैं।

३९-४१. परिमंडल आदि संस्थान अवस्थ और उत्कृष्ट के पंच से दो-दो प्रकार के हैं। उत्कृष्टतः असंख्य प्रदेशावगाढ वाले ही होते हैं। जघन्यतः वृत्तसंस्थान का ओजःप्रदेशप्रतरवृत्त पांच प्रदेशावगाढ का होता है। युग्मप्रदेश प्रतरवृत्त १२ प्रदेशावगाढ का होता है। ओजःप्रदेशघनवृत्त ७ प्रदेशावगाढ का होता है। युग्मप्रदेश घनवृत्त ३२ प्रदेशावगाढ का होता है। इसी तरह व्यस्र संस्थान के क्रमशः ३, ६, ३५ और ४ प्रदेशावगाढ हैं। चतस्र संस्थान के क्रमशः ९, ४, २७ और ८ प्रदेशावगाढ हैं। आयतओजःप्रदेश श्रेण्यायत संस्थान के ३, २, १५ और ६ प्रदेशावगाढ हैं। आयत संस्थान के ओजःप्रदेश घनायत के क्रमशः ४५, १२ और ६ प्रदेशावगाढ हैं। परिमंडल संस्थान के २० और ४० प्रदेशों का अवगाढ है।^१

४१।१. स्निग्ध परमाणुओं का स्निग्ध के साथ तथा रुक्ष परमाणुओं का रुक्ष परमाणुओं के साथ अर्थात् सदृश परमाणुओं का एकीभाव तब होता है, जब वे दो गुण अधिक अथवा इससे अधिक गुण वाले हों।

स्निग्ध परमाणुओं का रुक्ष परमाणुओं के साथ अथवा रुक्ष परमाणुओं का स्निग्ध परमाणुओं के साथ अर्थात् विसदृश परमाणुओं का एकीभाव तब होता है, जब वे अजघन्य गुण वाले होते हैं, फिर चाहे वे विषम हों या सम।

४२. धर्मास्तिकाय आदि पाँचों के प्रदेशों का जो संयोग है, वह इतरेतरसंयोग है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—इन तीनों का संयोग अनादि है और शेष दो—जीव और पुद्गल का संयोग आदि होता है।

४३. शब्द, रस, रूप, गंध, स्पर्श आदि पाँच विषयों के साथ अभिप्रेत और अनभिप्रेत संयोग होता है। अभिप्रेत अनुकूल है और अनभिप्रेत प्रतिसोम है।

४४. समस्त औषध द्रव्यों की संयुति, गन्ध-द्रव्यों की संयुति, भोजन विधि अर्थात् भोजन के विभिन्न भेद, राग-विधि, गीत-वादित्र विधि—ये सारे अनुलोम—अभिप्रेत संयोग हैं।

४५. अभिलाप संयोग तीन प्रकार का है—१. शब्द का अर्थ के साथ। (द्विक संयोग) २. अर्थ का अर्थ के साथ। ३. अक्षर का अक्षर के साथ। शब्द का अर्थ के साथ जो संयोग होता है, वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है। द्रव्य संयोग—घट शब्द का घट पदार्थ के साथ वाच्यवाचक संबंध। क्षेत्र संयोग—शब्द का आकाश के साथ अवगाह संबंध। काल संयोग—समय आदि शब्द का वर्तना लक्षण वाले काल के साथ संबंध। भावसंयोग—औदयिक आदि भाव का तत्सम अवस्था के साथ सम्बन्ध।

४६. सम्बन्धनसंयोग तीन प्रकार का होता है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। सचित्त-सम्बन्धनसंयोग के तीन प्रकार हैं—द्विपद-पुत्री आदि, चतुष्पद-योमान् आदि, अपदसंयोग—पनस-वान् आदि। अचित्तसम्बन्धनसंयोग—हिरण्य आदि का संयोग। मिश्रसम्बन्धनसंयोग—रथ में योजित तुरग आदि। इसके और भी अनेक प्रकार हैं।

४७. क्षेत्र, काल और भाव—इन तीनों के दो-दो प्रकार के सम्बन्धनसंयोग होते हैं—आवेश (विशेष) और अनावेश (सामान्य)।

४८. सदृश ज्ञान-चारित्र्यगत आदेश (विशेष) के अनेक प्रकार बताए जा चुके हैं। स्वामित्व तथा प्रत्यय (ज्ञान का कारण) के विषय में कुछ आगे बताया जाएगा।

४९. भाव विषयक अनादेश के छह प्रकार हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक तथा सान्निपातिक।

५०. भाव विषयक आदेश के दो प्रकार हैं—अपित व्यवहार^१ और अनपित व्यवहार^२। प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—स्व, पर और तदुभय।

५१. आत्मसंयोग (स्वसंयोग) चार प्रकार का होता है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक।

५२. जो सान्निपातिक भाव औदयिकभाव से रहित होता है, वह ग्यारह संयोगात्मक होता है, यही आत्मापितसंयोग है।

५३. लक्ष्म्या, कषाय, वेदना, वेद, अज्ञान, मिथ्यात्व, मिश्र आदि जितने भी औदयिक परिणाम हैं, वे सारे बाह्यापितसंयोग हैं।

५४. जो सान्निपातिक भाव औदयिकभाव से मिश्रित होता है, वह पन्द्रह संयोगात्मक होता है। वह सारा उभयापितसंयोग है।

५५. इसके प्रतिपादन का दूसरा आदेश—प्रकार भी है। उसके अनुसार संयोग तीन प्रकार का है—आत्मसंयोग, बाह्यसंयोग और तदुभयसंयोग। इसका मैं संक्षेप में कथन कर रहा हूँ।

५६. आत्मसंयोग छह प्रकार का है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक तथा सान्निपातिक।

५७. बाह्यसंयोग तीन प्रकार का है—नामसंयोग, क्षेत्रसंयोग तथा कालसंयोग। आत्मसंयोग और बाह्यसंयोग के मिश्रण से तदुभयसंयोग होता है।

५८. प्रकारान्तर से आचार्य-शिष्य, पिता-पुत्र, जननी-पुत्री, भार्या-पति, शीत-उष्ण, तम-उद्योत, छाया-आतप आदि का पारस्परिक संबंध बाह्यसंबंधनसंयोग है।

५९. आचार्य के सदृश आचार्य ही हो सकता है, अनाचार्य नहीं। आचार्य के सभी सामान्य गुणों से जो सदृश है, वह शिष्य होता है। अथवा जो शिष्य के सभी गुणों से अन्वित होता है, वह भिष्य होता है।

६०. ज्ञान का ज्ञेय के साथ, चारित्र्य का चर्यमाण के साथ, स्वामी का सेवक के साथ, पिता का पुत्र के साथ - ये लौकिक संबंध हैं। लोकोत्तर सम्बन्ध जैसे—मेरे कुल में अमुक साधु है और मैं इसके कुल में हूँ इत्यादि। ये सारे उभयसम्बन्धनसंयोग हैं।

१. अपित अर्थात् विवक्षित, जैसे क्षायिक आदि भाव की ज्ञाता में विवक्षा करना।

२. अनपित अर्थात् अविवक्षित, जैसे क्षायिक भाव में सब भाव होते हुए भी अनपित है।

६१. प्रत्ययज्ञान का कारण बहुविध होता है। वह छद्मस्थ के होता है। केवली का ज्ञान निवृत्ति प्रत्यय—निरालम्ब होता है। (केवली के ज्ञान की उत्पत्ति ही उसके ज्ञान का कारण है, घट पट आदि बाह्य सामग्री नहीं) छद्मस्थ के ज्ञान में उभयसम्बन्धनसंयोग होता है। वर्तमान जन्म में देह जीव से सम्बद्ध है और अन्य जन्म में जीव द्वारा त्यक्त है। इसी प्रकार माता, पिता, पुत्र आदि में भी उभयसम्बन्धनसंयोग होते हैं।

६२. कषायबहुलजीव के संबंधनसंयोग होता है। जो जीव समर्थ है अथवा असमर्थ—दोनों में यह संयोग होता है क्योंकि दोनों में 'यह मेरा है'—यह ममकार समान होता है।

६३. संसार से अनुत्तरण और उसमें अवस्थान का कारण है—संबंधनसंयोग। माता, पिता, बेटा आदि के संबंधनसंयोग का छेदन कर अनगार मुक्त हो जाते हैं।

६४. संबंधनसंयोग क्षेत्र आदि के भेद से तथा आदेश-अनादेश आदि विभाधा—भेदों से प्रतिपादित किया गया है। प्रस्तुत पहली गाथा में क्षेत्र आदि संबंधनसंयोग ही सूचित है। उसकी ही यहाँ विवेचना करनी चाहिए।

६५. गंडी—अमार्ग में कूदते हुए चलने वाला, गली—बिना श्रम ग्लान होने वाला, मरासी—लात मारने वाला, रथ में जीतने पर बार-बार जमीन पर बैठने वाला—ये अविनीत अश्व और बैल के एकार्थक हैं। आकीर्णक, विनीत और भद्र—ये विनीत अश्व और बैल के एकार्थक शब्द हैं।

दूसरा अध्ययन : परीषह प्रविभक्ति

६६, ६७. परीषह के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य परीषह के दो प्रकार हैं—आगमतः और नो-आगतमतः। नो-आगतमतः के तीन प्रकार हैं—शरीर, भव्यशरीर तथा तद्ब्यतिरिक्त। तद्ब्यतिरिक्त के दो प्रकार हैं—कर्म तथा नोकर्म। कर्म के रूप में है—परीषह वेदनीय कर्म के उदय का अभाव।

६८. नोकर्म के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। भाव परीषह है—कर्म का उदय। उसके ये द्वार—व्याख्येय संदर्भ हैं।

६९. परीषह कहां से उद्धृत है? किस संयती के होते हैं? किस द्रव्य से पैदा होते हैं? किस पुरुष या कर्म-प्रकृति में ये संभव हैं? इनका अध्यास—सहन कैसे होता है? कौन से नय से कौन सा परीषह वर्णित है? एक साथ एक व्यक्ति में कितने परीषह होते हैं? परीषहों का अस्तित्वकाल कितना है? किस क्षेत्र में कितने परीषह होते हैं?

उद्देश का अर्थ है—गुरु का सामान्य उपदेश। पृच्छा का अर्थ है—शिष्य की जिज्ञासा। निर्देश का अर्थ है—गुरु द्वारा शिष्य की जिज्ञासा का समाधान। सूत्रस्पर्श का अर्थ है—सूत्र में सूचित अर्थ-वचन—ये सारे व्याख्या-द्वार हैं।

७०. कर्मप्रवादपूर्व के सतरहवें प्राभृत में गणधरों द्वारा ग्रथित श्रुत को नय और उदाहरण सहित यहाँ प्रस्तुत जान लेना चाहिए। यह परीषह अध्ययन वहीं से समुद्धृत है।

७१. परीषद् अविरत, विरताविरत तथा विरत—तीनों के होते हैं। यह तथ्य नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चारों नय स्वीकार करते हैं। तीन शब्दनयों—शब्द, समभिरुद्ध तथा एवंप्रभूत के अनुसार परीषद् केवल विरत—संगत के ही होते हैं।

७२. नैगम नय के अनुसार परीषद् की उदीरणा के आठ विकल्प हैं—जीव द्वारा, जीवों द्वारा, अजीव द्वारा, अजीवों द्वारा, जीव-अजीव द्वारा, जीव-अजीवों द्वारा, जीवों-अजीव द्वारा तथा जीवों-अजीवों द्वारा। संग्रह नय के अनुसार जीव अथवा अजीव द्रव्य के द्वारा, व्यवहार नय के अनुसार केवल नोजीव—अर्थात् अजीव द्रव्य के द्वारा तथा शेष नयों के अनुसार केवल जीव द्रव्य के द्वारा परीषद् की उदीरणा होती है।

७३. परीषद् का समवतार विषय-मेव से दो प्रकार का है—प्रकृति समवतार और पुरुष समवतार। इनका नातात्व में क्रमशः बताऊंगा।

७४. ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चार कर्मों की नाना प्रकृतियों में बावीस परीषद् का समवतार होता है।

७५. प्रज्ञा और अज्ञान—ये दो परीषद् ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होते हैं। एक अलाभ परीषद् अन्तराय कर्म के उदय से होता है।

७६. अरति, अचेत, स्त्री, नैवेधिकी, याचना, आक्रोश और सत्कार-पुरस्कार—ये सात परीषद् चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं।

७७. (चारित्र्य मोहनीय कर्म की अनेक प्रकृतियां हैं।) उनमें अरति मोहनीय के उदय से अरति, भ्रुगुप्ता मोहनीय से अचेत, पुरुषवेद से स्त्री, भय से नैवेधिकी, मान से याचना, क्रोध से आक्रोश तथा लोभ से सत्कार-पुरस्कार परीषद् उत्पन्न होता है।

७८. दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शन परीषद् का उदय होता है। शेष ग्यारह परीषद् वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

७९. क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्मा, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और जल—ये ग्यारह परीषद् वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

८०. बादर सम्पराय गुणस्थान (नवमें) तक बावीस परीषद्, सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान (दसवें गुणस्थान) में चौदह परीषद्, सूक्ष्मस्थ बीतराय गुणस्थान (ग्यारहवें) में चौदह परीषद् तथा केवली में ग्यारह परीषद् होते हैं।

८१. तीन नयों अर्थात् नैगम, संग्रह और व्यवहार के अनुसार एषणीय और अनेषणीय भोजन आदि का अग्रहण और अपरिभोग अभ्यासना है। तीन शब्द नयों अर्थात् शब्द, समभिरुद्ध तथा एवंप्रभूत और ऋजुसूत्रनय के अनुसार मुनि द्वारा प्रासुक अन्न आदि का ग्रहण तथा परिभोग भी अभ्यासना है।

१. ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की प्रकृतियां।

ये आठ परीषद् वहां नहीं होते।

२, ३. चारित्र्यमोहनीय कर्म-प्रतिबद्ध सात परीषद् तथा दर्शनमोहनीय कर्म प्रतिबद्ध एक परीषद्—

४. वेदनीय कर्म-प्रतिबद्ध क्षुत्, पिपासा आदि ग्यारह परीषद् होते हैं।

८२. नैगम नय के अनुसार परीषहोत्पादक द्रव्य ही परीषह है। संग्रह और व्यवहार नय के अनुसार वेदना परीषह है। ऋजुसूत्र नय जीव को परीषह मानता है क्योंकि वेदना जीव के ही होती है। शब्दनय — शब्द, समभिरुद्ध तथा एवंभूत नय आत्मा को परीषह मानते हैं।

८३. एक प्राणी में एक साथ उत्कृष्टरूप में बीस परीषह तथा जघन्यतः एक परीषह हो सकता है। शीत और उष्ण तथा चर्मा और निषद्या—इन दोनों युगलों में से एक साथ एक-एक परीषह ही होता है।

८४. नैगम, संग्रह और व्यवहारनय के मतानुसार परीषहों का कालमान है—बषों का, ऋजुसूत्र के अनुसार अन्तर्मुहूर्त का और तीन शब्दनयों के अनुसार एक समय का है।

८५. सनत्कुमार षट्त्रयसी ने खाज, भोजन की अरुचि, अक्षिवेदना, कुक्षिवेदना, खांसी, श्वास और ज्वर—इन परीषहों को सात सौ वर्षों तक सहन किया।^१

८६. नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से परीषह लोक, संस्तारक आदि स्थानों में होते हैं। शब्द, समभिरुद्ध तथा एवंभूत—इन तीन शब्द नयों की अपेक्षा से परीषह आत्मा में होते हैं।

८७. गुरु का (विवक्षित विषय का सामान्य रूप से निरूपक) वचन उद्देश कहलाता है। गुरुवचन के प्रति शिष्य की विशिष्ट जिज्ञासा पृच्छा कहलाती है। शिष्य के प्रश्न को उत्तरित करने वाला गुरु का निर्वचन निर्देश कहलाता है। निर्देश के अन्तर्गत बावीस परीषहों का उल्लेख है। अब सूत्रस्पर्श अर्थात् सूत्रालापक का प्रसंग है।

८८, ८९ बावीस परीषहों के ये उदाहरण (कथानक) हैं—कुमारक, नदी, सयन, शिला, पंख महल्लक, तापस, प्रतिमा, शिष्य, अग्नि, निर्वेद, मुद्गर, वन, राम, पुर, भिक्षा, संस्तारक, मल्ल-धारण, अंग, विद्या, श्रुत, भौम, शिष्य का आगमन।

९०. उज्जयिनी में हस्तिभिन्न नाम का गाथापति रहता था। उसका पुत्र था हस्तिभूति। दोनों प्रव्रजित हुए। एक बार वे दोनों उज्जयिनी से भोगपुर जा रहे थे। बृद्ध मुनि अटवी में क्षुधा परीषह से दुःखी हुआ। उसका प्रायोपगमन संशय में देवलोक गमन।^२

९१. उज्जयिनी में धनमित्र वणिक् था। उसके पुत्र का नाम था धनशर्मा। दोनों प्रव्रजित हुए। एलकाक्षपथ के रास्ते में बाल भुनि ने व्यास से आर्त्त होने पर भी सखित जल नहीं पीया। वृषा परीषह सहन करते हुए वह दिवंगत हो गया।^३

९२. राजगृह में चार मित्र आचार्य भद्रबाहु के शिष्य बने। वे सभी एकलविहार प्रतिमा स्वीकार कर विहरण करने लगे। राजगृह में पुनरागमन। उनका वैभारगिरि पर्वत की गुफा में स्थित भद्रबाहु के दर्शनार्थ जाना। हेमन्त ऋतु में शीत परीषह को सहनकर चारों रास्ते में समाधिस्थ हो गए।^४

१. देखें परि० ६, कथा सं० १

२. वही, कथा सं० २

३. वही, कथा सं० ३

४. वही, कथा सं० ४

९३. तमरा नगरी । अर्हन्मित्र आचार्य । उनके पास दत्त वणिक् अपनी भार्या भद्रा एवं पुत्र अर्हन्नक के साथ प्रव्रजित हुआ । दत्त का स्वर्गगमन । मुनि अर्हन्नक एक वणिक् महिला में आसक्त होकर उत्प्रव्रजित । साध्वी भाता द्वारा प्रतिबोध । अर्हन्नक द्वारा तप्त शिसापट्ट पर उष्ण परीषह सहन करते हुए प्रायोपगमन संयारे में स्वर्गगमन ।^१

९४. चंपानगरी में सुमनोभद्र युवराज ने धर्मधोष मुनि का शिष्यत्व स्वीकार किया । एक बार वह एकाकी विहार स्वीकार कर अटवी में स्थित हो गया । रात में मच्छरों का उपद्रव । मच्छरों द्वारा रक्त पी डालने के कारण समाधिमृत्यु की प्राप्ति ।^२

९५, ९६. वीतभय नगरी में देवदत्ता दासी ने गंधार श्रावक की परिचर्या कर सौ गुटिकाएं प्राप्त कीं ।^३ महाराजा प्रद्योत उसे उज्जयिनी ले गए । दासी का मरण देखकर रानी प्रभावती दीक्षित हो गयी और कालधर्म को प्राप्त हो गयी । देव प्रभावती द्वारा तीव्र वर्षा, पुष्कर तीर्थ की स्थापना, दशपुर नगर की उत्पत्ति तथा राजा प्रद्योत की बंधन-मुक्ति ।

९७, ९८. आर्य वज्रस्वामी के पिता का नाम सोमदेव, माता का नाम रुद्रसोमा, भाई का नाम फल्गुरक्षित तथा आचार्य का नाम तोसलिपुत्र था । सिंहगिरि, भद्रगुप्त और आर्य वज्र के पास, ९ पूर्व तथा दसवें पूर्व का कुछ अंश गढ़कर आर्यरक्षित नगरी तमरा में आए तथा भाई और पिता को प्रव्रजित किया ।^४

९९. अचलपुर नगर के जितशत्रु राजा का युवराज राधाचार्य के पास प्रव्रजित हुआ । आचार्य के सद्यःअंतेवासी आर्य राधक्षमण उज्जयिनी में विहरण कर रहे थे । पूछा—क्या क्षेत्र निरुपद्रव है ? कहा—पुरोहित और राजपुत्र बाधा उपस्थित करते हैं ।^५

१००. कौशाब्धी नगरी में तापस नाम का श्रेष्ठी मरकर अपने ही घर में सूकर की योनि में उत्पन्न हुआ । पुत्रों ने मार डाला । पुनः उसी घर में उरग । उसे भी मार डाला । पुनः उसी घर में पुत्र का पुत्र ।^६

१०१-१०६. ऋषभपुर, राजगृह तथा पाटलिपुत्र नगर की उत्पत्ति । नन्द, शकडाल, स्थूलभद्र, श्रीयक तथा वररुचि । तीन अनगरों ने चार महीनों तक वसतिमात्र निमित्तक अभिग्रह किया । एक अनगर गणिका के घर में, दूसरा अनगर व्याघ्र की गुफा में, तीसरा अनगर सांप की बिंबी पर । इन तीनों में दुष्करकारक कौन ? व्याघ्र और सर्प तो शरीर को पीड़ा पहुंचाने वाले ही हैं । वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य को नष्ट नहीं कर पाते । गणिका गृहवासी भगवान् स्थूलभद्र ने तीक्ष्ण असिधारा पर चक्रमण किया पर वे छिन्न नहीं हुए । उन्होंने चार मास तक अग्निशिखा में निवास किया पर जले नहीं । सिंहगुफावासी अनगर ने कहा—मैं भी स्थूलभद्र के समान गणिकागृह में वास करूंगा । वह कौशा के पास गया । वेश्या ने रत्नकंबल की याचना की । उसे लाने वह मुनि नेपाल गया । रत्नकंबल लाकर गणिका को दी । उसने उसे मलमूत्र विसर्जन के स्थान पर फेंक कर मलिन कर डाला । मुनि स्त्रीपरीषह से पराजित हो गया ।^७

१. देखें—परि० ६, कथा सं० ५

२. वही, कथा सं० ६

३. निषीय चूर्ण में आठ सौ गुटिकाएं प्राप्त कीं, ऐसा उल्लेख मिलता है ।

४. देखें—परि० ६, कथा सं० ७

५. वही, कथा सं० ८

६. वही, कथा सं० ९

७. वही, कथा सं० १०

१०७. कोल्लकेर नगर में स्वविर आचार्य का स्थायी निवास था। दत्त उनका शिष्य था। वह धुमकड़ था। आचार्य ने उसे धातृपिण्ड दिलाया। आचार्य की अंगुली का देवयोग से प्रज्वलन। गुरु ने चर्या-परीषद् सहन किया।^१

१०८. कुरुदत्त का पुत्र प्रव्रजित हुआ। वह गजपुर से साकेत गया। चोर-गवेषक ने उसको चोर समझकर शिर पर पत्थर जलवाई। मुनि ने स्वयं पूर्ण चर्या-परीषद् सहन किया।^२

१०९, ११०. कौशाम्बी नगरी में यज्ञदत्त ब्राह्मण के दो पुत्र थे—सोमदत्त और सोमदेव। दोनों आचार्य सोमभूति के पास दीक्षित हो गए। वे स्वज्ञाति (संज्ञात) पत्नी में आए। विकट (मद्य) के कारण उनको वैराग्य हो गया। दोनों ने नदी के तीर पर जाकर प्रायोपगमन संधारा कर लिया। नदी के प्रवाह ने उन्हें समुद्र में ला डकेला। उन्होंने समता से शय्या-परीषद् को सहन किया।^३

१११. राजगृह में अर्जुन मालाकार। उसकी पत्नी थी स्कन्दश्री। मुद्गरपाणि यक्ष का मंदिर। गोष्ठी के सदस्यों द्वारा स्कन्दश्री पर बलात्कार। भगवान् का आगमन। सुदर्शन का भगवत् वंदना के लिए जाना। बोधित होकर उसने समभाव से आक्रोश-परीषद् को सहन किया।^४

११२-१४. श्रावस्ती नगरी। जितशत्रु राजा। धारिणी देवी। स्कन्दक पुत्र। पुरन्दरयशा पुत्री। उसका विवाह दंडकी नामक राजा के साथ हुआ। कुंभकारकटक नगर में तीर्थंकर मुनिसुव्रत के शिष्य स्कन्दक पांच सौ मुनियों के साथ वहाँ आए। देवी पुरंदरयशा वहीं थी। महाराज दंडकी का पुरोहित पालक था। उसने घट होकर पांच सौ मुनियों को कोल्हू में पिलवा दिया। उन्होंने भावस्थभाव के चिन्तन से राग-द्वेष के तुलाग्र को सम कर वध परीषद् सहते हुए अपना कार्य सिद्ध कर लिया।^५

११५. याचना परीषद् में बलदेव का उदाहरण तथा अलाभ परीषद् में कृषिपारासर अर्थात् हंडणकुमार का उदाहरण ज्ञातव्य है।

११६. मथुरा में कालवैशिक पुत्र प्रव्रजित होकर मुद्गशैलपुर में एकलविहारप्रतिमा में स्थित हुआ। सियाल द्वारा भक्षण। राजा द्वारा सियालों को भगाना पर सियालों का उपसर्ग। मुनि ने समभावपूर्वक रोग परीषद् को सहन किया।^६

११७. श्रावस्ती के भद्र नामक राजकुमार को वैराज्य में भुक्तचर समझकर शरीर को क्षत-विक्षत कर तमक छिड़का और दर्भ से वेष्टित किया। उसने समतापूर्वक तृणस्पर्श परीषद् को सहन किया।^७

११८. चंपा नगरी में सुनन्द श्रावक। वह जल-धारण में जुगुप्सी था। वह मरकर कौशाम्बी नगरी में धनी के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। कालान्तर में वह प्रव्रजित हुआ। उसके शरीर में पुण्ड्र लेकिन देवयोग से फिर मूल रूप में आ गया।^८

१. देखें—परि० ६, कथा सं० ११

२. वही, कथा सं० १२

३. वही, कथा सं० १३

४. वही, कथा सं० १४

५. वही, कथा सं० १५

६. वही, कथा सं० १६

७. वही, कथा सं० १७

८. वही, कथा सं० १८

९. वही, कथा सं० १९

१०. वही, कथा सं० २०

११९. मयूरा में इन्द्रदत्त पुरोहित । साधु का सेवक एक श्रेष्ठी । आसाद को विद्या से छ्वंस करना । इन्द्रकील द्वारा पादच्छेद ।^१

१२०. उज्जयिनी में आचार्य कालक । उनके पौत्र शिष्य आचार्य सागर का सुवर्णभूमि में विहरण । इन्द्र ने आकर आयुष्क-शेष पूछा । (वृत्ति में निगोद जीवों के विषय में पूछा ।) इन्द्र द्वारा दिव्य चमत्कार ।^२

१२१. आचना स खिन्न । गंगा के कुल पर अशकट कन्या का पिता । बारह वर्षों में 'असंख्य' अध्ययन (उत्तराध्ययन का चौथा अध्ययन) मात्र सीखना ।^३

१२२. स्थूलभद्र मुनि अपने अत्यंत प्रिय मित्र के घर गए । वहाँ जाकर कहा—यह ऐसा है । वह वैसा है । देख, यह कैसा हुआ ? मुनि ज्ञान परीषद् से पराजित हो गए ।^४

१२३. बायें आषाढ ने मुनि जीवन को छोड़ उत्प्रव्रजित होने का मानस बना लिया । उस समय वे ध्वजहारभूमि—हट्ट के मध्य थे । उनके शिष्य ने राजा का रूप बनाकर उन्हें प्रतिबोध दिया ।^५

१२४. सर्वप्रथम शिष्य ने पृथ्वीकाय का रूप बनाकर कहा—'जिससे मैं साधुओं को भिक्षा देता हूँ, देवताओं को बलि चढ़ाता हूँ, जातिजनों का पोषण करता हूँ, वही पृथ्वी मुझे आक्रान्त कर रही है । ओह ! शरण से भय उत्पन्न हो रहा है ।'^६

१२५, १२६. अप्काय ने उदाहरण देते हुए कहा—एक बहुश्रुत तथा नाना प्रकार की कथाओं को कहने वाला पाटल नामक व्यक्ति नदी के प्रवाह में बहा जा रहा था । एक व्यक्ति ने पूछा—अरे ओ ! बहने वाले ! क्या तुम्हारे सुख-शांति है ? जब तक तुम बहते-बहते दूर न निकल जाओ, तब तक कुछ सुभाषित वचन तो कहो । उसने कहा—'जिस पानी से बीज उगते हैं, कृषक जीवित रहते हैं, उस पानी से मैं मर रहा हूँ । ओह ! शरण से भय उत्पन्न हो रहा है ।'^७

१२७. तेजस्काय ने कहा—'जिस अग्नि को मैं रात-दिन मधु-घृत से सींचता रहा हूँ, उसी अग्नि ने मेरी पर्णशाला जला डाली । ओह ! शरण से भय हो रहा है ।'^८

१२८. व्याघ्र से भयभीत होकर मैं अग्नि की शरण में गया । अग्नि ने मेरे शरीर को जला डाला । ओह ! शरण से भय हो रहा है ।^९

१२९. वायुकाय ने उदाहरण देते हुए कहा—'मित्र ! तुम पहले कूदने-दीड़ने में समर्थ थे । अब तुम हाथ में दंड लेकर क्यों चलते हो ? कौन से रोग से पीड़ित हो ?'^{१०}

१३०. वायु रोग से पीड़ित मित्र ने कहा—'जेठ और आषाढ मास में जो सुखद वायु चलती थी, उसी वायु ने मेरे शरीर को तोड़ दिया है । ओह ! शरण से भय हो रहा है ।'^{११}

१३१. जिस वायु से सभी प्राणी जीवित रहते हैं । उस वायु के अपरिमित निरोध के कारण मेरा सारा शरीर टूट रहा है । ओह ! शरण से भय हो रहा है ।^{१२}

१. देखें—परि० ६, कथा सं० २१

४. वही, कथा सं० २४

२. वही, कथा सं० २२

५. वही, कथा सं० २५

३. वही, कथा सं० २३

१३२. वनस्पतिकाय ने दृष्टान्त देते हुए कहा कि एक विशाल वृक्ष पर अनेक पक्षी सुखपूर्वक रह रहे थे। उसी वृक्ष के निकट से एक लता उठी और वह वृक्ष के लिपटती हुई ऊपर तक चढ़ गई। एक बार एक सर्प उस लता के सहारे ऊपर चढ़ा और पक्षियों के अंडों को खा गया। तब शेष पक्षियों ने कहा—‘हम इस वृक्ष पर रहते थे। यह निरुपद्रव था। मूल से लता उठी तब यह क्षरण देने वाला वृक्ष भी भय का कारण बन गया।’

१३३. असकाय ने दृष्टान्त देते हुए कहा—‘शत्रु सेना से डबड़ होकर नगर के भीतरी लोग बाहर रहने वालों को बाहर ही रोक रहे थे। ओ मातंगो ! तुम अब दिशा की शरण लो। ठीक है, जो नगर शरण-स्थल था वही भय का स्थान बन गया।’

१३४. जहां का राजा घोर हो और पुरोहित भंडक हो वहां नागरिकों को दिशाओं की ही शरण लेनी चाहिए क्योंकि शरण स्वयं भय-स्थान बन रहा है।

१३५, १३६. हे मित्र ! उदित होते हुए सूर्य का, चैत्य-स्तूप पर बैठे कौए का तथा भीत पर आए आतप का सुख की बेला में पता नहीं चलता। (इस क्षण से ब्राह्मणों ने अश्वत्थ वृक्ष प्रशस्त किया। पति के विरह में उसे रात भर नींद नहीं आई।) पुत्री बोली—‘मां ! तुमने ही तो मुझे कहा था कि आए हुए यक्ष की अवमानना मत करना। पिता का यक्ष ने हरण कर लिया है। अब तुम दूसरे पिता की अन्वेषणा करो।’

१३७. जिसको मैंने तब मास तक गर्भ में धारण किया, जिसका मैंने मल-मूत्र धोया, उस पुत्री ने मेरे भर्ता का हरण कर लिया। शरण मेरे लिए अशरण हो गया।

१३८. तुमने स्वयं ही तो वृक्ष रोपा और तालाब खुदवाया। अब देव के भोग का अवसर आया तब क्यों झिल्ला रहे हो ?

१३९. आर्य आधाड़ आगे चले। मार्ग में उन्होंने एक अलंकृत—विभूषित साध्वी को देखकर कहा—‘अरे ! तुम्हारे हाथों में कटक हैं, कानों में कुंडल हैं, आंखों में अंजन आज रखा है, ललाट पर तिलक है। हे प्रवचन का उद्गाह कराने वाली दुष्ट साध्वी ! तू कहां से आई है ?’ वह बोली—

१४०. हे आर्य ! तुम दूसरों के राई और सर्वप जितने छोटे धिद्धों—दोषों को देखते हो किंतु अपने बिस्व जितने बड़े दोषों को देखते हुए भी नहीं देखते।

१४१. तुम श्रमण हो, संयत हो, ब्रह्मचारी हो, मिट्टी के डेले और कंचन को समान समझने वाले हो, तुम वायु की भांति अप्रतिबद्धविहारी हो। ज्येष्ठार्य ! आपके पात्र में क्या है, बताएं।

तीसरा अध्ययन : चतुरंगीय

१४२. एक शब्द के सात निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, मातृकापद, संग्रह, पर्यव और भाव।

१४३. चतुर् शब्द के सात निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणना और भाव। यहां गणन संख्या का अधिकार है।

१४४. अंग शब्द के चार निक्षेप हैं—नामांग, स्थापनांग, द्रव्यांग और भावांग।

१४५. द्रव्यांग के छह प्रकार हैं—गंधांग, औषधांग, मद्यांग, आतोद्यांग, शरीरांग और युद्धांग । प्रत्येक के अनेक प्रकार ज्ञातव्य हैं ।

१४६-४८. गंधांग के ये प्रकार हैं—जमदग्निजटा, हरेणुका—प्रियंगु, शबरनिवसनक—तमालपत्र, सपिन्निक—ध्यामक गंधद्रव्य युक्त, वृक्ष की बाह्य त्वक्—चातुर्जति—ये गंधद्रव्य मल्लिका से वासित होकर अर्थात् चूर्ण बनकर कोटि मूल्य के हो जाते हैं, बहुमूल्य वाले हो जाते हैं ।

ओसोर और ह्रीवैर (सुगंधित द्रव्यांश) का एक पल तथा देवदारु का एक कर्ष, शतपुष्पा तथा तमाल-पत्र—दोनों का एक-एक पलिका मात्र—इन गन्ध द्रव्यों को पीस कर एक चूर्ण बनाया जाता था । इसी चूर्ण से स्नान, विलेपन और पट्यास किया जाता था । चंडप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता ने इनका प्रयोग कर उदयन को मोहित किया था ।

१४९, १५०. औषधांग—दो रजनी—पिण्डदास और हल्दी, माहेन्द्रफल—कुटज के बीज, समूषण—त्रिकटुक के तीन अंग—सूठ, पीपल, काली मिरच, सरस—आर्द्रक, कनकमूल—विल्वमूल इनके साथ आठवां उदक—इससे जो गोली बनती है, वह खाज, तिमिर—तिरमिरा (आंख का रोग), आघा सीसी (अर्ध शिरोरोग), तार्त्तीयिक (तीन दिनों से आने वाला ज्वर), चातुर्थिक (चार दिनों से आने वाला ज्वर)—इन सभी रोगों को शांत करती है तथा बूढ़े, सर्प आदि के काटने पर काम आती है ।

१५१. मद्यांग—सोलह भाग द्राक्षा, चार भाग घातकी पुष्प (घव के फूल) और एक आढक (मागध के मान से) इक्षुरस—ये मद्यांग हैं ।

१५२. आतोद्यांग—एकमुकुंदा—वादित्र विशेष का आतोद्यांग है तूर्य । एक अभिमारक नामक वृक्षविशेष का काठ अग्नि का अंग है । वह अग्नि का उत्पादक है । शात्मसी पुष्पों का बद्ध गुच्छा आमोडक होता है । वह गुच्छा आमोडकांग है ।

१५३, १५४. शरीरांग—शिर, छाती, उदर, पीठ, दोनों भुजाएं तथा दो सरू—ये शरीर के आठ अंग हैं । शेष अर्थात् कान, नाक, आंख, हाथ, पैर, जंघा, नख, केश, दाढ़ी, भूँछ, अंगुली, होठ—ये अंगोपांग हैं ।

१५५. युद्धांग—यान, आवरण—कवच आदि, ग्रहरण—तलवार आदि, युद्ध-कौशल, नीति, वक्षता, व्यवसाय—प्रवृत्ति, शरीर, आयोम्य—ये सारे मिलकर युद्धांग होते हैं ।

१५६. भावांग—भावांग के दो प्रकार हैं—श्रुतांग और नोश्रुतांग । श्रुतांग के आकारांग आदि बारह भेद हैं तथा नोश्रुतांग अर्थात् अश्रुतांग के चार भेद हैं ।

१५७. मनुष्यत्व, घमंथुति, श्रद्धा और तप-संयम में पराक्रम—ये भावांग संसार में दुर्लभ हैं ।

१५८. अंग, दशभाग, भेद, अवयव, असकल, चूर्ण, खंड, देश, प्रदेश, पर्व, शाखा, पटल तथा पर्यवखिल—ये सब अंग के पर्यायवाची शब्द हैं ।

१५९. दया, संयम, लज्जा, जुगुप्सा, अछलना, तितिक्षा, अहिंसा और ह्री—ये सारे भावांग अर्थात् संयम के पर्यायवाची शब्द हैं ।

१६०. लोक में इनकी प्राप्ति दुर्लभ है—मनुष्यता, आयुःक्षेत्र, जाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयुष्य, बुद्धि, धर्म-श्रवण, धर्म का अवधारण, श्रद्धा और संयम ।

१६१. १. चतुल्लक (बारी-बारी से भोजन), २. पाशक, ३. धान्य, ४. घृत, ५. रत्न, ६. स्वप्न, ७. चक्र, ८. धर्म, ९. युग तथा १०. परमाणु —मनुजत्व की प्राप्ति के ये दश दृष्टान्त हैं ।^१

१६२. निम्नोक्त की प्राप्ति भी दुर्लभ है—इन्द्रियों की प्राप्ति, इन्द्रियों की निर्वर्तना—पूर्ण रचना, पर्याप्ति की सम्पत्ता, अंग-उपांगों की पूर्णता, देश का सौस्थ्य, सुभिक्ष अथवा विभव की प्राप्ति, आरोग्य, श्रद्धा, ग्राहक अर्थात् गुरु, उपयोग—स्वाध्याय आदि में उपयुक्तता, अर्थ—धर्म विषयक जिज्ञासा आदि ।

१६३, १६४. दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी जीव कुछेक कारणों से हितकारी और संसार से पार लगाने वाली धर्मश्रुति को प्राप्त नहीं कर सकता । वे कारण ये हैं—आलस्य, मोह, अवज्ञा, अहंकार, क्रोध, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, व्यासोप, कुतूहल तथा रमण—कुक्कुट आदि की क्रीडाएं आदि ।

१६५. मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता । वह उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असद्भाव अर्थात् कुप्रवचन पर श्रद्धा कर लेता है ।

१६६. सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन पर तो श्रद्धा करता ही है, किन्तु वह अज्ञानवश अथवा गुरु-नियोग—गुरु के विश्वास पर असद्भाव—कुप्रवचन पर भी श्रद्धा कर लेता है ।

१६७. ० बहुरतवादी —क्रिया की निष्पत्ति में बहुत समय लगते हैं, ऐसा मानने वाले ।

० जीवप्रदेशवादी —अन्त्य प्रदेश ही जीव है अथवा अन्त्यप्रदेशजीववादी ।

० अव्यक्तवादी —सब कुछ अव्यक्त है, ऐसा मानने वाले ।

० समुच्छेदवादी —एक क्षण के पश्चात् सर्वथा नाश मानने वाले ।

० द्विक्रियवादी —एक समय में दो क्रियाओं को स्वीकार करने वाले ।

० त्रैराशिकवादी —तीन राशि —जीव, अजीव, नोजीव मानने वाले ।

० अवद्विकवादी —कर्म आत्मा से नहीं बंधते, ऐसा मानने वाले ।

मैं क्रमशः इनका निर्गमन अर्थात् उत्पत्ति का कथन करूंगा ।

१६८, १६९. बहुरतवाद जमासि से उद्भूत हुआ । जीवप्रदेशवाद तिष्यगुप्त से, अव्यक्तवाद आचार्य आषाढ से, समुच्छेदवाद अश्वमित्र से, द्विक्रियवाद आचार्य गंग से, त्रैराशिकवाद षडलूक (रोहगुप्त) से तथा स्पृष्ट अवद्विकवाद स्थविर गोष्ठामाहिल से उद्भूत हुआ ।

१७०. निल्लवों से सम्बंधित नगर क्रमशः इस प्रकार हैं—श्रावस्ती, ऋषभपुर, श्वेतविका, मिथिला, उल्लुकातीर, अंतरंजिका, दशपुर और रघवीरपुर ।

१७१.१७२. महावीर की ज्ञान-उत्पत्ति के १४ वर्ष बाद बहुरतवाद की, १६ वर्ष पश्चात् जीवप्रदेशवाद की, २१४ वर्ष पश्चात् अव्यक्तवाद की, २२० वर्ष पश्चात् समुच्छेदवाद की, २२८ वर्ष पश्चात् द्विक्रियवाद की, ५४४ वर्ष बाद त्रैराशिकवाद की तथा ५८४ वर्ष बाद अबद्धिकवाद की उत्पत्ति हुई।

१७२।१. भगवान् महावीर की कैवल्य-प्राप्ति के १४ वर्ष पश्चात् श्रावस्ती नगरी में बहुरत-वाद की उत्पत्ति हुई।

१७२।२. महावीर की ज्येष्ठा भगिनी सुदर्शना का पुत्र जमालि तथा भगवान् की पुत्री अनवच्छांगी (प्रियदर्शना) डेढ़ हजार व्यक्तियों के साथ प्रयोजित हुए। श्रावस्ती नगरी के त्रिदुक उद्यान में जमालि विप्रतिपन्न। इंक श्रावक द्वारा प्रतिबोध। जमालि को छोड़कर सुदर्शना महावीर के शासन में आ गई।^१

१७२।३. राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में चतुर्दशपूर्वी आचार्य वसु का आगमन हुआ। उनका शिष्य तिष्यगुप्त आचार्य को छोड़कर आमलकल्या नगरी में आया। वहां भिन्नश्री नामक श्रमणोपासक द्वारा कूर पिड आदि का अंतिम अंश देकर प्रतिबोध देना।^२

१७२।४. श्वेतविका नगरी के पोलास उद्यान में आर्य आषाढ़ का प्रवास। उनके शिष्य आषाढ़ योग-प्रतिपन्न थे। आचार्य का हृदयशूल की पीड़ा में अचानक कालगत होना। उनकी सौधर्म देवलोक के नलिनीगुल्म विमान में उत्पत्ति। राजगृह नगर में मौर्यवंशी बलभद्र नामक राजा द्वारा प्रतिबोध।^३

१७२।५. मिथिला नगरी के लक्ष्मीगृह चैत्य में आचार्य महागिरि। उनका शिष्य कीदित्त। उसका शिष्य अश्वमित्र। अनुप्रवादपूर्व के नैपुणिक वस्तु की वाचना। राजगृह में खंडरक्ष आरक्षक श्रमणोपासकों द्वारा प्रतिबोध।^४

१७२।६. नदीखेट जनपद के उल्लुकातीर नगर में आचार्य महागिरि का शिष्य धनगुप्त। उनका शिष्य आर्य गंग। नदी में उत्तरते हुए द्विक्रियवाद की प्ररूपणा। राजगृह में आगमन। महातपस्तीर से उद्भूत करना। मणिनाग नामक नाग द्वारा प्रतिबोध।^५

१७२।७. अंतरंजिका नगरी में भूतगृह नामक चैत्य। बलश्री राजा। श्रीगुप्त आचार्य। शिष्य रोहगुप्त। परिव्राजक पोदृशाल। घोषणा। प्रतिषेध। वाद के लिए ललकारना।^६

१७२।८. परिव्राजक वृश्चिक, सर्प, मूषक, मृगी, वराही, काक और पोताकी—इन विद्याओं में कुशल था।

१७२।९. सब आचार्य ने अपने शिष्य से कहा—‘तुम मायूरी, नाकुली, विडाली, व्याघ्री, सिंही उलूकी तथा उल्लावकी—इन विद्याओं को ग्रहण करो। ये विद्याएं परिव्राजक द्वारा प्रमुक्त विद्याओं की प्रतिपत्नी हैं तथा उसके द्वारा अहननीय हैं।

१. देखें परि० ६, कथा सं. ३६।

२. वही, कथा सं. ३७।

३. वही, कथा सं. ३८।

४. वही, कथा सं. ३९।

५. वही, कथा सं. ४०।

६. वही, कथा सं. ४१।

१७२।१०. दणपुर नगर के इसगूह में आर्यैरक्षित भूतपुण्यमित्र, वस्त्रमित्र, दुर्बलिकापुण्यमित्र गोष्ठामाहिल आदि शिष्यों के साथ विराजमान । आठवें तथा नवें पूर्व की वाचना । विष्णु द्वारा जिज्ञासा ।^१

१७२।११. जैसे कंचुकी पहने हुए पुरुष से कंचुकी स्पृष्ट होने पर भी बद्ध नहीं है, वैसे ही कर्म जीव से स्पृष्ट होने पर भी बद्ध नहीं होते ।

१७२।१२. जो प्रत्याख्यान अपरिमाण अर्थात् तीन करण तीन योग से यावज्जीवन के लिए किया जाता है, वह श्रेयस्कर है । परिमित समय के लिए किया गया प्रत्याख्यान आशंसा के दोष से दूषित होता है ।

१७२।१३. रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में आचार्य कुष्ण के पास शिवभूति ने दीक्षा स्वीकार की । गुरु से जिनकल्पी सम्बन्धी उपधि का विवेचन सुनकर शिवभूति द्वारा जिज्ञासा, गुरु का समाधान ।

१७२।१४, १५. गुरु द्वारा प्राप्त सिद्धान्त पर उसे विश्वास नहीं हुआ । रथवीरपुर नगर में बोटिक शिवभूति द्वारा बोटिक नामक मिथ्यादृष्टि का प्रवर्तन हुआ । उसके कौडिन्न और कौटवीर नामक दो शिष्य हुए । यह परम्परा आगे भी चली ।^२

बीधा अध्ययन : असंस्कृत

१७३. अप्रमाद शब्द के चार निक्षेप हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ।

१७४. प्रमाद के पांच प्रकार हैं—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकषा । ठीक इनके विपरीत अप्रमाद है ।

१७५. इस अध्ययन में पांच प्रकार के प्रमाद और पांच प्रकार के अप्रमाद का वर्णन है अतः इस अध्ययन का नाम प्रमादाप्रमाद है ।

१७६. जो कुछ उत्तरकरण^३ के द्वारा किया जाता है, उसे संस्कृत जानना चाहिए । शेष सारा असंस्कृत अर्थात् संस्कार के लिए अनुपयुक्त होता है । यह असंस्कृत की निर्मुक्ति है ।

१७७. करण शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ।

१७८. द्रव्यकरण के दो प्रकार हैं—संज्ञाकरण और नोसंज्ञाकरण । संज्ञाकरण के उदाहरण—कटकरण, अर्थकरण—सिक्कों की निर्वर्तक अधिकरणी आदि, बेलूकरण—रुई की पूणी का निर्वर्तक चित्राकारमय वेणुशलाका आदि ।

१७९. नोसंज्ञाकरण के दो भेद हैं—प्रयोगकरण तथा विस्रसाकरण । विस्रसाकरण के दो प्रकार हैं—सादिक और अनादिक ।

१८०. धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनों परस्पर संवलित होने के कारण सदा अवस्थित रहते हैं अतः अनादिकरण हैं । अक्षरूपशं (स्थूल परिणति वाले पुद्गलद्रव्य) तथा अचक्षरूपशं (सूक्ष्म परिणति वाले पुद्गलद्रव्य)—ये दो साधिकरण हैं ।

१. देखें परि ६, कथा सं. ४२ ।

२. वही, कथा सं. ४३ ।

३. अपने मूल हेतुओं से उत्पन्न वस्तु का उत्तर-काल में विशेष संस्कार करना उत्तरकरण है ।

१८१. द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि स्कन्ध, अन्न (विद्युत् आदि) तथा अन्नवृक्ष (इन्द्रधनुष आदि) जो निष्पन्न द्रव्य हैं—विस्रसाकरण हैं। (यह चाक्षुष, अवाक्षुष द्रव्यों का सादि विस्रसाकरण है।)

१८२. प्रयोगकरण के दो प्रकार हैं—जीवप्रयोगकरण तथा अजीवप्रयोगकरण। जीवप्रयोगकरण दो प्रकार का है—मूलकरण तथा उत्तरकरण। मूलकरण में पांच शरीरों का समावेश होता है। उत्तरकरण है—अंगोपांगनामकर्म। इसके अन्तर्गत तीन शरीर हैं—आहारिक, वैक्रिय और आहारक। (इन तीनों के ही अंगोपांग होते हैं।)

१८२।१,२. शिर, छाती, उदर, पीठ, दोनों भुजाएं तथा दो उरु—ये आठ अंग हैं तथा कान, नाक, आंख, जंघा, हाथ, पैर, नख, केश, डाढ़ी-मूछ, अंगुली—ये उपांग हैं।

१८३. प्रथम तीन शरीरों—आहारिक, वैक्रिय और आहारक का उत्तरकरण होता है। जैसे कानों की वृद्धि करना, कंधों को दृढ़ करना तथा उपधात और विष्णुद्धि से इन्द्रियों की अवस्था में परिवर्तन करना। यह उत्तरकरण है।

१८४. करण के दो प्रकार और हैं—संघातनाकरण और परिशाटनाकरण। ये दोनों प्रथम तीन शरीरों के होते हैं। शेष दो शरीरों—तैजस और कार्मेण के संघात नहीं होता, (इसलिए संघातनीकरण भी नहीं होता तथा परिशाटनाकरण तो शैलेशी अवस्था के चरम समय में होता है।) संघातना, परिशाटना तथा दोनों का कालान्तर जैसा सूत्र में निर्दिष्ट है, वैसा जान लेना चाहिए।

१८५, १८६. मूलप्रयोगकरण के पश्चात् उत्तरकरण की व्याख्या की जा रही है। शरीरकरण के प्रयोग से निष्पन्न उत्तरकरण कहलाता है।^१ इसके अनेक भेद हैं। संक्षेप में इसके चार भेद ये हैं—संघातनाकरण, परिशाटनाकरण, मिश्र—संघातना-परिशाटनाकरण तथा प्रतिषेध—संघातना-परिशाटनाशून्य। इनके उदाहरण ये हैं—

• पट (वस्त्र)—इसमें तन्तुओं की संघातना होती है।

• शंख—इसमें परिशाटना होती है।

• शकट—इसमें संघातना और परिशाटना दोनों होती है—कीलिका आदि की संघातना और लकड़ी को छीलने की परिशाटना।

स्थूणा (स्तंभ)—इसमें दोनों का अभाव होता है। ऊर्ध्वकरण और तिर्यक्करण तथा समनकरण और उन्नमनकरण—ये भी उत्तरकरण हैं।

१८७. जीव-प्रयोग के द्वारा पांच वर्ण आदि द्रव्यों में तथा कुसुमे आदि में जो चित्रकरण होता है, वह अजीवप्रयोगकरण है। शेष गन्ध, रस आदि के विषय में भी यही जान लेना चाहिए।

१. आहारक शरीर के ये उपांग नहीं होते। २. इसकी निष्पत्ति शरीरापेक्ष होती है, अतः परन्तु उसके गमन आदि का उत्तरकरण होता यह उत्तरकरण है।
है।

१८८. आकाश के बिना कुछ भी निर्वर्तित नहीं होता अतः आकाश ही क्षेत्र है। व्यञ्जन-पर्याय^१ की प्राप्ति इक्षुक्षेत्रकरण आदि के बहुत प्रकार हैं। यह क्षेत्रकरण है।

१८९. जिस क्रिया के लिए जितना जल अपेक्षित होता है, वह उतना कालकरण है। अथवा जिस-जिस काल में जो करण निष्पन्न होता है, वह उसका कालकरण है। यह कालकरण का सामान्य उल्लेख है। नाम आदि के आधार पर कालकरण ग्यारह प्रकार का है।

१९०, १९१. ग्यारह करण ये हैं

१. वव	५. गरादि	९. चतुष्पद
२. बालव	६. वणिज	१०. नाग
३. कोलव	७. विष्टि	११. किस्तुघ्न।
४. स्त्रीविलोकन	८. शकुनि	

इनमें प्रथम सात चल हैं और अंतिम चार ध्रुव हैं।

१९२. कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में सदा 'शकुनि' करण होता है। उसके पश्चात् अमावस्या के दिन में 'चतुष्पद' करण तथा रात्री में 'नाग' करण होता है। प्रतिपदा (एकम) के दिन 'किस्तुघ्न' करण होता है।^२

१९२।१. शुक्लपक्ष में तिथि को दो से गुणा करके उसमें से दो घटाकर सात का भाग देने से जो शेष बचे, वह दिन का करण होगा। रात्रि में इसी विधि से एक जोड़ने पर वह रात्रि का करण होगा।^३

१९३, १९४. भावकरण के दो प्रकार हैं—जीवविषयक भावकरण तथा अजीवविषयक भावकरण। अजीवकरण के पांच प्रकार हैं—(१) वर्णविषयक, (२) रसविषयक, (३) गन्धविषयक, (४) स्पर्शविषयक तथा (५) संस्थानविषयक। वर्ण के पांच प्रकार, रस के पांच प्रकार, गन्ध के दो प्रकार, स्पर्श के आठ प्रकार तथा संस्थान के पांच प्रकार हैं। ये सभी करण के विषय हैं, अन्तःकरण के भी इतने ही भेद हो जाते हैं।

१९५. जीवकरण के दो प्रकार हैं—श्रुतकरण और नोश्रुतकरण। श्रुतकरण दो प्रकार का है—बद्धश्रुत और अबद्धश्रुत। बद्धश्रुत के दो भेद हैं—निशीथ तथा अनिशीथ।^४ अबद्धश्रुत के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर।^५

१. व्यञ्जनं—शब्दस्तस्य पर्यायः—अन्यथा च भवनं—व्यञ्जनपर्यायः तमापन्नं—प्राप्तं व्यञ्जनपर्यायापन्नम्। (शांटीप. २०२)

२. 'वव' आदि सात करणों की व्याख्या के लिए देखें—शांटीप. २०३।

३. जैसे शुक्लपक्ष की चतुर्थी का करण जानना है— $४ \times २ = ८$ — $८ - २ = ६ \div ७$ शेष $० = ६$ । अतः छठा करण है 'वणिज'। रात्रि में एक

बढ़ाने से इससे अगला करण है 'विष्टि'।

(शांटीप. २०३)

४. वृत्तिकार (पत्र २०४) ने इनके लौकिक और लोकोत्तर—दो भेद किए हैं। निशीथ के भेद में निशीथ सूत्र को लोकोत्तर तथा बृहदा-रण्यक को लौकिक माना है। अनिशीथ में आचारंग आदि को लोकोत्तर तथा पुराण आदि लौकिक हैं।

५. देखें शांटीप. २०४।

१९६. नोष्ठूतकरण दो प्रकार का है—गुणकरण और योजनाकरण। तपःकरण और संयमकरण—ये गुणकरण हैं। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति को आत्मा के साथ योजित करना योजनाकरण है। सत्यमनोयोग आदि चार प्रकार का मनोयोग, सत्यवचन आदि चार प्रकार का वचनयोग, औदारिक काययोग आदि सात प्रकार का काययोग—ये पन्द्रह योजनाकरण हैं।

१९७. कर्मणशरीरकरण के अनेक भेद हैं। उसमें आयुष्यकरण असंस्कृत है—वह उत्तरकरण के द्वारा भी साधा नहीं जा सकता। प्रस्तुत अध्ययन में उसी का प्रसंग है। अतः अप्रमाद को ही चरित्र का विषय बनाना चाहिए।

१९८. द्वीप के दो प्रकार हैं—द्रव्यद्वीप और भावद्वीप। दोनों के दो-दो भेद हैं—आश्वासद्वीप और प्रकाशद्वीप।

१९९. आश्वासद्वीप के दो भेद हैं—संदीनद्वीप^१ और असंदीनद्वीप^२। प्रकाशद्वीप के दो भेद हैं—संयोगिम^३ तथा असंयोगिम^४। यह द्रव्यद्वीप की अपेक्षा से है। भावद्वीप की अपेक्षा से आश्वासद्वीप और प्रकाशद्वीप प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं।

पाँचवाँ अध्ययन : अकाममरणीय

२००. काम शब्द के चार निक्षेप हैं तथा मरण शब्द के छह निक्षेप हैं। काम की व्याख्या पहले (दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन में) की जा चुकी है। प्रस्तुत में अभिप्रेतकाम—इच्छाकाम का प्रसंग है।

२०१. मरण के ये छह निक्षेप हैं—(१) नाममरण (२) स्थापनामरण (३) द्रव्यमरण (४) क्षेत्रमरण (५) कालमरण (६) भावमरण।

२०२. द्रव्य का मरण द्रव्यमरण है। जैसे—कुसुम्भ आदि का मरण अर्थात् कुसुम्भ का रंगने के सामर्थ्य का अभाव, उसका मरण है। भावमरण है आयुष्य का क्षय। उसके तीन प्रकार हैं—(१) क्रोधमरण—सर्व प्राणियों का होने वाला मरण, (२) भवमरण—उस-उस भव में होने वाला मरण, (३) तद्भवमरण—उस भव में मरकर पुनः उसी भव में उत्पन्न होना। प्रस्तुत प्रसंग में मनुष्य सविक मरण का अधिकार है।

२०३-२०४. अब हम मरण के विभागों की प्ररूपणा, आयुष्यकर्म का अनुभाव, आयुष्यकर्म के प्रदेशाद्य, मरणों के कितने प्रकार से प्राणी मरता है? प्राणी एक समय में कितनी बार मरता है? एक-एक मरण में कितनी बार मरता है? वक्ष्यमाण मरण-भेदों में एक-एक में कितने भागों में मरण होता है? संसार के सभी जीवों के ये मरण निरन्तर होते हैं या व्यवहित (सान्तर) होते हैं? एक-एक मरण का कालमान कितना है? आदि का वर्णन करेंगे।

-
१. द्वीप—जो जल-प्रवाह में नष्ट हो जाता है, वह संदीन द्वीप है।
 २. असंदीन द्वीप—वह द्वीप, जो जल-प्रवाह में नष्ट नहीं होता।
 ३. संयोगिम—तेल, बत्ती, अग्नि के संयोग से प्रकाश करने वाला।
 ४. असंयोगिम—सूर्य का बिम्ब आदि।

२०५, २०६. मरण के सतरह प्रकार हैं—

(१) आवीचिमरण	(९) पंडितमरण
(२) अवधिमरण	(१०) मिश्रमरण
(३) अत्यन्तमरण	(११) छद्मस्वमरण
(४) वलन्मरण	(१२) केवलमरण
(५) वशात्तमरण	(१३) वैहायसमरण
(६) अन्तःशल्यमरण	(१४) गृध्रपृष्ठमरण (गृध्रस्पृष्ट)
(७) तद्भवमरण	(१५) भक्तपरिजामरण
(८) बालमरण	(१६) इगिनीमरण
	(१७) प्रायोपनयनमरण ।

२०७. गुणशील गुरुओं—तीर्थंकरों, गणधरों ने सतरह प्रकार के मरणों का प्रतिपादन किया है । अब मैं उन सभी का भाभांश्लेखपूर्वक अर्थ-विस्तार कहूँगा ।

२०८. जो प्रतिसमय, निरन्तर होता है तथा तरंगों की भाँति चारों ओर व्याप्त होता है, वह आवीचिमरण है । उसके पाँच प्रकार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ।

२०९. अवधिमरण भी द्रव्य, क्षेत्र आदि के भेद से पाँच प्रकार का है । प्राणी जिन आयुष्यकर्म के दलिकों को भोग कर मरता है, उन्हीं कर्मदलिकों को पुनः ग्रहण कर, भोग करके मरेगा यह अवधिमरण है । आत्यन्तिकमरण भी द्रव्य, क्षेत्र आदि के भेद से पाँच प्रकार का है । इसमें आयुष्य-कर्म के भुक्त दलिकों को पुनः नहीं भोगा जाता ।

२१०. जो प्राणी संयमयोगों से विषण्ण होकर मरता है, वह वलन्मरण है । जो इन्द्रिय-विषयों के वशावर्ती होकर मरण प्राप्त करते हैं, उनका मरण वशात्तमरण है ।

२११, २१२. जो लज्जा, गौरव तथा बहुश्रुत के मद से अपने दुश्चरित्र को गुरु के समक्ष नहीं कहते, वे अपराधक नहीं होते । वे अहंकार के कीचड़ में निमग्न व्यक्ति अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य विषयक अतिचार—अपराध को आचार्य आदि के समक्ष प्रगट नहीं करते, उनका सशल्यमरण होता है ।

२१३. इस प्रकार सशल्यमरण करने वाले प्राणी महान् भयावह, दुरन्त इस दीर्घ संसार रूपी अटवी में चिरकाल तक भ्रमण करते हैं ।

२१४. अकर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्य और तिर्यञ्च तथा देविकाय और नारकों के अतिरिक्त जीवों में से कुछेक जीवों के तद्भवमरण होता है ।

२१५. अवधिमरण और आवीचि मरण को छोड़कर शेष पन्द्रह मरण तद्भवमरण कहलाते हैं ।

२१६. अविरत व्यक्तियों का मरण बालमरण कहलाता है और विरत व्यक्तियों का मरण पंडितमरण कहलाता है । देशविरत व्यक्तियों का मरण बालपंडितमरण है ।

१. शेष जीवों अर्थात् कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च । उनमें भी संख्येय वर्ष की आयुष्य वाले । देखें, शांटी० प० २३३ ।

२१७. मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मतिज्ञानी अमण जिस मरण को प्राप्त होते हैं, वह छद्मस्थमरण है तथा केवलज्ञानी का मरण केवलमरण है।

२१८. गृध्र आदि पक्षियों के द्वारा खाये जाने पर होने वाला मरण गृध्रपुच्छमरण कहलाता है।^१ फाँसी लगाकर मरना वैहायसमरण है। ये दोनों प्रकार के मरण विशेषकारण से अनुज्ञात हैं, तीर्थंकरों द्वारा अनुमत हैं।

२१९. भक्तपरिज्ञा, इंगिनी तथा प्रायोपगमन—ये तीन प्रकार के मरण क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट हैं। इनको स्वीकार करने वाले व्यक्ति धृति और संहनन में विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्टतम होते हैं।

२२०. अनुभावमरण के दो प्रकार हैं—सोपक्रम और निरूपक्रम। आयुष्यकर्म के प्रदेशात्त ब्रह्मस्तान्त हैं। प्रत्येक आत्मप्रदेश अनन्त-अनन्त प्रदेशों से आवेष्टित हैं।

२२१, २२२. आवीचिमरण में एक साय दो, तीन, चार या पाँच मरण हो सकते हैं। एक समय में कितने मरते हैं—इतका भेद-प्रभेद विस्तार से जानना चाहिए। सभी भवस्थजीव सदा आवीचिमरण से मरते हैं। अवधिमरण तथा आत्यन्तिक मरण—ये दोनों मरण भजना अर्थात् सदा नहीं होते, जब आयुक्षय होता है तभी ये संभव होते हैं।^२

२२३. अवधिमरण-आत्यन्तिकमरण-बालमरण-पंडितमरण, बालपंडितमरण, छद्मस्थमरण-केवलमरण—ये सब परस्पर विरोधी हैं क्योंकि ये युगपद् नहीं होते।

२२४. प्रत्येक अप्रशस्त मरण में संख्यात, असंख्यात और अनन्त बार मरण होता है। प्रशस्त-मरण अनुबंध अर्थात् नैरंतर्य से सात-आठ भव तक हो सकता है। केवलमरण एक बार ही होता है।

२२५. आवीचिमरण को छोड़कर शेष सभी मरणों में एक-एक मरण में अनन्तभाग मरते हैं। आदिमरण—आवीचिमरण सतत होता है। प्रथम और चरम मरण में व्यवधान नहीं होता अर्थात् ये दोनों मरण सदा रहते हैं।^३

२२६. शेष मरण सान्तर और निरन्तर—दोनों रूप में प्ररूपित हैं। पहला आवीचिमरण अनादि है, शेष १६ मरण सादि-सपर्यवसित हैं।

२२७. 'मरणविभक्ति' अध्यायन के ये सभी द्वार क्रमशः कहे गए हैं। समस्त पदार्थों को विशेषरूप से जानने वाले अर्हत् तथा चतुर्दशपूर्वी स्पष्टरूप से इन प्रशस्त आदि मरणों का निरूपण करते हैं। (मंदबुद्धिवाला में वैसा निरूपण नहीं कर सकता।)

१. मरने का इच्छुक व्यक्ति हाथी अथवा ऊँट आदि बृहत्काय जानवरों के शव में स्वयं को प्रविष्ट कर लेता है। उन शवों को खाने के लिए गृध्र शृगाल आदि आते हैं। शव के मांस-भक्षण के साथ-साथ उस प्रविष्ट मुनि का भी भक्षण हो जाता है। यह मरण विशेष

सत्त्वसम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं।

(शांटीप २३४)

२. विस्तार के लिए देखें—श्रीभिक्षु आगम विषय कोश पृ. ५२६, ५२७।

३. आवीचिमरण सदा सम्भव है। चरममरण अर्थात् केवलमरण में पुनर्मरण नहीं होता।

२२८. जिनेश्वरदेव ने इन तीन मरणों को एकान्त प्रशस्त बतलाया है—भक्तपरिज्ञा, इगिनी तथा प्रायोपगमन । ये क्रम ज्येष्ठ हैं—उत्तरोत्तर प्रधान हैं ।

२२९. प्रस्तुत प्रसंग में मनुष्य के मरण का अधिकार है । अकाममरण को छोड़कर उसे सकाम-मरण मरना चाहिए ।

छठा अध्ययन : क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय

२३०. महत् शब्द के आठ निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेप, काल, प्रधान, प्रति और भाव । महत् का प्रतिपक्ष शब्द क्षुल्लक है ।

२३१, २३२. निर्ग्रन्थ शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य निर्ग्रन्थ के दो भेद हैं—आगमतः और नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन प्रकार हैं—जशरीरनिर्ग्रन्थ, भव्य-जरीरनिर्ग्रन्थ तथा तद्द्रव्यतिरिक्तनिर्ग्रन्थ । इसमें निक्षेपों का समावेश होता है । भावनिर्ग्रन्थ पांच प्रकार के हैं—(पुलाक, वक्रुषा, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक) ।

२३३ निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट भी होता है और जघन्य भी । अजघन्य-अनुत्कृष्ट निर्ग्रन्थ असंख्य होते हैं । यह कथन संयमस्थानों की अपेक्षा से है ।

२३४. ग्रंथ के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तर । आभ्यन्तर ग्रन्थ के चौदह और बाह्य ग्रंथ के दस प्रकार हैं ।

२३५. आभ्यन्तर ग्रंथ के चौदह प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मिथ्यात्व, वेद, अरति, रति, हास्य, शोक, भय और जुगुप्सा ।

२३६ बाह्य ग्रंथ के दस प्रकार हैं—क्षेप, वास्तु, धन-धान्य का संशय, मित्र-ज्ञाति का संयोग, यान, शयन, आसन, वासी, वास तथा कुप्य ।

२३७. जो सावद्य ग्रन्थों से तथा बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थों से मुक्त है, वह निर्ग्रन्थ है । यह क्षुल्लकनिर्ग्रन्थ सूत्र की निर्युक्ति है ।

सातवां अध्ययन : उरश्चीय

२३८, २३९. उरश्च शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य निक्षेप के दो प्रकार हैं—आगमतः और नो-आगमतः । नो-आगमतः द्रव्य निक्षेप के तीन प्रकार हैं—जशरीर, भव्यजरीर और तद्द्रव्यतिरिक्त । तद्द्रव्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—एकभक्तिक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र ।

२४०. उरश्च के आयु, नाम और गोत्र का वेदन करने वाला भावउरश्च होता है । उस भाव-उरश्च से उत्पन्न होने के कारण इस अध्ययन का नाम उरश्चीय है ।

२४१. प्रस्तुत उरश्चीय अध्ययन में ये पांच वृष्टांत हैं—उरश्च^१, काकिणी^२, बाञ्ज^३, व्यवहार^४ और समुद्र ।

२४२. उरञ्ज के विषय में आरम्भ—हिंसा, रसगृद्धि, दुर्गतिगमन और प्रत्यपाय की उपमा दी गई है। यह उरञ्जीय अध्ययन की निर्युक्ति है।

२४२।१. भेमने को अच्छा और पुष्ट भोजन खिलाता उसके रोग और मृत्यु का चिह्न है। बछड़े का शुष्क तृणों का आहार उसकी दीर्घायु का लक्षण है।

आठवां अध्ययन : कापिलीय

२४३, २४४. कपिल शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः तथा नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्द्रव्यतिरिक्त। तद्द्रव्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र।

२४५. कपिल के आयुष्य, नाम और गोत्र का वेदन करने वाला भावतः कपिल होता है। भाव कपिल से समुत्पन्न यह कापिलीय अध्ययन है।

२४६. कौशाम्बी नगरी। काश्यप पुरोहित। उसकी पत्नी यशा और पुत्र कपिल। श्रावस्ती नगरी में इन्द्रदत्त ब्राह्मण। शालिभद्र सेठ। धन श्रेष्ठी और प्रसेनजित् राजा।

२४७. प्रतिदिन नियुक्त भक्तदासी से प्रेरणा पाकर आहार मात्र से संतुष्ट रहने वाला कपिल दो मासा सोना पाने के लिए रात्रि के समय ही घर से निकल पड़ा।

२४८. दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए उसको आरक्षकों ने पकड़ लिया और राजा के सामने उपस्थित किया। राजा ने उसकी स्थिति समझकर वरदान देते हुए कहा—‘मैं तुम्हें क्या दूँ? तेरा प्रयोजन कितने अर्थ से पूरा होगा?’

२४९. कपिल ने स्वयं को धिक्कारते हुए कहा—‘जैसे लाभ होता है वैसे लोभ बढ़ता है। दो मासा सुवर्ण से पूरा होने वाला कार्य कोटि सुवर्ण से भी पूरा नहीं हो सका।’

२५०. राजा प्रसन्न होकर बोला—‘हे आर्य! मैं तुम्हें एक कोटि सुवर्ण भी दे सकता हूँ पर कपिल प्रतिबुद्ध हो चुका था इसलिए वह कोटि सुवर्ण का त्याग कर पापों का क्षमन करने वाला क्षमण बन गया।’

२५१. कपिल मुनि छह महीने तक छप्पस्थ रहा। राजगृह नगर के समीप अठारह योजन की अटवी में इक्कड़दास नाम के पाँच सौ चोर रहते थे। उनका प्रमुख था बलभद्र।

२५२. कपिल ने अतिशय ज्ञान से जाना कि वे प्रतिबुद्ध होंगे, ऐसा समझ उस अटवी के मार्ग से जाने का मन बनाया। वहाँ जाकर ‘अधुवे असासयमि संसारे……’ इस गीत से उनको प्रतिबोध दिया। वे पाँच सौ चोर प्रतिबुद्ध होकर प्रव्रजित हो गए।^१

नौवां अध्ययन : नमिप्रव्रज्या

२५३, २५४. नमि शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य नमि के दो निक्षेप हैं—आगमतः नो-आगमतः। नो-आगमतः द्रव्य नमि के तीन प्रकार हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्द्रव्यतिरिक्त। तद्द्रव्यतिरिक्त द्रव्यनमि के तीन भेद हैं—एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र।

१. वेदों परि० ६, कथा सं० ४८।

२५५. नमि के आयुष्य, नाम, गोध का वेदन करने वाला भावनमि होता है । इस अध्ययन में नमि की प्रव्रज्या का वर्णन होने के कारण इसका नाम नमिप्रव्रज्या है ।

२५६. प्रव्रज्या शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । अन्यतीर्थिकों की द्रव्य प्रव्रज्या है और भाव प्रव्रज्या है—आरम्भ तथा परिग्रह का त्याग ।

२५७. कलिंग में करकंडु, पांचाल में दुर्मुख, विदेह में नमीराजा और गंधार देश में नगती राजा प्रतिबुद्ध होकर प्रसन्नित हुए ।

२५८. करकंडु की बोधि का निमित्त था वृषभ, दुर्मुख की बोधि का निमित्त था इन्द्रकेतु, नमीराजा की बोधि का निमित्त था कंकण और गंधारराजा (नगति) की बोधि का निमित्त था आम का पुष्पित वृक्ष ।

२५९. गोकुल में श्वेत वर्ण वाले, अहीन अंगोपांग वाले और सुविभक्त सींग वाले बैल की ऋद्धि—बलीपचयता तथा अवृद्धि—शक्तिहीनता का सम्यग् पर्यालोचन कर कलिंग राजा ने मुनि धर्म को स्वीकार किया ।

२६०, २६१. करकंडु ने गोवाड़े में एक हृष्टपुष्ट बैल को देखा । उसकी गर्जना सुनकर सुतीक्ष्ण सींगों वाले सशक्त, दृष्ट और बलिष्ठ वृषभ भी पलायन कर जाते थे । कुछ समय बाद राजा करकंडु पुनः गोवाड़े में उसी बैल को देखने गया । उसने देखा वही बैल शक्तिहीन, धंसी आंखों वाला, प्रकंपित धूँभ और होठों को चवाने वाला तथा तत्र स्थित सामान्य भैंसों के संबद्धन को सहन करने वाला हो गया है ।^१

२६२. समलंकृत इन्द्रध्वज को इधर-उधर गिरते हुए और लोगों द्वारा लूटे जाते हुए देखकर उसकी ऋद्धि—पूर्णता और अवृद्धि—रिक्तता को सोचकर पंचालराजा ने भी मुनि धर्म स्वीकार कर लिया ।^२

२६३. चन्द्रमा की हानि और वृद्धि एवं महानदी की पूर्णता और रिक्तता को देखकर तथा यह सोचकर कि यहाँ सब कुछ अनित्य और अध्रुव है, पंचाल राजा ने भी मुनि धर्म को स्वीकार कर लिया ।^३

२६४. मिथिलापति नमिराजा छह मास से दाह रोग से पीड़ित था । राजा का यह रोग वैद्यों द्वारा भी अचिकित्स्य हो गया । कार्तिक पूर्णिमा के दिन राजा ने स्वप्न में शेषनाग और मेरुपर्वत को देखा । तत्पश्चात् नंदी सूर्य का घोष सुनकर प्रतिबुद्ध हो गया ।^४

२६५. विदेह के दो नमिराजा राज्य को छोड़कर प्रसन्नित हुए थे । उनमें एक तीर्थंकर हुए और एक प्रत्येकबुद्ध ।

२६६. वे भगवान् नमितीर्थंकर अपने पुत्र को राज्य देकर परिग्रह छोड़कर, हजार व्यक्तियों से परिवृत होकर प्रसन्नित हुए ।

१. देखें—परि० ६, कथा सं० ४९

२. वही, कथा सं० ५०

३. वही, कथा सं० ५१

४. वही, कथा सं० ५२

२६६. दूसरे नमिराजा भी शतशः गुण समन्वित राज्य को छोड़कर, परिग्रह का त्याग करके प्रव्रजित हुए। यहां दूसरे नमिराजा का अधिकार है।

२६६।१. करकंडू आदि चारों राजाओं का दुष्टोत्तर विभाग से स्वयं, दक्ष-एक हेतु से प्रतिबोध, प्रव्रज्या, कैवल्य-प्राप्ति तथा सिद्धिगमन— ये सारे एक ही समय में अर्थात् समसमय में हुए थे।

२६७. बहुत कंकणों का शब्द सुनकर तथा एक कंकण का अशब्द जानकर मिथिलाधिपति नमि राजा ने अभिनिष्क्रमण कर दिया।

२६८. मंजरियों, पल्लवों और पुष्पों से सज्जित एक मनोभिराम आत्मवृक्ष की (बसंत में) ऋद्धि और (पल्लव में) अऋद्धि को देखकर गंधार राजा ने मुनि धर्म स्वीकार कर लिया।

२६९. दुर्मुख ने करकंडू से कहा—'तुम राज्य, राष्ट्र, पुर, अन्तःपुर आदि का त्याग कर प्रव्रजित हुए हो तो फिर संचय क्यों करते हो? (कंडूयक को छिपाकर क्यों रखते हो?)'।

२७०. तब नमि ने दुर्मुख से कहा—'तुम्हारे पैतृक राज्य में अनेक कर्मकर थे, जो दूसरों के अपराध, दोष आदि का ध्यान रखते थे। प्रव्रज्या लेकर तुमने उन कर्मकरों के कृत्य को छोड़ दिया। आज तुम दूसरों का दोष देखने वाले कैसे बन गए?'

२७१. तब गंधारराजा ने नमि से कहा—'तुम सब कुछ त्याग कर मोक्ष के लिए प्रयत्नशील बने हो तथा आत्मा से आबद्ध कर्मों का सर्वथा नाश करने वाले हो तो फिर तुम दूसरों की गहीं क्यों करते हो?'

२७२. तब करकंडू ने कहा—'जिन्होंने मोक्षमार्ग को स्वीकार किया है, जो मुनि हैं, ब्रह्मचारी हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना करने वाले हैं, वे यदि अहित का निवारण करते हैं तो उसे दोष नहीं कहा जा सकता है।'

वसन्ता अध्ययन : द्रुमपत्रक

२७३, २७४. द्रुम शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य द्रुम के दो निक्षेप हैं—आगमतः और नो-आगमतः। नो-आगमतः द्रुम के तीन प्रकार हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्ब्यतिरिक्त। तद्ब्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—एकभक्षिक, बद्धायुष्क और अभिमुखनासगोत्र।

२७५. द्रुम आयुष्य, नाम, गोत्र का वेदन करता हुआ भावद्रुम होता है। इसी प्रकार पत्र शब्द के भी चार निक्षेप होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

२७६. आयुष्य को द्रुमपत्र की उपमा दी गई है। जैसे—द्रुमपत्र काल का परिपाक होने पर स्वतः वृक्ष से गिर जाता है अथवा उपक्रम—वायु आदि के द्वारा वृक्ष से अलग हो जाता है, वैसे ही आयुष्य की स्थिति पूरी होने पर अथवा आयुष्य का उपक्रम पूर्ण होने पर प्राणी मर जाता है। इस अध्ययन के प्रारम्भ में द्रुमपत्र शब्द है, इसलिए इस अध्ययन का नाम द्रुमपत्रक है।

२७७. मगधदेश के राजगृह नगर से भगवान् महावीर ने शाल, महाशाल शिष्यों को गौतम स्वामी के साथ भेजा। वे वहां से बिहार कर पृष्ठचंपा पहुंच गए।

२७८. पुण्डरीक में गार्गाणि अपने भाता-पिता के साथ प्रव्रजित हुआ। मार्ग में दोनों को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वे चंपापुरी पहुँचे। गौतम स्वामी ने भगवान् को वन्दन किया पर उन तीनों ने वन्दन नहीं किया।

२७९-८१. चंपापुरी के पुण्यभद्र चैत्य में यशस्वी जगन्नायक भगवान् महावीर ने श्रमणों को आमंत्रित कर कहा—'आठ प्रकार के कर्मों को मथने वाले, स्वभावतः विशुद्धलेश्या वाले तथा कृतकृत्य भगवान् ऋषभ की निर्वाणभूमि अष्टापद पर्वत है। वे भरत के पिता ऋषभ तीन लोक में आलोक फैलाकर यशस्वी बने। जो अष्टापद पर्वत पर आरोहण कर भगवान् की वंदना-स्तुति करता है, वह मुनि चरमशरीरी होता है।

२८२. बैताद्वयशिखर के पास सिद्धपर्वत है। वहाँ साधु की ही अवस्थिति होती है, असाधु की नहीं।

२८३. चरमशरीरी साधु ही उस पर्वत पर चढ़ सकता है, दूसरा नहीं। यह उदाहरण भगवान् महावीर ने दिया था।

२८४. भगवान् के वचन को सुनकर प्रथितकीर्ति गौतम वहाँ गए और उस श्रेष्ठ पर्वत पर चढ़कर जिनभगवान् की प्रतिमाओं की वन्दना की।

२८५. उस समय सर्वश्रद्धासम्पन्न वैश्रमण देव अपनी परिषद् के साथ वहाँ आया। उसने चैत्यों की वन्दना कर भगवान् गौतम को वन्दन किया।

२८६. प्रथितकीर्ति गौतम स्वामी ने वहाँ पुण्डरीक वृत्तांत की प्रज्ञापना की और दसमभक्त (चार दिन के उपवास) के पारणों में कौडिन्य तापस को प्रव्रजित किया।

२८७, २८८. उस वैश्रमण की सभा में अल्पकर्मा इंद्र ने गौतम द्वारा प्ररूपित पुण्डरीक का वृत्तान्त सुना। उससे बोध प्राप्त कर दग्धुविमान से च्युत हो वह इंद्र तृंबवन में धनगिरि की पत्नी सुनन्दा का पुत्र हुआ।

२८९-९९. दत्त, कौडिन्य और शैवाल—ये तीनों तापस पांच-पांच सौ परिवार के साथ अष्टापद पर्वत पर चढ़ने के लिए आए। कौडिन्य तापस चतुर्थ भक्त के पारणों में कंडू आदि सचिस्त आहार करता। (वह अष्टापद के नीचे की मेखला तक ही चढ़ पाया।) दत्त तापस पारणों में अचिस्त आहार करता। (वह पर्वत की मध्य मेखला तक ही चढ़ पाया।) तीसरा शैवाल तापस अष्टम भक्त के पारणों में शुष्क शैवाल का आहार करता। (वह पर्वत की ऊपरितन मेखला तक ही चढ़ पाया।) गौतम स्वामी की श्रद्धा देखकर वे तीनों विगतमोह अनगार होकर प्रव्रजित हो गए। प्रथम तापस को क्षीर भोजन के चिंतन से, दूसरे को परिषद् देखने से तथा तीसरे को जिन भगवान् के दर्शन करने से केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। सभी गौतम के साथ भगवान् महावीर को वंदना करने उपस्थित हुए। जब तीनों तापस केवली-परिषद् की ओर जाने लगे तब गौतम स्वामी ने कहा—'इधर आओ, भगवान् को वंदन करो।' गौतम के ऐसा कहने पर भगवान् ने गौतम से कहा—'गौतम! ये तो कृतकृत्य हो गए हैं।' भगवान् के वचन सुनकर गौतम दुःखी हुए। वे सोचने लगे—मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं हो रहा है? तब भगवान् बोले—'गौतम! तुम मेरे चिरसंसृष्ट हो, चिरपरिचित हो, चिरकाल से अमुगल हो। जब तुम्हें देह का भेदज्ञान होगा तब हम दोनों एक समान हो जावेंगे।

जैसे पुनर्भव न करने वाले शीणसंसारि हो जायेंगे । हम इस अर्थ को जानते हैं, वैसे ही विमानवासी देव भी इस तत्त्व को समझते हैं । सब कुछ जानते हुए भी भगवान् महावीर ने प्रथितकीर्ति गौतम से पूछा—‘गौतम ! देवों के वचन ग्राह्य हैं अथवा जिनेश्वर देव के ? भगवान् की वाणी सुनकर गौतम अपने मिथ्याचार का प्रतिक्रमण करने के लिए उत्कांठित हुए । उनकी निश्चा में भगवान् ने शिष्यों को अनुशिष्टि प्रदान की ।’

३००-३०२. लाघव्यविहीन, शिथिल संधियों वाला, वृन्त से टूटकर नीचे गिरता हुआ आपद्-प्रस्त तथा कालप्राप्त वृक्ष का पांडुर पत्ता किसलय से बोला—‘अब जैसे तुम हो, वैसे ही हम भी थे । अब जैसे हम हैं, वैसे ही तुम भी बनोगे ।’ पांडुरपत्र और किसलय का ऐसा उल्लाप न हुआ है और न होगा । यह केवल भव्यजनों को प्रतिबोध देने के लिए उपमा दी गई है ।

ग्यारहवां अध्ययन : बहुश्रुतपूजा

३०३. बहु, श्रुत और पूजा—इन तीनों शब्दों के चार-चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य बहुत्व में जीव और पुद्गल का बहुत्व विवेचित है ।

३०४. भावबहुत्व में अनन्त गर्भों से युक्त चौदह पूर्व बहुक हैं । ये क्षयोपशम भाव में वरतते हैं । क्षायिकभाव में वर्तमान केवलज्ञान भी भावबहुक है क्योंकि उसके अनन्त पर्याय हैं ।

३०५. द्रव्यश्रुत पुण्डज आदि हैं अथवा अक्षररूप में लिखित पुस्तक आदि द्रव्यश्रुत हैं । भावश्रुत के दो भेद हैं—सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत ।

३०६. भवसिद्धिक जीव तथा सम्यक्दृष्टि जीव जिस श्रुत को पढ़ते हैं, वह सम्यक्श्रुत होने के कारण भावश्रुत है । यह भावश्रुत आठ प्रकार के कर्मों का मोक्षक है, शुद्धिकारक है ।

३०७. अभव्यसिद्धिक मिथ्यादृष्टि जीव जो अध्ययन करते हैं, वह मिथ्याश्रुत है । मिथ्याश्रुत कर्मबंधन का हेतु है ।

३०८. ईश्वर (धनपति), तलवर (राजा आदि), माडम्बिक (जलदुर्ग का अधिपति), शिव, इन्द्र, स्कन्ध, विष्णु आदि की जो पूजा की जाती है, वह द्रव्य पूजा होती है ।

३०९. तीर्थंकर, केवली, सिद्ध, आचार्य और समग्र साधुओं की जो पूजा की जाती है, वह भाव पूजा है ।

३१०. जो चतुर्दश पूर्वधर और निपुण सर्वाक्षरसन्निपाती^१ हैं, उनकी पूजा भी भाव पूजा है । यहाँ इसी भावपूजा का अधिकार है ।

१. देखें—परि० ६, कथा सं० ५३

२. शांटी, पत्र ३४४ : सर्वाणि—समस्तानि
मान्यक्षराणि—अकारादीनि तेषां सन्निपातनं—

तत् तदर्थानभिधायकतया सांगत्येन घटनाकरणं
सर्वाक्षरसन्निपातः, स विद्यते अधिगमविषय-
तया येषां तेऽपि सर्वाक्षरसन्निपातिनः ।

बारहवां अध्ययन : हरिकेशीय

३११, ३१२. हरिकेश शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हैं—एकभक्षिक, बह्वायुष्क और अभिमुखनाम-गोत्र ।

३१३. हरिकेश नाम, गोत्र का वेदन करता हुआ भावतः हरिकेश होता है । हरिकेश से उद्भूत होने से इस अध्ययन का नाम हरिकेशीय है ।

३१४. हरिकेश ने पूर्व भव में प्रव्रजित शंख युवराज के पास दीक्षा ली थी । किन्तु जातिमद के प्रभाव से वह हरिकेश कुल में उत्पन्न हुआ ।

३१५. मथुरा में प्रव्रजित शंखमुनि बिहार करते हुए गजपुर नगर में गए । वहाँ एक पुरोहित पुत्र को मार्ग पूछा । उसने द्वेषवश अग्नि के समान उष्ण मार्ग बता दिया । उस मार्ग पर पांडिहरे—द्वारपाल की भांति सदा एक देव सन्निहित रहता था । मुनि उस मार्ग से गए । (देवयोग से वह शीतल हो गया ।)

३१६. हरिकेश, चण्डाल, श्वपाक, मार्तण्ड, बाह्य, पाण, श्वानघन, मृताश, श्मशानवृत्ति और नीच—ये एकार्थक शब्द हैं ।

३१७. हरिकेश का जन्म 'मृतगंगा' (सूखे प्रवाह वाली गंगा) के तट पर हुआ । प्रव्रजित होकर वे वाराणसी के तिन्दुक वन में ठहरे । वहाँ गंडीतिन्दुक यक्ष का मंदिर था । कौशलिक राजा की कन्या सुमद्रा वहाँ पूजा करने आई । उसने मुनि का रूप देखकर घृणा से उस पर धूक दिया । उसका मुनि के साथ विशाह । मुनि द्वारा परित्यक्त । मुनि का यज्ञवाट में भिक्षा के लिए जाना ।

३१८. बलकोट्ट नामक हरिकेशों का अधिपति बलकोट्ट था । उसके दो स्त्रियाँ थीं—गौरी और गान्धारी । गौरी ने स्वप्न में बसन्त मास देखा । बलकोट्ट में उत्पन्न होने के कारण पुत्र का नाम 'बल' रखा । उत्सव में सर्प के आने पर उसे मार डाला गया । दूसरी बार भेरुण्ड सर्प का (दुमुही) निकलना । उसे नहीं मारा गया ।

३१९. मनुष्य को भद्र होना चाहिए । भद्र मनुष्य कल्याण को प्राप्त होता है । सविष सर्प मारा जाता है और निविष भेरुण्ड सर्प छोड़ दिया जाता है ।

३२०. वाराणसी नगर के तिन्दुक उद्यान में तिन्दुक नामक यक्षायतन था । वहाँ गंडीतिन्दुक यक्ष रहता था । उसी के कारण उस उद्यान का नाम गंडीतिन्दुकवन पड़ा ।

३२१. एक दूसरा यक्ष गंडीतिन्दुक यक्ष को अपने उद्यान में ले गया । गंडी यक्ष ने कहा—'अरे ! यहाँ तो मुंडितमात्र होने वाले दीक्षित ध्यक्तियों की जमात है । यहाँ तो स्त्रीकथा, जनपदकथा और राजकथा हो रही है । चलो, हम तिन्दुक उद्यान में लौट चलें ।'

तेरहवाँ अध्ययन : चित्रसंभूतीय

३२२, ३२३. चित्र, संभूत शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्य-शरीर और तद्द्रव्यतिरिक्त । तद्द्रव्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—एकभविक, ब्रह्मायुक्त और अभिमुख-नामगोत्र ।

३२४. चित्र और संभूत के आयुष्य का वेदन करने वाले भावतः चित्र और संभूत हैं । उन दोनों के नाम से समुचित यह अध्ययन 'चित्रसंभूतीय' है ।

३२५. साकेत नगर में चन्द्रावतंसक राजा का पुत्र था मुनिचन्द्र । सागरचन्द्र के साथ मुनिचन्द्र प्रसन्न होकर श्रमण बन गया ।

३२६. अटवी में तृष्णा और क्षुधा से व्याकुल श्रमण (मुनिचन्द्र) को देखकर गोपालकों ने प्रासुक अन्न से उसे प्रतिलाभित किया । फिर मुनि के उपदेश से वे चारों गोपालक-पुत्र बोधि की प्राप्ति हो गए ।

३२७. मुनि के मसृदिष्ठ शरीर को देखकर दो गोपालक-पुत्रों को घृणा हो गई । जुमुप्सा करने के कारण वे दोनों मरकर दशार्ण जनपद में दास रूप में उत्पन्न हुए और शेष दो गोपालकपुत्र वषट्कारपुर के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए । यहाँ ब्रह्मदत्त का अधिकार है ।

३२८, ३२९. पांचाल जनपद का राजा ब्रह्मा, काशी जनपद का राजा कटक, कुरु जनपद का राजा कणेरदत्त, अंग जनपद का राजा पुण्यचूल, कोशल जनपद का राजा दीर्घ—ये पाँचों मित्र राजा थे । इन सभी ने एक ही समय में पाणिग्रहण किया था अर्थात् ये सभी समवयस्क थे । (राजा ब्रह्मा के मर जाने पर) चारों मित्र-राजा एक-एक वर्ष उस राज्य की सार-संभाल करने के लिए वहाँ रहने लगे ।

३३०. ब्रह्मराज के चार स्त्रियाँ थीं—इन्द्रात्री, इन्द्रयशा, इन्द्रवसु और चूलनीदेवी । चूलनी देवी ने ब्रह्मदत्त नामक पुत्र को जन्म दिया । उसी दिन धनु नामक सेनापति के वरधनु नामक पुत्र हुआ ।

३३१-३५. चित्र राजा की कन्या विद्युत्माला और विद्युत्मती, चित्रसेनक की कन्या भद्रा, पन्थक राजा की कन्या नागयशा, कीर्तिसेन की कन्या कीर्तिमती, यक्षहरित राजा की कन्या देवी, नागदत्ता, यशोमती और रत्नवती, चारुदत्त राजा की कन्या वज्रिणी, कात्यायनगोत्रीय वृषभ राजा की कन्या शिला, धनदेव, वणिक्, वसुमित्र, सुदर्शन और मायावी दारुक—ये चारों कुक्कुट युद्ध के प्रसंग में परस्पर मिले थे, वहाँ की पुस्ती नामक कन्या, पोत राजा की कन्या पिंगला, सागरदत्त वणिक् की कन्या दीपशिखा, काम्पिल्य की पुत्री मलयवती, सिन्धुदत्त की कन्या वनराजि और सोमा, सिन्धुसेन की कन्या बानीरा, प्रद्युम्नसेन की कन्या प्रतिका—ये सभी ब्रह्मदत्त की रानियाँ थीं । हरिकेशा, गोदत्ता, करेणुदत्ता, करेणुप्रदिका, कुंजरसेना, करेणुसेना, ऋषिवृद्धि, कुरुमती—ये आठों ब्रह्मदत्त के अन्तःपुर की प्रधान रानियाँ थीं । महारानी कुरुमती स्त्रीरत्न थी ।

३३६, ३३७. ब्रह्मदत्त काम्पिल्यपुर, गिरितटक, चम्पा, हस्तिनापुर, साकेत, समकटक, अवध्यानक, वंशीप्रासाद, समकटक आदि नगरों में घूमता हुआ अटवी में पहुँचा। वहाँ पर तृषा से अभिभूत हो गया। उसने वरधनु से कहा तो वह ब्रह्मदत्त को एक वटवृक्ष की छाया में लेटाकर बोला—‘मैं एक संकेत दूंगा तब तुम यहां से पलायन कर जाना।’ यह कहकर वह स्वयं पानी की खोज में निकला। वह जल लेकर वापस लौट रहा था तब दीर्घपृष्ठ के अनुचर कुमार को खोजते हुए वहाँ पहुँच गए। उन्होंने वरधनु को पकड़ लिया फिर उसे बंधन से बांधकर आक्रोश दिखाया, दुष्टवचनों से उसकी भर्त्सना की।

३३८. अनुचरों ने वरधनु को पीटते हुए पूछा—‘बोली, कुमार कहाँ है? तुम उसे कहाँ ले गए हो?’ वरधनु ने एक संकेत किया और पानी के साथ एक बिरेचन की गुटिका ले ली। उस गुटिका से बेहोशी आ गई और मुँह में भाग आ गए। उसने कपटमृत्यु का वरण कर लिया। गुप्तचरों ने उसे मृत समझकर छोड़ दिया।

३३९. इसर कुमार वरधनु की सांकेतिक भाषा को समझकर, भयभीत होता हुआ उत्पथ से पलायन कर गया। मार्ग में एक देव ने उसके सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए स्थविर का रूप बनाकर उसे धोखे में डाल दिया।

३४०. वहाँ से घूमता हुआ कुमार यटपुर, ब्रह्मस्थल, वटस्थल, कोशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, गिरिपुर, मथुरा और अहिच्छत्रा आदि नगरों में पहुँचा।

३४१. कुमार अहिच्छत्रा से मला और एक महान् अटवी में पहुँच गया। वहाँ उसने आभरण, वस्त्र एवं गुणों से युक्त एक वनहस्ती देखा। वह उस पर आरुढ़ हो गया। हाथी कुमार को भयंकर वन में ले गया। कुमार अटवी से बाहर निकलकर यटपुर गया। यटपुर से आवस्ती के लिए प्रस्थान किया। चलते-चलते एक छोटे गाँव में पहुँचा।

३४२. नदी और अरण्य गहन होते हैं पर पुरुषों के हृदय उससे भी अधिक गहन होते हैं। आप अपना पुण्यपत्त^१ दें। हमारे प्रिय पुत्र हुआ है।

३४३. वहाँ से कुमार सुप्रतिष्ठानपुर में पहुँचा। वहाँ भिकुंडी राजा से निष्कासित कन्या कुसकुम्भी जितशत्रु राजा के पास से मथुरा से अहिच्छत्रा जा रही थी। वह बीच के एक गाँव में मिली।

३४४, ३४५. इन्द्रपुर में शिवदत्त तथा रुद्रपुर में विशाखदत्त—इन दोनों की दो पुत्रियाँ कुमार को विट वेध में प्राप्त हुईं। उसे वहाँ राज्य भी प्राप्त हुआ। वहाँ से कुमार राजगृह, मिथिला, हस्तिनापुर, चंपा, आवस्ती आदि नगरों में घूमा। यह कुमार ब्रह्मदत्त के नगरभ्रमण (नगरहिंरी) का अवलोकन है।

३४६. कुमार को चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। वह दिग्बिजयी बन गया। दीर्घपृष्ठ राजा का रोष भी शांत हो गया। (देवताओं द्वारा कल्पवृक्ष के फूलों की माला अर्पित करने पर) कुमार को जाति-स्मृति हुई कि मैं नलिनीगुल्म में देव रूप में उत्पन्न हुआ था।

१. आनन्द से हृत वस्त्र।

३४७. ब्रह्मदत्त ने जातिस्मृति ज्ञान द्वारा अपनी पूर्वजन्म की जातियों का दो पक्षों में प्रकाशन किया तथा उस श्लोक की पूर्ति का निवेदन किया। मुनि चित्र ने यह सुना और वहाँ आए। चित्र मुनि ने ब्रह्मदत्त को ऋद्धि के परिणाम का उपदेश दिया। यही सूत्र के अर्थ की परम्परा है।^१

३४८-५२. बृहद् वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने इन पाँचों गाथाओं के विषय में लिखा है—इन श्लोकों की परम्परा ज्ञात न होने के कारण इनका विवरण नहीं दिया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा उत्तराध्ययन सूत्र पर निमित्त 'सुखबोधा' वृत्ति (पत्र १८५-९७) में तद्विषयक विस्तृत कथानक है। उसी में से इन पाँच श्लोकगत संक्षिप्त तथ्यों का विस्तार से आकलन किया जा सकता है।^२

चौवह्वाँ अध्ययन : इषुकारीय

३५३, ३५४. इषुकार शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो निक्षेप हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन निक्षेप हैं—अशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त। तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र।

३५५. इषुकार नाम, गोत्र का वेदन करने वाला भाव इषुकार होता है। इषुकार से उद्भूत होने के कारण इस अध्ययन का नाम इषुकारीय है।

३५६. पूर्वभव के स्नेह से संबद्ध, प्रीतिभाष्, परस्पर अनुरक्त छह व्यक्ति भोग्य भोगों को भोगकर, अन्धिरहित होकर प्रव्रजित हो श्रमण बन गए।

३५७. आसप्य का पालन कर वे पद्मगुल्म नामक विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ उनकी उत्कृष्ट स्थिति चार पत्न्योपम की थी।

३५८. वहाँ से च्युत होकर वे छहों व्यक्ति कुरुजनपद के इषुकार नगर में उत्पन्न हुए। वे चरमशरीरी और विगतमोह थे।

३५९. इषुकार नगर में इषुकार राजा था। कमलावती देवी अग्रमहिषी थी। उसके पुरोहित का नाम भृगु और उसकी पत्नी का नाम वाशिष्ठी था।

३६०. इषुकार नगर में इषुकार राजा के पुरोहित के कोई संतान नहीं थी। वे दोनों पति-पत्नी पुत्र के लिए बहुत व्याकुल रहते थे।

३६१. गोपपुत्र देवों ने श्रमण का रूप बनाकर पुरोहित को बताया कि देवलोक से च्युत होकर वो देव तुम्हारे पुत्ररूप में उत्पन्न होंगे।

३६२. तुम्हारे वे दोनों पुत्र प्रव्रजित होंगे। तुम उनकी प्रसन्न्या में बाधक मत बनना क्योंकि वे प्रव्रजित होकर बहुत लोगों को प्रतिबोध देंगे।

३६३, ३६४. उनका वचन सुनकर वह पुरोहित अपनी पत्नी के साथ दूसरे गोकुल ग्राम में चला गया। वहाँ उसके दो पुत्र हुए। वे बड़ने लगे। पुरोहित उनको असद्भाव—श्रमणों के प्रति मिथ्या धारणा की शिक्षा देने लगा। वह कहता—'पुत्रों! ये श्रमण धूर्त हैं, प्रेत-पिशाचरूप हैं और नरमांस के भक्षक हैं। तुम उनकी संगति कभी मत करना। पुत्रों! तुम नष्ट-अष्ट मत हो जाना।'

३६५, ३६६. संयोगवश दोनों लड़कों ने वहाँ श्रमणों को देखा । जातिस्मृति ज्ञान से प्रबुद्ध हुए । फिर उन्होंने अपने माता-पिता को प्रतिबोध दिया । कमलावती रानी प्रबुद्ध हुई । उसने हनुकार राजा को प्रबोध दिया । इस प्रकार सीमाश्वर राजा हनुकार, भृगु पुरोहित, भृगुपत्नी वाशिष्ठी, राजपत्नी कमलावती और दोनों भृगुपुत्र—ये छहों व्यक्ति प्रव्रजित होकर परिनिर्वृत हो गए ।^१

पञ्चहर्षा अध्ययन : अभिक्षु

३६७, ३६८. भिक्षु शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य भिक्षु के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । आगमतः के तीन भेद हैं—शरीर, भव्यशरीर और तद्रव्यतिरिक्त । तद्रव्यतिरिक्त भिक्षु निह्ववादि हैं । जो क्षुत्—कर्म का भेदन करता है, वह भावभिक्षु है ।

३६९. भेत्ता, भेदन और भेत्तव्य—इन तीनों के दो-दो भेद हैं—द्रव्य और भाव ।

३७०. द्रव्य-भेत्ता है तक्षक, भेदन है परशु और भेत्तव्य है काष्ठ । भाव-भेत्ता है साधु, भेदन है तपस्या और भेत्तव्य हैं आठ प्रकार के कर्म ।

३७१. राग, द्वेष, तीन करण, तीन योग, गौरव, भ्रात्य, विफथा, संज्ञा, क्षुत्—आठ प्रकार के कर्म, कषाय और प्रमाद—ये सभी क्षुत् हैं ।

३७२. जो सुव्रती ऋषि इन क्षुत् शब्द वाच्य अवस्थाओं का भेदन करते हैं, वे कर्मग्रंथि का भेदन कर अजरामर स्थान—मोक्षस्थान को प्राप्ति करते हैं ।

सोत्तहर्षा अध्ययन : ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान

३७३. एक के बिना दश नहीं होता अतः एक के ये निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, मातृकापत्र, संग्रह, पर्याय और भाव—ये सात पृथक्-पृथक् होते हैं ।

३७४. दश शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव । दश प्रादेशिक स्कन्ध द्रव्यदश है । अवगाहना स्थिति से दश प्रदेशावगाह स्कन्ध क्षेत्रदश है । दश समय की स्थिति कालदश है । दश संख्या से विवक्षित पर्याय भावदश है ।

३७५. ब्रह्म शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । किसी की ब्रह्म संज्ञा नामब्रह्म है । स्थापना ब्रह्म में ब्राह्मण की उत्पत्ति तथा द्रव्यब्रह्म में अज्ञानियों का वस्तिनिग्रह जातव्य है ।

३७६. ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए वस्तिनिग्रह करना भावब्रह्म है । उसके लिए इस अध्ययन में विविक्त-शयनासनसेवन आदि जो स्थान निरूपित हैं, उनका वर्जन करना चाहिए ।

३७७. चरण शब्द के छह निक्षेपों में द्रव्यचरण है—गतिरूप चरण तथा भक्षणरूप चरण । जिस क्षेत्र और काल में चरण की व्याख्या की जाती है, वह क्षेत्रचरण और कालचरण है । मूस और उत्तर गुणों का आचरण भावचरण है ।

३७८. समाधि के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । मायुये आदि गुणों से युक्त द्रव्य से जो समाधि मिलती है, वह द्रव्यसमाधि है । ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र्य—यह भाव-समाधि है ।

३७९. स्थान शब्द के पन्द्रह निक्षेप हैं—

१. नामस्थान ।	९. संयमस्थान—संयम में अवस्थिति ।
२. स्थापनास्थान ।	१०. प्रग्रहस्थान—आयुध-ग्रहण का स्थान ।
३. द्रव्यस्थान ।	११. योधस्थान—युद्ध में आयुध-प्रहार हेतु की जाने वाली मुद्रा ।
४. क्षेत्रस्थान—आकाश	१२. अचलस्थान—स्थिर स्थान ।
५. कालस्थान—समयक्षेत्र ।	१३. गणनास्थान—दो से शीर्षप्रहेलिका तक की गणना ।
६. ऊर्ध्वस्थान—कायोत्सर्ग ।	१४. संधानस्थान—वृद्धि का संधान ।
७. उपरतिस्थान—सर्वसावद्यविरति ।	१५. भावस्थान—औद्ययिक आदि भावों का स्थान ।
८. वसतिस्थान—यतिनिवास ।	

सत्तरहवां अध्ययन : पापधमनीय

३८०. पाप शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः और नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, मध्यशरीर और तद्द्रव्यतिरिक्त । तद्द्रव्यतिरिक्त द्रव्य के तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र ।

सचित्त द्रव्यपाप—जीवों की असुन्दरता ।

अचित्त द्रव्यपाप—चोरासी पाप प्रकृतियाँ ।

मिश्र द्रव्यपाप—पापप्रकृति युक्त जीव ।

क्षेत्रपाप—नरक आदि पाप-प्रकृति का उदयभूत स्थान ।

कालपाप—दुष्कामादि काल, जिसके प्रभाव से पाप उदित होता है ।

३८१. हिंसा, असत्य, स्तेय, अन्नह्यचर्य, परिस्रह तथा आगमों में निरूपित मिथ्यात्व आदि अगुण—ये सभी भाव पाप हैं ।

३८२. श्रमण शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य श्रमण में निह्वन आदि का ग्रहण होता है तथा भाव श्रमण में संयमसहित ज्ञानी का समावेश होता है ।

३८३. जिनेश्वर देव ने प्रस्तुत अध्ययन में जिन अकरणीय भावों का निरूपण किया है, उनका सेवन करने वाला मुनि पापश्रमण कहलाता है ।

३८४. ओ सुव्रती ऋषि इन पापों का वर्जन करते हैं, वे पापकर्म से मुक्त होकर निर्विघ्नरूप से सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।

अठारहवां अध्ययन : संजयीय

३८५, ३८६. संजयीय शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य संजयीय के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, मध्यशरीर और तद्द्रव्यतिरिक्त । तद्द्रव्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—एकभविक, ब्रह्मायुष्क और अभियुक्त-नामगोत्र ।

३८७. संजय नाम, गोत्र का वेदन करता हुआ भावसंजय होता है। भावसंजय से समुत्पन्न होने के कारण इस अध्ययन का नाम संजयीय हुआ है।

३८८, ३८९. कांपित्यपुर नगर का राजा संजय सेना सहित मृगमा के लिए निकला। वह घोड़े पर सवार होकर मृगों को केसर उद्यान की ओर खदेड़ कर ले गया। वहाँ एकत्रित मृग अत्यन्त भयभीत हो रहे थे। वह रसलोलुप राजा उन्हें वहाँ व्यथित करने लगा।

३९०. वहाँ केसरउद्यान में दोषमुक्त गर्दभालि अनगार छाए हुए मंडप में ध्यान कर रहे थे।

३९१. घोड़े पर सवार राजा ने मुनि को देखा और आकुल-व्याकुल होकर बोला—अहो! खेद है, मैं अभी ऋषिहत्या से लिप्त हो जाता पर बच गया।

३९२-९४. राजा घोड़े को छोड़कर अनगार के पास गया। विनम्रता से वन्दना करके अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा। अनगार मौन धारण किए हुए थे इसलिए राजा को कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। तब राजा इनके तेज-तप से धबकाकर इस प्रकार बोला—‘भंते! मैं कांपित्यपुर का अधिपति हूँ। मेरा नाम संजय है। मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप मुझे अपने तपोजनित तेज से न जलाएं।’

३९५-९७. मुनि बोले—‘राजन्! मैं तुम्हें अभय देता हूँ। तुम इस पानी के बुद्बुदे के समान अनित्य मनुष्य जीवन में अपने दुःखजनक मरण को जानकर भी हिंसा को प्रश्रय देते हो। क्या यह उचित है? संसार में सब कुछ छोड़कर एक दिन अवश्य जाना होगा। फिर इन किपाकफल के समान भोगों में क्यों आसक्त होते हो?’ राजा ने मुनि से धर्म का रहस्य जाना और समग्र वैभव से युक्त राज्य को छोड़कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

३९८. बहुत वर्षों तक तपश्चरण के द्वारा सारे क्लेशों—राग-द्वेष आदि को नष्ट कर राजा ऐसे स्थान को प्राप्त हो गया, जहाँ जाकर किसी प्रकार का शोक नहीं करना पड़ता अर्थात् शारीरिक और मानसिक दुःखों से ग्रस्त नहीं होना पड़ता।

उत्तीर्त्ता अध्ययन : मृगापुत्रीय

४०९, ४००. मृगा शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त। तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—एकभविक, वज्रायुष्क और अभिमुखनामगोत्र।

४०१. मृगा के आयु, नाम, गोत्र का वेदन करने वाली भावमृगा होती है। इसी प्रकार पुत्र शब्द के भी चार निक्षेप हैं।

४०२. मृगादेवी महारानी के पुत्र बलभी से यह अध्ययन समुत्पन्न हुआ इसलिए इसका नाम मृगापुत्रीय है।

४०३-१०. सुशीव नगर में बलभद्र नाम का एक राजा था। उसकी पटरानी का नाम मृगावती था। उन दोनों के बलभी नाम का पुत्र था। वह धीमान्, वज्रशृङ्खलसंहनन वाला तथा तद्भवमुक्तिगामी था। उसे युवराज बना दिया गया। वह विकसित हृदयवाला युवराज रमणीक और

आनन्दमय प्रासाद में प्रमदाओं के साथ शोभुंदक देवों की भांति जीढ़ारत रहता था। एक बार वह प्रासाद के भरोखे में बैठा-बैठा नगर के विस्तीर्ण, ऋजु तथा सम विपणि-मार्गों को देख रहा था। उस समय राजमार्ग में उसने श्रुतसागर के पारगामी, धीर-गंभीर, तप, नियम तथा संयम के धारक संयती मुनि को देखा। राजपुत्र उस मुनि की अभिनेषदृष्टि से देखता रहा। उसे लगा कि ऐसा रूप मैंने पहले भी कभी देखा है। ऐसा विचार करते-करते उसे संज्ञिज्ञान—जातिस्मृतिज्ञान उत्पन्न हुआ और उसे स्मृति हो आई कि पूर्वभव में मैंने भी ऐसा साधु-जीवन स्वीकार किया था। इस प्रकार बोधलाभ प्राप्त कर वह माता-पिता के चरणों में प्रणिपात कर बोला—‘पिताजी ! मैं इस गृहस्थ जीवन को छोड़कर श्रमणत्व—प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ।’

४११-१५. माता-पिता ने सोचा कि बलश्री (मृगापुत्र) अपने निर्णय के अनुसार करेगा ही तब उन्होंने कहा—पुत्र ! तुम धन्य हो, जो सुख-शामग्री की विद्यमानता में विरक्त हुए हो। पुत्र ! तुम सिंह की तरह अभिनिष्क्रमण कर सिंहवृत्ति से ही उसे निभाना। धर्म की कामना रखते हुए काम-भोगों से विरक्त होकर विहरण करना। वरस ! तुम ज्ञान से, दर्शन से, चारित्र्य से तथा तप-संयम और नियम से, क्षांति, भुक्ति आदि से सदा वर्धमान रहना। सवेगजनित हर्ष से हर्षित और मोक्षगमन के लिये उत्कण्ठित बलश्री ने माता-पिता के आशीर्वादात्मक वचन को हाथ जोड़कर स्वीकार किया। परम ऐश्वर्य से अभिनिष्क्रमण कर परमधोर श्रामण्य का पालन करके वह धीर पुरुष वहां गया, जहां संसार को क्षीण करने वाले जाते हैं, अर्थात् वह मोक्ष चला गया।^१

बीसवां अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय

४१६. क्षुल्लक शब्द के आठ निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्थान, प्रति और भाव। इन क्षुल्लकों का प्रतिपक्षी है—महत्। उसके भी आठ निक्षेप हैं।

४१७, ४१८. निर्ग्रन्थ शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्ध्यतिरिक्त। तद्ध्यतिरिक्त में निह्व आदि आते हैं। भाव निक्षेप पांच प्रकार का है, जो निम्नांकित द्वारों से ज्ञातव्य है—

४१९-२१. प्रज्ञापना, वेद, राग, कल्प, चारित्र्य, प्रतिसेवना, ज्ञान, तीर्थ, लिंग, शरीर, क्षेत्र, काल, गति, स्थिति, संयम, सन्निकर्ष, योग, उपयोग, कषाय, श्लेश्या-परिणाम, बंधन, उदय, कर्मोदीरण, उपसंपद्—ज्ञान, संज्ञा, आहार, भव, आकर्ष, काल, अन्तर, समुद्घात, क्षेत्र, स्पर्शना, भाव, परिणाम इत्यादि द्वारों से निर्ग्रन्थ ज्ञातव्य हैं तथा महानिर्ग्रन्थों का अल्प-बहुत्व भी ज्ञातव्य है।

४२२. निर्ग्रन्थ वे होते हैं, जो बाह्य और आभ्यन्तर सावक्ष ग्रन्थ से मुक्त होते हैं। यह महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन की निर्युक्ति है।

इक्कीसवां अध्ययन : समुद्रपालीय

४२३. समुद्रपाल शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर

और तद्व्यतिरिक्त ।

४२४. समुद्रपाल की आयु का वेदन करता हुआ भाव समुद्रपाल होता है । समुद्रपाल से समुत्थित होने के कारण इस अध्ययन का नाम समुद्रपालीय है ।

४२५-३५. चंपा नगरी में पालित नाम का सार्थवाह रहता था । वह चीतराग भगवान् महावीर का अनुयायी था । वह सामुद्रिक व्यापारी था । एक बार वह गणिम—सुपारी आदि तथा धरिम—स्वर्ण आदि वस्तुओं से भरे जहाज को लेकर पिहुंड नाम के नगर में पहुँचा और वहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने लगा । एक वणिक् ने अपनी पुत्री के साथ उसका विवाह कर दिया । वह अपनी पत्नी को लेकर स्वदेश की ओर चल पड़ा । उस वणिक्पुत्री अर्थात् पालित की पत्नी ने समुद्र-मार्ग में ही एक पुत्र को जन्म दिया । वह सर्वांग सुन्दर और मनोहर था । उसका नाम समुद्रपाल रखा गया । वह पालित श्रावक सकृशल अपने घर पहुँचा । शिशु समुद्र पाँच धार्यों के बीच में बड़ा होने लगा । उसने बहत्तर कलाएं सीखीं । वह न्याय-नीति में निपुण हो गया । यौवन में प्रवेश कर अत्यधिक सुन्दर दीखने लगा । उसके पिता पालित ने उसका विवाह रूपिणी नामक कन्या से कर दिया । वह स्त्रियों के चौसठ गुणों से युक्त तथा देवांगना सदृश रूपवती थी । जैसे दोगुन्दक देव कीड़ारत रहते हैं, वैसे ही समुद्रपाल अपनी पत्नी रूपिणी के साथ पुंडरीक भवन में कीड़ारत रहता था । वह सदा नौकरों से घिरा रहता था । एक बार वह अपने पत्नी के साथ भवन के झरोखे में बैठा था । उसने राजमार्ग पर राजपुरुषों द्वारा एक वधू को ले जाते देखा । उसके पीछे सैकड़ों व्यक्ति चल रहे थे । उसको देखते ही सम्यक्त्व और ज्ञान के धनी कुमार ने सांसारिक दुःखों से भयभीत होकर सोचा—हाय ! यह निकृष्ट पापकर्मों का प्रत्यक्ष फल है । संवोध प्राप्त कर कुमार समुद्रपाल अनुत्तर वैराग्य से संपृक्त हो गया । प्रख्यात यश-कीर्ति वाले उस कुमार ने माता-पिता की आज्ञा लेकर अभिनिष्क्रमण कर प्रज्ज्या ग्रहण कर ली ।

४३६. अनेक वर्षों तक तपश्चर्या द्वारा क्लेशों का शय्य करके उसने उस स्थान को प्राप्त किया, जिस स्थान को प्राप्त कर कोई शोक नहीं रहता ।

बावीसवां अध्ययन : रथनेमीय

४३७, ४३८. रथनेमि शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन प्रकार हैं—जशरीर, भक्ष्यजरीर और तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त के तीन प्रकार हैं—एकभविक, वद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र ।

४३९. रथनेमि नाम, गोत्र का वेदन करने वाला भावरथनेमि होता है । उसी से समुत्थित यह अध्ययन रथनेमीय कहलाता है ।

४४०-४४. शौर्यपुर नगर में समुद्रविजय नाम का राजा था । उसके सर्वांग सुन्दर शिवा नाम की महारानी थी । उनके चार पुत्र हुए—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृक्नेमि । अरिष्टनेमि बावीसवें तीर्थंकर हुए तथा रथनेमि और सत्यनेमि प्रत्येकबुद्ध हुए । रथनेमि चार सौ वर्ष गृहस्थावास में रहे । एक वर्ष छत्रस्थ पर्याय में और पाँच सौ वर्ष केवली पर्याय में रहे । उनका समग्र आयुष्य ९०१ वर्ष का था । राजीमती का भी कालमान इतना ही जानना चाहिए ।

तेसीसवां अध्ययन : केशि-गौतमीय

४४५, ४४६. गौतम शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र ।

४४७, ४४८. गौतम नाम, गोत्र का वेदन करता हुआ भावगौतम होता है । इसी तरह केशी के भी चार निक्षेप होते हैं । गौतम और केशी के संवाद से समुत्थित इस अध्ययन को केशिगौतमीय कहा गया है ।

४४९-५१. शिक्षाव्रत, लिग वेप, शत्रुपराजय, पाशावकर्तन, तंतुबन्धन-उद्धार—तृष्णाक्षय, अग्नि-निर्वापन, दुष्ट का निग्रह, पय-परिज्ञान, महास्रोतनिवारण, संसार-पारगमन, तम का विधातन, स्थानोपसंपदा—ये केशी और गौतम के बारह चर्चनीय विषय थे ।

चौबीसवां अध्ययन : प्रवचनमाता

४५२, ४५३. प्रवचन शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त में कुत्तीर्थिक आदि का ग्रहण होता है । भावप्रवचन में द्वादशांग का समावेश है । इसे गणिपिटक भी कहा जाता है ।

४५४-५६. मातृ शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त । द्रव्यमातृ है—भाजन में द्रव्य अर्थात् भोदक आदि । समितियां आदि की भावमातृ कहा जाता है । इनमें द्वादशांग रूप प्रवचन समाविष्ट है इसलिए इस अध्ययन का नाम प्रवचनमाता है ।

पच्चीसवां अध्ययन : यज्ञीय

४५७-५९. यज्ञ शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त में ब्राह्मण आदि के यज्ञ आते हैं । तप, संयम का अनुष्ठान और आदर करना भावयज्ञ है । विजयघोष की यज्ञक्रिया में जयघोष अनगार आए । यज्ञ से समुत्थित होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'यज्ञीय' हो गया ।

४६०, ४६१. वाराणसी नगरी में काश्यपगोत्रीय दो विप्र थे । उनके पास छन और स्वर्ण का विपुल कोष था । वे षट्कर्म्मरत थे और चारों वेदों के ज्ञाता थे । उन दोनों जुड़वां भाइयों में परस्पर बाह्य प्रीति और आंतरिक अनुरक्ति थी । एक का नाम जयघोष और दूसरे का नाम विजयघोष था । वे आगमकुशल और स्वदाररत थे ।

४६२-६७. एक दिन जयघोष गंगानदी पर स्नान करने गया । वहाँ उसने देखा कि सर्प मेंढक को निगल रहा है और सर्प को कुरुर पक्षी ने पकड़ रखा है । सर्प को भूमि पर गिराकर उस पर

आक्रमण कर उसे स्तम्भित कर दिया है। कुरुर पक्षी के वशीभूत वह सर्प 'चीं-चीं' करते हुए मंडक को खाने का प्रयत्न कर रहा है और वह कुरुर पक्षी रौद्र रूप से सर्प का खण्ड-खण्ड कर खाए जा रहा है। कुरुर, सर्प और मंडक के परस्पर घात-प्रत्याघात को देखकर जयघोष प्रतिबुद्ध हुआ। गंगा को पारकर श्रमणों के निवास-स्थान पर आया और कण्ठा से ओत-प्रोत होकर वह बाह्य तथा आभ्यन्तर ग्रन्थियों से मुक्त होकर, असार केशों के साथ-साथ समस्त क्लेशों का परित्याग कर, प्रव्रजित हो गया, निर्ग्रन्थ बन गया। वह पांच महाव्रतों से युक्त, पांच इन्द्रियों से संवृत, संयम गुणों से संपन्न, पापों का शमन करने वाला तथा संयमयोगों में चेष्टा करने वाला तथा उन्हीं में यतना-शील रहकर प्रवर श्रमण बन गया।

४६८-७६. जयघोष मुनि एकरात्रिकी प्रतिमा को स्वीकार कर, विहार करते-करते वाराणसी नगरी पहुँचे। वहाँ एक उद्यान में ठहरे। मासखमण की दीर्घ तपस्या के कारण उनका शरीर क्षीण हो गया था। वे भिक्षा के लिए ब्राह्मणों के यज्ञवाट में उपस्थित हुए। विजयघोष ने जयघोष से कहा—भते! आप यहाँ क्यों आए हैं? हम आपको यहाँ कुछ नहीं देंगे। आप अन्यत्र जाकर भिक्षा माँगें। याजक के द्वारा यज्ञवाट में जाने से रोकने पर भी परमार्थ का सार जानने वाले मुनि न संतुष्ट हुए न रुष्ट हुए। मुनि ने याजक से कहा—'आयुष्यमान् ! सुनो, साधु के आचार में व्रतचर्या और भिक्षाचर्या निदिष्ट है। जो व्यक्ति राज्य और राज्यधी को छोड़कर प्रव्रजित होते हैं, वे भी भिक्षाचर्या का अनुसरण करते हैं क्योंकि निस्संग श्रमण के लिए भिक्षाचर्या चरण-करण का हेतुभूत तत्त्व है।' इन सब तथ्यों को समझकर याजक विजयघोष ने जयघोष से कहा—'भगवन् ! हमारे यहाँ बहुत भोजन सामग्री है। आप कृपा करके भिक्षा लें।' जयघोष ने कहा—'मुझे अभी भिक्षा से प्रयोजन नहीं है। मुझे धर्माचरण से ही मतलब है। तुम धर्माचरण करो तथा संसार-भ्रमण की परम्परा का अन्त करो।' जयघोष मुनि का धर्मोपदेश सुनकर विजयघोष भी प्रव्रजित हो गया। जयघोष और विजयघोष—दोनों ही कमों को क्षीण कर सिद्धिगति को प्राप्त हो गए।

छत्तीसवां अध्यायन : सामाचार्य

४७३, ४७८. साम शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्द्रव्य-तिरिक्त। तद्द्रव्यतिरिक्त में मर्करा आदि द्रव्य साम हैं। भावसाम में इच्छा, मिच्छा आदि दस प्रकार गिनाए गए हैं।

४७८।१, २. इच्छाकार, मिच्छाकार, तथाकार, आवश्यकी, नैवेदिकी, आपृच्छता, छंदना, उपसंपदा, निमंत्रणा—ये दस प्रकार की सामाचारियाँ हैं, जो यथाकाल की जाती हैं। इन सबकी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की जाएगी।

४७९, ४८०. आचार शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्द्रव्यतिरिक्त। तद्द्रव्यतिरिक्त आचार में नामन आदि क्रियाएँ आती हैं। भाव-आचार में दसविध सामाचार्य का आचरण प्राप्त है।

४८१. प्रस्तुत अध्ययन में इच्छा आदि साम का आचरण वर्णित है, इसलिए इसका नाम सामाचारी अध्ययन है।

सत्तावीसवां अध्ययन : खलुंकीय

४८२, ४८३. खलुं शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमत के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त। तद्व्यतिरिक्त खलुं में बल, अश्व आदि हैं। यह द्रव्य खलुंकता है। समग्र पदार्थों में जो प्रतिकूलता है, वह भाव खलुंकता है।

४८४. द्रव्य खलुं बल के अनेक प्रकार हैं—

- (१) अवदारी बल—गाड़ी को तोड़नेवाला अथवा अपने स्वामी को मार डालने वाला।
- (२) उन्नसक बल—यत्किंचित् देखकर चौंकने वाला।
- (३) योत्रयुगभञ्जक—जोती और जुआ को तोड़ने वाला।
- (४) तोत्रभञ्जक—चाबुक आदि को तोड़ने वाला।
- (५) उत्पथ-विपथगामी—उन्मार्ग और विपथ में जाने वाला।

४८५, ४८६. जिस द्रव्य में कुब्जता, कर्कशता, भारीपन, दुःखनामिता (खकड़न) आदि होते हैं, यह द्रव्य की खलुंकता है। इसी तरह वक्र, कुटिल और गांठों से व्याप्त पदार्थ भी खलुंकता में आते हैं। कुछ पदार्थ चिरकाल से वक्र ही होते हैं और कुछ पदार्थों को वक्र किया जाता है। जैसे—करमर्दी (एक प्रकार का गुल्म) का काण्ठ, हाथी का अंकुश और वृन्त। कुछ पदार्थ सरल रूप में अनुपयोगी होते हैं, उन्हें कुटिल बनाया जाता है।

४८७-८९. कुछ शिष्य दंश-मशक, जलीका तथा बिच्छू के समान होते हैं। वे भाव खलुं हैं। तीक्ष्ण—असहिष्णु, मृदु—कार्य करने में अलस, खंड—क्रुद्ध, मार्दविक—अत्यन्त आलसी, गुरु के प्रत्यनीक, शयल दोष लगाने वाले, असमाधि पैदा करने वाले, पापाचरण करने वाले, कलहकारी। ये सारे जिनशासन में खलुं कहे जाते हैं। जो पिशुन, परपीड़ाकारी, गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करने वाले हैं, दूसरों का परिभव करने वाले हैं, जो व्रत एवं शील से रहित हैं तथा गठ हैं—वे भी जिनशासन में खलुं माने जाते हैं।

४९०. इसलिए खलुंभाव को छोड़कर पंडितपुरुष ऋजुभाव में स्वयं को नियोजित करे।

अट्ठाईसवां अध्ययन : मोक्षमार्गगति

४९१, ४९२. मोक्ष शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त। तद्व्यतिरिक्त में कारागृह, बेड़ी तथा शृंखला आदि से मुक्त होना द्रव्यमोक्ष है। आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त होना भावमोक्ष है।

४९३, ४९४. मार्ग शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त।

तद्व्यतिरिक्त मार्ग में जलमार्ग, स्थलमार्ग आदि प्राप्त हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप—ये भाव-मार्ग हैं।

४९४, ४९६. गति शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त। तद्व्यतिरिक्त में पुद्गलगति का समावेश होता है। भाव गति के पांच प्रकार हैं—नरकगति, त्रियम्बकगति, मनुष्यगति, देवगति और मोक्षगति सिद्धिगति। यहाँ मोक्षगति का अधिकार है, इसलिए उसी का विस्तार है।

४९७. इस अध्ययन में मोक्ष, मार्ग और गति का वर्णन है इसलिए इस अध्ययन का नाम मोक्षमार्गगति जानना चाहिए।

अनतीसवां अध्ययन : सम्यक्त्व-पराक्रम

४९८-५००. आदानपद के आधार पर इस अध्ययन का नाम सम्यक्त्व-पराक्रम है। इसका गौण नाम है—अप्रमाद। इसको वीतरागश्रुत भी कहा जाता है। अप्रमाद शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमत के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त। तद्व्यतिरिक्त अप्रमाद उसे कहते हैं, जो शत्रुओं के प्रति बरता जाता है। अज्ञान और असंवर आदि में अप्रमाद रखना भाव-अप्रमाद है।

५०१, ५०२. श्रुत शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन प्रकार हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त। तद्व्यतिरिक्त सूत्र पांच प्रकार का है—

१. अंज—हंस आदि के अंकों से उत्पन्न सूत्र।
२. बोंडज—कपास का सूत्र।
३. बासज—भेड़ आदि के ऊन का सूत्र।
४. बल्कज (बाकज)—सन का सूत्र।
५. कीटज—कीट की लाला से उत्पन्न सूत्र—पट्टसूत्र।

५०३, ५०४. भावश्रुत के दो प्रकार हैं—सम्यक्श्रुत, मिथ्याश्रुत। इस अध्ययन में सम्यक्श्रुत का अधिकार है। इसमें सम्यक्श्रुत और अप्रमाद का वर्णन किया हुआ है, इसलिए इसका नाम अप्रमादश्रुत है।

तीसवां अध्ययन : तपोमार्गगति

५०५, ५०६. तप शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः। नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त। तद्व्यतिरिक्त तप में पंचाग्नि आदि तप आते हैं। भाव तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर।

५०७, ५०८. मार्ग और गति शब्द के भी चार-चार निक्षेप हैं, जो पूर्व निर्दिष्ट हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भावमार्ग—सिद्धिगति को जानना चाहिए। इस अध्ययन में दो प्रकार के तप तथा मार्ग और गति का वर्णन है इसलिए इस अध्ययन का नाम तपोमार्गगति है।

इकतीसवाँ अध्ययन : चरण-विधि

५०९, ५१०. चरण शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य चरण के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—अशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त चरण में शिक्षा आदि की गति अर्थात् भक्षण लिया गया है । आचार को क्रियान्वित करना भावचरण है ।

५११, ५१२. विधि शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य विधि के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—अशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त विधि में इन्द्रियों की विषयचारिता ज्ञातव्य है । भाव विधि दो प्रकार की है—संयमोपयोग और तपोयोग ।

५१३. प्रस्तुत अध्ययन में भाव चरण और भाव विधि का प्रसंग है । अतः अचरणविधि को छोड़कर चरणविधि में लक्ष्य करना चाहिए ।

बत्तीसवाँ अध्ययन : प्रमाद-स्थान

५१४, ५१५. प्रमाद के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य प्रमाद के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—अशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त प्रमाद मद्य आदि जनित है । भाव प्रमाद है—निद्रा, विकथा, कषाय और विषय ।

५१६. स्थान शब्द के चौदह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अट्टा, ऊर्ध्व, उपरति, वसति, संयम, प्रग्रह, घोष, अचल, गणना और संघना ।

५१७. यहाँ भावप्रमाद और संख्या युक्त भावस्थान का अधिकार है । अतः प्रमाद को छोड़कर अप्रमाद में प्रयत्न करना चाहिए ।

५१८. हजार वर्ष तक उप्रतप तपने वाले आदिमाय ऋषभ का संकलित प्रमादकाल अर्थात् समस्त प्रमादकाल एक अहोरात्र का था ।

५१९. बारह वर्ष से अधिक उग्र तप तपने वाले चरम तीर्थंकर महावीर का संकलित प्रमादकाल अस्तमूर्त का है ।

५२०. धर्म के प्रयोजन से शून्य जिनका काल निरर्थक बीतता है, वे प्राणी प्रमाद के दोष से अनन्तकाल तक संसार में चक्कर लगाते हैं ।

५२१. इसलिए पंडित पुरुष को प्रमाद छोड़कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में अप्रमाद करना चाहिए ।

तेतीसवाँ अध्ययन : कर्मप्रकृति

५२२, ५२३. कर्म शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—अशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कर्म, नोकर्म । कर्म में कर्म की अनुव्याख्या गृहीत है ।

५२४. नोकर्म का अर्थ है द्रव्यकर्म । वह लेप्यकर्म, काष्ठकर्म आदि के रूप में गृहीत है । आठों ही कर्मों के उदय को भावकर्म कहते हैं ।

५२५, ५२६. प्रकृति के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्द्रव्यतिरिक्त । तद्द्रव्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कर्म और नोकर्म । यहाँ कर्म को अनुदय रूप माना है । यह द्रव्य प्रकृति है ।

५२७. नोकर्म द्रव्य में ग्रहणप्रायोग्य कर्म तथा मुक्तकर्म गृहीत हैं । भाव में मूल और उत्तर प्रकृतियों का उदय प्राप्त है ।

५२८. प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—कर्मों की इन अवस्थाओं को भली प्रकार से जानकर सदा इनके संवर और क्षण के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

चौतीसवां अध्यायन : लेश्या अध्ययन

५२९-३१. लेश्या शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर, तद्द्रव्यतिरिक्त । तद्द्रव्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कर्मलेश्या, नोकर्मलेश्या । नोकर्म लेश्या के दो भेद हैं—जीवलेश्या, अजीवलेश्या । जीवलेश्या के दो प्रकार हैं—भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक । दोनों के सात-सात प्रकार हैं । (कृष्ण आदि छह लेश्याएँ तथा सातवीं लेश्या है संयोगजा ।)

५३२, ५३३. अजीव लेश्या के दो भेद हैं—कर्मलेश्या, नोकर्मलेश्या । नोकर्म द्रव्यलेश्या के दस प्रकार हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, आभरण, आच्छादन, आदर्शक—दर्पण, मणि और काकिणी—चक्रवर्ती के रत्नविशेष की प्रभा । यह दश प्रकार की अजीव द्रव्यलेश्या है ।

५३४. द्रव्यकर्म-लेश्या के छह प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापीत, तेजः, पद्म और शुक्ल ।

५३५. भावलेश्या के दो प्रकार हैं—विशुद्ध और अविशुद्ध । विशुद्ध भावलेश्या के दो भेद हैं—उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय ।

५३६. अविशुद्ध भावलेश्या के नियमित दो भेद हैं—राग और द्वेष । यहाँ कर्मलेश्या का अधिकार है ।

५३७. नोकर्मलेश्या के दो भेद हैं—प्रायोगिक और वैज्ञानिक । जीव के छहों लेश्याओं के उदय को भावलेश्या कहते हैं ।

५३८, ५३९. अध्ययन शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं—आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं—जशरीर, भव्यशरीर और तद्द्रव्यतिरिक्त । तद्द्रव्यतिरिक्त अध्ययन में पुस्तकें आदि गृहीत हैं । अध्यात्म का आनन्दन भाव अध्ययन है ।

५४०. इन लेश्याओं का शुभ-अशुभ परिणाम जानकर अप्रशस्त को छोड़कर प्रशस्त लेश्याओं में प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

पेत्तीसवां अध्ययन : अनगार-मार्ग-गति

५४१-४३. अनगार शब्द के चार निक्षेप हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं— आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं— जशरीर, भव्यशरीर, तद्-व्यतिरिक्त । तद्ध्यतिरिक्त अनगार में निह्व आदि का ग्रहण होता है । भाव अनगार वह होता है, जो सम्यक्दृष्टि और अगारवास से मुक्त होता है । मार्ग और गति शब्द के भी चार-चार निक्षेप हैं, जो पूर्व निर्दिष्ट हैं । प्रस्तुत में भावमार्ग और सिद्धगति का प्रसंग है ।

छत्तीसवां अध्ययन : जीवाजीवविभक्ति

५४४, ५४५. जीव शब्द के चार निक्षेप हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य जीव के दो भेद हैं— आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं— जशरीर, भव्यशरीर और तद्ध्यतिरिक्त । तद्ध्यतिरिक्त जीवद्रव्य है । जीवद्रव्य के दस प्रकार के परिणाम भावजीव हैं ।

५४६, ५४७. अजीव शब्द के चार निक्षेप हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं— आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं— जशरीर, भव्यशरीर, तद्ध्यतिरिक्त । तद्ध्यतिरिक्त अजीवद्रव्य है । अजीव के दस प्रकार के परिणाम भाव-अजीव हैं ।

५४८-५०. विभक्ति शब्द के चार निक्षेप हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य के दो भेद हैं— आगमतः, नो-आगमतः । नो-आगमतः के तीन भेद हैं— जशरीर, भव्यशरीर, तद्ध्यतिरिक्त । तद्ध्यतिरिक्त के दो भेद हैं— जीव विभक्ति और अजीव विभक्ति । जीव विभक्ति के दो भेद हैं— सिद्ध विभक्ति, असिद्ध विभक्ति । अजीव द्रव्य विभक्ति के भी दो भेद हैं— रूपी द्रव्य विभक्ति, अरूपी द्रव्य विभक्ति ।

५५१. भाव विभक्ति में छह प्रकार के भाव ज्ञातव्य हैं । प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्य विभक्ति का अधिकार है ।

५५२, ५५३. जो जीव अवसिद्धिक हैं, परीत संसारी हैं और भव्य हैं, वे घोर मुनि इन छत्तीस उत्तर अध्ययनों का अध्ययन करते हैं । जो मुनि अवसिद्धिक हैं, ग्रंथियों में आसक्त हैं, अनन्त संसारी हैं, वे संक्लिष्टकर्मा व्यक्ति उत्तराध्ययनों के अध्ययन के लिए अयोग्य हैं ।

५५४. इसलिए त्रिनेश्वर द्वारा प्रज्ञप्त अनन्त अर्थों और पर्यवों से युक्त इन उत्तराध्ययनों का गुरुकृपा से मथायोग—विधियुक्त अध्ययन करना चाहिए ।

विषयानुक्रम

१. मंगलाचरण एवं आचारांग निर्युक्ति के कथन की प्रतिज्ञा । २. आचार, अंग, श्रुतस्कर्ष आदि के निक्षेपों की प्रतिज्ञा । ३. चरण और दिशा शब्द के निक्षेप का संकेत । ४. निक्षेप के उपयोग की विधि । ५. भावाचार के निरूपण की प्रतिज्ञा । ६. आचार शब्द के एकार्थक, प्रवर्तन आदि सात द्वारों के कथन की प्रतिज्ञा । ७. आचार शब्द के एकार्थक । ८. आचारांग का रचनाकाल । ९. आचारांग की विषयवस्तु । १०. आचारधर प्रथम गणिस्थान (गणिसंपदा) । ११. आचारांग का ब्राह्म परिचय । पहला अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा १२. आचारांग (चूलिका) का आचारांग या शस्त्रपरिज्ञा में समवतरण । १३. शस्त्रपरिज्ञा तथा षट्जीवनिकाय का समवतरण । १४, १५. महाव्रतों का समवतरण । १६, १७. अंग आदि के सार के विषय में जिज्ञासा एवं समाधान । १८. ब्राह्मण आदि वर्णों की उत्पत्ति । १९. मनुष्य जाति की एकता तथा वर्णों की उत्पत्ति का इतिहास । २०. स्थापना ब्रह्म की संख्या का उल्लेख । २१. सात वर्णों का उल्लेख । २२-२५. अंबष्ठ आदि नौ वर्णान्तर जातियों का वर्णन । २६, २७. वर्णान्तरों के संयोग से होने वाली उत्पत्ति । २८. द्रव्य और भाव ब्रह्म का स्वरूप ।	२९. चरण शब्द के निक्षेप । ३०. भावचरण के प्रकार । ३१, ३२. आचारांग के अध्ययनों के नाम । ३३, ३४. अध्ययनों की विषयवस्तु । ३५. शस्त्रपरिज्ञा के अधिकार । ३६. द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र का स्वरूप । ३७. द्रव्यपरिज्ञा और भावपरिज्ञा का स्वरूप । ३८. द्रव्यसंज्ञा और भावसंज्ञा के भेद । ३९. संज्ञाओं के सोलह भेद । ४०. दिशा शब्द के निक्षेप । ४१. द्रव्यदिशा का स्वरूप । ४२. दिशा तथा अनुदिशाओं का उत्पत्तिस्थल । ४३. दिशाओं के नाम । ४४, ४५. दिशाओं का निरूपण । ४६. दिशाओं का संस्थान (वाकृति) । ४७, ४८. पूर्व-पश्चिम आदि चार ताप दिशाओं का वर्णन । ४९, ५०. मेरुपर्वत के साथ दिशाओं का सम्बन्ध । ५१-५८. प्रज्ञापकदिशा के १८ भेद तथा नाम । ५९. प्रज्ञापकदिशाओं के संस्थान । ६०. भावदिशा के भेद । ६१. दिशाओं की कुल संख्या । ६२. प्रज्ञापकदिशा में ही जीव और पुद्गल की गति । ६३. अस्तित्व-बोध के कुछ प्रश्न । ६४-६६. अन्तर्प्रज्ञा अथवा अतीन्द्रियज्ञानी द्वारा जातिस्मृति अथवा विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि । ६७. अस्तित्व-बोध के अन्य साधन । ६८. पृथ्वीकाय के निक्षेप, प्ररूपणा आदि नौ अधिकार । ६९. पृथ्वी शब्द के निक्षेप ।

७०. द्रव्यपृथ्वी और भावपृथ्वी का स्वरूप । १०४. यथार्थ-बोध द्वारा पृथ्वीकाय की हिंसा से विरति ।
७१. पृथ्वीकाय के भेद । १०५. अणुगार की विशेषताएं ।
७२. बादरपृथ्वी के प्रलक्षण और खर आदि दो भेद । १०६. अप्काय के द्वार ।
- ७३-७६. खर पृथ्वी के छत्तीस भेदों का नामोल्लेख । १०७. अप्काय जीवों के भेद ।
- ७७, ७८. वर्ण, गंध आदि के द्वारा पृथ्वीकाय के अनेक भेद । १०८. बादर अप्काय के पांच भेद ।
७९. सूक्ष्म और बादर पृथ्वीकाय के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद । १०९. अप्काय जीवों का परिमाण ।
- ८०, ८१. वृक्ष और औषधि आदि के उदाहरण से पृथ्वीकाय के नामात्व का निरूपण । ११०. हाथी की उपमा द्वारा अप्काय में जीवत्व-सिद्धि ।
८२. पृथ्वीकाय जीवों की सूक्ष्मता का निरूपण । १११. अप्काय के उपभोग के प्रकार ।
८३. सूक्ष्म पृथ्वीकाय के अस्तित्व को जिन-आज्ञा से स्वीकृत करने का उल्लेख । ११२. उपभोग के कारणों से अप्काय की हिंसा ।
८४. पृथ्वीकाय के लक्षण । ११३. अप्काय जीवों के शस्त्र ।
८५. पृथ्वीकाय में जीवत्व-सिद्धि का उदाहरण । ११४. द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र ।
८६. पृथ्वीकाय जीवों का परिमाण । ११५. पृथ्वीकाय की भांति अन्य द्वारों के विवेचन का कथन ।
- ८७, ८८. उदाहरण द्वारा परिमाण का निर्देश । ११६. तैजसकाय के द्वारों का निर्देश ।
- ८९, ९०. क्षेत्र और काल की दृष्टि से पृथ्वीकाय का परिमाण । ११७. तैजसकाय जीवों के भेद ।
९१. पृथ्वीकाय का अवगाहन । ११८. बादर तैजसकाय के पांच भेद ।
- ९२, ९३. पृथ्वीकाय का उपभोग कितने प्रकार से ? ११९. उपमा द्वारा तैजसकाय में जीवत्व-सिद्धि ।
९४. उपर्युक्त उपभोग के कारणों से पृथ्वीकाय की हिंसा का निर्देश । १२०. तैजसकाय जीवों का परिमाण ।
९५. पृथ्वीकाय के शस्त्र । १२१. तैजसकाय जीवों के उपभोग के प्रकार ।
९६. स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र और भावशस्त्र का निरूपण । १२२. उक्त उपभोग के कारणों से तैजसकाय की हिंसा ।
- ९७, ९८. उदाहरण द्वारा पृथ्वीकाय की वेदना का निरूपण । १२३, १२४. तैजसकाय जीवों के शस्त्र ।
९९. पृथ्वीकाय का वध करने वाला अणुगार नहीं । १२५. पृथ्वीकाय की भांति अन्य द्वारों के कथन का निर्देश ।
१००. हिंसा करने वाले अणुगार के बोध । १२६. पृथ्वीकाय की भांति वनस्पतिकाय के द्वारों के कथन का निर्देश ।
१०१. कृत, कारित, अनुमोदन द्वारा पृथ्वीकाय का वध । १२७-३०. वनस्पतिकाय के भेद-प्रभेद ।
- १०२, १०३. पृथ्वीकाय के वध से तन्निश्चित अनेक जीवों की हिंसा । १३१-३३. प्रत्येक वनस्पति का दृष्टांत द्वारा लक्षण-कथन ।
१३४. प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण ।
१३५. आज्ञा द्वारा इन जीवों के अस्तित्व की स्वीकृति ।
- १३६-४०. साधारण वनस्पति के लक्षण ।
१४१. अनन्तकाय जीवों के भेद ।
१४२. प्रत्येक वनस्पति की सूक्ष्मता का निर्देश ।
१४३. निगोद के जीवों की सूक्ष्मता का निर्देश ।

१४४. सूक्ष्म अनन्तकाय वनस्पति का प्रस्थ के दृष्टांत द्वारा परिमाण-निर्देश ।
 १४५. बादर निगोव के परिमाण का निर्देश ।
 १४६, १४७. वनस्पति के उपभोग के प्रकार ।
 १४८. उक्त उपभोग के कारणों से वनस्पति की हिंसा ।
 १४९, १५०. वनस्पतिकाय के शस्त्र ।
 १५१. पृथ्वीकाय की भांति अन्य द्वारों के निर्देश का कथन ।
 १५२. त्रसकाय के द्वारों का निर्देश ।
 १५३-५५. त्रसकाय के भेद-प्रभेद ।
 १५६, १५७. त्रसकाय के लक्षण ।
 १५८, १५९. त्रसकाय जीवों का परिमाण ।
 १६०-६२. त्रसकाय की वेदना, उपभोग तथा हिंसा के कारणों का निर्देश ।
 १६३. पृथ्वीकाय की भांति ही अन्य द्वारों के कथन का निर्देश ।
 १६४. वायुकाय के द्वारों का कथन ।
 १६५. वायुकाय के भेद ।
 १६६. बादर वायुकाय के पांच भेद ।
 १६७. उपमा द्वारा वायु में जीव के अस्तित्व की सिद्धि ।
 १६८. वायुकाय का परिमाण ।
 १६९. वायुकाय के उपभोग के प्रकार ।
 १७०, १७१. वायुकाय के शस्त्र ।
 १७२. पृथ्वीकाय की भांति अन्य द्वारों के कथन का निर्देश ।

दूसरा अध्ययन : लोकविजय

१७३. लोकविजय अध्ययन के उद्देशकों की विषय-वस्तु का निर्देश ।
 १७४. लोक, विजय, गुण, मूल तथा स्थान आदि शब्दों के निक्षेप की प्रतिज्ञा ।
 १७५. द्वितीय अध्ययन के नाम का निर्देश ।
 १७६, १७७. लोक शब्द के निक्षेप ।
 १७८. भावलोक के विजय का फल ।
 १७९. गुण शब्द का पंद्रह प्रकार से निक्षेप ।
 १८०-८२. द्रव्यगुण, क्षेत्रगुण आदि की व्याख्या ।

१८३. मूल शब्द का छह प्रकार से निक्षेप ।
 १८४. भावमूल के प्रकारों का निर्देश ।
 १८५. स्थान शब्द के पंद्रह प्रकार से निक्षेप ।
 १८६. पंच इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष से संसार की वृद्धि ।
 १८७. वृक्ष की उपमा से संसार के मूल का निर्देश ।
 १८८. अष्ट कर्मों का मूल मोहनीय कर्म, उसका मूल काम तथा काम का मूल संसार ।
 १८९. मोह के भेद ।
 १९०. संसार का मूल कर्म, कषाय, स्वजन आदि ।
 १९१. कषाय शब्द के निक्षेप ।
 १९२. संसार शब्द के निक्षेप ।
 १९३, १९४. कर्म शब्द के निक्षेप तथा भेद ।
 १९५, १९६. संसार से मुक्ति के लिए कर्म, कषाय तथा स्वजनों से मोह के परित्याग का निर्देश ।
 १९७. संयम में अरति का मूल कारण—अध्यात्म-दोष ।

तीसरा अध्ययन : शीतोष्णीय

- १९८, १९९. शीतोष्णीय अध्ययन के उद्देशकों की विषय-वस्तु का संक्षेप में कथन ।
 २००. शीत और उष्ण शब्द के निक्षेपों का कथन ।
 २०१. द्रव्य और भाव शीत तथा उष्ण का कथन ।
 २०२, २०३. उष्ण परीषह तथा शीत परीषह के भेद ।
 २०४. उष्ण तथा शीत परीषह का स्वरूप ।
 २०५. शीत और उष्ण की दृष्टि से प्रमाद की व्याख्या ।
 २०६. उपशान्त शब्द के एकार्थक ।
 २०७. संयम शीतघर के समान तथा असंयम उष्ण ।
 २०८. निर्वाण—सुख के एकार्थक ।
 २०९. तीव्र कषाय का फल ।
 २१०. द्रव्य और भाव परीषह-कथन का अभिप्राय ।
 २११. शीत और उष्ण परीषह-सहन करने तथा काम का सेवन न करने का निर्देश ।
 २१२. ज्ञानी और अज्ञानी की पञ्चान ।

२१३. सुप्त एवं मत्त व्यक्ति के दुःख का निर्देश ।
 २१४. जागृत एवं विवेकी व्यक्ति की दुःख से मुक्ति ।

चौथा अध्ययन : सम्यक्त्व

- २१५-२१६. सम्यक्त्व अध्ययन के उद्देश्यों के विषयों का संक्षेप में संकेत ।
 २१७. सम्यक् शब्द के निक्षेप ।
 २१८. द्रव्य सम्यक् का स्वरूप ।
 २१९. भाव सम्यक् के भेद ।
 २२०, २२१. धार्मिक क्रिया करते हुए भी मिथ्यादृष्टि की सिद्धि संभव नहीं ।
 २२२. सम्यग्दर्शन की महत्ता ।
 २२३, २२४. गुणस्थानों का क्रमारोह ।
 २२५. श्रमण के लिए माया न करने का निर्देश ।
 २२६. तीर्थंकरों द्वारा तीनों कालों में अहिंसा के उपदेश का कथन ।
 २२७. षट्काय जीवों की सर्वथा हिंसा न करने का उपदेश ।
 २२८-३२. रोहगुप्त की कथा का संकेत ।
 २३३, २३४. कर्मबंधन में मिट्टी के दो गोलकों का दृष्टान्त ।
 २३५. कर्मक्षय करने में शुष्क काष्ठ की उपमा ।

पाँचवाँ अध्ययन : लोकसार

- २३६-३८. लोकसार अध्ययन के उद्देश्यों के विषयों का संक्षिप्त कथन ।
 २३९. प्रस्तुत अध्ययन के नाम का कारण तथा लोक और सार शब्द के निक्षेप ।
 २४०. द्रव्यसार की व्याख्या ।
 २४१. भावसार का स्वरूप ।
 २४२. लोक में ज्ञान, दर्शन चारित्र्य ही सार ।
 २४३. शंका छोड़कर सारपद ज्ञान-दर्शन स्वीकार करने का संकेत ।
 २४४. लोक आदि का सार क्या है ?
 २४५. लोक का सार धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम तथा संयम का सार है—निर्वाण ।
 २४६. आर, चर्या शब्द के एकार्थक तथा निक्षेप ।

- २४७, २४८. क्षेत्रचार, भावचार आदि का स्वरूप ।
 २४९. मुनि के आचार का निर्देश ।

छठा अध्ययन : धृत

- २५०, २५१. धृत अध्ययन के उद्देश्यों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त कथन ।
 २५२. भावधृत का स्वरूप ।

सातवाँ अध्ययन : महापरिज्ञा

- २५३-६३. महापरिज्ञा अध्ययन के विषयों का निर्देश ।
 २६४. पाहण और परिमाण शब्द के निक्षेप का कथन ।
 २६५. प्रधान शब्द के निक्षेप तथा अर्थ-कथन ।
 २६६. महद् शब्द के निक्षेप तथा अर्थ-कथन ।
 २६७, २६८. परिज्ञा शब्द के निक्षेप तथा उनका स्वरूप ।
 २६९. महापरिज्ञा की स्पष्टता ।
 २७०. देवी, मानुषी तथा तिर्यञ्च स्त्री का सर्वथा त्याग ।

आठवाँ अध्ययन : विमोक्ष

- २७१-७५. विमोक्ष अध्ययन के उद्देश्यों के विषयों का संक्षेप में निर्देश ।
 २७६. विमोक्ष शब्द के छह प्रकार से निक्षेप ।
 २७७, २७८. द्रव्यविमोक्ष तथा भावविमोक्ष के भेद ।
 २७९, २८०. बंध तथा मोक्ष का स्वरूप ।
 २८१. भाव विमोक्ष की परिभाषा ।
 २८२. समाधि-मरण मरने का निर्देश ।
 २८३. सपराक्रम मरण में आर्यवज्र का उदाहरण ।
 २८४. अपराक्रम मरण में उदधि आचार्य का उदाहरण ।
 २८५. व्याघातिम मरण में तोसलि आचार्य का उदाहरण ।
 २८६. व्याघातिम मरण का प्रतिपादन ।
 २८७. द्रव्य संलेखना में कथा का निर्देश ।
 २८८-९१. संलेखना के क्रम का निर्देश ।
 २९२. तपःकर्म पंडित के विषय में जिज्ञासा ।

२९३. धीरे-धीरे सम्पूर्ण आहार के त्याग का निर्देश ।
 २९४. वेश विमोक्ष का स्वरूप ।

नौवां अध्ययन : उपधानश्रुत

२९५. तीर्थंकरों द्वारा अपने तीर्थ में उपधानश्रुत अध्ययन में तपस्या का उपदेश ।
 २९६. अन्य तीर्थंकरों का निरुपसर्ग तथा महावीर का सोपसर्ग/कष्टबहुल तपःकर्म का निर्देश ।
 २९७. तीर्थंकरों का तप में उपाध ।
 २९८. दुःखबहुल मानव जीवन में तप का महत्त्व ।
 २९९. उपधान श्रुत के उद्देश्यों की विषय-वस्तु का कथन ।
 ३००. उपधान तथा श्रुत शब्द के निक्षेप ।
 ३०१. द्रव्य उपधान तथा भाव उपधान का स्वरूप ।
 ३०२. भाव उपधान के विषय में मलिन वस्त्र की उपमा ।
 ३०३. ओधुण्ण शब्द के एकार्थक ।
 ३०४. महावीर के पथ पर चलने से सिद्धि-प्राप्ति का निर्देश ।

द्वितीय अतस्कांठ : आचारचूला

- ३०५, ३०६. द्रव्य और भाव अग्र का स्वरूप ।
 ३०७. आचाराग्र/आचारचूला के निर्युहण का उद्देश्य ।
 ३०८, ३०९. आचारचूला के उद्देश्यों की विषय वस्तु का कथन ।
 ३१०, ३११. अध्ययनों के निर्युहण-स्थल का निर्देश ।
 ३१२-१४. एकविध संघम का विस्तार कैसे ?
 ३१५. महाव्रत पांच ही क्यों ?
 ३१६. महाव्रतों की सुरक्षा के लिए पांच-पांच भावनाओं का निर्देश ।
 ३१७. पंच चूलिकाओं का नामोल्लेख ।

पहली चूला : पिण्डेषणा

३१८. पिण्डेषणा निर्युक्ति की भांति शय्या, वस्त्र, पात्र आदि की निर्युक्ति का कथन ।
 ३१९. दशवैकालिक के वाक्य-शुद्धि अध्ययन की भांति भाषा-विवेक का कथन ।

३२०. शय्या, ईर्ष्या, अवग्रह, पिण्ड, भाषा और पात्र के निक्षेप का निर्देश ।
 ३२१. शय्या के निक्षेप तथा संयती के योग्य शय्या के विषय में जिज्ञासा ।
 ३२२, ३२३. द्रव्य शय्या के भेद तथा वस्त्रमुमती का उदाहरण ।
 ३२४. भावशय्या के भेद ।
 ३२५. वचन-विशोधि के कारणों के कथन की प्रतिज्ञा ।
 ३२६, ३२७. शय्येषणा अध्ययन के उद्देश्यों की विषय वस्तु का निर्देश ।
 ३२८. ईर्ष्या शब्द के छह प्रकार से निक्षेप ।
 ३२९. द्रव्य ईर्ष्या के भेद ।
 ३३०. भाव ईर्ष्या के भेद ।
 ३३१, ३३२. ईर्ष्या की शुद्धि के प्रकार ।
 ३३३-३५. शय्येषणा अध्ययन के उद्देश्यों की विषय वस्तु का निर्देश ।
 ३३६. भाषा शब्द के निक्षेप तथा दशवैकालिक की वाक्य-शुद्धि निर्युक्ति की भांति इसकी निर्युक्ति करने का निर्देश ।
 ३३७. भाषाज्ञात अध्ययन के उद्देश्यों की विषय-वस्तु का वर्णन ।
 ३३८. वस्त्रेषणा अध्ययन के उद्देश्यों की विषय-वस्तु का निर्देश तथा पात्र के निक्षेप ।
 ३३९-४२. अवग्रह शब्द के निक्षेप तथा अवग्रह के भेद-प्रभेद ।

दूसरी चूला : सप्तसप्तिका

३४३. द्वितीय चूला के अध्ययनों की विषय वस्तु ।
 ३४४. उच्चार और प्रलवण शब्द का निरुक्त ।
 ३४५. मुनि की अहिंसा की दृष्टि से उच्चार-प्रलवण विधि में अग्रमत्त रहने का निर्देश ।
 ३४६. द्रव्यशब्द और भावशब्द का स्वरूप ।
 ३४७. पर और अन्य शब्द के निक्षेप ।
 ३४८. यतमान और निष्प्रतिकर्म का पर से संबंध ।

तीसरी चूला : भावना

३४९. द्रव्य भावना का स्वरूप तथा भाव भावना के भेद ।

३५०. अप्रशस्त भावना के प्रकार ।
 ३५१. प्रशस्त भावना के प्रकार ।
 ३५२-५६. दर्शन भावना का लक्षण तथा स्वरूप ।
 ३५७-५९. ज्ञान भावना का लक्षण तथा स्वरूप ।
 ३६०, ३६१. चारित्र्य भावना का लक्षण तथा स्वरूप ।
 ३६२. तप भावना का स्वरूप ।
 ३६३. वैराग्य भावना का प्रतिपादन ।

चौथी चूला : विमुक्ति

३६४. विमुक्ति अध्ययन के अधिकारों का निर्देश ।
 ३६५. मोक्षवत् विमुक्ति के निक्षेप का कथन तथा देशमुक्त और सर्वमुक्त कोन ?
 ३६६. पंचम चूला—निशीथ की निर्युक्ति करने की प्रतिज्ञा ।
 ३६७, ६६८. आचारांग के अध्ययनों के उद्देशकों की संख्या का निर्देश ।

गाथाओं का समीकरण

आचारांग नियुक्ति की गाथाएं चूर्ण और टीका दोनों में व्याख्यात हैं। प्रकाशित चूर्ण में गाथाओं का केवल संकेत मात्र है। अनेक स्थानों पर तो दश गाथाओं के लिए भी केवल 'दसगाथाओ भाणियव्वाओ' ऐसा उल्लेख मात्र मिलता है अतः समीकरण में चूर्ण का संकेत देना संभव नहीं हो सका। टीका में आचारचूला की नियुक्ति में गाथा संख्या के क्रमांक संलग्न नहीं हैं लेकिन हमने पूरी आचारांग नियुक्ति की संख्या के क्रमांक संलग्न रूप से लगाए हैं। पाठकों की सुविधा के लिए हम आचार्य शीलांक की टीका में आई गाथा संख्या एवं संपादित गाथा संख्या का समीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इस चार्ट के माध्यम से पाठक सुविधा से टीका की गाथा संख्या खोज सकेंगे।

संपादित	आटी	संपादित	आटी	संपादित	आटी
१	१	२३	२३	४५	४५
२	२	२४	२४	४६	४६
३	३	२५	२५	४७	४७
४	४	२६	२६	४८	४८
५	५	२७	२७	४९	४९
६	६	२८	२८	५०	५०
७	७	२९	२९	५१	५१
८	८	३०	३०	५२	५२
९	९	३१	३१	५३	५३
१०	१०	३२	३२	५४	५४
११	११	३३	३३	५५	५५
१२	१२	३४	३४	५६	५६
१३	१३	३५	३५	५७	५७
१४	१४	३६	३६	५८	५८
१५	१५	३७	३७	५९	५९
१६	१६	३८	३८	६०	६०
१७	१७	३९	३९	६१	६१
१८	१८	४०	४०	६२	६२
१९	१९	४१	४१	६३	६३
२०	२०	४२	४२	६४	६४
२१	२१	४३	४३	६५	६५
२२	२२	४४	४४	६६	६६

संपादित	आष्टी	संपादित	आष्टी	संपादित	आष्टी
६७	६७	१०२	१०२	१३७	१३७
६८	६८	१०३	१०३	१३८	१३८
६९	६९	१०४	१०४	१३९	१३९
७०	७०	१०५	१०५	१४०	१४०
७१	७१	१०६	१०६	१४१	१४१
७२	७२	१०७	१०७	१४२	१४२
७३	७३	१०८	१०८	१४३	१४३
७४	७४	१०९	१०९	१४४	१४४
७५	७५	११०	११०	१४५	१४५
७६	७६	१११	१११	१४६	१४६
७७	७७	११२	११२	१४७	१४७
७८	७८	११३	११३	१४८	१४८
७९	७९	११४	११४	१४९	१४९
८०	८०	११५	११५	१५०	१५०
८१	८१	११६	११६	१५१	१५१
८२	८२	११७	११७	१५२	१५२
८३	८३	११८	११८	१५३	१५३
८४	८४	११९	११९	१५४	१५४
८५	८५	१२०	१२०	१५५	१५५
८६	८६	१२१	१२१	१५६	१५६
८७	८७	१२२	१२२	१५७	१५७
८८	८८	१२३	१२३	१५८	१५८
८९	८९	१२४	१२४	१५९	१५९
९०	९०	१२५	१२५	१६०	१६०
९१	९१	१२६	१२६	१६१	१६१
९२	९२	१२७	१२७	१६२	१६२
९३	९३	१२८	१२८	१६३	१६३
९४	९४	१२९	१२९	१६४	१६४
९५	९५	१३०	१३०	१६५	१६५
९६	९६	१३१	१३१	१६६	१६६
९७	९७	१३२	१३२	१६७	१६७
९८	९८	१३३	१३३	१६८	१६८
९९	९९	१३४	१३४	१६९	१६९
१००	१००	१३५	१३५	१७०	१७०
१०१	१०१	१३६	१३६	१७१	X

संपादित	आटी	संपादित	आटी	संपादित	आटी
१७२	१७१	२०१	२०१	२३२	२३१
१७३	१६३ ^१	२०२	२०२	२३३	२३२
१७४	१६४	२०३	२०३	२३४	२३३
१७५	१६५	२०४	२०४	२३५	२३४
१७६	१६६	२०५	२०५	२३६	२३६ ^२
१७७	१६७	२०६	२०६	२३७	२३७
१७८	१६८	२०७	२०७	२३८	२३८
१७९	१६९	२०८	२०८	२३९	२३९
१८०	१७०	२०९	२०९	२४०	२४०
१८१	१७१	२१०	२१०	२४१	२४१
१८२	१७२	२११	२११	२४२	२४२
१८३	१७३	२१२	२१२	२४३	२४३
१८४	१७४	२१३	२१३	२४४	२४४
१८५	१७५	२१४	२१४	२४५	२४५
१८६	१७६	२१५	२१५	२४६	२४६
१८७	१७७	२१६	२१६	२४७	२४७
१८८	१७८	२१७	२१७	२४८	२४८
१८९	१७९	२१८	२१८	२४९	२४९
१९०	१८०	२१९	२१९	२५०	२५०
१९१	१८१	२२०	२२०	२५१	२५१
१९२	१८२	२२१	२२१	२५२	२५२
१९३	१८३	२२२	२२२	२५३	×
१९४	१८४	२२३	२२३	२५४	×
१९५	१८५	२२४	२२४	२५५	×
१९६	१८६	२२५	२२५	२५६	×
१९७	१८७	२२६	२२६	२५७	×
१९८	१८८	२२७	२२७	२५८	×
१९९	१८९	२२८	२२८	२५९	×
२००	२००	२२९	२२९	२६०	×
		२३०	२३०	२६१	×
		२३१	२३०	२६२	×

१. टीका में १६३ से संख्या का पुनरावर्तन हुआ है ।

२. टीका में १८६ के बाद १९७ क्रमांक आया है ।

३. टीका में २२७ का क्रमांक दो बार आया है ।

४. टीका में २३४ के बाद २३६ का क्रमांक आया है ।

संपादित	आटी	संपादित	आटी	संपादित	आटी
२६३	X	२९१	२७३	३१८	X
२६४	१ ^१	२९२	२७४	३१९	X
२६५	२	२९३	२७५	३२०	X
२६६	३	२९४	X	३२१	२९८
२६७	४	२९५	२७६	३२२	२९९
२६८	५	२९६	२७७	३२३	३००
२६९	६	२९७	२७८	३२४	३०१
२७०	७	२९८	२७९	३२५	३०२
२७१	२५३	२९९	२८०	३२६	३०३
२७२	२५४	३००	२८१	३२७	३०४
२७३	२५५	३०१	२८२	३२८	३०५
२७४	२५६	३०२	२८३	३२९	३०६
२७५	२५७	३०३	२८४	३३०	३०७
२७६	२५८	३०४	२८४ ^२	३३१	३०८
२७७	२५९	३०५	४ ^१	३३२	३०९
२७८	२६०	३०६	५	३३३	३१०
२७९	२६१	३०७	६	३३४	३११
२८०	२६२	३०८	७	३३५	३१२
२८१	२६३	३०९	८	३३६	३१३
२८२	२६४	३१०	९	३३७	३१४
२८३	२६५	३११	१०	३३८	३१५
२८४	२६६	३१२	११	३३९	३१६
२८५	२६७	३१३	१२	३४०	३१७
२८६	२६८	३१४	१३	३४१	३१८
२८७	२६९	३१५	१४	३४२	३१९
२८८	२७०	३१६	१५	३४३	३२०
२८९	२७१	३१७	१६	३४४	३२१
२९०	२७२				

१. महापरिजा अध्ययन की ये गाथाएं टीका की समाप्ति पर दी गई हैं। (आटीप. ४३२)

२. टीका में २८४ का क्रमांक पुनरुक्त हुआ है।

३. टीका में आचारंग द्वितीय श्रुतस्कंध की निर्युक्ति ४ क्रमांक से प्रारम्भ होती है। टीका में मंगलाचरण की गाथाओं को भी इसके अन्तर्गत गिन लिया है।

४. २९८-३०१ तक चार गाथाएं टीका में शुद्धाणुद्धि पत्र में दी हैं तथा यहां से पुनः संयुक्त संख्या दी गई है।

संपादित	आटी	संपादित	आटी	संपादित	आटी
३४५	३२२	३५३	३३१	३६१	३३९
३४६	३२३ ^१	३५४	३३२	३६२	३४०
X	३२४	३५५	३३३	३६३	३४१
३४७	३२५	३५६	३३४	३६४	३४२
३४८	३२६	३५७	३३५	३६५	३४३
३४९	३२७	३५८	३३६	३६६	३४४
३५०	३२८	३५९	३३७	३६७	३४५
३५१	३२९	३६०	३३८	३६८	३४६
३५२	३३०				

१. टीका में ३२३ और ३२४ के क्रमांक में समान गायी की हुई है।

आचारांग निर्युक्ति

१. वंदित्तु सव्वसिद्धे, जिणे य अणुयोगदायगे सव्वे ।
आयारस्स भगवतो, निज्जुत्ति कित्तइस्सामि' ॥
२. आयार अंग सुयखंध^१, बंभ-चरणे तहेव सत्थे य ।
परिण्णाए सण्णाए, निक्खेवो तह^२ दिसाणं च ॥
३. चरण-दिसावज्जाणं, निक्खेव 'वउव्विहो उ'^३ नायव्वो ।
चरणम्मि छव्विहो खलु, सत्तविहो होइ उ दिसाणं^४ ॥
४. जत्थ य^५ जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थ वि य न जाणेज्जा, चउक्कगं निक्खिवे तत्थ^६ ॥
५. 'आयारे अंगम्मि य, पुब्बुद्धिदो'^७ चउक्कनिक्खेवो ।
नवरं पुण नाणत्तं, भावायारम्मि तं वोच्छं ॥
६. तस्सेगट्ठ पवत्तण, पढमंग^८ गणी तहेव परिमाणे ।
समोतारे सारे य'^९, सत्तहि दारेहि नाणत्तं ॥
७. आयारो आधालो, आगालो आगरो य आसासो ।
आदरिसो अंगं 'ति य'^{१०}, आइण्णाज्जाइ आमोक्खा ॥दारं॥
८. सव्वेसि आयारो, तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए ।
सेसाइ अंगाइ, एक्कारस आणुपुव्वीए ॥दारं॥

१. यह गाथा बाद जोड़ी गई प्रतीत होती है क्योंकि यह गाथा केवल टीका और हस्त-प्रतियों में प्राप्त है। चूर्णिकार ने इस गाथा का कोई संकेत व व्याख्या नहीं की है। इसके अतिरिक्त 'चरणदिसावज्जाणं' इस तीसरी गाथा के बारे में वितियगाथा—यह दूसरी गाथा है ऐसा उल्लेख है। इससे भी स्पष्ट है कि मंगलाचरण की यह गाथा चूर्णिकार के बाद में जोड़ी गई है।

२. सुयखंध (अ,ब)।
३. तह (अ)।

४. चउक्कओ य (टी.), ०व्विहं० (अ)।
५. दिसाओ (अ)।
६. तु (चू)।
७. अनुद्धा. ७।
८. आचार के वर्णन के लिए देखें दशति १५४-१६२, अंग के वर्णन के लिए देखें उनि. १४४-५८।
९. पढमं अंगं (अ)।
१०. या (ब)।
११. चिय (ब)।

९. आयारो अंगाणं, पढमं अंगं दुवालसण्हं पि ।
एत्थ य मोक्खोवाओ, एस य सारो पदयणस्स ॥दारं॥
१०. आयारम्मि अहीए, 'जं नाओ'^१ होइ समणधम्मो उ^२ ।
तम्हा आयारघरो, भण्णति^३ पढमं गणिट्ठाणं^४ ॥दारं॥
११. नवबंभचेरमइओ^५, अट्टारसपदसहस्सिओ वेदो ।
हवइ य सपंचचूलो, बहुबहुतरओ पदगेणं^६ ॥दारं॥
१२. आयारग्गणत्थो^७, बंभच्चेरेसु^८ सो समोयरइ ।
सो वि य सत्थपरिण्णाए पिडियत्थो समोयरइ^९ ॥
१३. सत्थपरिण्णा अत्थो, छस्सु वि काएसु सो समोयरति ।
छज्जीवणिया अत्थो, पंचसु वि वएसु ओयरति ॥
१४. पंच य महव्वयाहं, समोयरते य^{१०} सव्वदव्वेसुं ।
सव्वेसि पज्जवाणं, अणंतभागम्मि ओयरति^{११} ॥
१५. छज्जीवणिया पढमे, 'वित्तिए चरिमे य'^{१२} सव्वदव्वाइ ।
सेसा महव्वया खलु, तदेक्कदेसेण दव्वाणं ॥दारं॥
१६. अंगाणं कि सारो ?, आयारो तस्स 'कि हवति'^{१३} सारो ।
अणुयोगत्थो सारो, तस्स वि य परूवणा सारो ॥
१७. सारो परूवणाए, चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं^{१४} ।
निव्वाणस्स य^{१५} सारो, अव्वावाहं जिणा वेत्ति ॥दारं॥
१८. 'बंभम्मो उ'^{१६} चउक्कं, ठवणाए होइ^{१७} बंभणुप्पत्ती ।
सत्तण्हं^{१८} वण्णाणं, नवण्ह वण्णंतदाणं च ॥

१. जन्नाओ (ब) ।

२. य (अ) ।

३. बुच्चइ (ब,म) ।

४. दधुनि २६ ।

५. ०मइतो (अ) ।

६. निभा. १ ।

७. आयारमग्गणत्थो (अ) ।

८. बंभचेरसु (अ) ।

९. १२-१४ तक की गाथाओं के लिए चूणि में 'तिण्णिगाहाओ पडियव्वाओ' मात्र इतना उल्लेख है ।

१०. उ (अ,ब) ।

११. ओव्वइति (अ), वयइति (अ) ।

१२. चरिमे वित्तिए (ब) ।

कुछ पाठ भेद के साथ यह गाथा आवश्यक-
निर्युक्ति (७९१) में भी मिलती है—

पढमम्मि सव्वजीवा, विइए चरिमे य

सव्वदव्वाइ ।

सेसा महव्वया खलु, तदेक्कदेसेण दव्वाणं ॥

१३. हवः कि (टी) ।

१४. नेव्वाणं (अ) ।

१५. उ (ब,टी) ।

१६. बंभम्मि उ (ब,अ,म), ०म्मी य (टी) ।

१७. होति (अ) ।

१८. सत्तण्ह य (अ,ब,म) ।

१९. एगा मणुस्सजाई^१, रज्जुप्पत्तीय दो कया उसभे ।
तिण्णेव सिप्प वणिए, सावगधम्मम्मि चत्तारि ॥
२०. संजोगे सोलसगं, सत्त य 'वण्णा उ'^२ नव य अंतरिणा^३ ।
एते दोन्नि^४ विगप्पा, ठवणा बंभस्स नायव्वा ॥
२१. पगती^५ चउक्कगणंतरे य ते^६ होति सत्तवण्णा उ ।
'आणंतरेसु चरमो'^७, वण्णो खलु होति नायव्वो ॥
२२. अंबट्ठुग-निसाया^८, अजोगवं मागहा य सूया य ।
खत्ता वेदेहा^९ वि य, चंडाला नवमगा होति^{१०} ॥
२३. एगंतरिए इणमो, अंबट्ठो^{११} चेव होति 'उग्गो य'^{१२} ।
विइयंतरिय^{१३} निसाओ, परासरं तं च पुण एगे^{१४} ॥
२४. पडिलोमे सुहादी, अजोगवं मागहा य^{१५} सूए य ।
एगंतरिए खत्ता, वेदेहा चेव नायव्वा ॥
२५. बितियंतरिए^{१६} नियमा, चण्डालो एस^{१७} होइ नायव्वो ।
अणुलोमे पडिलोमे, एवं एते भवे भेदा ॥
२६. उग्गेणं खत्ताए, सोवागो वेणवो विदेहेणं ।
अंबट्ठीए सुदीय^{१८}, बुक्कसो^{१९} जो निसाएणं ॥
२७. सुहेण^{२०} निसादीए, कुक्कुरओ^{२१} सो उ^{२२} होति नायव्वो ।
एसो 'वि य पइभेओ'^{२३}, चउत्विहो होति नायव्वो ॥

१. माणुस० (अ,ब) ।

२. वण्णाओ (अ) ।

३. अंतरिणो (टी,ब) ।

४. दो वि (टी) ।

५. एग तिग (अ) ।

६. × (अ) ।

७. अंतरे उ चरिमो (अ), अंतरिओ चरिमो (म) ।

८. निसाया य (टी) ।

९. वतिदेहा (अ), विदेहा (म,टी) ।

१०. २२-२५ तक की गाथाओं के लिए चूर्ण में 'चत्तारि गाहाओ पडियव्वाओ' मात्र इतना ही उल्लेख है ।

११. अंबोटो (अ), अंबुटो (म) ।

१२. उग्गेयं (म) ।

१३. वीयंत० (अ), वियंतरियं (म) ।

१४. वेगे (टी), एगे (अ) ।

१५. उ (ब) ।

१६. अंतरे (टी) ।

१७. सोवि (टी), सो य (म,ब) ।

१८. सुदीए (अ), सुदीए य (म), सुतीए य (ब) ।

१९. बुक्कसो (अ,ब), ३२६, ३२७ इन दोनों गाथाओं का संकेत चूर्ण में नहीं है लेकिन गाथाओं की संक्षिप्त व्याख्या मिलती है ।

२०. सूएण (अ,टी) ।

२१. कुक्कुडओ (ब,म) ।

२२. वि (टी) ।

२३. बीओ भेओ (टी) ।

२८. दब्बं सरीर-भविओ, अण्णाणी^१ वत्थिसंजमो चेव ।
भावे उ वत्थिसंजम^२, नायब्बो संजमो चेव ॥दारं॥
२९. चरणम्मि होति छम्भं, गतिमाहारे गुणो य 'चरणे य'^३ ।
'खेत्तं तु'^४ जम्मि खेत्ते, काले कालो जहि 'जो उ'^५ ॥
३०. भावे 'गति माहारे'^६, गुणो गुणवओ पसत्थमपसत्था ।
गुणचरणेण पसत्थेण, बंधवेरा नव हवन्ति ॥
३१. सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीओसणिज्ज सम्मत्तं ।
तह लोगसारनामं, 'धुत्तं तह महापरिण्णा य'^७ ॥
३२. अट्टमए य विमोक्खो, उवहाणमुत्तं च नवमगं भणियं^८ ।
इच्चेसो^९ आयारो, आधारग्गाणि सेसाणि ॥
३३. जियसंजमो य लोगो, जह बज्झति जह य तं पजहियच्चं^{१०} ।
सुह-दुवखतितिवखा वि य, सम्मत्तं लोगसारो य ॥
३४. निस्संगया य छट्ठे, मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा ।
निज्जाणं^{११} अट्टमए, नवमे य जिणेण^{१२} एव^{१३} ति ॥दारं॥
३५. जीवो छक्कायपरुवणा य, तेसि 'वहे य'^{१४} बंधो त्ति ।
विरईए अहिगारो, सत्थपरिण्णाएँ कायव्वो^{१५} ॥
३६. दब्बं^{१६} सत्थग्गि-विसं, नेहंबिल-खार-लोणमादीयं ।
भावो य^{१७} दुप्पउत्तो, वाया काओ अविरती य^{१८} ॥
३७. दब्बं जाणण-पच्चक्खण्णे^{१९} दविए सरीर-उवगरणे ।
भावपरिण्णा जाणण, पच्चक्खण्णं च भावेणं ॥

१. अण्णाणी (अ) ।

२. ०संजमु (अ) ।

३. चरणं च (म), चरणं वा (ब) ।

४. खेत्तम्मि (ब,म,टी) ।

५. होति (अ) । यह गाथा चूर्णि में निर्दिष्ट नहीं है ।

६. गतिमाहारो (म,टी) ।

७. धुत्तं तह मह ०(अ), धुत्तं तह महापरिण्णा य (म) ।

८. होइ (ब) ।

९. इय एसो (अ), एएसो (ब) ।

१०. विजहि ०(अ), पइहि ०(म) ।

११. निज्जाणं (ब) ।

१२. जिणाण (अ) ।

१३. एयं (म) ।

१४. वहेण (अ,म) ।

१५. नायव्वो (टी) ।

१६. दब्बे (अ) ।

१७. उ (ब,म) ।

१८. या (टी), दशनि २१३ ।

१९. ०क्खणं (ब) ।

३८. दठ्वे सच्चित्तादी^१, भावे अणुभवण जाणणा सण्णा ।
मति होति 'जाणणा पुण'^२, अणुभवणा कम्मसंजुता ॥
३९. आहार-भय-परिगह^३, मेहुण-सुह-दुक्ख-मोह-वित्तिगिच्छा ।
'कोह-माण'^४-माय-लोभे, सोगे लोगे य धम्मोषे ॥
४०. नामं ठवणा दविए, खेत्ते तावे य पणवग भावे ।
एस दिसानिक्खेवो, सत्तविहो होति नायव्वो ॥
४१. तेरसपदेसियं खलु, तावतिएसुं भवे पदेसेसुं ।
जं दव्वं ओगाढ, जहण्णगं तं दसदिसाग^५ ॥
४२. अट्टपदेसो रुयगो^६, तिरियं लोगस्स मज्झयारम्मि ।
'एस पभवो'^७ दिसाणं, एसेव^८ भवे अणुदिसाणं ॥
४३. इंदग्गेयी जम्मा, य नेरुती^९ वारुणो य वायव्वा ।
सोमा ईसाया वि य, दिसला य तमा^{१०} य बोधव्वा ॥
४४. हुपएसादि दुरुत्तर, एगपदेसा अणुत्तरा एव^{११} ।
चउरो चउरो य दिसा, चउराइ^{१२} अणुत्तरा दोन्नि^{१३} ॥
४५. अंतो सादीयाओ, बाहुरपासे अपज्जवसियाओ ।
सव्वाणंतपदेसा, 'सव्वा य भवति'^{१४} कडजुम्मा ॥
४६. सगडुद्धिसंठियाओ,^{१५} महादिसाओ हवति^{१६} वत्तारि ।
'मुत्तावली य'^{१७} चउरो, दो चेव हवति रुयगानिभा ॥
४७. जस्स जओ आइच्चो, उवेति^{१८} सा तस्स होति पुव्वदिसा^{१९} ।
जत्तो य अत्थमेइ^{२०}, अवरदिसा सा उ नायव्वा ॥

१. सचित्ता ०(अ,म) ।

२. जाणणाए (चू) ।

३. ँगहा (चू) ।

४. कोहे माणे (ब) ।

५. ४१ से ५० तक की गाथाएँ चूर्णि में अव्याख्यात हैं ।

६. रुहागो (अ), रुयगो (ब) ।

७. एसप्प ०(म) ।

८. एसो य (ब,म) ।

९. नेरईए (क), नेरतीए (अ), नेरईए (ब) ।

१०. यमा (म) ।

११. चेव (टी) ।

१२. चउरो य (क) ।

१३. इस गाथा का चूर्णि में संकेत नहीं है ।

१४. सव्वाओ हवति (अ) ।

१५. सगुडू ०(ब), सगडुदी ०(टी) ।

१६. य होति (म,ब) ।

१७. मुत्तावलिया (म) ।

१८. उवेति (अ) ।

१९. पुव्वाओ (अ) ।

२०. ०मेइ उ (टी) ।

४८. दाहिणपासम्मि य 'दाहिणा दिसा'^१ उत्तरा उ^२ वामेणं ।
एया चत्तारि दिसा, तावक्खेत्ते उ अक्खाता ॥
४९. जे मंदरस्स पुब्बेण^३, मणुस्सा^४ दाहिणेण^५ अवरेणं ।
जे यावि उत्तरेणं, सब्बेसि उत्तरो मेरु^६ ॥
५०. सब्बेसि उत्तरेणं, मेरु लवणो य होति दाहिणओ ।
पुब्बेणं 'तु उदेती'^७, 'अवरेण य'^८ अत्थमइ^९ सूरु ॥
५१. जस्य य जो पण्णवगो, कस्स 'वि साहेति'^{१०} दिसाणं उ^{११} तिमितं ।
जत्तो मुहो य ठायइ^{१२}, सा पुब्बा पच्छओ अवरा^{१३} ॥
५२. दाहिणपासम्मि उ^{१४} दाहिणा दिसा उत्तरा य^{१५} वामेणं ।
एतासिमंतरेणं, अन्ना चत्तारि विदिसाओ ॥
५३. एतासि चैव अट्ठहमंतरा अट्ठ होंति अस्माओ ।
सोलस 'सरीरउस्सय'^{१६}, बाहल्ला सब्बतिरियदिसा ॥
५४. हेट्ठा पादतलाणं, अहोदिसा सीस उवरिमा उट्ठा ।
एया अट्ठारसवी, पण्णवगदिसा मुणेयव्वा ॥
५५. एवं विकप्पियाणं^{१७}, दसण्ह अट्ठण्ह चैव य दिसाणं ।
नामाइ^{१८} वोच्छामी, जह्वकमं^{१९} आणुपुब्बीए ॥
५६. पुब्बा य पुब्बदक्खिण^{२०}, दक्खिण तह दक्खिणापरा^{२१} चैव ।
अवरा य अवर-उत्तर, उत्तर पुब्बुत्तरा चैव ॥
५७. सामुत्थाणी कविला, खेलेज्जा खलु तहेव अभिघम्मा ।
परियाधम्मा य तहा, सावित्ती पण्णवित्ती^{२२} य ॥

१. दाहिणदिसा (अ) ।

२. य (अ,ब,म) ।

३. ०वेणं (म) ।

४. मणुसा (अ,ब,म) ।

५. दक्खिणेण (अ) ।

६. इस गाथा का चूर्णि में संकेत नहीं है ।

७. उट्ठेई (टी), तु उदेई (अ) ।

८. अवरेणं (टी) ।

९. अत्थमे (अ), अत्थमय (ब) ।

१०. य साहेति (अ) ।

११. दिसासु य (अ,म,टी) ।

१२. ठाई (अ,टी) ।

१३. ५१-५९ तक की गाथाओं के लिए चूर्णि में
"णव गाहा कंठ्या" मात्र हतना उल्लेख है ।

१४. य (अ,ब,म) ।

१५. उ (टी) ।

१६. सरीरउस्सय (म) ।

१७. पक्कप्पि० (टी) ।

१८. नामाई (अ) ।

१९. अह० (अ) ।

२०. ०दाहिण (ब) ।

२१. ०णावरा (ब,म,टी) ।

२२. पुण्ण० (म) ।

५८. हेट्टा नेरइयाणं, अहोदिसा उवरिमा य^१ देवाणं ।
एयाइं नामाइं, पण्णवगस्सा दिसाणं तु ॥
५९. 'सोलस वि य तिरियदिसा'^२, सगडुद्धीसंठिया मुणेयव्वा ।
दो मल्लगमूलाओ, उड्डे^३ च अहे वि य दिसाओ ॥
६०. मणुया तिरिया काया, तहम्मवीया^४ चउक्कगा चउरो ।
देवा नेरइया वा, अट्टारस हवन्ति भावदिसा ॥
६१. पण्णवगदिसट्टारस^५, भावदिसाओ वि^६ तत्तिया चेव ।
एक्केक्कं विधेज्जा, हवन्ति अट्टारसट्टारा^७ ॥
६२. पण्णवगदिसाए पुण, अहिगारो एत्थ होति नायव्वो^८ ।
जीवाण पोमलाण य, एमासु गयागई अत्थि ॥
६३. केसिचि नाणसण्णा^९, अत्थि उ^{१०} केसिचि नत्थि जीवाणं ।
कोहं परम्मि लोए, आसी कथरा दिसाओ वा ?
६४. जाणति सयं मतीए, अन्नेसि वावि^{११} अतिए सोच्चा ।
जाणगजणपण्णविओ, जीवं तह जीवकाये य^{१२} ॥
६५. एत्थ य सहसम्मइयत्ति^{१३} 'जं पदं तत्थ जाणणा होई'^{१४} ।
ओही-मण-पज्जव-नाण केवले जातिसरणे य ॥
६६. परवइ वागरणं पुण, जिणवागरणं जिणा परं नत्थि ।
अन्नेसि 'सोच्चं ति'^{१५} य, जिणेहि सब्बो परो अस्सो^{१६} ॥
६७. तत्थ अकारि करिस्सं, ति बंधचित्ता कया पुणो होति ।
सहसम्मइया^{१७} जाणति, कोई^{१८} पुण हेतुजुत्तीए ।।दारं।।

१. उ (टी) ।

२. सोलस्स० (अ), सोलस तिरियदिसाओ (टी),
सोलस वी तिरियदिसा (ब) ।

३. उड्डं (अ) ।

४. तह अय्य० (म) ।

५. ०दिस अट्टा० (म) ।

६. य (अ) ।

७. ६१, ६२ की गाथा का संकेत चूर्णि में नहीं
है । केवल संक्षिप्त भावार्थ गद्य में है ।

८. कायव्वो (अ, ब, म) ।

९. अत्थि सण्णा० (चू) ।

१०. X (ब, म) ।

११. वा (ब) ।

१२. वा (टी) । इस गाथा का चूर्णि में संकेत
नहीं है ।

१३. सम्मुइयाए (ब), ०सम्मइया (चू) ।

१४. य जं पयं सुए तत्थ जाणणा होइ (अ) ।

१५. सोच्च ति (म) ।

१६. ६६, ६७ की गाथा चूर्णि में निदिष्ट और
व्याख्यात नहीं है ।

१७. ०सम्मइया (टी), ०सम्मइया (म) ।

१८. कोई (अ, ब) ।

६८. पुढवीए निक्खेवो, परूवणा लक्खणं परीमाणं ।
उवभोगो सत्थ वेयणा य यद्दया निक्खिती^१ य ॥
६९. नामं ठवणापुढवी, दव्वपुढवी य भावपुढवी य ।
एसो खलु पुढवीए, निक्खेवो चउविहो^२ होति ॥
७०. दव्वं सरीरभविओ, 'भावेण य'^३ होति पुढविजीवो उ^४ ।
जो पुढवितामगोयं, कम्मं वेदेति सो जीवो ॥दारे॥
७१. दुविहा य पुढविजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सब्वलोए, दो चेव^५ य बादरविहाणा^६ ॥
७२. दुविहा बादरपुढवी, समासओ सण्हपुढवि-खरपुढवी ।
सण्हा य पंचवण्णा, 'खरा य'^७ छत्तीसइविहाणा^८ ॥
७३. पुढवी य सक्करा बालुगा य उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तंब-तउय-सीसग-रुप्प-सुवण्णे य वइरे य^९ ॥
७४. हरियाले^{१०} हिंगुलए^{११}, मणोसिला सासगजण-पवाले ।
अब्भ-पडलऽब्भ-बालुय, बादरकाए मणिविहाणा ॥
७५. गोमेज्जए य रुयगे^{१२}, अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
'मरगय-मसारगल्ले, भुयमोयग-इंदनीले य'^{१३} ॥
७६. चंदप्पभ वेहलिए, जलकंते चेव सूरकंते य ।
एते खरपुढवीए, नामा^{१४} 'छत्तीसया होति'^{१५} ॥
७७. वण्ण-रस-गंध-फासे, जोणिप्पमुहा भवति^{१६} संखेज्जा ।
गेगाइ^{१७} सहस्साइ, होति विहाणम्मि एक्केक्के ॥

१. नियत्ती (अ) ।

२. चउविहो (अ, ब) ।

३. भावेण (अ, म) ।

४. ०जीवाओ (अ) ।

५. चेव (ब) ।

६. यह गाथा चूर्णि में व्याख्यात नहीं है ।

७. अवरा (ब, म, टी) ।

८. ०सय ० (ब) ।

९. उ. ७३, प. १।२०।१ ७३ से ७६ तक की चार गाथाएं चूर्णि में व्याख्यात हैं । मात्र 'चत्तारि गाहाओ जाव जलकंतो सूरकंतो' इतना उल्लेख है ।

१०. हिरि ० (म) ।

११. हिंगुलए (म, उ. ७४ प. १।२०।२) ।

१२. रुयय (ब) ।

१३. उ. ७५, प. १।२०।३ चंदण-गेरुय-हंसग, भुयमोय मसारगल्ले य (ब) । चंदण-गेरुय हंसग, भुयमे य मसारगल्ले य (अ) ।

१४. नामं (अ, ब, टी) ।

१५. छत्तीसयं होइ (टी), वत्तीसते ० (अ) । तु. उ. ७६, प. १।२०।४ ।

१६. हवति (अ, म) ।

१७. ०गाइ (अ), ०गाई (म) ।

७८. वण्णम्मि य एक्केक्के, गंधम्मि रसम्मि 'तह य फासम्मि'^१ ।
'नाणत्तं कायत्तं',^२ विहाणए होति^३ एक्केक्के^४ ॥
७९. जे बादरे विधाणा, पज्जत्ता तत्तिया अपज्जत्ता ।
सुद्धमा वि होति दुविहा, पज्जत्ता चेवपज्जत्ता ॥
८०. ह्वस्खाणं गुच्छाणं, गुम्माण लयाण वल्लिवलयाणं^५ ।
जह दीसति नाणत्तं^६, पुढवीकाए तहा जाण ॥
८१. ओसहि^७ तण सेवाले, पणगविहाणे य कंद-भूले य ।
जह दीसति नाणत्तं^८, पुढवीकाए तहा जाण ॥
८२. एगस्स^९ दोणह तिणह व, संखेज्जाण व न पासिउं सक्का ।
'दीसंति' सरीराहं, पुढविजियाणं असंखाणं^{१०} ॥
८३. एतेहि सरीरेहि, पच्चवखं ते पख्विया होति ।
सेसा आणागिज्झा, चक्खुफासं न 'ते एति'^{११} ॥
८४. उवजोग-जोग-अजभवसाणे, मति-सुय-अचक्खुदंसे य ।
अट्ठविहोदयलेस्सा, सण्णुस्सासे^{१२} कसाए य ॥
८५. अट्ठी^{१३} जहा सरीरम्मि, अणुगतं चैयणं खरं दिट्ठं ।
एवं जीवाणुगयं^{१४}, पुढविसरीरं खरं होति ॥
८६. जे बादरपज्जत्ता, पयरस्स 'असंखभागमेत्ता ते'^{१५} ।
सेसा तिन्नि वि रासो, वीसुं^{१६} लोया असंखेज्जा ॥
८७. पत्थेण व कडवेण^{१७} व, जह कोड मिणेज्ज सध्वधन्नाणि^{१८} ।
एवं मविज्जमाणा^{१९}, हवंति लोया असंखेज्जा ॥
८८. लोगागासपदेसे, एक्केक्कं निखिखवे पुढविजीव^{२०} ।
एवं मविज्जमाणा^{२१}, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

१. ×(म) ।	११. जं हंति (टी), एति त्ति (अ) ।
२. नाणत्ते का० (ब), नाणत्ती कायक्का (टी) ।	१२. सम्मुस्सासे (म) ।
३. होह (ब,म,टी) ।	१३. अट्ठि (बू) ।
४. इस गाथा का पूर्ण में संकेत और व्याख्या नहीं है ।	१४. जीवमणु ०(म) ।
५. ०य लयाणं (अ) ।	१५. ०मेत्ताए (अ,ब) ।
६. नाणत्तो (अ,म) ।	१६. वीसु (अ) ।
७. ओसही (ब) ।	१७. कुलएण (अ,ब,बू) ।
८. नाणत्ती (अ,म) ।	१८. ०धन्नाहं (टी), ०धन्नाइ (म) ।
९. एक्क ०(म), इक्क ०(टी,) ।	१९. गणिज्ज ०(अ,म) ।
१०. पुढवीजीवसरीरा, जो विभत्ती असंखेज्जा(अ) ।	२०. ०जीयं (म) ।
	२१. गणिज्ज ०(अ) ।

८९. निउणो उ^१ हवति^२ कालो, ततो^३ निउणयरयं^४ हवति खेतं ।
अंगुलसेढीमेत्ते, ओसप्पिणिओ असंखेज्जा ॥
९०. अणुसमयं च पवेसो, निक्कामणं वेव पुद्गविजीदानं ।
काए कायट्ठितिया, चउरो लोगा असंखेज्जा ॥
९१. बायरपुढविककाइय^५, पज्जतो अन्नमन्नमोगाढो^६ ।
सेसा ओगाहंते^७, सुहुमा पुण सव्वलोगम्मि^८ ॥दारं॥
९२. चंकमणे य 'ठाणे निसीयणे'^९ तुयट्ठणे य^{१०} कयकरणे ।
उच्चारे पासवणे, उवकरणाणं च^{११} निविखवणे ॥
९३. आलेवण^{१२} पहरण भूसणे य कय विक्कए^{१३} किसीए य ।
भंडाणं पि य करणे, उवभोगविही मणुस्साणं ॥
९४. एएहि कारणेहि, हिसंती^{१४} पुढविकाइए जीवे ।
सातं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ॥दारं॥
९५. हल-कुलिय-विस-कुदालालित्त^{१५} मिगसिग-कट्टमग्गी^{१६} य ।
उच्चारे पासवणे, एतं तु समासओ सत्थं ॥
९६. किची सकायसत्थं, किची^{१७} परकाय तदुभयं किचि ।
एतं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं^{१८} ॥दारं॥
९७. पायच्छेयण^{१९} भेयण, जंघोरु तहेव^{२०} अंगुवंगेसुं^{२१} ।
जह् होंति नरा दुहिया, पुढवीकाए^{२२} तहा जाण ॥
९८. नत्थि य 'सि अंगुवंगा'^{२३}, तयाणुरुवा य वेयणा तेसि ।
केसिचि उदीरंति 'केसिचऽतिवायए'^{२४} पाणे ॥दारं॥

१. य (ब,म,चू) ।

२. होइ (चू,टी) ।

३. ततो (म) ।

४. निउणयरं (म, ब) ।

५. ०क्काविय (अ) ।

६. अन्नअन्न ०(अ) मकार अलाक्षणिकः ।

७. ०गाहंती (अ,ब,म) ।

८. यह गाथा चूर्णि में अध्याख्यात है ।

९. ठाणे निसीयण (अ,ब,टी) ।

१०. ×(म) ।

११. तु (म), पि (अ) ।

१२. ०वणा (बू) ।

१३. विक्केय (म) ।

१४. हिसंति (टी) ।

१५. ०लित्तय (टी) ।

१६. कट्टमग्गी (ब) ।

१७. किचि वि (म) ।

१८. दशनि २१४ ।

१९. पायछे ०(म) ।

२०. तह य (ब) ।

२१. अंगमंगेसु (अ,ब) सअंगमंगा (चू) ।

२२. पुढवीक्काए (अ) ।

२३. सिअंगमंगा (ब,म) सियंगमंगा (चू,अ) ।

२४. केसिचाइवा ०(अ), केसिचि अइवा ० (अ) ।

९९. पवदंति य अणगारा, न य 'तेसु गुणेसु'^१ जेहि अणगारा ।
पुढवि विहिसमाणा, न 'हु ते'^२ वायाहि^३ अणगारा^४ ॥
१००. अणगारवादिणो पुढविहिसगा निगुणा^५ अगारिसमा ।
निहोस त्ति य मलिणा,^६ विरतिदुगुंछाइ मलिणतरा ॥
१०१. केई सयं वर्धेति,^७ केई अन्नेहि उ वधावेति^८ ।
केई अणुमन्तंती, पुढविककायं^९ वहेमाणा ॥
१०२. जो^{१०} पुढवि समारभति,^{११} अन्ने वि हु^{१२} सो समारभति काए ।
अनियाए य नियाए, दिस्से य तहा अदिस्से य ॥
१०३. पुढवि समारभंता, हणंति तन्निस्सिए बहु^{१३} जीवे ।
सुहुमे य बायरे या,^{१४} पज्जत्ते वा^{१५} अपज्जत्ते ॥दारां॥
१०४. एयं^{१६} वियाणिऊणं, पुढवोए निक्खिदंति जे दंडं ।
तिविहेण सव्वकालं, मणेण वायाए काएणं ॥
१०५. गुत्ता गुत्तीहि सव्वाहि, समिया समित्तीहि संजया ।
जयमाणगा सुविहिता, एरिसगा होंति अणगारा ॥दारां॥
१०६. आउस्स वि दाराइं, ताइं जाइं^{१७} भवंति पुढवोए ।
नाणसी उ विहाणे, परिमाणुवमोग-सत्थे य^{१८} ॥
१०७. दुविहा उ^{१९} आउजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सव्वलोगे, 'पंचेव य बायरविहाणा'^{२०} ॥
१०८. सुद्धोदगे य ओसा,^{२१} हिमे य महिया य हरतणू चेव ।
बादरआउविहाणा, पंचविहा वणिग्गा एते ॥दारां॥

१. तेहि गुणेहि (टी), तेसि गुणेहि (म) ।
२. होंति (व,म) ।
३. वायाए (म), वायाइ (व) ।
४. अ प्रति में गाथा का पूर्वार्द्ध नहीं है ।
५. निगुणा (म) ।
६. मलिना (अ,म,टी) ।
७. वर्धेति (अ), वर्धंती (टी) ।
८. वधावेति (अ,टी) ।
९. पुढविकायं (अ,व,टी) ।
१०. जे (अ) ।
११. समारभति (अ) ।
१२. य (टी) ।

१३. य बहु (टी), ते बहु (व) ।
१४. म (टी), वा (म) ।
१५. या (टी) ।
१६. एवं (व) ।
१७. जायं (म) ।
१८. १०६ से १०९ तक की गाथाओं की व्याख्या वर्ण में नहीं है । मात्र 'निज्जुत्तिगाहाओ पठियसिद्धाओ' इतना ही उल्लेख है ।
१९. य (अ,व,म) ।
२०. पंचविहा पुण बायरा (अ) ।
२१. उस्सा (टी) ।

१०९. जे बादरपज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
सेसा तिन्नि वि रासी, वीसुं लोणा असंखेज्जा ॥
११०. जह्म हुरिथस्स शरीरं, फलसावत्थस्स^१ अहुणोववन्नस्स ।
होति उदगंडगस्स य^२, एसुवमा^३ आउजीवाणं^४ ॥
१११. ण्हाणे पियणे तह धोवणे^५, य भत्तकरणे य सेए य ।
आउस्स उ^६ परिभोगो, गमणागमणे य जाणेणं^७ ॥
११२. एएहि कारणेहि, हिसंती आउकाइए जीवे ।
सातं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति^८ ॥दारां॥
११३. 'उस्सिचण-गालण'^९ धोवणे^{१०} य उवगरण-कोसभंडे^{११} य ।
बादरआउकाए, एतं तु समासतो सत्थं ॥
११४. किची सकायसत्थं, किची^{१२} परकाय तदुभयं किंचि ।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य^{१३} असंजमो सत्थं ॥दारां॥
११५. सेसाइं^{१४} दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं आउदेसे, निज्जुत्ती कित्तिया एसा^{१५} ॥
११६. 'तेउस्स वि दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे, परिमाणुवभोग'^{१६} सत्थे य^{१७} ॥
११७. दुविहा य^{१८} तेउजीवा^{१९}, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सब्वलोए, पंचेव य बादरविहाणा ॥
११८. इंगाल अगणि अक्खो, जाला तह मुम्मुरे य बोधव्वे ।
बादरतेउविहाणा, पंचविहा वणिण्या एते ॥दारां॥

१. कललकलियस्स (अ) ।

२. व (ब) ।

३. सव्वमा (म) ।

४. सव्वजी० (टी) ।

५. धोवणे (ब) ।

६. य (अ) ।

७. नावाणं (अ,म), जीवाणं (टी) १११, ११२

ये दो गाथाएं चूणि में निर्दिष्ट नहीं हैं ।

८. ०रंति (म), उदीरंति (अ) ।

९. उस्सिचणा य पाणे (चू) ।

१०. धोवणे (म) ।

११. मत्तभंडे (टी) ।

१२. किंचि य (अ) ।

१३. तु (अ) ।

१४. सेसाणि उ (अ) ।

१५. होति (म) ११५ से ११८ तक की गाथाएं चूणि में नहीं हैं ।

१६. परमा ० (ब) ।

१७. व (ब) ।

१८. उ (ब) ।

१९. ०जीवा (ब) ।

११९. जह^१ देहपरीणामा^२, रत्ति^३ खञ्जोयगस्स सा उवमा ।
जरितस्स 'य जह उम्हा'^४, एसुवमा^५ तेउजीवाणं ॥दरं॥
१२०. जे बादरपज्जत्ता, पलियस्स 'असंखभागमेत्ता ते'^६ ।
सेसा तिणिण वि रासी, वीसुं लोगा असंखेज्जा^७ ॥
१२१. दहणे^८ पयावणे^९ पगासणे 'भत्तकरणे य सेए य'^{१०} ।
बादरतेउक्काए, उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥
१२२. एतेहि कारणेहि, हिंसंती^{११} तेउकाइए जीवे ।
सातं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ॥
१२३. पुढवी^{१२} आउक्काए, उल्ला य'^{१३} वणस्सती तसा पाणा ।
बादरतेउक्काए, एयं तु समासओ सत्थं ॥
१२४. किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंची ।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य'^{१४} असंजमो सत्थं^{१५} ॥
१२५. सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवन्ति पुढवीए ।
एवं तेउहेसे, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥
१२६. पुढवीए जे दारा, वणप्फतीए^{१६} वि होति ते चेव ।
नाणत्ती उ विहाणे, परिमाणुवभोग-सत्थे य ॥
१२७. दुविह^{१७} वणस्सतिजीवा^{१८}, सुहुमा तह बायरा य^{१९} लोगम्मि ।
सुहुमा य सव्वलोए, 'दो चेव य'^{२०} बायरविहाणा ॥
१२८. पत्तेगा साधारण, बादरजीवा समासतो दुविहा ।
बारसविहग्गेगविहा, समासतो छव्विहा होति^{२१} ॥

१. जहा (म) ।	११. हिंसंति (म) ।
२. ०प्परि ०(टी) ।	१२. पुढवी य (म) ।
३. रत्ति (अ) ।	१३. ते (अ) ।
४. वा जउम्हा (अ) ।	१४. × (म) ।
५. तओवमा (टी), ततोवमा (अ), तउवमा (म) ।	१५. यह गाथा अ, ब और म प्रति में नहीं है ।
६. ०मित्ता उ (टी), ०मेत्ताओ (ब,म) ।	१६. वणसइकाए (अ) ।
७. १२०-२५ तक की गाथाएं चूणि में निर्दिष्ट और व्याख्यात नहीं हैं ।	१७. दुविहा (अ,म) ।
८. दहणे (म) ।	१८. वणसति० (अ) ।
९. ०वण (अ,टी) ।	१९. वि (अ) ।
१०. य सेए य भत्तकरणे य (टी) ।	२०. दोच्चेव य (ब,म), दो य भवे (अ) ।
	२१. होति (म) ।

१२९. रुक्खा गुच्छा गुम्मा, लया य वल्ली य पन्वगा^१ चेव ।
तण-वलय-हरिय-ओसहि-जलरुह-कुहणा य बोधव्वा ॥
१३०. अग्गनिय^२ भूलवीया, खंधविया^३ चेव पोरवीया य ।
वीयरुहा समुच्छिमा, समासओ वणसई^४ जीवा ॥
१३१. जह सगलसरिसवाणं, सिलेसमिस्साण^५ वसिया वट्टी ।
पत्तेयसरीराणं, तह होति सरीरसंधाया ॥
१३२. जह वा तिलसक्कुलिया, बहूहि^६ तिलेहि मेलिया संती ।
पत्तेयसरीराणं, तह होति^७ सरीरसंधाया ॥
१३३. नाणाविहसंठाणा, दीसंति एगजीविया पत्ता ।
खंधावि^८ एगजीवा, ताल-सरल-नालिएराणं^९ ॥
१३४. पत्तेया पज्जत्ता, सेढीय^{१०} 'असंखभागमेत्ता ते'^{११} ।
'लोगासंखा पज्जत्तगाण'^{१२} साधारणाणंता^{१३} ॥
१३५. एतेहि सरीरेहि, पच्चक्खं ते पख्विया जीवा ।
सेसा आणागिज्झा, चक्खुणा जे न दीसंति ॥
१३६. साहारणमाहारो, साधारण आणपाणगहणं^{१४} च ।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं एयं ॥
१३७. एगस्स 'उ जं गहणं'^{१५} बहूण साहारणाण तं चेव ।
जं बहुयाणं^{१६} गहणं, समासओ तं पि एगस्स ॥
१३८. जोणिभूते बीए, जीवो वक्कमति सो व अन्नो वा ।
जो वि य मूले जीवो, सो चिय पत्ते पढमयाए^{१७} ॥

१. परवगा (व) ।

२,३. ०वीया (टी), यहाँ छंद की दृष्टि से ह्रस्व
व्वाकार स्वीकृत किया है ।

४. वणफई (अ) ।

५. ०मीसाण (अ) ।

६. बहुएहि (अ,व,टी) ।

७. जाण (व) ।

८. खंधे य (अ) ।

९. ०एरीणं (म,व,टी) ।

१०. सेढीए (व,टी) ।

११. ०मेत्ताए (व) ।

१२. लोगा संखप्पज्ज० (टी) ।

१३. ०रणमणंता (अ) ।

१४. आणुपाणु ०(व,म), माणपाण० (अ) ।

१५. अणुगहणं (व,म) ।

१६. बहुयाणं (व) ।

१७. दशानि २१५ ।

१३९. चक्कागं^१ भज्जमाणस्स, मंठी चुण्णघणो भवे ।
पुढविसरिस्सभेदेण^२, अणंतजीवं वियाणाहि^३ ॥
१४०. गूढसिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।
जं पुण^४ पणहुसंधि^५, अणंतजीवं वियाणाहि ॥
१४१. सेवाल-कत्थ^६-भाणिय^७, अवए पणए य 'किण्हए य हडे'^८ ।
एते अणंतजीवा, 'भणिया अन्ने अणेगविहा'^९ ॥
१४२. एगस्स दोण्ह^{१०} तिण्ह व, संखेज्जाण व^{११} तहा असंखाणं ।
पत्तेयसरीराणं, दीसंति सरीरसंधाया^{१२} ॥
१४३. एगस्स 'दोण्ह तिण्ह'^{१३} व, संखेज्जाण व न पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइ, निगोयजीवाणण्णताणं ॥
१४४. पत्थेण व कुडवेण^{१४} व, जह कोइ मिणेज्ज सव्वधभाइं ।
एवं भविज्जमाणा, हवंति लोगा अणंता उ ॥दारं॥
१४५. जे वादरपज्जत्ता, पतरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
सेसा 'तिन्नि वि रासी, असंख साहारणमणंता'^{१५} ॥
१४६. आहारे उक्करणे, सयणासण-जाण-जुग्गकरणे-य ।
आवरण 'पहरणेसु य'^{१६}, सत्थविहाणेसु 'हु बहूसु'^{१७} ॥
१४७. आउज्ज कट्टुकम्मे, मंधंगे वत्थ-मल्ल^{१८} जोगे य ।
भावण^{१९}-वियावणेसु य, तिल्लविहाणे य^{२०} उज्जोए^{२१} ॥
१४८. एतेहि कारणेहि, हिंसंति वणस्सई बहू जीवे ।
सातं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ॥दारं॥

१. चक्कं व (ब) ।

२. पुढवी० (अ) ।

३. ०णेहि (टी) ।

४. पि य (अ) ।

५. ०संधितं (म), ०संधि (अ) ०संधिय (टी) ।

६. गबभ (अ), कथ (ग) ।

७. भाणीय (ब), भाणी (अ), हाणीय (म) ।

८. कि नए ० (टी), किण्ह ते हडे (अ) ।

९. जे या वन्ने तहाविहा (अ), भणिया वन्ने अणे० (म) ।

१०. दो व (ब) ।

११. वि (ब) ।

१२. अ प्रति में यह गाथा स्पष्ट नहीं है ।

१३. दो व तिण्ह (ब) ।

१४. कुडएण (ब) ।

१५. असंखलोया तिन्नि वि साहारणाणंता (टी) ।

१६. ०णेसुं (अ, ब) ।

१७. अ बहुसुं (टी) ।

१८. मल्लो (अ), मल्ले (ब) ।

१९. भासण (अ) ।

२०. व (ब) ।

२१. उज्जोवे (अ, ब) ।

१४९. कप्पणि-कुहाडि^१-असियग, दत्तिय-कुहाल^२-वासि परसू^३य ।
सत्था^४ वणस्सईए, हत्था पाया मुहं अग्गी ॥
१५०. किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंची ।
एतं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं ॥
१५१. सेसाई दाराई, ताई जाई हवन्ति पुढवीए ।
एवं वणस्सईए, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥दारां॥
१५२. तसकाए दाराई, ताई जाई हवन्ति पुढवीए ।
नाणत्ती^५ उ विहाणे परिमाणवभोग-सत्थे य^६ ॥
१५३. दुविहा खलु तसओवा, लद्धितसा 'तह य'^७ गतितसा चेव ।
लद्धीय^८ तेउ-वाऊ, तेणज्जिहारो इहं नत्थि ॥
१५४. नेरइय-तिरिय-मणुया, सुरा य गतीय^९चउव्विहा 'उ तसा'^{१०} ।
पज्जसाऽपज्जत्ता, नेरइयाई^{११} 'य नायव्वा'^{१२} ॥
१५५. तिविहा तिविहा जोणी, 'अंडा-पोया'^{१३}-जराउया चेव ।
वेइंदिय-तेइंदिय, चउरो पंचिदिया चेव ॥दारां॥
१५६. दंसण-नाण-चरित्ते, चरिताचरिते य दाण-लाभे य ।
उवभोग-भोग-वीरिय, इंदियविसए य 'लद्धी य'^{१४} ॥
१५७. उवओग-जोग-अज्झवसाणे वीसुं च 'लद्धीओ उदया'^{१५} ।
अट्टविहोदयलेस्सा^{१६}, सण्णुस्सासे^{१७} कसाए य^{१८} ॥

१. कुहाणि, (टी) कुहाडि (अ) ।

२. उहाले (ब) ।

३. फरसू (ब, भ) ।

४. सत्था (म) ।

५. नाणत्ति (म) ।

६. १५५, १५६ इन दो गाथाओं को छोड़कर १५२-१६३ तक की गाथाओं का चूर्ण में संकेत नहीं है । किंतु 'तसकायनिज्जुत्तीए नव दाराई वण्णेउ पठितसिद्धाई' इतना उल्लेख मिलता है ।

७. चेव (टी) ।

८. लद्धीओ (ब) ।

९. गइयो (टी) ।

१०. चेव (टी), तस्स (अ) ।

११. नेरई० (म) ।

१२. उ नेयव्वा (अ) ।

१३. अंडय पोअअ (टी) ।

१४. लद्धीओ (ब), ०द्धीए (म), अ प्रति में गाथा का उत्तरार्ध नहीं है ।

१५. लद्धी ओदइया (णं उदया) (टी) ।

१६. ०लेसा (ब, टी) ।

१७. सण्णुसासे (टी) ।

१८. व (अ) ।

१५८. लक्खणमेयं^१ चेव उ, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते^२ ।
निक्खमणे य पवेसे, 'एगादीया वि'^३ एमेव ॥
१५९. निक्खम-पवेसकालो^४, समयादी एत्थ आवलियभागो^५ ।
अंतोमुहुत्तऽविरहो, उदहिसहस्साहिए दोप्पि^६ ॥दारं॥
१६०. मंसादी परिभोगो, सत्थं सत्थादियं अणेगविहं ।
सारीर-माणसा वेयणा य दुविहा बहुविहा य ॥दारं ॥
१६१. मंसस्स केइ^७ अट्ठा, केई चम्मस्स केइ रोमाणं ।
पिच्छाणं पुच्छाणं, दंताणऽट्ठा वहिज्जंति ॥
१६२. केई वहंति अट्ठा, केइ अणट्ठा पसंगदोसेणं ।
कम्मपसंगपसत्ता, बंधंति वहंति^८ मारंति ॥
१६३. सेसाइ^९ दाराइ, ताइ जाइ हवंति पुढवीए ।
एवं तसकायम्मी, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥
१६४. वाउस्स वि दाराइ, ताइ जाइ हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे, परिमाणुवभोग-सत्थे थ'^{१०} ॥
१६५. दुविहा उ वाउजीवा, सुहुमा तह बायरा उ'^{११} लोगम्मि ।
सुहुमा य सब्वलोए, पंचेव य बायरविहाणा ॥
१६६. उक्कलिया मंडलिया, गुंजा घणवाव-सुद्धवाया य ।
बादरकाउविहाणा, पंचविहा वणििया एते ॥दारं॥
१६७. जह देवस्स सरीरं, अंतद्धाणं व अंजणादीसुं ।
'एओवम आदेसो',^{१२} वाएज्जंते वि रूवम्मि ॥दारं॥
१६८. जे बायरपज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
सेसा तिप्पि वि रासी, वीसुं लोणा असंखेज्जा ॥दारं॥

१. ०मेवं (टी) ।

२. उ (म, टी) ।

३. एगवीयावि (म) ।

४. निगम० (व) ।

५. आवली० (टी) ।

६. दोप्पि (व) ।

७. केई (म) ।

८. हणंति (व, म) ।

९. सेसाई (म) ।

१०. १६४-७२ तक की गाथाएं बृजि में निदिष्ट नहीं हैं ।

११. × (व, म) ।

१२. एतोवमादेसो (व) ।

१६९. वियणधमणाभिधारण, उस्सिचण^१-‘फुंकारआणुपाणू य’^२ ।
वायुकायउत्सर्गाए, उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥दारां॥
१७०. वियणे य सालविटे^३, सूवसिए^४ पत्त चेलकण्णे^५ य ।
‘अभिधारणा य बाहि’^६, गंधग्गी वाउसत्थाइं ॥
१७१. किची सकायसत्थं, किची परकाय तदुभयं किची ।
एतं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं^७ ॥
१७२. सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं वाउदेसे, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥
सत्थपरिण्णाए निज्जुत्ती सम्मत्ता

१७३. सयणे अददत्तं बीयगम्भि माणो य अत्थसारो य ।
भोगेसु लोगनिस्साइ, लोगे ‘अममिज्जता चेव’^८ ॥
१७४. लोगस्स य विजयस्स य, गुणस्स मूलस्स तह य ठाणस्स ।
निक्खेवो कायव्वो, जं मूलागं च संसारो ॥
१७५. लोगो त्ति य ‘विजयो सि’^९ य, ‘अज्झयणे लक्खणं’^{१०} तु निप्फन्नं ॥
गुणमूलट्ठाणं^{११} ति य, ‘सुत्तालावे य’^{१२} निप्फन्नं ॥
१७६. लोगस्स य निक्खेवो, अट्ठविहो छव्विहो उ^{१३} विजयस्स ।
भावे कसायलोगो, अहिगारो तस्स विजएणं ॥
१७७. लोगो भणितो दव्वं, खेत्तं कालो य भावविजओ य ।
भव-लोग भावविजओ, पगयं ‘तह वज्जमए’^{१४} लोगो ॥
१७८. विजितो कसायलोगो, सेयं खु ततो नियत्तिउं^{१५} होति ।
कामनियत्तमई खलु, संसारा मुच्चवए^{१६} खिप्पं ॥

१. उस्सिचण (अ, ब, म) ।
२. फुंसण आणु (टी), फुंसणाणपाणू (अ, म) ।
वायुकाय के प्रसंग में ‘एएहि कारणेहि’ वाली
गाथा नहीं मिलती है ।
३. ०बंटे (टी) ।
४. सुप्पसिय (टी), सूवसिय (अ) ।
५. कन्नचेल (ब) ।
६. ०धारणाहि पायं (ब) ।
७. यह गाथा केवल ‘म’ प्रति में प्राप्त है । वहां
भी ‘किची सकाय’ इतना ही प्रतीक दिया
गया है ।

८. अममिज्ज भावे य (ब) ।
९. विजअ त्ति (टी) ।
१०. ०यण सलक्ख० (अ) ।
११. गुणमूलं ठाणं (टी) ।
१२. ०लावेण (म) ।
१३. य (अ) ।
१४. ०वज्जमई (ब, म), तह वज्जमई (टी) ।
१५. ०त्तिओ (अ) ।
१६. मुच्चवई (ब, म, टी) ।

१७९. दब्बे खेत्ते काले, फल-पण्णव-गणण-करण-अवभासे ।
गुणअगुणे अगुणगुणे, भव-सीलगुणे य भावगुणे ॥
१८०. दब्बगुणो^१ दब्बं चिय,^२ गुणाण जं तम्मि संभवो होति ।
'सच्चित्ते अच्चित्ते'^३, मीसम्मि य होति दब्बम्मि ॥
१८१. संकुचित-विगसितत्तं, एसो जीवस्स होति जीवगुणो ।
पूरेति हंदि लोगं, बहुप्पएसत्तणगुणेणं ॥
१८२. देवकुरु सुसमसुसमा^४, सिद्धी निब्भय दुगादिमा^५ चेव ।
कल गोपगुज्जु^६ यंते, जीविमसीते य भावम्मि ॥
१८३. मूले छस्सं दब्बे,^७ 'ओदइउवएस'^८ आइमूलं च ।
खेत्ते काले मूलं, भावे मूलं भवे तिविहं ॥
१८४. ओदइयं^९ उवदिट्ठा, आइतिगं मूलभाव'^{१०} ओदइगं ।
आयरिओ उवदिट्ठा, विणय-कसायादिओ आदी ॥दारं॥
१८५. नामं ठवणा दविए, खेत्तद्धा उड्ढ उवरती वसही ।
संजम-पग्गह-जोहे^{११}, अचल-गणण-संघणा भावे^{१२} ॥
१८६. पंचसु 'कामगुणेषु य'^{१३}, सट्ठप्परिस-रस-रुव-गंधेषुं ।
जस्स कसाया वट्ठंति, मूलट्ठाणं तु संसारे ॥
१८७. जह सव्वपायवाणं, भूमीए पतिट्ठियाणि मूलाणि ।
इय कम्मपायवाणं, संसारपतिट्ठिया भूला ॥
१८८. अट्ठविहकम्मरुक्खा, सव्वे ते मोहणीयमूलागा^{१४} ।
'कामगुणमूलगं वा'^{१५}, तम्मूलागं च संसारो ॥
१८९. दुविहो य होति मोहो, दंसणमोहो चरित्तमोहो य ।
कामो चरित्तमोहो, तेणऽहिगारो इहं सुत्ते ॥

१. ०गुणा (ब) ।

२. चेव (घू) ।

३. सच्चित्ते अच्चित्ते (ब) ।

४. सुसुम० (ब) ।

५. ०हिया (ब,म), ०तिया (अ) ।

६. ०णुज्ज (अ) ।

७. दिट्ठे (अ) ।

८. ओदइओव० (म), ओदइय उव० (अ) ।

९. उदईओ (ब) ।

१०. मूलजीव (ब) ।

११. जोए (म) ।

१२. दब्बुनि १० ।

१३. ०गुणेषुं (अ,ब) ।

१४. मोहणीज्ज० (ब, म, टी) ।

१५. ०मूलियागव्व (ब), ०मूलियागं वा (अ) ।

१९०. संसारस्स उ^१ भूलं, कम्मं तस्स वि य^२ 'होति उ'^३ कसाया ।
ते सयण-पेस-अत्थाइएसु^४ अज्झत्थिए^५ य ठिया ॥
१९१. नामं ठवणा दविए, उप्पत्ती पच्चए य आदेसे ।
रस-भाव-कसाए य^६, 'को नयो'^७ कोहादिया चउरो^८ ॥
१९२. 'दब्बे खेत्ते काले'^९, भव संसारे य भावसंसारे ।
पंचविहो संसारो, 'जत्थेते संसरति जिथा'^{१०} ॥
- १९२।१. दब्बे खेत्ते काले, भवसंसारे य भावसंसारे ।
कम्मेण य संसारो, तेणऽहिगारो इहं सुत्ते^{११} ॥
१९३. नामं ठवणाकम्मं, 'दब्बं कम्म'^{१२} पयोगकम्मं च ।
समुदाणिरियावहियं^{१३}, आहाकम्म^{१४} तवोकम्मं^{१५} ॥
१९४. कितिकम्म^{१६} भावकम्मं, दसविहकम्मं^{१७} समासतो होति ।
अट्ठविहेण उ कम्मेण, एत्थ होही^{१८} अहीगारो ॥
१९५. संसारं^{१९} छेत्तुमणो, कम्मं उम्मूलए तदट्ठाए ।
उम्मूलेज्ज कसाए, तम्हा उ चएज्ज सयणादी^{२०} ॥
१९६. माया मे^{२१} ति पिया मे, भगिणी भाया य पुत्त दारा मे ।
अत्थम्मि चेव गिद्धा, जम्मण-मरणाणि^{२२} पाव्वेति ॥

१. य (चू), × (म) ।

२. × (टी) ।

३. होति उ (अ), हुंति य (टी) ।

४. पेसण अट्ठाइ० (चू) ।

५. ंत्थओ (ब, म, टी), अणत्थओ (चू) ।

६. या (अ, टी) ।

७. तेण य (टी) ।

८. यह गाथा चूणि में अनिदिष्ट और अव्याख्यात है ।

९. नामं ठवणा दविए (चू) ।

१०. जत्थ य ते संसारजीवा (अ) ।

११. यह गाथा केवल 'म' प्रति में उपलब्ध होती है । यह १९२वीं गाथा की संवादी है अतः

इसे निर्युक्तिगाथा की संख्या के क्रम में नहीं रखा है ।

१२. दब्बकम्मं (अ, टी) ।

१३. समुयाणरिया० (ब) ।

१४. आहक० (म) ।

१५. तओकम्मं (ब) ।

१६. ०कम्मं (अ) ।

१७. दसविहा सयं (अ) ।

१८. होई (ब, टी), होइ (ब) ।

१९. संसारे (ब) ।

२०. १९५, १९६ इन दोनों गाथाओं का चूणि में कोई संकेत नहीं है ।

२१. मि (ब) ।

२२. ०णाहं (अ) ।

१९७. बितिउहेसे अवढो, उ^१ संजमे कोइ होज्ज अरतीए ।
अघ्नाण-कम्मलोभादिएहि^२ अज्झत्थदोसेहि^३ ॥
लोगविजयस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता
१९८. पढमे सुत्ता अस्संजत^४ त्ति बितिए^५ दुहं^६ अणुहवन्ति ।
तइए न ह्व दुक्खेणं, अकरणयाए व समणो त्ति ॥
१९९. उहेसम्मि चउत्थे, अहिगारो उ वमणं कसायाणं ।
पावविरईओ विदुसो^७ ५^८ रांढमो एअ मोक्खो त्ति ॥
२००. नामं ठवणासीयं, दब्बे भावे य होइ नायव्वं ।
एमेव य उण्हस्स वि, 'चउव्विहो होति निक्खेवो'^९ ॥
२०१. दब्बे सीतलदब्बं, दव्वण्हं चैव 'उण्हदब्बं तु'^{१०} ।
भावे उ पुग्गलगुणो, जीवस्स गुणो अणेगविहो ॥
२०२. सीतं परीसह पमादुवसम-विरती^{११} सुहं च उण्हं तु^{१२} ।
परीसह-तवुज्जम-कसाय-सोग-वेदारती^{१३} दुक्खं ॥दारं॥
२०३. इत्थी सक्कारपरीसहो य दो भावसीतला एए ।
सेसा 'वीसं उण्हा'^{१४}, परीसहा होति नायव्वा ॥
२०४. जे 'तिव्वपरीणामा'^{१५} परोसहा ते भवन्ति उण्हा उ ।
जे 'मंदपरीणामा'^{१६}, परीसहा ते भवे सीया^{१७} ॥दारं॥
२०५. धम्मम्मि जो पमायति, अत्थे वा सीयलो त्ति तं वेत्ति ।
उज्जुत्तं पुण अन्नं, तत्तो उण्हं ति णं वेत्ति^{१८} ॥दारं॥

१. य (अ) ।

२. इस गाथा में द्वितीय अध्ययन के विषय का संक्षिप्त विवेचन है । इस गाथा का चूर्णिकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है । टीकाकार ने इस गाथा को निर्युक्तिकृत् मानते हुए कहा है—'निर्युक्तिकारो गाथयाचष्टे' ।

३. असंजति (चू) ।

४. निइय (ब), बीए (अ) ।

५. पुहं (अ) ।

६. वियणो (ब), पियणे (अ), विउणो (टी) ।

७. उ ० (ब, म, टी) ।

८. निक्खेवो चउव्विहो होइ (अ) ।

९. होइ उण्हं तु (म) ।

१०. विरह (ब) ।

११. य (म) ।

१२. सोगाहि वेयारई (टी), सोगवेयारई (ब, म) ।

१३. विसं उण्हा य (अ) ।

१४. तिक्कप्परि० (ब, टी, चू) ।

१५. मंदप्परि० (टी) ।

१६. बीया (अ) ।

१७. चूर्ण में इस गाथा का संकेत नहीं है, किंतु भावार्थ प्राप्त है ।

२०६. सीतीभूतो परिनिव्वुतो य संतो तहेव पल्हाओ^१ ।
होउवसंतकसाओ, तेणुवसंतो भवे सीओ^२ ॥दारं॥
२०७. अभयकरो जीवाणं, सीयवरो^३ संजमो भवति^४ सीतो ।
अस्संजमो^५ च उण्हो, एसो अओ वि पज्जाओ ॥दारं॥
२०८. निग्वाणसुहं^६ सायं, सीतीभूयं पयं अणावाहं ।
इहमवि जं किंचि सुहं, तं सीयं दुक्खमवि उण्हं ॥
२०९. डज्झति तिब्बकसाओ, सोगाभिभूओ^७ उदिण्णवेदो य ।
उण्हतरो होइ^८ तवो, कसायमाई वि जं डहइ^९ ॥
२१०. सीउण्हफास-सुह-दुह, परीसह-कसाय-वेय-सोगसहो ।
होञ्ज समणो सया उज्जुओ य तव-संजमोवसमे ॥
२११. सीयाणि य उण्हाणि य, भिक्खूणं होति विसहियक्खाणि ।
'कामा न सेवियक्खा'^{१०} सीओसणिज्जस्स निज्जुत्ती ॥
२१२. सुत्ता अमुणिओ सया, मुणिओ सुत्ता वि जागरा होति ।
धम्मं पडुच्च एवं, निदासुत्तेण भइयक्खं^{११} ॥
२१३. जह सुत्त मत्त^{१२} मुञ्छिय, असहीणो पावती^{१३} बहं दुक्खं ।
तिक्खं अप्पडियारं, पि वट्टमाणो तहा लोगो ॥
२१४. एसेव य उवदेसो, पदित्त^{१४} पवलाय^{१५} पंधमादीसु ।
अणुहवति जह सचेओ, सुहाइं समणो वि तह चेव ॥
- सीओसणिज्जस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता
२१५. पढमे सम्मावाओ, बितिए^{१६} धम्मप्पवादियपरिक्खा ।
ततिए अणवज्जतवो, न हु बालतवेण भोक्खो त्ति ॥

१. पण्हाणो (टी) ।
२. जीवो (टी) ।
३. सीयहरो (अ) ।
४. हवति (अ) ।
५. असंजमो (व) ।
६. नेग्वाणं (अ) ।
७. भूओ य (अ) ।
८. भवे (अ) ।

९. महइ (म) ।
१०. कामं निसेवियक्खा (अ) ।
११. भणियं (अ) ।
१२. × (चू) ।
१३. पावए (व, टी) ।
१४. पलित्त (अ, व, म) ।
१५. पयलाय (व, टी) ।
१६. बीए (म, टी) ।

२१६. उद्देसम्मि चउत्थे, समासवयणेण नियमणं भणियं ।
तम्हा य नाण-दंसण-तव-चरणे होति जतितव्वं^१ ॥
२१७. नामं ठवणासम्मं, दव्वं सम्मं च भावसम्मं च ।
एसो खलु सम्मस्सा^२, तिषखेवो चउत्थिहो होइ ॥
२१८. अह दव्वसम्म इच्छाणुलोमियं^३ तेसु तेसु दव्वेसु ।
कयसंखतसंजुत्तो, पउत्त^४ जढ भिण्ण छिण्णं वा^५ ॥
२१९. तिविहं तु भावसम्मं, दंसण नाणे तहा^६ चरित्ते य ।
दंसण चरणे तिविहं, 'नाणे दुविहं'^७ तु नायव्वं ॥
२२०. कुणमाणो वि य किरियं, परिक्खयंतो वि सयण-धण-भोए ।
दितो^८ वि दुहस्स उरं, न जिणत्ति अंधो पराणीयं ॥
२२१. कुणमाणो वि निवित्ति^९, परिक्खयंतो वि सयण-धण-भोए ।
दितो^{१०} वि दुहस्स उरं, मिच्छदिट्ठी न सिज्झइ उ ॥
२२२. तम्हा कम्माणीयं^{११}, जेतुमणो दंसणम्मि पयएज्जा ।
'दंसणवओ हि'^{१२} सफलानि, होति तव-नाण-चरणाइ ॥
२२३. सम्मत्तुप्पत्ती^{१३} सावए य बिरए अणंतकम्मसे^{१४} ।
दंसणमोहवखवणे, उवसामंते^{१५} य उवसंते ॥
२२४. खवगे य खीणमोहे, जिणे य सेढी भवे असंखेज्जा ।
तव्विवरीतो काले, संखेज्जगुणाए^{१६} सेढीए^{१७} ॥
२२५. आहार-उवहि-पूया-इड्डीसु य गारवेसु केतवियं^{१८} ।
एमेव बारसविधे, तवम्मि न हु कहत्तवे समणो^{१९} ॥

१. नायव्वं (म) ।

२. ०स्स (ब) ।

३. हत्थाणु० (म), ०लोमिया (ब) ।

४. उवउत्त (टीपा) ।

५. च (म) ।

६. X (अ) ।

७. दुविहं नाणे (अ) ।

८. दंतो (अ,म) ।

९. नियत्ति (चू), नियत्ति (म) ।

१०. दंतो (अ,म) ।

११. ०णीयं (ब) ।

१२. ०ण वायाहि (ब) ।

१३. ०त्तुप्पत्ती (ब,टी) ।

१४. ०कम्मसि (म) ।

१५. उवसमंते (अ,म) ।

१६. ०णाइ (टी) ।

१७. चूणि में इस गाथा का संकेत न होने पर भी इसकी संक्षिप्त व्याख्या प्राप्त है ।

१८. कतियवे (म), केयवं (अ) ।

१९. यह गाथा चूणि में अन्माख्यात है ।

२२६. जे जिणवरा अतीता, जे संपति जे अणागए काले ।
सव्वे वि ते अहिंसं, वदिसु वदिहिति 'य वयंति'^१ ॥
२२७. 'छप्पिय जीवनिकाये'^२, णो वि हणे णो वि आहणावेज्जा^३ ।
नो वि य अणुमन्नेज्जा, सम्मत्तस्सेस निज्जुत्ती ॥
२२८. खुड्डग^४ पायसमासं^५, धम्मकहं पि य अजंपमाणेणं ।
छन्नेण अन्नलिगी, परिच्छिद्या रोहगुत्तेणं^६ ॥
२२९. 'भिक्षुं पविट्ठेण'^७ मए^८ ज्ज दिट्ठं, पमदामुहं कमलविसालनेत्तं ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं^९, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति^{१०} ॥
२३०. फलोदएणं म्हि^{११} गिहं^{१२} पविट्ठो, तत्थासणत्था पमदा मि दिट्ठा ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं^{१३}, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति^{१४} ॥
२३१. 'मालाविहारम्मि मए^{१५} ज्ज' दिट्ठा, उवासिया कंचणभूसियंगी ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति^{१६} ॥
२३२. खंतस्स दंतस्स जिहंदियस्स, अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स ।
किं मज्झ^{१७} एएण विचित्तएणं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥
२३३. उल्लो सुत्तो य दो लूहा, ओल्लया मट्ठिया मया ।
दो वि आवडिया कुड्ढे^{१८}, जो उल्लो सोज्ज्थ^{१९} लग्गती^{२०} ॥
२३४. एयं लग्गति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गति, जहा से सुक्कगोलए^{२१} ॥

१. विवदिति (ब,टी) ।

२. छज्जीवनिकाय (चू) ।

३. य हणाम्बे० (टी), याहणा० (ब) ।

४. खुड्डग (अ,ब) ।

५. ०समासा (चू) ।

६. राह० (ब) ।

७. भिक्षुप्पवि० (अ,ब) ।

८. मये (अ) ।

९. दिट्ठं (अ) ।

१०. २२९-३१ तक की गाथाएं चूणि में निदिष्ट
और व्याख्यात नहीं हैं ।

११. मि (म,टी) ।

१२. गिहे (म,अ) ।

१३. दिट्ठं (अ) ।

१४. किसी प्रति में अंतिम चरण का 'सकुं'० केवल
इतना ही संकेत मिलता है ।

१५. मालाविहारे मयि अज्ज (अ) ।

१६. म प्रति में यह गाथा नहीं है ।

१७. मज्झ (म) ।

१८. कुंडे (अ) ।

१९. तत्थ (टी) ।

२०. उसू २५।४० ।

२१. ०लया (ब), उसू २५।४१ ।

२३५. जह खलु भूसिरं कदंठं, 'सुचिरं सुक्क'^१ लहं डहइ अग्गी ।
तह खलु खवेंति^२ कमां, सम्मच्चरणट्टिया^३ साहू^४ ॥
सम्मत्तस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता
२३६. हिंसग-विसयारंभग^५, एगच्चरो त्ति न मुणी पढमग्गम्मि ।
विरओ मुणि त्ति बितिए^६, अविरयवादी परिग्गहिओ ॥
२३७. ततिए एसो अपरिग्गहो त्ति^७ निव्विण्णकामभोगो य ।
अव्वत्तस्सेगच्चरस्स, पच्चवाया चउत्थम्मि ॥
२३८. हरउवमा^८ तव-संजमगुत्ती^९ निस्संगया य पंचमए ।
उम्मग्गवज्जणा छट्ठग्गम्मि तह रागदोसे य^{१०} ॥
२३९. आदाणपएणावेंति^{११}, गोण्णनामेण^{१२} लोगसारो त्ति ।
लोगस्स थ सारस्स य^{१३}, चउक्कओ होति निक्खेवो ॥
२४०. सव्वस्स थूल^{१४} गुरुए^{१५}, मज्जे देसप्पहाण सरिराई^{१६} ।
घण-एरंडे वइरे, खइरं च^{१७} जिणादुरालाई^{१८} ॥दारं॥
२४१. भावे फलसाहणता, फलतो सिद्धी सुहुत्तम-वरिट्ठा^{१९} ।
साहणय नाण-दंसण-संजम-तवसा तहि^{२०} पगयं ॥
२४२. लोगम्मि कुसमएसु^{२१} य, काम-परिग्गहकुमग्गलगेसुं ।
सारो हु नाण-दंसण-तव-चरणगुणा हियट्ठाए ॥
२४३. चइऊणं^{२२} संकपयं, सारपयमिणं^{२३} दढेण घेत्तव्वं ।
अत्थि जिओ^{२४} परमपयं, जयणा^{२५} जा रागदोसेहि ॥

१. सुक्कं सुचिरं (अ) ।	१३. या (ब) ।
२. खवेंति (टी), खविति (म) ।	१४. मूल (ब) ।
३. सम्मं च० (अ), ०च्चरणे टिया (ब,म,टी) ।	१५. भारिय (अ,बू) ।
४. चूर्णि में यह गाथा खूडुगपायसमासं (आनि २२८) के बाद है ।	१६. सरिराई (म), सरिराई (ब) ।
५. ०यारंभो (म) ।	१७. व (ब,म) ।
६. बीए (अ) ।	१८. जिणा उरालं व (म) ।
७. य (ब,म,टी) ।	१९. वरट्ठा (अ) ।
८. हरवोवमो (टी) ।	२०. हियं (ब) ।
९. ०संजमा० (अ) ।	२१. य सुमएसु (ब) ।
१०. २३८, २३९ इन दो गाथाओं का संकेत चूर्णि में नहीं है किंतु भावार्थ प्राप्त है ।	२२. काऊणं (ब), जइऊण (बू) ।
११. ०णावत्ती (ब,म) ।	२३. सारवमिवं णं (ब) ।
१२. गोत्त० (म) ।	२४. जीवो (अ) ।
	२५. जयमाणा (ब) ।

२४४. लोगस्स य^१ को सारो, तस्स य सारस्स को हवति सारो ।
तस्स य सारो सारं, जइ जाणसि पुच्छितो साह^२ ॥
२४५. लोगस्स धम्मसारो^३, धम्मं पि नाणसारियं वेत्ति ।
नाणं संजमसारं, संजमसारं च निव्वणं^४ ॥
२४६. चारो चरिया चरणं^५, एगट्ठं वंजणं तहि छक्कं ।
दब्बं तु दारुसंकम, जल-थल-चारादियं बहुहा ॥
२४७. खेतं तु जम्मि खेतो, 'कालो काले'^६ जहि भवे चारो ।
भावम्मि नाण-दंसण-चरणं तु^७ पसत्थमपसत्थं^८ ॥
२४८. लोगे चउव्विहम्मी,^९ समणस्स चउव्विहो कहं चारो ? ।
होइ^{१०} धित्ती^{११} अहिगारो, विसेसतो खेतकालेसुं ॥
२४९. पावोवस्ते^{१२} अपरिग्गहे य 'गुरुकुलनिसेवए जुत्ते'^{१३} ।
उम्मग्गवज्जए रागदोसविरते य से विहरे^{१४} ॥

लोगसारस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

२५०. पढमे नियगविधुणणा, कम्माणं बित्तिवए तइयगंसि^{१५} ।
उवगरणसरीराणं, चउत्थए गारवतिगस्स ॥
२५१. उवसग्गा सम्माणय, विधूताणि पंचगम्मि^{१६} उद्देसे ।
दब्बधुतं^{१७} वत्थादी, भावधुतं कम्मअट्ठविहं^{१८} ॥
२५२. अहियासित्तुवसग्गे, दिब्बे माणुस्सए तिरिक्खे^{१९} य ।
जो विहुणइ कम्माइं^{२०}, भावधुतं तं वियाणाहि ॥

धुयस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

१. उ (ब,म,टी) ।	११. धित्ति (ब,म) ।
२. साहु (व) ।	१२. ०वरिए (म) ।
३. धम्मो सारो (चू), सारधम्मो (टी) ।	१३. ०निसेवए कुत्तो (अ) ।
४. नेव्वणं (अ,म) ।	१४. इस गाथा का निर्देश चूणि में नहीं है ।
५. वयणं (चू) ।	१५. तइयते य (अ), तइयम्मि (टी) ।
६. काले कालो (अ) ।	१६. पंचगम्मि (ब,म,टी) ।
७. व (अ) ।	१७. ०धुव (अ) ।
८. इस गाथा के पूर्वार्द्ध का निर्देश चूणि में नहीं है, किन्तु ध्याख्या उपलब्ध है ।	१८. यह गाथा चूणि में निर्विष्ट नहीं है ।
९. ०विहम्मि (चू) ।	१९. तिरिक्खे (टी) ।
१०. होई (अ,म,) ।	२०. ०माई (व) ।

२५३. गाहावतिसंजोगे, कुसीलसेवा तहेव य सपक्खे ।
परिण्णाए^१ विवेगो, पढभुद्देसम्मि अहिगारो^२ ॥
२५४. वितिए मग्गविजहणा,^३ देहविभूसा य मेहुणासेवा ।
'गब्भस्स य आदानं',^४ परिसाडण पोसणा^५ चेव ॥
२५५. ततिए खलुंक्कभावो, आमिसपुच्छा^६ य 'विसहणा समयणे'^७ ।
पासवणुच्चारविही,^८ किरिया धुवणं च वत्थस्स ॥
२५६. 'विधुवण वेहाणस'^९ हत्थकम्म इत्थोण विप्पजहणा य ।
देहस्स य पत्तिकम्मं, तिरपूहाणं पत्तहिम्वत्तं^{१०} ॥
२५७. चउत्थम्मि^{११} धुवणविही^{१२}, परिहरणविही^{१३} य होइ वत्थस्स ।
तस्सेव वण्णकरणं, 'अणुसवण उग्गहस्सेव'^{१४} ॥
२५८. कडमासण^{१५} परिभोगो,^{१६} सेज्जायरपिडवज्जणं चेव ।
सपरिग्गहपरिमाणं, विवज्जणा सप्पिहिस्सेव ॥
२५९. पंचमए अट्ठपदेणं, 'जिणधम्मम्मि'^{१७} तहा समुट्ठाणं ।
थावरकायाण^{१८} दया, अक्कोसवधेऽहियासणया^{१९} ॥
२६०. तसकायसमारंभण,^{२०} गिहमत्तविवज्जणं न तित्थीणं ।
जे यावि य अविदिन्ना, ठाणा तेसि च सव्वेसि ॥

१. ०णाए य (क,म) ।

२. गाथा २५३ से २७० तक की गाथाएं 'महा-परिजा' अठ्ठययन की हैं । २५३ से २६३ तक की गाथाएं टीका में उपलब्ध नहीं हैं । लेकिन २६४ से २७० तक की गाथाएं दूसरे श्रुत-स्कंध की टीका के अन्त में दी हैं । टीकाकार ने 'अविचूता निर्युक्तिरेवा महापरिजायाः' मात्र इतना ही उल्लेख किया है । २५३ से २७० तक की गाथाएं सभी आदर्शों में मिलती हैं ।

३. ०विअयणा (ब) ।

४. गब्भस्सादायाणं (ब), गब्भस्स य आदाणाय (ब) ।

५. साडणा (अ) ।

६. × (म) ।

७. विजहणावसाणे (अ), विसहणे० (ब) ।

८. ०च्चारणं (अ) ।

९. ०वण वेहाण (अ) ।

१०. त्ति अइयत्तं (अ) ।

११. वत्थम्मी (अ) ।

१२. धुयण ० (क,ख) ।

१३. परिट्ठवणविही (ख) ।

१४. ०वण वेगाहस्सेव (अ), ०वणा उ गहणस्स (ब) ।

१५. करमा ० (अ) ।

१६. पडिभोगो (ब) ।

१७. अज्जं णं धम्मो (ब,म) ।

१८. थावरकाए य (ब), थावरकाएण (क,ख,भ) ।

१९. आउस ० (अ) ।

२०. समारंभो (अ), समारम्भं (म) ।

२६१. छट्ठे पडिमाओ^१ संजमाओ 'तइयम्मि जो'^२ य अहिगारो ।
आसेवणया^३ य 'भवे, सिणाण'^४ परिभोग^५ वज्जणया ॥
२६२. 'सत्तमे य तिन्नि'^६ पलया, सीयपरीसहस्रियासणं^७ धुवणं ।
सुईमादीयाणं,^८ सत्तिही अट्टवडियाए ॥
२६३. आसंदी य अकरणं, उवएसणं^९ निकायणा चेव ।
'संलेहणिया नेया'^{१०} भत्तपरिणंतकिरिया य ॥
२६४. पाहण्णे महसद्दे,^{११} परिमाणे चेव होइ नायव्वो ।
पाहण्णे परिमाणे, य छव्विहो होइ निक्खेवो ॥
२६५. दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य^{१२} होति जे पहाणा उ ।
तेसि महासद्दे खलु, पमाणओ होति^{१३} निष्फण्णे ॥
२६६. दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य जे भवे महंता उ ।
तेसु^{१४} महासद्दे खलु, पमाणओ होति^{१५} निष्फण्णे ॥
२६७. दव्वे खेत्ते काले, भावपरिण्णा य होति बोद्धव्वा ।
जाणणओ पच्चक्खाणओ य दुविहा पुणेक्केक्का ॥
२६८. भावपरिण्णा दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलगुणे पंचविहा, दुविहा पुण उत्तरगुणेषु ॥
२६९. पाहण्णेण उ पगयं, भावपरिण्णाए 'तह य'^{१६} दुविहाए ।
परिण्णाणेषु पहाणे, महापरिण्णा तओ होइ ॥
२७०. देवीणं मणुईणं, तिरिक्खजोणीगथाण इत्थीणं ।
तिविहेण परिच्चाओ, महापरिण्णाए निज्जुत्ती ॥

महापरिण्णाए निज्जुत्ती सम्मसा

१. पडिमाओ (न), पडिमाओ (क), परिवारो (अ) ।
२. ते तइयम्मि (ख) ।
३. आसेवणा (क) ।
४. भवे सणाण (क), भवेसिणा (अ) ।
५. परिभोग (ख) ।
६. सत्तमे निष्च (अ), सत्तम्मि तिन्नि (ख) ।
७. हियासवणं (व), हीमासणं (ख,म) ।
८. सुयमादीयाण च (व) ।

९. यहां आएसाणं पाठ होना चाहिए ।
१०. संलेहणीय नेया (क), संलेहण निहाणेया (अ) ।
११. महासद्दे (म) ।
१२. या (व) ।
१३. तेसि (म) ।
१४. होति (टी) ।
१५. तहेव (अ) ।

२७१. 'असमणुणस्स विमोक्खो', पढमे^१ वितिए अकप्पिय विमोक्खो ।
पडिसेहणा^२ य रुद्धस्स^३, चेव सम्भावकहणा य ॥
२७२. तत्तियम्मि अंगचेट्ठा, भासिय आसंकिते उ^४ कहणा य ।
सेसेसु अहीगारो, उवकरण-सरीरमोक्खेसु ॥
२७३. उद्देसम्मि चउत्थे, वेहाणस-गिद्धपिट्ठमरणं^५ च ।
पंचमए गेलणं, भत्तपरिण्णा य बोधव्वा ॥
२७४. छट्ठम्मि उ एगत्तं^६, इंगिणिमरणं च^७ होइ बोधव्वं ।
सत्तमए पडिमाओ, पायवगमणं^८ च नायव्वं ॥
२७५. अणुपुब्बिविहारीणं^९, भत्तपरिण्णा य इंगिणीमरणं ।
पायवगमणं^{१०} च तहा, अहिगारो होति^{११} अट्ठमए ॥
२७६. 'तामं ठवणविमोक्खो, दब्बे'^{१२} खेत्ते य काल-भावे य ।
एसो उ विमोक्खस्सा, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥
२७७. दव्वविमोक्खो निगलादिएसु^{१३} खेत्तम्मि चारगाईसुं ।
काले चेइयमहिमादिएसु अणघायमादीसु^{१४} ॥
२७८. दुविहो भावविमोक्खो,^{१५} देसविमोक्खो य सव्वमोक्खो य ।
देसविमोक्खा^{१६} साहु, सव्वविमोक्खा^{१७} भवे सिद्धा ॥
२७९. कम्मयदव्वेहि^{१८} समं, संजोगो होति जो उ^{१९} जीवस्स ।
सो बंधो नायव्वो, तस्स वियोगो भवे मोक्खो^{२०} ॥

१. ०णुन्न विमुत्तो० (ब), ०णुणस्स विमुक्खो० (टी) ।

२. पडिसे ०(अ), पडिसहणा (म) ।

३. रुद्धस्स (अ) ।

४. य (अ,टी) ।

५. गद्धपट्ठम० (अ,म) ।

६. एगत्ते (चू) ।

७. व (म) ।

८. पायवग० (अ) ।

९. अणुपुब्ब ०(ब) ।

१०. पाओग० (अ) ।

११. होति (अ) ।

१२. तामं ठविओ मोक्खो दव्वमोक्खो य (चू) ।

१३. निगलादिएसु (टी), ०लातिएहि (चू) ।

१४. अमलायमाईसु (अ), अमाघायमादीओ (म, ब) ।

१५. य भाव ०(अ) ।

१६, १७. ०विमुक्का (अ,म) ।

१८. कम्मय० (अ,टी) ।

१९. य (अ) ।

२०. यह गाथा चूर्णि में निर्दिष्ट नहीं है । इसके बाद चूर्णि में 'रागेण य' गाथा का संकेत मिलता है किन्तु यह टीका तथा किसी भी हस्तप्रति में नहीं मिलती है ।

२८०. जीवस्स अत्तजणितेहि, चेव कम्मेहि पुण्ववदस्स ।
सव्वविवेगो^१ जो तेण, तस्स अह^२ एत्तिओ मोक्खो ॥
२८१. भत्तपरिण्णा-इंगिणि-पायवगमणं^३ च होति नायव्वं ।
जो^४ मरति चरिममरणं,^५ भावविमोक्खं वियाणाहि ॥
२८२. 'सपरक्कमे य अपरक्कमे'^६ य वाघाय आणुपुव्वीए ।
सुत्तत्थजाणएणं, समाहिमरणं तु कायव्वं ॥
२८३. सपरक्कममादेसो^७, जह मरणं होइ अज्जवहराणं ।
'पायवगमणं च'^८ तहा, एयं सपरक्कमं मरणं ॥
२८४. अपरक्कममादेसो^९, जह मरणं होइ उदहिनामाणं^{१०} ।
पायवगमणे^{११} वि तहा, एयं अपरक्कमं^{१२} मरणं ॥
२८५. वाधातिममादेसो,^{१३} अवरद्धो^{१४} होज्ज अन्नतरएणं ।
तोसलि मद्दिमीय^{१५} इओ, एयं वाधातिमं^{१६} मरणं^{१७} ॥
२८६. अणुपुव्विगमादेसो, पव्वज्जा सुत्तअत्थकहणं^{१८} च ।
वीसज्जितो य^{१९} णितो, मुक्को तिविहस्स निच्चस्स^{२०} ।
२८७. पडिचोदितो य^{२१} कुविओ, रण्णो जह तिक्ख-सीयला आणा ।
तंबोले य विवेगो, घट्टणया जा पसाओ य^{२२} ॥
२८८. निष्फाड्या य सीसा, सउणी जह अङ्गं पयत्तेणं ।
आरससंवच्छरियं, सो संलेहं अह करेति ॥

१. ०वियोगो (अ) ।

२. ते य (अ) ।

३. पाउवग० (म) ।

४. जे (अ) ।

५. चरण० (ब) ।

६. सपरिक्कमे य अपरि० (टी) ।

७. सपरि ०(म) ।

८. पाउवगमे वि (अ,म) ।

९. अपरि ०(ब), मआदेसो (म) ।

१०. ०नामेणं (ब) ।

११. पाउव० (म), पाउवगमणं (बू) ।

१२. अपरि ०(ब) ।

१३. वाघाहयमाएसो (टी), वाघाहम० (ब,म),
०तिम आदेसो (बू) ।

१४. अवरद्धो (अ) ।

१५. ०सीए (ब), ०सीइ (टी) ।

१६. वाघाड्यं (टी) ।

१७. णाम (अ) ।

१८. ०अत्यकरणं (टी), अत्यगहणं (ब,म,बू) ।

१९. तु (म), उ (ब) ।

२०. नीयस्स (टी) ।

२१. उ (अ) ।

२२. इस गायथा का संकेत चूर्णि में नहीं है किन्तु
कथा के रूप में व्याख्या उपलब्ध है ।

२८९. चत्तारि विचत्ताइं, विगई निज्जुहियाणि^१ चत्तारि ।
'संवच्छरे य'^२ दोस्सि उ, एगंतरियं तु आयामं ॥
२९०. नातिविकिट्ठो^३ उ^४ तवो, छम्मासे परिमियं च^५ आयामं ।
अन्ने वि य छम्मासे, होति विगिट्ठं तवोकम्मं^६ ॥
२९१. वासं कोट्ठीसहियं, आयामं काउ आणुपुब्बीए ।
गिरिकंदरम्मि^७ गंतुं, पायवगमणं अहं करेति^८ ॥
२९२. कह^९ नाम सो 'तवोकम्मपंडिओ जो न'^{१०} निच्चजुत्तप्पा^{११} ।
लहुवित्तिपरिक्खेवो^{१२}, वच्चति जेमंतओ^{१३} चेव ॥
२९३. आहारेण विरहिओ, अप्पाहारो य संवरनिमित्तं ।
हासंतो हासंतो, एक्काहारं निहंभेज्जा ॥
२९४. देसविमोक्खो^{१४} पगयं, 'उवकरणसरीरमाइ एसो य'^{१५} ।
निस्संगथा^{१६} विजहणा, करणेणं^{१७} आउकालं च^{१८} ॥

विमोक्खस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

२९५. जो जइया तिस्थगरो, सो तइया अप्पणम्मि^{१९} तिस्थम्मि ।
वण्णेइ तवोकम्मं, उवहाणसुयम्मि^{२०} अज्झयणे ॥
२९६. सन्वेसिं तवोकम्मं, निहवस्सगं तु वणिणय जिण्णाणं ।
नवरं^{२१} तु वट्ठमाणस्स, सोवसगं मुणेयव्वं^{२२} ॥

१. परिवज्जियाइं (अ) ०हियाइं (टी) ।

२. संवच्छराइं (अ) ।

३. नाहिविकिट्ठो (टी) ।

४. य (अ) ।

५. तु (टी) ।

६. इस गाथा का चूर्ण में संकेत नहीं है ।

७. ०कंदरं तु (अ) ।

८. चूर्ण में यह गाथा निर्दिष्ट नहीं है किंतु संक्षिप्त व्याख्या है ।

९. कह० (म, क, पू) ।

१०. तवोकम्मं पंडिमो न (अ) ।

११. निच्चजुत्त० (टी) ।

१२. लहुवित्ती० (टी) ।

१३. जेमणतवो (अ) ।

१४. ०विमुक्को (ब) ।

१५. ०सरीरवाए एसो (अ) ।

१६. निस्संकया (ब) ।

१७. करणिज्जं (ब) ।

१८. यह गाथा टीका तथा चूर्ण दोनों में व्याख्यात नहीं है किंतु यह विषय से सम्बद्ध है । यह सभी हस्तप्रतियों में मिलती है ।

१९. अप्पणो य (टी) ।

२०. ओहाण० (ब, म, टी) ।

२१. नवरिं (अ) ।

२२. २९६, २९७ ये दो गाथाएं चूर्ण में व्याख्यात नहीं हैं ।

२९७. तित्थगरो चउनाणी, सुरमहिओ^१ सिज्झियव्वय धुवम्मि^२ ।
अणिगूहियबलविरिओ^३, तवो विहाणम्मि^४ उज्जमइ^५ ॥
२९८. किं पुण अवसेसेहि, दुक्खमखयकारणा^६ सुविहितेहि ।
'होइ परक्कमियव्व'^७, सपच्चवायम्मि माणुस्से ॥
२९९. चरिया सेज्जा य परीसहा य आथकिते^८ 'तिगिच्छा य'^९ ।
तवचरणेणऽहिगारो^{१०}, चउमुद्देसेसु नायव्वो^{११} ॥
३००. नामं ठवणुवहाणं^{१२}, दब्बे भावे य होइ नायव्वं^{१३} ।
एमेव य सुत्तस्स वि, निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥
३०१. दव्वुवहाणं सयणे, भावुवहाणं तवो चरित्तस्स ।
तम्हा उ नाण-दंसण-तव-चरणेहि इहाहिगयं^{१४} ॥
३०२. अहं खलु मलिणं^{१५} वरुणं, सुज्झइ^{१६} उदगादिएहि दब्बेहि ।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झती^{१७} 'कम्ममट्ठविह'^{१८} ॥
३०३. ओधुणण^{१९} धुणण नासण, विणासणं^{२०} भवण खवण सोहि करं ।
छेयण भेयण फेडण, उहणं धुवणं^{२१} च कम्माणं^{२२} ॥
३०४. एवं तु समणुचिण्णं, वीरवरेणं महाणुभावेणं ।
जं अणुचरित्तु^{२३} धीरा^{२४}, सिवमचलं^{२५} जंति निव्वणं ॥

उवहाणसुयस्स निव्वुत्तो सम्मत्ता

१. ०महिऊ (म) ।	१४. ०रणेणाहिगारे सु (म) ।
२. धुयम्मि (व) ।	१५. मइलं (व,म,टी,चू) ।
३. अणगू० (व) ।	१६. सुज्झइ तु (अ) ।
४. विहाणेसु (अ) ।	१७. सुज्झए (टी) ।
५. इस गाथा का संकेत चूर्णि में ३०३ की गाथा के बाद है पर हमने टीका और हस्तप्रतियों की गाथा-क्रम का अनुसरण किया है ।	१८. कम्ममट्ठ० (अ,टी) ।
६. ०करणे (म), करणा (टी) ।	१९. ओधुणण (म), ओधू ० (टी), उवहणण (चू) ।
७. होइ न उज्जमियव्वं (अ,टी) ।	२०. ०सणा (अ) ।
८. अलंकिए (क) ।	२१. धुणणं (म) ।
९. चिगिच्छा य (म,टी), तिगिच्छाए (चू) ।	२२. चूर्णि में इस गाथा के बाद 'तित्थगरो चउनाणी' (आनिरा० २९७) का संकेत है ।
१०. ०चरणहियारो (क) ।	२३. अणुचरेदु (चू) ।
११. नायव्वो (अ) ।	२४. वीरा (अ,चू) ।
१२. ०हाणे (व) ।	२५. ०मउलं (व,म) ।
१३. बोधव्वो (अ) ।	

आयारचूला

३०५. दव्वोगाहण^१ आदेस, काल-कम-गणण-संचए भावे ।
अगं भावे तु पहाण, बहुग उवयारतो तिविधं ॥
३०६. उवयारेण उ पगयं, आयारस्सेव उवरिमाईं तु ।
रुक्खस्स^२ पव्वयस्स य^३, जह अग्गाईं तहेताईं ॥
३०७. येरेहिण्णुग्गहट्ठा^४, सीसहियं^५ होउ पागडत्थं च ।
आयाराओ अत्थो, आयारग्गेसु^६ पविभत्तो ॥
३०८. 'बितियस्स य पंचमए'^७, 'अट्टमगस्स बितियम्मि'^८ उद्देसे ।
भणितो पिंडो सेज्जा, वत्थं पाउग्गहे चेव ॥
३०९. पंचमगस्स^९ चउत्थे, हरिया वणिज्जते^{१०} समासेणं ।
छट्ठस्स य पंचमए^{११}, भासज्जायं^{१२} वियाणाहि ॥
३१०. सत्तेवकगाणि सत्त वि, निज्जूढाई^{१३} अहपरिण्णाओ ।
सत्थपरिण्णा भावण, निज्जूढाओ^{१४} धुय-विमुत्तो^{१५} ॥
३११. आयारपकप्पो पुण, पच्चवखाणस्स तइयवत्थूओ ।
आयारत्तामघेज्जा, वोसइमा पाहुडच्छेया^{१६} ॥
३१२. अव्वोगडो उ भणिओ, सत्थपरिण्णाय^{१७} दंडनिक्खेवो ।
सो पुण विभज्जमाणो, तहा तहा होइ नायव्वो ॥
३१३. एगविहो पुण सो संजमो त्ति अज्झत्थ-बाहिरो 'य धुहा'^{१८} ।
मण-वयण-काय तिविहो, चउव्विहो 'चाउजामो उ'^{१९} ॥

१. णामगं (चू) दव्वोगाहणग (निष्ठा ४९) ।

२. ०स्स य (टी) ।

३. वा (चू) ।

४. ० रेहि अणु ० (क, अ, चू), ० अणुग्गहट्ठा (अ) ।

५. सीसाणं (अ) ।

६. आयारंगेसु (टी) ।

७. वीयस्स य पंचमते (अ) ।

८. अट्टमए वीयम्मि (ब, म) ।

९. पंचमस्स (चू) ।

१०. वणिज्जए (अ), ०ज्जई (टी), ०ज्जइ (ब) ।

११. पंचमते (अ) ।

१२. ०जाए (ब), ०जाया (म) ।

१३. विच्छूढाई (अ) ।

१४. ०निज्जूढा उ (म, टी) ।

१५. धुववि० (ब, म) ।

१६. पाहुडच्छेज्जा (ब) ।

१७. ०ण्णाए (ब, म) ।

१८. धुविहो (अ) ।

१९. ०जामो त्ति (अ) ।

३१४. पंच य महव्वयाइं, तु 'पंचहा राइभोयणे'^१ छट्ठा ।
सीलंगसहस्साणि^२ य, आयारस्सप्पवीभागा^३ ॥
३१५. आइविखजं^४ विभइजं, विण्णाजं चैव सुहतरं होइ ।
एतेण कारणेणं, महव्वया पंच पणत्ता ॥
३१६. तेसि 'च रक्खणट्ठाए'^५ भावणा पंच पंच एक्केक्के ।
ता^६ सत्थपरिण्णाए, एसो अब्भितरो होई^७ ॥
३१७. जावोग्गहपडिमाओं, पढमा सत्तेक्कगा वितियचूला^८ ।
भावण-विमुत्ति-आयारपकप्पा तिसि इति^९ पंच^{१०} ॥
३१८. पिण्डेसणाएँ जा निज्जुत्ती,^{११} 'सा चैव'^{१२} होइ सेज्जाए ।
सत्थेयण पाएसण, उग्गहपडिमाएँ^{१३} 'सा चैव'^{१४} ॥
३१९. सव्वा वयणविसोही, निज्जुत्ती जा उ वक्कमुद्धोए ।
सच्चैव^{१५} निरवसेसा, भासज्जाए^{१६} वि नायव्वा ॥
३२०. सेज्जा इरिया तह उग्गहे य तिण्हं पि छक्कनिक्खेवो ।
पिण्डे भासा वत्थे, पाए य चउक्कनिक्खेवो^{१७} ॥

पिण्डेसणाए निज्जुत्ती सम्मत्ता

३२१. दव्वे खेत्ते काले, भावे सेज्जा य जा तहि पगयं ।
केरिसिया सेज्जा खलु, संजयजोग त्ति नायव्वा ॥
३२२. 'तिविहा य'^{१८} दव्वसेज्जा, सच्चित्ताऽचित्तमीसगा चैव ।
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले 'कालो जहि जो उ'^{१९} ॥

१. पंचहं राम० (ब,म) ।

२. सहस्साण (अ) ।

३. अट्टारगस्स निप्फत्ती (अ,क) । चूर्णि में इस गाथा का संकेत न होने पर भी व्याख्या प्राप्त है ।

४. आतिक्खेजं (चू) ।

५. चैव रक्खणट्ठाए (चू) ।

६. तो (ब) ।

७. होइ (ब,म) ।

८. वीय० (म) ।

९. इव (टी) ।

१०. यह गाथा चूर्णि में निर्दिष्ट और व्याख्यात नहीं है ।

११. निजुत्ती (ब) ।

१२. सव्वे वा (अ) ।

१३. अग्ग० (अ,म) ।

१४. सव्वेव (अ), सच्चैव (ब), सा चैव (म) ।

१५. सव्वे वि (म,ब) ।

१६. भासज्जायाण (अ) ।

१७. चउक्कगं जाण (अ), ३१८ से ३२० इन तीन गाथाओं की टीकाकार ने कोई व्याख्या नहीं की है । केवल 'सर्वा पिण्डनिर्मुक्तिरत्र भणनी-येति' मात्र इतना उल्लेख किया है । इन तीनों गाथाओं का संकेत चूर्णि में नहीं है ।

१८. तिविहाओ (अ) ।

१९. जा जम्मि कालम्मि (म) ।

३२३. उक्कल कलिंग मोतम, वग्गुमती^१ चेव होइ नायव्वा^२ ।
एयं तु उदाहरणं, नायव्व दव्वसेज्जाए ॥
३२४. दुविहा य भावसेज्जा, कायगते छव्विहे य भावम्मि ।
भावे जो^३ जत्थ जया, सुह-दुहग्गभादिसेज्जासु ॥
३२५. सव्वे वि य सेज्जविसोहिकारगा तह वि अत्थि^४ उ विसेसो ।
उद्देसे उद्देसे, बोच्छामि समासओ किंचि ॥
३२६. उग्गमदोसा पढमिल्लुग्गम्मि संसत्त पच्चव्वाया य ।
बीयम्मि सोयवादी, बहुविहसेज्जाविवेगां^५ य^६ ॥
३२७. ततिए जयंतछलणा^७, सज्झायस्सऽणुवरोहि जइयव्वं ।
समविसमादीएसु य, समणेणं^८ निज्जरट्ठाए ॥
सेज्जेसणाए निज्जुत्तो सम्मत्ता

३२८. नामं ठवणाहरिया, दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।
एसो खलु हरियाए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥
३२९. दव्वहरियाओ^९ तिविहा, सच्चित्ताऽचित्तमीसगा^{१०} चेव ।
खेत्तम्मि जम्मि^{११} खेत्ते, काले कालो जहि 'जो उ'^{१२} ॥
३३०. भावहरियाओ^{१३} दुविहा, चरणरिया^{१४} चेव संजमरिया^{१५} य ।
समणस्स कहं^{१६} गमणं, निहोसं होति परिसुद्धं ? ॥
३३१. आलंबणे य काले, मग्गे जयणाय^{१७} चेव परिसुद्धं ।
भंगेहि 'सोलसविघं, जं परिसुद्धं'^{१८} पसत्थं तु ॥
३३२. षडकारणपरिसुद्धं, 'अहवा वी'^{१९} होज्ज^{२०} कारणज्जाए ।
आलंबणजयणाए, सुद्धं^{२१} मग्गे य जइयव्वं ॥

१. वल्लम० (अ) ।

२. बोधव्वा (अ) ।

३. जे (अ) ।

४. त्थि (अ) ।

५. ०विहे सिज्जा (म), ०विवागो (अ) ।

६. उ (म) ।

७. ०छल्लिगा (अ) ।

८. समणाणं (म,क) ।

९. सच्चित्ता० (टी) ।

१०. तम्मि (अ) ।

११. होइ (टी), होउ (अ) ३२९-३५ तक की
गाथाओं की व्याख्या चूणि में व्युत्क्रम से है ।

चूणि में पहले उद्देशकाधिकार वाली गाथाएं हैं
तथा बाद में अध्ययन के विषयवस्तु वाली
गाथाओं की व्याख्या है । हमने टीका के क्रम
को स्वीकृत किया है ।

१२. चरणगई (म,क) ।

१३. ०मगई (म,क) ।

१४. कहि (म,क) ।

१५. ०जयणाइ (क,टी), ०णाए (म) ।

१६. सोलसंगं परिसुद्धं विहं जं (अ) ।

१७. अहवा वि (टी) ।

१८. होति (अ) ।

१९. काले (म,क,टी) ।

३३३. 'सब्बे वि ईरिय'^१ विसोहिकारगा तह वि अत्थि उ विसेसो ।
उद्देसे उद्देसे, वोच्छामि जहक्कमं^२ किंचि ॥
३३४. पढमे उवागमण^३ निग्गसो य अद्धान नावजयणा य ।
बितीए^४ 'आरूढ छलण'^५, जंघासंतार पुच्छा य ॥
३३५. ततियम्मि अदावणया^६, अप्पडिबंघो^७ य होइ उवहिम्मि ।
वज्जेयव्वं च सया, संसारिगरायगिहगमणं^८ ॥
३३६. जह वक्कं तह भासा, जाए छक्कं तु^९ होति नायव्वं ।
उप्पत्तीए तह पज्जवंतरे जायगहणे य^{१०} ॥

ईरिएसणाए निज्जुत्ती सम्मत्ता

३३७. सब्बे वि य^{११} वयणविसोहिकारगा तह वि अत्थि उ विसेसो ।
वयणविभत्ती पढमे, उप्पत्ती^{१२} वज्जणा बीए ॥

भासउजायस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

३३८. पढमे गहणं बीए, धरणं^{१३} पगयं तु दव्ववत्थेणं ।
एमेव होइ पायं, भावे 'पायं तु'^{१४} गुणधारी ॥

वत्थ-पाएसणाए निज्जुत्ती सम्मत्ता

३३९. दब्बे खेत्ते काले, भावे वि य उग्गहो चउद्धा उ ।
देविद-राय-उग्गह-गिहवइ^{१५}-सागारि^{१६}-साहम्मि^{१७} ॥
३४०. दव्वुग्गहो उ तिविहो, सच्चित्ताऽचित्तमीसगा^{१८} चेव ।
खेत्तुग्गहो वि तिविहो, दुविहो कालुग्गहो होति ॥
३४१. मइउग्गहे य गहणुग्गहे य भावुग्गहो दुहा होति ।
इंदिय-नोइंदिय अत्थवंजणे उग्गहे दसहा ॥

१. सब्बे य इरिय० (म,क) सब्बेविरिय० (चु) ।

२. समासतो (अ), समासओ (म,क) ।

३. य उवागम (म,क,अ) ।

४. बीतीए (अ) ।

५. आरूढछलं (अ) ।

६. अदावण० (अ) ।

७. ०डिबंके (अ) ।

८. रायगिहवइसु (अ) ।

९. च (म,क,टी) ।

१०. वि (म,क), ३३६, ३३७ ये दोनों गाथाएं
चूणि में निर्दिष्ट नहीं हैं ।

११. उ (अ) ।

१२. उप्पत्ति य (अ) ।

१३. वरणं (अ) ।

१४. वा गयं (अ) ।

१५. गह ० (म,अ) ।

१६. सागार (अ) ।

१७. ३३९-४२ तक की गाथाओं का भावार्थ
चूणि में है किन्तु ये गाथा रूप में निर्दिष्ट
नहीं हैं ।

१८. सचित्ताचित्तमीसओ (टी,क), सचित्ता० (अ) ।

३४२. गहणुग्गहम्मि^१ अपरिग्गहस्स समणस्स गहणपरिणामो ।
कहं पाडिहारिग्गमपाडिहारिए^२ होइ जइयव्वं ॥

उग्गहपडिमाए निज्जुत्तो सम्मत्ता

३४३. सत्तेक्कगाणि एक्कसरगाणि^३ पुव्वभणियं तहि ठाणं^४ ।
उद्धट्ठाणे पगयं, निसीहियाए तहि छक्कं^५ ॥

३४४. उच्चवद्व सरीराओ, उच्चारो पसवइ^६ त्ति पासवणं ।
तं कहं^७ आयरमाणस्स होइ सोही 'न अनियारो'^८ ॥

३४५. मुणिणा छक्कायदयावरेण, सुत्तभणियम्मि ओगासे ।
उच्चारविउत्सग्गो, कायव्वो अप्पमत्तेणं^९ ॥

३४६. दव्वं संठाणादी, भावो वण्ण कसिणं सभावो य ।
दव्वं सहपरिणयं, भावो उ^{१०} गुणा य कित्ती य^{११} ॥

३४७. छक्कं परएक्कैक्कं^{१२}, 'तदन्न-आदेस'^{१३}-कम-बहु-पहाणे^{१४} ।
अन्ते छक्कं तं पुण, तदन्नमादेसतो चेव ॥

३४८. जयमाणस्स परो जं, करेति तत्थ जयणा य अहिगारो ।
निप्पडिकम्मस्स^{१५} उ अन्नमन्नकरणं अजुत्तं तु^{१६} ॥

सत्तिक्काणं निज्जुत्तो सम्मत्ता

३४९. दव्वं गंधंग-तिलाइएसु, सीउण्ह-विसहणादीसु ।
भावम्मि होइ दुविहा, पसत्थ तह अप्पसत्था य ॥

३५०. पाणवह^{१७}-मुसावाए, अदत्त^{१८}-मेहुण-परिग्गहे चेव ।
कोहे माणे माया, लोभे य 'हवन्ति अपसत्था'^{१९} ॥

१. गहणेग्गहम्मि (अ) ।
२. ०हारियाऽपाडि ० (टी) ।
३. इक्कस्सर ० (टी) ।
४. ठाण के लिए देखें आनि गा. १८५ ।
५. ३४३, ३४४ इन दो गाथाओं का चूर्णि में संकेत नहीं है पर व्याख्या है ।
६. पास ० (अ) ।
७. किह (अ) ।
८. णईयारो (अ), न अती ० (म, क) ।
९. चूर्णि में 'उच्चये' उल्लेख के साथ इस गाथा का संकेत दिया है ।
१०. य (अ) ।

११. मुद्रित टीका में यह गाथा दो बार प्रकाशित है । ३२३, ३२४ (आटी पृ २७५, २७६) में यह पुनरुक्त हुई है ।
१२. पारए ० (अ), परइक्कैक्कं (टी) ।
१३. ०न्नमाएस (म, अ, टी) ।
१४. पमाणो (अ) ।
१५. तप्पडि ० (अ) ।
१६. ३४६-४८ तक की तीन गाथाओं का चूर्णि में निर्देश नहीं है किंतु संक्षिप्त व्याख्या है ।
१७. पाणि ० (टी) ।
१८. अदिन्न (अ) ।
१९. हवन्ति अपसत्था य (अ) ।

३५१. दंसण-नाण-चरित्ते, तव-वेरम्मे य होइ उ पसत्था ।
जा^१य जहा 'ता य'^२ तहा, लक्खण वोच्छं सलक्खणतो ॥
३५२. तित्थगराण^३ भगवओ, पवयण-पावयणि अइसइड्ढीण^४ ।
अभिगमण गमिय^५ दरिसण, -कित्तण संपूयणा^६ थुणणा ॥
३५३. जम्माभिसेग निक्खमण, -चरण-नाणुप्पया^७ य निब्बाने^८ ।
दियल्लोग^९ मंदर^{१०} नंदीसार धोमनगणेतु ॥
३५४. अट्ठावयमुज्जिते, गयरगपयए य धम्मचक्के य ।
पासरहावत्तनगं^{११}, चमरुप्पायं च वंदामि ॥
३५५. गणियं निमित्त^{१२} जुत्ती, संदिट्ठी^{१३} अकितहं इमं नाणं ।
इय एगंतमुवगया^{१४}, गुणपच्चइया^{१५} इमे अत्था ॥
३५६. गुणमाहप्पं इसिनामकित्तणं सुर-नरिदपूया य ।
पोराणचेइयाणि^{१६} य, इति^{१७} एसा दंसणे होति^{१८} ॥ दारं ॥
३५७. तत्तं जीवाजीवा, नायव्वा जाणणा इहं दिट्ठा ।
इह कज्ज-करण^{१९} कारगसिद्धी इह बंधमोक्खे य^{२०} ॥
३५८. बद्धो य बंधहेऊ, बंधण बंधप्फलं^{२१} सुकहियं तु^{२२} ।
संसारपवंचो वि य, इहयं^{२३} कहिओ जिणवरेहि ॥
३५९. नाणं भविस्सई^{२४} एवमाइगा वायणाइयाओ^{२५} य ।
सज्झाए आउत्तो^{२६} गुरुकुलवासे य इति^{२७} नाणो^{२८} ॥

१. जो (म) ।

२. तासि (अ) ।

३. ०राणं (चू) ।

४. अइसयड्ढीणं (अ) ।

५. गमण-नमण (टी) ।

६. तु पूयणा (म) ।

७. ०प्पिया (म) ।

८. ०व्वाणं (अ) ।

९. मंदिर (म, क) ।

१०. ०रहावत्तं विय (अ), ०वत्तं विय (क) ।

११. निमित्तं (अ) ।

१२. संदिट्ठं (अ) ।

१३. एगंतमणु ० (अ) ।

१४. ०पच्चइया (म) ।

१५. ०चेइयाण (क) ।

१६. इय (टी), इह (क, म) ।

१७. यह गाथा चूर्णि में निर्दिष्ट नहीं है ।

१८. कारण (अ) ।

१९. ३५७-३५९ तक की गाथाओं की चूर्णि में संक्षिप्त व्याख्या प्राप्त है ।

२०. बंधफलं (क, अ) ।

२१. च (अ) ।

२२. इहइं (क), इहइ (म) ।

२३. ०स्सति (अ) ।

२४. वाइणा० (म) ।

२५. आउज्झो (अ) ।

२६. इय (टी) ।

२७. नाणी (म) ।

३६०. 'साधु अहिंसाधम्मो,'^१ सच्चमदत्तविरई 'य बंभं'^२ च ।
साहु परिगहविरई, साहु तवो बारसंगे य ॥
३६१. वेरगमप्पमाओ, एगगे^३ भावणा य परिसंगं ।
इति^४ चरणभणुगयाओ,^५ भणिया एत्तो तवो वोच्छं^६ ॥
३६२. किह मे 'होज्ज अवंभो',^७ दिवसो ? कि वा पभू तवं काउं ।
को इह दब्बे जोगो, खेत्ते काले समय-भावे ॥
३६३. उच्छाहपालणाए,^८ ईई^९ तवे संजमे य संघयणे ।
वेरगेऽणिच्चादी, होइ चरित्ते इहं पगयं ॥
- भावणज्झयणस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता**
३६४. अणिच्चे पक्वए रूपे,^{१०} भुयगस्स तहा^{११} महासमुद्दे य^{१२} ।
एते खलु अहिगारा, अज्झयणम्मो विमुत्तीए^{१३} ॥
३६५. जो चेव होति भोक्खो, सा उ विमुत्ति^{१४} पगयं तु भावेण^{१५} ।
देसविमुक्का साहु, सब्बविमुक्का भवे सिद्धा ॥
३६६. आयारस्स भगवतो, चउत्थचूलाइ एस^{१६} निज्जुत्ती ।
पंचमचूलनिसीहं, तस्स य उव्वरि भणीहामि^{१७} ॥
- विमुत्तीए निज्जुत्ती सम्मत्ता**
३६७. सत्तहिं छहिं चउचउहि, य पंचहि अट्ठट्ठ चउहि नायब्बा ।
उद्देसेहि^{१८} पढमे, सुयखंघे नव य अज्झयणा ॥

१. साहुमहिं ० (टी) ।

२. अवंभं (अ) ।

३. एगत्ता (म, टी), एगंत (अ) ।

४. इय (टी, म) ।

५. ०मणुवमया (आटीपा) ।

६. यह गाथा चूणि में व्याख्यात है पर गाथा रूप में इसका संकेत नहीं है ।

७. हविज्जज्जंभो (टी) ।

८. ओच्छाह ० (चू) ।

९. इति (एव) (टी) ।

१०. कप्पे (म) ।

११. तथा (क) ।

१२. या (अ) ।

१३. विमुत्ताए (अ) ।

१४. विमुत्ती (म) ।

१५. भावविमुत्तीए (म, क) ।

१६. एसा (म) ।

१७. भणीहामो (म), क प्रति में यह गाथा नहीं है तथा म और अ प्रति में यह सबसे अन्तिम में है । इसके पहले ३६७, ३६८ क्रमांक की गाथाएं हैं ।

१८. उद्देसेहि (टी) ।

३६८. एक्कारस ति ति दो दो, दो दो उद्देसएहि नायव्वा ।
सत्त य अट्ठय नवमा, इक्कसरा होंति अज्झयणा^१ ॥

आयारस्स निज्जुली सम्मत्ता

१. मंथी हारिषद्रीय टीका में इन दोनों गायों का संकेत देने वाली संग्रह गायी मिलती है । परन्तु उसके अध्ययन के उद्देशकों की संख्या में भिन्नता है—

‘सत्त य छच्चउ चउरो छ
पञ्च अट्ठेव सत्त चउरो य ।
एक्कार ति ति य दो दो
दो दो सत्तेक्क एक्को य ॥’

पहला अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

१. सभी सिद्धों, तीर्थकरों तथा अनुयोगदायकों को वन्दना कर मैं आचारांग की निर्युक्ति का प्रतिपादन करूंगा ।

२. आचार, अंग, श्रुतस्कंध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, दिशा—इन सब के निक्षेप करने चाहिए ।

३. चरण और दिशा को छोड़कर सबके चार-चार निक्षेप होते हैं । चरण शब्द के छह तथा दिशा शब्द के सात निक्षेप होते हैं ।

४. जिस शब्द के जितने निक्षेप ज्ञात हों उसके वे सभी निक्षेप करने चाहिए । जिसके सभी निक्षेप ज्ञात न हों, वहाँ चार निक्षेप—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—अवश्य करने चाहिए ।

५. 'आचार' तथा 'अंग' का वर्णन किया जा चुका है । इनके चार-चार निक्षेप होते हैं । भावाचार के निक्षेप भिन्न हैं । उनका नानात्व मैं बताऊंगा ।

६. भावाचार के एकार्थक शब्द, उसका प्रवर्तन, उसकी प्रथमाङ्गता, गणिस्थान, परिमाण, समवतार तथा सार—इन सात द्वारों से उसका नानात्व है ।

७. आचार, आचार्य, आगाल, आकर, आश्वास, आदर्श, अंग, आचीर्ण, आज्ञाति तथा आमोक्ष—ये भावाचार के एकार्थक हैं ।

८. सभी तीर्थकरों के तीर्थ-प्रवर्तन के समय पहले आचार (आचारांग) का प्रवर्तन होता है । शेष ग्यारह अंगों का प्रणयन क्रमशः होता है ।

९. बारह अंगों (द्वादशांगी) में 'आचार' प्रथम अंग है । इसमें मोक्ष का उपाय—चरण करण का निरूपण है और यह प्रवचन का सार है ।

१०. 'आचार' को पढ़ लेने पर सारा धमण-धर्म परिज्ञात हो जाता है । इसलिए 'आचारधर' को पहला गणिस्थान कहा जाता है ।

११. इस आचार (ग्रंथ) के ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन हैं । इसके अठारह हजार पद हैं । (इससे हेयोपादेय जाना जाता है इसलिए) यह वेद है । इसकी पाँच चूलिकाएँ हैं । पद-परिमाण से यह बहुत बहूतर है ।

१२-१४. आचाराग्र अर्थात् चूलिकाओं के अर्थ का समवतार नौ ब्रह्मचर्य (आचारांग) के अध्ययनों में होता है । उनका पिहितार्थ शस्त्र-परिज्ञा में समवतरित होता है । शस्त्र-परिज्ञा का अर्थ षड्जीवनिकाय में तथा षड्जीवनिकाय का अर्थ पाँच व्रतों (महाव्रतों) में समवतरित होता है । पाँच महाव्रतों का समवतार धर्मास्तिकाय आदि समस्त द्रव्यों में तथा समस्त पर्यायों के अनन्तवें भाग में होता है ।

१. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १५४-६२ ।

२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १४४-५८ ।

३. चार चूलिकात्मक द्वितीय श्रुतस्कंध के प्रक्षेप

से बहू (पद-परिमाण वाला) ।

४. पाँचवीं चूलिका—निषीध के प्रक्षेप से बहूतर (पद-परिमाण वाला) ।

१५. पाचों महाव्रतों का सभी द्रव्यों में अवतरण होता है। जैसे—पहले महाव्रत में षड्जीवनिकाय का, दूसरे तथा पाँचवें महाव्रत में सभी द्रव्य तथा तीसरे और चौथे महाव्रत में द्रव्यों के एकदेश का समवतरण होता है।

१६, १७. वंशों का सार क्या है? वह है आचार। उसका सार क्या है? वह है अनुयोगार्थ—व्याख्यानभूत अर्थ। उसका सार है—प्ररूपणा। प्ररूपणा का सार है—चारित्र्य। उसका सार है—निर्वाण और निर्वाण का सार है—अव्याबाध (सुख)—ऐसा जिन भगवान् कहते हैं।

१८. ब्रह्म शब्द के नाम, स्थापना आदि चार निक्षेप होते हैं। स्थापना निक्षेप में ब्राह्मण की उत्पत्ति कही जाती है। उसी प्रसंग में सात वर्णों तथा नौ वर्णान्तरों की उत्पत्ति कथनीय है।

१९. पहले मनुष्य जाति एक थी। ऋषभ के राजा बनने के पश्चात् मनुष्य जाति दो भागों में विभक्त हुई—क्षत्रिय और शूद्र। शिल्प और वाणिज्य का प्रवर्त्तन होने पर उसके तीन भाग हो गए—क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य। (भगवान् के केवलज्ञान के पश्चात्) श्रावक-धर्म का प्रवर्त्तन होने पर मनुष्य जाति चार भागों में बंट गई—क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य और ब्राह्मण अथवा श्रावक।

२०. इन चारों के संयोग से सोलह वर्णों की उत्पत्ति हुई। उनमें सात वर्ण और नौ वर्णान्तर हैं। वर्ण और वर्णान्तर ये दोनों विकल्प स्थापना ब्रह्म के जानने चाहिए।

२१. मूल चार प्रकृतियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के अनन्तर योग से सात वर्ण (४+३) उत्पन्न होते हैं।^१ अनन्तर योग से उत्पन्न होने वालों में चरम वर्ण का व्यवधान होता है।^२

२२. नौ वर्णान्तर ये हैं—अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, अयोगव, मागध, सूत, क्षत्त, वैदेह और चाण्डाल। (इनकी उत्पत्ति इस प्रकार है—)

२३-२५. ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से अम्बष्ठ, क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से उग्र, ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से निषाद अथवा पारासर या परासर, शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से अयोगव, वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से मागध, क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से सूत, शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से क्षत्त, वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से वैदेह तथा शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से चाण्डाल की उत्पत्ति होती है।

२६, २७. वर्णान्तरों के संयोग से उत्पन्न जातियाँ—उग्र पुरुष और क्षत्त स्त्री से उत्पन्न जाति श्वपाक, वैदेह पुरुष और क्षत्त स्त्री से उत्पन्न जाति वैणव, निषाद पुरुष और अम्बष्ठ स्त्री अथवा शूद्र स्त्री से उत्पन्न जाति बुकस तथा शूद्र पुरुष और निषाद स्त्री से उत्पन्न जाति कुक्कुरक कहलाती है। अन्य प्रकार से जातियों के ये चार भेद भी जान लेने चाहिए।

१. सात वर्ण—देखें, श्लोक २१।

२. नौ वर्णान्तर—देखें, श्लोक २२।

३. (१) द्विज पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न,
(२) क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न
तथा (३) वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से

उत्पन्न—ये अनन्तर योग से तीन वर्ण उत्पन्न होते हैं।

४. जैसे—ब्राह्मण पुरुष से क्षत्रिय स्त्री में उत्पन्न क्षत्रिय होगा।

२८. शरीर, भव्यशरीर तथा तद्ध्यतिरिक्त अज्ञानियों का वस्तिनिरोध द्रव्य ब्रह्मचर्य है, यह संयम ही है। साधुओं का वस्तिसंयम भाव ब्रह्मचर्य है। (इसके अठारह प्रकार हैं।^१)

२९. चरण शब्द के छह निक्षेप होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, क्षेत्र और काल। द्रव्य चरण के तीन प्रकार हैं—गति, आहार और गुण। जिस क्षेत्र में गति, आहार आदि किया जाता है, वह क्षेत्रचरण है। जिस काल में गति, आहार आदि का आचरण या व्याख्या की जाती है, वह कालचरण है।

३०. भावचरण तीन प्रकार का है—१. गति भावचरण—साधु का ईर्यासमितिपूर्वक चसना, २. भक्षण भावचरण—शुद्ध पिंडैषणापूर्वक आहार करना ३. गुण भावचरण। गुण भावचरण दो प्रकार का है—प्रशस्त तथा अप्रशस्त। आचारांग के नौ अध्ययन प्रशस्त गुण भावचरण हैं।

३१-३४. आचार के नौ अध्ययन तथा उनका विषय इस प्रकार है—

१. शस्त्रपरिज्ञा—जीवसंयम का निरूपण।
 २. लोकविचय—कर्मबंध तथा कर्मभुक्ति की प्रक्रिया का अवबोध।
 ३. शीतोष्णोप—सुख-दुःख की तितिक्षा का अवबोध।
 ४. सम्यक्त्व—सम्यक्त्व की दृढ़ता का अवबोध।
 ५. लोकसार—रत्नत्रयी से युक्त होने की प्रक्रिया।
 ६. धृत—निस्संगता का अवबोध।
 ७. महापरिज्ञा—मोह से उद्भूत परीषह और उपसर्गों को सहने की विधि।
 ८. विमोक्ष—निर्याण अर्थात् अन्तःक्रिया की आराधना।
 ९. उपधानश्रुत—आठ अध्ययनों में प्रतिपादित अर्थों का महावीर द्वारा अनुपालन।
- ये नौ अध्ययन आचार कहलाते हैं तथा शेष (आचारचूला) अध्ययन आचाराग्र कहलाते हैं।

३५. प्रथम अध्ययन—शस्त्रपरिज्ञा के सात उद्देशक हैं—प्रथम उद्देशक में जीव के अस्तित्व का प्रतिपादन तथा शेष छह उद्देशकों में षड्जीवनिकाय की प्ररूपणा, जीववध से कर्मबंध का निरूपण तथा विरति का प्रतिपादन है।

३६. शस्त्र के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य शस्त्र हैं—खड्ग, अग्नि, विष, स्नेह, अम्लता, क्षार, लवण आदि। भावशस्त्र हैं—दुष्प्रयुक्त भाव—अन्तःकरण, वाणी और काया की अविरति।

३७. परिज्ञा शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य परिज्ञा के मुख्य दो प्रकार हैं—ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। व्यतिरिक्त द्रव्य प्रत्याख्यान परिज्ञा है—शरीर और उपकरण का परिज्ञान। भावपरिज्ञा के भी दो प्रकार हैं—ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा।

१. आटी, पृ० ६ :

दिभ्यात् कामरतिसुखात्,

त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।

औदारिकादपि तथा,

तत् ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥

३८. संज्ञा के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्य संज्ञा है—सचित्त आदि । भाव संज्ञा के दो प्रकार हैं—अनुभवसंज्ञा तथा ज्ञानसंज्ञा । मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान ज्ञान संज्ञाएं हैं ।^१ अनुभवसंज्ञा अपने किए हुए कर्मों के उदय से उत्पन्न होती है ।

३९. अनुभव संज्ञा के सोलह प्रकार हैं—१. आहारसंज्ञा, २. भयसंज्ञा, ३. परिग्रहसंज्ञा, ४. मैथुनसंज्ञा, ५. सुखसंज्ञा, ६. दुःखसंज्ञा, ७. मोहसंज्ञा, ८. विचिकित्सा संज्ञा^२, ९. क्रोधसंज्ञा, १०. मानसंज्ञा, ११. मायासंज्ञा, १२. लोभसंज्ञा, १३. शोकसंज्ञा, १४. लोकसंज्ञा^३, १५. धर्मसंज्ञा, १६. ओषसंज्ञा^४ ।

४०. दिशा शब्द के सात निक्षेप ज्ञातव्य हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, ताप, प्रज्ञापक तथा भाव ।

४१. द्रव्यदिग् तेरह प्रदेशात्मक होती है तथा तेरह आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ होती है । जो द्रव्य दश दिशाओं के उत्थान का कारण है, वह द्रव्यदिशा है ।

४२. तिर्यग् लोक के मध्य में अष्ट प्रदेशात्मक रुचक प्रदेश हैं ।^५ वे ही दिशाओं और अनुदिशाओं के उत्पत्ति-स्थल हैं ।

४३. ऐन्द्री (पूर्व), आग्नेयी, धाम्या (दक्षिण), नैऋती, वारुणी (पश्चिम), वायव्या, सोमा (उत्तर), ईशानी, विमला (ऊर्ध्व), तमा (अधः)—ये दश दिशाएं हैं ।

४४. विप्रदेशात्मिका चार महादिशाएं दो-दो प्रदेशों की वृद्धिसहित होती हैं ।^६ चार विदिशाएं एक प्रदेशात्मिका होती हैं और वृद्धिरहित होती हैं । ऊर्ध्व और अधः—ये दो दिशाएं चार आकाश प्रदेशात्मिका होती हैं । ये भी वृद्धिरहित होती हैं ।

४५. सभी दिशाएं मध्य में आवि-सहित हैं तथा बाह्यपार्श्व में अपर्यवसित—अन्तरहित हैं । (बाह्य भाग में अलोकाकाश के आश्रय से अपर्यवसित हैं । सब दिशाएं उत्कृष्टतः अनन्त प्रदेशात्मिका हैं । सभी दिशाओं की आगमिक संज्ञा कञ्जुम्म^७ (कृतयुग्म) है ।

४६. चार महादिशाएं शकटोद्धि के संस्थान वाली होती हैं । चार विदिशाएं मुक्तावलि के आकार वाली तथा ऊंची और नीची—ये दो दिशाएं रुचक के समान आकार वाली होती हैं ।

१. मननं मतिः—अवबोधः, सा च मतिज्ञानादि पञ्चधा । तत्र केवलसंज्ञा ध्यायिकी, शेषास्तु सायोपशमिवयः । (आटी पृ ८)

२. चित्तविष्णुति ।

३. लौकिक आचार-व्यवहार ।

४. अव्यक्त उपयोग—कहलरी का वृक्ष पर चढ़ना ।

५. तिर्यक्लोक के मध्य में रत्नप्रभापृथिवी के ऊपर बहुमध्यदेश भाग में मेरु पर्वत के अन्तर दो सर्व क्षुल्लक प्रतर हैं । उनके ऊपर तथा नीचे चार-चार प्रदेश हैं । यह आठ आकाश-

प्रदेशात्मक चतुष्कोण रुचक प्रदेश हैं ।

६. मेरु के मध्य अष्टप्रदेशी रुचक हैं । वहां चार दिशाओं में से प्रत्येक दिशा के प्रारंभ में दो-दो प्रदेश निकलते हैं, फिर चार-चार, छह-छह, आठ-आठ—इस प्रकार दो-दो के क्रम से उनकी वृद्धि होती जाती है ।

७. आटीपृ ९ : सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्ककेनापह्नियमाणाश्चतुष्कावशेषा भवन्तीति कृत्वा, तत्प्रदेशात्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया कञ्जुम्मत्ति शब्देनाभिधीयन्ते ।

४७, ४८. जिस क्षेत्र में जिस ओर सूर्य उदित होता है, वह उस क्षेत्र के लिये पूर्व दिशा है और जिस ओर सूर्य अस्त होता है वह अपर दिशा—पश्चिम दिशा है। उसके दक्षिण पार्श्व में दक्षिण दिशा और उत्तर पार्श्व में उत्तर दिशा है। ये चारों दिशाएं सूर्य के आधार पर 'तापदिक' कहलाती हैं।

४९. जो मंदर पर्वत के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर में मनुष्य हैं, उन सबके उत्तर में मेरु है।

५०. सबके उत्तर में मेरु तथा दक्षिण में लवण है। सूर्य पूर्व में उदित होता है और पश्चिम में अस्त होता है।

५१-५८. कोई प्रज्ञापक जहां कहीं स्थित होकर दिशाओं के आधार पर किसी को निर्मित (ज्योतिष) का वर्णन करता है, वह जिस ओर अभिमुख है, वह पूर्व दिशा है। उसकी पीठ के पीछे वाली दिशा पश्चिम है। उसके दक्षिण पार्श्व में दक्षिण दिशा और बाईं ओर उत्तर दिशा है। इन चार दिशाओं के अन्तराल में चार विदिशाएं हैं। इन आठ दिशाओं के अन्तर में आठ अन्य दिशाएं हैं। इन सोलह तिर्यग् दिशाओं का पिण्ड शरीर की ऊंचाई के परिमाण वाला है। पाद-तल के नीचे अधोदिशा तथा मस्तक के ऊपर ऊर्ध्वदिशा है। ये अठारह प्रज्ञापक दिशाएं हैं। इन प्रकल्पित अठारह दिशाओं के नाम यथाक्रम से मैं कहूंगा—पूर्व, पूर्व दक्षिण, दक्षिण, दक्षिण पश्चिम, पश्चिम, पश्चिम उत्तर, उत्तर, पूर्व उत्तर, सामुत्थानी, कपिला, खेलिज्जा, अभिधर्मा, पर्याधर्मा, सावित्री, प्रज्ञापनी, नीचे नीरयिकों की अधोदिशा तथा देवताओं की ऊर्ध्वदिशा—ये सारे प्रज्ञापक दिशाओं के नाम हैं।

५९. सोलह तिर्यग् दिशाएं शकटोर्द्ध संस्थान वाली हैं। ऊंची और नीची—ये दो दिशाएं सीधे और ओंछे मुंह रखे हुए शरावों के आकार वाली हैं (शिरोमूल और पादमूल में संकरी तथा आगे विशाल)।

६०. भावदिशाएं अठारह हैं—

चार प्रकार के मनुष्य—सम्पूच्छनज, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज तथा अन्तरद्वीपज।

चार प्रकार के तिर्यक्—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय।

चार प्रकार के काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय तथा वायुकाय।

चार प्रकार के अणुबीज—अणुबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज तथा पर्वबीज।

एक नारकों की दिशा तथा एक देवताओं की दिशा।

६१, ६२. प्रज्ञापक दिशाएं अठारह हैं तथा भाव दिशाएं भी अठारह हैं। एक-एक प्रज्ञापक दिशा को अठारह भावदिशाओं से गुणन करने पर (१८×१८) तीन सौ चोबीस दिशाएं होती हैं। प्रस्तुत प्रसंग में प्रज्ञापक दिशाओं का अधिकार है। जीव और पुद्गलों की इन दिशाओं में गति और आगति होती है।

६३. कुछेक जीवों में ज्ञानसंज्ञा होती है और कुछेक में नहीं होती। वे नहीं जानते—मैं पूर्व जन्म में क्या था तथा मैं किस दिशा (जन्म) से आया हूँ?

६४. प्राणी तीन हेतुओं से जीव तथा जीवनिकायों को जानता है—१. अपनी मति से, अपनी स्मृति से। २. तीर्थंकरों द्वारा प्रज्ञप्त वचन सुनकर। ३. अन्य (आप्त के अतिरिक्त) अतिशय-ज्ञानियों के पास सुनकर।

६५. प्रस्तुत प्रसंग में 'सह सम्मुद्घ' पद से ज्ञान का ग्रहण किया गया है। जानने वाले चार ज्ञान हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान तथा जातिस्मरणज्ञान।

६६. परवचन व्याकरण का तात्पर्य है—जिनेश्वर द्वारा व्याकृत—भाषित। जिनेश्वर से 'पर—उत्कृष्ट'—कोई और नहीं होता। 'दूसरों के पास सुनकर' का तात्पर्य है—जिनेश्वर के अतिरिक्त सारे पर हैं—दूसरे हैं, उनसे सुनकर।

६७. मैने (कर्म बंधन की) क्रियाएं की हैं, करूंगा—इस प्रकार कर्मबंध की चिन्ता बार-बार होती है। कोई इसे सन्मति अथवा स्वमति से जान लेता है और कोई हेतु—युक्ति से जानता है।

६८. पृथ्वी के विषय में निक्षेप, प्ररूपणा, लक्षण, परिमाण, उपभोग, शस्त्र, वेदना, वध तथा निवृत्ति—इनका कथन करना चाहिए।

६९. पृथ्वी के चार निक्षेप हैं—नाम पृथ्वी, स्थापना पृथ्वी, द्रव्य पृथ्वी और भाव पृथ्वी।

७०. द्रव्य पृथ्वीजीव वह है जो भविष्य में पृथिवी का जीव होने वाला है, जिसके पृथ्वी का आयुष्य बंध गया है और जो पृथ्वी नाम-भोग के अधिमुख है। भावपृथ्वी जीव वह है, जो पृथ्वी नाम आदि कर्म का वेदन कर रहा है।

७१, ७२. पृथ्वी जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म पृथ्वीजीव समूचे लोक में तथा बादर पृथ्वी जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। बादर पृथ्वी जीवों के दो प्रकार हैं—श्लक्ष्ण बादर पृथ्वी और खर बादर पृथ्वी। श्लक्ष्ण बादर पृथ्वी पांच वर्ण वाली होती है—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल। खर बादर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं—

७३-७६. (१) पृथ्वी (२) शर्करा (३) बालुका (४) उपल (५) शिला (६) लवण (७) ऊष (८) लोह (९) ताम्र (१०) वपुष (११) शीशा (१२) चांदी (१३) स्वर्ण (१४) वज्र (१५) हस्तिना (१६) हिंगुलक (१७) मनःशिला (१८) शस्यक (१९) अंजन (२०) प्रवाल (२१) अम्र-पटल (२२) अम्रबालुक (२३) गोमेदक (२४) रुचक (२५) अंक (२६) स्फटिक (२७) लोहिताक्ष (२८) मरकत (२९) मसारगल्ल (३०) भुजमीचक (३१) इंद्रनील (३२) चंदन (३३) चन्द्रप्रभ (३४) वैद्यूर्य (३५) जलकांत (३६) सूर्यकान्त। ये खर बादर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं।^१

७७. वर्ण, रस, गंध तथा स्पर्श के भेद से पृथ्वी के अनेक भेद होते हैं। प्रत्येक के योनि-प्रमुख संख्येय हैं अर्थात् इनके एक-एक वर्ण आदि के भेद से अनेक सहस्र भेद होते हैं। (इसी के आधार पर पृथ्वी सप्तलक्षप्रमाण वाली होती है।)

७८. वर्ण आदि के प्रत्येक भेद में नानात्व होता है। इसी प्रकार गंध, रस और स्पर्श के भेदों में भी नानात्व होता है।

१. अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान अथवा जातिस्मृतिज्ञान।

२. दो श्लोकों (७३, ७४) में सामान्य पृथ्वी

के तथा दो श्लोकों (७५, ७६) में भणियों के भेदों का उल्लेख है।

७९. बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तक जीवों के जितने भेद हैं, उतने ही भेद अपर्याप्तक जीवों के हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव भी दो प्रकार के होते हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

८०. जैसे वनस्पति में वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, वलय आदि भेद पाए जाते हैं, वैसे ही पृथ्वी आदि में भी नानात्व है।

८१. जैसे वनस्पतिकाय में औषधि, तृण, शैवाल, पनक, कन्द, मूल आदि नानात्व दीखता है, वैसे ही पृथ्वीकाय में भी नानात्व है।

८२. पृथ्वीकाय के एक, दो, तीन अथवा संख्येय जीव दृग्गोचर नहीं होते। पृथ्वी का असंख्य जीवात्मक पिंड ही दृश्य होता है।

८३. इन असंख्येय शरीरों के कारण ही वे प्रत्यक्षरूप से प्ररूपित होते हैं। जो आँखों से दिखाई नहीं देते वे आज्ञाज्ञाह्य—श्रद्धा से मान्य होते हैं।

८४. पृथ्वीकायिक आदि जीवों के उपयोग, योग, अध्यवसाय, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अचक्षुदर्शन होता है। वे आठ कर्मों के उदय और बंधन से युक्त, लेश्या, संज्ञा, सूक्ष्म श्वास और निःश्वास से अनुगत तथा कषाययुक्त होते हैं।

८५. जैसे शरीरानुगत हड्डी सचेतन तथा खर कठिन होती है, वैसे ही जीवानुगत पृथ्वी-शरीर भी सचेतन तथा कठिन होता है।

८६. पृथ्वीकायिक जीव चार प्रकार के हैं—

(० बादरपृथ्वीकायिक के दो भेद—अपर्याप्त, पर्याप्त।

० सूक्ष्मपृथ्वीकायिक के दो भेद—अपर्याप्त, पर्याप्त।)

इनमें बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव लोक प्रतर के असंख्येय भाग मात्रवर्ती प्रदेशराशि प्रमाण वाले हैं। शेष तीन प्रकारों में प्रत्येक प्रकार असंख्येय लोक के आकाशप्रदेशराशि प्रमाण वाले हैं।

८७. जैसे कोई व्यक्ति प्रस्थ, कुडव, आदि साधनों से सारे धान्यों का परिमाण करता है वैसे ही लोक को कुडव बनाकर पृथ्वीकायिक जीवों का परिमाण करे तो वे जीव असंख्येय लोकों को भर सकते हैं।

८८. लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर यदि एक-एक पृथ्वीकायिक जीव को रखा जाए तो वे सारे जीव असंख्येय लोकों में समायेंगे।

८९. काल निपुण—सूक्ष्म होता है। क्षेत्र उससे भी निपुणतर—सूक्ष्मतर होता है क्योंकि अंगुलि-श्रेणिमात्र क्षेत्र प्रदेशों के अपहार में असंख्येय उत्सर्पिण्यां तथा अवसर्पिण्यां बीत जाती हैं।^१ (इसलिए काल से क्षेत्र सूक्ष्मतर होता है)।

९०. पृथ्वीकाय में जीव प्रतिसमय प्रवेश करते हैं और प्रतिसमय उससे निर्गमन करते हैं। (प्रस्तुत श्लोक में चार प्रश्न हैं)।

१. अंगुल प्रमाण आकाश में जितने आकाश प्रदेश हैं, उनमें से यदि एक-एक समय में एक-एक आकाश प्रदेश का अपहरण किया जाये तो

उस क्षेत्र को खाली होने में असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल बीत जाएगा। अतः काल से क्षेत्र सूक्ष्मतर है।

- (१) एक समय में पृथ्वीकाय से कितने जीवों का निष्क्रमण होता है ?
- (२) एक समय में पृथ्वीकाय से कितने जीवों का प्रवेश होता है ?
- (३) विवक्षित समय में पृथ्वीकाय में परिणत जीव कितने होते हैं ?
- (४) उनकी कायस्थिति कितनी है ?

प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है—

(१-२) एक समय में असंख्येय लोकाकाश प्रदेश परिमाण जीवों का निष्क्रमण और प्रवेश होता है ।

(३) पृथ्वीकाय में परिणत जीव असंख्येय लोकाकाश प्रदेश परिमाण हैं ।

(४) पृथ्वीकायिक जीव असंख्येय लोकाकाश प्रदेश परिमाण काल तक उसी योनि में उत्पन्न हो सकता है—यह उनकी कायस्थिति है ।

इस प्रकार क्षेत्र और काल की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीवों का परिमाण प्रतिपादित है ।

९१. जिस आकाशप्रदेश में एक बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तक जीव अवगाहन करता है उसी आकाश प्रदेश में दूसरा बादर पृथ्वीकायिक जीव का शरीर अवगाहन कर लेता है । यह परस्पर अवगाहन है । शेष अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीव पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीव की निष्क्रा में उत्पन्न होते हुए उसी आकाशप्रदेश का अवगाहन कर लेते हैं । सूक्ष्म पर्याप्तक और अपर्याप्तक पृथ्वीकायिक जीव सारे लोक का अवगाहन करते हैं ।

९२, ९३. पृथ्वीकाय के आधार पर होन वाला मनुष्यों की उपभोग-विधि इस प्रकार है—चक्रमण करना, खड़े होना, बैठना, सोना, कृतकरण, शौच जाना, मूत्र-विसर्जन करना, उपकरणों को रखना, आलेपन करना, ग्रहण करना, सजाना, क्रय-विक्रय करना, कृषि करना, पात्र आदि बनाना ।

९४. मनुष्य इन कारणों से पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं । वे अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख देते हैं ।

९५. (शस्त्र के दो प्रकार हैं—द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र । द्रव्यशस्त्र के दो प्रभेद हैं—समास द्रव्यशस्त्र और विभाग द्रव्यशस्त्र ।) हल, कुलिक, विष, कुद्दाल, आलिवक, मृगशृंग, काष्ठ-अग्नि, उच्चार तथा प्रस्रवण — ये समास — संक्षेप में द्रव्य शस्त्र हैं ।

९६. (विभाग द्रव्यशस्त्र) कुछ स्वकायशस्त्र होता है, कुछ परकायशस्त्र होता है और कुछ उभय—दोनों होता है । यह सारा द्रव्यशस्त्र है । भावशस्त्र है—असंयम ।

९७. पैर, जंघा, उरू आदि शरीर के अंग-प्रत्यंगों के छेदन-भेदन से मनुष्यों को दुःख होता है, पीड़ा होती है, वैसे ही पृथ्वीकाय के छेदन-भेदन से उसके जीवों को पीड़ा होती है ।

९८. यद्यपि पृथ्वीकायिक जीवों के अंगोपांग नहीं होते, फिर भी अंगोपांग के छेदन-भेदन तुल्य वेदना उनके होती है । (पृथ्वीकाय का समारंभ करने वाले पुरुष) पृथ्वीकाय के कुछेक जीवों के वेदना की उदीरणा करते हैं और कुछेक के प्राणों का अतिपात करते हैं ।

९९. कुछेक अपने आपको अनगार कहते हैं । किन्तु जिन गुणों में अनगार प्रवृत्ति करते हैं, उन गुणों में वे प्रवर्तित नहीं होते । जो पृथ्वी के जीवों की हिंसा करते हैं, वे वाग्मात्र से भी अनगार नहीं होते ।

१००. वे अनगारवादी—अपने आपको अनगार कहने वाले पृथ्वीकाय की हिंसा करते हैं। इसलिए वे निर्गुण हैं, गृहस्थ तुल्य हैं। वे अपने आपको निर्दोष मानते हैं इसलिए मलिन—कलुषित हृदय वाले हैं। वे विरति—संयम से घृणा करते हैं, इसलिए मलिनतर हैं।

१०१. कुछ व्यक्ति स्वयं पृथ्वीकाय का वध करते हैं, कुछ दूसरों से उसका वध करवाते हैं और कुछ वध करने वालों का अनुमोदन करते हैं।

१०२. जो पृथ्वीकाय का समारंभ—व्यापादन करता है वह अन्य जीविकाय का भी व्यापादन करता है। जो अकारण या सकारण पृथ्वी के जीवों का व्यापादन करता है वह दृश्य या अदृश्य जीवों का भी व्यापादन करता है।

१०३. पृथ्वी की हिंसा करने वाला व्यक्ति उस पृथ्वी के आश्रित रहने वाले सूक्ष्म या बादर, पर्याप्त या अपर्याप्त अनेक जीवों का हनन करता है।

१०४, १०५. यह जानकर जो मुनि पृथ्वीकायिक जीवों के व्यापादन से मन, वचन और काया से, कृत-कारित तथा अनुमति से यावज्जीवन के लिए उपरत होते हैं, वे तीन गुणधर्मों से गुप्त, सभी सम्भितियों से युक्त, संयत, यत्न करने वाले तथा सुविहित होते हैं। वे वास्तविक अनगार होते हैं।

१०६. जितने द्वार (प्रतिपादन के विषय) पृथ्वीकायिक के लिए कहे गये हैं, उतने ही द्वार अप्कायिक जीवों के लिए हैं। भेद केवल इन पाँच विषयों में है—विधान (प्ररूपणा), परिमाण, उपभोग, शस्त्र तथा लक्षण।

१०७, १०८. अप्काय के जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म समूचे लोक में तथा बादर लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। बादर अप्कायिक जीव पाँच प्रकार के हैं—१. शुद्धोदक, २. अवश्याय (ओस), ३. हिम, ४. महिका, ५. हरतनु।

१०९. बादर अप्कायिक पर्याप्तक जीवों का परिमाण है—संवर्तित लोक-प्रतर के असंख्येय भाग प्रदेश राशि प्रमाण। शेष तीनों—बादर अप्कायिक अपर्याप्तक, सूक्ष्म अप्कायिक पर्याप्तक तथा सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्तक पृथक्-पृथक् रूप से असंख्येय लोकाकाश प्रदेश राशि परिमाण जितने हैं।

११०. जैसे तत्काल उत्पन्न (सप्ताह पर्यन्त) कललावस्था प्राप्त हाथी का द्रव शरीर सचेतन होता है, जैसे तत्काल उत्पन्न अंडे का मध्यवर्ती उदक-रस सचेतन होता है, वैसे ही सारे अप्कायिक जीव भी सचेतन होते हैं। यही अप्कायिक जीवों की उपमा है।

१. तालाब, समुद्र, नदी आदि का पानी।
२. गर्भमासादिषु सामं प्रातर्वा भूमिकापातो महिका। (आटी पृ २७)
३. वर्षा तथा शरद ऋतु में हरिताकुरों पर स्थित जलबिन्दु।
४. विशेष यह है—बादर पृथ्वीकाय पर्याप्तक जीवों से बादर अप्काय पर्याप्तक जीव

असंख्येय गुना अधिक हैं। बादर पृथ्वीकाय अपर्याप्तक जीवों से बादर अप्कायिक अपर्याप्तक जीव असंख्येय गुना अधिक हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकाय अपर्याप्तक जीवों से सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्तक जीव विशेषाधिक हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकाय पर्याप्तक जीवों से सूक्ष्म अप्काय पर्याप्तक जीव विशेषाधिक हैं। आटी पृ २७।

१११. जीव निम्न कारणों से अप्काय का उपभोग करते हैं—स्नान करने, पीने, घोने, भोजन बनाने, सिंचन करने, यानपात्र तथा नौका में गमन-आगमन करने आदि-आदि में।

११२. इन्हीं कारणों से प्राणी अप्कायिक जीवों की हिंसा करते हैं। वे अपने सुख के लिए दूसरे जीवों के दुःखों की उद्दीरणा करते हैं, दुःख उत्पन्न करते हैं।

११३. उत्सेवन—कूप आदि से पानी निकालना, पानी को (सघन और चिकने वस्त्र से) छानना, वस्त्र, उपकरण, भात्र—संढक आदि धोना—ये सारे सामान्यरूप से बाहर अप्काय के शस्त्र हैं।

११४. अप्काय विषयक शस्त्र तीन प्रकार के हैं—

१. स्वकायशस्त्र—नदी का पानी तालाब के पानी के लिए शस्त्र है।

२. परकायशस्त्र—मृत्तिका, क्षार आदि।

३. उभयशस्त्र—उदकमिश्रित मिट्टी उदक के लिए शस्त्र है।

भावशस्त्र है—असंयम।

११५. अप्काय के शेष द्वार पृथ्वी की भांति ही जानने चाहिए। इस प्रकार अप्काय विषयक यह निर्युक्ति प्रतिपादित है।

११६. जितने द्वार पृथ्वीकायिक के लिए कहे गए हैं, उतने ही द्वार तेजस्कायिक जीवों के लिए हैं। भेद केवल पांच विषयों में है—विधान, परिमाण, उपभोग, शस्त्र तथा लक्षण।

११७, ११८. तेजस्काय के जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बाहर। सूक्ष्म सारे लोक में तथा बाहर लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। बाहर तेजस्काय के पांच प्रकार हैं—अंगार, अग्नि, अग्नि, ज्वाला तथा मुर्मुर।

११९. जैसे रात्रि में खद्योत ज्योति बिखेरता है, वह उसके शरीर का परिणाम—शक्ति विशेष है। इसी प्रकार अंगारे में भी प्रकाश आदि की जो शक्ति है, वह तेजस्कायिक जीव से आविर्भूत है। जैसे ज्वरित व्यक्ति की उष्मा सजीव शरीर में ही होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीवों में प्रकाश या उष्मा उनके शरीर की शक्ति विशेष है।

१२०. बाहर तेजस्कायिक पर्याप्तक जीव (क्षेत्र) पत्योपम के असंख्येय भाग मात्र प्रदेशराशि जितने परिमाण वाले हैं। तेजस्कायिक जीवों के शेष तीन प्रकार पृथक्-पृथक् रूप से असंख्येय लोकाकाश प्रदेश राशि परिमाण जितने होते हैं।

१२१. मनुष्यों के लिए बाहर तेजस्काय के उपभोग-गुण ये हैं—जलाने के लिए, तपाने के लिए, प्रकाश करने के लिए, भोजन आदि पकाने के लिए तथा स्वेदन आदि के लिए।

१२२. इन कारणों से मनुष्य तेजस्काय के जीवों की हिंसा करते हैं। वे अपने सुख के लिए दूसरे जीवों के दुःखों की उद्दीरणा करते हैं, दुःख उत्पन्न करते हैं।

१२३. पृथ्वी, पानी, आर्द्र वनस्पति तथा अस प्राणी—ये सामान्यतः बाहर तेजस्काय के शस्त्र हैं।

१२४. इनके शस्त्र तीन प्रकार के हैं—कुछ स्वकाय शस्त्र, कुछ परकाय शस्त्र तथा कुछ उभय शस्त्र। ये सारे द्रव्य-शस्त्र हैं। भावशस्त्र है—असंयम।

१२५. तेजस्काय के शेष द्वार पृथ्वीकायिक की भांति ही होते हैं । इस प्रकार यह तेजस्काय संबंधी निर्युक्ति निरूपित है ।

१२६. जितने द्वार पृथ्वीकायिक के लिए कहे गए हैं, उतने ही द्वार वनस्पति के लिए हैं । भेद केवल पांच विषयों में है—विधान, परिमाण, उपभोग, शस्त्र तथा लक्षण ।

१२७, १२८. वनस्पतिकाय के जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर । सूक्ष्म सारे लोक में तथा बादर लोक के एक भाग में व्याप्त हैं । बादर के केवल दो ही प्रकार हैं—प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति । प्रत्येकशरीरी बादर वनस्पति के बारह प्रकार हैं तथा साधारण-शरीरी बादर वनस्पति के अनेक भेद हैं : संक्षेप में लोकों के छह प्रकार हैं ।

१२९. प्रत्येकशरीरी वनस्पति के बारह भेद ये हैं—दुश्म, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग, तृण, बलय, हरित, औषधि (गेहूं, जौहि आदि), जलरुह तथा कुहण—भूमिस्फोट आदि ।

१३०. संक्षेप में वनस्पति के छह भेद हैं—अग्रबीज, मूलबीज, स्कंधबीज, पर्वबीज, बीजरुह, समूच्छनज ।

१३१. जैसे अखंड (परिपूर्ण शरीर वाले) सरसों के दानों में किसी श्लेषद्रव्य (सर्जरस—राल) को मिलाकर, फिर बंटकर बर्तों बना दी जाती है तो उस बर्तों के प्रत्येक प्रदेश में सरसों के दानों का अस्तित्व रहता है, वैसे ही प्रत्येकशरीरी वनस्पति के पृथक्-पृथक् अवगाहन वाले, एकरूप दीखने वाले शरीर-संघात होते हैं ।^१

१३२. जैसे तिलपपड़ी बहुत तिलों से निष्पादित होती है, (फिर भी उसमें प्रत्येक तिल का स्वतंत्र अस्तित्व होता है), वैसे ही प्रत्येकशरीरी वनस्पति के पृथक्-पृथक् अवगाहन वाले एकरूप दीखने वाले शरीर-संघात होते हैं ।

१३३. जो अनेक प्रकार के संस्थान वाले पक्षे दिखाई देते हैं वे सभी एक जीवाधिष्ठित होते हैं । ताड़, चीड़, नारियल आदि वृक्षों के स्कंध भी एकजीवी होते हैं ।

१३४. प्रत्येकशरीरी वनस्पति के पर्याप्तक जीव लोक-श्रेणी के असंख्येय भागवर्ती आकाश प्रदेशों की राशि जितने परिमाण वाले हैं तथा अपर्याप्तक जीव असंख्येय लोकों के प्रदेश जितने परिमाण वाले होते हैं । साधारणशरीरी वनस्पति के जीव अनन्त लोकों के प्रदेश परिमाण जितने होते हैं ।

१३५. प्रत्यक्ष दीखने वाले इन शरीरों के आधार पर वनस्पति के जीवों का प्ररूपण किया गया है । शेष जो सूक्ष्म हैं, वे चक्षुर्ग्राह्य नहीं होते । उन्हें आज्ञाग्राह्य—भगवद्बचन के आधार पर मान लेना चाहिए ।

१. जैसे वर्तिका वैसे प्रत्येक वनस्पति के शरीर संघात, जैसे सर्वप वैसे उन शरीरों के अधिष्ठाता जीव और जैसे वह श्लेषद्रव्य वैसे

राग-द्वेष से प्रचित कर्मपुद्गलोदयमिश्रित जीव ।

१३६. साधारण^१ वनस्पतिकायिक अर्थात् अनन्तकायिक जीवों का साधारण लक्षण यह है—जिनमें आहार तथा प्राण-अपात का ग्रहण एक होता है, वे साधारण वनस्पति जीव हैं। (एक जीव के आहार करने पर सभी जीवों का आहार संपन्न हो जाता है। एक जीव के उच्छ्वास-निःश्वास लेने पर सभी जीवों का उच्छ्वास-निःश्वास हो जाता है—यह इसका आशय है।)

१३७. साधारणशरीरी वनस्पति का एक जीव उच्छ्वास-निःश्वास योग्य पुद्गल को ग्रहण करता है, वही ग्रहण अनेक साधारणशरीरी वनस्पति के जीवों का होता है तथा जो अनेक जीवों का ग्रहण होता है, वही एक जीव का ग्रहण होता है।

१३८. योनिभूत—योनि अवस्था को प्राप्त बीज में प्राक्तन बीजजीव अथवा अन्य बीजजीव आकर उत्पन्न होता है। जो जीव मूल—जड़रूप में परिणत होता है वही प्रथम पत्ते के रूप में परिणत होता है।^२

१३९. जिसके मूल, कन्द, त्वक्, पत्र, पुष्प, फल आदि को तोड़ने से चक्राकार समान टुकड़े होते हैं, जिसका पर्वस्थान चूर्ण—रजों से व्याप्त होता है अथवा जिसका भेदन करने पर पृथ्वी सदृश समान भंग होते हैं, वह अनन्तकाय वनस्पति होती है।

१४०. जिसके पत्ते क्षीरमुक्त अथवा क्षीरशून्य तथा गूढ़ शिराओं वाले होते हैं, जिनकी शिराएं अलक्ष्यमाण होती हैं, जिनके पत्रार्ध की संधि दृग्गोचर नहीं होती, वे अनन्तजीवी होते हैं।

१४१. शैवाल, कच्छभाणिक, अन्नक, पनक, किण्व, हठ (हड या हड)—ये अनेक प्रकार के अनन्तजीवी जलसह हैं। इसी प्रकार दूसरे भी अनेक प्रकार हैं।

१४२. प्रत्येकशरीरी वनस्पति जो एक, दो, तीन, संख्येय अथवा असंख्येय जीवों से परिगृहीत होती है, उसके शरीर-संघात चक्षुर्ग्राह्य होते हैं।

१४३. अनन्तजीव वाली वनस्पति के एक, दो, तीन, संख्येय अथवा असंख्येय शरीर दृग्गोचर नहीं होते। बाहर निगोद के अनन्त जीवों के शरीरपिंड ही दृश्य होते हैं। (सूक्ष्मनिगोद के अनन्त-जीवों का संघात भी दृश्य नहीं होता।)

१. साधारण—समान—एक, धारणम्—
अंगीकरणं शरीराहारादेर्येषां ते साधारणाः।
(आटी पृ ३९)

२. जो बीज योनि-अवस्था को प्राप्त है, उसमें उत्पन्न होने वाला जीव प्राक्तन बीजजीव भी हो सकता है अथवा दूसरा जीव भी हो सकता है। प्राक्तन इस अर्थ में कि जिस बीजजीव ने अपना आयुष्य पूर्ण कर बीज का परित्याग कर दिया, उस बीज को पानी, हवा आदि का संयोग मिलने पर, वही पहले

वाला बीजजीव मूल आदि नाम-गोत्र कर्म का बंध कर पुनः उसी बीज में आकर जन्म ले लेता है, परिणत हो जाता है। अथवा पृथ्वीकायिक आदि का जीव उस योनिभूत बीज में आकर जन्म लेता है, मूल—जड़ आदि के रूप में परिणत होता है और वही प्रथम पत्र के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार मूल और पत्ते का कर्त्ता एक ही जीव होता है।

१४४. कोई व्यक्ति प्रस्थ^१ अथवा कुडव^२ से सभी घान्य-कणों को मापकर उनको अन्यत्र प्रक्षिप्त करे, वैसे ही यदि कोई साधारण वनस्पति के जीवों को प्रस्थ आदि से माप कर अन्यत्र प्रक्षिप्त करे तो अनन्त लोक भर जाएं ।

१४५. जो पर्याप्तक बादर निगोद हैं, वे संबन्धित लोक प्रतर के असंख्येय भाग प्रदेश राशि जितने परिमाण वाले हैं शेष तीन अपर्याप्तक बादर निगोद, अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद तथा पर्याप्तक सूक्ष्म निगोद—ये प्रत्येक असंख्येय लोकाकाशप्रदेश परिमाण जितने हैं । साधारण वनस्पति के जीव उनसे अनन्तगुना हैं ।

१४६, १४७. वनस्पति के फल, पत्र, पुष्प, मूल, कन्द आदि से निर्बतित भोजन, उपकरण—व्यजन, अर्गला आदि, शयन—मंचिका, पर्यंक आदि, आसन—आसदिका आदि, यान—पालकी आदि, गुग्गु—शकट आदि, आवरण—फलक आदि, प्रहरण लकड़ी आदि तथा अनेक प्रकार के शस्त्र, आतोद्य - पटह, भेरी आदि, काष्ठकर्म—प्रतिमा, स्तंभ, तोरणद्वार आदि, गंधांग—प्रियंगु, देवदारु, ओशीर आदि, वस्त्र—वल्कलमय, कार्पासमय आदि, मातृयोग—विविध पुष्पों की मालाएं, रुमापन—इंधन से जलाना, भस्मसात् करना, वितापन—सर्दों के अपनयन के लिए काठ आदि जलाकर अग्नि तपना, तैलविधान—तिल, अतसी, सरसों आदि का तैल, उद्योल—वर्ती, तृण, चूड़ाकाष्ठ आदि से प्रकाश करना । वनस्पति के ये उपभोग-स्थान हैं । इन सभी में वनस्पति का उपयोग होता है ।

१४८. मनुष्य इन कारणों से वनस्पति के बहुत जीवों की हिंसा करते हैं । वे अपने सुख के लिए दूसरे जीवों के दुःख की उद्दीरणा करते हैं ।

१४९. कैंची, कुठारी, हंसिया, दांती, कुदाल, बच्छि, परशु—सामान्यतः ये वनस्पति के शस्त्र हैं । इनके साथ हाथ, पैर, मुख तथा अग्नि—ये भी शस्त्र हैं ।

१५०. वनस्पति के कुछ स्वकाय शस्त्र होते हैं, कुछ परकाय शस्त्र तथा कुछ उभय शस्त्र होते हैं । ये सारे द्रव्यशस्त्र हैं । भावशस्त्र है—असंयम ।

१५१. वनस्पति के शेष द्वार पृथ्वीकाय की भांति ही होते हैं । इस प्रकार यह वनस्पतिकाय की निर्युक्ति प्ररूपित है ।

१५२. जितने द्वार पृथ्वीकाय के लिए कहे गए हैं, उतने ही द्वार जलकाय के लिए हैं । भेद केवल पांच विषयों में है—विधान, परिमाण, उपभोग, शस्त्र तथा लक्षण ।

१५३. जलजीव दो प्रकार के हैं—लब्धिजस तथा गतिजस । लब्धिजस दो हैं—तेजस्काय और वायुकाय । प्रस्तुत में उनका (तेजो-वायु का) प्रसंग नहीं है ।

१५४. गतिजस चार प्रकार के हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव । इन चारों के दो-दो प्रकार हैं—पर्याप्त तथा अपर्याप्त ।

१. प्रस्थ—बत्तीस पल का एक प्राचीन २. कुडव—बारह मुट्ठी धान का एक परिमाण । परिमाण ।

१५५. योनियां तीन प्रकार की हैं—अंडज, पोतज तथा जरायुज—ये भी तीन-तीन प्रकार की योनियां हैं।^१ त्रस जीवों के चार प्रकार हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

१५६, १५७. दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, चारित्र्याचारित्र्य (देशविरति) दान, लाभ, भोगोपभोग, वीर्य, इन्द्रियविषय, लब्धि, उपयोग, योग, अध्यवसाय, पृथक्-पृथक् लब्धियों (क्षीरास्त्रव, मध्वास्त्रव आदि) का प्रादुर्भाव, आठ कर्मों का उदय, लेश्या, संज्ञा, उच्छ्वास-निःश्वास, कषाय—ये सारे द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों के लक्षण हैं।

१५८. द्वीन्द्रिय जीवों के ये उपर्युक्त लक्षण ही हैं। क्षेत्र की दृष्टि से पर्याप्त त्रसकाय का परिमाण संवर्तित लोकप्रतर के असंख्येय भागवर्तिप्रदेशराशि परिमाण जितना है। उनका निष्क्रमण और प्रवेश जघन्यतः एक, दो, तीन का होता है और उत्कृष्टतः प्रतर के असंख्येय भाग प्रदेश परिमाण जितना होता है।

१५९. त्रसकाय में सतत निष्क्रमण और प्रवेश जघन्यतः एक समय में एक, दो, तीन जीवों का होता है। उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्येय भाग काल में सतत निष्क्रमण या प्रवेश होता है। एक जीव के सातरय की अपेक्षा से एक जीव त्रसकाय में जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः दो हजार सागरोपम तक रह सकता है।

१६०. त्रसकाय का मांस आदि^२ मनुष्य के पालिषेज में आता है। त्रसकाय का शस्त्र अनेक प्रकार का है। उनके शारीरिक और मानसिक—यह दो प्रकार की वेदना होती है तथा ज्वर, अतिसार आदि के रूप में अनेक प्रकार की होती है।

१६१, १६२. कुछ लोग मांस के लिए त्रसजीव का वध करते हैं। कुछ चमड़ी के लिए, कुछ रोम के लिए, कुछ पांख के लिए, कुछ पूंछ और दांतों के लिए उनका वध करते हैं। कुछ लोग प्रयोजनवश उनका वध करते हैं और कुछ बिना प्रयोजन ही (केवल मनोरंजन के लिए) वध करते हैं। कुछ व्यक्ति प्रसंग-दोष^३ से, कुछ कृषि आदि अनेक प्रवृत्तियों में आसक्त होकर त्रसजीवों को बांधते हैं, ताड़ित करते हैं और उनको मार डालते हैं।

१६३. त्रसकाय के शेष द्वार पृथ्वीकाय की भांति ही होते हैं। इस प्रकार त्रसकाय की निर्युक्ति प्ररूपित है।

१६४. जितने द्वार पृथ्वीकाय के कहे गए हैं, उतने ही द्वार वायुकाय के हैं। भेद केवल पांच विषयों में है—विधान, परिमाण, उपभोग, शस्त्र और लक्षण।

१. योनियों के त्रिक—शीत, उष्ण, शीतोष्ण। सचित्त, अचित्त, मिश्र। संवृत, विवृत, संवृत-विवृत। स्त्री, पुरुष, तपुंसक। कूर्मोन्नत, शंखावर्त, वंशीपत्र। इस प्रकार योनियों के अनेक त्रिक हो सकते हैं। (देखें—आटी पृ ४५)
२. आदि शब्द से चर्म, केश, रोम, नख, दांत,

स्नायु आदि।

३. प्रसंगदोष का अर्थ है कि कोई व्यक्ति मृग को मारने के लिए पश्वर, शस्त्र आदि फेंकता है किन्तु मुख्यवर्ती कपोत, कपिजल आदि पक्षी मारे जाते हैं, यह प्रसंग दोष है।

१६५, १६६. वायुकाय जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म वायुकाय के जीव समस्त लोक में तथा बादर वायुकाय के जीव लोक के एक भाग में होते हैं। बादर वायुकाय के जीव पांच प्रकार के हैं—उत्कलिकावात, मंडलिकावात, गुंजावात, घनवात, शुद्धवात।

१६७. जैसे देवताओं का शरीर चक्षुर्ग्राह्य नहीं होता है, जैसे अंजन, विद्या तथा मंत्रशक्ति से मनुष्य अन्तर्धान हो जाता है वैसे ही वायु असद्वर्ण-चक्षुर्ग्राह्यरूप वाली न होने पर भी उसका व्यपदेश किया जाता है।

१६८. बादर पर्याप्तक वायुकाय संवर्तित लोकप्रतर के असंख्येय भागवत्प्रदेश राशि के परिमाण जितने हैं। शेष तीनों पृथक्-पृथक् रूप से असंख्येय लोकाकाश परिमाण जितने हैं।

१६९. व्यजन, (पंखे आदि से हवा करना), धोंकनी से धमना, अभिधारणा, उत्सिंचन, फूत्कार, (फूंक देना) प्राण-अपान—मनुष्यों की इन प्रवृत्तियों में बादर वायुकाय का उपभोग होता है।

१७०. व्यजन, तालबूट, सूर्प, चामर, पत्र, वस्त्र का अंचल, अभिधारणा—पसीने से लथपथ होने पर वायुप्रवेश के मार्ग पर अहं देहना संघटाय, अग्नि—ये वायुकाय के द्रव्यशस्त्र हैं।

१७१. वायुकाय के कुछ स्वकाय शस्त्र हैं, कुछ परकाय शस्त्र हैं और कुछ उभयशस्त्र हैं। ये सारे द्रव्यशस्त्र हैं। भावशस्त्र है—असंयम।

१७२. वायुकाय के शेष द्वार पृथ्वीकाय की भांति ही होते हैं। इस प्रकार वायुकाय की निर्युक्ति प्ररूपित है।

दूसरा अध्ययन : लोकविजय

१७३. दूसरे अध्ययन के छह उद्देशक हैं। उनके अर्थाधिकार इस प्रकार हैं—

१. स्वजन में आसक्ति करने का निषेध।
२. संयम में अदृढत्व—शीथिल्य करने का निषेध।
३. सभी मदस्थानों में अहं का निषेध तथा अर्थसार की निस्सारता का प्रतिपादन।
४. भोगों में आसक्त न होने का प्रतिपादन।
५. लोकनिश्चा का आलंबन।
६. लोक-संस्तुत तथा असंस्तुत व्यक्तियों में समत्व का निषेध।

१७४. लोक, विजय, गुण, मूल तथा स्थान—इनके निक्षेप करना चाहिए। संसार का मूल है कषाय, उसका भी निक्षेप करना चाहिए।

१७५. लोक और विजय—ये अध्ययन के लक्षण से निष्पन्न हैं। गुण, मूल तथा स्थान—ये सूत्रालापक निष्पन्न हैं।

१७६. लोक शब्द के आठ निक्षेप हैं (नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव तथा पर्यव)। विजय शब्द के छह निक्षेप हैं—(नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव)। प्रस्तुत में औदयिक भाव कषायलोक के विजय का अधिकार है, प्रसंग है।

१७७. लोक के विषय में कहा जा चुका है।^१ विजय शब्द के छह निक्षेपों में नामविजय तथा स्थापनाविजय के अतिरिक्त शेष चार निक्षेप इस प्रकार हैं—

द्रव्यविजय—द्रव्य से विजय ।

क्षेत्रविजय—क्षेत्र पर विजय । भरत का छह खंडों पर विजय पाना ।

कालविजय—जितने समय या काल में विजय प्राप्त की जाती है । जैसे—भरत ने साठ हजार वर्षों में भारत पर विजय प्राप्त की ।

भावविजय—औदयिक आदि भावों पर विजय ।

प्रस्तुत में भवलोक अर्थात् भावलोक पर भावविजय का प्रसंग है । यहीं प्राणिगण आठ प्रकार के कर्मों से बंधता है तथा मुक्त होता है ।

१७८. प्राणी कषायलोक से पराजित है, इसलिए उससे निवर्तित होना श्रेयस्कर है । साथ-साथ जी 'काम' से निवर्तित होता है, वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है ।

१७९. गुण के पन्द्रह निक्षेप हैं—नामगुण, स्थापनागुण, द्रव्यगुण, क्षेत्रगुण, कालगुण, फलगुण, पर्यवगुण, गणनागुण, करणगुण, अभ्यासगुण, गुण-अगुण, अगुण-गुण, भवगुण, शीलगुण तथा भावगुण ।

१८०. स्वयं द्रव्य ही द्रव्यगुण है क्योंकि गुणों का (अस्तित्व) गुणी में संभव होता है । द्रव्य के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त तथा मिश्र । इनके अपने-अपने गुण स्वयं में तादात्म्य भाव से अवस्थित हैं ।^२

१८१. संकुचित होना, विकसित होना—ये जीव के आत्मभूत गुण हैं । वह अपने बहुप्रदेशात्मक गुण के कारण समुद्रघात के समय संपूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है ।

१८२. क्षेत्र आदि गुणों का विवरण इस प्रकार है—

१. क्षेत्रगुण—देवकुक्ष, उत्तरकुक्ष आदि भूमियों का गुण (जैसे—वहां के मनुष्य अवस्थित यौवन वाले, निरुपक्रम आयुष्य वाले, स्वभाव से शूद्र, मृदु होते हैं) ।

२. कालगुण—भरत, ऐरवत आदि क्षेत्रों में एकांत सुषमा आदि तीनों कालों में सदा यौवन आदि की अवस्थिति ।

३. फलगुण—रत्नत्रयी की आराधना का अनाबाध सुख—सिद्धिरूपी फल ।

४. पर्यवगुण—पर्याय का गुण है—निर्भजना—निश्चित विभक्त होते जाना ।

५. गणनागुण—एक, दो आदि से ह्यत्ता का अवधारण ।

६. करणगुण—कला-कौशल ।

१. लोक शब्द की व्याख्या आवश्यक निर्युक्ति के चतुर्विंशतिस्तव में की जा चुकी है ।

२. जैसे—सचित्त द्रव्य अथवा जीवद्रव्य का लक्षण है—उपयोग । उससे पृथक् अन्य में ज्ञान आदि गुण नहीं मिलते । अचित्त द्रव्य के दो भेद हैं—रूपी और अरूपी । अरूपी द्रव्य

के दो गुण हैं—अमूर्तस्व तथा अगुरुलघुपर्याय । ये सभी अरूपी द्रव्यों में मिलते हैं । रूपी द्रव्य का गुण है—मूर्तस्व । यह सभी रूपी द्रव्यों में मिलेगा । इस प्रकार द्रव्य और गुण का तादात्म्य है ।

७. अध्वासगुण—सद्यःजात बालक का स्तनपान करना आदि ।
८. गुण-अगुण—गुण का ही किसी में अगुणरूप से परिणत होना । जैसे—ऋजुता गुण है, वह मामावी में अगुण होता है ।
९. अगुण-गुण—अगुण किसी में गुणरूप में परिवर्तित हो जाता है, जैसे—गलि बेल ।
१०. भवगुण—मनुष्य, नारक आदि भव से संबंधित गुण-दोष ।
११. शीलगुण—अपना स्वभावगत गुण ।
१२. भावगुण—औदयिक आदि भावों का गुण । जीव-अजीव का गुण ।^१

१८३. मूल के छह निक्षेप हैं—(नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) । द्रव्यमूल तीन प्रकार का है ।^१ क्षेत्रमूल—जिस क्षेत्र में मूल—जड़ उत्पन्न होती है । कालमूल—जिस काल में मूल उत्पन्न होती है या जितने काल तक मूल बनी रहती है ।

१८४. भावमूल के तीन प्रकार ये हैं—

१. औदयिकभावमूल—नाम-गोत्र-कर्म के उदय से वनस्पतिकाय के मूलत्व का अनुभव करने वाला मूलजीव ।
२. उपदेष्टृभावमूल—मूलत्व के कारणभूत कर्मों का उपदेष्टा आचार्य ।
३. आदिभावमूल—मोक्ष और संसार का आदिभावमूल का उपदेष्टा ।

मोक्ष का आदिभावमूल है—विनय और संसार का आदिभावमूल है कषाय आदि ।

१८५. स्थान शब्द के पन्द्रह निक्षेप हैं—

१. नामस्थान ।
२. स्थापनास्थान ।
३. द्रव्यस्थान—द्रव्यों का आश्रय ।
४. क्षेत्रस्थान—भरत, ऐरवत आदि क्षेत्र । अथवा ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक्लोक आदि ।
५. अह्वास्थान—कासस्थान, जैसे—जीवों की कायस्थिति, भवस्थिति आदि ।
६. ऊर्ध्वस्थान—कायोत्सर्ग आदि ।
७. उपरतिस्थान—श्रावक तथा साधुओं का विरति-स्थान ।
८. वसतिस्थान—ग्राम, गृह आदि निवास-स्थान ।
९. संयमस्थान—पांच प्रकार के चारित्र के असंख्य संयमस्थान ।
१०. प्रहृस्थान—आदेश वाक्य वाले नायक का स्थान । इसके दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर । लौकिक हैं—राजा, युवराज, महत्तर, अमारय और कुमार । लोकोत्तर हैं—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्वविर और गणावच्छेदक ।

१. भवगुण तथा शीलगुण का भावगुण में ग्रहण किया गया है । भवगुण—जीव का नरक आदि भव । शीलगुण क्षाति आदि से युक्त जीव ।

२. औदयिक द्रव्यमूल - वृक्षों के मूल (जड़)

रूप में परिणत द्रव्य । उपदेशमूल—चिकित्सक जिस रोग के उन्मूलन में जिस जड़ी-बूटी का उपदेश देता है वह, जैसे—पिप्पलीमूल आदि । आदिमूल—वृक्ष की उत्पत्ति में आद्य कारण ।

११. योधस्थान—युद्धस्थल में स्वीकृत आलीढ, प्रत्यासीढ आदि अवस्थान ।

१२. अचलस्थान—सादिसपर्यवसान, सादिअपर्यवसान आदि ।

१३. गणनास्थान—एक, दो आदि शीर्षप्रहेलिका पर्यंत गणना ।

१४. संधानस्थान—संधान करने के स्थान ।

१५. भावस्थान—भाव विषयक संधान स्थान ।

१८६. शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध—ये पांच कामगुण हैं । इनके प्रति जिस प्राणी के कषाय प्रवर्तित होते हैं, यही संसार का मूलस्थान है ।

१८७. जैसे सभी वृक्षों के मूल भूमि में प्रतिष्ठित होते हैं, वैसे ही कर्मवृक्षों के मूल कषाय में प्रतिष्ठित हैं ।

१८८. कर्मवृक्ष आठ प्रकार के हैं । इन सबका मूल है—मोहनीय कर्म । कामगुणों का भी मूल है—मोहनीय कर्म और यही मोहनीय कर्म संसार का मूल है—अर्थात् संसार का आद्य कारण है ।

१८९. मोह के दो प्रकार हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह । कामगुण चारित्रमोह के प्रकार हैं । प्रस्तुत सूत्र में उनका अधिकार है अर्थात् उनका प्रतिपादन है ।

१९०. संसार का मूल है—कर्म । कर्म का मूल है—कषाय । कषाय स्वजन, प्रेम्भ, अर्थ—धन आदि में विषयरूप में स्थित तथा आत्मा में विषयीरूप में स्थित है ।

१९१. कषाय शब्द के आठ निक्षेप हैं—नामकषाय, स्थापनाकषाय, द्रव्यकषाय, उत्पत्तिकषाय—जिनके आश्रय से कषाय उत्पन्न होते हैं । प्रत्ययकषाय—कषाय-बंध के कारण । आदेशकषाय—कृत्रिमरूप में भ्रुकुटि तानना आदि । रसकषाय—कर्षलारस । भावकषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषाय ।

१९२. संसार के पांच प्रकार हैं—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार तथा भावसंसार । जहाँ जीव संसरण करते हैं, वह संसार है ।

१९२।१. संसार के पांच प्रकार हैं—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार । कर्म से संसार होता है अतः यहां सूत्र में उसी का अधिकार है ।

१९३, १९४. कर्म के दस निक्षेप हैं—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समुदान-कर्म, ईर्ष्यापयिककर्म आधाकर्म, तपःकर्म, कृतिकर्म, भावकर्म । यह संक्षेप में दस प्रकार का कर्म है । प्रस्तुत प्रसंग में अष्टविध कर्म का अधिकार है ।

१९५. जो पुरुष संसार का उन्मूलन करना चाहता है, वह कर्मों का उन्मूलन करे । कर्मों के उन्मूलन के लिए वह कषायों का उन्मूलन करे । कषायों के अपनयन के लिए वह स्वजनों को छोड़े—स्वजनों के स्नेह का अपनयन करे ।

१९६. माता मेरी है । पिता मेरे हैं । भगिनी मेरी है । भाई मेरे हैं । पुत्र मेरे हैं । पत्नी मेरी है । इन सब में ममत्व कर तथा अर्थ—धन में गूढ़ होकर प्राणी जन्म-मरण को प्राप्त करते रहते हैं ।

१९७. द्वितीय उद्देशक में संयम में अदृढ़ता का निरूपण है। कोई भुनि अरति के कारण संयम में शिथिल हो जाता है। यह अरति अज्ञान, काम, लोभ आदि अध्यात्मदोषों से उत्पन्न होती है।

तीसरा अध्ययन : शीतोष्णीय

१९८, १९९. तीसरे अध्ययन के चार उद्देशक हैं। उनके अर्थाधिकार इस प्रकार हैं—

१. पहले उद्देशक में सुप्त गृहस्थों के दोषों तथा जागृत गृहस्थों के गुणों का प्रतिपादन है।

२. दूसरे उद्देशक का प्रतिपाद्य यह है—दुःखों का अनुभव वे ही असंयत मनुष्य करते हैं, जो भावनिद्रा ग्रस्त हैं।

३. तीसरे उद्देशक का प्रतिपाद्य है कि केवल दुःख सहने से ही नहीं, उसको न करने से भ्रमण होता है।

४. चौथे उद्देशक में कषायों के वसन का उपदेश, पाप कर्मों से विरति, तत्त्वज्ञ के ही संयम की निष्पत्ति तथा भवोपग्राही कर्मों के क्षय से मोक्ष होता है—इसका प्रतिपादन है।

२००. शीत और उष्ण के चार-चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

२०१. द्रव्यशीत—शीतल द्रव्य, द्रव्यउष्ण—उष्णद्रव्य। पुद्गलाश्रित भावशीत—पुद्गल का शीतगुण। पुद्गलाश्रित भावउष्ण—पुद्गल का उष्णगुण। जीव का शीतोष्णरूप गुण अनेक प्रकार का है। (जैसे—जीव का औदयिक भाव उष्ण है, औपशमिक भाव शीत है, क्षायिकभाव भी शीत है अथवा समस्त कर्मों का दहन करने के कारण यह उष्ण है।)

२०२. यहां शीत अर्थात् भावशीत का अर्थ है—जीव का परिणाम। प्रमाद—कार्य-शैथिल्य, शीतलबिहारता, उपशम—मोहनीय कर्म का उपशम, विरति—सतरह प्रकार का संयम, सुख—सातवेदनीय का उदय—ये सारे अपीड़ाकारक होने से भावशीत हैं।

सभी परीषह, तप में उद्यम, कषाय, शोक, वेदोदय, अरति तथा दुःख—असातवेदनीय का उदय—ये सारे पीड़ाकारक होने के कारण भावउष्ण हैं।

२०३. स्त्री परीषह तथा सत्कार परीषह—ये दोनों मन के अनुकूल होने के कारण शीत परीषह हैं। शेष बीस परीषह (मन के प्रतिकूल होने के कारण) उष्ण होते हैं।

२०४. जो तीव्र परिणाम वाले परीषह होते हैं, वे उष्ण तथा जो मंद परिणाम वाले परीषह हैं, वे शीत कहलाते हैं।

२०५. जो धर्म में प्रमाद करता है तथा अर्थोपार्जन में शीतल है—वह शीत है। इसके विपरीत जो संयम के प्रति उद्यमशील है, वह उष्ण है।

२०६. जिसके कषाय उपशान्त हैं वह शीतोष्ण, कषाय की ज्वाला बुझ जाने से परिनिवृत्त, राग-द्वेष के उपशमन से उपशान्त और कषाय के परिताप के उपशमन से प्रह्लादित होता है। यह सारा परिणाम उपशान्त कषाय वाले के होता है, इसलिए उपशान्त कषाय शीत होता है।

२०७. संयम जीवों को अभय देने वाला तथा उनके लिए शीतघर—सुख का आवास है, इसलिए वह शीत है। असंयम उष्ण है। संयम तथा असंयम के आधार पर यह शीतोष्ण का अन्वय पर्याय है।

२०८. यथार्थ में निर्वाण सुख ही सुख है। उसके एकार्थक शब्द हैं—सात, शीतीभूत, पद, अनावाद्य। संसार में जो कुछ सुख है, वह शीत है और जो कुछ दुःख है, वह उष्ण है।

२०९. तीव्र कषायी, शोक से अभिभूत तथा उदीर्णवेदी—जिसकी काम-भावना विपाक में आ चुकी है—ये सब तीव्र तप से जलते हैं। ये सब दाहक होने के कारण उष्ण हैं। तप इन सब से उष्णतर है। वह कषाय आवि को भी जला डालता है।

२१०. जो शीत और उष्ण स्पर्श को सहन करता है, जो सुख-दुःख को सहन करता है, जो परीषद्, कषाय, वेद, भोग आदि को सहता है, वह अमल होता है। वह तप, तप, संयम तथा उपशम में पराक्रमशील होता है।

२११. भिक्षु को शीत और उष्ण—सभी परीषद् सहने चाहिए। उसे कभी काम का सेवन नहीं करना चाहिए। यह शीतोष्णीय अध्ययन की निर्युक्ति है।

२१२. अभुनि—गृहस्थ सदा सुप्त होते हैं। मुनि सोते हुए भी सदा जागृत रहते हैं। सुप्त और जागृत का कथन धर्म की अपेक्षा से है। जो निद्रा से सुप्त हैं, उनमें जागृति की भजना होती है।

२१३. जैसे सुप्त, मत्त, मूर्च्छित, अस्वाधीन व्यक्ति अप्रतिकारात्मक बहुत सारे दुःखों को पाता है। वैसे ही जो व्यक्ति भावनिद्रा—प्रमाद, कषाय आदि में रहता है, वह भी तीव्रतर दुःखों को प्राप्त होता है।

२१४. जो विवेकी होता है, वह आग लगने पर पलायन करता हुआ तथा पंथ आदि के विवेक से युक्त होकर जैसे सुख का अनुभव करता है वैसे ही विवेकी श्रमण भी सुख का अनुभव करता है। यही उपदेश है।

चौथा अध्ययन : सम्यक्त्व

२१५, २१६. चौथे अध्ययन के चार उद्देशक हैं। उनके अर्थाधिकार इस प्रकार हैं—पहले उद्देशक में सम्यग्वाद्, दूसरे में धर्मप्रवादकों की परीक्षा, तीसरे में अनवद्य तप तथा वास्तव्य से मुक्ति के निषेध का प्रतिपादन है। चौथे उद्देशक में संक्षेप में संयम का प्रतिपादन है। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान, वर्णन, चारित्र्य और तप की परिपालना में यत्न करना चाहिए।

२१७. सम्यक्त्व के चार प्रकार के निश्चेष हैं—नाम सम्यक्त्व, स्थापना सम्यक्त्व, द्रव्य सम्यक्त्व तथा भाव सम्यक्त्व।

२१८. द्रव्य सम्यक् ऐच्छानुलोमिक—इच्छानुकूल होता है। जिन-जिन पदार्थों के प्रति भाव की अनुकूलता होती है, उसे इच्छानुलोमिक द्रव्यसम्यक् कहा जाता है। वह सात प्रकार का है—१. कृत २. संस्कृत—संस्कारित ३. संयुक्त ४. प्रयुक्त ५. त्यक्त ६. भिन्न और ७. छिन्न।

२१९. मावसम्यक् तीन प्रकार का है—दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य । दर्शन और चारित्र्य के तीन-तीन भेद हैं तथा ज्ञान के दो प्रकार हैं ।^१

२२०. जैसे (कार्यकुशल) अंधा व्यक्ति शत्रुसेना को नहीं जीत सकता, वैसे ही मिथ्यात्मी व्यक्ति क्रिया करता हुआ भी, स्वजन-घन और भोगों को छोड़ता हुआ भी तथा प्रचुर दुःख को सहता हुआ भी कार्यसिद्धि नहीं कर सकता ।

२२१. मिथ्यादृष्टि वाला मनुष्य निवृत्ति करता हुआ भी, स्वजन-घन और भोगों को छोड़ता हुआ भी तथा प्रचुर दुःखों को सहता हुआ भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता ।

२२२. इसलिए जो साधक कर्म-सेना को जीतना चाहता है, उसे सम्यग्दर्शन में प्रयत्नशील रहना चाहिए । सम्यग्दर्शनी साधक के ही तप, ज्ञान और चारित्र्य सफल होते हैं ।

२२३, २२४. प्रस्तुत दो श्लोकों में सम्यग्दर्शन तथा उसके पूर्व के गुणस्थानों का निर्जरा की दृष्टि से सारसम्य बताया गया है । सम्यग्दर्शन की विवक्षित उत्पत्ति तक असंख्येय गुण श्रेणि-स्थान बताए गए हैं । (जैसे—मिथ्यादृष्टि तथा देशोनकोटिकोटिकर्मस्थितिवाले ग्रन्थिकसत्त्व (मिथ्यादृष्टि)—दोनों कर्म-निर्जरा की अपेक्षा से सुलभ होते हैं । जिनमें धर्मपृच्छा की संज्ञा उत्पन्न हो जाती है, वे उनसे असंख्येय गुण अधिक निर्जरक होते हैं । उनसे भी असंख्येय गुण अधिक निर्जरक वे होते हैं जो धर्म की जिज्ञासा करने साधुओं के समीप जाते हैं । उनसे भी असंख्येय गुण निर्जरक होता है धर्मक्रिया को स्वीकार करने वाला । उससे भी असंख्येय गुण अधिक निर्जरक वे होते हैं जो पहले ही धर्मक्रिया में संलग्न हैं । यह सम्यक्त्व की उत्पत्ति की व्याख्या है ।) उनसे विरताविरति को स्वीकार करने वाले श्रावक, उनसे सर्वचिरत, उनसे अनन्तकर्मों को क्षय करने के इच्छुक, उनसे दर्शनमोह की प्रकृतियों को क्षीण करने वाले, उनसे उपशांत कथाय, उनसे उपशांत मोह, उनसे चारित्र्यमोह के क्षपक, उनसे क्षीणमोह, उनसे जिन—भवस्थकेवली, उनसे शीतेशी अवस्था प्राप्त जिन—ये सब उत्तरोत्तर असंख्येय गुण अधिक निर्जरक होते हैं । काल की दृष्टि से यह क्रम प्रतिलोम रूप से संख्येय गुण श्रेणी की अवस्थिति से व्यवहार्य होता है । यह अयोगी केवली से प्रारब्ध होकर प्रतिलोम रूप में धर्मपृच्छा तक चलता है । जैसे—जितने काल में जितने कर्मों का क्षय अयोगी केवली करता है, उतने कर्म सयोगी केवली संख्येय गुण अधिक काल में क्षीण करता है ।^२

२२५. आहार, उपधि, पूजा, ऋद्धि—आमर्ष औषधि आदि के निमित्त जो ज्ञान-चारित्र्य की क्रिया करता है तथा गौरवत्रिक से प्रतिबद्ध होकर जो क्रिया करता है, वह कृत्रिम क्रिया है । इसी प्रकार बारह प्रकार का तप भी आहार, उपधि आदि से प्रतिबद्ध होकर कृत्रिम हो जाता है । जो कृत्रिम अनुष्ठान में रत रहता है, वह श्रमण नहीं होता ।

२२६, २२७. जो जिनवर—तीर्थंकर अतीत में हो गए हैं, जो वर्तमान में हैं और जो अनागत काल में होंगे—उन सभी ने अहिंसा का उपदेश दिया है और देंगे । (अहिंसक व्यक्ति) छह जीवनिकाओं की न स्वयं हिंसा करे, न दूसरों से हिंसा करवाए और न हिंसा करने वालों का अनुमोदन करे । यह सम्यक्त्व अध्ययन की नियुक्ति है ।

१. औपशमिक दर्शन, साधोपशमिक दर्शन, साधिक दर्शन । औपशमिक चारित्र्य, साधो-पशमिक चारित्र्य, साधिक चारित्र्य ।

२. साधोपशमिक ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि,

मनःपर्यव । साधिक ज्ञान—केवलज्ञान, देखें परि० ६ कथा सं० ४ ।

३. विस्तार के लिए देखें—आटी पृ ११८ ।

२२८. प्रस्तुत श्लोक में क्षुल्लक की कथा कही गई है। रोहणुप्त मंत्री ने धर्मकथा न करते हुए भी गाथा के एक चरण से अप्रकट रूप में अन्यलिङ्गी तीर्थिकों की परीक्षा की। (राजा ने नगर में गाथा के एक चरण—‘सकुंडलं वा वयणं न व सति’ को प्रचारित किया। उसकी पूर्ति के लिए विभिन्न तीर्थिक साधु राजा के समक्ष आए।)

२२९. (परिव्राजक ने गाथापूर्ति करते हुए कहा) —‘मैं आज जब भिक्षा के लिए गया तब एक घर में विकसित कमल की भांति मनोहर नेत्रों वाली एक स्त्री का मुख देखा। उसे देख, मेरा चित्त चंचल हो गया। मैं भलीभांति नहीं जान सका कि उसका मुख कुंडलसहित है या नहीं?’

२३०. (तापस ने कहा) —फलों का पानी लेने के लिए मैं एक घर में गया। वहां एक महिला आसन पर बैठी थी। उसे देख मेरा मन विक्षिप्त हो गया। मैं भलीभांति नहीं जान सका कि उसका मुख कुंडलसहित है या नहीं?’

२३१. (बौद्ध भिक्षु बोला) —मालाविहार [उपवन] में मैंने एक उपासिका को देखा, जो स्वर्णभरणों से सजी हुई थी। उसे देख मेरा मन चंचल हो गया। मैं भलीभांति नहीं जान सका कि उसका मुख कुंडलसहित है या नहीं?’

२३२. जैन श्रमण ने कहा —‘मैं शान्त हूं, दान्त हूं, जितेन्द्रिय हूं। मेरा मन अध्यात्मयोग में लीन है, तब फिर इस चिन्तन से क्या प्रयोजन कि स्त्री का मुख कुंडलसहित है या नहीं?’

२३३, २३४. मिट्टी के दो गोले हैं। एक आर्द्र गीला है और एक सूखा है। दोनों को भीत पर फेंका। जो गीला था वह भीत पर चिपक गया। जो सूखा था, वह भीत का स्पर्श कर नीचे गिर गया। इसी प्रकार दुर्बुद्धि मनुष्य काम-लालसा से पराभूत होकर संसार-पंक में डूब जाते हैं और जो विरक्त हैं, वे सूखे गोले की भांति कहीं चिपकते नहीं हैं।

२३५. जैसे अग्नि पोले और अत्यंत सूखे काष्ठ को शीघ्र जला देती है वैसे ही सम्यग् चारित्र्य में स्थित साधु भी कर्मों को शीघ्र जला डालता है, क्षीण कर देता है।

पांचवां अध्ययन : लोकसार

२३६-२३८. पांचवें अध्ययन के छह उद्देशक हैं। उनके अर्थाधिकार इस प्रकार हैं—
 पहला उद्देशक—जो हिंसक, विषयारंभक और एकचर होता है, वह मुनि नहीं होता।
 दूसरा उद्देशक—जो विरत है, वह मुनि होता है। अविरतवादी परिग्रही होता है।
 तीसरा उद्देशक—विरत मुनि ही अपरिग्रही तथा कामभोगों से निर्विण्ण होता है।
 चौथा उद्देशक—अव्यक्त (अगीतार्थ) और एकचर मुनि के अपाथों का दिग्दर्शन।
 पांचवां उद्देशक—हृद की उपमा, तप-संयम-गुप्ति तथा निस्संगता का निरूपण।
 छठा उद्देशक—उन्मार्ग की वर्जना तथा राग-द्वेष के परित्याग का प्रतिपादन।

२३९. प्रस्तुत अध्ययन का आदानपद के आधार पर ‘अवन्ति’ नाम है तथा इसका गौण नाम है लोकसार। लोक और सार शब्द के चार-चार निक्षेप हैं :—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

२४०. द्रव्यसार का प्रतिपादन—समस्त संपत्तियों में धन सार है। स्थूल पदार्थों में एरंड, भारी पदार्थों में वज्र, मध्यम पदार्थों में खदिर, देशप्रधान^१ में जिन तथा शरीरों में औदारिक शरीर (मुक्तिगमन की योग्यता के कारण) सार है। (आदि शब्द से स्वामित्व, करण और अधिकरण की सारता, जैसे—स्वामित्व—गोरस में सारभूत है घृत, करणत्व में सारभूत है—मणिसार वाले मुकुट से शोभित राजा, अधिकरण में सारभूत है—दही में घी, जल में सारभूत है पद्म आदि।)

२४१. भावसार के प्रसंग में फल-साधनता अर्थात् फल की प्राप्ति सार है। फलावाप्ति का सार है—उत्तम मुख वाली वरिष्ठ सिद्धि। उसके साधन हैं—ज्ञान, दर्शन, संयम और तप। प्रस्तुत में उसी का अधिकार है।

२४२. लोक में अनेक कुसमय—कुसिद्धान्त प्रचलित हैं। वे काम तथा परिग्रह से कुत्सित मार्ग वाले हैं। लोग उनमें लगे हुए हैं। संसार में सारभूत है—ज्ञान, दर्शन, तप तथा चारित्र्यगुण। ये सिद्धि-प्राप्ति के प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं।^२

२४३. शंका के निमित्त कारण को छोड़कर इस (ज्ञान, दर्शन, तप, चारित्र्यात्मक) सारपद को दृढ़ता से ग्रहण करना चाहिए। जीव है, परमपद—मोक्ष है, यतना—राग-द्वेष का उपशमन—संयम है। इनमें कभी संदेह नहीं करना चाहिए।

२४४. लोक का सार क्या है? उस सार का सार कौनसा है? उस सारसार का सार क्या है? मैंने पूछा है, यदि तुम जानते हो तो बताओ।

२४५. लोक का सार है—धर्म। धर्म का सार है—ज्ञान। ज्ञान का सार है—संयम। संयम का सार है—निर्वाण।

२४६. चार, चर्या और चरण—ये तीनों शब्द एकार्थक हैं। चार के नाम, स्थापना आदि छह निक्षेप हैं। द्रव्यचार—दाह संक्रम (लकड़ी का पुल), जलचार, स्थलचार आदि अनेक प्रकार का होता है।^३

२४७. जिस क्षेत्र में चार होता है, उसे क्षेत्रचार कहा जाता है। जिस काल में चार होता है, उसे कालचार कहा जाता है। भावचार के दो प्रकार हैं—प्रशस्त तथा अप्रशस्त। प्रशस्त भाव-चार है—ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य। (शेष अप्रशस्त भावचार है।)

१. प्रधान भाव तीन प्रकार का है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। सचित्त के तीन प्रकार हैं—द्विपद, चतुष्पद तथा अपद। द्विपद में जिन, चतुष्पद में सिंह तथा अपद में कल्पवृक्ष। अचित्त में वैदूर्य मणि तथा मिश्र में विभूषित तीर्थकर। टीकाकार ने देश और प्रधान को भिन्न भिन्न मानकर अर्थ किया है। उनके अनुसार देश में सार आत्म तथा प्रधान में सार जिन हैं। (आटी पू. १३१)

२. हियट्टाए—हिता—सिद्धिस्तदर्थत्वादिति।

३. जल में सेतु आदि का निर्माण, स्थल में शकों को लाधना आदि। जलचार है—नौका से यात्रा करना। स्थलचार—रथ आदि से श्रमन करना। आदि शब्द से प्रासाद आदि में सोपानपंक्ति का निर्माण, जिससे एक स्थान से दूसरे स्थान की प्राप्ति होती है। यह द्रव्य-चार है।

२४८. लोक के चार प्रकार हैं—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक । श्रमण के द्रव्य आदि चार प्रकार के चार कैसे होंगे ? इसके निर्वचन में कहा गया है—प्रस्तुत में धृति का प्रसंग है । अरस-विरस द्रव्य में धृति रखना श्रमण का द्रव्यचार है । प्रतिकूल क्षेत्र में धृति रखना क्षेत्रचार है । दुष्काल आदि में यथालाभ—प्राप्ति से संतुष्ट रहना कालचार है । भावचार है—प्रतिकूलता में भी अनुद्विग्न रहना । विशेषतः क्षेत्र और काल की प्रतिकूलता में धृति रखना निर्दिष्ट है ।

२४९. मुनि के लिए पाप से उपरत रहना तथा अपरिग्रही रहना द्रव्यचार है । गुरुकुलवास में रहना क्षेत्रचार है । सर्वदा गुरुवचनों से युक्त रहना कालचार है । उन्मार्ग का वर्जन करना तथा राग-द्वेष से विरत रहना भावचार है ; इस प्रकार श्रमण संयमानुष्ठान के साथ विचरण करे ।

छठा अध्ययन : धृत

२५०, २५१. छठे अध्ययन के पांच उद्देशक हैं । उनके अर्थाधिकार इस प्रकार हैं—

१. पहले उद्देशक का अर्थाधिकार—स्वजन का विधूनन ।
२. दूसरे उद्देशक का अर्थाधिकार—कर्मों का विधूनन ।
३. तीसरे उद्देशक का अर्थाधिकार—उपकरण तथा शरीर का विधूनन ।
४. चौथे उद्देशक का अर्थाधिकार—तीन गौरवों का विधूनन ।
५. पांचवें उद्देशक का अर्थाधिकार—उपसर्गों तथा सम्मानों का विधूनन ।

द्रव्यधृत है—वस्त्रों को धुनना—रजों का धपनयन करना तथा भावधृत है—आठ प्रकार के कर्मों को धुनना ।

२५२. जो देवता संबंधी, मनुष्य संबंधी तथा तिर्यञ्च संबंधी उपसर्गों को अत्यधिक सहन कर कर्मों का धुनन करता है, वह भावधृत है ।

सातवाँ अध्ययन : महापरिज्ञा

२५३. प्रथम उद्देशक के तीन अधिकार हैं—१. गृहपतिसंयोग परिज्ञा २. कुशीलसेवा परिज्ञा ३. स्वपक्ष (साधर्मिक) संबंध के साथ विवेक ।

२५४. द्वितीय उद्देशक में कुमार्ग का त्याग, देहविभूषा, मैथुन-सेवन, गर्भ का आदान, परिशाटन तथा पोषण आदि के द्वारे में खर्चा करने के परित्याग का निर्देश है ।

२५५, २५६. तीसरे उद्देशक में अविनय, उद्दंडता का परिहार, आसक्ति के कारण और निवारण की पुच्छा, शयन आदि में सहिष्णुता, प्रसङ्ग तथा उत्सर्ग की विधि, क्रियाएं और वस्त्र धोने के विधान का धर्णन है । इसके अतिरिक्त पंखे आदि का प्रयोग, वैहानस (मरण का एक प्रकार), हस्तकर्म, स्त्रीसंसर्ग तथा देहपरिकर्म का वर्जन किया गया है । इस उद्देशक में साधना के विघ्नभूत निमित्तों को छोड़ने का निर्देश भी है ।

२५७, २५८. चौथे उद्देशक में वस्त्र धोने, पहनने और रंगने की तथा स्नान की अनुज्ञा आदि लेने की विधि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त औद्देशिक पिंड (साधु के निमित्त बनाया गया आहार) तथा माय्यांतर पिंड के परिभोग का वर्जन किया गया है और स्वपरिग्रह (उपधि आदि) का परिसीमन तथा सन्निधि—संचय करने का निषेध किया गया है।

२५९, २६०. पाँचवें उद्देशक में सूर्य के लक्ष्य के आधार पर जिनघर्म में पराक्रम का वर्णन है। स्थावर कार्यों के प्रति दया करने तथा स्वयं के प्रति होने वाले आक्रोश तथा वध को सहन करने का निर्देश है। इसके साथ असकाय का समारंभ और गृहस्थ के पात्र में आहार का निषेध किया गया है। अन्यतीर्थिक साधुओं के साथ होने वाले अननुशात व्यवहार का निर्देश है।

२६१. छठे उद्देशक में संयम के विधियों का तथा तीसरे उद्देशक की विषयवस्तु का विस्तृत वर्णन है। इसमें साधु के लिए आचरणीय स्थानों का निर्देश तथा स्नान एवं परिभोग आदि का निषेध है।

२६२, २६३. सातवें उद्देशक में तीन पलय (?), शीत परिग्रह को सहने तथा कर्मरजों को प्रकंपित करने का निर्देश है। प्रयोजन होने पर सूई मात्र भी परिग्रह न करने का वर्णन है। सातवें उद्देशक के अंत में आसंदी-वर्जन का तथा अतिथि मुनियों को निर्भक्षित करने का, संलेखना, भक्तपरिज्ञा तथा अंतक्रिया—सिद्धि का वर्णन है।

२६४. महत् शब्द प्राधान्य और परिमाण के अर्थ में प्रयुक्त है। प्राधान्य और परिमाण का निक्षेप छह प्रकार का है।

२६५. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो प्रधान होते हैं, उसमें महत् शब्द प्राधान्य के अर्थ में निष्पन्न है।

२६६. द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव में जो महत् होते हैं, उनमें महत् शब्द प्रमाण (परिमाण) के अर्थ में निष्पन्न है।

२६७. परिज्ञा के छह निक्षेपों में द्रव्य परिज्ञा, क्षेत्र परिज्ञा, काल परिज्ञा, भाव परिज्ञा—इन चारों के ज्ञान तथा प्रत्याख्यान रूप दो-दो भेद हैं।

२६८, २६९. भावपरिज्ञा के दो प्रकार हैं—मूलगुण विषयक भावपरिज्ञा तथा उत्तरगुण विषयक भावपरिज्ञा। मूलगुण विषयक भावपरिज्ञा पांच प्रकार की है तथा उत्तरगुण विषयक भावपरिज्ञा दो प्रकार की है। प्रस्तुत में भावपरिज्ञा के दो प्रकारों में प्राधान्य का प्रसंग है। जो परिज्ञाओं में प्रधान है, वह महापरिज्ञा है।

२७०. देवियों, मनुष्य-स्त्रियों तथा तिर्यञ्च-स्त्रियों का त्रिविध परित्याग—यह महापरिज्ञा अध्ययन की नियुक्ति है।

आठवाँ अध्ययन : विमोक्ष

२७१-७५. आठवें अध्ययन के आठ उद्देशक हैं। उनके अर्थाधिकार इस प्रकार हैं—

१. पहले उद्देशक में असमनोज्ञ प्राक्पादों के परित्याग का कथन है।

२. दूसरे उद्देशक में अकल्पिक—आध्यात्म आदि का परित्याग करने का निर्देश तथा

प्रतिषेध करने पर यदि दाता रुष्ट हो जाए तो उसे सिद्धान्तों के आधार पर सम्यक् रूप से समझाने का कथन है ।

३. तीसरे उद्देशक में मुनि की अंगचेष्टा—शरीर के प्रकंपन आदि को देखकर गृहस्थ के क्रोध कहने या आशंकित होने पर यथार्थ-कथन का निरूपण है ।

शेष पांच उद्देशकों में उपकरण तथा शरीर-परित्याग का निरूपण है । वह इस प्रकार है—

४. चौथे उद्देशक में वैहानस तथा गृद्धपृष्ठ मरण का निरूपण है ।

५. पांचवें उद्देशक में ग्लानता तथा भक्तपरिज्ञा का प्रतिपादन है ।

६. छठे उद्देशक में एकत्व भावना तथा इंगिनी मरण का निरूपण है ।

७. सातवें उद्देशक में भिक्षु प्रतिमाओं तथा प्रायोपगमन अनशन का प्रतिपादन है ।

८. आठवें उद्देशक में अनुपूर्वीविहारी मुनियों के होने वाले भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण तथा प्रायोपगमन अनशनों का निरूपण है ।

२७६. विमोक्ष शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम विमोक्ष, स्थापना विमोक्ष, द्रव्य विमोक्ष, क्षेत्र विमोक्ष, काल विमोक्ष तथा भाव विमोक्ष ।

२७७, २७८. द्रव्य विमोक्ष है—वेड़ी, सक्किल आदि से छुटकारा । क्षेत्र विमोक्ष है—जेल आदि से छूटना । काल विमोक्ष है—चैत्यमहिमा आदि उत्सव दिनों में हिंसा आदि न करने की घोषणा । भाव विमोक्ष के दो प्रकार हैं—देशतः विमोक्ष—साधु । सर्वतः विमोक्ष—सिद्ध ।

२७९. जीव का कर्मपुद्गलों के साथ संबंध होना बंध है । उससे वियुक्त होना मोक्ष है ।

२८०. जीव स्व-अजित कर्मों से बद्ध है । उन पूर्वबद्ध कर्मों का सर्वथा पृथक्करण होना ही मोक्ष है ।

२८१. भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण तथा प्रायोपगमन—ये तीन प्रकार के अनशन हैं । जो चरम मरण अर्थात् इन तीनों में से किसी एक का आश्रय लेकर मरता है, वह भाव विमोक्ष है ।

२८२. पूर्वोक्त तीन प्रकार के मरणों के दो दो भेद हैं—सपराक्रम, अपराक्रम अथवा व्याघातिम, आनुपूर्विक (अव्याघातिम) । सुत्रार्थ के ज्ञाता मुनि को समाधिमरण को स्वीकार करना चाहिए । (तीन प्रकार के अनशनों में से किसी एक को स्वीकार कर मृत्यु का वरण करना चाहिए ।)

२८३. सपराक्रम प्रायोपगमन मरण का आदेश^१—पारंपरिक उदाहरण है आर्य वज्रस्वामी जिन्होंने सपराक्रम प्रायोपगमन अनशन स्वीकार किया था ।^२

२८४. अपराक्रम प्रायोपगमन मरण का पारंपरिक उदाहरण है—आर्य समुद्र का । उन्होंने अपराक्रम प्रायोपगमन अनशन स्वीकार किया था ।^३

२८५. व्याघातिम मरण—यह सिंह आदि के व्याघात अथवा अन्य किसी व्याघात से होता है । इसका पारंपरिक उदाहरण है—तीसलि आचार्य का, जो महिषी से हत होकर व्याघातिम मरण को प्राप्त हुए थे ।^४

१. आदेश—आचार्य की परंपरा से आगत अनुश्रुति/प्राचीन परंपरा ।

२. वेधों—परि ६ कथा सं० ६ ।

३. वही, कथा सं० ७ ।

४. वही, कथा सं० ८ ।

२८६. आनुपूर्वी मरण का क्रम यह है—जो साधक मुमुक्षाभाव से उत्प्रेरित है, उसे पहले दीक्षा दी जाती है। फिर उसे सूत्र की वाचना और पश्चात् अर्थ की वाचना से अनुप्राणित किया जाता है। गुरु से अनुज्ञा प्राप्त कर जब वह तीन प्रकार के अनशनों में से किसी एक को ग्रहण करता है, तब वह आहार, उपधि और शय्या—इन तीन के निरर्थक परिभोग से मुक्त हो जाता है।^१

२८७. अनशन की आज्ञा लेने वाले मुनि को आचार्य पुनः संलेखना करने की प्रेरणा देते हैं पर वह कुपित हो जाता है। जैसे राजा की आज्ञा पहले तीक्ष्ण होती है बाद में शीतल बन जाती है। वैसे ही आचार्य की प्रेरणात्मक आज्ञा पहले तीक्ष्ण लगती है, बाद में कुछ शीतल बन जाती है। (यदि इतने पर भी मुनि का क्रोध शांत नहीं होता है तो) अन्य तंबोल पत्रों को सुरक्षित रखने के लिए जैसे कुपित तंबोल पत्र को बाहर निकाल दिया जाता है, वैसे ही उस मुनि को गण से बाहर कर दे। यदि वह आचार्य की आज्ञा मानता है तो उसकी पहले, कदर्थना करे, उसकी सहिष्णुता की परीक्षा करे और फिर उस पर प्रसाद—अर्थात् अनशन की आज्ञा देने की कृपा करे।^२

२८८-९१. जैसे पक्षिणी अपने अंडों का प्रयत्नपूर्वक निष्पादन करती है वैसे ही गुरु शिष्यों को निष्पादित कर, योग्य बनाकर बारह वर्षों की संलेखना स्वीकार करे। उस संलेखना का स्वरूप इस प्रकार है :—

१. प्रथम चार वर्षों तक विचित्र तप का अनुष्ठान अर्थात् उपवास, बेला—दो दिन का उपवास, तेला—तीन दिन का उपवास, चोला—चार दिन का उपवास, पंचोला—पांच दिन का उपवास करना होता है। इस काल में पारणक विषय सहित या विषय रहित किया जा सकता है।
२. द्वितीय चार वर्षों में तपस्या के पारणक विषय रहित ही होते हैं।
३. नौवें तथा दसवें वर्ष में एक उपवास, फिर आयबिल—इस प्रकार दो वर्ष तक करने होते हैं।
४. ग्यारहवें वर्ष में पहले छह महीने में अतिविकृष्ट तप नहीं होता, उपवास या बेले के पारणक में नियमित आयबिल करना होता है। दूसरे छह महीने में विकृष्ट तपश्चरण के पारणक में आयबिल करना होता है।
५. बारहवें वर्ष में कोटी सहित आचाम्ल करना होता है। (आनुर्मास शेष रहने पर अनशनकारी तैल के बार-बार कुल्ले करता है)। इस प्रकार क्रमशः संलेखना करता हुआ साधक अंत में गिरिकन्दरा में जाकर अपनी इच्छानुसार प्रायोगमन (अथवा इगिनी या भक्तप्रत्यक्ष्यान) अनशन स्वीकार करता है।^३

१. यदि आचार्य अनशन करना चाहें तो वे सबसे पहले शिष्यों का निष्पादन कर, दूसरे आचार्य की स्थापना कर, औत्सर्गिक रूप से बारह वर्षों की संलेखना से अपने शरीर को कुश कर, गच्छ की अनुज्ञा से अथवा अपने द्वारा प्रस्थापित आचार्य से अनुज्ञा प्राप्त कर अनशन करने के लिए अन्य आचार्य की सन्निधि में जाए। इसी प्रकार संलेखना लेने वाले उपाध्याय, प्रवर्तक, स्वधिर,

- गणावच्छेदक अथवा सामान्य मुनि आचार्य से अनुज्ञा प्राप्त कर अनशन स्वीकार करे।
२. देखें परि० ६, कथा सं० ९।
 ३. कोटीसहित आचाम्ल—पूर्व दिन के आचाम्ल से अगले दिन के आचाम्ल की श्रेणी को मिलाना। भावार्थ में प्रतिदिन आचाम्ल करता है।
 ४. विशेष विवरण के लिए देखें—श्री भिक्षु आगम विषय कोश पृ० ६६०, ६६१।

२९२. (शिष्य ने जिज्ञासा की) जो प्रतिदिन तपस्या में उद्यमशील नहीं होता वह तपःकर्म में पंडित कैसे हो सकता है ? (गुरु ने समाधान दिया) जो भोजन करता हुआ भी निरंतर वृत्ति-संक्षेप—बत्तीस कवल परिमाण भोजन को कम करता जाता है वह तपःकर्म में पंडित होता है ।

२९३. तपःकर्म में उद्यत मुनि बेले तैले आदि की तपस्या करता है और अनशन के उद्देश्य से पारणे में अल्प आहार लेता है । वह अपने आहार को विधिपूर्वक कमशः कम करता हुआ अन्त में आहार का पूर्ण निरोध—अनशन कर लेता है ।

२९४. वह स्थान की प्रतिबद्धता से मुक्त, उपकरण, शरीर आदि परिकर्म से रहित, अनासक्त, त्यागी मुनि आमुष्य—काल की प्रतीक्षा करता है ।

तीर्थों का अध्ययन : उपधानश्रुत

२९५. प्रस्तुत अध्ययन का अर्थाधिकार यह है कि जब जो तीर्थंकर होते हैं, वे अपने तीर्थ में उपधानश्रुत अध्ययन में अपने तपःकर्म का वर्णन करते हैं ।

२९६. सभी तीर्थंकरों का तपःकर्म निरुपसर्ग होता है । केवल भगवान् वर्धमान का तपःकर्म उपसर्ग सहित था ।

२९७. (केवलज्ञान से पूर्व) तीर्थंकर चतुःश्रामी होते हैं । वे देवताओं द्वारा पूजित होते हैं । वे अवश्य ही सिद्ध होते हैं । फिर भी वे अपने बल और पराक्रम का गोपन किए बिना तपः उपधान में उद्यम करते हैं ।

२९८. मनुष्य जन्म अनेक आपदाओं तथा दुःखों से परिपूर्ण है । यह जानकर अवशिष्ट सुविहित मुनि अपने दुःखक्षय कर्मक्षय के लिए क्या तपः उपधान में उद्यम नहीं करेंगे ?

२९९. प्रस्तुत अध्ययन के चारों उद्देशकों का अर्थाधिकार इस प्रकार है—

- ० प्रथम उद्देशक में भगवान् महावीर की चर्या का निरूपण है ।
 - ० दूसरे उद्देशक में भगवान् महावीर की शय्या—वसति का स्वरूप निर्दिष्ट है ।
 - ० तीसरे उद्देशक में भगवान् महावीर के अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों का प्रतिपादन है ।
 - ० चौथे उद्देशक में (क्षुत्पीडा से) आतंकित होने पर चिकित्सा-विधि का निरूपण है ।
- चारों उद्देशकों में भगवान् के तपश्चरण का अधिकार चलता है ।

३००. उपधान शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । इसी प्रकार श्रुत शब्द के भी चार निक्षेप हैं ।

३०१. द्रव्य उपधान है—तकिया । भाव उपधान है—तप तथा चारित्र्य । इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में ज्ञान, दर्शन, तप तथा चारित्र्य का अधिकार है ।

३०२. जैसे मलिन वस्त्र पानी आदि द्रव्यों से शुद्ध होता है, वैसे ही आठ प्रकार का कर्म-बंध भाव उपधान से शुद्ध होता है ।

३०३. अवधूतन, धूनन, नाशन, विनाशन, ध्मापन, क्षयण, शुद्धिकरण (शोधिकरण), छेदन, भेदन, स्फोटन अपनयन, दहन तथा घातन—ये बारह क्रियाएं कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं के अपनयन की हैं ।^१

१. वृत्तिकार ने इन सब क्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया है । देखें आटी पृ० १९८, १९९ ।

३०४. इस प्रकार वीरों में श्रेष्ठ, महान् प्रभावी महावीर (बर्हमान) ने भाव उपदान का सम्यक् प्रकार से आचरण किया। उसका अनुसरण कर धीर व्यक्ति शिव तथा अचल निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

आचाराग : (आचार-चूला)

३०५. (अग्रशब्द के चार निक्षेप हैं—नाम अग्र, स्थापना अग्र, द्रव्य अग्र और भाव अग्र।)
द्रव्य अग्र के आठ प्रकार हैं—

(१) द्रव्य अग्र	(४) काल अग्र	(७) संचय अग्र
(२) अवगाहन अग्र	(५) क्रम अग्र	(८) भाव अग्र
(३) आदेश अग्र	(६) गणन अग्र	

भाव अग्र के तीन प्रकार हैं—

(१) प्रधान अग्र	(२) बहुक अग्र	(३) उपकार अग्र

३०६. प्रस्तुत में उपकार अग्र का प्रसंग है। ये अध्ययन आचारांग के उत्तरवर्ती अर्थात् उससे संबद्ध हैं। जैसे वृक्ष और पर्वत के अग्र होते हैं, वैसे ही आचाराग के ये अग्र हैं।

३०७. स्यविरो ने शिष्यों पर अनुग्रह कर उनका हित-संपादन करने तथा तत्त्वों की स्पष्ट अभिव्यक्ति करने के लिए इसका नियुहण किया है। आचाराग का समस्त अर्थ आचाराग (आचार-चूला) में विस्तार से निरूपित है।

३०८-३११. आचारांग के दूसरे अध्ययन (लोक विजय) के पांचवें उद्देशक से तथा आठवें अध्ययन (विमोक्ष) के दूसरे उद्देशक से विवेचना, श्रद्धा, वस्त्रवेष्टा, पान्त्रवेष्टा तथा अवग्रह प्रतिमा निर्युक्त है। पांचवें अध्ययन लोकसार के चौथे उद्देशक से 'ईयां' तथा छठे अध्ययन (धृत) के पांचवें उद्देशक से भाषाजात का निर्युहण किया गया है। महापरिज्ञा अध्ययन से सात सप्तैकक, शस्त्र परिज्ञा से भावना और धृत अध्ययन के दूसरे और चौथे उद्देशक से विभुवित अध्ययन निर्युक्त है। आचार-प्रकल्प—निशीथ का निर्युहण प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के 'आधार' नाम वाले बीसवें प्राभूत से हुआ है। इस प्रकार आचारांग के अध्ययनों से आचारचूला का संग्रहण हुआ है।

३१२. शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में दंडनिक्षेप—संयम का अव्यक्त प्रतिपादन हुआ है। उसी संयम को विभक्त कर आठ अध्ययनों में अनेक प्रकार से यहां बतलाया है।

३१३, ३१४. संयम के विभिन्न वर्गीकरण :—

- एकविध संयम—आविरति की निवृत्ति।
- दो प्रकार का संयम—अध्यात्म तथा बाह्य।
- तीन प्रकार का संयम—मनःसंयम, वचनसंयम, कायसंयम।
- चार प्रकार का संयम—चार याम।
- पांच प्रकार का संयम—पांच महाव्रत।
- छह प्रकार का संयम—पांच महाव्रत तथा रात्रिभोजन-विरमण व्रत।

इस प्रकार आचार—संयम विभक्त होता हुआ अठारह हजार शीलांग परिमाण वाला हो जाता है।

३१५. पांच महाव्रतों के रूप में व्यवस्थापित संयम का आख्यान करना, विभाग करना तथा उसको जानना सुखपूर्वक हो जाता है, इसलिए पांच महाव्रतों का प्रज्ञापन किया गया है।

३१६. उन महाव्रतों के संरक्षण के लिए प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएं हैं। ये आचारचूला में प्रतिपादित हैं। इसलिए यह शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन के अभ्यन्तर है।

३१७. आचाराग्र की पांच चूलाएं हैं—

- ० पिंडैषणा वाधमन से अवग्रह प्रतिमा अध्ययन तक के सात अध्ययन—पहली चूला।
- ० सात सप्तैकक—दूसरी चूला।
- ० भावना—तीसरी चूला।
- ० विमुक्ति—चौथी चूला।
- ० आचार प्रकल्प (निशीथ)—पांचवीं चूला।

३१८, ३१९. पिंडैषणा की जो निर्युक्ति है, वही शय्या, वस्त्रैषणा, पार्श्वैषणा, अवग्रह प्रतिमा की है। समस्त वचन-विशोधि की निर्युक्ति वही है, जो (दशवैकालिक के सातवें अध्ययन) वाक्य-शुद्धि की है। वही समस्तरूप से भाषाजात की निर्युक्ति माननी चाहिए।

३२०. शय्या, ईर्ष्या तथा अवग्रह के छह-छह निक्षेप हैं। पिंडैषणा, भाषाजात, वस्त्रैषणा तथा पार्श्वैषणा के चार-चार निक्षेप हैं।

३२१. शय्या के छह निक्षेप ये हैं— नामशय्या, स्थापनाशय्या, द्रव्यशय्या, क्षेत्रशय्या, कालशय्या तथा भावशय्या। इनमें से यहाँ द्रव्यशय्या का प्रसंग है। संयती मुनियों के लिए कौनसी द्रव्यशय्या उपयुक्त होती है, उसे जानना चाहिए।

३२२. द्रव्यशय्या तीन प्रकार की होती है—सचित्त, अचित्त और मिथ्य। जिस क्षेत्र में शय्या की जाती है, वह क्षेत्रशय्या है। जिस काल में शय्या की जाती है, वह कालशय्या है।

३२३. द्रव्यशय्या के अन्तर्गत उत्कल, कलिंग आदि दो भाई, बहिन वल्लुमती तथा नैमित्तिक गौतम का कथानक ज्ञातव्य है।^१

३२४. भावशय्या के दो प्रकार हैं—कायविषया और षड्भावविषया। जीव जब औदयिक आदि छह भावों में प्रवर्तित होता है, वह उसकी षड्भावविषया भावशय्या है तथा जब जीव स्त्री आदि की काया में गर्भ रूप में स्थित होता है, वह कायविषया भावशय्या है।

३२५. यद्यपि सभी उद्देशक शय्या-विशुद्धि के कारक हैं, फिर भी प्रत्येक उद्देशक में कुछ विशेष प्रतिपादन है। वह मैं संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

३२६, ३२७. पहले उद्देशक में शय्या—वसति के उव्गम दोषों तथा गृहस्थ आदि के संसर्ग से होने वाले अपायों का चिन्तन है।

दूसरे उद्देशक में शौचवादी के दोषों तथा बहुविध शय्या-विवेक का चिन्तन है।

तीसरे उद्देशक में संयमी की जो छलना होती है, उसके परिहार का विवेक तथा स्वाध्याय में बाधक न बनने वाले सम-विषम स्थान में श्रमण को निर्जरा के लिए रहना चाहिए—यह विवेक है।

३२८. ईर्ष्या शब्द का निक्षेप छह प्रकार का है—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ।

३२९. द्रव्यईर्ष्या के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र । जिस क्षेत्र में जो ईर्ष्या हो, वह क्षेत्रईर्ष्या है । जिस काल में जो ईर्ष्या हो, वह कालईर्ष्या है ।

३३०. भावईर्ष्या के दो प्रकार हैं—चरणईर्ष्या और संयमईर्ष्या । संयमईर्ष्या सत्तरह प्रकार के संयम का अनुष्ठान है । चरणईर्ष्या है—गमनईर्ष्या । श्रमण का किस प्रकार का गमन निर्दोष और परिशुद्ध होता है ? यह एक प्रश्न है ।

३३१. आलंबन—प्रयोजन, काल, मार्ग और यतना—इनके सोलह विकल्प होते हैं । यह सोलह प्रकार का गमन है । इसमें जो परिशुद्ध होता है, वही प्रकास्त गमन होता है ।

३३२. चार कारणों से जो गमन होता है, वह परिशुद्ध होता है । चार कारण हैं—(१) आलंबन—प्रवचन, संध, गच्छ, आचार्य आदि के प्रयोजन से, (२) काल—विहरणयोग्य अवसर, (३) मार्ग—जनता द्वारा क्षुण्ण मार्ग, (४) यतना—गमन में भावक्रिया युक्त होकर युगमात्र दृष्टि से चलना । अथवा अकाल में भी ग्लान आदि के प्रयोजन से यतनापूर्वक उपयुक्त मार्ग में गमन करना परिशुद्ध गमन है ।

३३३. सभी उद्देशक ईर्ष्या-विशोधि के कारक हैं । फिर भी प्रत्येक उद्देशक में कुछ विशेष है, वह मैं कहूंगा ।

३३४, ३३५. पहले उद्देशक में उपागमन—वर्षाकाल में एक स्थान पर रहना तथा शरद् ऋतु में निर्गम और मार्ग में यतना का निरूपण है ।

दूसरे उद्देशक में नौका में आरुह्य व्यक्ति का छलन—प्रक्षेपण—हलन-चलन तथा जंघा संतार—पानी में डरती जाने वाली यतना तथा नानाविध प्रश्नों के पूछे जाने पर साधु के कर्त्तव्य का निरूपण है ।

तीसरे उद्देशक में अदर्शनता (कोई नदी के पानी आदि के विषय में पूछता है तो जानते हुए भी नहीं बताना) तथा उपधि में अप्रतिबद्ध होना—उपधि के चुराए जाने पर शिकायत के लिए स्वजन तथा राजगृह-गमन का वर्जन करने का निर्देश है । (किमी को चुराए गए उपधि के विषय में कुछ न कहना ।)

३३६. जैसे वाक्यशुद्धि अध्ययन में 'वाक्य' के निक्षेप किए थे वैसे ही भाषा शब्द के निक्षेप जानने चाहिए । जात शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव । द्रव्यजात चार प्रकार का है—उत्पत्तिजात, पर्यवजात, अन्तरजात तथा ग्रहणजात ।^१

३३७. भाषाजात अध्ययन के दोनों उद्देशक वचन-विशोधिकारक हैं । फिर भी दोनों में कुछ विशेष है । पहले उद्देशक में वचनविभक्ति का प्रतिपादन है । दूसरे उद्देशक में क्रोध आदि की उत्पत्ति न हो—ऐसे वचनविवेक का निरूपण है ।

३३८. वस्त्रग्रहणा के दो उद्देशक हैं। पहले में वस्त्रग्रहण करने की विधि का प्रतिपादन है और दूसरे में वस्त्रधारण करने की विधि निरूपित है। प्रस्तुत में द्रव्यवस्त्र का प्रसंग है। पात्र के विषय में भी यही निरूपण है। द्रव्यपात्र है—काष्ठ आदि से निर्मित पात्र और भावपात्र है—गुणधारी साधु।

३३९. अवग्रह के चार निक्षेप हैं—द्रव्य अवग्रह, क्षेत्र अवग्रह, काल अवग्रह और भाव अवग्रह। अथवा अवग्रह पांच प्रकार का है—देवेन्द्र का अवग्रह, राजा का अवग्रह, गृहपति का अवग्रह, सागारिक का अवग्रह तथा साधर्मिक का अवग्रह।

३४०. द्रव्य अवग्रह के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। क्षेत्र अवग्रह के भी ये ही तीन प्रकार हैं। काल अवग्रह के दो भेद हैं—ऋतुवृद्धकाल अवग्रह तथा वर्षाकाल अवग्रह।

३४१. भाव अवग्रह दो प्रकार का है—मति अवग्रह तथा ग्रहण अवग्रह। मति अवग्रह के दो भेद हैं—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। अर्थावग्रह पांच इन्द्रिय तथा नोइन्द्रिय के भेद से छह प्रकार का है। व्यंजनावग्रह मन और चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों का होता है। वह चार प्रकार का है। इस प्रकार सारा मतिभाव अवग्रह (६+४) दस प्रकार का है।

३४२. अपरिग्रही भ्रमण का अस्त्र, पात्र आदि को ग्रहण करने का जो परिणाम है, वह ग्रहण अवग्रह है। प्रातिहारिक अथवा अप्रातिहारिक ग्रहण अवग्रह शुद्ध कैसे हो, इसके लिए उसे यतना करनी चाहिए।

दूसरी चूला : सप्तैकक

३४३. सप्तैकक—सात अध्ययनों के कोई उद्देशक नहीं है। (पहला स्थान नामक अध्ययन है) स्थान का वर्णन पहले किया जा चुका है। द्रव्य निक्षेप में ऊर्ध्वस्थान का कथन है। (दूसरा अध्ययन है—निशीथिका।) उसके छह निक्षेप हैं—(नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव)।

३४४. जो शरीर से प्रबलता से निकलता है, वह उच्चार है, विष्ठा है। जो प्रबलरूप से भरता है, वह प्रस्रवण—मूत्र है। मल-मूत्र विसर्जित करते हुए मुनि के अतिचार न होकर शुद्धि कैसे होती है ?

३४५. जो मुनि षड्जीवनिकाय की रक्षा के लिए उद्युक्त है, उसे अप्रमत्त रहते हुए सूत्रोक्त अवग्रह—स्वंहिल में उच्चार-प्रस्रवण का विसर्जन करना चाहिए।

३४६. रूप सप्तैकक के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य रूप है—पांच संस्थान। भाव रूप के दो प्रकार हैं—वर्ण से, स्वभाव से। वर्ण से—पाँचों वर्ण। स्वभाव से—क्रोध के वशीभूत होकर भ्रूभंग आदि शरीर की आकृति आदि।

शब्द सप्तैकक के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य है—शब्द रूप में परिणत भाषा द्रव्य। भाव है—गुण और कीर्ति।

३४७. पर शब्द के नाम आदि छह निक्षेप हैं। द्रव्यपर आदि प्रत्येक के छह-छह प्रकार हैं—द्रव्यपर के छह प्रकार हैं—तत्पर, अन्यपर, आदेशपर, क्रमपर, बहुपर तथा प्रधानपर। अन्यद् शब्द के भी नाम आदि छह निक्षेप हैं। द्रव्य अन्यद् तीन प्रकार का है—तद्-अन्यद्, अन्य-अन्यद्, आदेश-अन्यद्।

३४८. यतमान मुनि का दूसरा मुनि यतनापूर्वक जो करता है, वह परक्रिया प्रासंगिक है। जो निष्प्रतिकर्म है, गच्छनिर्गत है, उसके लिए परक्रिया तथा अन्योन्यक्रिया (पारस्परिक क्रिया) अयुक्त है।

तीसरी चला : भावना

३४९. (भावना शब्द के नाम आदि चार निक्षेप हैं।) जाति कुसुम आदि सुगंधित द्रव्यों के द्वारा तिल आदि को वासित करना द्रव्यभावना है। इसी प्रकार शीत से भावित शीतसहिष्णु तथा उष्ण से भावित उष्णसहिष्णु और व्यायाम से पुष्ट देह व्यसयामसहिष्णु आदि द्रव्यभावना है। भाव-भावना के दो प्रकार हैं—प्रशस्त तथा अप्रशस्त।

३५०. प्राणिबध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथून, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की भावना अप्रशस्त भावभावना है।

३५१. दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, धैर्य आदि प्रशस्त भावभावना है। जो भावना जैसे प्रशस्त होती है, उसको उसी प्रकार लक्षण सहित निरूपित करूंगा।

३५२. जिनशासन—तीर्थंकर भगवान् का प्रवचन, प्रावचनिक—युगप्रधान आचार्य आदि, अतिशायी^१ और ऋद्धिघारी मुनि^२—इनके अभिमुख जाना, बंदन करना, दर्शन करना, कीर्तन करना, पूजा करना तथा स्तुति करना—यह दर्शनभावना है।

३५३, ३५४. तीर्थंकरों की जन्मअभिषेक-भूमि, निष्क्रमण-भूमि, दीक्षा-भूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति-भूमि तथा निर्वाण-भूमि और देवलोक भवनों में, मन्दर पर्वत में, मन्दीश्वर द्वीप में, भौम—पाताल-भवनों में जो शाश्वत चैत्य हैं, उन्हें मैं वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार अष्टापद पर्वत, उज्जयन्त पर्वत, दशार्णकूटवर्ती गजाग्रपद, तलशिला में स्थित धर्मचक्र स्थान, अहिच्छत्रा में अवस्थित पार्श्वनाथ और धरणेन्द्र के महिमा स्थान, रथावर्त पर्वत, जहां वज्रस्वामी ने प्रायोपगमन अंतर्गमन किया था तथा जहां श्री वर्धमानस्वामी की निश्रा में चमरेन्द्र ने उत्पत्तन किया था—इन स्थानों में यथासंभव अभिगमन, बंदन, पूजन, उत्कीर्तन आदि करना दर्शनशुद्धि है।

३५५. प्रावचनिक के ये गुणप्रत्ययिक विषय हैं—गणितज्ञता, निमित्तज्ञता, मुक्तिमत्ता, समदर्शिता, ज्ञान की अवितर्कता—इनकी प्रशंसा करना प्रशस्त दर्शन भावना है।

३५६. आचार्य आदि के अन्यान्य गुणों का साहात्म्य प्रकट करना, ऋषियों का तामोत्कीर्तन करना, उनकी पूजा करने वाले देवता तथा राजाओं के विषय में बताना तथा चिरन्तन चैत्यों की पूजा करना—यह प्रशस्त दर्शन भावना है।

३५७-५९. तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। दोनों को जानना चाहिए। यह परिज्ञान जैन शासन में ही उपलब्ध है। जैन प्रवचन में कार्य—लक्ष्य, करण—साधन (सम्यग् ज्ञान आदि) कारक—मुनि, सिद्धि—मोक्ष, इनका पूर्ण विवेचन है। यहां कर्मबंध तथा उससे मुक्ति का उपाय भी निर्दिष्ट है। (इस प्रकार ज्ञान से वासित करना ज्ञान भावना है।)

बंध बंधहेतु, बंधन तथा बंधन-फल—इनका समुचित विवेचन जैन प्रवचन में है। जैनशासन

१. अतिशायी मुनि अर्थात् केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी।

२. ऋद्धिसंपन्न अर्थात् आमर्ष औषधि आदि ऋद्धियों से सम्पन्न।

में संसार के प्रपञ्च का भी तीर्थकरों ने प्रतिपादन किया है। 'मुझे विशिष्ट ज्ञान होगा'—यह ज्ञान-भावना करनी चाहिए।^१ आदि शब्द से ज्ञान से एकाग्रचित्तता आदि गुण भी प्राप्त होते हैं। वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय में उपयुक्त रहना भी ज्ञानभावना है। ज्ञानभावना से सदा गुरुकुलवास में रहना भी ज्ञानभावना है।

३६३, ३६१. अहिंसा धर्म अच्छा है। सत्य, अदत्ताविरति, ब्रह्मचर्य, परिग्रहाविरति तथा बारहविध तप—ये सब शोभन हैं। वैराग्य भावना, अप्रमाद भावना, एकत्व (एकाग्र) भावना, ये ऋषि के परम अंग हैं। ये सारी भावनाएं चारित्र के अनुगत हैं। आगे तपोभावना का निरूपण करूंगा।

३६२. मेरा दिन तपस्या से अवश्य कैसे हो ? मैं कौनसी तपस्या करने में समर्थ हूँ ? मैं किस द्रव्य के योग से कौनसा तप कर सकता हूँ ? मैं कैसे क्षेत्र और काल में तथा किस भाव—अवस्था में तप कर सकता हूँ ? (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से स्वयं को तोलकर व्यक्ति यथाशक्ति तपोनुष्ठान में संलग्न हो।)

३६३. गृहीत तप के परिपालन में उत्साह रखना चाहिए। इसी प्रकार संयम और संहनन (जो तप का निर्वहन कर सके) की भावना करनी चाहिए। यह तप भावना है। अनित्य आदि बारह भावनाएं करना वैराग्य भावना है। प्रस्तुत में चारित्र भावना का प्रसंग है।

चौथी खूला : विमुक्ति

३६४. विमुक्ति अध्ययन के पांच अधिकार हैं—

१. अनित्यत्व अधिकार।	५. महासमुद्र अधिकार।
२. पर्वत अधिकार।	४. भुजगत्वग् अधिकार।
३. रूप्य अधिकार।	

३६५. जो मोक्ष है, वही विमुक्ति है। प्रस्तुत में भाव-विमुक्ति का प्रसंग है। इसके दो भेद हैं—देशविमुक्त—भवस्थकेवलपर्यन्त साधु तथा सर्वविमुक्त—सिद्ध।

३६६. आचारांग की चतुर्थ खूला की यह निर्युक्ति है। उसकी पांचवीं खूला है—निशीथ। उसका वर्णन आगे करेंगे।

३६७. आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नीचे अध्ययन हैं। उनके उद्देश्यों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—सात, छह, चार, चार, छह, पांच, आठ, आठ, चार।

३६८. दूसरे श्रुतस्कन्ध (आचारखूला) के पन्द्रह अध्ययन हैं। उनके उद्देश्यों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—ग्यारह, तीन, तीन, दो, दो तथा दो। शेष अध्ययनों के कोई उद्देशक नहीं हैं।

१. चार कारणों से ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए—(१) ज्ञान के संग्रह के लिए, (२) निर्जरा के लिए, (३) श्रुत की अव्यवच्छिन्नता के लिए, (४) स्वाध्याय के लिए। (आटी पृ० २८०)

सूत्रकृतांग निर्युक्ति

विषयानुक्रम

१. मंगलाचरण तथा सूत्रकृतांग की निर्युक्ति-कथन की प्रतिज्ञा ।
२. सूत्रकृतांग के एकार्थक ।
३. सूत्र शब्द के निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेद ।
४. करण, कारक और कृत शब्द के निक्षेप का निर्वेक्ष ।
५. द्रव्य करण के भेद-प्रभेद ।
६. मूलकरण और उत्तरकरण का स्वरूप ।
७. प्रयोगकरण का स्वरूप ।
८. विलसाकरण का स्वरूप ।
९. क्षेत्रकरण का स्वरूप ।
१०. कालकरण का स्वरूप ।
- ११-१३. प्रकारान्तर से करण के ११ भेद ।
१४. भावकरण का स्वरूप ।
१५. विलसाकरण का स्वरूप ।
१६. श्रुतज्ञान के आधार पर मूलकरण का निरूपण ।
१७. कर्मकार के आधार पर ग्रन्थ-रचना का प्रतिपादन ।
१८. सूत्रकृत नाम की साधकता ।
१९. सूत्रकृतांग तीर्थकर द्वारा वाग्योग से भाषित एवं गणधरों द्वारा वाग्योग से कृत ।
२०. सूत्रकृत का निरुक्त ।
२१. सूत्र शब्द का निरुक्त ।
२२. श्रुतस्कन्ध तथा अध्ययनों की संख्या का निर्देश ।
२३. याथा, श्रुत तथा स्कन्ध शब्द के निक्षेप ।
- २४-२८. सूत्रकृतांग के अध्ययन तथा उनकी विषय-वस्तु का निर्देश ।

पहला अध्ययन : समय

- २९-३१. प्रथम अध्ययन के उद्देश्यों की विषय-वस्तु का संकेत ।
३२. समय शब्द के आरह निक्षेप ।
३३. धार्मिक दर्शन का निरूपण ।
३४. अकारकवाद का निराकरण ।
३५. आत्मा को सक्रिय मानने पर उठने वाली आशंकाएं ।

दूसरा अध्ययन : वैतालीय

- ३६, ३७. द्वितीय अध्ययन के उद्देश्यों की विषय-वस्तु का संकेत ।
३८. विदारक, विदारण तथा विदारणीय शब्द के निक्षेपों का मात्र संकेत ।
३९. द्रव्य और भाव विदारण का स्वरूप ।
४०. वैतालीय का निरुक्त तथा उक्त छंद का उल्लेख ।
४१. प्रस्तुत अध्ययन की रचना का इतिहास ।
४२. द्रव्यनिद्रा, भावनिद्रा तथा भावसंबोध का स्वरूप ।
- ४३, ४४. संयम, तप आदि के अभिमान का तथा आठ भवस्थानों के परिहार का निर्देश ।

तीसरा अध्ययन : उपसर्ग-परिज्ञा

- ४५, ४६. तीसरे अध्ययन के उद्देश्यों की विषय-वस्तु का कथन ।
४७. उपसर्ग शब्द के अह निक्षेप तथा द्रव्य उपसर्ग के भेद ।
- ४८-५०. क्षेत्र, काल, भाव तथा द्रव्य के भेद-प्रभेद ।
- ५१-५३. उदासीनता से किए जाने वाले हिंस्र आदि कार्य की समीक्षा में तीन दृष्टांत ।

चौथा अध्ययन : स्त्री-परिज्ञा

५४. चौथे अध्ययन के उद्देश्यों की विषय-वस्तु का संकेत ।

५५. स्त्री शब्द के निक्षेप ।
 ५६. पुरुष शब्द के निक्षेप ।
 ५७. स्त्रियों द्वारा छलित अभय, प्रद्योत तथा कूलवाल मुनि के उदाहरण का संकेत ।
 ५८. स्त्रियों पर विश्वास नहीं करने का निर्देश ।
 ५९. नारी के बशीभूत होने के दुष्परिणाम ।
 ६०. वीर पुरुष की पहचान ।
 ६१. पुरुषों के प्रति आसक्ति से भी उक्त दोषों की संभावना का निर्देश ।

पाँचवाँ अध्ययन : नरकविभक्ति

६२. नरक शब्द के छह निक्षेप ।
 ६३. भाव नरक का स्वरूप तथा तप-चारित्र में उल्लम करने का निर्देश ।
 ६४. विभक्ति शब्द के छह निक्षेपों का वर्णन ।
 ६५. नारकीय वेदना का वर्णन ।
 ६६, ६७. परमाध्यात्मिक देवों का नामोल्लेख ।
 ६८-८२. अंभ आदि परमाध्यात्मिक देवों द्वारा दी जाने वाली विविध वेदनाओं का वर्णन ।

छठा अध्ययन : महावीर-स्तुति

८३. महद् और वीर शब्द के निक्षेपों का कथन ।
 ८४. स्तुति शब्द के निक्षेप तथा द्रव्य और भाव स्तुति का स्वरूप-वर्णन ।
 ८५. महावीर-स्तुति अध्ययन का सार—यतना ।

सातवाँ अध्ययन : कुशील-परिभाषित

- ८६, ८७. शील शब्द के चार निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेदों का स्वरूप-कथन ।
 ८८. कुशील-परिभाषित अध्ययन की अन्वर्थता ।
 ८९. शीलवादी कौन ?
 ९०, ९१. हिंसा करने वाला अनगार कैसे ?
 ९०. विभिन्न परिग्रहजनों का कथन ।

आठवाँ अध्ययन : वीर्य

- ९१-९४. वीर्य शब्द के छह निक्षेप तथा उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन ।

९५. मन, वचन आदि की क्रिया वीर्य द्वारा संभव ।
 ९६. आध्यात्मिक वीर्य के प्रकार ।
 ९७. वीर्य के तीन भेद ।
 ९८. शस्त्र के प्रकार ।

नौवाँ अध्ययन : धर्म

९९. धर्म के विषय में पूर्व कथन का उल्लेख ।
 १००. धर्म शब्द के निक्षेप तथा द्रव्य धर्म के भेद ।
 १०१. भावधर्म के लौकिक और लोकोत्तर भेद-प्रभेदों का उल्लेख ।
 १०२. धर्म के अनधिकारी व्यक्ति की पहचान ।

दसवाँ अध्ययन : समाधि

१०३. दसवें अध्ययन का आदान-प्रद से आश तथा गौण रूप से समाधि नाम का उल्लेख ।
 १०४. समाधि शब्द के छह निक्षेपों का उल्लेख ।
 १०५. द्रव्य समाधि, क्षेत्र समाधि और काल समाधि का स्वरूप ।
 १०६. भाव समाधि के चार प्रकार ।

ग्यारहवाँ अध्ययन : मार्ग

१०७. मार्ग शब्द के छह निक्षेपों का उल्लेख ।
 १०८. द्रव्य मार्ग के भेदों का नामोल्लेख ।
 १०९, ११०. क्षेत्र मार्ग आदि का स्वरूप-कथन तथा भावमार्ग के भेद-प्रभेदों का निर्देश ।
 १११. तीन सौ त्रैसठ प्रवादियों का उल्लेख ।
 ११२. सम्यक् तथा मिथ्यामार्ग का स्वरूप-निरूपण ।
 ११३. कुमार्ग के उपदेष्टा के लक्षण ।
 ११४. सुमार्ग के उपदेष्टा के लक्षण ।
 ११५. मोक्ष मार्ग शब्द के एकार्थक ।

बारहवाँ अध्ययन : समवसरण

११६. समवसरण शब्द के छह निक्षेपों का उल्लेख ।
 ११७. भाव समवसरण के भेद ।
 ११८. क्रियावादी, अक्रियावादी, वैतयिक तथा अज्ञानवादी का उल्लेख ।

११९. क्रियावादी आदि चारों वादों की भिन्न-भिन्न संख्या का निर्देश ।
 १२०. प्रस्तुत अध्ययन के समवसरण नाम की सार्थकता ।
 १२१. सम्यक् और मिथ्यावादों का उल्लेख तथा मिथ्यावाद को छोड़कर सम्यक्वाद को अपनाने का निर्देश ।

तेरहवां अध्ययन : माथातथ्य

१२२. तथ्य शब्द के निक्षेप तथा उनका स्वरूप-कथन ।
 १२३. भाव तथ्य का स्वरूप ।
 १२४. माथातथ्य का स्वरूप ।
 १२५. परम्परा से प्राप्त आगम की वयार्थता का निर्देश ।
 १२६. आत्मोत्कर्ष के वर्जन का निर्देश ।

बीसहवां अध्ययन : ग्रन्थ

- १२७-२९. शिष्य के भेद-प्रभेद ।
 १३०, १३१. आचार्य के प्रकार ।

पंद्रहवां अध्ययन : यमकीय

१३२. आदान और ग्रहण शब्द के निक्षेप ।
 १३३. प्रस्तुत अध्ययन के नाम 'आदानिज्ज' शब्द की सार्थकता ।
 १३४. आदि शब्द के निक्षेप तथा द्रव्य आदि का स्वरूप-कथन ।
 १३५, १३६. भाव आदि के भेद-प्रभेद ।

सोलहवां अध्ययन : गाथा

१३७. गाथा शब्द के निक्षेप तथा द्रव्य गाथा का स्वरूप ।
 १३८. भाव गाथा का स्वरूप ।
 १३९, १४०. गाथा शब्द का निरुक्त तथा स्वरूप-कथन ।
 १४१. सोलहवें अध्ययन की विषय-वस्तु का निर्देश ।

द्वितीय श्रुतस्कंध

प्रथम अध्ययन : पौंडरीक

१४२. महद् शब्द के छह निक्षेपों का कथन ।
 १४३. अध्ययन शब्द के निक्षेप ।
 १४४. पौंडरीक शब्द के आठ निक्षेपों का कथन ।
 १४५, १४६. द्रव्य तथा भाव पौंडरीक का स्वरूप और उनके भेद ।
 १४७. पौंडरीक और कंडरीक का लक्षण ।
 १४८-५७. वेध, मनुष्य आदि में 'पौंडरीक' तथा 'कंडरीक' का उल्लेख ।
 १५८. द्रव्य पौंडरीक कमल और भाव पौंडरीक श्रमण का कथन ।
 १५९. उपमा और उपमेय की सिद्धि ।
 १६०. मनुष्य की ही जिनोपदेश से सिद्धि/मुक्ति ।
 १६१. भारीकर्मा मनुष्य की भी जिनोपदेश से उसी भव में सिद्धि ।
 १६२. पुष्करिणी की दुरवगाहता ।
 १६३. पद्म के उद्धरण में आने वाली विपत्ति ।
 १६४. पद्म-उद्धरण के उपाय ।
 १६५. उपसंहार पद ।

दूसरा अध्ययन : क्रिया

१६६. द्वितीय श्रुतस्कंध के द्वितीय अध्ययन का नाम निर्देश तथा संक्षिप्त विषय-वस्तु का उल्लेख ।
 १६७. द्रव्यक्रिया तथा भावक्रिया का स्वरूप ।
 १६८. स्थान शब्द के १५ निक्षेपों का उल्लेख ।
 १६९. क्रिया द्वारा प्राचादुकों की परीक्षा ।

तिसरा अध्ययन : आहार-परिज्ञा

१७०. आहार शब्द के पांच निक्षेप ।
 १७१. द्रव्य आहार आदि का स्वरूप-कथन ।
 १७२. ओज, रोम तथा प्रक्षेप आहार का कथन ।
 १७३. अपर्याप्तक और पर्याप्तक के आहार का कथन ।
 १७४. प्रक्षेप आहार किसके ?
 १७५. जीव की अनाहारक अवस्था का समय ।

- १७६, १७७. केवली समुद्घात में अनाहारक अवस्था का वर्णन ।
 १७८. तैजस और कर्मण शरीर द्वारा आहार-ग्रहण ।
 १७९. परिज्ञा शब्द के चार निक्षेप तथा उनके भेद-प्रभेद ।

चौथा अध्ययन : प्रत्याख्यान क्रिया

१८०. प्रत्याख्यान शब्द के छह निक्षेपों का उल्लेख ।
 १८१. प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान क्रिया का स्वरूप ।

पाचवां अध्ययन : अनगार श्रुत

१८२. आचार और श्रुत शब्द के निक्षेपों का उल्लेख ।
 १८३. अनाचार वर्जन का निर्देश ।

१८४. प्रस्तुत अध्ययन (आचारश्रुत) का अपर नाम अनगारश्रुत का उल्लेख ।

छठा अध्ययन : आर्द्राद्य

१८५. आर्द्र शब्द के चार निक्षेप ।
 १८६, १८७. द्रव्य आर्द्र एवं भाव आर्द्र के भेद-प्रभेदों का उल्लेख ।
 १८८-२००. आर्द्रक कुमार की कथा का वर्णन ।
 २०१. राग के बंधन को तोड़ना जटिल ।

सातवां अध्ययन : नालंबीय

२०२. 'अलं' शब्द के चार निक्षेप ।
 २०३. अलं शब्द के चार भिन्न-भिन्न अर्थों का निर्देश ।
 २०४. नालंदा की स्थिति का वर्णन ।
 २०५. प्रस्तुत अध्ययन 'नालंबीय' के नाम की सार्थकता का उल्लेख ।
 २०६. प्रस्तुत अध्ययन की रचना का इतिहास ।

गाथाओं का समीकरण

सूत्रकृतांग निर्युक्ति की गाथाएं चूर्णि एवं टीका—दोनों में मिलती हैं पर कहीं कहीं उनके क्रम में अंतर है। पाठ-संपादन में हमने प्राचीनता की दृष्टि से चूर्णि के क्रम को प्राथमिकता दी है। समीकरण में सूत्रकृतांग चूर्णि के प्रथम श्रुतस्कन्ध को निर्युक्ति-गाथा का ही संकेत दिया जा रहा है क्योंकि दूसरे श्रुतस्कन्ध को चूर्णि में गाथाओं का केवल संकेत मात्र है तथा उनके आगे गाथा संख्या भी नहीं है। अतः समीकरण में उनका संकेत नहीं किया है।

संपादित	चूर्णि	टीका	संपादित	चूर्णि	टीका
१	१	१	२४	२२	२४
२	२	२	२५	२३	२५
३	३	३	२६	२४	२६
४	४	४	२७	२५	२७
५	५	५	२८	२६	२८
६	६	६	२९	२७	३०
७	७	७	३०	२८	३१
८	८	८	३१	२९	३२
९	९	९	३२	३०	३३
१०	१०	१०	३३	३१	३४
११	×	११	३४	×	३५
१२	×	१२	३५	×	३६
१३	×	१३	३६	३२	४०
१४	११	१४	३७	३३	४१
१५	१२	१५	३८	३४	३६
१६	१३	१६	३९	३५	३७
१७	१४	१७	४०	३६	३८
१८	१५	१८	४१	३७	३९
१९	१६	१९	४२	३८	४२
२०	१७	२०	४३	३९	४३
२१	१८	२१	४४	४०	४४
२२	१९ ^१	२२	४५	४१	४९
२३	२१	२३	४६	४२	५०

१. चूर्णि में २० नम्बर की गाथा के स्थान पर रिक्त स्थान है।

संपादित	बुधि	टीका	संपादित	बुधि	टीका
४७	४३	४५	८०	७३	८२
४८	४४	४६	८१	७४	८३
४९	४५	४७	८२	७५	८४
५०	४६	४८	८३	७६	८५ ^१
५१	X	५३ ^१	८४	७७	८४
५२	X	५४	८५	७८	८५
५३	X	५५	८६	७९	८६
५४	४७	५८	८७	८०	८७
५५	४८	५६	८८	८१	८८
५६	४९	५७	८९	८२	८९
५७	५०	५९	८९/१	X	X
५८	५१	६०	९०	८३	९०
५९	५२	६१	९१	८४	९१
६०	५३	६२	९२	८५	९२
६१	५४	६३	९३	८६	९३
६२	५५	६४	९४	८७	९४
६३	५६	६५	९५	८८	९५
६४	५७	६६	९६	८९	९६
६५	५८	६७	९७	९०	९७
६६	५९	६८	९८	९१	९८
६७	६०	६९	९९	९२	९९
६८	६१	७०	१००	९३	१००
६९	६२	७१	१०१	९४	१०१
७०	६३	७२	१०२	९५	१०२
७१	६४	७३	१०३	९६	१०३
७२	६५	७४	१०४	९७	१०४
७३	६६	७५	१०५	९८	१०५
७४	६७	७६	१०६	९९	१०६
७५	६८	७७	१०७	१००	१०७
७६	६९	७८	१०८	१०१	१०८
७७	७०	७९	१०९	१०२	१०९
७८	७१	८०	११०	१०३	११०
७९	७२	८१	१११	१०४	१११

१. टीका में ५० के बाद ५३ का क्रमांक है।

२. टीका में क्रमांक ८४ के बाद पुनः ८३ से संख्या की पुनरावृत्ति हुई है।

संपादित	शृणि	टीका	संपादित	टीका
११२	१०५	११२	१४३	१४३
११३	१०६	११३	१४४	१४४
११४	१०७	११४	१४५	१४५
११५	१०८	११५	१४६	१४६
११६	१०९	११६	१४७	१४७
११७	११०	११७	१४८	१४८
११८	१११	११८	१४९	१४९
११९	११२	११९	१५०	१५०
१२०	११३	१२०	१५१	१५१
१२१	११४	१२१	१५२	X
१२२	११५	१२२	१५३	१५२
१२३	११६	१२३	१५४	१५३
१२४	११७	१२४	१५५	१५४
१२५	११८	१२५	१५६	१५५
१२६	११९	१२६	१५७	१५६
१२७	१२०	१२७	१५८	१५७
१२८	१२१	१२८	१५९	१५८
१२९	१२२	१२९	१६०	१५९
१३०	१२३	१३०	१६१	१६०
१३१	१२४	१३१	१६२	१६१
१३२	१२५	१३२	१६३	१६२
१३३	१२६	१३३	१६४	१६३
१३४	१२७	१३४	१६५	१६४
१३५	१२८	१३५	१६६	१६५
१३६	१२९	१३६	१६७	१६६
१३७	१३०	१३७	१६८	१६७
१३८	१३१	१३८	१६९	१६८
१३९	१३२	१३९	१७०	१६९
१४०	१३३	१४०	१७१	१७०
१४१	१३४	१४१	१७२	१७१
१४२	० ^१	१४२	१७३	१७२
			१७४	१७३
			१७५	१७४

१. मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित सूत्रकृतांग शृणि का प्रथम श्रुतस्कंध ही प्रकाशित है। उसके आगे ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था से प्रकाशित शृणि में गाथा संख्या का उल्लेख नहीं है अतः यहाँ से आगे शृणि की गाथा का संकेत नहीं दिया है।

સંપાદિત	ઠીકા	સંપાદિત	ઠીકા	સંપાદિત	ઠીકા
૧૭૬	૧૭૫	૧૮૭	૧૮૬	૧૯૭	૧૯૬
૧૭૭	૧૭૬	૧૮૮	૧૮૭	૧૯૮	૧૯૭
૧૭૮	૧૭૭	૧૮૯	૧૮૮	૧૯૯	૧૯૮
૧૭૯	૧૭૮	૧૯૦	૧૮૯	૨૦૦	૧૯૯
૧૮૦	૧૭૯	૧૯૧	૧૯૦	૨૦૧	૨૦૦.
૧૮૧	૧૮૦	૧૯૨	૧૯૧	૨૦૨	૨૦૧
૧૮૨	૧૮૧	૧૯૩	૧૯૨	૨૦૩	૨૦૨
૧૮૩	૧૮૨	૧૯૪	૧૯૩	૨૦૪	૨૦૩
૧૮૪	૧૮૩	૧૯૫	૧૯૪	૨૦૫	૨૦૪
૧૮૫	૧૮૪	૧૯૬	૧૯૫	૨૦૬	૨૦૫
૧૮૬	૧૮૫				

सूत्रकृतांग निर्युक्ति

१. तित्थगरे य जिणवरे, सुत्तगरे गणधरे य नमिऊणं ।
सूयगडस्स^१ भगवतो, निज्जुत्ति कित्तइस्सामि ॥
२. सूयगडं^२ अंगाणं, वित्थं तस्स य इमाणि नामाणि ।
'सूतगडं' सुत्तकडं^३, सूयगडं^४ चेव गोण्णाणि ॥
३. दब्बं तु पोंडगादी, भावे सुत्तमिह^५ सूयगं^६ नाणं ।
सण्णा-संगह-वित्ते^७, जातिनिबद्धे^८ च कत्थादी ॥
४. करणं च कारगो या, कडं च तिण्हं पि छक्कनिक्खेवो ।
दब्बे सेत्ते काले, भावेण उ कारगो जीवो ॥
५. दब्बे पओगवीसस, पयोगसा मूल उत्तरे चेव ।
उत्तरकरणं वंजण, अत्थो 'उ उवक्खरो'^९ सव्वो ॥
६. मूलकरणं सरीराणि, पंच तिसु कण्णखंधमादीयं ।
दग्धिदियाणि परिणामियाणि विस-ओसधादीहि^{१०} ॥
७. संघात्तणा^{११} य परिसाडणा य भीसे तद्येव^{१२} पडिसेहे ।
पड-संख-सगड-थूणा-उड्ड-तिरिच्छाण^{१३} करणं च^{१४} ॥
८. खंधेसु 'य दुपदेसादिएसु'^{१५} अग्गेसु विज्जुमादीसु^{१६} ।
निप्फण्णगाणि^{१७} दब्बाणि, जाणि^{१८} तं वीससाकरणं ॥

१. सुत्तगडस्स (अ) ।

२. सुत्तकडं (बू) ।

३. सूयगडं सुत्तगडं (क) ।

४. सूत्राकृतं इति टीकाकारः । छंदानुलोम के कारण प्राकृत में दीर्घ का ह्रस्व हो गया । अतः सूतगडं और सूयगडं (सूत्राकृतं) एक नहीं है ।

५. सुत्तमह (बू) ।

६. सूयतं (क) ।

७. वित्तं (व) ।

८. ०निबद्धं (द) ।

९. तदुवक्खरो (अ) ।

१०. तु उति १९४ ।

११. संघायणे (क,टी) ।

१२. तद्देव (अ,ब,द,क,टी) ।

१३. तिरिच्छादि (क,टी) ।

१४. उति १९७ ।

१५. दुप्पएसा ०(टी) ।

१६. अग्गमइक्खेसु (उति १९०), विज्जमातीसु(बू) ।

१७. निप्फावगाणि (बू) ।

१८. जाण (टी) ।

९. न विणा आगासेणं, कीरति जं किंचि खेत्तमागासं ।
वज्जणपरियावण्णं, उच्छुक्करणमादियं बहुहा^१ ॥
१०. कालो जो जावइओ^२, जं कीरइ जम्मि जम्मि कालम्मि ।
ओहेण नामतो पुण, 'भवन्ति एक्कारसक्करणा'^३ ॥
११. ववं च बालवं चैव, कोलवं^४ थोविलोयणं^५ ।
गरादि वणियं^६ चैव, विट्ठी हवति सत्तमा^७ ॥
१२. सउणि चतुप्पय^८ नागं, किंथुग्घं^९ च करणं भवे एयं ।
एते चत्तारि घुवा, 'सेसा करणा'^{१०} चला सत्त^{११} ॥
१३. चाउहसिरत्तीए,^{१२} सउणी पडिवज्जती सदा करणं ।
तत्तो अहक्कमं खलु, चउप्पयं^{१३} नाग किंथुग्घं^{१४} ॥
१४. भावे पयोग वीसस, पयोगसा मूल उत्तरं^{१५} चैव ।
उत्तर-कम^{१६}-सुत जोव्वण^{१७}, वण्णादी भोयणादीसु ॥
१५. 'वण्णादिगा य'^{१८} वण्णादिगेसु जो कोइ वीससामेलो^{१९} ।
ते होति थिरा अथिरा, छायाऽऽतव-दुद्धमादीसु ॥
१६. मूलकरणं^{२०} पुण सुत्ते^{२१}, तिदिधे जेगे सुभाऽऽतवे आगे ।
ससमयसुत्तेण पगतं, अज्झवसाणेण य सुभेणं ॥

१. देखें उनि १९९ ।	सउणि चतुप्पय नागं,
२. जावइओ (अ,ब) ।	किंथुग्घं च चतुरो घुवा करणा ।
३. करणा एक्कारस हवन्ति (क,टी), करणे एक्कारस भवन्ति (घू) ।	किण्हचउहसिरत्ति, सउणी सेसं तिथं कमसो ॥
४. कोडवं (घू) ।	११. चाउहसि ०(क), किण्हचउहसिरत्ति (ब) ।
५. तेल्लिं तहा (टी) ।	१२. ०प्पया (क) ।
६. सुद्धपडिवए णिसादीया (चू) । ११-१३ ये तीन गाथाएं चूणि में उद्धृत गाथा के रूप में हैं । मुनि पुण्यविजयजी ने इन्हें निर्युक्तिगाथा के क्रम में स्वीकृत नहीं किया है । ये गाथाएं सभी हस्तप्रतियों और टीका में मिलती हैं ।	१३. किंथुग्घं (टी), उनि १९२, तु. जंबु ७।१२३- २५ ।
७. ०पयं (टी) ।	१४. उत्तरे (क,टी) ।
८. किंथुग्घं (टी, उनि २०२), किंथुग्घं (क) ।	१५. कम (अ,ब) ।
९. अन्ते करणा (टी), करणा सेसा (क) ।	१६. जोव्वण (टी) ।
१०. सूत्रकृतांग चूणि (पृ० १०) में कुछ अन्तर के साथ यह गाथा मिलती है—	१७. ०दियाणि (अ) ।
	१८. ०मेला (क) ।
	१९. ०करणे (ब) ।
	२०. सुत्ते (अ) ।

१७. ठिति-अणुभावे बंधण-‘निकायण-निधत्त’^१-दीह-हस्सेसु^२ ।
संकम-उदीरणाए, उदए^३ वेदे उवसमे य ॥
१८. सोऊण जिणवरमतं, गणधारी कातु तक्खओवसमं ।
अज्झवसाणेण कतं, सुत्तमिणं^४ तेण सूयगडं^५ ॥
१९. वइजोगेण^६ पभासितमणेगजोगंधराणं^७ साधुणं ।
तो वइजोगेण^८ कतं, जीवस्स सभावियगुणेहिं^९ ॥
२०. ‘अक्खर-गुण-मतिसंघातणाए कम्मपरिसाढणाए य ।
तदुभयजोगेण कयं, सुत्तमिणं तेण सूयगडं^{१०} ॥
२१. सुत्तेण ‘सूइत ति य’^{११}, अत्था तह सूइता य जुत्ता य ।
जो^{१२} बहुविघप्पजुत्ता, ससमयजुत्ता^{१३} अणादीया ॥

प्रथम श्रुतस्कांध

२२. दो चेव सुतक्खंधा, अज्झयणाइं हवंति^{१४} तेवीसं ।
‘तेत्तीसं उद्देसा’^{१५} आयारातो दुगुणमेतं^{१६} ॥
२३. निक्खेवो गाधाए^{१७}, चउव्विहो छव्विहो य सोलससु ।
निक्खेवो उ^{१८} ‘सुयम्मि य’^{१९}, खंधे य चउव्विहो होइ ॥
२४. ससमय-परसमयपरुव्वणा य नाऊण बुज्झणा चेव ।
‘संबुद्धस्सुवसग्गा, थीदोसविवज्जणा चेव’^{२०} ॥

१. निकायं निहत्तं (अ), ०निहत्ति (क) ।

२. हस्से य (चू) ।

३. ×(ब) ।

४. सुत्त०(टी) ।

५. सुत्तगडं (चू) ।

६. वयजो०(द) ।

७. ०जोगकरणाण (चू) ।

८. वयजो ०(टी) ।

९. ०गुणेण (अ,ब,क,टी) ।

१०. सुत्तगडं (टी), सुत्तकडं (चू) ।

११. सुत्तिया चिय (टी), सुत्तयच्चिय (अ,ब) ।

१२. तो (क) ।

१३. एय पसिद्धा अणा०(टी), पया य सिद्धा
अणा ०(क) ।

१४. य हुंति ०(क,टी) ।

१५. तेत्तीसुद्देसणकाला (क,टी), तेत्तीसं उद्देसं
(चू) ।

१६. ०णमंगं (टी) । इस गाथा के बाद सूत्रकृतांग
चूर्ण के अनुसार एक निर्युक्तिगाथा और होनी
चाहिए । चूर्ण में उसकी व्याख्या तो मिलती
है लेकिन यह गाथा किसी भी आदर्श तथा
टीका में प्राप्त नहीं है । मुनि पुण्यविजयजी
ने रिक्त स्थान देकर वहां २० का क्रमांक
लगाया है । टीकाकार ने इस गाथा के बारे
में कोई ऊहापोह नहीं किया है । संभव है
कालांतर में किसी कारण से यह सुप्त हो गई
हो ।

१७. गाधाए (टी) ।

१८. य (क,चू,टी) ।

१९. सुयम्मी (क) ।

२०. अ प्रति में गाथा का उत्तरार्ध नहीं है ।

२५. उवसग्गभीरुणो थीवसस्स नरगेसु होज्ज उववाओ ।
एव महप्पा वीरो, जयमाह तहा जएज्जाह ॥
२६. 'निस्सील-कुसीलजढो, सुसालसेवां य' सीलवं चैव ।
नाऊण वीरियदुगं, पंडितविरिए* पयतितव्वं* ॥
२७. धम्मो समाहि मग्गो, समोसठा चउसु सव्ववादीसु ।
सीसगुण दोसकहणा, गंथम्मि सदा गुरुनिवासो ॥
२८. आदाणिय संकलिया, आदाणिज्जम्मि* आयतचरित्तं* ।
अप्पमग्गे 'पिडियवयणे, गाथाए'* अहिगारो* ॥
२९. महं पंचभूत एकप्पए य तज्जीवतस्सरीरी* य ।
तध य अकारगवादी** , आतच्छट्ठो** अफलवादी ॥
३०. बितिए** नियतीवाओ, अण्णाणिय** तह य नाणवादी** य ।
कम्मं चयं न गच्छति, चतुन्विधं भिक्खुसमयम्मि ॥
३१. ततिए आहाकम्मं, कडवादी** जघ य ते पवादीओ** ।
किच्चुवमा य चउत्थे, परप्पवादी अविरसेसु ॥
३२. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले कुतिस्थि**-संगारे ।
कुल-गण-संकरसमए, गंडी तध** भावसमए य** ॥

१. परिषत्तनिसील-कुसील-सुसील सेविया दुट्ठु (क) ।

परिषत्तनिसील-कुसील-सुसील-संविग्ग (टी) ।

परिषत्त निसील कुसील सुसीलसेवी य (चू) ।

२. *वीरिए (टी,ब) ।

३. पयट्ठेह (पयट्ठिज्जा) (टी) ।

४. आयाणीयम्मि (अ,ब) ।

५. आदयच० (टी) ।

६. पिडियवयणे ० (चू), पिडियवयणेणं होह (टी) ।

७. अहीयारो (ब) ।

८. मघ (अ,ब,चू) ।

९. ०सरीरे (क) ।

१०. अकारगवाती (टी) ।

११. असच्छट्ठो (टी), आतच्छट्ठो (अ,ब) ।

१२. वीए (टी) ।

१३. अण्णाणी (चू) ।

१४. नाणवाईओ (अ,टी), नाणवाओ य (द) ।

१५. ०वाह (ब), कडवायं (ब) ।

१६. पवादी तु (चू), य वाईओ (टी) ।

१७. कुतिस्थ (टी), य कुतिस्थ (क) ।

१८. संकरगंडी बोद्धव्वो (क,टी) ।

१९. प्रथम अध्ययन में चूर्णि एवं टीका में आई निर्युक्ति गाथाओं में क्रमव्यत्यय मिलता है । चूर्णि में चार उद्देशकों के विषय-वस्तु की गाथाएं पहले हैं तथा फिर 'समय' अध्ययन से संबंधित गाथाएं हैं । चूर्णि का क्रम संगत प्रतीत होता है । हस्तप्रतियों में टीकाक्रम से गाथाएं हैं । हमने चूर्णि का क्रम स्वीकृत किया है । (देखें टिप्पण गाथा ३६ का ।)

३३. पंचणहं संजोगे, अण्णगुणाणं च चेयणादिगुणो^१ ।
पंचेदियठाणाणं, न अण्णमुणितं मुणति अन्नो ॥
३४. को वेदेई अकयं ?, कयनासो पंचहा गई नत्थि ।
देव-मणुस्सगयागइ, जाइस्सरणादियाणं^२ च ॥
३५. न इ अफलधोवनिच्छित्त^३कालफलत्तणमिहं अदुमहेऊ ।
नादुद^४ धोवदुदत्तणे अगावित्तणे हेऊ^५ ॥
समयस्स निञ्जुत्ती समत्ता
३६. पठमे संबोधि^६ अणिच्चया य वितियम्मि^७ माणवज्जणता ।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ^८ ॥
३७. उद्देसम्मि य^९ सतिए, मिच्छत्तावेत्तस्स^{१०} अवचयो भणितो ।
वज्जेयव्वो य सया, सुहप्पमादो^{११} जतिजणेणं ॥
३८. वेयालियम्मि^{१२} वेयालगो य वेयालणं वियालणियं^{१३} ।
तिस्सि वि चउक्कगाइं, वियालओ एत्थ पुण जीवो ॥

१. चेयणाइ० (अ,द) ।
२. जाइस्सरणा ०(ब,टी), ०सरणादिठाणं(अ,द) ।
३. अफलत्तमनिच्छय (द), अफलधेव ०(ब) ।
४. गोदुद (अ) ।
५. गाथा ३४, ३५ चूणि में अनुपलब्ध है ।
टीकाकार ने 'अधुना निर्मुक्तिकारो' तथा
'निर्मुक्तिकृदाह' ऐसा उल्लेख किया है । ये
दोनों गाथाएं सभी आदर्शों में मिलती हैं । ये
गाथाएं निर्मुक्ति की प्रतीत होती हैं ।
६. संबोहो (अ,ब,द,क,टी) ।
७. बीयम्मि (अ,ब,टी) ।
८. द्वितीय अध्ययन में भी निर्मुक्ति गाथाओं में
क्रमव्यत्यय है । चूणि में सर्वप्रथम उद्देशकों
के विषय-वस्तु का निरूपण करने वाली
गाथाएं हैं तथा टीका में वेतालीय अध्ययन
से सम्बन्धित गाथाएं हैं । टीकाकार स्वयं इस
बात का उल्लेख करते हुए कहते हैं—
'तत्राध्ययनार्थाधिकार प्रागेव निर्मुक्तिकारेणा-

भाणि.....उद्देशार्थाधिकारं तु स्वत एव
निर्मुक्तिकार उत्तरत्र वक्ष्यति ।' फिर भी
यहाँ पहले कौनसी गाथा होनी चाहिये यह
निर्णय करना कठिन है क्योंकि अन्य
निर्मुक्तियों में कहीं उद्देशक के विषय-वस्तु
वाली गाथाएं बाद में हैं तो कहीं पहले हैं ।
हस्त-आदर्शों में गाथाओं का क्रम टीका का
संवादी है । हमने चूणि के अनुसार गाथाओं
का क्रम रखा है ।

९. तु (स) ।
१०. अन्नानिच्छयस्स(ब), अन्नानिचयस्स(क,टी) ।
११. ०प्पमाओ (अ,ब,द,टी) ।
१२. वेयालियं ति (क), वेदालियम्मि (द);
वेतालियम्मि (च) द आदर्श तथा चूणि में
सभी स्थानों पर त का प्रयोग हुआ है ।
वेदालीय और वेतालीय ये दोनों पाठ शुद्ध
हैं ।
१३. वियालणं (अ)

३९. दब्बं च परसुभादी, दंसण-ताण-तव-संजमा भावे ।
दब्बं च दारुगादी, भावे कम्मं विदालणियं^१ ॥
४०. वेयालीयं^२ इह देसितं ति वेयालिकं^३ ततो होति ।
वेतालिकं इहं^४ वित्तमस्थि तेणेव य निबद्धं ॥
४१. कामं तु सासतमिणं, कधितं अट्टावयम्मि उसभेण ।
अट्टाणउतिसुताणं,^५ 'सोऊण व'^६ ते वि पव्वइता ॥
४२. दब्बं निदावेदो^७, दंसण^८-ताण-तव-संजमो^९ भावे ।
अधिकारो पुण^{१०} भणितो, नाणे तह^{११} दंसण-वरित्ते ॥
४३. तव-संजम-ताणेषु वि, जइ^{१२} माणो वज्जितो महेसीहि^{१३} ।
अत्तसमुक्कसणट्ठं^{१४}, किं पुण हीला नु^{१५} अन्नेसि ॥
४४. जइ ताव निज्जरमदो^{१६}, पडिसिद्धो अट्टमाणमहणेहि ।
अवसेसमदट्टाणा^{१७}, परिहरतव्वा पयप्तेणं ॥
वेयालीयस्स निज्जुत्तो समत्ता
४५. पढमम्मि य पडिलोमा, होत्ती^{१८} अणुलोमगा य वित्तियम्मि ।
ततिए अज्जत्तुवदंसणा^{१९} च परवादिवयणं च^{२०} ॥

१. विदालणियं (क) ।

२. वेतालियं (चू), वेतालीयं (अ) ।

३. वेदालिकं (व) ।

४. तहा (क,टी) ।

५. अट्टाणवति० (द,स) ।

६. सोऊणं (टी), सोऊण वि (अ,ब,द) ।

७. निदाबोहो (अ) ।

८. वरिसण (चू) ।

९. संजमा (टी) ।

१०. पुव्व (स) ।

११. तव (स,ब) ।

१२. जति (चू) ।

१३. महेसीहिमा (स) ।

१४. ०भुक्करिसत्थं (अ,ब,टी) ।

१५. उ (अ,ब,क,टी) ।

१६. ०मतो (चू), ०मओ (अ,टी) ।

१७. अवसेस० (टी) ।

१८. मायादि (चू) ।

१९. अज्जत्तविसोहणं (टी), अज्जत्तविसीदणा (अ,ब,स,क) ।

२०. तृतीय अध्ययन की निर्युक्ति में भी चूणि और टीका की गाथाओं में क्रमव्यत्यय है। यद्यपि टीकाकार ने "उद्देशार्थाधिकारं तूत्तरत्र स्वयमेव निर्युक्तिकार प्रतिपादयिष्यतीति, नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्ति-कुदाहं" यह कहकर 'उवसग्गम्मि य छक्कं' इस गाथा से निर्युक्ति प्रारम्भ की है। ऐसा संभव है कि टीकाकार ने अपनी सुविधा के लिये क्रमव्यत्यय किया हो। प्राचीनता और क्रमबद्धता की दृष्टि से हमने चूणि के क्रम को मान्य किया है। (देखें टिप्पण गाथा ३६ का)

४६. हेउसरिसेहि^१ अहेतुएहि, ससमयपडितेहि^२ तिउणेहि ।
सीलखलितपण्णवणा^३, कता चउत्थम्मि उद्देसे ॥
४७. उवसगम्मि य छक्कां, दढवे चेयणमचेयणं दुविहं ।
आगंतुगो य पीलाकरो य जो सो उ उवसगो^४ ॥
४८. खेत्ते^५ बहुओघभयं^६, काले एगंतदुसमादीओ^७ ।
भावे कम्मस्सुदओ^८, सो दुविहो ओघुवक्कमिओ ॥
४९. 'उवकमिए संजमविग्घकारए तत्थुवक्कमे'^९ पगतं ।
दढवे चउव्विघो देव-मणुस^{१०} तिरियाऽऽय^{११} संवेओ^{१२} ॥
५०. 'एक्केक्को य चउविहो'^{१३}, 'अट्ठविहो वावि सोलसविहो वा'^{१४} ।
घडण जयणा य तेसि, एत्तो वोच्छं अहीयारे^{१५} ॥
५१. जघ नाम मंडलग्गेण, सिरं छेत्तूण कस्सइ मणुस्सो ।
अच्छेज्ज पराहुत्तो, किं नाम ततो न घिप्पेज्जा^{१६} ? ॥
५२. जघ वा विसगंडुसं, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को ।
मण्णेण ण्ढीसंतो, किं नाम ततो न व^{१७} मरेज्जा ? ॥
५३. जह नाम^{१८} सिरिधराओ, कोई रयणाणि^{१९} नाम घेत्तूणं ।
अच्छेज्ज^{२०} पराहुत्तो, किं नाम ततो न घेप्पेज्जा ? ॥

उवसगपरिण्णाए निज्जुत्तो समत्ता

१. हेउसरि० (स) ।
२. समयपतिएहि (क) ।
३. सीलखलियस्स० (स), सीलखलितप्प० (अ) ।
४. उवस्सगो (चू,टी) ।
५. खेत्तं (क,चू,टी) ।
६. ओघोपयं (अ,टी), टीकाकार ने 'बहुओघपयं' को पाठांतर माना है लेकिन चूणि द्वारा उपर्युक्त पाठ सम्मत है ।
७. एगंतुवुस० (अ), एगंतदुस्समा० (स) ।
८. कम्मन्मुदओ (टी) ।
९. उवक्कमिओ संजमविग्घकरे तत्थु० (अ,ब,टी) ओवक्कमिओ संजमविधायकरि तमुवक्कमे (क) ।
१०. मणुय (क) ।
११. तिरिच्छाय (स) ।

१२. संवेसो (टी) ।
१३. एक्केक्को चउव्विहो (चू) ।
१४. दिआई होइ सोलस० (क) ।
१५. अहीयारं (टी) ।
१६. ५१-५३ तक की गाथाओं का चूणि में कोई उल्लेख नहीं है । टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि "निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदाना-याह" । चूणि में उल्लेख न होने पर भी टीका और आदशों के आधार पर इन गाथाओं को हमने निर्युक्ति-गाथा के क्रम में रखा है ।
१७. वि (अ,स) ।
१८. वावि (स) ।
१९. रयणाण (ब), रयणा य (अ) ।
२०. अच्छेज्ज (अ,ब) ।

५४. पठमे संथवसंलावाइहि^१ 'खलणा उ होति सीलस्स'^२ ।
त्रितिए^३ इहेव^४ खलियस्स, विलंबणा^५ कम्मबंधो य ॥
५५. दठ्वाभिलावचिधे, वेदे भावे य इत्थिनिकखेवो ।
अभिलावे जह सिद्धी, भावे वेदंसि^६ उवउत्तो^७ ॥
५६. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य पजणणे^८ कम्मे ।
भोगे गुणे य भावे, दस एते पुरिसनिकखेवा ॥
५७. सूरा मो^९ मण्णंता, कइतवियाहि^{१०} उवधिप्पहाणाहि^{११} ।
गहिता हु^{१२} अभय-पज्जोत-कूलवालादिणो^{१३} बह्वे ॥
५८. तम्हा न हु^{१४} वीसंभो, गंतवो निच्चमेव इत्थीणं^{१५} ।
पढमुद्देसे भणिता, जे दोसा ते मणंतेणं ॥
५९. 'सुसमत्था वि असमत्था'^{१६} कीरंति^{१७} अप्पसत्तिया पुरिसा ।
दीसंति^{१८} सूरवादी, नारीवसगा न ते सूरा ॥
६०. धम्मम्मि जो दढमती^{१९}, सो सूरौ सत्तिओ य वीरो य ।
न हु धम्मनिरुच्छाओ^{२०}, पुरिसो सूरौ सुबलिओ वि ॥
६१. एते चेव य दोसा, पुरिससमाए^{२१} वि इत्थिकाणं^{२२} पि ।
तम्हा तु अप्पमादो, विरागमग्गंसि^{२३} 'तांसि पि'^{२४} ॥

इत्थोपरिण्णाए निज्जुत्तो समत्ता

१. ०वाइएहि (चू), ०संलवमाइहि (क,टी) ।

२. सीलस्स होज्ज खलणाओ (स), खलणा उ होज्ज सी० (क) ।

३. वीए (द) ।

४. वि एव (स) ।

५. अवत्था (अ,ब,क,टी) ।

६. वेदम्मि (अ,ब,चू,क,टी) ।

७. उववन्नो (अ) ।

८. पज्जणण (अ,टी), पजणणं (ब) ।

९. मो इति निपातो धाक्यालंकारार्थः (टी) ।

१०. कत्तियवियाहि (क) ।

११. उवधिनियडिप्प० (चू), नियडि शब्द रखने से उव भंग होता है ।

१२. तु (चू) ।

१३. कूआधारादिणो (चू), कूलवारादिणो (क) ।

१४. उ (अ,ब,स,टी) ।

१५. इत्थीसु (क), इत्थीसुं (टी) ।

१६. सुसमत्थाज्जसम० (टी) ।

१७. कीरंती (चू), करंती (क) ।

१८. विस्संति (चू), वीसंती (टी) ।

१९. दढामई (टी), दढमदी (क) ।

२०. ०णिरुस्साहो (टी) ।

२१. पुरिसपमादे (चू) ।

२२. इत्थिकाणं (क) ।

२३. ०मग्गम्मि (टी) ।

२४. तांसिमु (अ), तांसि तु (क,टी) ।

६२. निरए छक्कं 'दब्बनिरया उ इहमेव'¹ जे भवे असुभा ।
खेत्तं नरगावासा², कालो निरएसु चेव ठिती ॥
६३. भावे उ निरयजीवा³, 'कम्मं वेदंति तरगपायोग'⁴ ।
सोऊण नरयदुक्खं⁵, तव चरणे होति जइतब्बं ॥
६४. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ विभत्तीए⁶, निक्खेवो छव्विधो होति ॥
६५. पुढविपकासं⁷ अण्णाणुद्वकमं⁸ निरयपालवध्वनं⁹ च ।
तिसु वेदंति अत्ताणा, अणुभावं¹⁰ चेव सेसासु ॥
६६. अंबे अंबरिसी¹¹ चेव, सामे 'सबले त्ति यावरे'¹² ।
रोहोवसुद्धो¹³ काले य, महाकाले त्ति आवरे¹⁴ ॥
६७. 'असिपत्ते धणुं कुंभे'¹⁵, 'वालु वेतरणी त्ति य'¹⁶ ।
खरस्सरे महाघोसे, एते¹⁷ पण्णरसाऽऽहिते¹⁸ ॥
६८. घाडंति पघाडंति¹⁹ य, हणंति विधंति तह निसुंभंति²⁰ ।
पाडंति²¹ अंबरतले, अंबा खलु तत्थ नेरइया ॥
६९. ओहतहत्ते य निहत्ते²², तिस्सण्णे कप्पणीहि कप्पंति ।
बिदलग²³-चटुलग²⁴ छिन्ने, अंबरिसी²⁵ तत्थ नेरइया²⁶ ॥

१. दब्बं निरया उ इहेव (क,टी), दब्बे निरया (अ) ।
२. निरओगासो (क,टी) ।
३. नरय० (चू,अ) ।
४. कम्ममुदओ चेव निरयपायोगो (क,टी) ।
५. निरय० (टी) ।
६. विवित्तीए (क) ।
७. पुढवीकासं (अ,ब,टी) ।
८. निरयपालवध्वनं (टी), ०पालसहणं (क) ।
९. ०सागं (टी) ।
१०. अंबरिसे (चू) ।
११. य सबले वि य (क,अ,टी), सम. १५।१, भग. ३।२५९ ।
१२. रोहोवसुद्धो (चू,ब) ०वरोहो (अ) ।
१३. यावरे (चू) ।
१४. असिपत्त धणुं कुंभे (असि असिपत्ते कुंभी) (चू), असिपत्त धणुं कुंभी (क) ।
१५. वालु वेतरणी वि य (क,टी), वालुए वेतरणीति य (सम १५।१।२), वालुए वेतरणी त्ति य (भग ३।२५९।२) ।
१६. एवं (अ,टी), एमेते (सम) ।
१७. ०हिया (अ) ।
१८. य हाडंती (टी), पहाडंति (अ) ।
१९. मुंचंति (क) ।
२०. मुंचंति (टी) ।
२१. तहियं (अ,ब,क,टी) ।
२२. विदुलग (ब,टी) ।
२३. चटुलग (चू) ।
२४. अंबरिसा (चू) ।
२५. नेरतिए (चू,अ) ।

७०. साडण-‘पाडण-तोदण’^१-विधण रज्जूलतप्पहारेहि’^२ ।
 सामा नेरइयाणं^३, पवत्तयंती अपुण्णानं^४ ॥
७१. अंतगयफिफिसाणि^५ य, हिययं कालेज्ज फुप्फुसे वक्के ।
 सबला नेरइयाणं, ‘कड्ढेति तहि अपुण्णानं’^६ ॥
७२. असि-सत्ति-कोत्त-तोमर-सूल-तिसूलेसु सुइयग्गेसु^७ ।
 ‘पोयति कंदमाणे, रुदा खलु तत्थ नेरइए’^८ ॥
७३. भंजति अंगमंगाणि,^९ ऊरु-बाहु-सिराणि-कर-चरणे ।
 कप्पंति कप्पणीहि^{१०}, उवरुदा पावकम्मरया ॥
७४. मीरासु^{११} सुंठएसु य, कंडूसु^{१२} य पयणगेसु^{१३} य पयंति ।
 कुंभीसु य लोहीसु^{१४} य, पयंति काला तु नेरइया^{१५} ॥
७५. कप्पंति कागिणीमंसगाणि छिदंति सीह-पुच्छाणि^{१६} ।
 खावंति य नेरइया, महकाला पावकम्मरता^{१७} ॥
७६. हत्थे पादे ऊरु-बाहु-सिरा-पास^{१८} अंगमंगाणि ।
 छिदंति पगामं तू^{१९}, असिनेरइया निरयपाला ॥
७७. कण्णोट्ट^{२०}-नास-कर-चरण-‘दसण-थण’^{२१}-‘फिग्ग-ऊरु’^{२२}-बाहूणं ।
 ‘छेदण-भेदण’^{२३}-साडण, असिपत्तधणूहि^{२४} पाडंति^{२५} ॥

१. तोडण तुत्तण (चू), पाडण तुत्तण (स), पाडण तोडण (टी) ।

२. बंधण रज्जुल्लय० (टी), बंधण तह रज्जुल्लय० (अ), विधणा रज्जू० (क) ०पहारे य (स) ।

३. णेरति० (चू) ।

४. अंते य फिफि० (स) ।

५. कड्ढ-विकड्ढंतप्पु० (चू, स) ।

६. सूइ चियगासु (क, टी), सूईसु इलीसु (चू) ।

७. पोयंति रुद्धकम्मा उ णरगपाला तहि रोदा (क, टी), रोदे कम्मा रोदा खलु तत्थ नेरइया (स) ।

८. अंगमंगे (अ, ब, स, चू) ।

९. कप्पणीसु य (चू) ।

१०. सीतेसु (चू) ।

११. कुंडेसु (अ) ।

१२. पयंडएसु (टी) ।

१३. लोहिएसु (टी), लोहियसु (अ) ।

१४. णेरतिए (क) ।

१५. सीसपु० (चू), सीहपुच्छाणि त्ति पृष्ठीवध्माः (सूटी पृ० ८४) ।

१६. ०रए (क, टी) ।

१७. सिरा तह य (क) ।

१८. तु (स) ।

१९. कंठोट्ट (क) ।

२०. दसणट्टण (ब, टी) ।

२१. पुतोह (अ, क, ब, स, चू), फुग्ग ऊरु (टी) ।

२२. छिदण भिदण (स) ।

२३. ०घणूह (स) ।

२४. पाएति (क) ।

७८. कुंभीसु य^१ पयणेसु य, लोहीसु^२ य कंदु^३-लोहि-कुंभीसु ।
कुंभी य^४ नरयपाला, हणंति पाचिंति^५ नरगेसु ॥
७९. तद्धतद्धतडत्ति^६ भज्जंति, 'भायणे कलंब'^७ वालुगापट्ठे ।
वालुगा नेरइया, लोलंती अंबरतलम्मि ॥
८०. (वस)^८ पूय-रुहिर-केसड्ढि, वाहिणी कलकलंत^९ जलसोया^{१०} ।
वेयरणिनरयपाला^{११}, नेरइए ऊ पवाहंति ॥
८१. कप्पंति करकएहि, तच्छिंति^{१२} परोप्परं^{१३} परसुएहि^{१४} ।
सिबलितरुमारुहंति, खरस्सरा तत्थ नेरइया ॥
८२. भीते पलायमाणे^{१५}, समंततो तत्थ ते णियत्तेति^{१६} ।
पसुणो जघा^{१७} पसुवधे, महघोसा तत्थ नेरइया^{१८} ॥

नरगविमत्तीए निज्जुत्ती समत्तर

८३. पाधन्ते महसद्धो^{१९}, दब्बे खेत्ते य काल भावे य ।
वीरस्स उ निक्खेवो, चउक्कओ होति नायक्वो ॥
८४. युतिनिक्खेवो^{२०} चउहा^{२१}, आगंतुग भूसणेहि दब्बयुत्ती^{२२} ।
भावे सम्भूतगुणाण^{२३}, कित्तणा जे जहि भणिया ॥
८५. पुच्छिसु^{२४} जंबुणामो, अज्जसुधम्मा^{२५} ततो^{२६} कहेसी य ।
एव महप्पा वीरो, जयमाह^{२७} तघा जएज्जाह^{२८} ॥

महावीरस्थुईए निज्जुत्ती समत्ता

१. X (स) ।
२. लोहियसु (अ,ब,क,टी) ।
३. कंदु (चू), कुंडु (अ) ।
४. उ (क) ।
५. पाहंति (चू,क,टी), पयंति (अ) ।
६. तद्धतस्स (चू,क,टी) ।
७. भज्जणे कलंबु (क,टी), भजणे० (स) ।
८. 'वस' शब्द रखने से छंद भंग नहीं होता ।
९. कुलकु०(अ), कलकलित (स), कलकलंत(टी) ।
१०. सोसा (स) ।
११. रणि गिरय० (चू,क,टी) ।
१२. कहंति (चू) ।
१३. परोप्परं (स) ।
१४. करुस० (चू) ।
१५. य पलायते (अ,ब,क,टी) ।
१६. गिरुभंति (क,टी) ।
१७. X (स) ।
१८. नेरतिए (क) ।
१९. महा० (चू) ।
२०. ययणिक्खेवो (चू) ।
२१. चउहा (चू) ।
२२. दब्बययो (चू) ।
२३. संताण गु० (क,टी) ।
२४. पुच्छंसु (स), पुच्छिसुं (अ) ।
२५. सुधम्मो (चू) ।
२६. तहि (स) ।
२७. जतमाह (चू,स,द,क) ।
२८. जतेज्जाध (चू), ज्जाहि (टी,क) ।

८६. 'सीले चतुष्क'^१ दग्धे, पावरणाऽऽभरणभोयणादीसु^२ ।
भावे तु ओघसीलं, अभिवखआसेवणा^३ चेव ॥
८७. ओघे 'सीलं विरती'^४, विरताविरती^५ य अविरति^६ असीलं ।
धम्मे नाण-तवादी, अपसत्थ अधम्मकोधादी^७ ॥
८८. परिभासिता कुसीला, य एत्थ जावति अविरता केय^८ ।
सु^९ ति पसंसा सुद्धे, कु^{१०} ति दुगुंछा अपरिसुद्धे ॥
८९. 'अप्फासुयपडिसेवी, य नाम'^{११} भुज्जो य सीलवादी^{१२} य ।
फासुं वदन्ति सीलं, अफासुगा मो^{१३} अभुंजन्ता^{१४} ॥
- ८९।१. अणगारवादिणो पुढविहिसगा निग्गुणा अगारिसमा ।
निहोस सि य मलिणा, साधुपदोसेण मलिणतरा^{१५} ॥
९०. अह नाम गोतमा, रडदेवता^{१६} वारिभट्टगा चेव ।
जे अग्निहोमवादी^{१७}, जलसोयं 'जे य'^{१८} इच्छन्ति ॥

कुसीलपरिभासियज्झयणस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता

९१. विरिए छक्कं दग्धे, सच्चित्ताऽचित्तमीसगं चेव ।
'दुपद-चतुप्पद-अपद'^{१९}, एतं तिविधं तु^{२०} सच्चित्तं ॥
९२. अच्चित्तं पुण विरियं, आहाराऽऽवरणपहरणादीसु ।
जध ओसधीण भणितं, विरियं रसवीरियविवागे ॥

१. सील चतुष्कं (ब,अ,स,क)
२. पावरणा ०(चू,क,टी), ०रणे ० (स) ।
३. ०मासेवणा (क,टी) ।
४. विरती सीलं (चू) ।
५. विरयाविरई (टी) ।
६. अविरती (टी), अविरति (क) ।
७. अधम्मकोवादी (टी,अ) ।
८. केई (टी), केति (द,क) ।
९. सुरिति प्रशंसायां निपात इति (चू पृ. १५१) ।
१०. कु (चू), दुः कुत्सायां (चू पृ १५१) कुरित्थ-
यमपि निपातो जुगुप्सायां (सूटी पृ १०३) ।
११. अफासुय पडिसेविय नामं (अ,व,टी) ।
१२. विरयवादी (स) ।

१३. मो शब्दस्य निपातत्वेनावधारणार्थत्वाद्
(सूटी पृ १०३) ।
१४. अभुंजन्ति (द), अभुंजन्तो (स) ।
१५. महलतरा (स), प्रस्तुत गाथा केवल 'स'
आदर्श में ही मिलती है । चूणिकार ने इसका
उद्धृत गाथा के रूप में उल्लेख किया है ।
टीका में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता
है । मूलतः यह गाथा आचारांग निर्युक्ति
(१००) की है ।
१६. चंडीदेवगा (टी), 'चंडीदेवगा' इति चक्रधर-
प्रायाः (सूटी पृ १०३), चंडिदे० (क) ।
१७. ०होत्तवादी (अ,व,स,द,क) ।
१८. केइ (चू) ।
१९. दुपयचतुप्पयअपयं (टी) ।
२०. पि (स) ।

१३. आह्वाने^१ कवच^२दी, वस्त्रादी^३ च पहरणे होति^४ ।
 खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले जं जम्मि कालम्मि ॥
१४. भावे जीवस्स सबीरियस्स^५ विरियम्मि लद्धिण्णेगविधा ।
 ओरस्सिदिय अज्झप्पिगेसु^६ बहुसो बहुविधीयं ॥
१५. मण-वयण-काय^७ आणापाणू^८ संभव तधेव^९ संभव्वे ।
 सोत्तादीणं सद्दादिगेस, विसएसु गहणं च ॥
१६. उज्जम-धित्ति^{१०}-धीरत्तं, सोडीरत्तं^{११} खमा य गंभीरं ।
 उवयोग-जोग-तव-संजमादिगं होति अज्झप्पं^{१२} ॥
१७. 'सब्बं पि य तं तिविधं, पंडित बालविरियं च मीसं च'^{१३} ।
 अधवा^{१४} वि होति दुविधं, अगारअणगारियं^{१५} चेव ॥
१८. सत्थं तु असियगादी,^{१६} विज्जा-मत्ते य देवकम्मकतं ।
 पत्थिव 'वारुण अग्गेय'^{१७}, वाउ^{१८} तह भीसगं चेव ॥
 बीरियस्स निज्जुत्ती समत्ता

१९. 'धम्मो पुब्बुद्धिदो'^{१९} 'भावधम्मणे एत्थ'^{२०} अधिकारो ।
 एसेव 'होति धम्मो'^{२१}, 'एसेव समाधिमग्गो त्ति'^{२२} ॥
१००. नामं ठवणाधम्मो, दव्वधम्मो य भावधम्मो य ।
 सच्चिस्साऽचित्तमीसे^{२३}, गिहत्थदाणे दवियधम्मो ॥
१०१. लोहयलोउत्तरिओ, दुविधो पुण होति भावधम्मो तु^{२४} ।
 दुविधो वि दुविध तिविधो, पंचविधो होति णातब्बो ॥

१. ंरणं (स) ।
 २. होति (टी) ।
 ३. सबीरियम्मी (द) ।
 ४. अज्झप्पिगेसुं (स) ।
 ५. वड-काया (टी), वतो काए (अ,ब,स) ।
 ६. ंपाणुं (अ,ब) ।
 ७. तहा य (क,टी) ।
 ८. धित्ती (अ) ।
 ९. सोडी० (अ,ब,क,चू) ।
 १०. होइ अज्झप्पो (अ,टी) ।
 ११. सब्बं पि तयं तिविधं बालं तथा पंडितं च
 मिसितं च (चू) ।

१२. अहवा (टी) ।
 १३. अगारमण० (स,अ) ।
 १४. असिमादीयं (अ,ब,टी), असिगादीयं (स),
 १५. वारुणमग्गेय (द) ।
 १६. बाल (टी) ।
 १७. धर्म की निर्युक्ति के लिए देखें दशनि ३६-
 ४० ।
 १८. धम्मणिस्स (स) ।
 १९. होइ धम्मो (मु,क) ।
 २०. समाधि एसेव मग्गो य (स) ।
 २१. ंमीसग (अ,ब,टी) ।
 २२. य (द,स) ।

१०२. पासत्थोसण्णकुसील, सथवो न किल^१ 'वट्ठते कात्तु'^२ ।
सूयगळे^३ अज्झयणे, धम्मम्मि निकाइयं एयं^४ ॥

धम्मस्स निज्जुत्ती समत्ता

१०३. आदाणपदेणाऽऽधं^५, गोणं^६ नामं पुणो समाधि त्ति ।
निक्खिविऊण^७ समाधि, भावसमाधीए पगयं तु ॥
१०४. नामं ठवणा दविए, सेत्ते काले तहेव भावे य^८ ।
एसो तु समाधीए, निक्खेवो छव्विधो होति ॥
१०५. 'पंचसु वि य विसयेसु, सुभेसु दव्वम्मि^९ सा समाधि त्ति'^{१०} ।
'सेत्तं तु'^{११} जम्मि सेत्ते, काले 'कालो जहि जो उ'^{१२} ॥
१०६. 'भावसमाधि चतुर्विध'^{१३}, दंसण-नाणे तवे चरित्ते य ।
चउसु^{१४} वि समाधितप्पा, सम्मं चरणट्ठितो साधू ॥

समाधीए निज्जुत्ती समत्ता

१०७. नामं ठवणा दविए, सेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु मग्गस्सा,^{१५} निक्खेवो छव्विधो होति ॥
१०८. फलग^{१६}-लतंदोलण-वेत्त'^{१७}-रज्जु-दवण'बिल पास'^{१८}मग्गे य ।
खीलण-अय-पक्खिपहे, छत्त-जलाऽऽकास दव्वम्मि ॥
१०९. सेत्तम्मि जम्मि सेत्ते, काले कालो जहि 'वहति मग्गो'^{१९} ।
भावम्मि होति दुविधो, पसत्थ तह अप्पसत्थो य ॥

१. किर (अ,ब,क,चू,टी) ।

२. वट्ठती काउं (टी) ।

३. सूतकळे (चू) ।

४. य हु सो (स) ।

५. ०पवेणरथं (अ,क,स) ।

६. गोणं (अ,ब,टी) ।

७. निक्खिवित्ताण (स) ।

८. उ (टी) ।

९. दव्वेसु (द) ।

१०. दव्वं जेण तु दव्वेण समाधि आधितं च जं दव्वं (चूपा) चूणिकार ने अघवा कहकर उपर्युक्त पाठांतर की व्याख्या की है । पंचसु विसएसु

सुभेसु दव्वम्मि सा भवे समाहि त्ति (टी) ।

११. सेत्तम्मि (स) ।

१२. जो जम्मि कालम्मि (चू,स) ।

१३. ०समाहि चउव्विह (अ,ब,क,टी) ।

१४. चतुहि (चू,स) ।

१५. मग्गस्स य (टी) ।

१६. फलगे (स), फलगं (क) ।

१७. लयंदोलणवित्तं (अ,ब,टी), लयंबोलं (स) ।

१८. बिलप्पासं (अ,ब,स) ।

१९. हवह जो उ (अ,ब,स,टी) भवे मग्गो (क), हवह मग्गो (क) ।

११०. दुविहम्मि वि^१ तिगभेदो, णेयो तस्स वि^२विणिच्छओ^३ दुविहो ।
सुगतिफलदुग्गतिफलो, पगतं 'सुगती फलेणिरुत्थं'^४ ॥
१११. दुग्गतिफलवादीणं^५ तिणिण तिसट्ठा 'सता पवादीणं'^६ ।
खेमे य खेमरूवे, चउवकग मग्गमादीसु ॥
११२. सम्मप्पणीतमग्गो^७, 'नाणं तद्ध दंसणं चरित्तं च'^८ ।
चरग-परिक्वाथादी, चिण्णो मिच्छत्तमग्गो उ^९ ॥
११३. इद्धि-रस-सात-गुरुगा, 'छज्जीवनिकायघातनिरता य'^{१०} ।
जे उवदिसंति मग्गं^{११}, 'कुमग्गमण्णस्सिता जाण'^{१२} ॥
११४. तव-संजमप्पहाणा, गुणघारी जे वदति सब्भावं ।
सब्बजगज्जीवहितं^{१३}, तमाहु सम्मप्पणीतमिणं^{१४} ॥
११५. पंथो 'णायो मग्गो'^{१५}, विघ्नी धिती^{१६} सोग्गती^{१७} हित सुहं च ।
पत्थं सेयं 'निब्बुति, निब्बाणं'^{१८} सिक्करं चेव ॥

मग्गस्स निज्जुत्तो समत्ता

११६. समोसरणे वि^{१९} छवकं, सच्चित्ताऽचित्त-मीसगं दब्बे^{२०} ।
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले जं जम्मि कालम्मि^{२१} ॥
११७. भावसमोसरणं पुण, नायब्बं^{२२} छव्विहम्मि भावम्मि ।
अप्पवा किरियं^{२३} अकिरिया, अण्णाणी चेव वेणइया^{२४} ॥

१. व (व) ।

२. उ (टी) ।

३. विणिच्छओ (द) ।

४. पुण सुगती फलमग्गो (स) ।

५. दोग्गति० (अ,स), दोग्गती० (क) ।

६. सताइ वादीणं (टी), सता य वा० (स) ।

७. सम्मप्पणिओ० (अ,ब,टी), सम्मपणीओ० (क) ।

८. नाणं तद्ध दंसणे चरित्ते य (अ,ब,मु,क,टी)
नाणं तव दंसणं चेव (स) ।

९. ति(चू), तु शब्बोऽय्य दुग्गतिफलनिबन्धनत्वेन
विशेषणार्थं इति (सूटी पृ १३२) ।

१०. ०घातनरता य (चू) छज्जीविकायवधरता
(चूपा) ।

११. वम्मं (चू) ।

१२. कुमग्गमण्णस्सिता ते अ (क,टी) ।

१३. ०जगज्जीव० (स) ।

१४. ०प्पणीतमवि (चू) ।

१५. मग्गो णाओ (ब,टी) न्याय इति निश्चये-
नायनं—विशिष्टस्थानप्राप्तिलक्षणं यस्मिन्
सति स न्यायः (सूटी पृ १३२) ।

१६. ठिती (स) ।

१७. सुगती (अ,ब,टी), सोग्गती (स) ।

१८. णेव्वुह णेव्व्वाणं (चू), निब्बुई नि० (क) ।

१९. समोसरणम्मि (क) ।

२०. चेव (स) ।

२१. जावइयं (क) ।

२२. णेयब्बं (क) ।

२३. किरिया (स) ।

२४. वेणइया (अ,द) ।

११८. अत्थि त्ति किरियवादी, वदंति नत्थि त्ति अकिरियवादी य ।
अण्णाणी अण्णाणं, विणइत्ता वेणइयवादी ॥
११९. असीतिसयं^१ किरियाणं, अकिरियाणं^२ च होति चुलसीति ।
'अण्णाणिय सत्तट्ठी',^३ वेणइयाणं^४ च बत्तीसा ॥
१२०. तेसि मताणुमतेणं, पण्णवणा वण्णिता इहउज्झयणे ।
सबभावानिच्छयत्थं, समोसरणमाहु तेणं ति^५ ॥
१२१. सम्मदिट्ठी किरियावादी, मिच्छा^६ य सेसगा वादी ।
चइऊणं^७ मिच्छवाद्^८, सेवह 'वादं इमं'^९ सच्चं ॥

समोसरणस्स निज्जुत्ती समत्ता

१२२. नामतहं ठवणतहं, दब्बतहं चेव होति भावतहं ।
दब्बतहं पुण जो जस्स सभावो होति दब्बस्स ॥
१२३. भावतहं पुण नियमा, नायव्वं छव्विधम्मि^{१०} भावम्मि ।
अथवा वि णाण-दंसण-चरित्त-विणए य'^{११} अज्झप्पे ॥
१२४. जइ सुत्तं तह अत्थो, 'चरणं तु जइ तहा य'^{१२} नायव्वं ।
संतम्मि पसंसाए, असंतं^{१३} पगयं दुगुच्छाए^{१४} ॥
१२५. आयरियपरंपरण, आगतं जो उ छेयबुद्धीए^{१५} ।
कोवेति छेयवादी,^{१६} जमालिणासं स'^{१७} णासिहिति^{१८} ॥
१२६. न करेति^{१९} दुक्खमोक्खं, उज्जममाणो वि 'संजम-तवेसु'^{२०} ।
तम्हा अत्तुक्करिसो, वज्जेतव्वो जतिजणेणं^{२१} ॥

आहतहस्स निज्जुत्ती समत्ता

१. असियसयं (चू,टी), असीय० (अ,व,क) ।	१२. चरणं चारो तह त्ति (अ,व,क,टी), चरणं
२. अक्किरि० (चू,टी), अकिरियवाईण (स,द) ।	व जइ तव त्ति (स) ।
३. अण्णाणी सत्तट्ठी (द) ।	१३. असती (क,टी) ।
४. वेणइयाणं (व) ।	१४. दुगुच्छाए (स) ।
५. तु (अ,व,क,टी) ।	१५. अप्पबु० (चू) ।
६. सिद्धा (क) ।	१६. छेयबुद्धी (चू) ।
७. जहिऊण (अ,व,टी) ।	१७. व (चू) ।
८. मिच्छा० (स) ।	१८. णासिहि त्ति (अ,व,द) ।
९. वायं त्ति तं (स) ।	१९. कुणेति (चू) ।
१०. छव्विहम्मि (चू,टी) ।	२०. संजमपदेसु (चू) ।
११. विणएण (अ,व,क,टी) ।	२१. पयत्तेण (वधुनि २०) ।

१२७. 'गंधो पुव्वुद्दिट्ठो'^१, दुविधो सिस्सो य होति नायब्बो ।
पव्वावण-सिक्खावण, पगयं सिक्खावणाए उ ॥
१२८. सो सिक्खगो तु^२ दुविधो, गहणे 'आसेवणा य बोधव्वो'^३ ।
गहणम्मि होति तिविधो, सुत्ते अत्थे तदुभए य ॥
१२९. आसेवणाय^४ दुविधो, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलगुणे पंचविधो, उत्तरगुण^५ बारसविधो तु^६ ॥
१३०. 'आथारिओ पुण'^७ दुविधो, पव्वावेत्तो य^८ सिक्खावेत्तो^९ य ।
सिक्खावेत्तो दुविधो, गहणे आसेवणे चेव ॥
१३१. गाहावितो^{१०} तिविधो, सुत्ते अत्थे तदुभए चेव ।
'मूलगुण-उत्तरगुणे, दुविधो आसेवणाए उ'^{११} ॥

गंधस्स निज्जुत्तो समत्ता

१३२. आदाणे^{१२} गहणम्मि य, निक्खेदो 'होति दोण्ह'^{१३} वि चउक्को ।
एगद्धं नाणद्धं, च होज्ज^{१४} पगतं तु आदाणे ॥
१३३. जं पढमस्संतिमए, वितियस्स तु तं भवेज्ज आदिम्मि^{१५} ।
एतेणाऽऽदाणिज्जं, एसो अघो वि पज्जाओ ॥
१३४. नामादी ठवणादी, दव्वादी चेव होति भावादी ।
दव्वादी पुण दव्वस्स, जो सभावो सए ठाणे^{१६} ॥
१३५. आगम-नोआगमतो, भावादी तं^{१७} दुहा^{१८} ववदिसंति^{१९} ।
नोआगमतो भावो, पंचविधो होति नायव्वो ॥

१. 'गंध' शब्द की निर्युक्ति के लिए देखें उति ३३४-३७ ।
२. य (क,टी) ।
३. आसेवणाए नायव्वो (क), ०वणे य बोध० (चू) ०य नायव्वो (टी) ।
४. ०णाए (चू) ।
५. ०गुणे (चू) ।
६. उ (ध,टी), य (द) ।
७. ०रिओ वि य (अ,ब,क,टी) ।
८. व (टी) ।
९. सिक्खावेत्तो (अ,क) ।
१०. गाह्वेतो वि य (चू) ।

११. आसेवणाए दुविधो मूलगुणे उत्तरगुणे य (चू) छंद की दृष्टि से टीका का मुद्रित पाठ ठीक है ।
१२. ०दाणं (द) ।
१३. होति दोण्ह (द) ।
१४. होति (क) ।
१५. आदाणे (स) ।
१६. ठाणे (अ,ब,व) ।
१७. ०गमियं भावाइयं (स) ०गमतो भावातीतं (चू) ।
१८. बुहा (टी), बुद्धा तीर्थंकरगणधरादयो (सूटी पृ १६९) ।
१९. उवदिसंति (चू,क,टी) ।

१३६. आगमतो पुन आदो, गणिपिडगं होति बारसंगं तु ।
गंध^१ सिलोगो 'पाद पद'^२ अक्खराइं च तत्थादो ॥

अमईयस्स निज्जुत्ती समत्ता

१३७. नामं ठवणागाधा, दब्बगाधा य भावगाधा य ।
'पोत्थग-पत्तग'^३ लिहिता, 'होति इमा दब्बगाधा'^४ त ॥
१३८. होति पुन भावगाधा, सागारुवयोगभावनिष्फण्णा ।
मधुराभिधानजुत्ता, 'तेणं गाह ति'^५ णं वेति ॥
१३९. गाहीकता ध^६ अस्था, अधवा^७ सामुद्दएण छंदेण ।
एएण होति^८ गाधा, एसो अन्तो वि पज्जाओ ॥
१४०. पण्णरससु अज्झयणेसु पिडितत्थेसु जो^९ 'अवित्तहं ति'^{१०} ।
पिडितवयणेणत्थं, गहेति^{११} जम्हा^{१२} ततो गाधा ॥
१४१. सोलसमे अज्झयणे, अणसारगुणाण वण्णणा भणिया ।
गाधासोदसमाजं, अज्झयणमिणं ववदिसंति ॥

गाहाए निज्जुत्ती समत्ता

द्वितीय भूतस्कंध

१४२. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव^{१३} भावे य ।
एसो खलु महंतम्मि, निक्खेवो छव्विहो होति^{१४} ॥
१४३. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव^{१५} भावे य ।
एसो खलु अज्झयणे, निक्खेवो छव्विहो होति ॥
१४४. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण^{१६} संठाणे ।
भावे य अट्ठमे खलु, निक्खेवो पोंडरीयस्स ॥

१. गंधं (व) ।

२. पद पाद (स, टी) ।

३. पोत्थग पत्थग० (अ) ।

४. सा होइ दब्बगाहा उ (अ, व, स, क) ।

५. तेण य गाहं ति (चू) ।

६. व (अ, व, क, टी) ।

७. अधव ण (अ, टी) ।

८. होती (चू), होति (क) ।

९. जे (चू), एव (स) ।

१०. अवित्तहं ति (व, अ, क, टी) ।

११. गेहिति (अ, क) ।

१२. तम्हा (टी) ।

१३. य इति (द, क), होति (अ, व) ।

१४. १४२, १४३ की गाथा का संकेत चूर्णि में नहीं है किंतु व्याख्या मिलती है ।

१५. य होइ (अ, क) ।

१६. गहण (द) ।

१४५. जो जीवो भविओ खलु, 'उववज्जिउकामो पोंडरीएसु'^१ ।
सो दव्वपोंडरीओ, भावम्मि 'य जाणओ'^२ भणिओ ॥
१४६. 'एगभविए य बडाउएँ य अभिमुहो य'^३ नाय-गोए य ।
एते तिन्नि वि^४ देसा, दव्वम्मि य^५ पोंडरीयस्स ॥
१४७. 'तेरिच्छिगा मणुस्सा, देवगणा'^६ चेव होंति जे पवरा ।
ते होंति पोंडरीया, सेसा पुण 'कंडरीगा हु'^७ ॥
१४८. 'जलचर-थलचर-खहचारिएसु जे होंति पवरकंता य'^८ ।
जे य सभावाणुमता,^९ ते होंती^{१०} पोंडरीया उ ॥
१४९. अरहंत'^{११}-चक्कवट्टी, चारण-विज्जाहरा दसारा य ।
जे अन्ते इड्डिमंता, ते होंति पोंडरीया उ ॥
१५०. भवणवति-वाणमंतर-'जोतिस-वेमाणियाण देवाण'^{१२} ।
जे 'तेसि पवरा'^{१३} खलु, ते होंती पोंडरीया उ ॥
१५१. कंसाणं दूसाणं, मणि-'मुत्तिय-सिल-पवालमादीण'^{१४} ।
'जे य अचित्ता पवरा'^{१५}, ते होंति पोंडरीया उ ॥
१५२. अच्चित्तमीसगेसुं, दव्वेसुं जे य होंति पवरा उ ।
ते होंति पोंडरीया, सेसा पुण कंडरीया उ^{१६} ॥
१५३. 'जाइं खेत्ताइं'^{१७} खलु, सुहाणुभावाइं^{१८} होंति लोगम्मि ।
देवकुरुमादियाइं, ताइं खेत्ताइं^{१९} पवराइं ॥

१. ववज्जिकामो य पोंडरीयम्मि (टी) ।

२. विजाणओ (टी) ।

३. एगभविय बडाउय अभिमुहा य (अ), ०अभि-मुहिय (टी) ।

४. उ (स) ।

५. य (द) ।

६. तेरिच्छमणुस्साणं देवगणाणं व (अ) ।

७. ०रीया उ (अ) ।

८. जलयर थलयर खयरा, जे पवरा चेव होंति कंता य (टी) ०खयरा जे य पवरा जे य होंति कंता य (स) ।

९. सभावेणु० (ब,टी), सभाव अणु० (स), सभावोणु० (अ) ।

१०. होंति (अ), छंद की दृष्टि से दीर्घ इकार है ।

११. अरिहंत (अ,द) ।

१२. जोतिसवासी विमाणवासी य (स) ।

१३. पवरा देवा (स) ।

१४. मुत्तिय-सिलप्पवाल० (स,द) ।

१५. जे तेसि पवरा खलु (ब,द,क), अचित्ता जे य पवरा (स) ।

१६. यह गाथा प्रायः सभी हस्त आदर्शों में मिलती है । मुद्रित टीका की क्रम संख्या में यह गाथा नहीं है लेकिन टिप्पण में यह गाथा भी हुई है । टीकाकार ने 'मिश्रद्रव्यपोंडरीकं तु तीर्थ-कृच्चक्रवर्त्यादय एव प्रधान कटक'..... । उल्लेख किया है । यह गाथा प्रासंगिक है । हमने इसे निर्युक्ति-गाथा के क्रम में जोड़ा है ।

१७. जाणि खेत्ताणि (स) ।

१८. ०भाणाणि (स), महाणुभावाइं (ब) ।

१९. खेत्तेसु (ब,क) ।

१५४. जीवा 'भवट्टीए, कायट्टीए'^१ य होंति जे पवरा ।
ते होंति पोंडरीया, अवसेसा कडरीया उ ॥दारा॥
१५५. गणणाए रज्जु खलु, संठाणं चेव होंति चउरस्स^२ ।
'एयाणि पोंडरीयाणि'^३, होंति सेसाणि^४ इयराह^५ ॥दारा॥
१५६. 'ओदइय-ओवसमिए'^६, खइए य^७ तहा^८ खयोवसमिए य ।
परिणाम-सन्निवाए, जे पवरा ते वि ते चेव ॥दारा॥
१५७. अहवा वि नाण-दंसण-चरित्त-विणए तधेव अज्झप्पे ।
जे पवरा होंति मुणी, ते पवरा पोंडरीया उ ॥
१५८. एत्थं पुण अधिगारो, वणस्सतीकायपोंडरीएण^९ ।
भावम्मि य समणेणं, अज्झयणे पोंडरीयम्मि ॥
१५९. उवमा पोंडरीएण^{१०}, तस्सेव य उवचएण निष्फत्ती^{११} ।
अधिगारो पुण भणितो, जिणोवदेसेण 'सिद्धि ति'^{१२} ॥
१६०. सुर-मणुय-तिरिय^{१३}-निरओवेसु^{१४} 'मणूया पभू'^{१५} चरित्तस्स^{१६} ।
अवि य महाजण 'नेय ति'^{१७} चक्कवट्टिम्मि अधिगारो ॥
१६१. अवि 'य हु भारियकम्मा'^{१८}, नियमा उक्कस्सनिरयठित्तिगामी^{१९} ।
ते वि हु जिणोवदेसा^{२०}, तेणेव भवेण सिज्झन्ति ॥
१६२. जलमाल-कह्मालं, बहुविहवल्लिगहणं^{२१} च पुक्खरिणि^{२२} ।
अंवाहि व बाहाहि व, 'नावाहि वा दुरवगाहं'^{२३} ॥

१. भवट्टीए कायट्टीए (स) ।

२. चउरसं (अ,ब,क,टी) ।

३. एयाइं पोंडरीयाहं (टी) ।

४. सेसाइं (क,टी) ।

५. चूणि में यह गाथा संकेतित नहीं है, पर व्याख्यात है ।

६. ०इए उवसमिए (मु), ओदइय उव० (अ) ।

७. व (स) ।

८. तह (क) ।

९. वणस्सति० (क,टी,द) ।

१०. य पोंडरीए (टी) ।

११. निष्पुत्ती (टी) ।

१२. सिद्ध ति (द) ॥

१३. तिरिया (स) ।

१४. निरओवेसु (अ,ब) ।

१५. मणूया पभू (द), मणुयपत्तस्स (अ) ।

१६. चरित्तम्मि (टी) ।

१७. नेय ति (अ,क) ।

१८. दुस्साहियकम्मा (च) ।

१९. उक्कसट्टिती ० (अ,द) ।

२०. ० देसेण (टी) ।

२१. ० वेल्ली ० (स) ।

२२. पुक्खरणि (द), ० रणी (स) ।

२३. नावाए वा दुरोगाहं (द,क), नावा दुरोगाहं (अ,ब), नावाहि व से दुरव ० (स) ॥

१६३. पउमं उल्लंघेउं^१, ओयरमाणस्स होज्ज^२ वावत्ती ।
किं नत्थि 'से उवाओ'^३, जेणूल्लंघेज्ज अविवन्नो^४ ॥
१६४. विज्जा व देवकम्मं, अहवा^५ आगासिया विकुब्बणता ।
पउमं उल्लंघेउं^६, 'न एस'^७ उवाओ जिणक्खाओ ॥
१६५. सुद्धप्पयोगविज्जा^८, सिद्धा तु जिणस्स जाणणा विज्जा ।
भविज्जणपोंडरीया, इ जाण सिद्धिनिमुत्तेति^९ ॥
पोंडरीयस्स निज्जुत्ती समत्ता
१६६. 'किरियाओ भणियाओ'^{१०}, 'किरियाठाणं ति'^{११} तेण अज्झयणं ।
अधिगारो पुण भणितो, वंधे तह मोक्खमग्गे य'^{१२} ॥
१६७. दब्बे किरिएज्जया, पयोगुवाय करणिज्ज समुदाणे ।
इरियावह सम्मत्ते, सम्मामिच्छे^{१३} य मिच्छते ॥
१६८. नामं ठवणा दविए, सेत्तइद्धा उड्ढ उवरती वसही ।
संजम-पग्गह-जोहे^{१४}, अचल गणण संघणा भावे^{१५} ॥
१६९. समुदाणियाणिह तओ^{१६}, सम्मपउत्ते य भावठाणम्मि ।
किरियाहि पुरिसपावादिका^{१७} तु सब्बे परिवस्सेज्जा^{१८} ॥
किरियाए निज्जुत्ती समत्ता
१७०. नामं ठवणा दविए, सेत्ते भावे य होति बोधव्वे ।
एसो खलु आहारे, निस्सेवो 'होइ पंचविहो'^{१९} ॥

१. उल्लंघेत्तुं (स,द,टी) ।

२. होइ (टी) ।

३. उवाओ सो (अ) ।

४. अववन्नो (स), १६३-६५ इन तीनों गाथाओं का चूर्ण में कोई उल्लेख नहीं है । किन्तु सभी हस्तप्रतियों और टीका में यह गाथा मिलती है । टीकाकार ने इन गाथाओं के बारे में 'निर्युक्तिकुहर्णयितुमाह' ऐसा उल्लेख किया है ।

५. अथव ण (स) ।

६. उल्लंघेत्तुं (टी), ०वेऊ (द) ।

७. इणमो (स,द) ।

८. विज्जाए (अ,व) ।

९. सिद्धिगह उवेति (व) ।

१०. क्रिया का वर्णन आवश्यक निर्युक्ति में किया जा चुका है ।

११. ठाणं ति (अ,व,द), ठाणं च (स) ।

१२. गाथारूप में इसका निर्देश चूर्ण में नहीं मिलता, किन्तु संक्षिप्त व्याख्या प्राप्त है ।

१३. ०मिच्छा (टी) ।

१४. जोए (स,अ) ।

१५. आनि १८५ ।

१६. गाओ (अ,व,स) ।

१७. ०पावाइए (क,टी) ।

१८. इस गाथा का निर्देश चूर्ण में नहीं है । किन्तु व्याख्या मिलती है ।

१९. पंचहा होइ (अ) ।

१७१. दब्बे सच्चित्तादी, खेत्ते नगरस्स जणवओ होइ ।
भावाहारो तिविहो, ओए लोमे य पक्खेवे ॥
१७२. सरीरेणोयाहारो, तथाय^१ फासेण लोमआहारो^२ ।
पक्खेवाहारो पुण, कायलिको होति नायव्वो ॥
१७३. ओयाहारा जांवा, सब्बे 'अपज्जत्तगा मुण्येव्वा'^३ ।
पज्जत्तगा तु^४ लोमे, पक्खेवे होति^५ भइतव्वा^६ ॥
१७४. एगिदिय^७-देवाणं, तेरइयाणं च^८ नत्थि पक्खेवो ।
सेसाणं 'जीवाणं, संसारत्थाण पक्खेवो'^९ ॥
१७५. एकं च दो व समए, तिन्नि^{१०} व^{११} समए मुहुत्तमदं वा ।
सादीयमनिहणं^{१२} वा^{१३}, कालमणाहारगा जीवा ॥
१७६. एकं च दो व समए, केवलपरिवज्जिया अणाहारा ।
मथम्मि दोणि लोए^{१४}, य पूरिए तिन्नि समया तु ॥
१७७. अंतोमुहुत्तमदं^{१५} सेलेसीए भवे अणाहारा ।
सादीयमनिहणं^{१६} पुण^{१७}, सिद्धाणाहारगा^{१८} होति ॥
१७८. तेएण^{१९} कम्मएणं, आहारेती अणंतरं जीवो ।
तेण परं मिस्सेणं^{२०}, जाव सरीरस्स निप्फत्तो^{२१} ।
१७९. नामं ठवणपरिण्णा, दब्बे भावे य होति नायव्वा ॥
दब्बपरिण्णा तिविधा, भावपरिण्णा भवे दुविहा^{२२} ।

आहारपरिण्णाए निज्जुत्ती समत्ता

१. तथाए (स) ।

२. ०माहारो (स) ।

३. आहारगा अपज्जत्ता (स), अपज्जत्तगा ० (टी) ।

४. य (अ,व,क,टी) ।

५. होति (क) ।

६. नायव्वा (क,टी) ।

७. एगिदी (द) ।

८. नारमाणं देवाणं चैव (चू) ।

९. पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं (द,स,टी) ।

१०. तिण्ह (स) ।

११. व (टी) ।

१२. सादिय ० (स) ।

१३. पुण (टी) ।

१४. लोअ (स) ।

१५. ०मदा (स) ।

१६. सादिगम ० (स) ।

१७. तु (स) ।

१८. सिद्धा यऽणहा ० (टी), सिद्धमणा ० (स) ।

१९. जोएण (टी) ।

२०. मीसेणं (टी) ।

२१. पज्जत्ती (द,चू) ।

२२. चूणि में संक्षिप्त व्याख्या होने पर भी वाक्य का संकेत नहीं मिलता ।

१८०. नामं ठवणा दविए, अदिच्छ^१ पडिसेहए य भावे य ।
एसो पच्चक्खाणस्स, छव्विहो होति निक्खेवो ॥

१८१. भूलगुणेषु य पगयं, पच्चक्खाणे इहं अधोगारो ।
होज्ज हु तप्पच्चइया^२, 'अप्पच्चक्खाणकिरिया उ'^३ ॥

पच्चक्खाणकिरियाए निज्जुत्ती समत्ता

१८२. नामं ठवणायारे, दव्वे भावे य होति नायव्वो ।
एमेव य 'सुत्तस्स वि, चउव्विहो होति निक्खेवो'^४ ॥

१८३. 'आयार-सुतं भणियं'^५, वज्जेयव्वा सया अणायारा ।
अवहुसुयस्स 'हु होज्जा'^६, विराहणा एत्थ जतितव्वं ॥

१८४. एतस्स उ पडिसेधो, इहमज्झयणम्मि होति नायव्वो ।
तो अणगारसुतं ति य, 'होइ नामं तु एतस्स'^७ ॥

आयारसुयस्स निज्जुत्ती समत्ता

१८५. 'नामहं ठवणहं',^८ दव्वहं चेव होति भावहं ।
एसो खलु 'अहस्स उ',^९ चउव्विहो होति निक्खेवो ॥

१८६. उदगहं सारहं, छव्वियद् वसद् 'तहा सिलेसहं'^{१०} ।
एतं दव्वहं खलु, 'भावेण उ'^{११} होति^{१२} रागहं ॥

१८७. एगभविय वद्धाउगे य अभिमुहए^{१३} य नामगोत्ते^{१४} य ।
एते तिन्नि पगारा,^{१५} दव्वहे होति नायव्वो ॥

१८८. अहपुरे अहसुतो^{१६}, नामेणं अहगो^{१७} ति अणगारो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं 'अहइज्जं ति'^{१८} ॥

१. अदिच्छ (द) ।

२. ०इयं (व) ।

३. अपच्चक्खाणस्स किरियाओ (द,क),
०किरियासु (स) ।

४. सुत्तस्सा निक्खेवो चउव्विहो होति (टी) ।

५. आयार के वर्णन हेतु देखें दक्खि १५४-६१
तथा श्रुत के वर्णन हेतु देखें उति० २९ ।

६. हु होज्ज (टी), होज्जा हु (क) ।

७. नामतो होइ अज्झयणं (स) ।

८. नामं ठवणाअहं (अ,व,टी) ।

९. अहस्सा (अ,द), अहम्मि य (स) ।

१०. खलु तहा सिले ०(द), खलु वसा सिले ०(स) ।

११. भावेणं (टी), भावेण य (अ,व,स) ।

१२. होति (अ,व) ।

१३. ०मुहिय (क) ।

१४. ०गोए (अ,क,टी) ।

१५. वि देसा (अ,स,क) ।

१६. अहसुया (क) ।

१७. अहओ (टी), अहय (अ) ।

१८. ०ज्ज ति (व) ।

१८९. कामं दुवालसंगं, जिणवयणं सासतं महाभागं ।
सव्वज्झयणाणि^१ तथा, सव्वक्खरसन्निवाया य^२ ॥
१९०. तह वि य कोई अत्थो, उप्पज्जति तम्मि तम्मि समयम्मि ।
'पुव्वभणितो अणुमतो'^३ य, होति इसिभासितेसु जहा ॥
१९१. अज्जट्टएण गोसाल-भिक्ष-बंभवती^४ तिदंडीणं ।
जह हत्थितावसाणं, कहियं इणमो तथा वोच्छं ॥
१९२. गामे बसंतपुरए, सामइओ^५ धरिणिसहितो निक्खंतो ।
भिक्षायरिया दिट्ठा, ओभासिय भत्तवेहासं ॥
१९३. संवेगसमावन्नो, माई^६ भत्तं चइत्तु दियलोए ।
चइऊणं अइपुरे, अइसुओ अइओ जातो ॥
१९४. पीतो य दोण्ह दूओ, पुच्छण अभयस्स पट्टवे^७ सो वि ।
'तेण व'^८ सम्महिट्ठि ति, होज्ज पडिमा 'रहम्मि गता'^९ ॥
१९५. दट्ठं संबुद्धो रक्खिओ य आसाण वाहण पलातो ।
पक्वइयंतो^{१०} धरितो, रज्जं न करेति को अन्नो ? ॥
१९६. अगणंतो निक्खंतो, विहरति पडिमाय 'दारिगा वरिओ'^{११} ।
सुवरणवसुधाराओ,^{१२} रण्णो कहणं च देवी य ॥
१९७. तं नेति पिता तीमे, पुच्छण कहणं न वरण दोबारे ।
जाणाहि पादबिबं, आगमणं^{१३} कहण निगमणं ॥
१९८. पडिमागतस्समीवे, सपरीवारा^{१४} अभिक्ख पडिवयणं^{१५} ।
'भोगा सुत्ताण पुच्छण,^{१६} सुतबंध पुणो'^{१७} य निगमणं ॥

१. ०यणाहं (ब,टी) ।

२. उ (अ,ब) १८९-२०० तक की गाथाओं का संकेत चूणि में नहीं मिलता, किन्तु कथानक के रूप में भावार्थ प्राप्त है ।

३. भणिओऽणुमतो (अ), भणिओ तु तहाणुमतो (स,ब) ।

४. ०वाति (अ,द) ।

५. सामंतिओ (अ) ।

६. माय (स) ।

७. पत्थवे (स) ।

८. तेणावि (टी) ।

९. रहस्सगतं (अ,ब,स,क) ।

१०. पक्वावंतो (टी) ।

११. दारिगपतिओ (अ,क), दारिग वरिओ (ब,द) ।

१२. सुवरणवसुधाराओ (टी) ।

१३. आगमण (स) ।

१४. सप्परि ० (स,द,क), सप्परी ० (टी) ।

१५. परिव ० (स) ।

१६. पुच्छं (ब) ।

१७. गोमुत्ते पुच्छण सुखवं व पुच्छे (स) ।

१९९. रायगिहागम^१ चोरा, रायभया कहण तेसि दिक्खा य ।
'गोसाल-भिक्षु-बंभी-तिदंडिया तावसेहि सह वादो'^२ ॥
२००. वादे पराजियाए^३, सब्बे वि य सरणमब्भुवगता ते^४ ।
अद्गसहिया सब्बे, जिणवीरसगासे निक्खंता ।
२०१. न दुक्करं वा नरपासमोयणं,^५ गयस्स मत्तस्स वर्णम्मि रायं ।
जहा 'उ वत्तावलिएण'^६ तंतुणा, 'सुदुक्करं मे'^७, पडिभाति मोयणं ॥
अद्दइज्जस्स निज्जुत्ती समत्ता
२०२. नामअलं ठवणअलं, दब्बअलं चेव होति भावअलं ।
एसो अलसद्दम्मि^८ उ, चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥
२०३. पज्जत्तीभावे खलु, पढमो जित्तिओ भवे अलंकारे ।
तत्तिओ वि य^९ पडिसेहे, अलसद्दो होइ नायव्वो ॥
२०४. पडिसेहेणज्जारस्सा, इत्थिसद्देण चेव^{१०} अलसद्दो ।
रायगिहे^{११} 'नगरम्मि य',^{१२} नालंदा होति बाहिरिया ॥
२०५. नालंदाय समीवे, मणोरहे^{१३} 'भासित्तिदभूतिणा उ'^{१४} ।
अज्जयणं उदगस्स उ^{१५}, तेणं^{१६} नालंदइज्जं ति^{१७} ॥
नालंदइज्जस्स निज्जुत्ती समत्ता
२०६. पासावच्चिज्जो पुच्छिताइओ अज्जगोतमं उदगो ।
सावगपुच्छा धम्मं, सोतुं^{१८} कहियम्मि उवसंता ॥
सूयगडस्स निज्जुत्ती समत्ता

१. गमण (अ) ।

२. हत्थी य तेसि कहणं, जिणवीरसगास निक्ख-
मणं (अ,ब,द,क) ।

३. पराइइत्ता (टी), पराईयावे (अ), इयाते (क) ।

४. य (स), उ (ब) ।

५. रणपास (अ,ब,स) ।

६. य वत्ता वलिएण (स) ।

७. तं दुक्करं जं (द) ।

८. असद्दम्मी (स), असद्दस्सा (अ,ब,क) ।

९. उ (टी) ।

१०. य (स) ।

११. गिहं (द) ।

१२. नगरम्मी (टी,स) ।

१३. मणोहरे (द,क) ।

१४. भासियंदभूतीणं (अ,ब,क), भासियंदभूत्तिणा
उ (टी) ।

१५. य (स) ।

१६. एयं (टी,स) ।

१७. तु (ब) ।

१८. सोऊ (अ) ।

१. तीर्थंकर, अहंत्, सूत्रकार तथा गणधरों को नमस्कार कर मैं सूत्रकृतांग की निर्युक्ति का प्रतिपादन करूंगा ।

२. 'सूत्रकृत' यह अंगों में दूसरा अंग है । उसके ये गुणनिष्पन्न नाम हैं—सूतकृत, सूत्रकृत, सूचाकृत ।

३. द्रव्यसूत्र है—कार्पास से उत्पन्न सूत । भावसूत्र है—सूचक ज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान । श्रुतज्ञानसूत्र चार प्रकार का है—संज्ञासूत्र, संज्ञहसूत्र, वृत्तिनिबद्ध तथा जातिनिबद्ध । जातिनिबद्ध के चार प्रकार हैं—कथ्य, गद्य, पद्य तथा गेय आदि ।^१

४. करण, कारक और कृत—इन तीनों के छह-छह निक्षेप हैं । कारक शब्द के छह निक्षेप हैं—नामकारक, स्थापनाकारक, द्रव्यकारक, क्षेत्रकारक, कालकारक और भावकारक । भावकारक जीव है ।

५. द्रव्यकरण के दो प्रकार हैं—प्रयोगकरण^२ तथा विस्त्रसाकरण । प्रयोगकरण दो प्रकार का है—मूलकरण तथा उत्तरकरण । जिस उपस्कर—सहकारी सामग्री से पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है, वह उत्तरकरण है, (जैसे—दंड, चक्र आदि में चट की अभिव्यक्ति होती है ।) कर्त्ता का जो उपकारक है, वह सारा उपस्कर है ।

६. औदारिक आदि पांच शरीर मूलकरण हैं । औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक—इन तीन शरीरों के कर्ण, स्कंध आदि अंगोपांग की निष्पत्ति उत्तरकरण है । औदारिक शरीर की द्रव्येन्द्रियां मूलकरण है । विष, औषधि आदि से उनमें पटुता आदि का निष्पादन करना उत्तरकरण है ।

७. अजीवाश्रितकरण के चार प्रकार हैं—

संघातकरण—वस्त्र में ताने-बाने के रूप में तन्तुओं का संघात ।

परिशाटकरण—करपत्र आदि से शंख का निष्पादन ।

मिश्रकरण (संघातपरिशाटकरण)—शकट^३ आदि ।

तदुभयनिषेधकरण—स्थूणा—खंभे को ऊंचा-तिरछा निष्पादित करना ।

८. द्विप्रवेणी आदि स्कन्धों में तथा अश्व, विद्युत् आदि कार्यों में परिणत पुद्गल द्रव्य विस्त्रसाकरण है ।

९. आकाश के बिना (उत्क्षेप, अवक्षेप आदि) कुछ भी नहीं किया जा सकता । अतः क्षेत्र आकाश है । यही क्षेत्रकरण है । व्यंजनपर्याय की अपेक्षा से क्षेत्र के इक्षुक्षेत्रकरण^४, शालिक्षेत्रकरण आदि अनेक भेद होते हैं ।

१. कथ्य—उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, ऋषि-भाषित आदि । गद्य आचारांग आदि । पद्य—छन्दोनिबद्ध । गेय—स्वर-संचार से गाया जाने वाला । जैसे—उत्तराध्ययन का आठवां कापिलीय अध्ययन ।

२. पुरुष की प्रवृत्ति से निष्पन्न ।

३. शकट में कीलिका आदि की संघातना तथा लकड़ी को छीलने की परिशाटना होती है ।

४. हुल आदि से क्षेत्र को संस्कारित करना क्षेत्रकरण है ।

१०-१३. (काल का कोई मुख्य करण नहीं होता। उसका औपचारिक करण होता है) जिस क्रिया के लिए जितना काल अपेक्षित होता है, वह उसका कालकरण है। अथवा जिस-जिस काल में जो करण निष्पन्न होता है, वह उसका कालकरण है। यह कालकरण का सामान्य उल्लेख है। नाम आदि के आधार पर कालकरण ग्यारह प्रकार का है—

१. बव	५. गर	९. चतुष्पाद
२. बालव	६. वणिज	१०. नाग
३. कौलव	७. विष्टि	११. किस्तुघ्न
४. तैत्तिल	८. शकुनि	

इनमें प्रथम सात अध्रुव अर्थात् चल तथा शेष चार ध्रुव हैं। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के उत्तरखंड में सदा 'शकुनिकरण' होता है। अमावस्या के प्रथम अर्धभाग में 'चतुष्पादकरण' और दूसरे अर्धभाग में 'नागकरण' होता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के प्रथम अर्धभाग में 'किस्तुघ्नकरण' होता है। ये चार करण इन तिथियों के साथ निश्चित रहते हैं, इसलिए ये ध्रुवकरण हैं।

'विष्टिकरण' सदा वर्जनीय है।

१४. भावकरण दो प्रकार का है—प्रयोगभावकरण तथा विलसाभावकरण। प्रयोगभावकरण दो प्रकार का है—मूलकरण तथा उत्तरकरण। उत्तरकरण के चार भेद हैं—क्रमकरण—शरीर की निष्पत्ति के पश्चात् होने वाली बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएं। श्रुतकरण—आगे से आगे श्रुत का परिज्ञान। यौवनकरण—कालकृत अवस्था विशेष। वर्णगंधरसस्पर्शकरण—भोजन आदि में विशिष्ट वर्ण, रस, गन्ध आदि का निष्पादन करना वर्णकरण है।

१५. जो वर्ण, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि दूसरे वर्णादिकों से मिलते हैं—वह विलसा-करण है। ये स्थिर भी होते हैं—असंख्येय काल तक रहते हैं तथा अस्थिर भी होते हैं—जैसे संध्या की लालिमा, इन्द्रधनुष आदि। छाया, आतप, दूध आदि पुद्गलों के विलसापरिणाम से होने वाला परिणाम विलसा भावकरण है। स्तन से निकलने के पश्चात् दूध प्रतिक्षण गाढ़ा और अम्ल होता जाता है। यह दूध आदि का विलसा भावकरण है।

१६. श्रुत का मूलकरण है—त्रिविध योग तथा शुभ-अशुभ ध्यान। प्रस्तुत में शुभ अध्यव-साम से प्रकृत स्वसिद्धान्त से युक्त यह ग्रन्थ सूत्रकृत प्रासंगिक है।

१७. (सूत्रकृतांग के रचनाकार की कार्मिक अवस्था-विशेष का निरूपण) इस सूत्र की रचना गणधरों ने की है। उनके कर्मों की स्थिति न जघन्य थी और न उत्कृष्ट। कर्मों का अनुभाव—विपाक भंड था। बन्धन की अपेक्षा से कर्मों की प्रकृतियों का भंडानुभाव से बंध करते हुए, तिकाचित तथा निघत्ति अवस्था को न करते हुए, दीर्घ स्थिति वाली कर्मप्रकृतियों को अल्प स्थिति वाली करते हुए, बंधने वाली उत्तर प्रकृतियों का संक्रमण करते हुए, उदय में आने वाले कर्मों की उदीरणा करते हुए तथा आयुष्य कर्म की अनुदीरणा करते हुए, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति आदि कर्मों की उदयावस्था में वर्तमान, पृथेद का अनुभव करते हुए तथा क्षायोपशमिक भाव में वर्तमान गणधरों ने इस सूत्र की रचना की।

१. तिथि का आधा कालमान 'करण' कहलाता

तक दो करण पूर्ण हो जाते हैं।

है। तिथि के आरम्भ से तिथि की समाप्ति

१८. तीर्थंकरों के मत—मातृकापद को सुनकर गणधरों ने क्षयोपशम तथा शुभ अध्यवसायों से इस सूत्र की रचना की। इसलिए यह सूत्रकृत कहलाया।

१९. तीर्थंकरों ने अपने वाग्योग से अर्थ की अभिव्यक्ति की। अनेक योगों (लब्धियों) के धारक गणधरों ने अपने वचनयोग से जीव के स्वाभाविक गुण अर्थात् प्राकृतभाषा में उसको निरूपित किया।^१

२०. अक्षरगुण से मतिज्ञान की संघटना तथा कर्मों का परिशादन—इन दोनों के योग से सूत्र की रचना हुई, इसलिए यह 'सूत्रकृत' है।^२

२१. सूत्र में कुछ अर्थ साक्षात् सूचित (पिरोए हुए) हैं, कुछ अर्थ अर्थापत्ति से सूचित हैं। वे सभी अर्थ युक्ति युक्त हैं। आगमों में अनेक प्रकार से प्रयुक्त वे अर्थ प्रसिद्ध, स्वतः सिद्ध और अनादि हैं।

२२. सूत्रकृतांग आगम के दो श्रुतस्कन्ध तथा तेवीस अध्ययन हैं (१६+७)। उसके तेसीस उद्देशन काल हैं।^३ इसका पद-परिमाण आचारांग से दुगुना है।^४

२३. (पहले श्रुतस्कन्ध का एक नाम है—गाथा षोडशक।) 'गाथा' के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव तथा 'षोडशक' शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। 'श्रुत' तथा 'स्कन्ध' के चार-चार निक्षेप हैं।

२४-२८. प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों का अर्थान्वित्यंश (तिलक) इस प्रकार है—

१. स्वसमय तथा परसमय का निरूपण।

२. स्वसमय का बोध।

३. संबुद्ध व्यक्ति का उपसर्ग में सहिष्णु होना।

४. स्त्री-दोषों का विवर्जन।

५. उपसर्गभीरु तथा स्त्री के वशवर्ती व्यक्ति का नरक में उपात।

६. जैसे महात्मा महावीर ने कर्म और संसार का पराभव कर विजय प्राप्त करने के उपाय कहे हैं, वैसे प्रयत्न करना।

७. जो मुनि निःशील तथा कुशील को छोड़कर सुशील और संविगमों की सेवा करता है, वह शीलवान् होता है।

१. स्वाभाविकेन गुणेन—स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः प्राकृत इत्यर्थः, प्राकृतभाषयेत्युक्तं भवति। (सूटी पृ. ५)

२. अथवा वाग्योग तथा मनोयोग से यह सूत्र कृत है, इसलिए सूत्रकृत है। अथवा यह द्रव्यश्रुत से भावश्रुत का प्रकाशन है। जैसे-जैसे गणधर सूत्र करने का उद्यम करते हैं, वैसे-वैसे कर्म-निर्जरा होती है। जैसे-जैसे कर्म निर्जरा होती है, वैसे-वैसे सूत्र-रचना का उद्यम होना है। (सूटी पृ. ५)

३. प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों के २६ उद्देशक इस प्रकार हैं—पहले अध्ययन के ४, दूसरे अध्ययन के ३, तीसरे अध्ययन के ४, चौथे और पांचवें अध्ययन के दो-दो तथा शेष ग्यारह अध्ययनों के एक-एक उद्देशक हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययनों के सात उद्देशक हैं।

४. आचारांग से दुगुना परिमाण अर्थात् छत्तीस हजार पद-परिमाण।

८. दो प्रकार के वीर्य (बालवीर्य और पंडितवीर्य) को जानकर पंडितवीर्य में प्रयत्न करना चाहिए ।

९. मर्यादस्थित धर्म का उपदेश ।

१०. समाधि का प्रतिपादन ।

११. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यात्मक मोक्षमार्ग का निरूपण ।

१२. चार बादों—क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद तथा वैतयिकवाद—में समबसुत तत्त्वों का निराकरण ।

१३. सर्ववादियों के कुमार्गों के निरूपण का प्रतिपादन ।

१४. ग्रन्थ नामक अध्ययन में शिष्यों के गुणों तथा दोषों का कथन तथा नित्य गुरुकुलवास में रहने का उपदेश ।

१५. 'आदानीय' अध्ययन में पूर्ण उपन्यस्त आदानीय पद का संकलन तथा सम्यक् चारित्र का वर्णन ।

१६. पूर्वोक्त अध्ययनों में अभिहित सभी अर्थों का संक्षिप्त कथन ।

प्रथम अध्ययन : समय

२९-३१. पहले अध्ययन के चार उद्देशक हैं । पहले उद्देशक के छह अर्थाधिकार हैं—१. पंच महाभूतों का वर्णन, २. एकात्मवाद (आत्मा-अद्वैतवाद), ३. तज्जीव-तच्छरीरवाद, ४. अकारक-वाद, ५. आत्मषष्ठवाद, ६. अफलवाद । दूसरे उद्देशक के चार अर्थाधिकार हैं—१. नियतिवाद, २. अज्ञानवाद, ३. ज्ञानवाद, ४. भिक्षुसमय अर्थात् शाक्य आगम में चारों प्रकार के कर्मों का उपचय नहीं होता, इसका प्रतिपादन । तीसरे उद्देशक में दो अर्थाधिकार हैं—१. आधाकर्म तथा २. कृत-वादियों के वाद का प्रतिपादन । चौथे उद्देशक का अर्थाधिकार है—अविरत अर्थात् गृहस्थों के कृत्यों से परतीर्थियों को उपमित करना ।

३२. 'समय' शब्द के बारह निक्षेप हैं :—

१. नाम समय

५. काल समय

९. गण समय

२. स्थापना समय

६. कुतीर्थ समय

१०. संकर समय

३. द्रव्य समय

७. संगार समय

११. गंडी समय

४. क्षेत्र समय

८. कुल समय

१२. भाव समय

३३. पृथ्वी आदि पांचों भूत अलग-अलग गुण वाले हैं । उनके संयोग से चेतना, भाषा, चंक्रमण आदि गुण उत्पन्न नहीं होते । पांच इन्द्रियों के पांच स्थान अथवा पांच उपादान कारण भी अचेतन हैं ।^१ उनके समुदाय से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इन्द्रियां प्रत्येक भूतात्मक हैं । एक का जाना हुआ दूसरी नहीं जान सकती । (इनमें संकलनात्मक प्रत्यय नहीं होता ।)

१. स्थानानि—अवकाशाः । स्थानानि—उपादान कारणानि । (सूटी पृ ११)

इन्द्रियों के स्थान—उपादानकारण इस प्रकार

हैं—श्रोत्रेन्द्रिय का आकाश, घ्राणेन्द्रिय का पृथ्वी, चक्षुःइन्द्रिय का तेजस्, रसनेन्द्रिय का पानी, स्पर्शनेन्द्रिय का वायु ।

३४. अकृत का वेदन कौन करता है ? (यदि अकृत का वेदन हो तो) कृतनाश की बाधा आएगी। पांच प्रकार की गति—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव तथा मोक्ष—भी नहीं होगी। देव या मनुष्य आदि में गति-आगति भी नहीं होगी। जातिस्मरण आदि क्रिया का भी अभाव होगा।

३५. अफलत्व, स्तोकफलत्व तथा अनिश्चितकालफलत्व—ये अद्रुम (वृक्ष का अभाव) के साधक हेतु नहीं हैं। अद्रुम या स्तोकद्रुम भी गोल्व का अभाव साधने वाले हेतु नहीं हैं। (इसी प्रकार सुप्त, मूर्च्छित आदि अवस्था में कथञ्चित् निष्क्रिय होने पर भी आत्मा को सक्रिय नहीं कहा जा सकता)।

दूसरा अध्ययन : वैतालीय

३६, ३७. दूसरे अध्ययन के तीन उद्देश्यों का अर्थाधिकार इस प्रकार है—प्रथम उद्देशक में संबोधि तथा अनित्यत्व का कथन है। दूसरे उद्देशक में मान-वर्जन तथा अनेक प्रकार के अन्यान्य बहुविध विषय हैं। तीसरे उद्देशक में अज्ञान से उपचित कर्मों के अपचय का तथा यतिजनों के लिए सदा सुखप्रमाद के वर्जन का प्रतिपादन है।

३८. प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'विदारक' है। (यह क्रियापदवाचक नाम है। क्रियापद के सर्वत्र तीन घटक होते हैं—कर्त्ता, करण और कर्म)। इसके आधार पर विदारक, विदारण और विदारणीय—ये तीन घटक बनते हैं। इन तीनों के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार-चार निक्षेप हैं। द्रव्यविदारक वह है, जो काष्ठ आदि का विदारण करता है। भावविदारक है वह जीव, जो कर्मों का विदारण करता है।

३९. द्रव्य विदारण है—परशु आदि। भाव विदारण है—दर्शन, ज्ञान, तप और संयम (क्योंकि इनमें ही कर्म-विदारण का सामर्थ्य है)। द्रव्य विदारणीय है—काष्ठ आदि तथा भाव विदारणीय है—आठ प्रकार का कर्म।

४०. प्रस्तुत अध्ययन में कर्मों के विदारण का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'विदारक' है। यह वैतालीय छन्द में निबद्ध है, इसलिए इसका अपर नाम वैतालीय है।

४१. यह अभ्युपगम है कि सारे आगम शाश्वत हैं और उनके अध्ययन भी शाश्वत हैं। फिर भी ऋषभदेव ने अष्टापद पर्वत पर अपने अट्टानवें पुत्रों को संबोधित कर इस अध्ययन का प्रतिपादन किया। इसको सुनकर वे सभी पुत्र भगवान् के पास प्रसन्न हो गए।

४२. द्रव्यनिद्रा है—निद्रावेद—निद्रा का अनुभव। भावनिद्रा है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शून्यता। द्रव्यबोध है—द्रव्यनिद्रा में सोए व्यक्ति को जगाना। भावबोध है—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा संयम का भावबोध। प्रस्तुत में बोध—ज्ञान, दर्शन, तप तथा चारित्र का प्रसंग है।

१. भगवान् ऋषभ अष्टापद पर्वत पर अवस्थित थे। चक्रवर्ती भरत द्वारा उपहृत अट्टानवें पुत्र ऋषभ के पास आए और भगवान् से बोले—भते ! भरत हमें आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर रहा है। हमें अब क्या करना चाहिए ? भगवान् ने अंगारदाहक के दृष्टान्त के माध्यम से बताया कि भोगेच्छा कभी शांत नहीं होती। वह आगे से आगे बढ़ती जाती है। इस अर्थ

के प्रतिपादक प्रस्तुत अध्ययन को सुनाया। तत्र विषयों के कटुविपाक तथा निःसारता को जान, मत्त हाथी के कर्ण की भांति चपल आयु तथा गिरिनदी के वेग की तरह यौवन को जान, भगवद् आज्ञा ही श्रेयस्करी है, ऐसी अवधारणा कर वे सभी पुत्र भगवान् के पास दीक्षित हो गए।

(सूटी. पृ. ३६)

४३. महर्षियों ने अपने आत्म-उन्नयन के लिए जप, तप, संयम और ज्ञान में होने वाले मान को भी त्याग दिया है, तो भला आत्मोत्कर्ष हेतु दूसरों की निन्दा के त्याग की तो बात ही क्या है ?

४४. आठ मदों का मथन करने वाले अहत्तों ने निर्जोरामद का भी प्रतिरोध किया है, इसलिए अवशिष्ट सभी मदस्थानों का प्रयत्नपूर्वक परिहार करना चाहिए ।

तीसरा अध्ययन : उपसर्ग-परिज्ञा

४५, ४६. इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं । पहले उद्देशक में प्रतिलोम तथा दूसरे उद्देशक में अनुलोम उपसर्ग प्रतिपादित हैं । तीसरे उद्देशक में अध्यात्म का विशेष उपदर्शन तथा परवादिवचनों का निरूपण है । चौथे उद्देशक में हेतु सद्गुण अहेतुओं के द्वारा जो अन्धतीर्थियों से व्युद्ग्राहित—प्रताड़ित हैं, उन भील-स्खलित व्यक्तियों की प्रज्ञापना है ।

४७. उपसर्ग शब्द के नाम, स्थापना आदि छह निक्षेप हैं । द्रव्य उपसर्ग के दो प्रकार हैं—चेतनकृत तथा अचेतनकृत । जो आगन्तुक उपसर्ग हैं, वह (शरीर तथा संयम का) पीड़ाकारी होता है ।

४८. जिस क्षेत्र में सामान्यतः अनेक भयस्थान होते हैं, (जैसे—चोर, क्रूर व्याधि तथा जल आदि देश के क्षेत्र), वह क्षेत्र उपसर्ग है । काल उपसर्ग एकान्त दुष्प्रमाकाल आदि ।^१ कर्मों का उदय भाव उपसर्ग है । वह दो प्रकार का है—औषिक तथा औपक्रमिक ।^२

४९. औपक्रमिक उपसर्ग संयम-विधातकारी होता है । द्रव्य औपक्रमिक उपसर्ग चार प्रकार का है—दैविक, मानुषिक, तैर्यश्चिक तथा आत्मसंवेदन । प्रस्तुत में औपक्रमिक उपसर्ग का प्रसंग है ।

५०. प्रत्येक के चार-चार प्रकार हैं ।^३ दैविक आदि चार प्रकार के अनुकूल तथा प्रतिकूल के भेद से आठ भेद होते हैं । दैविक आदि चार भेदों के चार-चार प्रकार करने से ४ × ४ सोलह भेद होते हैं । इन उपसर्गों का संबंध होना तथा उनको सहने के प्रति यतना रखना—यह इस अध्ययन में प्रतिपादित है । यही इसका अर्थाधिकार है ।

५१. कोई पुरुष मंडलाग्र से किसी मनुष्य का शिरच्छेद कर पराङ्मुख होकर बैठ जाए तो क्या वह अपराधी के रूप में नहीं पकड़ा जाएगा ?

५२. कोई व्यक्ति विष का घूट पीकर क्षुब्ध हो बैठ जाए और वह किसी के दृग्गोचर भी न हो तो क्या वह उस विष के प्रभाव से नहीं मरेगा ?

५३. कोई व्यक्ति भांडागार से रत्नों को धूराकर उदासीन होकर बैठ जाए तो क्या वह अपराधी के रूप में नहीं पकड़ा जाएगा ?

१. आदि शब्द से जो जिस क्षेत्र में दुःखोत्पादक हो (ग्रीष्म, शीत आदि) ।

२. औषिक—अशुभ कर्म प्रकृति से उत्पन्न भावोपसर्ग । औपक्रमिक—दण्ड, शस्त्र आदि द्वारा असातवेदनीय का उदय होना ।

३. दैविक—हास्य से, प्रद्वेष से, विमर्श से तथा पृथग् विमात्रा से । मानुषिक—हास्य से,

प्रद्वेष से, विमर्श से तथा कुशील प्रतिसेवना से । तैर्यश्चिक—भय से, प्रद्वेष से, आहार से तथा संतान-संरक्षण से । आत्मसंवेदन—घट्टना से, संश्लेष से, स्तम्भन से तथा गिरने से । अथवा वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात से उत्पन्न । (सूटी पृ. ५२)

चौथा अध्ययन : स्त्री-परिज्ञा

५४. चौथे अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले उद्देशक का प्रतिपाद्य है—स्त्रियों के साथ संस्तव तथा संलाप करने से शील की स्खलना होती है। दूसरे उद्देशक में स्खलित व्यक्ति की इसी जन्म में होने वाली अवस्था तथा कर्मबंधन का प्रतिपादन है।

५५. स्त्री शब्द के ये पाँच निक्षेप हैं—

- (१) द्रव्यस्त्री।
- (२) अभिलाषस्त्री—स्त्रीलिङ्गी शब्द, जैसे—सिद्धि, शाला, माला आदि।
- (३) चिह्नस्त्री—चिह्नमात्र से जो स्त्री होती है। चिह्न है—स्तन, वेश आदि।
अथवा जो स्त्रीवेद से शून्य हो गया है वैया छद्मस्थ, केवली अथवा अन्य कोई स्त्री वेशधारी व्यक्ति।
- (४) वेवस्त्री—पुरुषाभिलाष रूप स्त्रीवेदोदय।
- (५) भावस्त्री—स्त्रीवेद का अनुभव करने वाली।

५६. पुरुष शब्द के दस निक्षेप हैं—

- (१) नामपुरुष—नाम का अर्थ है—संज्ञा। जो पदार्थ पुल्लिङ्ग है—घट, पट आदि।
अथवा जिसका नाम पुरुष हो।
- (२) स्थापनापुरुष—प्रतिमा आदि।
- (३) द्रव्यपुरुष।
- (४) क्षेत्रपुरुष—तद्गत क्षेत्र में होने वाला पुरुष—सौराष्ट्रिक आदि।
- (५) कालपुरुष—जितने काल तक पुरुष वेद वेद्य कर्मों का वेदन करता है।
- (६) प्रजननपुरुष—प्रजनन का अर्थ है—शिवन—लिङ्ग। लिङ्ग प्रधान पुरुष।
- (७) कर्मपुरुष—कर्मकर आदि।
- (८) भोगपुरुष—चक्रवर्ती आदि।
- (९) गुणपुरुष—पराक्रम, वैर्य आदि गुणयुक्त पुरुष।
- (१०) भावपुरुष—पुंवेद के उदय का अनुभव करने वाला।

५७. अभयकुमार, प्रद्योत, कूलवाल आदि अनेक पुरुष अपने आपको शूर मानते थे। वे भी कृत्रिम प्रेम दिखाने में समर्थ तथा मायाप्रधान स्त्रियों के वशीभूत हो गए।^१

५८. स्त्री-संसर्ग से होने वाले दोषों का जो वर्णन प्रथम उद्देशक में है, दूसरे उद्देशक में भी उनकी पर्यालोचना कर स्त्रियों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए इसका प्रतिपादन है।

५९. सुसमर्थ व्यक्ति भी स्त्रियों के वशीभूत होकर असमर्थ और अल्पसत्त्व वाले हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अपने आपको शूर मानने वाले पुरुष नारी के वशीभूत होने पर शूर नहीं रहते।

१. देखें परि. ६ कथा सं. १-३। अभयकुमार स्वयं को बहुत बुद्धिमान् मानता था।

चंडप्रद्योत को अपने पराक्रम पर गर्व था और कूलवाल को तपस्वी होने का अहं था।

६०. धर्म में जो दृढमति वाला होता है, वही शूर है, सात्त्विक है और वीर है। धर्म के प्रति निरुत्साही व्यक्ति अत्यधिक शक्तिशाली होने पर भी शूर नहीं होता।

६१. स्त्री-संसर्ग से होने वाले जो दोष पुरुषों के लिए कहे गए हैं, वे ही दोष पुरुष-संसर्ग से स्त्रियों के लिए कथित हैं। इसलिए विरागमार्ग में प्रवृत्त स्त्रियों के लिए अप्रमाद ही श्रेयस्करो है।

पाँचवाँ अध्ययन : नरक-विभक्ति

६२, ६३. नरक शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्यनरक—जो इसी जन्म में पापकारी प्रवृत्तियों में संलग्न है, वे/अथवा नरक सदृश यातना के स्थान।

क्षेत्रनरक—काल, महाकाल आदि नरकावास।

कालनरक—नारकों की काल स्थिति।

भावनरक—जो जीव नरकायुष्क का अनुभव करते हैं अथवा नरक प्रायोग्य कर्मोदय।

नरक के दुःखों को सुनकर तपश्चरण—संयमानुष्ठान में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

६४. विभक्ति शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

६५. नारकीय प्राणी नरकावासों में तीव्र वेदना को उत्पन्न करने वाले पृथ्वी के स्पर्श का अनुभव करते हैं। वह वेदना दूसरों के द्वारा अचिकित्स्य होती है। पहले तीन नरकावासों में अत्राण नैरयिक परमाधार्मिक देवों द्वारा कृत बध—हनन का अनुभव करते हैं। शेष चार नरकावासों में नैरयिक क्षेत्र-विपाकी और परस्पर उदीरित वेदना का अनुभव करते हैं।

६६, ६७. पन्द्रह परमाधार्मिक देवों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) अंब	(६) उपरौद्र	(११) कुम्भी
(२) अम्बरिसी	(७) काल	(१२) बालुका
(३) श्याम	(८) महाकाल	(१३) वीतरणी
(४) शबल	(९) असि	(१४) खरस्वर
(५) रौद्र	(१०) असिपद्मधनु	(१५) महाधोष।

६८. अंब परमाधार्मिक देव नैरयिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर दौड़ाते हैं, इधर-उधर घुमाते हैं, उनका हनन करते हैं, शूलों में पिरोते हैं, गला पकड़कर भूमि पर ओझे मुंह पटकते हैं, आकाश में उछालकर नीचे गिराते हैं।

६९. मुद्गरों से आहत, खड्ग आदि से उपहत तथा मूर्च्छित नारकियों को अम्बरिणी परमाधार्मिक देव करवत से चीरकर या टुकड़े-टुकड़े कर छिन्न-भिन्न करते हैं।

७०. श्याम परमाधार्मिक देव तीव्र असातावेदनीय कर्म का अनुभव करने वाले नारकियों के अंगोपनिग का छेदन करते हैं, पहाड़ से नीचे बज्रभूमि में गिराते हैं, शूल में पिरोकर व्यथित

१. भवनपति देवों में अत्यंत अधम देवों को परमाधार्मिक देव कहा जाता है—भवनपत्य-

सुराधमविशेषाः परमाधार्मिकाः।

(सूटी. पृ. ८३)

करते हैं, रज्जु से बांधते हैं, लता आदि के प्रहारों से नाडित करते हैं। इस प्रकार की बहुविध प्रवृत्तियाँ करते हैं।

७१. शवल परमाध्यामिक देव पापी नैरयिकों की आंतों के 'फिफिस' (मांस विशेष) को, हृदय को, कलेजे को तथा फेफड़े को बाहर निकाल देते हैं तथा चमड़ी उधेड़ कर उन्हें काट देते हैं।

७२. रौद्रकर्मकारी रौद्र नरकपाल नैरयिकों को विविध प्रकार के शस्त्रों—असि, शक्ति (सांग, तलवार), भाला, तोमर—भाले का एक प्रकार, शूल, त्रिशूल, सूई आदि में पिरोते हैं।

७३. पापकर्म में रत उपरौद्र नरकपाल नैरयिकों के अंग और उपांगों को तथा शिर, ऊरु, बाहु, हाथ तथा पैरों को मरोड़ते हैं, तोड़ते हैं और करबत से उनको चीर डालते हैं।

७४. काल नरकपाल मीराओं—दीर्घ बुल्लिकाओं, शूठिकाओं—भाजन विशेषों, कन्धुकाओं, प्रचंडकों में तीव्र ताप से नारकीय जीवों को पकाते हैं तथा कुम्भी—ऊंट की आकृति वाले बर्तन और लोहे की कड़ाहियों में उनको रखकर (जीवित मछलियों की भांति) भूँजते हैं।

७५. पापकर्म में निरत महाकाल नरकपाल नैरयिकों के छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं, पीठ की चमड़ी उधेड़ते हैं तथा उनको स्वयं का मांस खिलाते हैं।

७६. असि नामक नरकपाल नारकों के हाथ, पैर, ऊरु, बाहु, शिर, पाश्वर आदि अंग-प्रत्यंगों के अत्यधिक टुकड़े करते हैं।

७७. असिपत्रधनु नामक नरकपाल नारक जीवों के कर्ण, ओष्ठ, नासिका, हाथ, चरण, दांत, स्तन, नितम्ब, ऊरु तथा बाहु का छेदन-भेदन और शासन करते हैं।

७८. कुम्भ (कुंभी)--नामक नरकपाल नारकों का हनन करते हैं तथा उनको कुम्भियों में, कड़ाहों में, लोहियों में—लोह के भाजन विशेष में तथा कन्दुलोहिकुम्भियों—लोहमय पात्र-विशेष में पकाते हैं।

७९. बालुका नरकपाल नारकों को लप्ता बालुका से भरे हुए बर्तन में 'तड़तड़' की आवाज करते हुए धनों की भांति धुनते हैं तथा कदम्ब पुष्प की आकृति वाले बर्तन के उपरितल में उन नारकों को गिरा कर आकाश में उछालते हैं।

१. काकिणीमंसगाणि—छोटे-छोटे मांसखंड।

(काकिणीमंसकानि—एकक्षणमांसखण्डानि—सूटी. पृ. ८४)।

२. सीहपुच्छाणि—पीठ की चमड़ी (सीहपुच्छा-निसि—पृच्छीवर्धस्तां—सूटी पृ. ८४)।

३. समवाओ में भीषे परमाध्यामिक का नाम 'असिपत्र' और इसमें का नाम 'धनु' है। सूनि में नीषे परमाध्यामिक का नाम 'असि' तथा

दसवें का नाम 'असिपत्रधनु' है।

४. ये देव असिपत्र नामक वन की विभुषणा करते हैं। नारकीय जीव छाया के लोभ से उन वृक्षों के नीचे आकर विश्राम करते हैं। तब हवा के झोंकों से असिघारा की भांति तीखे पत्ते उस पर पड़ते हैं और वे छिद जाते हैं। (सूटी. पृ. ८४)

८०. वैतरणी नरकपाल नारकों को वैतरणी नदी में बहाते हैं। वह नदी पीव, तधिर, केश और हड्डियों से भरी रहती है। उसमें खारा-गरम पानी बहता है। वह कलकलायमान जलवाली महाभयानक नदी होती है।

८१. खरस्वर परमाधार्मिक देव नारकों के शरीर को करवतों से चीरते हैं तथा नारकों को परशुओं से परस्पर छीलने के लिए प्रताड़ित करते हैं। वे उनकी (वज्रमय भीषण कंटकों से समाकीर्ण) शालमली वृक्ष पर चढ़ने के लिए मजबूर करते हैं।

८२. जैसे पशुवध के समय पशु भयभीत होकर दौड़ते हैं तब वधक उनको वहीं रोक लेते हैं वैसे ही भयभीत होकर पलायन करने वाले नारकों को महाघोष नरकपाल चारों ओर से घेर कर वहीं रोक लेते हैं।

छठा अध्यायन : महावीर-स्तुति

८३. महत् शब्द प्राधान्य अर्थ में है। इसके छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। वीर शब्द के चार निक्षेप हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

८४. 'स्तुति' शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। आगन्तुक की स्तवना, कटक, केयूर, चन्दन, माला आदि भूषणों से की जाने वाली स्तवना द्रव्यस्तुति है। विद्यमान गुणों का कीर्तन करना भावस्तुति है।

८५. जम्बू ने आर्य सुधर्मा से भगवान् महावीर के गुणों के विषय में पूछा तब आर्य सुधर्मा ने महावीर के गुण बताए और कहा—महात्मा महावीर ने जिस प्रकार संसार पर विजय प्राप्त की तुम भी उसी प्रकार प्रयत्न करो।

सातवां अध्यायन : कुशोलपरिभाषित

८६. 'शील' शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्यशील—फल-निरपेक्ष होकर आवतन उन-उन क्रियाओं में प्रवर्तन करना, जैसे—प्रावरण का प्रयोजन न होने पर

१. महावीरस्तव इत्यत्र यो महच्छब्दः स प्राधान्ये वर्तमानो गृहीतः। (मुटी. पृ ९५)

२. द्रव्यमहत्—यह सचित्त, अचित्त एवं मिश्र तीन प्रकार का होता है। सचित्त में तीर्थंकर, अक्षित में वैदूर्य आदि मणि तथा मिश्र में अलंकृत विभूषित तीर्थंकर।

क्षेत्रमहत्—सिद्धिक्षेत्र। धर्माचरण की अपेक्षा से महाविदेह तथा सुखों की दृष्टि से देवकुरु आदि क्षेत्र प्रधान होते हैं।

कालमहत्—काल की दृष्टि से एकान्त सुषमा आदि काल प्रधान होता है।

भावमहत्—पांचों भावों में आधिकभाव

प्रधान होता है।

३. १. द्रव्यवीर—संश्राम में शूर अथवा वीर्यवान् द्रव्य। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि का बल अथवा विष आदि द्रव्यों का सामर्थ्य।

२. क्षेत्रवीर—जो जिस क्षेत्र में असाधारण काम करने वाला है वह तथा जो जिस क्षेत्र में वीर माना जाता है।

३. कालवीर—जिस काल में जो वीर होता है; वह।

४. भाववीर—आयिक वीर्य सम्पन्न व्यक्ति जो कषायों एवं उपसर्गों से अपराजित होता है।

भी प्रावरण स्वभाव वाला होना प्रावरणशील है। इसी प्रकार आभरणशील तथा भोजनशील होते हैं।

अथवा जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, वह द्रव्यशील है।

भावशील के दो प्रकार हैं—ओषशील तथा आभीक्ष्ण्यसेवनाशील अर्थात् अनवरतसेवनाशील।

८७. ओषशील—ओष का अर्थ है—सामान्य। जो सावद्य योग से विरत अथवा विरत-अविरत है, वह ओषशीलवान् है। जो अविरत है, वह अशीलवान् है। जो निरन्तर या बार-बार शील का आचरण करता है, वह आभीक्ष्ण्यसेवनाशील है। उसके दो प्रकार हैं—प्रशस्त तथा अप्रशस्त। प्रशस्त भावशील है—धर्म विषयक प्रवृत्ति, अनवरत अपूर्व ज्ञानार्जन करना तथा विशिष्ट तपस्या करना। अप्रशस्तभावशील है—अधर्म तथा क्रोध आदि में प्रवृत्ति करना। आदि शब्द से अवशिष्ट कषाय तथा चोरी, अभ्याख्यान, कलह आदि गृहीत हैं।

८८. प्रस्तुत अध्ययन में कुशील अर्थात् परतीक्षिको का तथा जो कोई अविरत है, उनका प्रतिपादन है। 'सु' यह प्रशंसा और शुद्ध विषय के अर्थ में निपात है, जैसे—सुराष्ट्र। 'कु' दुर्गुणा तथा अशुद्ध विषय के अर्थ में निपात है, जैसे—कुराज्य।

८९. जो अप्राप्तुक प्रतिसेवी होते हैं, वे धृष्टता से अपने आपको शीलवादी कहते हैं। यथार्थ में जो प्राप्तुकसेवी होते हैं, वे शीलवादी होते हैं। जो अप्राप्तुक का उपभोग नहीं करते, वे शीलवादी हैं।

९०. जो गौतम—गौततिक^१ हैं, जो रंडदेवता^२—यत्र-तत्र वर देने वाले अथवा हाथ में चक्र रखने वाले हैं, जो कारिभद्रक—सेवाल खाने वाले अथवा शौचवादी हैं, जो अग्निहोत्रवादी—अग्नि से ही स्वर्गगमन की इच्छा रखने वाले तथा जलशौचवादी^३—भागवत परिव्राजक आदि हैं—वे सारे अप्राप्तुकभोजी होने के कारण कुशील हैं। गाथा में 'च' शब्द से स्वयूथिक पार्श्वस्थ आदि गृहीत हैं।

आठवाँ अध्ययन : वीर्य

९१. 'वीर्य' शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य वीर्य तीन प्रकार का है—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

सचित्त द्रव्यवीर्य के तीन भेद हैं—

१. त्रिपद—अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव आदि का वीर्य अथवा स्त्रीरत्न का वीर्य अथवा जिस द्रव्य का जो वीर्य हो वह।

१. गौततिक मशकजातीय धर्मसम्प्रदाय के संन्यासी होते हैं। वे प्रशिक्षित लघु बैल को लेकर भिक्षा के लिए घर-घर घूमने वाले होते हैं।

२. टीकाकार ने 'चंडदेवगा' पाठ स्वीकृत किया है।

३. जलशौचवादी सचित्त जल के उपयोग में

मोक्ष की स्थापना करते थे। वे बार-बार हाथ पैर धोने, स्नान करने में रत रहते थे। वे जल से बाह्य शुद्धि के साथ आंतरिक शुद्धि भी मानते थे।

४ 'वीर्य' विषयक विशेष जानकारी के लिए देखें—सूयगंडो १, आठवें अध्ययन का आमुख।

२. चतुष्पद—अश्वरत्न, हस्तिरत्न का वीर्य अथवा सिंह, व्याघ्र, शरभ आदि का वीर्य अथवा वहन करने, दौड़ने आदि का वीर्य ।

३. अपद—गोशीर्षचन्दन आदि का शीत-उष्णकाल में उष्ण-शीतवीर्य परिणाम ।

९२, ९३. अचित्त द्रव्यवीर्य के तीन प्रकार हैं—आहारवीर्य, आवरणवीर्य तथा प्रहरणवीर्य । (ओषधि की शल्योद्धरण, ज्वण-संरोहण, क्षिपानयन, मेधाकरण आदि जो शक्तियाँ हैं—वह रसवीर्य है ।) विपाकवीर्य के विषय में आयुर्वेद के चिकित्साशास्त्रों में जो वर्णन है, वह यहाँ ग्राह्य है ।

० आहारवीर्य—आहार की शक्ति, जैसे—सद्यः बनाए हुए 'धेवर' प्राणकारी, हृद्य तथा कफ का नाश करने वाले होते हैं ।

० आवरणवीर्य—कवच आदि के शस्त्र-प्रहार को झेलने की शक्ति ।

० प्रहरणवीर्य—शक्र आदि शस्त्रों की प्रहार-शक्ति ।

क्षेत्रवीर्य—क्षेत्रगत शक्ति, जैसे—देवकुरु, उत्तरकुरु आदि क्षेत्र में उत्पन्न सभी द्रव्य उत्कृष्ट शक्ति वाले होते हैं । अथवा दुर्ग आदि विशिष्ट क्षेत्र में जिसका वीर्य अत्यधिक उल्लसित होता है, वह । अथवा जिस क्षेत्र में वीर्य की व्याख्या की जाती है, वह क्षेत्रवीर्य है ।

कालवीर्य—एकान्त सुषमा आदि काल में अथवा विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न द्रव्यों की विशिष्ट शक्ति ।

९४, ९५. भाववीर्य—वीर्यशक्ति से युक्त जीव में वीर्य विषयक अनेक प्रकार की लब्धियाँ होती हैं । उनके मुख्य तीन प्रकार हैं—औरस्यबल—शारीरिक बल, इन्द्रिय बल तथा आध्यात्मिक बल । ये तीनों बल बहुत प्रकार के होते हैं ।

१. शारीरिक बल के अन्तर्गत मनोवीर्य, वाक्वीर्य, कायवीर्य तथा आनापानवीर्य का समावेश होता है । यह वीर्य दो प्रकार का है—संभव और संभाव्य ।

२. इन्द्रिय बल—श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के ग्रहण का सामर्थ्य । इसके भी दो भेद हैं—संभव और संभाव्य ।

१. (क) वर्षासु लवणममृतं, शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते ।

शिशिरे चामलकरसी, घृतं वसन्ते गुह्यचान्ते ॥

(ख) ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धेऽम्बरे,

तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे ।

पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां,

पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा, नश्यन्तु ते शत्रवः ॥

(सूटीपृ. १११)

२. संभव, जैसे—तीर्थंकर और अनुत्तरोपपातिक देवों के मनोद्रव्य अत्यन्त पटु होता है । वे तथा मनःपर्यवजानी प्रश्नों का उत्तर द्रव्य मन से ही देते हैं । अनुत्तरोपपातिक देवों का सारा व्यवहार मन से होता है ।

संभाव्य, जैसे—जो आज ग्रहण करने में पटु नहीं है, उसकी बुद्धि का परिकर्म होने पर वह ग्रहण-पटु हो जाता है ।

१६. आध्यात्मिक बल के अनेक प्रकार हैं—

- ० उद्यम—ज्ञान आदि के अनुष्ठान में उत्साह ।
- ० धृति—संयम में स्थिरता, चित्त का समाधान ।
- ० धीरत्व—कष्टों में अधुब्धता ।
- ० शौण्डीर्य—त्याग करने का उत्कट सामर्थ्य, जैसे चक्रवर्ती का मन अपने षट्खंड राज्य को छोड़ते समय भी नहीं कंपता । आपदाओं में अविषण्णता ।
- ० क्षमा—दूसरों पर क्षुब्ध न होने का सामर्थ्य ।
- ० गांभीर्य—परीषहों तथा उपसर्गों को सहने में अधुष्टता अथवा अपने चमत्कारी अनुष्ठान में भी अहंकारशून्यता ।
- ० उपयोग—आठ प्रकार के साकार उपयोग तथा चार प्रकार के अनाकार उपयोग से युक्त ।
- ० योग—मनोवीर्य, वचनवीर्य तथा कायवीर्य से युक्त ।
- ० तप—चारह प्रकार के तपोनुष्ठान को अग्लानभाव से करना ।
- ० संयम—सतरह प्रकार के संयम में प्रवृत्ति ।^१

१७ सारा भाववीर्य तीन प्रकार का है—पंडितवीर्य, बालवीर्य तथा बाल-पंडितवीर्य । अथवा वीर्य के दो प्रकार हैं—अमारवीर्य तथा अनमारवीर्य ।

१८. (चौथे श्लोक के अन्तर्गत आए 'सत्य (शस्त्र)' पद की व्याख्या) शस्त्र—खड्ग आदि प्रहरण । इसी प्रकार विद्याधिष्ठित, मंत्राधिष्ठित तथा दिव्यक्रियानिष्पादित—ये भी शस्त्र हैं । ये पांच प्रकार के हैं—पाथिव, वारुण, आग्नेय, वायव्य तथा मिश्र ।

नौवां अध्यायन : धर्म

१९. धर्म का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है ।^१ प्रस्तुत में भावधर्म का प्रसंग है । यही भावधर्म है और यही भावसमाधि तथा समाधिमार्ग है ।

१००. धर्म के चार निक्षेप हैं—ताम, स्थापना, द्रव्य और भाव । द्रव्यधर्म के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र । गृहस्थों का कुलधर्म, ग्रामधर्म तथा जो सनका दानधर्म है, वह द्रव्यधर्म है ।

१०१. भावधर्म दो प्रकार का है—लौकिक तथा लोकोत्तर । लौकिक धर्म दो प्रकार का है—गृहस्थों का तथा अन्यतीर्थिकों का । लोकोत्तर धर्म के तीन प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र । ये तीनों पांच-पांच प्रकार के हैं ।^१

१. विद्याप्रवादपूर्व में अनन्त प्रकार के वीर्यों का वर्णन है । उसमें केवल वीर्य का ही प्रतिपादन है ।

२. देखें—दशनिगा ३६-४० ।

३. ज्ञान के पांच प्रकार—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव तथा केवल ।

दर्शन के पांच प्रकार—औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक ।

चारित्र के पांच प्रकार—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध, सूक्ष्म-संपराय तथा यथाध्यात ।

१०२. मुनि के लिए पार्श्वस्थ, अवसन्न तथा कुशील मुनियों के साथ संस्तव करना उचित नहीं होता। इसलिए सूत्रकृतांग में इस 'धर्म' नामक अध्ययन में धर्म का नियमन किया है, उसकी सीमाओं का निर्धारण किया है।

वसवां अध्ययन : समाधि

१०३. आदानपद (प्रथम पद) के आधार पर इस अध्ययन का नाम है—आध। इसका गुणनिष्पन्न नाम है—समाधि। इस अध्ययन में 'समाधि' शब्द के निक्षेप प्रस्तुत कर भाव समाधि का प्रतिपादन किया है।

१०४. 'समाधि' शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

१०५, १०६. द्रव्यसमाधि—इन्द्रियों के भोज्य विषयों में तत्-तत् विषय की प्राप्ति से उस-उस इन्द्रिय की जो तुष्टि होती है, वह द्रव्यसमाधि है। जिस क्षेत्र में समाधि उत्पन्न होती है, वह क्षेत्रसमाधि है। जिस काल में समाधि प्राप्त होती है, वह कालसमाधि है। भावसमाधि के चार प्रकार हैं—दर्शन समाधि, ज्ञान समाधि, तपः समाधि और चारित्र समाधि। जो चतुर्विध भाव-समाधि में समाधिस्य है, वही मुनि सम्यक् चारित्र में व्यवस्थित है। अथवा जो सम्यक्चरण में व्यवस्थित है, वही चारों प्रकार की भावसमाधि में समाहित होता है।

भ्यारहवां अध्ययन : मार्ग

१०७. मार्ग शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव।

१०८. द्रव्यमार्ग के चौदह प्रकार हैं—

१. फलकमार्ग	५. रज्जुमार्ग	९. कीलकमार्ग,
२. लतामार्ग	६. दहनमार्ग	१०. अजमार्ग,
३. आंदोलन मार्ग	७. दिल्मार्ग	११. पक्षिमार्ग,
४. वेष्टमार्ग	८. पाशमार्ग	१२. छत्रमार्ग

१. ज्ञान समाधि—जैसे-जैसे व्यक्ति श्रुत का अध्ययन करता है, वैसे-वैसे अत्यन्त समाधि उत्पन्न होती है।

ज्ञानार्जन में उद्यत व्यक्ति कष्ट को भूल जाता है। नये-नये जेयों की उपलब्धि होने पर उसका जो समाधान होता है, वह अनिर्वचनीय होता है।

दर्शन समाधि—जिन-प्रवचन में जिसकी बुद्धि श्रद्धाशील हो जाती है, उसे कोई भ्रमित नहीं कर सकता। उसकी स्थिति पवनशून्य गृह में स्थित दीपक की भांति

निष्कम्प हो जाती है।

चारित्र समाधि—चारित्र समाधि की निष्पत्ति है—विषय सुखों से पराङ्मुखता। अकिंचन होने पर भी चरित्रवान् साधु परमसमाधि का अनुभव करता है।

तपः समाधि—इससे साधक विकृष्ट तप करता हुआ भी खिन्न नहीं होता। वह क्षुत्, पिपासा आदि परीषहों से क्षुब्ध नहीं होता। वह आभ्यन्तर तप में अभ्यस्त साधक ध्यान अवस्था में निर्वाणस्थ की भांति सुख-दुःख से बाधित नहीं होता।

१३. जलमार्ग

१४. आकाशमार्ग ।

१. १. फलकमार्ग—कीचड़ आदि के भय से फलक द्वारा पार किया जाने वाला मार्ग या गढ़ों को पार करने के लिए बनाया गया फलक मार्ग ।
२. लतामार्ग—नदियों में होने वाली लताओं (वेत्र आदि) का आलंबन लेकर पार करने का मार्ग । जैसे गंगा आदि नदियों को वेत्र लताओं के सहारे पार किया जाता था ।
३. ओदोलनमार्ग—यह संभवतः भूलने वाला मार्ग रहा हो । विशेषतः यह मार्ग दुर्ग आदि पर बनाया हुआ होता था । व्यक्ति भूले के सहारे एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर पहुँच जाता । व्यक्ति वृक्षों की शाखाओं को पकड़कर भूलते और दूसरी ओर पहुँच जाते ।
४. वेत्रमार्ग—यह मार्ग नदियों को पार करने में सहायक होता था । जहाँ नदियों में वेत्र लताएँ (बेंत की लताएँ) सघन होती थीं, वहाँ पक्षिक उन लताओं का अवष्टम्भ लेकर एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँच जाता था ।
५. रज्जुमार्ग—रस्सी के सहारे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने का मार्ग । यह अति दुर्गम स्थानों को पार करने के काम आता था ।
६. दवनमार्ग—दवन का अर्थ है यान-वाहन । उसके आने-जाने का मार्ग दवनमार्ग है । सभी प्रकार के वाहनों के यातायात में यह मार्ग काम आता था ।
७. विलमार्ग—ये गुफा के आकार वाले मार्ग थे । इनको “भूषिक पथ” भी कहा जाता था । ये पहाड़ी मार्ग थे, जिनमें चट्टान काट कर चूहों के विल जैसी छोटी-छोटी सुरंगें बनायी जाती थीं । इनमें दीपक लेकर प्रवेश करना होता था ।
८. पाशमार्ग—चूर्णिकार के अनुसार यह वह मार्ग है, जिसमें व्यक्ति अपनी कमर को

रज्जु से बांधकर रज्जु के सहारे आगे बढ़ता था । “रसकूपिका” (स्वर्ण आदि की खदान) में इसी के सहारे नीचे गहन अंधकार में उतरा जाता था और रज्जु के सहारे ही पुनः बाहर आना होता था ।

९. कीलकमार्ग—ये वे मार्ग थे, जहाँ स्थान-स्थान पर खंभे बनाए जाते थे और पक्षिक उन खंभों के अभिज्ञान से अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता था । ये खंभे उसे मार्ग भूलने से बचाते थे । विशेष रूप से ये मार्ग मरुप्रदेश में, जहाँ बालू के टीलों की अधिकता होती थी, वहाँ बनाए जाते थे ।

१०. अजमार्ग—यह एक ऐसा संकरा पथ होता था, जिसमें केवल अज (बकरी) या बछड़े के चलने जितनी पगडंडी मात्र होती थी । यह मार्ग विशेषतः पहाड़ों पर होता था । जहाँ बकरों और भेड़ों का यातायात होता था । इसे “मैंढपथ” भी कहा जाता था ।

११. पक्षिपथ—यह आकाश-मार्ग था । भारुण्ड आदि विशालकाय पक्षियों के सहारे इस मार्ग से यातायात होता था । वह मार्ग सर्वसुलभ न भी रहा हो परन्तु कुछ श्रीमन्त या विद्याओं के पारगामी व्यक्ति इन विशालकाय पक्षियों का उपयोग वाहन के रूप में करते हों, ऐसा संभव लगता है ।

१२. छत्रमार्ग—यह एक ऐसा मार्ग था, जहाँ छत्र के बिना आना-जाना निरपद नहीं होता था । संभव है यह जंगल का मार्ग हो और जहाँ हिंस्र पशुओं का भय रहता हो । वे पशु छत्ते से डरकर इधर-उधर भाग जाते हों ।

१३. जलमार्ग—जहाज, नौका आदि से याता-यात करने का मार्ग, जिसे “वारिपथ” भी कहा जाता है ।

१४. आकाशमार्ग—चारणलब्धि सम्पन्न मुनियों, विद्याधरों तथा मंत्रविदों के आने-जाने का मार्ग । इसे “देवपथ” भी कहा जाता था । (सूटी पृ १३१)

१०९. जिस क्षेत्र में जो मार्ग है, वह क्षेत्रमार्ग है। जिस काल में जो मार्ग है, वह कालमार्ग है। भावमार्ग के दो प्रकार हैं—प्रशस्तभावमार्ग, अप्रशस्तभावमार्ग। दोनों के तीन-तीन प्रकार हैं। प्रशस्तभावमार्ग के तीन प्रकार—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र। अप्रशस्तभाव मार्ग के तीन प्रकार—मिथ्यात्व, अविरति तथा अज्ञान।

११०. इन दोनों मार्गों का विनिश्चय फल से होता है। प्रशस्त मार्ग सुगतिफल वाला होता है और अप्रशस्त मार्ग दुर्गतिफल वाला। यहाँ सुगतिफल वाला मार्ग प्रासंगिक है।

१११. दुर्गतिफलवादियों के तीन सौ तिरसठ भेद हैं। (क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४ अज्ञानवादियों के ६७ तथा वैयक्तिकवादियों के २९)। द्रव्यमार्ग के चार विकल्प हैं—

- (१) क्षेम-क्षेमरूप—जैसे—चोर, सिंह आदि के उपद्रव रहित तथा वृक्ष आदि से आच्छन्न मार्ग।
- (२) क्षेम-अक्षेमरूप—जैसे—उपद्रवरहित किन्तु पथरीला, कण्टकाकीर्ण मार्ग।
- (३) अक्षेम-क्षेमरूप—जैसे—चोर आदि के भय से युक्त किन्तु सम मार्ग।
- (४) अक्षेम-अक्षेमरूप—जैसे—सिंह, चोर आदि के उपद्रव से युक्त तथा पथरीला और ऊबड़-खाबड़ मार्ग।

भावमार्ग के चार विकल्प—

- क्षेम-क्षेमरूप—ज्ञान आदि से समन्वित मुनि वेशधारी साधु।
- क्षेम-अक्षेमरूप—भावसाधु द्रव्यलिप्त से रहित।
- अक्षेम-क्षेमरूप—निह्व।
- अक्षेम-अक्षेमरूप—परतीक्षिक, गूहस्थ आदि।

११२. ज्ञान, दर्शन और चारित्र—यह तीन प्रकार का भावमार्ग सम्यग्दृष्टि व्यक्तियों द्वारा आचीर्ण है। चरक, परित्वाजक आदि द्वारा आचीर्ण मार्ग मिथ्यात्व मार्ग है, अप्रशस्त मार्ग है।

११३. जो व्यक्ति ऋद्धि, रस, साता—इन तीन गौरवों से भारीकर्मा हैं, जो षड्जीव-निकाय की बात में निरत हैं, वे कुमार्ग का उपदेश देते हैं और उसी कुमार्ग का आश्रय लेते हैं।

११४. तप और संयम में प्रधान तथा गुणधारी मुनि जो सद्भाव—यथार्थ का निरूपण करते हैं, वह जगत् के सभी प्राणियों के लिए हितकारी है, वही सम्यक् प्रणीत मार्ग है।

११५. मोक्षमार्ग के ये तेरह एकार्थक शब्द हैं—

१. पंथ—सम्यक्त्व की प्राप्ति।
२. न्याय—सम्यक्चारित्र की प्राप्ति।
३. मार्ग—सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति।
४. विधि—सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की युगपद् प्राप्ति।
५. धृति—सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति।

१. असियसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होई चुलसीई।

अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेण्हमाणं व बत्तीसं ॥ (सूटी. पृ. १३१)

६. सुगति—ज्ञान और क्रिया का संतुलन ।
७. हित—मुक्ति या उसके साधनों की प्राप्ति ।
८. सुख—उपशम श्रेणी में आरुह होने का सामर्थ्य ।
९. पथ्य—क्षायक श्रेणी में आरुह होने का सामर्थ्य ।
१०. श्रेणी—मोह की सर्वथा उपशान्त अवस्था ।
११. निर्वृति—क्षीण मोह की अवस्था ।
१२. निर्वाण—केवलज्ञान की प्राप्ति ।
१३. शिवकर—शैलेशी अवस्था की प्राप्ति ।

बारहवां अध्ययन : समवसरण

११६. समवसरण^१ शब्द के नाम आदि छह निक्षेप हैं । द्रव्य समवसरण के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त तथा मिश्र । क्षेत्र समवसरण वह है, जहां द्विपद-चतुष्पद आदि समवसृत होते हैं । जिस काल में जो समवसरण होता है, वह काल समवसरण है ।

११७. भाव समवसरण है—औदयिक आदि भावों का समवसरण । अथवा क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, वैतयिकवादी—इन चारों वादों का भेद-प्रभेद सहित आक्षेप कर जहां विक्षेप किया जाता है, वह भाव समवसरण है ।

११८. जीव आदि पदार्थों का सद्भाव है—यह क्रियावादियों का कथन है । जीव आदि पदार्थों का सद्भाव नहीं है—यह अक्रियावादियों का कथन है । अज्ञान को ही श्रेयस्कर बताने वाले अज्ञानवादी हैं और विनय से ही स्वर्ग-मोक्ष मिलता है—ऐसा कहने वाले विनयवादी हैं ।

११९. क्रियावादियों के १८० भेद हैं । अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादियों के बत्तीस भेद हैं ।

१२०. प्रस्तुत अध्ययन में इन दर्शनों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों का निरूपण है । उन सिद्धान्तों के परमार्थ का निश्चय करने के लिए समवसरण अध्ययन निरूपित है ।

१२१. क्रियावादी सम्यक्दृष्टि है । शेष तीनों वाद मिथ्यादृष्टि हैं । मिथ्यावाद का त्याग कर, इस सत्यवाद (क्रियावाद) को अंगीकार करना चाहिए ।

तेरहवां अध्ययन : याथातथ्य

१२२. तथ्य शब्द के चार निक्षेप हैं—नामतथ्य, स्थापनातथ्य, द्रव्यतथ्य तथा भाव-तथ्य । द्रव्यतथ्य है—द्रव्य का स्वभाव, स्वरूप ।

१२३. अवश्यभावतया औदयिक आदि छह प्रकार के भावों में होना भावतथ्य है ।

अथवा आन्तरिक भावतथ्य चार प्रकार का है—ज्ञानतथ्य, दर्शनतथ्य, चारित्रतथ्य और विनयतथ्य ।

१. समवसरण का अर्थ है—एकीभाव से मिलना, एकत्र मेलान ।

१२४. भावतथ्य दो प्रकार का है—प्रशस्त तथा अप्रशस्त । जैसा सूत्र वैसा ही अर्थ और वैसा ही आचरण—यह प्रशस्त भावतथ्य है । यही याथातथ्य है । वैसा न हो तो वह जुगुप्सित है । याथातथ्य नहीं है ।

१२५, १२६. आचार्य-परंपरा से जो आगत है, व्याख्यात है, उसको यदि कोई अपनी तर्क-बुद्धि या निपुणबुद्धि से दूषित करता है तो वह छेकवादी—पंडितमानी जमालि निन्हव की भांति नष्ट हो जाता है, पथच्युत हो जाता है । वैसा व्यक्ति संयम और तप में पराक्रम करता हुआ भी (दुःखों से) मुक्त नहीं हो सकता । इसलिए मुनि को आत्मोत्कर्ष—अहंकार का वर्जन करना चाहिए ।

चौदहवां अध्ययन : ग्रंथ

१२७. ग्रंथ के विषय में पहले (उत्तराध्ययन के सुस्तक निग्रंथीय अध्ययन में) कहा जा चुका है ।^१ शिष्य के दो प्रकार हैं :—प्रव्रज्याशिष्य, शिक्षाशिष्य । यहाँ शिक्षाशिष्य का प्रसंग है ।

१२८. शैक्ष दो प्रकार का होता है—ग्रहणशैक्ष, आसेवनाशैक्ष । ग्रहणशैक्ष के तीन प्रकार हैं—सूत्रग्रहणशैक्ष, अर्थग्रहणशैक्ष, तदुभयग्रहणशैक्ष ।

१२९. आसेवनाशैक्ष के दो प्रकार हैं—मूलगुण आसेवनाशैक्ष, उत्तरगुण आसेवना शैक्ष । मूलगुण आसेवना शैक्ष पांच प्रकार का है (पांच महाव्रतों के कारण) । उत्तरगुण आसेवनाशैक्ष के बारह प्रकार हैं ।

१३०. आचार्य के दो प्रकार हैं—प्रव्रज्या आचार्य तथा शिक्षक आचार्य । शिक्षक आचार्य के दो प्रकार हैं—ग्रहणशिक्षा आचार्य तथा आसेवनाशिक्षा आचार्य ।

१३१. ग्रहणशिक्षा आचार्य के तीन प्रकार हैं—सूत्र के ग्राहक आचार्य, अर्थ के ग्राहक आचार्य तथा तदुभय ग्राहक आचार्य । आसेवनाशिक्षा आचार्य के मूल तथा उत्तरगुण की अपेक्षा दो प्रकार हैं ।

पन्द्रहवां अध्ययन : आदानीय

१३२. आदान तथा ग्रहण—इन दोनों शब्दों के चार-चार निक्षेप होते हैं । आदान और ग्रहण—ये एकार्थक भी हैं और अनेकार्थक भी । प्रस्तुत में आदान का प्रसंग है ।

१३३. प्रस्तुत अध्ययन के श्लोकों में प्रथम श्लोक का अंतिम पद दूसरे श्लोक का आदिपद होता है, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'आदानीय' है । यह इस अध्ययन का अपर नाम है ।^२

१३४. आदि शब्द के चार निक्षेप हैं—नामआदि, स्थापनाआदि, द्रव्यआदि तथा भाव-आदि । द्रव्य की अपने पर्याय में जो प्रथम परिणति विशेष होती है, वह द्रव्यआदि है ।

१. उनिगा ३३४-३७ ।

२. समवायांग में इस अध्ययन का नाम 'यमकीय' मिलता है । चूणिकार ने इसके दो नाम बताए हैं—आदानीय और संकलिका (सूचूपृ २३८)

वृत्तिकार ने मुख्य नाम आदानीय तथा विकल्प में यमकीय और संकलिका—ये दो नाम माने हैं । (सूटीपृ १६९)

१३५. गणधरों ने भावआदि के दो प्रकार बतलाए हैं—आगमतः तथा नोआगमतः । नो-आगमतः भावआदि के पांच प्रकार हैं—(प्राणातिपात विरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुनविरमण, परिग्रहविरमण) ।

१३६. आगमतः भावआदि है—गणिपिटक, द्वादशांगी । द्वादशांगी के आदिग्रन्थ का आदि-श्लोक, उसका आदिपद, उसका आदिपाद, उसका आदिअक्षर—ये सारे भावआदि हैं ।

सोलहवां अध्ययन : गाथा षोडशक

१३७. गाथा शब्द के चार निक्षेप हैं—नामगाथा, स्थापनागाथा, द्रव्यगाथा, भावगाथा । द्रव्यगाथा है—पुस्तक-पन्नों में लिखित अक्षर ।

१३८. सायोपशमिक भाव से निष्पन्न जो साकारोपयोग गाथा के प्रति व्यवस्थित है, वह भावगाथा है । वह मधुर उच्चारण से युक्त होती है इसलिए उसे गाथा कहा जाता है ।

१३९. जहां बिखरे अर्थों को पिंडीकृत—एकत्रित किया जाता है अथवा जो सामुद्रिकछन्द^१ में निबद्ध होती है, उसे गाथा कहा जाता है । इसका दूसरा निरुक्त—तात्पर्यार्थ यह है—जो गाथा जाता है अथवा जो गाथीकृत है, वह गाथा है ।

१४०. पूर्व के पन्द्रह अध्ययनों में जो अर्थ एकीकृत है, पिंडित है, उसमें से यथावस्थित पिण्डितार्थवचन के द्वारा इस अध्ययन का ग्रन्थन हुआ है, इसलिए इसका नाम गाथा है ।

१४१. प्रस्तुत सोलहवें अध्ययन में (पूर्व अध्ययनों में उक्त) अनगार के गुणों का पिण्डितार्थ से वर्णन किया गया है । इसलिए गाथा षोडशक नाम वाले इस अध्ययन का प्रतिपादन करते हैं ।

दूसरा श्रुतस्कंध

पहला अध्ययन : पुण्डरीक

१४२. महत् शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ।

१४३. अध्ययन के भी छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव ।

१४४. पुण्डरीक शब्द के आठ निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणना, संस्थान और भाव ।

१४५. जो भव्य जीव पौण्डरीक (श्वेत कमल) में उत्पन्न होने वाला है, वह द्रव्य पुण्डरीक है । पुंडरीक का ज्ञाता भाव पौंडरीक है ।

१४६. प्रस्तुत तीन विकल्प द्रव्य पौण्डरीक के हैं—एकभविक, बद्धायुष्क तथा अभिमुख-नामगोत्र ।^२

१४७. तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवताओं में जो श्रेष्ठ होते हैं, वे पौंडरीक हैं, शेष कंडरीक हैं ।

१. अनिवर्त्तं च यत्श्लोके, गाथेति तत्पिण्डितः प्रोक्तम्—सूटी पृ १७५

२. एक भव के बाद पुंडरीक में उत्पन्न होने वाला एकभविक । जिस जीव के पुंडरीक का

आयुष्य बंध हो गया है, वह बद्धायुष्क तथा कुछ ही समय पश्चात् पुंडरीक में उत्पन्न होगा, वह अभिमुखनामगोत्र है ।

१४८. जलचर, स्थलचर तथा खेचर में जो श्रेष्ठ और कान्त होते हैं और जो लोगों द्वारा स्वभावतः अनुमत होते हैं, वे तिर्यक्चों में पौंडरीक होते हैं ।

१४९. अर्हत्, चक्रवर्ती, चारणश्चमण, विद्याधर, दशार और जो अन्य ऋद्धिमान् व्यक्ति हैं, वे मनुष्यों में पौंडरीक होते हैं ।

१५०. भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक देवों में जो प्रधान हैं, वे देवताओं में पौंडरीक होते हैं ।

१५१. जैसे धातुओं में कांस्य प्रधान है वैसे ही वस्त्र, मणि, मौक्तिक, शिला तथा प्रवालों में जो प्रधान हैं, वे अचित्त पौंडरीक होते हैं । ये सारे द्रव्य पौंडरीक हैं ।

१५२. अचित्त तथा मिश्र द्रव्यों में जो प्रवर हैं, वे पौंडरीक होते हैं, शेष कंडरीक होते हैं ।

१५३. लोक में जो क्षेत्र शुभ अनुभाव वाले होते हैं—जैसे देवकुरु, उत्तरकुरु आदि—वे प्रवर क्षेत्रपौंडरीक होते हैं ।

१५४. जो प्राणी भवस्थिति^१ तथा कालस्थिति^२ से प्रवर हैं, वे काल पौंडरीक होते हैं तथा शेष कंडरीक होते हैं ।

१५५. गणना में पौंडरीक है—रज्जु की संख्या । संस्थान में पौंडरीक है—समचतुरस्र संस्थान । ये सारे पौंडरीक और शेष सारे कंडरीक हैं ।

१५६. औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक तथा सान्निपातिक—इन भावों में जो प्रवर होते हैं, वे भाव पौंडरीक हैं ।^३

१५७. अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, विनय तथा अध्यात्म—धर्मध्यान आदि में जो मुनि प्रवर होते हैं, वे भाव पौंडरीक हैं ।

१५८. प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्य पौंडरीक—वनस्पतिकाय का तथा भाव पौंडरीक—श्मण का अधिकार है ।

१५९. यहाँ पौंडरीक का दृष्टान्त दिया गया है ।^४ उसी पौंडरीक के उपचय अर्थात् सभी अवयवों की निष्पत्ति होने पर उसका उत्पादन होता है । दार्ष्टान्तिक अधिकार यह है कि चक्रवर्ती आदि भव्यों की सिद्धि-प्राप्ति जिनेश्वरदेव के उपदेश से होती है ।

१. भवस्थिति से पौंडरीक हैं—अनुत्तरोपपातिक देव क्योंकि वे उस पूरे भव में सुख का ही अनुभव करते हैं । उनमें शुभानुभाव ही होता है ।

२. कायस्थिति से शुभकर्म वाले मनुष्य जो सात-आठ भव में निर्वाण प्राप्त करने वाले होते हैं, वे मनुष्यों में पौंडरीक हैं ।

३. औदयिक भाव में तीर्थंकर तथा अनुत्तरो-

पपातिकदेव, औपशमिक भाव में समस्त उपशान्तमोह वाले व्यक्ति, क्षायिक भाव में केवलज्ञानी, क्षायोपशमिक भाव में—विपुल-भक्ति, शौदह पूर्वधर, परम अवधिज्ञानी, पारि-णामिक भाव तथा सान्निपातिक भाव में सिद्ध आदि प्रवर होते हैं ।

४. देखें—परि. ६, कथा सं ४

१६०. देव, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा नैरयिक—इन चार गतिवाले प्राणियों के मध्य मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो चारित्र्य के स्वीकार और पालन में समर्थ होता है। उनमें भी महाजन के नेता चक्रवर्ती का यहां प्रसंग है।

१६१. जो भारीकर्मा जीव हैं तथा निश्चित ही उत्कृष्ट नरक स्थिति का बंध कर नरक-गामी जीव हैं, वे जो जिनेश्वर के उपदेश के जल्दी मत में सिद्ध हो जाते हैं।

१६२, १६३. एक पुष्करिणी है। वह अत्यंत गहरी, पंकिल, अनेक प्रकार की बस्तियों से संकीर्ण है। वह जंघाओं, बाहुओं तथा नौकाओं से दुस्तर है। उसके बीच एक पद्म है। उसको पाने वाले व्यक्ति को प्राण गंवाने पड़ सकते हैं। क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे कि पौंडरीक को प्राप्त कर पुष्करिणी को सकुशल पार किया जा सके ?

१६४. (प्रज्ञप्ति आदि) विद्या के बस पर, देवता-कर्म के द्वारा अथवा आकाशगामिनी लब्धि से उस पद्मवर पौंडरीक को लेकर सकुशल आया जा सकता है परंतु यह जिनाख्यात उपाय नहीं है।

१६५. जिनेश्वर देव की विज्ञानरूप विद्या ही शुद्ध प्रयोग विद्या है। भव्यजन पौंडरीक उस विद्या-प्रयोग से सिद्धिगति को प्राप्त कर लेते हैं।

दूसरा अध्ययन : क्रिया-स्थान

१६६. (क्रियाओं का वर्णन पहले आवश्यक निर्युक्ति में किया जा चुका है तथा) प्रस्तुत अध्ययन में क्रियाओं का प्रतिपादन है, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'क्रियास्थान' है। (क्रिया स्थानों से कुछ व्यक्ति कर्मों से बंधते हैं और कुछ मुक्त होते हैं) इसलिए यहां बंधमार्ग और मोक्षमार्ग का प्रसंग है।

१६७. द्रव्य क्रिया है—प्रकम्पन। भाव क्रिया के आठ प्रकार हैं—प्रयोगक्रिया, उपायक्रिया, करणीयक्रिया, समुदानक्रिया, ईर्ष्यापथक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया, सम्यग्मिथ्यात्वक्रिया तथा मिथ्यात्व-क्रिया।^१

१. १. प्रयोगक्रिया—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति।
२. उपायक्रिया—द्रव्य की निष्पत्ति से होने वाली उपायात्मक क्रिया।
३. करणीयक्रिया—जिस द्रव्य की निष्पत्ति जैसे होती है वैसी क्रिया करना। जैसे—मिट्टी से ही घर बनता है, पथरीली बालू से नहीं।
४. समुदानक्रिया—गृहीत कर्मपुद्गलों को प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश रूप में व्यवस्थित करना। यह क्रिया असंयत, संयत, अप्रमत्त संयत, सकषाय व्यक्ति के होती है।
५. ईर्ष्यापथक्रिया—उपशान्त मोहावस्था से

- समोमिकेवली तक होने वाली क्रिया, ग्यारहवें गुणस्थान तक होने वाली सूक्ष्म क्रिया। यह तीन समय की स्थिति वाली होती है—प्रथम समय में बंध, दूसरे में संवेदन और तीसरे में निर्जरण। यह वीत-राग अवस्था की क्रिया है।
६. सम्यक्त्वक्रिया—सम्यग्दर्शनयोग्य ७७ प्रकृतियां हैं, उनको बांधने वाली क्रिया।
७. सम्यग्मिथ्यात्वक्रिया—७४ प्रकृतियों का बन्ध करने वाली क्रिया।
८. मिथ्यात्वक्रिया—१२० प्रकृतियों का बन्ध करने वाली क्रिया।

१६८. स्थान शब्द के पन्द्रह निक्षेप हैं—

१. नाम स्थान	६. ऊर्ध्व स्थान	११. योध स्थान
२. स्थापना स्थान	७. उपरति स्थान	१२. अचल स्थान
३. द्रव्य स्थान	८. वसति स्थान	१३. गणना स्थान
४. क्षेत्र स्थान	९. संयम स्थान	१४. संधना स्थान
५. काल स्थान	१०. प्रग्रह स्थान	१५. भाव स्थान ।

१६९. प्रस्तुत प्रकरण में सामुदायिक क्रियाओं तथा सम्यक् प्रयुक्त भावस्थान का अधिकार है । इन सभी स्थानों और क्रियाओं से पूर्वोक्त सभी पुरुषों तथा प्रावादुर्गों का परीक्षण करना चाहिए ।

तीसरा अध्यायन : आहारपरिज्ञा

१७०. आहार शब्द के पांच निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र और भाव ।

१७१, १७२. द्रव्य आहार के तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र । क्षेत्र आहार—जिस क्षेत्र में आहार किया जाता है, उत्पन्न होता है, व्याख्यायित होता है, अथवा नगर का जो देश धान्य, इन्धन आदि से उपभोग्य होता है, वह क्षेत्र आहार है । (जैसे—मथुरा का निकटवर्ती देश परिभोग्य होने पर वह मथुरा का आहार कहलाता है ।)

भाव आहार (आहारक की अपेक्षा से) के तीन प्रकार हैं—

१. ओज आहार—अपर्याप्तक अवस्था में तैजस और कर्मण शरीर से लिया जाने वाला आहार, जब तक अपर औदारिक या वैक्रिय शरीर की निष्पत्ति नहीं हो जाती ।

२. लोम आहार—शरीर पर्याप्ति के उत्तरकाल में बाह्य त्वचा तथा लोम से लिया जाने वाला आहार ।

३. प्रक्षेप आहार—कवल आदि के प्रक्षेप से किया जाने वाला आहार ।

१७३. ओज आहार करने वाले सभी जीव अपर्याप्तक होते हैं । पर्याप्तक जीव लोम आहार वाले तथा प्रक्षेप आहार वाले अर्थात् कवलाहारी होते हैं ।^१

१७४. एकेन्द्रिय जीवों, देवताओं तथा नारकीय जीवों के प्रक्षेप आहार नहीं होता ।^२ शेष संसारी जीवों के प्रक्षेप आहार होता है ।

१७५. एक, दो अथवा तीन समय तक तथा अन्तर्मुहूर्त और सादिक-अनिधन—शैलेशी अवस्था से प्रारंभ कर अनन्तकाल तक जीव अनाहारक होते हैं ।

१. पर्याप्तिबंध के उत्तरकाल में सभी प्राणी लोम आहार वाले होते हैं । स्पर्शन इन्द्रिय से, उष्मा आदि से, शीतल वायु से, पानी आदि से गर्भस्थ प्राणी भी तृप्त होता है, यह सारा लोम आहार है । कवल आहार तो जब-तब लिया जाता है, सदा-सर्वदा नहीं होता । वह नियतकालिक है । लोम आहार वायु आदि के स्पर्श से निरंतर होता है । वह दृष्टिगत नहीं

होता तथा वह प्रतिसमयवर्ती है ।

२. ये जीव पर्याप्तिबंध के बाद स्पर्शनेन्द्रिय से ही आहार ग्रहण करते हैं । देवताओं द्वारा मन से गृहीत शुभ पुद्गल संपूर्ण काया से परिणत होते हैं । इसी प्रकार नारकीय जीवों के अशुभ पुद्गल परिणत होते हैं । शेष सभी औदारिक शरीर वाले तिर्यञ्च और मनुष्य प्रक्षेप आहार करते हैं ।

१७६. केवली के अतिरिक्त प्राणी एक अथवा दो समय तक अनाहारक होते हैं।^१ केवली के समुद्घात के समय मन्यान के प्रारंभ में तथा उसके उपसंहार काल में (अर्थात् तीसरे तथा पांचवे समय में) दो समय तथा लोक को पूरित करते हुए चौथे समय में अनाहारक होते हैं। इस प्रकार केवली तीन समय अनाहारक रहते हैं।

१७७. शैलेशी अवस्था का कालमान है—अन्तर्मुहूर्त। वह काल अनाहारक होता है। सेखावस्था सादेक किंतु अनन्तकाल की होती है। सेख अनाहारक होते हैं।

१७८. जीव सबसे पहले तैजस और कार्मण शरीर से आहार ग्रहण करता है। तदनन्तर जब तक शरीर की निष्पत्ति नहीं हो जाती तब तक औद्यरिक मिश्र अथवा वैक्रियमिश्र से आहार ग्रहण करता है।

१७९. परिज्ञा शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना द्रव्य तथा भाव। द्रव्यपरिज्ञा के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त तथा मिश्र। भावपरिज्ञा के दो प्रकार हैं—ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा।

चौथा अध्ययन : प्रत्याख्यानक्रिया

१८०. प्रत्याख्यान शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम प्रत्याख्यान, स्थापना प्रत्याख्यान, द्रव्य प्रत्याख्यान, अदित्सा प्रत्याख्यान, प्रतिषेध प्रत्याख्यान तथा भाव प्रत्याख्यान।

१८१. प्रस्तुत में भाव प्रत्याख्यान का अधिकार है। मूलगुण हैं—प्राणातिपात विरमण आदि। प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। यदि मूलगुण से संबंधित प्रत्याख्यान नहीं होता है तो उसके निमित्त से अप्रत्याख्यान क्रिया उत्पन्न होती है। (इसलिए प्रत्याख्यान क्रिया करनी चाहिए)।

पांचवा अध्ययन : आचारश्रुत

१८२. आचार तथा श्रुत—इन दोनों शब्दों के चार चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

१८३. आचार^२ और श्रुत^३ का प्रतिपादन किया जा चुका है। अनाचार का सदा वर्जन करना चाहिए। अबद्धश्रुत—अतीतार्थ की ही विराधना होती है। इसलिए सदाचार तथा उसके परिज्ञान में प्रयत्न करना चाहिए।

१८४. अनाचार का प्रतिषेध प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपादित है। (अनगार सम्पूर्ण अनाचार का प्रतिषेध करता है) इसलिए इस अध्ययन का नाम 'अनगारश्रुत' भी है।

छठा अध्ययन : आर्द्रकीय

१८५. 'आर्द्र' शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम आर्द्र, स्थापना आर्द्र, द्रव्य आर्द्र तथा भाव आर्द्र।

१. तीन समय वाली अथवा चार समय वाली विग्रहगति की अपेक्षा से।

२. आचार के वर्णन हेतु देखें—दशनिगा १५४-२१।

३. श्रुत के वर्णन हेतु देखें—उनिगा २९।

१८६. द्रव्य आर्द्र के उदाहरण—

- ० उदकाद्रि—पानी से मिट्टी आदि द्रव्य को आर्द्र करना ।
- ० साराद्रि—बाहर से शुष्क तथा मध्य में आर्द्र, जैसे—श्रीपर्णी फल ।
- ० छविआर्द्र—स्निग्ध त्वचा वाले द्रव्य, जैसे—मुक्ताफल, रक्त अशोक आदि ।
- ० वसाद्रि—वसा—वर्षी से आर्द्र ।
- ० श्लेषाद्रि—स्तम्भ, कुड्य आदि वज्रलेप से लिप्त ।
- ० भावाद्रि—राग भाव से आर्द्र ।

१८७. द्रव्याद्रि के तीन प्रकार ये भी हैं—

- ० एकभक्तिक—जीव स्वर्ग से आकर यहां मनुष्य भव में आर्द्रकुमार के रूप में उत्पन्न होगा ।
- ० ब्रह्मायुष्क—जिसने आर्द्रकुमार के रूप में उत्पन्न होने का आशुबंध कर लिया है ।
- ० अभिमुखनामगोत्र—जो अनन्तर समय में ही आर्द्रक रूप में उत्पन्न होगा ।

१८८. आर्द्रकपुर में आर्द्र राजा का पुत्र आर्द्रक नाम वाला था । वह अनगार बना । इसलिए आर्द्रक से समुत्पन्न इस अध्ययन का नाम आर्द्रकीय हुआ ।^१

१८९. द्वादशांग रूप जिनवचन शाश्वत है, महान् प्रभाव वाला है । इसी प्रकार सभी अध्ययन तथा सर्वाक्षर-सन्निपात भी शाश्वत हैं, प्रभावशाली हैं ।

१९०. यद्यपि यह द्रव्यार्थतः शाश्वत है, फिर भी इसका अर्थ उस-उस समय में, उस-उस काल में आविर्भूत होता है । पहले भी यही प्रकरण, किसी दूसरे नाम से प्रतिपादित तथा अनुमत हुआ है, जैसे—ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि में ।

१९१. आर्द्रक अनगार ने गोपालक, भिक्षु, ब्रह्मव्रती, त्रिदण्डी तथा हस्तितापसों को जो कहा, उसी को मैं यहां कहूंगा ।

१९२. बसन्तपुर नामक गांव में सामयिक नाम का गृहपति अपनी पत्नी के साथ धर्मघोष आचार्य के पास प्रव्रजित हुआ । उसने अपनी पत्नी साध्वी को भिक्षा के लिए जाते देखा और पूर्वकीर्तित क्रीडाओं की स्मृति हुई । साध्वी भक्त-प्रत्याख्यान द्वारा पंडित मरण कर देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुई । (वहां से बसन्तपुर नगर में एक सेठ के घर पुत्री रूप में उत्पन्न हुई) ।

१९३. मुनि को संवेग उत्पन्न हुआ । उसने मायापूर्वक भक्त प्रत्याख्यान किया और मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ । वहां से ज्यवन कर आर्द्रकपुर नगर में आर्द्र राजा के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम आर्द्रककुमार रखा गया ।

१९४-२०१. एक बार आर्द्रककुमार के पिता ने प्रीतिवश महाराज श्रेणिक के पास उपहार भेजा । आर्द्रककुमार ने पूछा—क्या श्रेणिक के कोई पुत्र हैं ? जात होने पर उसने भी उपहार भेजा । अभयकुमार ने पारिणामिकी बुद्धि से जान लिया कि आर्द्रक कुमार सम्यग्दृष्टि है । उसने आर्द्रक कुमार के लिए प्रतिमा भेजी । आर्द्रककुमार को प्रतिमा देखते ही जातिस्मृति ज्ञान हुआ । वह संबुद्ध हो गया । वह प्रव्रजित न हो जाए, इसलिए राजा के आदेश से पांच सौ राजपुत्र उसकी रक्षा करने लगे । वह अश्ववाहनिका के बहाने से पलायन कर गया । प्रव्रज्या के समय देवता ने कहा—अभी

दीक्षित मत बनो । देवता के कथन की अवमानना कर वह प्रव्रजित हो गया । विहरण करते-करते वह वसन्तपुर नगर में आया और प्रतिमा में स्थित हो गया । पूर्वभव की पत्नी श्रेष्ठीपुत्री ने मुनि का वरण कर लिया । देवताओं ने हिरण्यवृष्टि की । राजा ने उस धन को ग्रहण करना चाहा, तब देवता ने निषेध किया । पिता ने उस हिरण्य का संगोपन कर रख लिया । उस दारिका का वरण करने के लिए अन्य लोग आए । लड़की ने अपने पिता से उन आगंतुकों के प्रयोजन के विषय में पूछा । पिता ने बात बताई । कन्या बोली—तात ! कन्या का विवाह एक बार ही होता है, दो बार नहीं । पिता ने पूछा—क्या तू अपने पति को पहचानती है ? उसने कहा—‘मैं उनकी पैरों के चिह्नों से जानती हूँ ।’ मुनि का आगमन हुआ । दारिका ने पहचान कर अपने पिता से कहा । पश्चात् वह दारिका अपने परिवार के साथ प्रतिमा में स्थित मुनि के पास गई । मुनि ने उसे स्वीकार कर लिया । वह उसके साथ भोग भोगने लगा । एक पुत्र उत्पन्न हुआ । आर्द्रक ने तब अपनी पत्नी से कहा—अब तुम पुत्र के साथ रहो । मैं पुनः प्रव्रजित होना चाहता हूँ । पुत्र ने तब आर्द्रक को सूत से बांध दिया । सूत के बारह बंध थे । आर्द्रक उतने वर्षों तक घर में रहा, अवधि पूर्ण होने पर वह घर से निकल कर प्रव्रजित हो गया ।

वह एकाकी विहार करता हुआ राजगृह की ओर प्रस्थित हुआ । आर्द्रक राजकुमार के पलायन कर जाने पर, राजा के भय से वे पांच सौ रक्षक राजपुत्र अटवी में आकर चोर बन गए । अटवी में उन्होंने मुनि आर्द्रक को देखा । पूछा । वे सभी पांच सौ चोर प्रतिबुद्ध होकर प्रव्रजित हो गए । राजगृह नगर-प्रवेश पर आर्द्रक मुनि ने गोशालक, बौद्धभिक्षु, ब्रह्मवादी, त्रिवंशी तथा तापसी के साथ वाद किया । सभी वाद में पराजित हो गए । वे सभी उसकी शरण में आ गए । मुनि आर्द्रक सहित वे सभी परतीथिक भगवान् महावीर के पास आए और भगवान् के शासन में प्रव्रजित हो गए ।

(मुनि आर्द्रक के दर्शन मात्र से एक मदोन्मत्त हाथी मुक्त होकर वन में चला गया । राजा द्वारा गजबंधन-भुक्ति के विषय में पूछने पर मुनि आर्द्रक बोले)—राजन् ! मनुष्य के पाश से बद्ध मदोन्मत्त हाथी का मुक्त होकर वन में चले जाना उतना दुष्कर नहीं है जितना दुष्कर है घागों से आवेष्टित मेरा विमोचन । मुझे यह दुष्कर प्रतीत होता है ।

सातवां अध्याय

२०२. अलं शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम अलं, स्थापना अलं, द्रव्य अलं और भाव अलं ।

२०३. अलं शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है—

(१) पर्याप्ति भाव—सामर्थ्य, जैसे—अलं मल्लो मल्लाय ।

(२) अलंकार—अलंकृत करने के अर्थ में—अलंकृत (देव महावीर ने शातकुल को अलंकृत किया) ।

(३) प्रतिषेध—अलं मे गृहवासेन—अब मैं गृहवासे में रहना नहीं चाहता ।

२०४. प्रस्तुत में प्रतिषेधवाची अलं शब्द का प्रसंग है । नालंदा शब्द स्त्रीलिङ्गी है । नालन्दा राजगृह नगर का उपनगर था ।

२०५. नालन्दा के समीप मनोरथ नाम के उद्यान में इन्द्रभूति ने निर्ग्रन्थ उदक के प्रश्न के समाधान में इस अध्ययन का कथन किया। नालन्दा के समीप उद्यान में इसका प्रतिपादन होने के कारण यह अध्ययन नालन्दीय कहलाया।

२०६. पार्श्वपत्न्यीय उदक ने आर्य गौतम से श्रावक के विषय में पूछा। गौतम से श्रावक का धर्म सुनकर उदक संदेहरहित हो गया।

दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति

विषयानुक्रम

१. छेदसूत्रकार प्रथम भद्रबाहु को नमन ।
२. द्रव्य तथा भावदशा का उल्लेख ।
३. आयु के आधार पर जीव की दस अवस्थाएँ ।
४. अध्ययन दशा के कथन की प्रतिज्ञा ।
५. विविध प्रकार से वशा का उल्लेख ।
६. अयारवशा का स्थविरों द्वारा निर्यूहण का संकेत ।
७. प्रस्तुत ग्रंथ के अध्ययनों के कथन की प्रतिज्ञा ।
८. दश अध्ययनों के नाम ।

पहली दशा : असमाधिस्थान

९. द्रव्य तथा भाव-समाधि का स्वरूप ।
१०. स्थान शब्द के पन्द्रह निक्षेप ।
११. बीस असमाधिस्थान के अतिरिक्त भी असमाधि स्थानों का उल्लेख ।

दूसरी दशा : सबल दोष

१२. द्रव्य तथा भाव सबल का स्वरूप ।
१३. सबल दोष की मर्यादा ।
१४. घड़े एवं वस्त्र की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं द्वारा विराधना का वर्णन ।

तीसरी दशा : आशातना

१५. आशातना के दो भेदों का उल्लेख ।
१६. लाभ आसादना का स्वरूप ।
१७. द्रव्य आदि आसादना का उल्लेख ।
१८. छठे और आठवें पूर्व में 'आ' उपसर्ग के वर्णन का उल्लेख तथा आशातना का निरुक्त ।
१९. आशातना का स्वरूप ।
२०. उत्कर्ष (अभिमान) के परित्याग का निर्देश ।
२१. भारीकर्मी जीव का स्वरूप ।
२२. आशातना किसकी ?
२३. हलुकर्मी जीव का स्वरूप ।
२४. गुरु की आशातना से ज्ञान, दर्शन आदि का नाश तथा विराधना ।

चौथी दशा : गणि-संपदा

२५. द्रव्यगणी तथा भावगणी का स्वरूप ।
२६. ज्ञात शब्द के एकार्थक तथा आचार्य के ज्ञानी होने का निर्देश ।
२७. आचार्य के 'आचारधर' होने का उल्लेख ।
२८. गणि/आचार्य की विशेषता ।
२९. संपदा शब्द के निक्षेप ।
- ३०, ३१. आचार्य को हाथी की उपमा तथा उसका उपसंहार ।

पाँचवी दशा : चित्तसमाधिस्थान

३२. चित्त तथा समाधि शब्द के निक्षेप ।
३३. द्रव्य चित्त का स्वरूप ।
- ३३।१. भाव चित्त का स्वरूप ।
- ३३।२. द्रव्य तथा भाव समाधि का स्वरूप ।
३४. चित्त समाधि के स्थानों में यतना करने का निर्देश ।

छठी दशा : उपासक-प्रतिमा

३५. उपासकों के प्रकार तथा द्रव्य और तदर्थक उपासक का स्वरूप ।
३६. मोह उपासक का स्वरूप ।
३७. भाव उपासक का स्वरूप ।
३८. केवली द्वारा अगार और अनगार धर्म का उपदेश ।
- ३९, ४०. उपासक और श्रावक में अन्तर ।
४१. प्रतिमाओं के भेद ।
४२. उपासक तथा भिक्षु प्रतिमाओं की संख्या का उल्लेख ।
४३. गृहस्थ धर्म तथा साधु धर्म का सुखावबोध ।
४४. साधुओं को तप, संयम में उद्यम करने का निर्देश ।
- ४४/१. उपासक की बारह प्रतिमाओं का नामोल्लेख ।

सातवीं दशा : भिक्षु-प्रतिमा

४५. भिक्षु, उपधान और प्रतिमा शब्द के निक्षेप ।

४६. समाधि आदि पांच प्रतिमाओं का नामोल्लेख ।
 ४७. आचारांग आदि आगमों में वर्णित प्रतिमाओं की संख्या का निर्देश ।
 ४८. श्रुत-समाधि प्रतिमा तथा चारित्र-समाधि प्रतिमा का उल्लेख ।
 ४९. भिक्षु और उपासक प्रतिमा का मूर्त में वर्णन होने का निर्देश तथा विवेक प्रतिमा का उल्लेख ।
 ५०. प्रतिसंलीन तथा एकाकीविहार प्रतिमा का उल्लेख ।
 ५१, ५२. एकलविहार प्रतिमा ग्रहण करने वाले भुक्ति की विशेषताएं ।

आठवीं दशा : पर्युषणाकल्प

- ५३, ५४. पर्युषणा शब्द के एकार्थक ।
 ५५. स्थापना शब्द के निक्षेप ।
 ५६, ५७. भावस्थापना का स्वरूप ।
 ५८. चातुर्मास में प्रवेश और विहार के नियमों के कथन की प्रतिज्ञा ।
 ५९-६३. चातुर्मास के अतिरिक्त विहार करने के नियम ।
 ६४. आषाढ़ी पूर्णिमा को वर्षावास स्थापित करने का निर्देश तथा मृगशिर कृष्णा दशमी तक वहां रहने का उल्लेख ।
 ६४।१. चातुर्मास योग्य क्षेत्र की विशेषताएं ।
 ६५-६९. चातुर्मास स्थापित करने के नियमों एवं कारणों का निर्देश ।
 ७०. ज्येष्ठावग्रह (छः मास तक एक स्थान पर रहना) का उल्लेख ।
 ७१-७५. वर्षावास के बाद विहार करने और न करने के कारणों का उल्लेख ।
 ७६-७९. चातुर्मास काल में क्षेत्रावग्रह की मर्यादा ।
 ८०-८८. द्रव्य स्थापना के सात द्वार और उनका विवरण ।
 ८९. आचार की स्थलनाओं का प्रायश्चित्त तथा कषाय के उपशमन का निर्देश ।
 ९०, ९१. वर्षाकाल में हिंसा की सम्भावना से समिति आदि में जागरूकता का निर्देश ।
 ९२-१००. कलहशमन में दुरुक्त, प्रद्योत एवं द्रमक की कथा का निर्देश ।

१०१. अनंतानुबन्धी क्रोध आदि कषायों का उपशमन ।
 १०२. अनंतानुबन्धी क्रोध आदि चार कषायों की स्थिति एवं गति ।
 १०३. मान, माया और लोभ की उपमाओं का निर्देश ।
 १०४. क्रोध, मान आदि कषायों के उदाहरणों का उल्लेख ।
 १०४।१. सद्गति हेतु नित्य उपशांत रहने का निर्देश ।
 १०५-१२. क्रोध में मरक, मान में अचंकारियभट्टा, माया में साखी पौडूरा तथा लोभ में मंथु आचार्य का उदाहरण ।
 ११३. कषायों के दुष्परिणाम जानकर उनसे निवृत्त होने का निर्देश ।
 ११४. चातुर्मास में प्रायश्चित्त ब्रह्म करने की सुविधा ।
 ११५. प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों की पर्युषणा का निर्देश ।
 ११६-१९. वर्षा के समय भिक्षाचर्या करने और न करने के कारणों का निर्देश ।
 १२०. उत्तरकरण का स्वरूप ।

नवीं दशा : मोहनीयस्थान

१२१. मोह शब्द के चार निक्षेपों का उल्लेख तथा भावस्थान का अधिकार ।
 १२२. द्रव्य मोह के भेद-प्रभेद ।
 १२३. आठों कर्मों का पूर्वों में वर्णन का उल्लेख ।
 १२४-२६. कर्म शब्द के एकार्थक ।
 १२७, १२८. महामोह कर्मबंध के कारणों का उल्लेख तथा उनके वर्जन का उपदेश ।

दसवीं दशा : आज्ञातिस्थान

१२९. आज्ञाति शब्द के निक्षेप ।
 १३०. द्रव्य तथा भाव आज्ञाति के भेद-प्रभेद ।
 १३१. जाति और आज्ञाति का स्वरूप ।
 १३२. प्रत्याज्ञाति का स्वरूप ।
 १३३. निदान से मोक्ष में बाधा ।
 १३४-१३६. मोक्ष-प्राप्ति के उपायों का उल्लेख ।
 १३७. निदान शब्द के एकार्थक ।
 १३८. द्रव्य बंध के भेद ।
 १३९. क्षेत्र और कालबंध का स्वरूप ।
 १४०, १४१. भावबंध के प्रकार ।
 १४२. अनिदानता की श्रेष्ठता का उल्लेख ।
 १४३. संसार-सागर को पार करने के उपाय ।

दशाश्रुतरक्तकण्ठ निर्युक्ति

१. वंदामि भट्टबाहुं, पार्श्वे चरिम-^१सयलसुयनाणि^२ ।
सुस्तस्स^३ कारगमिसि, दसासु^४ कप्पे य ववहारे ॥
२. आउविवागज्झयणाणि,^५ भावओ दव्वओ उ वत्थदसा ।
दसआउविवागदसा, वाससयाओ दसह छेत्ता ॥
३. बाला 'मंदा किड्डा'^६, बला य पण्णा य हायणि पवंचा ।
पवभार-^७मुम्मुही सयणी, नामेहि य लक्खणेहि दसा'^८ ॥
४. दसआउविवागदसा, नामेहि य लक्खणेहि एहिंति^९ ।
एत्तो अज्झयणदसा, अह्वकमं कित्तइस्सामि ॥
५. डहरीओ तु इमाओ, अज्झयणेसु महईओ अंगेसु ।
छसु णायादीएसु,^{१०} वत्थविभूसावसा^{११}मिय ॥
६. डहरीओ तु इमाओ, निज्जूढाओ अणुगहट्ठाए ।
थेरेहि तु दसाओ, जो दसा जाणओ जीवो ॥
७. 'दसाणं पिडत्थो'^{१२}, एसो मे वणिणितो समासेणं ।
एत्तो एक्केक्कं 'पि य'^{१३}, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥
८. असमाहि य सबलत्तं, अणसादण^{१४} गणिगुणा भणसमाही ।
सावग-भिव्खूपडिमा, कप्पो मोहो निदाणं च^{१५} ॥

१. चरिम (बी) ।	बाला मंदा किड्डा, पबला पण्णा य हायणी ।
२. ०नाणी (पंचभा १) ।	पवंचा पवभारा या, मुम्मुही सायणी तहा ॥
३. सुस्तस्य (पंचभा) ।	८. य हवति (ला), X (बी) ।
४. दसाण (पंचभा), दसाणु (ब) ।	९. णायादीसु (ला) ।
५. ०ज्झयणा (चू) ।	१०. एसो दसाणतोहो, (चू) ।
६. किड्डा मंदा (पंचभा २५२) ।	११. पुण (चू) ।
७. मुम्मुहुत्ति सयणी० (अ), मुम्मुही वि य सयणी दसमा य णायव्वा (पंचभा), तंडुल ३१, ठाणं १०।१५४, निभा (३५४५) में यह गाथा कुछ अंतर के साथ मिलती है—	१२. अणा० (अ), छंद की दृष्टि से अणसादण पाठ स्वीकृत किया है । १३. चूर्णि की व्याख्या में सातवीं और आठवीं गाथा में क्रमव्यत्यय है ।

९. दब्बं 'जेण व'^१ दब्बेण, समाधी आहितं च जं दब्बं ।
भावो सुसमाहितया, जीबस्स पसत्थजोगेहि^२ ॥
१०. नामं ठवणा दविए, खेतद्धा उड्डु^३ उवरत्ती^४ वसही ।
संजम-पग्गह-जोहे^५, अचल-गणण-संघणा भावे^६ ॥
११. वीसं तु^७ णवरि णेम्मं,^८ अइरेगाइं तु तेहि सरिसाइं ।
नायब्बा एएसु य, अन्नेसु य एवमादीसु ॥
असमाहिट्टाणनिज्जुत्ती समत्ता
१२. दब्बे^९ चित्तलगोणादि, एसु^{१०} भावसबलो खुतायारो ।
वतिक्कमे अइक्कमे, अतियारे^{११} भावसबलो उ ॥
१३. अवराधम्मि पतणुए, जेण उ भूलं न वच्चए साहू ।
'सबलेइ तं'^{१२} चरित्तं, तम्हा सबलत्तणं^{१३} वेत्ति ॥
१४. बाले राई दाली, खंडे बोडे खुत्ते^{१४} य भिन्ने य ।
कम्मासपट्टसबले,^{१५} सब्बा वि विराहणा भणिया ॥
सबलनिज्जुत्ती समत्ता
१५. आसायणा उ दुविहा, मिच्छापडिवज्जणा^{१६} य लाभे य ।
लाभे छक्कं तं पुण, इट्ठमणिट्ठं दुहेक्केक्कं ॥
१६. 'साधू तेणे ओग्गह',^{१७} कंतार-वियाल-विसम सुहवाही ।
जे लद्धा ते ताणं, भणंति^{१८} आसादणा तु जगे ॥
१७. दब्बं माणुम्माणं,^{१९} हीणहियं^{२०} जम्मि खेत्त जं कालं ।
एमेव छव्विहम्मी, भावे पगयं तु भावेण ॥

१. जेणव(बी) ।

२. तु०दशनि ३०४ ।

३. उड्ड (अ) ।

४. ओवरइ (अ), ०रई (मु) ।

५. जोहो (बी, अ) ।

६. आनि १८५, उनि ३७९, ५१६, सूनि १६८ ।

७. ति (अ) ।

८. णेम्मं (अ) ।

९. दब्बं (ला, मु) ।

१०. एस (बी) ।

११. तियारे (ला) ।

१२. ०लेई तं (मु), ०लेइमं (बी) ।

१३. सबल ति णं (ला) ।

१४. खुत्ते (मु) ।

१५. कम्मग० (बी) ।

१६. ०पडिवत्तितो (चू) ।

१७. साधू तेणोग्गह (चू) ।

१८. जे लद्धा दब्बादी भणंति (ला), जे लद्धा दब्बादी इट्ठाणिट्ठा (चूपा) ।

१९. ०माणे (बी) ।

२०. हीणाहियं (बी, मु) ।

१८. छट्ठमपुब्बेसु, आउवसगो त्ति सब्बजुत्तिकओ ।
पयअत्थविसोहिकरो, दिन्तो आसायणा तम्हा ॥
१९. मिच्छापडिवत्तीए, जे भावा जत्थ होंति सब्भूता ।
तेसि तु वितहपडिवज्जणाए आसायणा तम्हा^१ ॥
२०. न करेति दुक्खमोक्खं, उज्जममाणो वि संजम-त्तवेसु* ।
तम्हा असुक्करिसो, वज्जेतव्वो पयत्तेणं^२ ॥
२१. जाणि भणितानि सुत्ते, तानि जो कुणति अकारणज्जाए ।
सो खलु भारियकम्मो, न गणेति गुरुं गुरुट्ठाणे ॥
२२. दंसण-त्ताण-चरित्तं, तवो य विणओ य होंति गुरुमूले ।
विणओ गुरुमूले त्ति य, गुरुणं* आसायणा तम्हा ॥
२३. जाइं भणियाइं सुत्ते, ताइं जो कुणइ कारणज्जाए ।
सो न ह् भारियकम्मो, गणेती गुरुं* गुरुट्ठाणे^३ ॥
२४. सो गुरुमासायंतो, दंसण-त्ताणचरणेसु सयमेव ।
सीयति कतो आराहणा, से तो तानि वज्जेज्जा ॥
आसायणनिज्जुत्ती समत्ता
२५. दब्बं सरीरभविओ, भावगणी गुणसमन्तिओ दुविहो ।
गणसंगहुवग्गहकारओ य धम्मं च जाणंतो ॥
२६. नातं गणितं गुणितं, गतं च एणदु एवमादीयं ।
नाणी गणित्ति तम्हा, धम्मस्स विद्याणओ भणिओ ॥
२७. आयारम्मि अधीते, जं नाओ होति समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं ॥
२८. गणसंगहुवग्गहकारओ, गणी जो पभू गणं धरिउं* ।
तेण णओ छक्कं, संपयाएँ पगयं चउसु तत्थ ॥

१. निष्ठा २६४८ ।

२. पवेसु (धूनि) ।

३. जतिजणेणं (सूति १२६) ।

४. गुरुहि (ला, बी) ।

५. गुरु (अ) ।

६. प्रकाशित चूणि की गाथाओं के क्रम में यह ७. धरेउ (ला, बी) ।

गाथा मिलती है लेकिन चूणिकार ने इस गाथा की व्याख्या नहीं की है । ला, अ और बी प्रति में यह गाथा उपलब्ध है । विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से यह गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए ।

२९. दब्बे भावे य सरीरसंपया स्रव्विघा य भावम्मि ।
दब्बे खेतो काले, भावम्मि य संगहपरिण्णा ॥
३०. जघ गयकुलसंभूतो, गिरि-कंदर-कडग-विसमदुग्गेसु ।
परिवहइ अपरितंतो, निययसरीरुगए दत्ते* ॥
३१. तह पवयणभत्तिगओ, साहम्मियवच्छलो असदभावो ।
परिवहइ असहुवग्गं, खेत-विसम-काल-दुग्गेसु* ॥

गणिसंपयानिज्जुत्ती समत्ता

३२. नामं ठवणा चित्तं, दब्बे भावे य होइ बोधव्वं ।
एमेव समाहीए,* निक्खेवो चउव्विहो होइ ।
३३. जीवो तु दब्बधिअं, जेहि य दब्बेहि पणिस य दब्बे ।
नाणादिसु सुसमाही, धुवजोगी भावओ चित्तं ॥
- ३३।१. अकुसलजोगनिरोहो, कुसलाणं उदीरणं च जोगाणं ।
एयं तु भावचित्तं, होइ समाही इमा चउहा* ॥
- ३३।२. दब्बं जेण व दब्बेण, समाही आहितं च जं दब्बं ।
भावे समाही चउव्विह, दंसण-नाण-तव-चरित्ते* ॥
३४. भावसमाधी चित्ते, ठितस्स ठाणा इमे विसिद्धतरा ।
होइ जओ पुण चित्ते, चित्तसमाहीए जइयव्वं ॥

चित्तसमाहिट्ठाणनिज्जुत्ती समत्ता

३५. दब्बतदद्धोवासग, मोहे भावे उवासगा चउरो ।
दब्बे* सरीरभविओ, तदट्ठिओ ओयणादीसु ॥
३६. कुप्पवयणं कुधम्मं, उवासए मोहुवासगो सो उ ।
हंदि तहि सो सेयं, मण्णति 'सेयं च'* नत्थि तहि ॥
३७. 'भावे उ'^६ सम्मदिट्ठी, सम्ममणो जं^६ उवासए समणे ।
तेण^{१०} सो गोणं नाम, उवासगो सावगो व त्ति ॥

१. पंक्था १९१५, व्यभा १९४७ ।

नहीं की है । आदर्शों में यह गाथा नहीं

२. पंक्था १९१६, व्यभा १९४८ ।

मिलती है ।

३. ०हीण (बी) ।

६. दब्बं (बी, ला) ।

४. यह गाथा केवल 'अ' प्रति में मिलती है ।

७. X (बी, चू) ।

चूणि में यह अव्याख्यात है । संभव है अ हस्त-
प्रति में यह गाथा प्रसंगवश जोड़ दी गयी हो ।

८. भावओ (बी) ।

९. जो (बी) ।

५. यह गाथा प्रकाशित चूणि में गाथा के क्रम में
मिलती है लेकिन इसकी व्याख्या चूणिकार ने

१०. तेणं (बी) ।

३८. कामं दुवालसंगं, पत्रयणमणगारऽगारधम्मो य ।
ते केवलीहि पसूया, प-उवसग्गे पसूयंति ॥
३९. तो ते सावग तम्हा, उवासगा तेषु होंति भस्तिगया ।
अविसेसम्मि विसेसो, समणेषु पहाणया भणिया ॥
४०. कामं तु निरवसेसं, सच्चं जो कुणति तेण होइ कयं ।
तम्मि ठिताओ समणा, नोवासगा सावगा गिहिणो ॥
४१. दव्वम्मि सच्चित्तादी, संजतपडिमा^१ तहेव जिणपडिमा ।
भावो संताण^२ गुणाण, धारणा जा जहि भणिया ॥
४२. सा दुविघा छविगुणा, भिक्खूण उवासगाण एगूणा ।
उवरि भणिया भिक्खूणुवासगाणं तु वोच्छामि ॥
४३. तत्थहिगारो तु सुहं, णावं आइक्खिओ व गिहिघम्मं ।
साहूणं च तव-संजमम्मो संवेगकरणाणि ॥
४४. जइ ता गिहिणो वि य उज्जमंति तणु साहुणावि कायव्वं ।
सव्वत्थामो तव-संजमम्मि इय सुट्ठु^३ ताऊणं ॥
- ४४।१. दंसण-वय-सामाइय-पोसहपडिमा अबंभ सच्चित्ते ।
आरंभ-पेस-उद्दिट्ठवज्जए समणभूए य^४ ॥
- उवासगपडिमाए निज्जुत्ती समत्ता
४५. भिक्खूणं उवधाणे, पगयं तत्थ व हवंति निक्खेवा ।
तिस्सि य पुव्वुद्दिट्ठा, पगयं पुण भिक्खुपडिमाए ॥
४६. समाधिओवहाणे य^५, विवेगपडिमाइया^६ ।
पडिसंलीणा य तहा, एगविहारे य पंचमिया ॥
४७. आयारे बायाला, पडिमा सोलस य वण्णिया ठाणे ।
चत्तारि य ववहारे, मोए दो चंदपडिमाओ ॥

१. संजम० (बी, चू) ।

२. सभाव (बी), संताव (अ) ।

३. सुद्ध (मु) ।

४. चूर्णि की मुद्रित प्रति की गाथाओं में यह गाथा दो बार उल्लिखित है तथा आदर्शों में भी यह गाथा मिलती है । चूर्णिकार ने इस

गाथा की व्याख्या नहीं की है । संभव है चूर्णिकार के सामने यह गाथा नहीं थी प्रसंगानुसार बाद के आचार्यों ने इसे वाद में जोड़ दी है ।

५. या (ला, बी) ।

६. ०पडिमाइ य (अ) ।

४८. एवं तू सुयसमाधिपडिमा छावट्ठिया य^१ पण्णत्ता ।
सामाहयमाईया,^२ चारित्तसमाधिपडिमाओ^३ ॥
४९. भिक्खूणं उवहाणे, उवासगाणं च वणिण्या सुत्ते ।
गणकोवाहिविवेगो, सन्भित्तरवाहिरो दुविहो ॥
५०. सोत्तिदियमादीया, पडिसंलीणा^४ चउत्थिया दुविहा ।
अट्ठगुणसमग्गस्स य, एणविहारिस्स पंचमिया ॥
५१. दढसम्मत्तचरित्ते, मेघावि बह्वस्सुए य अयले य ।
अरहरइसहे दविए, खंता भयभेरवाणं च ॥
५२. परिजित्त^५ कालामंतण, खामणत्तव-संजमे य संघयणे ।
भत्तोवहिनिक्खेवे, आवन्ने लाभ-गमणे य ॥
- भिक्खुपडिभाए निज्जुत्ती समसा
५३. पज्जोसमणाए^६ अक्खराइं, होंति उ इमाइ गोण्णाइं ।
परियायववत्थवणा, पज्जोसमणा य पागइया ॥
५४. परिवसणा पज्जुसणा, पज्जोसमणा^७ य वासवासो य ।
पढमसमोसरणं ति य, ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठ ॥
५५. ठवणाए निक्खेवो, छक्को दस्सं च दव्वनिक्खेवे ।
'खेत्तं तु'^८ जम्मि खेत्ते, काले कालो जहि जो उ^९ ॥
५६. ओदइयादीयाणं,^{१०} भावाणं जा^{११} जहि भवे ठवणा ।
भावेण जेण य पुणो, ठविज्जए^{१२} भावठवणा तु^{१३} ॥
५७. सामित्ते करणम्मि य, अहिगरणे चैव होंति छब्भेया ।
एगत्त-पुहत्तेहि,^{१४} दव्वे खेत्तइ^{१५} भावे य ॥
५८. कालो समयादीओ, पगयं समयम्मि^{१६} तं परूवेस्सं ।
निक्खमणे य पवेसे, पाउस-सरए य वोच्छामि ॥

१. च (मु) ।

२. सामाईय० (बु) ।

३. चरित्त० (बी) ।

४. पडिसंलीणया (मु) ।

५. परिचिय (मु) ।

६. ०सवणाए (बी, निभा ३१३८) सर्वत्र ।

७. ०सवणा (निभा, ३१३९) ।

८. खेत्तम्मि (ला) ।

९. निभा ३१४० ।

१०. उवइयाई (अ), उवइयाणं (ब) ।

११. जो (निभा) ।

१२. ०वेज्जते (निभा), ठविज्जइ (ब) ।

१३. निभा ३१४१ ।

१४. पुहत्तेहि (अ) ।

१५. खेत्ते य (निभा ३१४२) ।

१६. कालम्मि (निभा ३१४३) ।

५९. ऊणातिरित्तमासे, अट्ट विहरिऊण गिम्ह-हेमंते ।
एगाहं पंचाहं, मासं च जहासमाहीए^१ ॥
६०. काळण भासकप्पं, तत्थेव उवागयाण ऊणा ते^२ ।
चिक्खल्ल^३ वास रोहेण, 'वावि तेण'^४ट्टिया ऊणा ॥
६१. वासाखेत्तालंभे, अट्ठाणादीसु 'पत्तमहिगा तु'^५ ।
साधगवाचातेण^६ क, अपडिक्कमित्तु^७ जइ वयति ॥
६२. पडिमापडिवन्नानं,^८ एगाहं^९ पंच होंतऽहालंदे^{१०} ।
जिण-सुद्धाणं मासो, निक्कारणतो य थेराणं ॥
६३. ऊणातिरित्तमासा, एवं थेराण अट्ट^{११} नायव्वा ।
'इतरे अट्ट विहरिउं',^{१२} नियमा चत्तारि अञ्छंति^{१३} ॥
६४. आसाढपुण्णिमाए, वासावासम्मि^{१४} होति ठातळ्वं^{१५} ।
मग्गसिरबहुलदसमीओ, आव एक्कम्मि खेत्तम्मि ॥
- ६४।१. विज्जो ओसह निवयाहिवई पासंड भिक्ख सज्झाए ।
चिक्खल्ल^{१६} पाणयंडिल्ल, वसही गोरसजणाउलो^{१७} ॥
६५. 'बाहि ठिता'^{१८} वसभेहि, खेत्तं गाहेत्तु वासपाओग्गं ।
कप्पं कहेत्तु ठवणा, सावणऽमुदस्स^{१९} पंचाहे ॥

१. निभा ३१४४ ।

२. उ (निभा ३१४५) ।

३. चिक्खल्ल (ब) ।

४. वावि तीए (निभा), दोवि तेण (बी) ।

५. ०महिगातो (च) ।

६. सावग० (ब) ।

७. अप्पडिक्कम्म तं (निभा ३१४६) ।

८. ०पडिवन्नगाणं (अ) ।

९. एगाहो (निभा ३१४७) ।

१०. हुंतिहालंदे (ब) ।

११. हुंति (ब) ।

१२. इतरेसु अट्ट रियित्तुं (ब) ।

१३. निभा ३१४८ ।

१४. ०वासं तु (मु), ०वासासु (निभा ३१४९) ।

१५. अतिगमणं (बुभा ४२८०) ।

१६. चिक्खल्ल (ब) ।

१७. प्रस्तुत गाथा चूणि में व्याख्यात नहीं है ।

किन्तु आदर्शों में प्राप्त है । निशीथ भाष्य में दशाश्रुतस्कन्ध के पञ्जोसवणाकप्प की सभी निर्युक्ति-गाथाएं उद्धृत हैं । चालू क्रम में यह गाथा निशीथ में भी नहीं मिलती है, तथा विषयानुसार प्रासंगिक भी नहीं है इसलिए हमने इसे निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं जोड़ा है । आदर्शों में पूर्वार्ध चिक्खल्ल है तथा उत्तरार्ध विज्जो है । किन्तु छंद की दृष्टि से क्रमव्यत्यय होना चाहिए ।

१८. बाहिठिता (निभा), वसहिट्टिया (बी) ।

१९. सावणबहुलस्स (निभा ३१५०, बभा ४२८१) ।

६६. एत्थं तु^१ अणभिग्गहियं, वीसतिराइ^२ सवीसती^३ भासं ।
तेण परमभिग्गहियं,^४ गिहिणातं कत्तिओ जाव ॥
६७. असिवादिकारणेहि, अहवा^५ वासं न सुट्ठु आरद्धं ।
अभिवड्ढियम्मि वीसा, इयरेसु सवीसती मासो ॥
६८. एत्थं तु पणगं पणगं, कारणियं जा सवीसती मासो ।
सुद्धदसमीठियाण^६ व, आसाढीपुण्णिमोसरणं^७ ॥
६९. 'इय सत्तरी'^८ जहण्णा, वसीति नउतो दसुत्तरसयं च ।
जइ वासति मग्गसिरे^९, दस राया^{१०} तिप्पि उक्कोसा^{११} ॥
७०. काऊण मासकप्पं, तत्थेव 'ठियाणउत्तीएँ मग्गसिरे'^{१२} ।
सालंबणाण छम्मासितो तु जेढ्ढोग्गहो होति^{१३} ॥
७१. जदि^{१४} अस्थि पदविहारो, 'चउपाडिवयम्मि होइ गंतव्व'^{१५} ।
अहवा वि 'अणितस्सा, आरोवण'^{१६} पुव्वनिहिट्ठा ॥
७२. काइयभूमी संयारए य संसत्त^{१७} दुल्लभे भिक्खे ।
एतेहि कारणेहि, अण्पत्ते होति निग्गमणं^{१८} ॥
७३. राया 'सप्पे कुंयू',^{१९} अगणि-गिलाणे य थंडिलस्सउसतो ।
एतेहि कारणेहि, अण्पत्ते होति निग्गमणं ॥दारं॥

१. य (व, वृभा ४२८२) ।

२. ०रायं (मु, वृभा) ।

३. सवीसति (निभा ३१५१), सवीसगं (वृभा) ।

४. ०गहीयं (व) ।

५. अहव न (निभा ३१५२), वृभा ४२८३ ।

६. ०दसमिठियाण (व, मु) ।

७. ०मोसवणा (निभा ३१५३, वृभा ४२८४) ।

८. इय सत्तरि (व) ।

९. मग्ग० (मु) ।

१०. रायं (वी, ला) ।

११. निभा ३१५४, वृभा ४२८५ । निशीथ भाष्य में पर्युषणाकल्प की सभी निर्युक्ति-गाथाएं उद्धृत हैं । गाथा ६९ के बाद निभा (३१५५) में निम्न गाथा मिलती है । यह गाथा दशाश्रुतस्कंध की प्रतियों में उपलब्ध नहीं है । जूणिकार ने भी इसका गाथा के

रूप में कोई उल्लेख नहीं किया है ।

पण्णासा पाडिज्जति, चउण्ह मासाण मज्झओ ।

ततो उ सत्तरी होइ, जहण्णो वासुवग्गहो ॥

१२. ठियाण तीत्तमग्ग० (निभा ३१५६), ठियाण जाव मग्ग० (ला) ।

१३. भणितो (निभा), वृभा ४२८६ ।

१४. अह (वृभा ४२८७) ।

१५. चउपाडिवयम्मि होइ निग्गमणं (निभा ३१५७, वृभा) ।

१६. अणितस्स आरोवणा (निभा), यह गाथा ला और बी प्रति में अनुपलब्ध है ।

१७. संसत्तं (निभा ३१५९) ।

१८. निशीथ भाष्य में ७२ और ७३ की गाथा में क्रमव्यत्यय है ।

१९. कुंयू सप्पे (निभा ३१५८) ।

७४. वासं^१ व 'न उवरमती'^२, पंथा वा दुग्गमा सच्चिच्छित्ता ।
एतेहि कारणेहि, अइक्कते होति तिग्गमणं^३ ॥
७५. असिवे ओमोयरिए, रायादुट्ठे^४ भए व गेलण्णे ।
एतेहि कारणेहि, अइक्कते होयडतिग्गमणं^५ ॥
७६. उभओ^६ वि अद्धजोयण, सअद्धकोसं^७ च तं हवति खेत्तं ।
होति सकोसं जोयण, मोत्तूणं कारणज्जाए ॥
७७. उट्ठमहे तिरियम्मि य, 'सकोसयं सव्वतो हवति'^८ खेत्तं ।
इंदपदमादिएसुं,^९ छद्दिसि सेसेसुं^{१०} चउ पंच^{११} ॥
७८. तिण्णि दुवे एगा वा, वाघातेणं दिसा हवति खेत्तं^{१२} ।
उज्जाणाउ परेणं, छिप्पामउवं तु अक्खेत्तं ॥
७९. दग्गट्ट तिण्णि सत्त व, उट्ठवासासु ण हणंति तं खेत्तं ।
चउरट्ठाति हणंती, 'जंघद्वेक्को वि तु परेणं'^{१३} ॥दारं॥
८०. दव्वड्ढवणाहारे, विगती-संघार-मत्तए लोए ।
सच्चित्ते अच्चित्ते, वोसिरणं गहण-धरणादो ॥
८१. पुठ्ठाहारोसवणं,^{१४} जोगविवड्ढो य सत्तिउग्गहणं^{१५} ।
'संचइय असंचइए'^{१६}, दग्गविवड्ढो पसत्थाओ^{१७} ॥
८२. विगति विगतीमोतो, विगतिगयं जो उ भुंजते^{१८} भिक्खू ।
विगती विगयसभावं^{१९} विगतो विगति बत्ता नेह ॥

१. वासा (बी) ।	९. ०एसू (निभा) ।
२. न औरमती (मु), णो रमई (ला) ।	१०. इपरेसु (अ) ।
३. निभा ३१६० ।	११. खेत्ते (निभा ३१६४) ।
४. रायदुट्ठे (अ, निभा ३१६१) ।	१२. ते (निभा ३१६५) ।
५. होइ निग्गमणं (मु), कुछ प्रतियों में इस गाथा के पश्चात् 'काळण मासकप्पं' (गा. ७१) वाली गाथा है ।	१३. निभा ३१६६ ।
६. दुहओ (व) ।	१४. ०समणं (ला) ।
७. अद्ध० (निभा ३१६२) ।	१५. सत्तिओग्गहणं (निभा ३१६७) ।
८. सक्कोसं हवति सव्वतो (निभा ३१६३), सकोसं होइ सव्वओ (ला) ।	१६. ०इयमसंच ०(निभा) ।
	१७. पसत्था उ (मु) ।
	१८. गिण्हए (अ, व, बी, ला) ।
	१९. विगतिसहावा (निभा ३१६८) ।

- ८२।१. पसत्थविगतिगहणं, तत्थ वि य असंचइय उ जा उता ।
संचइय ण गेण्हंती, गिलाणमादीण कज्जट्टा^१ ॥
८३. पसत्थविगतिगहणं,^२ गरहितविगतिगहो य^३ कज्जम्मि ।
गरहा लाभपमाणे, पच्चयपावप्पडीघातो ॥
८४. कारणओ^४ उडुगहिते, उज्झिऊण गेण्हंति अण्णपरिसाडी^५ ।
दाउं गुरुस्स तिण्णि उ, सेसा गेण्हंति एक्केक्कं ॥
८५. उच्चार-पासवण-खेलमत्तए, तिण्णि तिण्णि गेण्हंति ।
संजय^६ आएसट्टा 'भुंजेज्जवसेस उज्झंति ॥
८६. धुवलोओ उ^७ जिणानं, निच्चं थेराण वासवासासु^८ ।
असहू गिलाणगस्स व, 'नातिककामेज्ज तं रयणि^९ ॥
८७. मोत्तुं पुराण-भावितसङ्गे, संविम्म सेसपडिसेहो^{१०} ।
'मा होहिति निद्धम्मो',^{११} भोयणमोए य उट्ठाहो ॥ दारं ॥
८८. डगलच्छारे लेवे, छट्ठण गहणे तहेव धरणे य ।
पुंछण-गिलाण मत्तग, भायणभंगादिहेतु से^{१२} ॥
८९. इरिएसण-भासाणं, मण-वयसा-काइए^{१३} य दुच्चरिते ।
अहिकरण-कसायाणं, संवच्छरिए विओसवणं ॥
९०. कामं तु सब्बकालं, पंचसु समितोसु होति जतियव्वं ।
'वासासु अहोगारो',^{१४} बहुपाणा मेदिणी जेणं^{१५} ॥

१. ८२।१ की गाथा निभा ३१६९ में ही मिलती है । आचारदशा की हस्तप्रतियों में यह गाथा अप्राप्त है । चूणि में भी इस गाथा की व्याख्या नहीं मिलती है । इस गाथा के सम्बन्ध में दो बातें संभव है । प्रथम तो स्वयं निशीथ भाष्यकर ने स्पष्टता के लिए यह गाथा लिख दी हो । दूसरा यह भी संभव है कि आचार-दशा निर्युक्ति के लिपिकारों द्वारा यह गाथा छूट गई हो । पुष्ट प्रमाण के अभाव में इसे निर्युक्ति गाथा के क्रम में नहीं रखा है ।
२. विगतीए गहणम्मि वि (निभा ३१७०) ।
३. व (निभा, व) ।
४. कारणे (निभा ३१७१) ।
५. ०साडि (निभा), ०परिपाडी (बी) ।
६. संजम (ला, निभा ३१७२) ।
७. य (अ, निभा ३१७३) ।

८. ०वासा उ (बी) ।
९. तं रयणि तु णऽतिककामे (निभा) ।
नातिकमेज्जा तं० (बी) ।
१०. सच्चित्त से० (ला निभा ३१७४) ।
११. मा निद्धो भविस्सइ (मु,अ) ।
१२. प्रस्तुत गाथा आचारदशा की चूणि की मुद्रित पुस्तक में तथा कुछ आदर्शों में नहीं मिलती है । किन्तु चूणि में इसकी व्याख्या मिलती है । इसके अतिरिक्त निशीथ भाष्य (३१७५) में भी इस क्रम में यह गाथा उपलब्ध है । हमने इसे निर्युक्ति गाथा के क्रम में सम्मिलित किया है ।
१३. कायए (निभा ३१७६) ।
१४. वासावासं अहोगारो (ब) ।
१५. निभा ३१७७ ।

९१. भासणे^१ संपातिवहो,^२ दुण्णेओ नेहछेए^३ ततिथाए ।
हरियचरिमासु दोसु वि, अपेह 'अपमज्जणे पाणा'^४ ॥
९२. मण-वयण-कायगुत्तो, दुच्चरियाई तु^५ खिप्पमालोए^६ ।
'अहिकरणम्मि दुरुवग',^७ पज्जोए चेव दमए य ॥
९३. 'एगवतिल्लं भंठि'^८ पासह जुद्धे वि 'डज्झ खलहाणे'^९ ।
'हरणे भामणजत्ता, भाणगमल्लेण घोसणया'^{१०} ॥
९४. अप्पिणह तं बइल्लं, दुरुतगा !^{११} तरस ! कुंभकारस्स ।
मा भे डहीहि^{१२} घण्णं,^{१३} अन्ताणि वि सत्तवासाणि^{१४} ॥
९५. चंपा 'कुमार नंदी',^{१५} पंचञ्छर थेर नयण दुमऽवलए ।
विह^{१६} 'पास णयण'^{१७} सावग, इंगिणि उववाय णंदिसरे^{१८} ॥
९६. बोहण पडिमोद्दयण,^{१९} पभावउप्पाय देवदत्तहे^{२०} ।
मरणुववाते तावस, नयणं 'तह भोसणा'^{२१} समणा ॥
९७. गंधारगिरी देवय, पडिमा गुलिया गिलाण-पडियरणं^{२२} ।
पज्जोयहरण पुक्खर,^{२३} 'रणगहणे मेज्ज ओसवणा'^{२४} ॥
९८. दासो दासीवत्तिओ, छत्तट्ठी^{२५} जो घरे य वत्थव्वो^{२६} ।
आणं कोवेमाणे, हंतव्वो बंधियव्वो य ॥

१. भासण (अ)
२. संपादम बहो (मु) ।
३. छेदु (निभा ३१७८), नेहच्छेओ (ब) ।
४. अपमज्ज पाणानं (बी) ।
५. च (बी,अ), व (अ, निभा) ।
६. पिच्चमालोए (ब, निभा ३१७९) ।
७. अहिकरणे तु दुरुवग (निभा) गरणे य० (अ,बी) ।
८. एगवतिल्लं भंठि (निभा ३१८०), लला गह्ठी (अ) ।
९. डज्झंतख० (निभा), सत्तख० (बी) ।
१०. हरणेज्झामण भाणम, घोसणता मल्लजुद्धेसु (बी, निभा) ।
११. दुरुवगा (निभा ३१८१), दुरुवतग (बी) ।
१२. डहीहि (निभा) ।

१३. गामं (अ,मु) ।
१४. वरिसाणि (निभा) ।
१५. अणंगसेणो (निभा ३१८२) ।
१६. विहि (ला) ।
१७. पासणया (मु) ।
१८. णंदिवरे (निभा ३१८२) ।
१९. पडिमा उदयण (अ) ।
२०. देवदत्ताते (अ,चू), देवया अहे (ला,बी) ।
२१. तहा भेयणं (ला, बी) ।
२२. वयरणं (अ) ।
२३. दोक्खर (अ,मु) ।
२४. रणगहणे णामओसवणा (निभा ३१८४), करणं गहणेण ओसवणा (ला,बी) ।
२५. छेत्तट्ठी (निभा ३१८५), छत्तट्ठिय (अ) ।
२६. वत्तव्वो (निभा) ।

९९. खट्वाऽऽदाणिय गेहे, पायस 'दट्ठु दमचेडरूवाह'¹ ।
पितरोभासण खीरे, जाइय 'रद्धेण सेणा उ'² ।
१००. पायसहरणं छेत्ता, 'पञ्चागय दमग असियए'³ सीसं⁴ ।
भाउय सेणाहिक्खिसणा,⁵ य सरणागतो अत्थ ॥
१०१. वाओदएण⁶ राई, नासति कालेण सिगय पुढवीणं⁷ ।
नासति दगस्सराई⁸, पव्वतराई तु जा सेलो ॥
१०२. उदगसरिच्छा⁹ पक्खेणऽवेति चतुमासिएण सिगयसमा ।
वरिसेण पुढविराई, आभरणगती उ¹⁰ पडिलोमा ।
१०३. सेलऽट्ठि-थंभ-दारुय, लता य वंसी¹¹ य 'मिड गोमुत्त'¹² ।
अवलेहणिया किमिराग-कद्दम-कुसुंभय-हलिदा¹³ ॥
१०४. एमेव थंभकेयण, वत्थेसु परूवणा गतीओ य ।
'मरुय-अचंकारिय'¹⁴ पंडरज्ज-संगू य आहरणा¹⁵ ॥
- १०४।१. चउसु कसाएसु गती, उवसमह निच्चकालं, सोगाइमगं वियाणंता¹⁶ ॥
१०५. अवहंत गोण मरुए, चउणह वप्पाण उक्करो उवरि ।
'छोढुं मए सुवट्ठाऽतिकोवे'¹⁷ ण¹⁸ देसु¹⁹ पच्छित्तं ॥

१. दमचेडरूवणा दट्ठु (निभा ३१८६) दट्ठुण चेड० (अ, मु) ।
२. लद्धे य सेणा उ (अ, मु), रद्धे य सेणा तो (निभा) ।
३. मसियए (बी) ।
४. पञ्चागय असियएण सीसं तु (निभा ३१८७) ।
५. ०खिसणाहि (निभा), सेणावतिखि ० (मु) ।
६. वाओदएहि (निभा ३१८८) ।
७. सिगइपु० (ला, बी), ।
८. उदगस्स सति (निभा), उदगस्स सती (मु) ।
९. ०सरिच्छी (ला, बी) ।
१०. य (ल, बी, निभा ३१८९) ।
११. वंसे (निभा) ।
१२. मेंड गोमुत्ती (निभा) ।
१३. निभा (३१९१) में गाथा का, उत्तरार्ध इस प्रकार है—अवलेहणि किमि कद्दम कुसुंभरागे हलिदा य ।

१४. मरुयऽचंकारिय (व, मु) ।

१५. निभा ३१९० ।

निशीथ भाष्य में १०३ और १०४ की गाथा में क्रमव्यत्यय है । निभा में एमेव थंभ (३१९०) के बाद सेलऽट्ठि (३१९१) की गाथा है । लेकिन विषय वस्तु की दृष्टि यह क्रम संगत नहीं लगता ।

१६. गाथाओं के चालू क्रम में प्रस्तुत गाथा केवल निशीथ भाष्य (३१९२) में मिलती है । आचारदशा की निर्युक्ति में यह गाथा अप्राप्त है । संभव है यह निशीथ भाष्यकार द्वारा भाष्य में बाद में जोड़ दी गई हो ।

१७. छोडो मओ उवट्ठा अति० (निभा ३१९३), ० सुवट्ठाति ० (मु) ।

१८. णो (अ) ।

१९. देसु (ला, बी) ।

१०६. वणिधूयाऽचंकारियभट्टा^१ अट्टसुयमम्मतो जाया ।
'वरग पडिसेह'^२ सचिवे, अणुयत्तीह^३ पदानं च ॥
१०७. निवचित विकालपडिच्छणा य दारं^४ न देमि निवकहणा^५ ।
खिसा निसिनिग्गमणं, चोरा सेणावतीगहणं^६ ॥
१०८. नेच्छति जलूगवेज्जगहणं 'तं पि य अणिच्छमाणी उ'^७ ।
'गिण्हावेइ जलूगा, धणभाउग कहण मोयणया'^८ ॥
१०९. सयगुणसहस्सपामं, वणभेसज्जं जतिस्स^९ जायणता ।
तिक्खुत्त दासिभिदण, न य 'कोव सयंपदानं च'^{१०} ॥
११०. पासत्थि पंडरज्जा, परिण्ण भुक्कमूल णातअभियोगा ।
'पुच्छा तिपडिक्कमणे',^{११} पुव्वभासा चउत्थम्मि^{१२} ॥
१११. अपडिक्कमसोहम्मि, 'अभिओगा, देवि'^{१३} सक्कओसरणे ।
हत्थिणि वायणिसग्गे,^{१४} गोतमपुच्छा य^{१५} वागरणं ।
११२. महुरा भंगू आगम, बहुसुत्त वेरग्ग सड्डपूया^{१६} य ।
सातादिलोभ णितिए, मरणे 'जीहा य'^{१७} णिद्धिमणे^{१८} ॥
११३. अब्भुवगत गतवेरे, णातुं गिहिणो वि सा ह्व अधिगरणं ।
कुज्जा हु^{१९} कसाए वा, अविगडितफलं च सि सोउ ॥
११४. पच्छित्तं^{२०} बहुपाणा, कालो बलिओ चिरं तु^{२१} ठायव्वं ।
सज्झाय-संजम-तवे, 'घणियं अप्पा'^{२२} नियोतव्वो ॥

१. ०धूय अचंका० (अ), ०धूयाच्चं० (मु),
०धूय अचं (ला, बी), घणधूयमच्चंका० (निभा
३१९४) ।
२. चरणपडिसेव (निभा) ।
३. ०यत्तीहि (निभा) ।
४. दाणं (बी, निभा ३१९५) ।
५. ०कहणं (निभा) ।
६. गमणं (अ), ।
७. तम्मि य अणिच्छमाणिम्मि (अ, मु) ।
८. गिण्हावे जलूगवणा भाउयद्दए कहण मोए
(निभा ३१९६), गाहावइ जलूगा० (मु) ।
९. वतीसु (अ, मु) ।
१०. कोवो सय० (अ), कोहो सयं च दाणं च
(निभा ३१९७) ।

११. पुच्छति य पडि० (मु, अ, अ) ।
१२. चउत्थं पि (निभा, ३१९८) ।
१३. अमिउग्गा देव (निभा ३१९९) ।
१४. वाउस्सग्गे (निभा), वाउनि० (ला, बी) ।
१५. तु (निभा)
१६. सड्डपूया (अ) ।
१७. जीहाइ (निभा ३२००) ।
१८. णिद्धिमणे (मु) ।
१९. हि (निभा ३२०१) ।
२०. पच्छित्ते बहुपाणो (मु, बी) ।
२१. च (निभा ३२०२) ।
२२. घणियप्पा (अ) ।

११५. पुरिम-चरिमाण^१ कप्पो, मंगलं^२ वद्धमाणतिस्थम्मि ।
ता^३ परिकहिया जिण-गणहराइयेरावलिचरित्तं^४ ॥
११६. सुत्ते जहा निबद्धं^५ वग्धारिय भत्त-पाणअगगहणं^६ ।
णाणट्ठि^७ तवस्सी, अणहियासि वग्धारिए गहणं^८ ॥
११७. संजमखेत्तचुयाणं, णाणट्ठि-तवस्सि अणहियासाणं ।
आसज्ज भिक्खुकालं, उत्तरकरणेण जतितब्बं^९ ॥
११८. उण्णियवासाकप्पो, लाउयपायं च लब्भए^{१०} जत्थ ।
सज्झाएसणसोही, वरिसति^{११} काले य तं खेत्तं ॥
११९. पुब्बाधीतं वासति, नवं च छातो अपच्चलो^{१२} घेतुं ।
खमगस्स य पारणए, वरिसति^{१३} असहू य बालादी ॥
१२०. बाले सुत्तं सूई, कुडसीसग छत्तए^{१४} 'य पंचमए'^{१५} ।
णाणट्ठि-तवस्सी अणहियासि अह् उत्तरविसेसो^{१६} ।

पञ्जोसवणाकप्पस्स निञ्जुत्तो समत्ता

१२१. तमं उदणा सोहो, दब्बे आवे य होति बोधव्वो ।
ठाणं पुब्बुद्धिट्ठं, पगयं पुण भावठाणेणं ॥
१२२. दब्बे^{१७} सच्चित्तादी, सयणधणादी दुहा हवइ मोहो ।
ओधेणेगा पगडी, अणेगपगडी भवे मोहो ॥
१२३. अट्ठविधं पि य कम्मं, भणियं मोहो त्ति जं समासेणं ।
सो पुब्बगते भणिओ, तस्स य एगट्ठिया इणमो ॥
१२४. पावे वज्जे वेरे, पणगे पंके खुहे असाए य ।
संगे सल्ले अरए, निरए घुत्ते य एगट्ठा^{१८} ॥

१. चरमाण (बी) ।

२. तु मंगलं (निभा ३२०३) ।

३. इह (अ, मु) ।

४. जिणपरिकहा य थेरावली वोच्छं (अ, ब) ।

५. निबन्धो (निभा, चू) ।

६. ०मगगहणं (निभा ३२०४), ०अगगहणे (मु) ।

७. णाणट्ठी (मु) ।

८. यज्जट्ठि० (निभा) ।

९. निभा ३२०५ ।

१०. लब्भती (निभा ३२०६) ।

११. वासति (अ, ला, बी) ।

१२. ण पच्चलो (निभा ३२०७) ।

१३. वरसति (ला, बी, निभा) ।

१४. छित्तए (व), य पच्चि० (निभा ३२०८) ।

१५. अपच्चिमए (अ, मु) ।

१६. ०विसेसा (निभा) ।

१७. दब्बं (ला, बी) ।

१८. गा. १२४ से १३० तक की गाथाएं चूर्णि में व्याख्यात नहीं हैं । चूर्णि की मुद्रित प्रति में तथा प्राचीन आदर्शों में ये गाथाएं उपलब्ध हैं ।

१२५. कम्मे य किलिसे य, समुदाणे खलु तहा मइल्ले य ।
माइणो अप्पाए य, दुप्पक्खे तह संपराए य ॥
१२६. असुभे^१ दुहाणुबधे^२, दुम्मोए खलु चिरद्वितीए य ।
वण-चिक्कण-निब्बेया, मोहे य तहा महामोहे ॥
१२७. कहिया जिणेहि लोगो, पमासिया भारिया इमे बंधा ।
साहु-गुरु-मित्त-बंधव, सेट्ठो-सेणावइवधेसु य ॥
१२८. एत्तो गुरुआसायण, जिणदयणविलोवणेसु पडिबंध ।
असुहे दुहाण बंधीति, तेण तो ताइं वज्जेज्जा ॥
मोहणिज्जस्स निज्जुत्ती समत्ता
१२९. कामं दत्तण ज्जाईं कळे कळे य होइ बोधत्वा ।
'ठाणं पुव्वुद्दिट्ठ'^३, पगयं पुण भावठाणेणं ॥
१३०. दब्बं दब्बसभावो, भावो अणुभवण ओहतो दुविहो ।
अणुभवण छव्विहो ओहओ उ ससारिओ जीवो ॥
१३१. जाती आजातीया, पच्चाजाती य होइ बोधत्वा ।
जाती ससारत्था, आजाती जम्ममन्नयरं ॥
१३२. जत्तो चुओ भवाओ, तत्थेव पुणो वि जह हवति^४ जम्म ।
सा खलु पच्चाजाती^५, मणुस्स-तेरिच्छए^६ होइ ॥
१३३. कामं असंजतस्सा,^७ नत्थि हु मोक्खे सुवमेव आजाई ।
केण विसेसेण पुणो, पावइ समणो अणायार्इ ॥
१३४. मूलगुण-उत्तरगुणे, अप्पडिमेवी इहं अपडिबद्धो ।
भत्तोवहि-सयणासणविवित्तसेवी सया पयओ ॥
१३५. तित्थंगर-गुरु-साहूसु, भत्तिमं हत्थ-पायसंलीणो ।
पंचसामिओ कलह-भंक्क-पिसुण-ओहाणविरओ य ॥
१३६. पाएण एरिसो सिज्झइ त्ति, कोइ पुण आगमेस्साए ।
केण हु दोसेण पुणो, पावइ समणो वि आयार्इ ॥

१. असुत्ते (ला,अ,मु) ।

२. दुह पुण बधा (अ,बी) ।

३. ठाणं की निर्युक्ति गाथा के लिए देखें—

सुनि १६८, आनि १८५, दम्मनि १० ।

४. हवति (बी) ।

५. पच्चाजात्ति त्ति (ला,बी,अ) ।

६. तेरिच्छए (अ) ।

७. असंजमस्सा (अ), असंजइस्सा (ला) ।

१३७. जाणि भणियाणि सुत्ते, तहागएसुं 'नव य'^१ निदाणाणि ।
संदाण निदाणं ति य, पब्बो^२ ति य होति एगद्धा ॥
१३८. दक्खप्पओग-वीससप्पओग स-मूलउत्तरे चेव ।
मूलसरीरसरीरी, 'सादीय अणादिए'^३ चेव ॥
१३९. निगलादि उत्तरो वीससा उ साई अणादिओ चेव ।
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले कालो जहि जो उ ॥
१४०. दुविहो य भावबंधो, जीवमजीवे य होइ बोधव्वो ।
एक्केक्को वि य तिविहो, विवाग-अविवाग-तदुभयगो^४ ॥
१४१. भावे कसायबंधो, अहिगारो बहुविहेसु अत्थेसु ।
इहलोग-पारलोगिय, पगयं परलोगिए बधे^५ ॥
१४२. पावइ धुवमायाति, निदाणदोसेसु^६ उज्जमतो वि ।
विणिवायं पि य पावइ, तम्हा अनियाणता सेया ॥
१४३. अपासत्थाए^७ अकुसीलयाए अकसाय-अप्पमाए य ।
अणिदाणयाइ साहू, संसारमहण्णवं तरई^८ ॥
- नियाणट्ठाणस्त निज्जुत्ती समत्ता

१. तहा (अ,मु) ।

२. आदर्शों में तथा मुद्रित चूर्ण की निर्युक्ति गाथाओं में 'पब्बो' पाठ मिलता है । लेकिन चूर्णिकार ने 'संताणं ति वा निदाणं ति वा बंधो ति वा' ऐसा उल्लेख किया है । संभव है चूर्णिकार के सामने कोई भिन्न आदर्श था जहाँ पर्व के स्थान पर बंध पाठ होगा ।

३. सादी उ अणा० (ला), ० सादी अणातिए (अ) ।

४. तदुभयगो (अ) ।

५. १४१ और १४२ की गाथा में ला और बी प्रति में क्रमव्यत्यय है ।

६. ० दोसेण (ला, बी) ।

७. अप्पा० (ला), ० त्या (बी)

८. तरइ (ला) ।

१. मैं प्राचीनगोत्रीय, अन्तिम श्रुतज्ञानी (चतुर्दशपूर्वी—सकल श्रुतज्ञान के ज्ञाता) भद्रबाहु को वंदना करता हूँ। वे दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प तथा व्यवहार—इन तीनों सूत्रों के कर्त्ता थे।

२-४. (दशा शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।) भावदशा के दो प्रकार हैं—आयुर्विपाकदशा तथा अध्ययनदशा। द्रव्यदशा है—वस्त्र की किनारी। आयुर्विपाक-दशा के दस प्रकार हैं। शतायु व्यक्ति के आयुष्य के दस विभाग किए हैं। वे ये हैं—

(१) बालादशा	(५) प्रसादशा	(९) पुंशुद्धिदशा
(२) मन्दादशा	(६) हायनीदशा	(१०) शायनीदशा
(३) क्रीडादशा	(७) प्रपंचादशा	
(४) बलादशा	(८) प्राग्भारादशा	

ये दस आयुर्विपाकदशाएं हैं। ये स्व-स्व नाम और लक्षणों से जानी जाती हैं। आगे क्रमशः मैं अध्ययनदशा—दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों का क्रमशः वर्णन करूंगा।

५. अध्ययनदशा के दो प्रकार हैं—छोटी और बड़ी। छोटी अध्ययनदशा है—प्रस्तुत आचारदशा। बड़ी अध्ययनदशा है—ज्ञाताधर्मकथा आदि छह अंग आगम—(ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तर्कृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण तथा विपाकश्रुत)। जिस प्रकार वस्त्र की विभूषा के लिए उसकी दशा—किनारी होती है, वैसे ही ये दशाएं हैं।

६. स्थविर—आचार्य भद्रबाहु ने शिष्यों पर अनुग्रह कर ये छोटी अध्ययनदशाएं इस आचारदशा में निर्यूह की हैं।^१ जो जीव दशाओं को जानने में उपयुक्त है, वह भावदशा है।

७. मैंने दशा का समुच्चयार्थ संक्षेप में कहा है। अब प्रत्येक अध्ययन का वर्णन करूंगा।

८. प्रस्तुत सूत्र के दस अध्ययनों के नाम ये हैं—

(१) असमाधि	(४) गणि-गुण	(७) साधु-प्रतिमा
(२) शबलत्व	(५) मनःसमाधि	(८) कल्प
(३) अनाशातना	(६) श्रावक-प्रतिमा	(९) मोह
		(१०) निदान

प्रथमदशा : असमाधि स्थान

१. जिस द्रव्य से समाधि होती है, वह द्रव्य अथवा एक या अनेक द्रव्यों का परस्पर अविरोध अथवा तुलारोपित द्रव्य के साथ जो द्रव्य आरोपित होकर तुला के दोनों पलड़ों को सम रखता है, वह द्रव्य, द्रव्यसमाधि है। जीव के प्रशस्त योगों से होने वाली सुसमाहित अवस्था भावसमाधि है।

१. आचार्य भद्रबाहु ने दृष्टिवाद के नौवें पूर्व के असमाधिस्थान नामक प्राभूत से 'असमाधि-स्थान' का तथा अन्यान्य सभी दशाओं का

उन-उन नाम वाले प्राभूतों से निर्यूहण किया। (दशुचू प० ३)

१०. स्थान शब्द के १५ निक्षेप हैं—

१. नामस्थान	६. ऊर्ध्वस्थान	११. योधस्थान
२. स्थापनास्थान	७. उपरतिस्थान	१२. अचलस्थान
३. द्रव्यस्थान	८. वसतिस्थान	१३. गणनस्थान
४. क्षेत्रस्थान	९. संयमस्थान	१४. संघनास्थान
५. अद्धास्थान	१०. प्रग्रहस्थान	१५. भावस्थान

११. प्रथम दशा में वर्णित बीस असमाधिस्थान केवल निम्न—आधारमात्र^१ हैं। इनके सदृश अन्य भी असमाधिस्थान हो सकते हैं। इस प्रसंग में तथा अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिए।

दूसरी वशा : शबल

१२. शबल शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य शबल है—चित्तकबरा बेल आदि। आचार को चित्तकबरा करने वाला कुशील अथवा जो आधाकर्म आदि में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार का सेवन करता है, वह भाव शबल होता है।

१३. अथवा लघु अपराध में शबलत्व होता है। जो मुनि प्रायश्चित्त के रूप में मूल प्रायश्चित्त को प्राप्त न होकर छेदपर्यन्त प्रायश्चित्त पाता है, वह अपने चारित्र्य को भी शबल बना देता है। उसे शबलचारिणी कहा जाता है।

१४. (अखंड घट जल से परिपूर्ण होता है।) खंडित घट के अनेक रूप हैं—

- बाल—बाल जितने छिद्र वाला।
- राजि—छोटी सी दरार वाला।
- दालि—बड़ी दरार वाला।
- खंड—एक भाग खंडित।
- बोट—जिसमें एक भी कोना न हो।
- खुत—छिद्रों वाला।
- भिन्न—बड़े छिद्रों वाला फूटा हुआ घट।

इन घड़ों से पानी क्रमशः अधिक, अधिकतर भरता है अतः ये दोषपूर्ण हैं। इसी प्रकार शबल दोषों से देश—आंशिक और सर्व विराधना होती है।

यहां 'कम्मासपट्ट'^२ के दुष्टांत से भी शबल और उससे होने वाली विराधना बताई गई है। (पट्ट के कई प्रकार हैं—कम्मासपट्ट, वक्रदंडपट्ट, वृत्तपट्ट आदि।)

१५. 'आसायणा' के दो प्रकार हैं—मिथ्याप्रतिपत्ति तथा लाभ। लाभ आसादना के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—इष्ट और अनिष्ट।

१. निम्न—आधारमात्र। दशबु. प ६।

२. जैसी सूती वस्त्र पर छोटा या बड़ा धब्बा हो तो वह वस्त्र मलिन ही कहा जाता है। उसी

प्रकार चारित्र्य में भी छोटी बड़ी स्खलना से शबल दोष लगता है, जिससे आंशिक या सर्व विराधना होती है।

१६. चोरों द्वारा साधुओं की चुराई हुई उपधि का पुनः लाभ होना अनिष्ट द्रव्य आसादना है। एषणा बुद्धि से उपधि की प्राप्ति इष्ट द्रव्य आसादना है। इसी प्रकार क्षेत्र, कान्तार, ग्रामानु-ग्राम विहरण, विषमकुम्भिक्ष आदि में अप्राप्त द्रव्य-ग्रहण अनिष्ट द्रव्य आसादना है तथा प्राप्त द्रव्य ग्रहण इष्ट द्रव्य आसादना है। कुम्भिक्ष आदि में आहारादि की प्राप्ति अनिष्ट द्रव्य आसादना तथा सुभिक्ष में आहारादि की प्राप्ति इष्ट द्रव्य आसादना है। ग्लान आदि के लिए अनेषणीय की प्राप्ति अनिष्ट द्रव्य आसादना तथा एषणीय की प्राप्ति इष्ट द्रव्य आसादना है। इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति के आधार पर यहाँ आसादना कही गयी है।

१७. मान-उन्मान-प्रमाण युक्त द्रव्य की प्राप्ति इष्ट-द्रव्य आसादना है तथा हीन-अधिक की प्राप्ति अनिष्ट द्रव्य आसादना है। जिस क्षेत्र और काल में इष्ट-अनिष्ट द्रव्य दिया जाता है अथवा उसका वर्णन किया जाता है, वह क्षेत्र और काल की इष्ट-अनिष्ट आसादना है। भाव आसादना के छह प्रकार हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, आयोपशमिक, पारिणामिक और साक्षिपातिक। यहाँ भाव आसादना का प्रकरण है।

१८. छठे सत्यप्रवाद पूर्व के अक्षरप्राभूत में तथा आठवें कर्मप्रवाद पूर्व के आठवें महानिमित्तप्राभूत में 'आ' उपसर्ग वर्णित है। वह अपने अर्थ से युक्तिकृत पद के अर्थ का विशेषिकर है। यह अकस्मात् होने वाली लाभ आसादना है।

१९. मिथ्याप्रतिपत्ति अर्थात् सम्यक् स्वीकार न करना। जो अर्थ जैसे सद्भूत होते हैं, उनको वितथरूप में स्वीकार करना आशातना है।

२०. इस प्रकार आचरण करता हुआ शिष्य भले फिर वह संयम और तप में उद्यम कर रहा हो, वह दुःखमुक्त नहीं हो सकता। इसलिए मदस्थानों से होने वाले अपने आत्मोत्कर्ष को प्रयत्न-पूर्वक वर्जित करना चाहिए।

२१. सूत्र में जिन आशातनाओं का वर्णन किया गया है, शिष्य बिना किसी कारण से उनका उपयोग न करे। जो शिष्य गुरु को गुरुस्थानीय नहीं मानता, गुरु के प्रति होने वाली आशातनाओं का वर्जन नहीं करता, वह भारीकर्मा होता है।

२२. दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप तथा विनय—ये गुरुमूलक होते हैं। विनय गुरुमूलक होता (तथा दर्शन आदि गुण गुणमूलक होते हैं।) जो गुरु की आशातना करता है, वह इन गुणों की आशातना करता है।

२३. सूत्र में जो आशातनाएं वर्णित हैं, उनको जो शिष्य प्रयोजनवश करता है तथा जो गुरु को गुरुपद के उच्चस्थान पर गिनता है, वह भारीकर्मा नहीं होता।

२४. जो गुरु की आशातना करता है, वह स्वयमेव दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य आदि गुणों को प्राप्त नहीं कर सकता, उनका विकास नहीं कर सकता। उसके लिए ज्ञान, दर्शन आदि की आराधना की तो बात ही क्या? इसलिए आशातनाओं का वर्जन करना चाहिए।

२५. (गणी शब्द के चार विशेष हैं—नामगणी, स्थापनागणी, द्रव्यगणी और भावगणी।) द्रव्यगणी है—गणिनागकर्म के अभिमुख आदि। भावगणी है—गणी की आठ संपदाओं से युक्त। वह दो प्रकार का है—आगमतः, नोआगमतः। नोआगमतः के दो प्रकार हैं—गणसंग्रहकारक, उपग्रह-कारक तथा जो धर्म—गणिस्वभाव अर्थात् गणिसंपदा को जानता है।

२६. ज्ञात, गणित, गुणित और गत—ये सारे शब्द एकार्थक हैं। इसलिए जो धर्म—गणिसंपदाओं का ज्ञायक होता है, वह ज्ञानी गणी कहलाता है।

२७. आचारांग को पढ़ने पर भ्रमणधर्म ज्ञात होता है। इसलिए आचारधर—आचारांग को जानने वाला प्रथम गणस्थान कहलाता है।

२८. जो गणसंग्रहकारक तथा उपग्रहकारक—दोनों होता है। वह गण को धारण करने में समर्थ होता है। उसी का प्रस्तुत में प्रसंग^१ है। गणिसंपदा के छह निक्षेप हैं—नामसंपदा, स्थापनासंपदा, द्रव्यसंपदा, क्षेत्रसंपदा, कालसंपदा, भावसंपदा। प्रस्तुत में द्रव्य आदि चार संपदाओं का प्रसंग है।

२९. संपदा के दो प्रकार हैं—द्रव्यसंपदा और भावसंपदा। (इसी प्रकार क्षेत्रसंपदा और कालसंपदा भी हैं।) द्रव्यसंपदा है—शरीरसंपदा। भावसंपदा के छह प्रकार हैं—औदयिक आदि छह भाव। संग्रहपरिज्ञा के छह निक्षेप हैं—(नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव^२।)

३०, ३१. जैसे गजकुल में उत्पन्न हस्ती अर्थात् अरण्यहस्ती अपने शरीर से उद्गत विशाल दांतों से अथान्त होता हुआ गिरि, कंदरा, कटक तथा विषम दुर्ग-स्थानों में उनको वहन करता है, वैसे ही प्रवचन-शक्ति से ओतःप्रोत, साध्यात्मिक वात्सल्य से परिपूर्ण, अशब्दभाव से मुक्त तथा गणिसंपदाओं से संपन्न गणी असमर्थ साधु-संघ को अनाम्य क्षेत्र, विषम काल, विषम पथ और दुर्ग में सुखपूर्वक वहन करता है।

३२. चित्त शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इसी प्रकार समाधि शब्द के भी चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

३३. द्रव्यचित्त है—जीव। चित्तोत्पादक द्रव्य अथवा जिन द्रव्यों में चित्त उत्पन्न होता है, वह भी द्रव्यचित्त है। भावचित्त है—ज्ञान आदि में सुसमाधि तथा ध्रुवयोग।

३३/१. अकुशल योगों का निरोध तथा कुशल योगों की उदीरणा—यह भी भावचित्त है। समाधि के ये चार प्रकार हैं।

३३/२. जिस द्रव्य से समाधि होती है, वह द्रव्य अथवा जिन द्रव्यों का अवलम्बन पाकर समाधि प्राप्त होती है, वह द्रव्यसमाधि है। भावसमाधि के चार प्रकार हैं—दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्र्य।

१. इसके चार विकल्प होते हैं—

१. कुछ गणसंग्रहकारक होते हैं, उपग्रहकारक नहीं होते।

२. कुछ उपग्रहकारक होते हैं, गणसंग्रहकारक नहीं होते।

३. कुछ दोनों होते हैं।

४. कुछ दोनों नहीं होते।

२. णञो—णउत्ति नीतिर्नयः अहिंसार इत्यर्थः

—दशबु ५ १७।

३. द्रव्यसंग्रहपरिज्ञा—संघ के लिए वस्त्र, पात्र आदि की याचना करना अथवा उनकी उपलब्धि के उपाय जानना।

क्षेत्रसंग्रहपरिज्ञा—पथ (गमन) की विधियों को जानना। योग्य, अयोग्य क्षेत्र को जानना।

कालसंग्रहपरिज्ञा—दुर्भिक्ष आदि की विधियों को जानना।

भावसंग्रहपरिज्ञा—ज्ञान आदि की सेवा-विधि को जानना।

३४. जब भावसमाधि में चित्त आहित (ग्रस्त) और स्थित होता है तब ये सभी स्थान चित्त में विशिष्टतर होते जाते हैं। इसलिए चित्तसमाधि के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

३५. उपासक के चार प्रकार हैं—द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक तथा भावोपासक। द्रव्योपासक है—उपासक नाम-गोत्र कर्म के बंध के कारण भविष्य में होने वाला उपासक। तदर्थोपासक वह है, जो ओदन आदि द्रव्य के लिए उपासना करता है।

३६. जो कुप्रवचन, कुधर्म की उपासना करता है, वह मोहोपासक है। खेद है, वह उसमें (कुधर्म में) अपना श्रेय मानता है, परन्तु वहां उसका श्रेय नहीं होता।

३७. जो सम्यग्दृष्टि है, सम मन वाला है तथा श्रमणों की उपासना करता है, वह भावोपासक है। इसके दो गोण नाम हैं—उपासक और श्रावक।

३८. द्वादशांगी प्रवचन में द्विविध धर्म का प्रतिपादन है—अनगारधर्म और अगारधर्म (श्रावकधर्म)। ये दोनों केवली से प्रसूत हैं। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'पूङ् प्राणिप्रसवे' से प्रसूत शब्द निष्पन्न होता है।

३९. केवली धर्म सुनाते हैं, इसलिए वे श्रावक हैं। साधु और गृहस्थ उनकी उपासना करते हैं, इसलिए उपासक हैं। उपासक धर्म सुनते हैं अतः वे भी श्रावक हैं। इस प्रकार साधु और गृहस्थ दोनों श्रावक हैं। विशेष यह है कि मुनि नित्यकालिक उपासक और श्रावक नहीं होते, गृहस्थ ही दोनों हो सकते हैं।

४०. यह सिद्ध है कि जो कार्य निरवशेष रूप से होता है, वही कृत माना जाता है। (मुनि निरवशेष रूप में अर्थात् नित्यकालिक न सुनते हैं और न उपासना करते हैं।) इसलिए मुनि न उपासक होते हैं और न श्रावक। गृहस्थ ही श्रावक और उपासक दोनों होते हैं। (असम्पूर्ण श्रुत के कारण गृहस्थ नित्य श्रवण और उपासना करते हैं अतः वे श्रावक हैं।)

४१. (प्रतिमा शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव)। द्रव्य प्रतिमा के तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

संयतप्रतिमा—प्रव्रज्या लेने के इच्छुक गृहस्थ अथवा उत्प्रव्रजित व्यक्ति का द्रव्य लिंग।

जिनप्रतिमा—तीर्थंकर की प्रव्रज्या।

भावप्रतिमा—जिन प्रतिमाओं के जो गुण कहे गये हैं, उनको यथार्थरूप में धारण करना।

४२. भावप्रतिमा के दो प्रकार हैं—भिक्षुप्रतिमा और उपासकप्रतिमा। भिक्षुप्रतिमा के बारह तथा उपासकप्रतिमा के ग्यारह प्रकार हैं। भिक्षु प्रतिमाओं का वर्णन आगे किया जाएगा। उपासक प्रतिमाओं का वर्णन यहां करेंगे।

४३. उपासक और साधुओं के गुणों (प्रतिमाओं) का पृथक्-पृथक् निर्देश करने से ये साधु हैं तथा ये उपासक हैं, इस प्रकार सुखपूर्वक जान लिया जाता है। यह गृहस्थ धर्म है और यह साधुधर्म—यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। साधुओं के लिए तप और संयम परम संवेग के साधन हैं।

१. मुनि जब केवलज्ञानी हो जाते हैं, तब वे किसी की उपासना नहीं करते और जब

चतुर्दशपूर्वी हो जाते हैं तब किसी का नहीं सुनते। वे कृतकृत्य हो जाते हैं।

४४. यदि गृहस्थ भी तप-संयम आदि शीलगुणों (उपासक प्रतिमाओं के पालन) में प्रयत्न करते हैं तो फिर साधुओं को यह जानकर कि ऐसा आचरण उत्तम है, उन्हें अपने समस्त पराक्रम से तप, संयम में उद्यम करना चाहिए।

४४/१. उपासक की ग्यारह प्रतिमाएं ये हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, एकरात्रिकी प्रतिमा, अवहवर्जन, सचित्तवर्जन, आरभवर्जन, प्रेध्यारभवर्जन, उद्दिष्टवर्जन और श्रमणभूत।

४५. प्रस्तुत में भिक्षु प्रतिमा का प्रसंग है। (भिक्षुप्रतिमा यह द्विपद शब्द है।) भिक्षु और प्रतिमा के चार-चार निक्षेप हैं। तीन निक्षेपों का वर्णन पहले किया जा चुका है। प्रस्तुत में भाव-भिक्षुप्रतिमा का वर्णन है।

४६. प्रतिमा के पांच प्रकार हैं—समाधिप्रतिमा, उपघानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसंलीनताप्रतिमा, एकलविहारप्रतिमा।

४७. आचाराग्र (आचारांग तथा शूलिका) में बयालीस प्रतिमाएं, स्थानांग में सोलह प्रतिमाएं, व्यवहार में चार प्रतिमाएं—दो मोकप्रतिमाएं तथा दो चंद्रप्रतिमाएं वर्णित हैं।

४८. इस प्रकार श्रुतसमाधि की छासठ प्रतिमाएं प्रतिपादित हैं तथा पांच चारित्रसमाधि की प्रतिमाएं हैं—सामायिकचारित्र प्रतिमा, छेदोपस्थापनीयचारित्र प्रतिमा, परिहारविशुद्धिचारित्र प्रतिमा, सूक्ष्मसंपरायचारित्र प्रतिमा तथा यथाख्यातचारित्र प्रतिमा।

४९. भिक्षु के उपघाम—विशिष्टतप संबंधी ग्यारह प्रतिमाएं तथा उपासकों की बारह प्रतिमाएं सूत्र में वर्णित हैं। क्रोध आदि का बर्णहार करना विवेक प्रतिमा है। उसके दो प्रकार हैं—आभ्यन्तर तथा बाह्य। आभ्यन्तर का संबंध क्रोध आदि से है तथा बाह्य का संबंध गण—संच से है।

५०. प्रतिसंलीनता प्रतिमा चौथी प्रतिमा है। उसमें श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँचों इन्द्रियों का विषय-निरोध होता है। उसके दो प्रकार हैं—इन्द्रियप्रतिसंलीनता प्रतिमा तथा नोइन्द्रियप्रतिसंलीनता प्रतिमा। आठ गणिसंपदाओं (गुणों) से उपपन्न भिक्षु की एकलविहार प्रतिमा पाँचवी प्रतिमा है।

५१, ५२. एकलविहार प्रतिमा को स्वीकार करने वाले के गुण—सम्यक्त्व और चारित्र में दृढ़ रहने वाला, मेधावी, बहुश्रुत, अचल, अरति और रति को सहन करने वाला, द्रव्य—राग-द्वेष-रहित, क्षमाशील, भय तथा भैरव को सहन करने वाला, अपने आपको पाँच तुलाओं—तप, सत्त्व, श्रुत, एकांत तथा बल से तोलने वाला, कालज्ञ, गण को आमंत्रित कर खमाने वाला, तपस्या में स्थिर, संयम कार्यों में अचपल, संहनन से सम्पन्न, भक्तपान में पवित्र, उपधि आदि के निक्षेप को जानने वाला, मानसिक दोष के लिए भी प्रायश्चित्त लेने वाला, लाभ—प्रव्रज्या न देने वाला, गमन—तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या तथा विहार के लिए जाने वाला^१—जो इन गुणों से युक्त होता है, वही एकलविहार प्रतिमा को ग्रहण कर सकता है।

५३. पर्युपशमना आदि शब्दों के अक्षर तो गुण-निष्पन्न होते हैं। श्रमणों की पर्याय-व्यवस्थापना पर्युपशमना के आधार पर व्यक्त की गई है।

५४. पर्युषणा के ये गौण—एकार्थक भाव हैं—परिवसना, पर्युषणा, पर्युषणमना, वर्षावास, प्रथम समवसरण, स्थापना तथा ज्येष्ठावग्रह ।

१. परिवसना—चार मास तक एक स्थान पर रहना ।
२. पर्युषणा—किसी भी दिशा में परिभ्रमण का वर्जन ।
३. पर्युषणमना—कषायों से सर्वथा उपशान्त रहना ।
४. वर्षावास—वर्षाकाल में चार मास तक एक ही स्थान पर रहना ।
५. प्रथम समवसरण—नियत वर्षावास क्षेत्र में प्रथम आगमन ।
६. स्थापना—ऋतुबद्ध काल के अतिरिक्त काल की मर्यादा स्थापित करना ।
७. ज्येष्ठावग्रह—चार मास तक या छह मास तक एक स्थान पर रहना ।

५५. स्थापना शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव । जिन द्रव्यों का परिभोग किया जाता है अथवा परिहार किया जाता है, वह द्रव्य स्थापना है । जिस क्षेत्र में स्थापना की जाती है, वह क्षेत्र स्थापना है तथा जिस काल में स्थापना की जाती है, वह काल स्थापना है ।

५६. औदयिक आदि भावों की स्थापना भाव स्थापना है अथवा जिस भाव से जो स्थापना की जाती है, वह भाव स्थापना है ।

५७. द्रव्य के स्वामित्व, करण और अधिकरण की दृष्टि से एकत्व और पृथक्त्व के आधार पर छह भेद होते हैं । इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का वर्णन करना चाहिए ।

५८. काल है समय, आवलिका आदि । प्रस्तुत काल अधिकार में जो काल प्ररूपित है, में उसकी प्ररूपणा करूंगा । मासकल्प क्षेत्र से निष्क्रमण, वर्षावास क्षेत्र में प्राबुद्धकाल में प्रवेश तथा उसकी समाप्ति होने पर शब्द ऋतु में उससे निर्गमन—ये विषय मैं कहता हूँ ।

५९. मुनि ग्रीष्म ऋतु में चार मास तथा हेमन्त में चार मास—इन आठ मासों में विहरण करता है । ये आठ मास समाधि के अनुसार एक अहोरात्र, पांच अहोरात्र अथवा न्यूनातिरिक्त मास हो सकते हैं ।^१

६०. आषाढ महीने में मासकल्प रह चुकने के पश्चात् कारणवश वहीं वर्षावास करना पड़े तो न्यून आठ मास का ही विहरण काल होता है (क्योंकि मृगशिर से ज्येष्ठ तक का ही विहरण हुआ है) । इसी प्रकार जहाँ वर्षावास बिताया है वहाँ से यदि कुछेक कारणों से विहार नहीं हो पाता है तो न्यून आठ मास का विहरण होता है । वे कारण हैं—मागों का कीचड़मय हो जाना, वर्षा का बंद न होना, गाँव पर शत्रु राजा का आक्रमण हो जाना आदि ।

[ऐसी स्थिति में मृगशिर मास तक वहीं रहना होता है तब एक मास न्यून हो जाता है]

६१. आषाढी पूर्णिमा तक वर्षावासयोग्य क्षेत्र न मिलने पर (उसकी गवेषणा करते-करते दिन अधिक बीत जाने पर) अथवा साधु मार्गगत हैं—चलते-चलते वर्षावासयोग्य क्षेत्र में विलम्ब से पहुँचने पर, कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् साधक नक्षत्र न मिलने पर अथवा अन्य व्याघात के कारण कार्तिक पूर्णिमा से पूर्व विहरण करने पर अतिरिक्त आठ मास का विहरण होता है ।

६२. प्रतिमाप्रतिपन्न मुनि एक क्षेत्र में एक अहोरात्र, यथालंदक मुनि पांच अहोरात्र, जिनकल्पिक मुनि एक मास, शुद्धपारिहारिक मुनि एक मास तथा स्थविरकल्पी मुनि निष्कारण भी एक मास रह सकते हैं। (कारण होने पर न्यून मास या अतिरिक्त मास भी रह जा सकता है।)

६३. स्थविरकल्पी मुनि के लिए न्यूनातिरिक्त आठ मास का विहरण काल है। इतर अर्थात् प्रतिमा प्रतिपन्न मुनि, यथालन्दक मुनि, विषुद्ध पारिहारिक मुनि तथा जिनकल्पिक मुनि यथाकल्प आठ मास तक विचरण कर नियमित चार मास तक वर्षावास करते हैं।

६४. वर्षावास की स्थापना आषाढी पूर्णिमा को कर लेनी चाहिए। उसी क्षेत्र में मृगसिर कृष्णा दशमी तक रह जा सकता है।

६४।१ (प्रस्तुत श्लोक में वर्षायोग्य क्षेत्र का निरूपण है।) जहां वैद्य हों, औषध की उपलब्धि हो—धान्य की प्रचुरता हो, राजा सुरक्षाकारी हो, पाषण्ड—अन्यतीर्थिक न्यून हों, भिक्षा की सुलभता हो, स्वाध्याय की बाधा न हो, कीचड़ न हो, इंद्रिय आदि प्राणियों की प्रचुर उत्पत्ति न हो, स्पंडिल भूमि की सुविधा हो, जहां दो-चार रहने योग्य वसति हों, गोरस की प्रचुरता हो तथा जहां के परिवार जनाकुल हों—ऐसा स्थान वर्षावास के योग्य माना जाता है।

६५. जहां आषाढमासकल्प कर लिया वहां अथवा दृषभमुनि निकट में वर्षाप्रायोग्य क्षेत्र की भावना करते हैं वहां आषाढी पूर्णिमा को प्रवेश कर प्रतिपदा से पांचवें दिन—श्रावण कृष्णा पंचमी को पर्युषणाकल्प कहकर वहीं वर्षाकाल सामाचारी की स्थापना करनी चाहिए।

६६, ६७. आषाढी पूर्णिमा अथवा श्रावण कृष्णा पंचमी को वर्षावास की पर्युषणा कर लेने पर भी गृहस्थ के पूछने पर मुनि बीस दिन-रात अथवा एक मास बीस दिन तक कह सकता है कि यह क्षेत्र वर्षावास के लिए अभी अभिगृहीत है। उसके पश्चात् पूछने पर कहे—यह क्षेत्र कार्तिक पूर्णिमा तक अभिगृहीत है। ऐसा कहने के दो कारण हैं—कदाचित् अशिव आदि अनेक कारण उत्पन्न हो जाएं अथवा वर्षा सम्यक् न होने पर लोगों में अपवाद प्रारम्भ हो जाए। इन दोनों के कारण अभिवर्द्धित वर्ष में बीस रात-दिन तथा चन्द्र वर्ष में एक मास बीस दिन-रात की सीमा रखी गई है।

६८. आषाढी पूर्णिमा तक वर्षावास योग्य क्षेत्र न मिलने पर पांच-पांच दिन के अन्तराल से गवेषणा करते-करते एक मास और बीस दिन बीतने पर अर्थात् भाद्रव शुक्ला पंचमी तक पर्युषणा कर ले—एक स्थान पर स्थित हो जाए। निकट में वर्षावास योग्य क्षेत्र है तो आषाढी पूर्णिमा को ही पर्युषणा की स्थापना करे। जहां आषाढ मासकल्प किया है और वह क्षेत्र वर्षावास-प्रायोग्य है तो वहां आषाढ शुक्ला दशमी को वर्षावास के लिए स्थित हो जाए और आषाढी पूर्णिमा को पर्युषणा करे।

६९. जो भाद्रव शुक्ला पंचमी को वर्षावास के लिए स्थित होते हैं उनके अघन्यतः सत्तर दिन का, जो भाद्रव कृष्णा दशमी को पर्युषणा करते हैं उनके अस्ती दिन का, जो श्रावणी पूर्णिमा को पर्युषणा करते हैं उनके नव्ये दिन का, जो श्रावण कृष्णा दशमी को पर्युषणा करते हैं, उनके एक सौ दस दिन का ज्येष्ठावग्रह होता है। यह सारा मध्यम ज्येष्ठावग्रह है। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को वर्षावास पूर्ण हो जाने पर भी यदि मृगसिर में वर्षा हो रही हो तो उसे दस-दस दिन तीन बार

अर्थात् पूरे मृगसिर मास तक वहां रहा जा सकता है। यह एक क्षेत्र में वास की उरकृष्ट काल-मर्यादा है।

७०. किसी क्षेत्र में मासकल्प अर्थात् आषाढ मास पूरा रहकर उसी क्षेत्र में वर्षावास बिताए और मृगसिर का मास भी दुर्भिक्ष आदि के कारण वहीं पूरा करे तो यह सालंबन रूप में छह मास का व्येष्टावग्रह होता है।

७१. वर्षावास से चतुष्प्रातिपदिक (चार मास की चार प्रतिपदाओं) के पश्चात् वहां से मृगसिर की प्रतिपदा को विहार कर लेना चाहिए। यदि वहां से गमन न हो तो पूर्व निर्दिष्ट आरोपणा आदि प्रायश्चित्त आता है।

७२, ७३. कामिकीभूमि तथा संस्कारक जीवों से संसक्त हो जाए, भिक्षा दुर्लभ हो, राजा दुष्ट हो, सर्प आदि वसति में प्रविष्ट हो जाए, कुंभुओं से वसति संसक्त हो जाए, अग्नि का उपद्रव हो, ग्लान की परिचर्या न हो पाए तथा स्थूलि भूमि का अभाव हो—यदि ये कारण प्राप्त हों तो वर्षावास सम्पन्न न होने पर भी उस क्षेत्र से निर्गमन कर देना चाहिए।

७४, ७५. वर्षा न रुक रही हो, मार्ग दुर्गम तथा कीचड़मय हो गये हों, अन्यत्र अशिव तथा दुर्भिक्ष हो, राजा का उपद्रव हो, चोर डाकूओं का भय हो, ग्लान की असमर्थता हो—इन कारणों से वर्षावास अतिक्रान्त हो जाने पर भी उस क्षेत्र से निर्गमन नहीं हो पाता।

७६. वर्षावास क्षेत्र से चारों ओर ढाई कोस तक भिक्षाचर्या आदि के लिए क्षेत्रावग्रह होता है। आने-जाने में एक योजन तथा एक कोस अर्थात् पांच कोस प्रमाण क्षेत्र है। अपवाद कारण को छोड़कर यह क्षेत्र-मर्यादा है।

७७. क्षेत्रावग्रह छह दिशाओं में होता है, जैसे—ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—इन छहों दिशाओं में एक योजन अथवा एक कोस का क्षेत्रावग्रह होता है। इन्द्रपद अथवा गजाग्र पर्वत से छहों दिशाओं में क्षेत्र हैं।^१ अन्योन्य पर्वतों से चार-पांच दिशाओं में क्षेत्र हैं।

७८. किसी व्याघात के उपस्थित होने पर एक, दो अथवा तीन दिशाओं में क्षेत्रावग्रह होता है। जिस दिन व्याघात हो उस दिन उद्यान तक क्षेत्रावग्रह होता है। उससे आगे छिन्नमन्त्र अर्थात् जिस गांव या नगर के चारों दिशाओं में कोई ग्राम या नगर न हो, वह अक्षेत्र होता है।

७९. नदी आदि में क्षेत्रावग्रह की मर्यादा—ऋतुबद्धकाल में तीन उदकसंघट्टन—अर्धजंघा तक जल, वर्षावास में सात उदकसंघट्टन—दूतने पानी में अवगाहन कर भिक्षाचर्या के लिए अन्यत्र जाने में तथा आने में क्षेत्रावग्रह का हनन नहीं होता। इसके अतिरिक्त ऋतुबद्धकाल में चार उदकसंघट्टन तथा वर्षावास में आठ उदकसंघट्टन लगाने से क्षेत्रावग्रह का उपघात होता है। अर्धजंघा से अधिक उदक का एक बार भी अवगाहन करने से क्षेत्रावग्रह का अतिक्रमण होता है।

१. पर्वत पर ऊपर और नीचे भी ग्राम होता है। अतः पर्वत पर मध्यस्थित ग्राम की अपेक्षा छह दिशाएं होती हैं।

८०. द्रव्य स्थापना के सात द्वार हैं—आहार, विकृति (विगय), संस्तारक, मात्रक, लोचकरण, संचित तथा अचित्त का व्युत्सर्जन, ग्रहण तथा स्वीकरण ।

८१. आहार विषयक मर्यादा—पूर्वाहार अर्थात् ऋतुबद्धकालीन आहार का परित्याग करे । अपनी शक्ति के अनुसार योगवृद्धि अर्थात् ऋतों में वृद्धि करे ।^१ (क्योंकि वर्षाकाल में कीचड़ हो जाने से भिक्षाचर्या कठिन हो जाती है तथा संज्ञाभूमि में जाना कष्टकर होता है, स्थूलभूमि हरियाली से छा जाती है आदि ।)

विगय के दो प्रकार हैं—संचयिका और असंचयिका ।^२ इनके दो-दो प्रकार हैं—प्रशस्त तथा अप्रशस्त ।^३ प्रशस्त के ग्रहण से द्रव्य की सीमा होती है ।

८२. जो विगतिभीत अर्थात् कुगतियों—तिर्यञ्चगति, नरकगति आदि विविध गतियों से भयभीत है, वह भिक्षु यदि विकृति अथवा विकृतिमिश्र भोजन करता है तो वह विकृति उस मुनि को विकृत स्वभाव वाला बना देती है और वह उसे बलात् विगति—नरकगति में ले जाती है ।

८२।१. मुनि सामान्यतः दूध, दही, नवनीत आदि जो प्रशस्त असंचयिका विकृतियाँ हैं, उन्हें ग्रहण करे । संचयिका विकृतियाँ ग्रहण न करे क्योंकि ये विकृतियाँ ग्लान आदि के लिए प्रयोजनीय होती हैं । (सामान्यतः इनको लेने पर ग्लान आदि को ये प्राप्त नहीं होतीं ।)

८३. मुनि प्रशस्तविकृति ग्रहण तथा अप्रशस्तविकृति ग्रहण प्रयोजनवश करे । अप्रशस्त-विकृति का ग्रहण उतनी ही मात्रा में करे जितनी मात्रा बाल, वृद्ध अथवा रोगी के लिए आवश्यक हो तथा जिसके लेने से गृही न हो, दाता को विश्वास हो तथा उसके दोषयुक्त भावों का प्रतिघात हो ।

८४. ऋतुबद्धकाल में जो संस्तारक ग्रहण किए थे उनका वर्षावास काल में परित्याग कर दे तथा वर्षायाम्य अपरित्यजनीय संस्तारक ग्रहण करे । तीन संस्तारक—निवात, प्रवात तथा निवात-प्रवात गुरु को देकर शेष मुनि (रत्नाधिक के क्रम से) एक-एक संस्तारक ग्रहण करे ।

८५. ऋतुबद्धकाल में उच्चार-प्रस्रवण तथा श्लेष्म के उपयोगी मात्रक ग्रहण किए थे, उनका परित्याग कर वर्षावास में प्रत्येक मुनि इन तीनों के लिए तीन-तीन मात्रक ग्रहण करे । संयम-निर्वाह के लिए, अतिथि के प्रयोजन के लिए तथा एक के फूट जाने पर मुनि बचे पात्र को काम में ले ।

८६. जिनकल्पिक मुनियों के लिए नित्य ध्रुवलुंचन की परम्परा है । स्याविर मुनियों के लिए वर्षावास में ध्रुवलुंचन की परम्परा है । जो असह्यशील तथा ग्लान मुनि हैं, वे भी पर्युषणारान्त्रि का अतिक्रमण नहीं करते, अवश्य लुंचन कराते हैं ।

१. यदि आवश्यकी में परिहानि न होती हो तो चातुर्मासिक तप करे । यदि यह न कर सके तो तीन मास, दो मास, एक मास ... आदि तप करे ।

२. क्षीर, दधि, मांस, नवनीत आदि असंचयिका विकृति हैं तथा घृत, गुड़, मांस आदि संचयिका विकृति हैं ।

३. मधु, मांस, मद्य अप्रशस्त हैं तथा क्षीर, गुड़ आदि प्रशस्त हैं ।

८७. परम्परा से पुराना^१, भावितश्चाद्ध—श्रद्धा से ओतःप्रोत तथा वैरागी व्यक्ति को छोड़कर अन्य को चातुर्मास में प्रव्रजित करने का निषेध है। वर्षावास में इनको प्रव्रजित करने पर ये धर्मशून्य अर्थात् वर्षा आदि में जाने-आने से शंकाशील हो सकते हैं तथा मंडली में भोजन करने, मात्रक में प्रसवण आदि करने से उन नव प्रव्रजित भुनियों के मन में उद्वाह—प्रवचन के प्रति तिरस्कार हो सकता है।

८८. वर्षाकाल में क्षार, डगल (पत्थर के टुकड़े), मात्रक आदि का ग्रहण, ऋतुबद्धकास में गृहीत का व्युत्सर्ग तथा क्षार आदि का संग्रह करना चाहिए। इनके बिना ग्लान की विराधना तथा सेप के बिना भाजन की विराधना होती है, इसलिए इनका ग्रहण अनुमत है। (यह एक सीमा है—कुछेक का ग्रहण, कुछेक का धरण, कुछेक का व्युत्सर्ग और कुछेक का ग्रहण-धरण-व्युत्सर्ग।)

८९. ईर्यासमिति, एषणासमिति, भाषासमिति (आदाननिक्षेप समिति तथा परिष्ठापना-समिति) की स्थलना, मन, वचन, काय की गुप्ति में स्थलना, दुश्चरित्र, अधिकरण तथा कषाय—इनका सावत्सरिक उपशमन हो ही जाना चाहिए।

९०. यद्यपि भूमि की सही काल में पाँचों समितियों में समित रचना चाहिए किंतु वर्षावास में इसका विशेष प्रसंग होता है क्योंकि उस समय भूमि प्राणियों से संकुल होती है।

९१. भाषा समिति में अनायुक्त होने पर संपातिम—उड़ने वाले प्राणियों का वध, तीसरी एषणा समिति में अनायुक्त होने पर दुर्ज्ञेय उदक स्नेह बिंदुओं का व्याघात तथा ईर्यासमिति और अन्तिम दो—आदाननिक्षेप और परिष्ठापनिका समिति में अनायुक्त होने पर प्राणियों का दुष्प्रतिलेखन और दुष्प्रमार्जन होता है।

९२. मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति तथा कायगुप्ति—इनमें स्थलना हुई हो, विपरीत आचरण किया हो तो उसकी शीघ्र ही आलोचना कर लेनी चाहिए। अधिकरण में दुस्तक, प्रदीत तथा द्रमक के उदाहरण हैं।

९३, ९४. (ग्रामवासियों द्वारा एक बैल की चोरी कर लेने पर कुंभकार के पास एक बैल की गाड़ी रह गई। लोगों ने कहा—) देखो ! एक बैल की गाड़ी है। (बैल चुराए जाने से उसने भी खलिहान के आग लगाकर कहा)—देखो ! खेत जल रहे हैं। एक दिन भाणकमल्ल द्वारा मल्लपुट्ट में यह घोषणा की गयी—हे दुरुतकवासियो ! कुंभकार का हून बैल उसको सौंप दिया जाए, जिससे खलिहान न जलें। कुंभकार से श्रमायाचना करते हुए ग्रामवासियों ने कहा—ओ ! तुम अन्य सात वर्षों तक हमारा धान्य (खलिहान) मत जलाओ !^२

९५-९८. चंपा में अनंगसेन नामक स्वर्णकार। पंचशील द्वीप से दो अप्सराओं का आगमन हुआ। अनंगसेन उनमें आसक्त हो गया। एक स्थविर नाविक उसको पंचशील द्वीप के पास ले गया। वहाँ से वह वृक्ष की शाखा पकड़कर पंचशील द्वीप पहुँच गया। हासा, प्रहासा नामक अप्सराओं ने उसे पुनः चंपानगरी पहुँचा दिया। मित्र नाइल द्वारा जिनोक्त धर्म का प्रतिबोध पर वह निदान करके इगिनीमरण स्वीकार कर पंचशील द्वीप में विद्युन्माली यक्ष के रूप में उत्पन्न हुआ।

तदीश्वर द्वीप में गमन। (वहाँ मित्र देव नाइल ने कहा)—बोध के लिए तुम किसी

१. जिसको पहले दीक्षा दी जा चुकी हो।

२. देखें परि० ६, कथा सं० १।

स्थान पर जिनप्रतिमा का अकतरण कराओ। राजा उद्रायण के वहाँ देवाधिदेव महावीर की प्रतिमा प्रकट हुई। अमंगल देखने पर प्रभावती द्वारा देवदत्ता दासी पर दर्पण का प्रहार। देवदत्ता की मृत्यु। उसका देव रूप में उत्पन्न होना। प्रभावती देव द्वारा उद्रायण को तापस आश्रम में ले जाना, वहाँ भयोत्पत्ति। शरण के लिए श्रमणों के पास जाना।

गंधार जनपद में श्रावक बीसा लेना चाहता था। देवाराधना द्वारा उसके यहाँ प्रतिमा का प्रकटीकरण। देवता द्वारा ८०० गुटिकाओं की प्राप्ति। श्रावक का बीतघ्न नगर में जाना। वहाँ देवायतन में कृष्णगुटिका दासी द्वारा सेवा। (गुटिका के प्रभाव से वह कृष्णगुटिका से स्वर्णगुटिका बन गई।) राजा प्रद्योत द्वारा स्वर्णगुटिका एवं देवप्रतिमा का हरण। पुष्करतीर्थ की उत्पत्ति। राजा उद्रायण एवं प्रद्योत में युद्ध। (प्रद्योत को बंदी बनाकर उसके लालट पर यह अंकित किया)—यह दास है, दासीपति है, छवार्थी है, हमारे यहाँ बंदी रूप में रह रहा है। जो कोई राजा की आज्ञा का भंगकर उसे कुपित करता है, वह हंतव्य और बंधनयोग्य है।^१

९९, १००. धनाढ्य के घर खीर का भोजन देखकर दरिद्र के बच्चों द्वारा पिता से खीर का आग्रह। पिता ने दूसरों से दूध आदि की याचना कर खीर बनाई। चोरों का आगमन। खीर को चोर ले गए। द्रमक ने चोरों का पीछा किया। चोर सेनापति का तलवार से शिरच्छेद। भाई को सेनापति बनाया गया। (स्वजनों ने कहा)—यदि तुम भाई के घातक को नहीं मारते हो तो तुम्हें धिक्कार है। पकड़े जाने पर द्रमक बोला—जहाँ शरणागत मारे जाते हैं, वहीं मुझे मारा जाए। द्रमक की मुक्ति।^२

१०१, १०२. क्रोध कथाय के चार प्रकार हैं—पानी की रेखा के समान, बालु की रेखा के समान, भूमि की रेखा के समान तथा पर्वत की रेखा के समान। प्रथम तीनों प्रकार के क्रोध कुछ ही समय में नष्ट हो जाते हैं परन्तु चौथे प्रकार का क्रोध जब तक पर्वत है, तब तक बना रहता है। अर्थात् वह जीवन-पर्यंत बना रहता है। जो क्रोध पानी की रेखा के समान होता है वह उसी दिन के प्रतिक्रमण से या पालिक प्रतिक्रमण से उपशांत हो जाता है। जो चातुर्मासिक काल में उपशांत होता है वह क्रोध बालु की रेखा के समान, जो सांवत्सरिक काल में उपशांत होता है वह भूमि की रेखा के समान तथा पर्वत की रेखा जैसा क्रोध जीवन पर्यंत नष्ट नहीं होता। (इनकी गति इस प्रकार है—पर्वत की रेखा सदृश क्रोधी मनुष्य की नरकगति, भूमि की रेखा सदृश की तिर्यञ्च गति, बालु की रेखा सदृश की मनुष्य गति और उदक रेखा सदृश की देवगति होती है।)

१०३. मान के चार प्रकार हैं—पत्थर के स्तम्भ के समान, अस्थि-स्तम्भ के समान, काष्ठ-स्तम्भ के समान तथा लता-स्तम्भ के समान।

माया के चार प्रकार हैं—बांस के समान, मेंढे के सींग के समान, गोमूत्रिका के समान, तथा छिलते बांस के समान। लोभ के चार प्रकार हैं—कुमिराम के समान, कर्दम के समान, कुसुंभराम के समान तथा हरिद्राराग के समान।

१०४. इसी प्रकार स्तम्भ के समान मान, केतन के समान माया तथा वस्त्रराग के समान लोभ—इन तीनों की भी चार-चार प्रकार की प्ररूपणा की गई है। प्रत्येक प्रकार में गति का क्रम

यह है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। क्रोध के विषय में भस्कर, मान के विषय में अत्वंकारी भट्टा, माया के विषय में पंडरज्जा तथा लोभ के विषय में आर्य मंगु का दृष्टांत है।

१०४।१ चारों कथायों के चार-चार प्रकारों में प्रत्येक प्रकार की गति का क्रमशः क्रम यह है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। सुगति के मार्ग को जानने वाले मुनियों को इन कथायों का सदा उपशमन/क्षय करना चाहिए।

१०५. बेल श्रांत होकर गिर गया। भस्कर ने चार केदारों के डेलों से उसे पीटा। बेल मर गया। ब्राह्मणों ने कहा—तुम अति क्रोधी हो अतः तुम्हें प्रायश्चित्त नहीं देंगे।^१

१०६-१०८ आठ पुत्रों के पीछे धन वणिक् के एक पुत्री हुई, जिसका नाम अत्वंकारी भट्टा रखा। कोई शादी को तैयार नहीं। आखिर मंत्री उसकी शर्त को मानने के लिए तैयार हुआ। (अत्वंकारी ने मंत्री को सूर्यास्त से पहले आने के लिए कह रखा था) एक दिन राजा ने मंत्री को रात्रि में देर तक रोक लिया। उसने कहा—मैं द्वार नहीं खोलूंगी। फिर क्रोधावस्था में द्वार खोलकर वह रात्रि में ही घर से बाहर निकल गयी और चोर सेनापति के चंगुल में फस गई। उसने उसकी पत्नी बनना स्वीकार नहीं किया। सेनापति ने जलूक वैद्य को बेष दिया। उसने भी उसे पत्नी बनाना आह्वान पर उसने अस्वीकृत कर दिया। तब जलूक वैद्य ने कहा—पानी से जलूका ग्रहण करो। एक दिन भाई का आगमन। सारा वृत्तान्त भाई को कहा। भाई ने मुक्ति दिलवाई।

१०९. (अत्वंकारी भट्टा स्वस्थ होकर पुनः मंत्री की पत्नी के रूप में घर चली गई।) उसके घर में लक्ष्मण तैल के घट भरे थे। एक बार एक यति ने क्षण-संरोहण के लिए उससे तैल की याचना की। दासी द्वारा तीन बार घट नष्ट हो गए। भट्टा दासी पर कुपित नहीं हुई। चौथी बार स्वयं उसने साधु को दान दिया।^२

११०, १११. पांडुरा पार्श्वस्थ—शिथिलाचारिणी साध्वी। समय आने पर गुह के पास भक्तप्रत्याख्यान का स्वीकरण। मंत्र शक्ति से लोगों की भीड़। गुह के द्वारा पूछने पर उसने तीन बार प्रतिक्रमण किया। चौथी बार फिर मंत्रशक्ति का प्रयोग किया। आचार्य के पूछने पर कहा कि पूर्वाभ्यास से लोग आते हैं अतः प्रतिक्रमण नहीं किया। भरकर वह सौधर्म देवनोक में ऐरावण हाथी की अग्रमहिषी बनी। महावीर के समवसरण में हथिनी के रूप में वातनिसर्ग—चिंघाड़ने लगी। गौतम द्वारा पूछने पर महावीर ने पूर्वभव बताया।^३

११२. मथुरा में आर्य मंगु बहुश्रुत, वैरागी एवं श्रद्धालुओं द्वारा पूजित आचार्य थे। सुख-साता में प्रतिबद्ध होकर श्रावकों की नित्य शिक्षा करने लगे। दिवंगत होने पर प्रतिमा में प्रवेश कर कंबी जीभ निकालकर कहते—मैं लोलुपता वश अधर्मी व्यन्तर बना हूँ कोई लोलुपता मस करना।^४

११३. कथायों के दोषों को जानकर गृहस्थ भी उनसे विरत हो जाते हैं, यह सोचकर कोई भी संयमी साधु-साध्वी अधिकरण न करे तथा कथायों के बुरे परिणामों को सुनकर/जानकर उनसे निवृत्त हो जाए।

१. देखें परि० ६, कथा सं० ४।

२. वही, कथा सं० ५।

३. वही, कथा सं० ६।

४. वही, कथा सं० ७।

११४. जो प्रायश्चित्त ऋतुवद्ध काल में संवित हुआ है, उसका वहन वर्षावासकाल में सुखपूर्वक होता है क्योंकि वर्षाऋतु में प्राणियों की उत्पत्ति अत्यधिक होती है, इसलिए गमनागमन नहीं होता। चिरकाल तक वहां निवास होता है। वर्षाकाल की शीतलता से उन्मत्त इन्द्रियों के वर्प का परिहार करने के लिए प्रायश्चित्त में प्राप्त तप उस समय किया जाता है। इसलिए वर्षाकाल में स्वाध्याय, संयम और तप के अनुष्ठान में आत्मा को अत्यधिक नियोजित करना चाहिए।

११५. प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के समय में कल्प—पर्युषणा अर्थात् वर्षावास अवश्य होता है। मध्य तीर्थंकरों के समय में वर्षावास विकल्प से होता है। वर्द्धमान के तीर्थ में मंगल के निमित्त वर्षाऋतु में जिनेश्वर देवों, गणधरों तथा स्थविरों के चरित्र का निरूपण होता है।

११६. सूत्र में यह प्रतिपादित है कि मुनि 'वर्षारिय वर्षा' अर्थात् ऐसी वर्षा जो वर्षाकल्प को भेदकर भीतर भी गीजा कर दे, में भक्तपान ग्रहण न करे, भिक्षा के लिए न जाए, किन्तु ज्ञानार्थी, तपस्वी और भूख को न सह सकने वाला मुनि वर्षा में भी भक्तपान ग्रहण कर सकता है, भिक्षा के लिए जा सकता है।

११७. ज्ञानार्थी, तपस्वी तथा क्षुधा सहने में असमर्थ मुनि यदि संयमक्षेत्र (वर्षावास के योग्य क्षेत्र) से च्युत हो जाते हैं तो वे भिक्षाकाल में उत्तरकरण (देखें गाथा १२०) के द्वारा भिक्षाचर्या कर सकते हैं।

११८. संयमक्षेत्र वह होता है, जहां औगिक वर्षाकल्प तथा अलावु पात्र प्राप्त होते हैं, जहां स्वाध्याय तथा एषणा की शुद्धि होती है और कालोचित वर्षा होती है।^१

११९. जहां वर्षा के कारण भिक्षाचर्या न होने पर पूर्व अधीत ज्ञान विस्मृत हो जाता है, नष्ट हो जाता है, नया ज्ञानार्जन करने में सामर्थ्य नहीं रहता, तपस्वी के पारणक में बाधा आती है तथा बाल मुनि आदि भूख सहने में असमर्थ होते हैं, वह संयमक्षेत्र नहीं होता।

१२०. (वर्षा बरस रही हो और क्षुधा सहने में असमर्थ मुनि के लिए अथवा किसी रोगी के प्रयोजन से भिक्षा के लिए जाना पड़े तो) बालों से बने वर्षाकल्प अथवा सौत्रिक वर्षाकल्प से आवृत होकर जाए। इनके न होने पर ताड़सूची (ताड़पत्रों) अथवा पलाश आदि के पत्तों से बने सिरत्राग से सिर ढक कर अथवा छत्र धारण कर भिक्षा के लिए जाए। यह ज्ञानार्थी, तपस्वी तथा क्षुधा को सहन न करने वाले मुनियों के लिए उत्तरविशेष—विशेष विधि या उत्तरकरण है।

नौवीं वशा : मोहनोयस्थान

१२१. मोह शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। स्थान के विषय में पहले कहा जा चुका है। यहाँ भाव स्थान का प्रसंग है।

१. वर्षारिय—वर्षारियं नाम जं भिन्नवासं पडति, वासकल्पं भेत्तूण अंतो कायं तिम्मेति।

(दशुचू प ६३)

२. कालोचित वर्षा—रात्रि में वर्षा होती है, दिन में नहीं होती। अथवा भिक्षाकाल तथा

संज्ञाभूमि में जाने के समय को छोड़कर वर्षा होती है अथवा वर्षाऋतु में वर्षा होती है, ऋतुवद्ध काल में नहीं।

(निभा ३२०६, चूर्णि पृ. १५४)

१२२. द्रव्य मोह के दो प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त । सचित्त है—स्वजन घन आदि, (अचित्त है—मद्य आदि) । भावमोह के दो प्रकार हैं—ओष और विभाग । ओष में मोहनीयकर्म की एक प्रकृति गृहीत है तथा विभाग में अनेक प्रकृतियाँ—संपूर्ण मोहकर्म गृहीत है ।

१२३-१२५. आठ प्रकार के कर्मों को संक्षेप में 'मोह' कहा गया है । इसका वर्णन पूर्वगत—कर्मप्रवादपूर्व में है । उसके एकार्थक ये हैं—पाप, वज्य (अवद्य), वैर, पनक, पंक, क्षोभ, असाता, सङ्ग, शल्य, अरत, निरत, धुत्त, कर्म, क्लेश, समुदान, मलिन, माया, अल्पाय, द्विपक्ष तथा संपराय ।

१२६. यह मोहनीय तथा महामोहनीय कर्म अशुभ है । इसका अनुबन्ध दुःखमय होता है । इससे दुःखपूर्वक छूटकारा होता है और यह दीर्घ स्थिति वाला होता है । इसका अनुभागबन्ध सघन और विकला होता है ।

१२७. जिनेश्वर देव ने लोगों को ऐसा कहा है और प्रकाशित किया है कि साधु, गुरु, मित्र, बांधव, श्रेष्ठी, सेनापति आदि के बन्ध से सघन मोहनीय कर्म का बन्ध होता है ।

१२८. इससे भहती आशातना तथा जिनवचन के विलोपन की प्रतिबद्धता होती है तथा अशुभ कर्म बन्ध और दुःख का बन्ध होता है, इसलिए मोहनीय कर्मबन्ध के सभी कारणों का वर्जन करना चाहिए ।

अष्टमोऽध्यायः निशामरथाय

१२९. आज्ञाति तथा स्थान शब्द के चार-चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । स्थान का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है । प्रस्तुत में भावस्थान का प्रसंग है ।

१३०. द्रव्य आज्ञाति का अर्थ है—द्रव्य का स्वभाव । भाव आज्ञाति है—अनुभवन । उसके दो प्रकार हैं—ओषतः आज्ञाति और विभागतः आज्ञाति । विभागतः आज्ञाति के छह प्रकार हैं । ओषतः आज्ञाति है—संसारी जीव ।

१३१. आज्ञाति के तीन प्रकार हैं—जाति, आज्ञाति और प्रत्याज्ञाति । जाति है—संसारस्थ प्राणियों की नरक आदि गतियों में उत्पत्ति । आज्ञाति है—सम्भूच्छन्ज, गर्भ और उपपात से जन्म ।

१३२. एक भव से च्युत होकर पुनः उसी में जन्म लेना प्रत्याज्ञाति है । यह केवल मनुष्य और तिर्यङ्चों के ही होती है ।

१३३. एकान्ततः असंयत का मोक्ष नहीं होता । निश्चित ही उसकी आज्ञाति होती है । किस विशेषता से श्रमण अनाज्ञाति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है ?

१३४-१३६. जो श्रमण मूलगुणों और उत्तरगुणों का अप्रतिसेवी होता है, उनका नाश नहीं करता, इहलोक के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होता, सदा विविक्त भक्त-पान, उपधि, शयनासन का सेवन करता है, प्रयत्नवान्—अप्रमत्त होता है, सीधेकर, गुह और साधुओं के प्रति भक्तिमान् होता है, हस्त-पाद से प्रतिसंलीन, पांच समितियों से समित, कलह, कंभा, पैशुन्य से विरत तथा अवधानविरत—स्थिर संयमवाला होता है, वह प्रायः उसी भव में सिद्ध हो जाता है । कोई-कोई श्रमण भविष्यत् काल में सिद्ध होता है । किस दोष के कारण श्रमण आज्ञाति को प्राप्त होता है ।

१३७. तीर्थंकरों ने सूत्रों में जो निदानस्थान बतलाए हैं, उसका सेवन करने वाला भ्रमण आज्ञाति को प्राप्त होता है। संबन्ध, निदान और बंध—ये एकार्थक हैं।

१३८. (बंध के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) द्रव्य बंध के दो प्रकार हैं—प्रयोगबंध और विस्रसाबंध। प्रयोगबंध के तीन प्रकार हैं—भन का मूल प्रयोगबंध, वचन का मूल प्रयोगबंध तथा कामा का मूल प्रयोगबंध। कायप्रयोग बंध के दो प्रकार हैं—मूलबंध और उत्तरबंध। शरीर और शरीरी का जो संयोगबंध है, वह मूलबंध है। वह दो प्रकार का होता है—सादि और अनादि।

१३९. निगड़ आदि उत्तरबंध है। विस्रसाबंध सादि और अनादि दो प्रकार का होता है। जिस क्षेत्र में बंध होता है, वह क्षेत्र बंध है और जिस काल में बंध होता है, वह कालबंध है।

१४०. भावबंध के दो प्रकार हैं—जीवभावबंध और अजीवभावबंध। दोनों तीन-तीन प्रकार के हैं—विपाकज, अविपाकज तथा विपाक-अविपाकज।

१४१. जीवभाव बंध है—कामादयः। उसके प्रयोजन अनेक हैं। जैसे—इहलौकिक प्रयोजन पारलौकिक प्रयोजन। प्रस्तुत में पारलौकिक बंध का प्रसंग है।

१४२. जो मुनि निदान दोषों में प्रयत्नशील होता है, वह निश्चित ही आज्ञाति को प्राप्त होता है। वह विनिपात अर्थात् संसार में भ्रमण करता है। इसलिए अनिदानता ही श्रेयस्करी है।

१४३. साधु के लिए (सभी के लिए) संसार-समुद्र से तरने के ये पांच उपाय हैं—

१. अपाहर्षस्थता

४. अप्रमाद।

२. अकुशील आचार

५. अनिदान।

३. अकथाय

परिशिष्ट

१. भाष्य-गाथाओं का समीकरण
 - दशवैकालिक भाष्य
 - उत्तराध्ययन भाष्य
२. पदानुक्रम
३. एकार्थक
४. देशी शब्द
५. निक्षिप्त शब्द
६. कथाएं
७. परिभाषाएं
८. सूक्त-सुभाषित
९. उपमा और दृष्टान्त
१०. दृष्टिवाद के विकीर्ण तथ्य
११. अन्य ग्रंथों से तुलना
१२. विशेषनामानुक्रम
१३. वर्गीकृत विशेषनामानुक्रम
१४. वर्गीकृत विषयानुक्रम
१५. प्रयुक्त ग्रंथ सूची

दशवैकालिक भाष्य की गाथाओं का समीकरण

हस्तप्रतियों में दशवैकालिक निर्युक्ति के साथ ही दशवैकालिक भाष्य की गाथाएं मिलती हैं। हस्त मादणों में गाथाओं के आगे 'भाष्यम्' का उल्लेख नहीं मिलता है। टीका की मुद्रित पुस्तक में भाष्य गाथा का अलग से निर्देश किया गया है। पाठ-संपादन में हमने गाथाओं के बारे में गहराई से अनुचितन किया है। हाटो की मुद्रित पुस्तक में अनेक गाथाएं निर्युक्ति के क्रम में प्रकाशित हैं लेकिन वे भाष्य की गाथाएं होनी चाहिए। अनेक ऐसी गाथाएं हैं, जो भाष्य के क्रम में प्रकाशित हैं पर वे निर्युक्ति के क्रम में होनी चाहिए। यहां हमने उनका चार्ट प्रस्तुत कर दिया है, जिससे पाठकों को गाथा ढूंढने में सुविधा हो सके।

भागा	हाटो	वसनि	भागा	हाटो	वसनि	भागा	हाटो	वसनि
१	९३	८९।१	१८	१३९	१२३।२	३५	१४	×
२	९४	८९।२	१९	१४०	१२३।३	३६	१५	×
३	९५	८९।३	२०	१४१	१२३।४	३७	१६	×
४	१	×	२१	१४२	१२३।५	३८	१७	×
४।१	२	९०	२२	१४३	१२३।६	३९	१८	×
४।२	३	९१	२३	१४४	१२३।७	४०	१९	×
५	४	×	२४	१४५	१२३।८	४१	२०	×
६	१००	९५।१	२५	१४६	१२३।९	४२	२१	×
७	१०१	९५।२	२६	१४७	१२३।१०	४३	२२	×
८	१०२	९५।३	२७	१४८	१२३।११	४४	२३	×
९	१०४	९६।१	२८	१७६	१५१।१	४५	२४	×
१०	१०५	९६।२	२९	२१५ ^१	×	४५।१	२५	२०१
११	१०७	९७।१	३०	६	×	४६	२६	×
१२	११०	९९।१	३०।१	७	१९६	४७	२७	×
१३	१३१	१२०।१	३०।२	८	१९७	४७।१	२८	२०२
१४	१३२	१२०।२	३०।३	९	१९८	४८	२९	×
१५	१३३	१२०।३	३१	१०	×	४८।१	३०	२०३
१६	१३४	१२०।४	३२	११	×	४९	३१	×
१७	१३८	१२३।१	३३	१२	×	५०	३२	×

१. टीकाकार ने इस गाथा के लिए 'आह च भाष्यकारः' का उल्लेख किया है। किंतु मुद्रित प्रति में 'भाष्यम्' का उल्लेख होने पर भी यह निगा के क्रमांक में है।

भागा	हाटी	वशनि	भागा	हाटी	वशनि	भागा	हाटी	वशनि
५०।१	३३	२०४	६२	४६	×	७३	५९	×
५०।२	३४	२०५	६३	४७	×	७३।१	६०	२१६
५१	३५	×	६४	४८	×	७४	६१	×
५२	३६	×	६५	४९	×	७५	२३४	२१७।१
५३	३७	×	६६	५०	×	७६	२३६	२१८।१
५४	३८	×	६७	५१	×	७७	२३७	२१८।२
५५	३९	×	६८	५२	×	७८	२३८	२१८।३
५६	४०	×	६९	५३	×	७९	२३९	२१८।४
५७	४१	×	७०	५४	×	८०	२४१	२१९।१
५८	४२	×	७१	५५	×	८०।१	६२	२२०
५९	४३	×	७१।१	५६	२०९	८१	२४२	२२०।१
६०	४४	×	७१।२	५७	२१०	८२	६३	३४५
६१	४५	×	७२	५८	×			

दशवैकालिक भाष्य

१. जह जिणसासणनिरया, धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं ।
न कुतित्थिएसु एवं, दोसइ परिपालणोवाओ ॥
२. तेसु वि य धम्मसहो, धम्मं नियगं च ते पसंसंति ।
नणु भणिओ सावज्जो, कुतित्थिधम्मो जिणवरेहि ॥
३. जो तेसु धम्मसहो, सो उवयारेण निच्छएण इहं ।
अहं सीहसद्दु सीहे, पाहण्णुवयारओऽण्णत्थ^१ ॥
४. एस पइन्नासुद्धी, हेऊ अहिसाइएसु पंचसु वि ।
सब्भावेण जयंति, हेउविसुद्धी इमा तत्थ ॥

१. १-३ ये तीनों गद्यांश टीका में निगा के क्रमांक में व्याख्यात हैं। हमने इनको भाष्य-गाथा के अन्तर्गत माना है (देखें वशनि ८९।३ का टिप्पण)।

- ४।१. जं भत्त-पाण-उवगरण-वसहि सयणासणादिसु जयंति ।
फासुयमकयमकारियमणुमतमणुदिसितभोई ॥
- ४।२. अप्फासुयकय-कारित-अणुमय उद्विद्धभोइणो हंदि ! ।
तसथावरहिंसाए, जणा अकुसला उ लिप्पंति^१ ॥
५. एसा हेउविसुद्धी, दिट्ठंतो तस्स चैव य विसुद्धी ।
सुत्ते भणिया उ फुडा, सुत्तप्फासे उ इयमन्ना ॥
६. अग्गिम्मि हवी हूयइ, आइच्चो तेण पीणिओ संतो ।
वरिसइ पयाहियट्ठं, तेणोसहिओ परोहंति ॥
७. किं दुब्भिव्वं जायइ ?, जइ एवं अह भवे दुरिट्ठं तु ।
किं जायइ सव्वत्था, दुब्भिव्वं अह भवे इंदो ॥
८. वासइ तो किं विग्घं, निग्घायाईहिं जायए तस्स ।
अह वासइ उत्तमए, न वासई तो तणट्ठाए^२ ॥
९. कस्सइ बुद्धी एसा, वित्ती उवकप्पिया पयावइणा ।
सत्ताणं तेण दुमा, पुप्फंती महुररिणट्ठा ॥
१०. तं न भवइ जेण दुमा, नामाणोयस्स पुव्वविहियस्स ।
उदएणं पुप्फफलं, निवसयंती इमं चज्जन्तं^३ ॥
११. जइ पगई कीस पुणो, सव्वं कालं न देंति पुप्फफलं ।
जं काले पुप्फफलं, ददंति गुरुराह अत एव^४ ॥
१२. समणऽणुकंपनिमित्तं, पुण्णनिमित्तं च गिहनिवासी उ ।
कोई भणेज्ज पागं, करेंति सो भण्णइ न जम्हा^५ ॥
१३. उवसंहारविसुद्धी, एस समत्ता उ निगमणं तेणं ।
वुच्चंति साहणोत्ति य, जेणं ते महुररसमाणा ॥
१४. तम्हा दयाइगुणसुट्ठिएहिं भमरोव्व अवहवित्तीहिं ।
साहूहिं साहिउ त्ति, उक्किट्ठं मंगलं धम्मो ॥
१५. निगमणसुद्धी तित्थंतरावि धम्मत्थमुज्जया विहरे ।
भण्णइ कायाणं ते, जयणं न मुणंति न कुणंति ॥

१. मुद्रित टीका में ४।१,२ ये दोनों गाथाएं भाष्य २,३ के क्रमांक में हैं किन्तु दोनों चूणियों में ये निगा के रूप में व्याख्यात हैं (देखें टिप्पण दशनि ९१) ।

२. ६-८ के लिए देखें टिप्पण दशनि ९५।३ ।
३. ९,१० के लिए देखें टिप्पण दशनि ९६।२ ।
४. ११ के लिए देखें टिप्पण दशनि ९७।१ ।
५. १२ के लिए देखें टिप्पण दशनि ९९।१ ।

१६. न य उग्गमाइसुद्धं, भुंजंती महुमरा वऽणुवरोही ।
नेव य तिगुत्तिगुत्ता, अह साह निच्चकालं पि^१ ॥
१७. धम्मो मंगलमुक्किट्ठंति पइण्णा अत्तवयणनिहेसो ।
सो य इहेव जिणमए, नन्तत्थ पइण्णपविभत्ती ॥
१८. सुरपूइओत्ति हेऊ, धम्मट्ठाणे ठिया उ जं परमे ।
हेउविभत्ती निरुवहि, जियाण अवहेण य जियंति ॥
१९. जिणवयणपटुट्ठे वि हु, ससुराईए अधम्मरुइणो वि ।
मंगलबुद्धीइ जणो, पणमइ आईदुयविवक्खो ॥
२०. नितियदुयस्स विवक्खो, सुरेहि पुज्जंति जण्णजाई वि ।
बुद्धाई वि सुरणया, वुच्चंते णायपडिवक्खो ॥
२१. एवं तु अवयवाणे, चउण्ह पडिवक्खु पंचमोऽवयवो ।
एत्तो छट्ठोऽवयवो, विवक्खपडिसेह तं वोच्छं ॥
२२. सायं सम्मत्त पुमं, हास-रह-आउनामगोयसुहं ।
धम्मफलं आइदुगे, विवक्खपडिसेह मो एसो ॥
२३. अजिइंदिय सोवहिणो, वधगा जइ ते बि नाम पुज्जंति ।
अग्गी वि होज्ज सीओ, हेउविभत्तीण पडिसेहो ॥
२४. बुद्धाई उवयारे, पूयाठाणं जिणा उ सव्भावं ।
दिट्ठंतपडिस्सेहो, छट्ठो एसो अवयवो उ ॥
२५. अरिहंत मग्गगामी, दिट्ठंतो साहुणो वि समच्चित्ता ।
पागरएसु गिहीसुं, एसंते अवहमाणा उ ॥
२६. तत्थ भवे आसंका, उहिस्स जई वि कीरण पागो ।
तेण र विसमं नायं, आसतणा तस्स पडिसेहे ॥
२७. तम्हा उ सुरनराणं, पुज्जत्ता मंगलं सया धम्मो ।
दसमो एस अवयवो, पइन्तहेऊ पुणो वयणं^२ ॥
२८. अट्टारस उ सहस्सा, सीलंगाणं जिणेहि पणत्ता ।
सेसि परिरक्खणट्ठा, अवराहपए उ वज्जेज्जा^३ ॥

१. १३-१६ के लिए देखें टिप्पण दशानि १२०।१ । १२३।१ ।

२. ना. १७-२७ के लिए देखें टिप्पण दशानि ३. देखें टिप्पण दशानि १५१।१ ।

२९. जीवाहारो भण्णइ, आयारो तेणिमं तु आयायं ।
छज्जीवणियज्झयणं, तस्सऽहिगारा इमे होंति^१ ॥
३०. नामं ठवण गयाओ, दब्बे गुणपज्जवेहि रहित्ति ।
तिचिहो य होह भावे, ओहे भव तब्भवे वेव ॥
- ३०।१. संते आउयकम्मे, धरती तस्सेव जीवती उदए ।
तस्सेव निज्जराए, मओ त्ति सिद्धो नयमएणं ॥
- ३०।२. जेण य धरति भवगतो, जीवो जेण उ भवाउ संकमई ।
जाणाहि तं भवाउं, चउज्जिहं तब्भवे दुविहं^२ ॥
- ३०।३. दुविधा य होंति जीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सब्बलोए, दो वेव य बायरविहाणा^३ ॥
३१. सुहुमा य सब्बलोए, परियावण्णा भवंति नायव्वा ।
दो वेव बायराणं, पज्जत्तियरे य नायव्वा ॥
३२. लक्खणमियाणि दारं, चिघं हेऊ अ कारणं लिगं ।
लक्खणमिति जीवस्स उ, आयाणाई इमं तं ध ॥
३३. लक्खिज्जइ त्ति नज्जइ, पच्चक्खियरो व जेण जो अत्थो ।
तं तस्स लक्खणं खलु, धूमुण्हाइ व्व अग्निस्स ॥
३४. अयगार कूर परसू, अग्नि सुवण्णे अ खीरनरवासी ।
आहारो दिठ्ठता, आयाणाईण जहसंखं ॥
३५. देहिदियाइरित्तो, आया खलु गज्झगाहणपओगा ।
संडासा अयपिडो, अययाराइव्व विन्नेओ ॥
३६. देहो सभोत्तिओ खलु, भोज्जत्ता ओयणाइधालं व ।
अन्नप्पत्तिगा खलु, जोगा परसुव्व करणत्ता ॥
३७. उवओगा नाभावो, अग्निव्व सलक्खणा परिच्छागा ।
सकसाया णाभावो, पज्जयगमणा सुवण्णं व ॥
३८. लेसाओ णाभावो, परिणमणसभावओ य खीरं व ।
उस्सासा णाभावो, समसब्भावा खउव्व नरो ॥
३९. अवखाणेयाणि परत्थयाणि वासाइवेह करणत्ता ।
गह्वेयगनिज्जरओ, कम्मस्सऽओ जहाहारो ॥

१. टीकाकार ने इस गाथा के लिए "आह च होने पर भी यह निगा के क्रमांक में है ।

भाष्यकारः" का उल्लेख किया है । किन्तु २. ३०।१, २ के लिए देखें टिप्पण दशनि १९६ ।

टीका की भुक्ति प्रति में भाष्यम् का उल्लेख ३. देखें टिप्पण दशनि १९८ ।

४०. चित्तं तिकालविसयं, चेयण पच्चक्खसत्तमणुसरणं ।
विण्णाणऽणोगभेयं, कालमसंखेयरं धरणा ॥
४१. अत्थस्स ऊह बुद्धी, ईहा चेदुत्थअवगमो उ मई ।
संभावणत्थतक्का, गुणपच्चक्खा घडोव्वऽत्थि ॥
४२. जम्हा चित्ताईया, जीवस्स गुणा हवन्ति पच्चक्खा ।
गुणपच्चक्खत्तणओ, घडुव्व जीवो अओ अत्थि ॥
४३. अत्थि त्ति दारमहुणा, जीविस्सह अत्थि विज्जए नियमा ।
लोगायतमयघायत्थमुच्चए तत्थिमो हेऊ ॥
४४. ओ चित्तेइ सरीरे, नत्थि अहं स एव होइ जीवो त्ति ।
न ह जीवमि असंते, संसयउप्पायओ अन्नो ॥
४५. जीवस्स एस धम्मो, जा ईहा अत्थि नत्थि वा जीवो ।
जाणुमणुस्साणुमया, जहू ईहा देवदत्तस्स ॥
- ४५।१. सिद्धं जीवस्स अत्थित्तं, सदादेवाणुमीयते ।
नासओ भुवि भावस्स, सदो हवइ केवलो^१ ॥
४६. अत्थित्ति निव्विगप्पो, जीवो नियमाउ सदओ सिद्धी ।
कम्हा ? सुद्धपयत्ता, वडखरसिगाणुमाणाओ ॥
४७. सुद्धपयत्ता सिद्धी, जइ एवं सुण्णसिद्धि अम्हं पि ।
तं न भवइ संतेणं, जं सुन्नं सुन्नगेहं व ॥
- ४७।१. मिच्छा भवेउ सव्वत्था, जे केई पारलोइया ।
कत्ता चेवोपभोत्ता य, जदि जीवो न विज्जइ^२ ॥
४८. पाणिदया-तव-नियमा, बंभं दिक्खा य इंदियनिरोहो ।
सव्वं निरत्थयमेयं, जइ जीवो न विज्जई ॥
- ४८।१. लोइगा वेइगा चेव, तहा सामाइया विऊ ।
निच्चो जीवो पिहो देहा, इति सव्वे ववत्थिया^३ ॥
४९. लोगे अच्छेज्जभेउओ, वेए सुपरीसदद्धगसियालो ।
समएज्जहमासि गओ, तिक्किहो दिव्वाइसंसारो ॥
५०. अत्थि सरीरविहाया, पइनिययागारयाइभावाओ ।
कुंभस्स जह कुलालो, सो मुत्तो कम्मजोगाओ ॥

१. देखें टिप्पण दशनि २०१ ।

३. देखें टिप्पण दशनि २०३ ।

२. देखें टिप्पण दशनि २०२ ।

५०११. फरिसेण जहा वाऊ, गिज्भत्ती कायसंसितो ।
नाणादीहि तहा जीवो, गिज्भत्ती कायसंसितो^१ ॥
५०१२. अण्णदियगुणं जीवं, दुण्णेयं मंसच्चक्खुणा ।
सिद्धा पासंति सब्वन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो^२ ॥
५१. अत्तवयणं तु सत्थं, दिट्ठा य तओ अइंदियाणं पि ।
सिद्धीगहणार्हेणं, तहेव जीवस्स विण्णेया ॥
५२. अण्णत्तममुत्तत्तं, निच्चत्तं चेव भण्णए समयं ।
कारणअविभागाईहेऊहि इमाहि गाहाहि ॥
५३. अन्नत्ति दारमहुणा, अन्नो देहा गिहाउ पुरिसो अब्ब ।
तज्जीवतस्सरीरियमयघायत्थं इमं भणियं ॥
५४. देहिंदियाइरित्तो, आया खलु तदुवलद्धअत्थाणं ।
तच्चिगमे वि सरणओ, गेहगवक्खेहि पुरिसोअब्ब ॥
५५. न उ इदियाइ उवलद्धिमंति विगएसु विसयसंभरणा ।
अह गेहगवक्खेहि, जो अणुसरिया स उवलद्धा ॥
५६. संपयममुत्तदारं, अइंदियत्ता अछेयभेयत्ता ।
रूवाइविरहओ वा, अणाइपरिणामभावाओ ॥
५७. छउमत्थाणुवलंभा, तहेव सब्वण्णुवयणओ चेव ।
लोयाइपसिद्धीओ, जीवोऽमुत्तो त्ति नायव्वो ॥
५८. निच्च त्ति दारमहुणा, निच्चो अविणासि सासओ जीवो ।
भावत्ते सइ जम्माभावाउ नहं व विन्नेओ ॥
५९. संसाराओ आलोयणाउ तह पच्चभिन्नभावाओ ।
खणभंगविघायत्थं, भणियं तेलोक्कदंसीहि ॥
६०. लोगे वेए समए, निच्चो जीवो विभासओ अम्हं ।
इहरा संसाराई, सब्वपि न जुज्जए तस्स ॥
६१. कारणअविभागाओ कारणअविणासओ य जीवस्स ।
निच्चत्तं विन्नेयं, आगासपडाणुमाणाओ ॥
६२. हेउप्पभवो बंधो, जम्माणंतरहयस्स तो जुत्तो ।
तज्जोगविरहओ खलु, चोराइघडाणुमाणाओ ॥

६३. अविणासी खलु जीवो, विगारणुवलंभओ जहागासं ।
उवलब्भंति विगारा, कुंभाइविणासिदब्बाणं ॥
६४. रोगस्सामयसन्ना, बालकयं जं जुवाऽणुसंभरइ ।
जं कयमन्नंमि भवे, तस्सेवन्नत्थवत्थाणा ॥
६५. णिच्चो अणिदियत्ता, खणिओ न वि होइ जाइसंभरणा ।
थणअभिलासा य तहा, अमओ नउ मिम्मउच्च घडो ॥
६६. कत्तत्ति दारमहुणा, सकम्मफलमोइणो जओ जीवा ।
वाणियकिसीवला इव, कविलमनिसेहणं एयं ॥
६७. वावित्ति दारमहुणा, देहव्वावी मओऽग्गिउण्हं व ।
जीवो नउ सव्वगओ, देहे लिगोवलंभाओ ॥
६८. अहुणा गुणित्ति दारं, होइ गुणोहि गुणित्ति विन्नेओ ।
ते भोग-जोगउवओगमाइ रुवाइ व घडस्स ॥
६९. उद्धंगइत्ति अहुणा, अगुरुलहुत्ता सभावउड्डुगई ।
दिट्ठंतलाउएणं, एरंडफलाइएहि च ॥
७०. अमओ य होइ जीवो, कारणविरहा जहेव आगासं ।
समयं च होयऽनिच्चं, मिम्मयघडतंतुमाईयं ॥
७१. साफलदारमहुणा निच्चानिच्चपरिणामिजीवम्मि ।
होइ तयं कम्माणं, इहरेगसभावओऽजुत्तं ॥
- ७१।१. जीवस्स उ परिमाणं, वित्थरओ जाव लोगमेत्तं तु ।
ओगाहणा य सुहुमा, तस्स पएसा असंखेज्जा ॥
- ७१।२. पत्थेण व कुडवेण व, जह कोइ मिणेज्ज सव्वघत्ताइं ।
एवं मविज्जमाणा, हवति लोगा अणंता उ^१ ॥
७२. विद्धत्थाविद्धत्था, जोणी जीवाण होइ नायत्वा ।
तत्थ अविद्धत्थाए, वुक्कमई सो य अन्नो वा ॥
७३. जो पुण मूले जीवो, सो निव्वत्तेति जा पढमपत्तं ।
कंदाइ जाव बीयं, सेसं अन्ने पकुव्वति ॥
- ७३।१. सेसं सुत्तप्पासं, काए काए अहक्कमं ब्रूया ।
अज्झयणत्था पंच य, पगरणपयवज्जणदिसुद्धा^२ ॥

१. ७१।१,२ के लिए देखें टिप्पण दशनि २०९ । २. देखें टिप्पण दशनि २१६ ।

७४. मूलगुणा वक्ष्याया, उत्तरगुणवसरेण आयायं ।
पिडज्झयणमियणि, निक्खेवे नामनिप्फन्ने ॥
७५. पिडो य एसणा या, दुपयं नामं तु तस्स नायब्बं ।
चउचउतिक्खेवेहि, परूवणा तस्स कायब्बा^१ ॥
७६. पिडि संधाए जम्हा, ते उइया संहया य संसारे ।
संधातयंति जीवं, कम्मेणट्ठप्पगारेण ॥
७७. दब्बेसणा उ तिविहा, सच्चित्ताचित्तमीसदब्बाणं ।
दुपयचउप्पयअपया, नरगयकरिसावणदुभाणं ॥
७८. भावेसणा उ दुविहा, पसत्थ अपसत्थगा य नायब्बा ।
नाणाईण पसत्था, अपसत्था कोहमादीणं ॥
७९. भावस्सुवगारित्ता, एत्थं दब्बेसणाइ अहिगारो ।
तीइ पुण अत्थजुत्तो, वत्तब्बा पिडनिज्जुत्तो^२ ॥
८०. सा नवहा दुह कीरइ, उग्गमकोडी विसोहिकोडी अ ।
छसु पढमा ओयरइ, कीयतियम्मी विसोही उ^३ ॥
- ८०।१. कोडीकरणं दुविहं, उग्गमकोडी विसोधिकोडी य ।
उग्गमकोडी छक्कं, विसोधिकोडी भवे सेसा^४ ॥
८१. कम्मुहेसियवरिमतिग, पूइयं मीसचरिमपाहुडिआ ।
अज्झोयर अविसोही, विसोहिकोडी भवे सेसा^५ ॥
८२. अधिगारो पुव्वुत्तो, चतुव्विहो वितियचूलियज्झयणे ।
सेसाणं दाराणं, अहक्कमं धोसणा होति^६ ॥

१. देखें टिप्पण दशनि २१७।१ ।

२. ७६-७९ के लिए देखें टिप्पण दशनि २१८।१-४ ।

३. देखें टिप्पण दशनि २१९।१ ।

४. देखें टिप्पण दशनि २२० ।

५. देखें टिप्पण दशनि २२०।१ ।

६. देखें टिप्पण दशनि ३४५ ।

उत्तराध्ययन भाष्य

उत्तराध्ययन पर कोई भाष्य उपलब्ध नहीं है। केवल सुल्लक निग्नन्धीय अध्ययन के प्रसंग में निग्नन्धी एवं उसके भेदों की व्याख्या हेतु कुछ भाष्य गाथाएं प्राप्त होती हैं। ये भाष्य गाथाएं किसके द्वारा लिखी गयीं इसकी कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती है। संभव लगता है कि व्याख्या के प्रसंग में अन्य भाष्य गाथाओं से ये गाथाएं यहाँ उद्धृत कर दी गयी हों।

हस्त आदर्शों एवं शान्त्याचार्य की टीका में प्रकाशित भाष्य गाथाओं के क्रम में थोड़ा अन्तर है। हमने हस्त आदर्शों के आधार पर गाथाओं का क्रम रखा है। उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य की प्रकाशित टीका में २५७-५९ इन तीन पन्नों में ये गाथाएं मिलती हैं।

१. पुलाग-बकुस-कुसीला, निग्नन्धी-सिणायगा य णायव्वा ।
एएसि पंचण्ह वि, होइ विभासा इमा कमसो ॥
२. होइ पुलागो दुविहो, लद्धिपुलागो तहेव ह्यरो य ।
लद्धिपुलागो संघाइकज्ज इतरो तु पंचविहो ॥
३. णाणे दंसण चरणे, लिगे अहासुहुमगे य बोधव्वे ।
णाणे दंसण चरणे, तेसि तु विराहण असारो ॥
४. लिगपुलागो अन्नं, णिवकारणतो करेति जो लिगं ।
मणसा अकप्पियार्ह, णिसेवओ होतऽहासुहुमो ॥
५. सारीरं उवकरणे, बाउसियत्तं दुहा समवखायं ।
सुविकलवत्थाणि धरे, देसे य सब्बसरीरम्मि ॥
६. आभोगमणाभोगे, संवुडमसंवुडे अहासुहुमे ।
दुविहो उ बाउसो खलु, पंचविहो होति णायव्वो ॥
७. आभोगो जाणंतो, करेति दोसं तहा अणाभोगो ।
मूलुत्तरेहि संवुड, विवरीय असंवुडो होति ॥
८. अन्धिमुहमज्जमाणो, होइ अहासुहुमओ तहा बउसो ।
पडिसेवणाकसाए, होइ कुसीलो दुहा एसो ॥

१. इस गाथा से पहले शान्त्याचार्य की मुद्रित टीका में निम्न गाथा अतिरिक्त मिलती है—

तत्थ निग्नंठ पुलातो, बकुस कुसीलो निग्नंठ पहातो य ।

तत्थ पुलाओ दुविहो, आसेवण लद्धितो वेव ॥

९. णाणे दंसण चरणे, तवे य अहसुहुमए य बोधव्वे ।
पडिसेवणाकुसीलो, पंचविहो ऊ मुणेयव्वो ॥
१०. णाणादी उवजीवति, अहसुहुमो अह इमो मुणेयव्वो ।
सातिज्जंतो रागं, गच्छति एसो तवच्चरणी ॥
११. एमेव कसायम्मि वि, पंचविहो होइ ऊ कुसीलो उ ।
कोहेण विज्जादी, पउजए एव माणादी ॥
१२. एमेव दंसणम्मि वि, साव पुण देति ऊ चरित्तम्मि ।
मणसा कोहादीणि उ, करेति अह सो अहासुहुमो ॥
१३. पढमग अपढम चरिमा, अचरिमो सुहुमो य होइ णायव्वो ।
णिग्गंथे पंचविहो, सिणाए पुण केवली भणिता ॥
१४. पढमापढमा चरिमे, अचरिमसुहुमे य होति णिग्गंथे ।
अच्छावे अस्सबले या, अकम्मसंसुद्ध अरहजिणो ॥
१५. निग्गयगंथ णियंठो, अंतमुहुत्तं दुहा मुणेयव्वो ।
उवसंतकसायो वा, खीणकसायो य पंचविहो ॥
१६. अंतो मुहुत्तद्धाए, पढमेयरचरिम अचरिम णियंठो ।
समएसु अहासुहुमो, णायव्वो संपराएसु ॥
१७. ण्हाओ एवकं समयं, चउक्कम विसुद्धण्हायगो होइ ।
अत्थ वि सयलअकम्मे, णाणादिविसुद्धचरिमजिणो ॥
१८. संजम-सुय-पडिसेवण, तिस्से लिगे य लेस उववाए ।
थाणं च पतिविसेसो, पुलागादीण तु जोएज्जा ॥
१९. पुलागबकुसकुसीला, सामाइय-छेयसंजमा होति ।
होति कसायकुसीलो, परिहारे सुहुमरागे य ॥
२०. णिग्गंथो य सिणाओ, अहखाए संजमे मुणेयव्वो ।
दसपुव्वधरुक्कोसा, पडिसेवपुलायवउसा य ॥
२१. चोइसपुव्वधरादी, कसायणियंठा य होति णायव्वो ।
अवगयसुतो उ केवलि, भूलगुणासेवओ पुलओ ॥
२२. चित्तलवत्थासेवी, बलाभिओगेण सो भवे वउसो ।
भूलगुण उत्तरगुणे, सरीरवउसो मुणेयव्वो ॥

२३. ण्हाय कसायकुसीले, निग्गंधाणं च तत्थि पडिसेवा ।
सब्बेसुं तित्थेसुं, होति पुलागादि य णियंठा ॥
२४. लिगे उ भावल्लिग, सब्बेसि दब्बल्लिग भयणिज्जा ।
लेसाउ पुलागस्स य, उवरिल्लातो भवे तिण्णि ॥
२५. बकुसपडिसेवगाणं, सब्बा लेसाउ होति णायब्बा ।
परिहारविसुद्धीणं, तिण्हुवरिल्ला कसाए उ ॥
२६. णिग्गंधसुद्धमरागे, सुक्का लेसा तहा सिणाएसुं ।
सेलेसि पडिवण्णो, लेसातीए भुण्येयब्बो ॥
२७. सहस्सार-अञ्जुतम्मि, अणुत्तराणुत्तरे य भोक्खम्मि ।
उक्कोसेणं हीणा, सोहम्म नव उ पल्लाओ ॥
२८. संजमठाणाणि य संखासंखादीणि होति जीवस्स ।
जणियाणि कसाएहि, पुलगकसादीणि वोच्छामि^१ ॥
२९. पुलागस्स सहस्सारे, सेवगबउसाण अञ्जुए कप्पे ।
सकसायणियंठाणं, सब्बद्वे ण्हायगो सिद्धो ॥
३०. पुलागकुसीलाणं, सब्बजहण्णाहं होति ठाणाहं ।
वोलीणेहि असंखेहि, होइ पुलागस्स वोच्छत्ती ॥
३१. कसायकुसीलो उवरि, असंखिज्जाहं तु तत्थ ठाणाहं ।
पडिसेवणवउसे वा, कसायकुसीलो तओऽसंखा ॥
३२. वोच्छिण्णे ऊ वउसो, उवरि पडिसेवणाकसाओ य ।
गंतुमसंखिज्जाहं, छिज्जइ पडिसेवणकुसीलो ॥
३३. उवरि गंतुं छिज्जति, कसायसेवी ततो हु सो णियमा ।
उद्धं एगट्ठाणं, णिग्गंधसिणायगाणं तु ॥
३४. उक्कोसतो नियंठो, जहन्नओ चेव होइ णायब्बो ।
अजहन्नमणुक्कोसो, होति नियंठा असंखेज्जा ॥

१. २७, २८ और ३४ में तीन गायार्णं मुद्रित टीका में नहीं हैं ।

पदानुक्रम

अ

अइसेस इडिहयायरिस
अंग दस भाग भेदे
अंगप्पववा जिणभासिया
अंगाणं कि सारो
अंतगमफिप्फिसाणि य
अंतोमुहुत्तमद्धं
अंतो सादीयाओ
अंबट्ठुग-निसाया
अंने अंबरिसी चेव
अकुसलजोगतिराहो
अक्खरगुण मत्तिसंघातणाए
अक्खीणं दिज्जंतं
अक्खेवणि अक्खित्तं
अगणी णिव्वावणे चेव
अगणेतो निक्खंतो
अगबिय मूलवीया
अग्निम्मि हवी हूयइ
अक्षिरुगतए य सूरिए
अच्चित्तं पुण विरियं
अच्चित्तमीसगेसुं
अचिइदियसोवहिणो
अजीवकम्मनोदव्व.....
अजीवपयोगकरणं
अज्जहएण भोसाल
अज्जम्पस्साणयणं
अज्जयणगुणी भिक्खू
अज्जयणे निक्खेवो
अट्टपदेसो रुयगो
अट्टमए य विमोक्खो
अट्टविधं कम्मचयं
अट्टविधं पि य कम्मं

दशानि १५७।१
उनि १५८
उनि ४
आनि १६
सूनि ७१
सूनि १७७
आनि ४५
आनि २२
सूनि ६६
दनि ३३।१
सूनि २०
उनि २८।४
दशानि १७८
उनि ४५०
सूनि १९६
आनि १३०
दशानि ९५।१
उनि १३५
सूनि ९२
सूनि १५२
दशानि १२३।७
उनि ५३२
उनि १८७
सूनि १९१
दशानि २६, उनि ६
दशानि ३२५
उनि ५३८
आनि ४२
आनि ३२
दशानि २९४
दनि १२३

अट्टविहं कम्मरयं
अट्टविहकम्ममहणस्स
अट्टविहकम्मलाखा
अट्टविहकम्मरोगा.....
अट्टसु वि समितीसु य
अट्टारस उ सहस्सा
अट्टारसठाणाइं
अट्टावयमुज्जिते
अट्टी अट्टा सरीरम्मि
अणगारवादिणो पुढवि
अणगारे निक्खेवो
अणभिग्गहिता भासा
अणसणमूणोयरिया
अणसात्तणा य भत्ती
अणिएयं पतिरिक्कं
अणियदियगुणं जीवं
अणिगूहितबलविरियो
अणिक्खे वव्वए रुप्पे
अणुपुव्विगमादेसो
अणुपुव्विविहारीणं
अणुसमयं च पवेसो
अणुसमयनिरंतरमवीचि
अतसि-हरिमंथ तिपुड्ग
अतिरित्तअधिगमासा
अतिसेसे उप्पन्ने
अत्तउवन्नासम्मि य
अत्थकहा कामकहा
अत्थबहुलं महत्थं
अत्थमहंती वि कहा
अत्थि ति जा वितक्का
अत्थि ति किरियवादी
अत्थि बहू नाम-नगरा
अत्थि बहू वणसंडा

दशानि ३०, २८०, उनि ११
उनि २८०
आनि १८८
दशानि ३४२
उनि ४५६
दशानि १५१।१
दशानि २४३
आनि ३५४
आनि ८५
आनि १००, सूनि ८९।१
उनि ५४१
दशानि २५३
दशानि ४४
दशानि ३०३
दशानि ३४७
दशानि २०५
दशानि १६१
आनि ३६४
आनि २८६
आनि २७५
आनि ९०
उनि २०८
दशानि २३०
दशानि ३३६
उनि २५२
दशानि ७९
दशानि १६२
दशानि १५०
दशानि १८७
दशानि ७३
सूनि ११८
दशानि १०२
दशानि ९७

अहपुरे अहसुतो
अध ओवयारिओ पुण
अधिगम्मंति व अत्था

अधिगारो पुब्बुत्तो
अन्नं पि य सि नामं
अन्नावदेसओ नाहियवाई
अन्तो वि य अणगारो
अपद्धिकम सोहम्मं
अपरककममादेसो

अपासत्थाएँ अकुसीलयाए
अपुहत्तपुहत्ताई
अप्पिणह तं बइल्लं
अप्फासुय-कय-कारित
अप्फासुयपडिसेवी

अब्भासवत्ति छंदाणुवत्तणं
अब्भितरगा खुभिता

अब्भुद्धानं अंजलि
अब्भुवगतगतवेरे
अभयं तुज्झं सरवती

अभयकरो जीवाणं
अभिपेतमणभिपेतो
अभिलावे संजोगो
अयलपुरे जुवराया
अरती अचेल इत्थी

अरतीइ दुगुंछाए
अरहंत चक्कवट्टी
अरहंत मग्गगामी

अवणेति तवेण तमं
अववाली उत्तमओ
अवराधम्मि पतणुए

अवहंत गांण मए
अवि भमरमघुकरगणा
अवि य ह्म भारियकम्मा

अविरयमरणं बालमरणं
अविमुद्धभावलेसा
अव्वोगडो उ भणिओ

असंजतोहि भमरेहि

सूनि १८८

दशनि २९६

उनि ७, २७,

दशनि २७

दशनि ३४५

दशनि १४१

दशनि ७६

उनि १०६

दनि १११

आनि २८४

दनि १४३

दशनि ४

दनि ९४

दशनि ९१

सूनि ८९

दशनि २८९

उनि १३३

दशनि २८८, २९८

दनि ११३

उनि ३९५

आनि २०७

उनि ४३

उनि ४५

उनि ९९

उनि ७६

उनि ७७

सूनि १४९

दशनि १२३।९

दशनि २९५

उनि ४८४

दनि १३

दनि १०५

दशनि ११४

सूनि १६१

उनि २१६

उनि ५३६

आनि ३१२

दशनि ११५

असमणुणस्स विमोक्खो

असमाहि म सबलत्तं

असिपत्ते घणुं कुंभे

असिवादिकारणेहि

असिखे ओमोयरिए

असि-सत्ति-कोत-तोमर

असीतिसयं किरियाणं

असुंभे दुहाणुबंधे

अह अन्नया कयाई

अह आगतो सपरिसो

अह आसगतो राया

अह एगराइयाए

अह कीस पुण गिहत्था

अह केसरमुज्जाणे

अह तस्स पिमा पत्ति

अह दव्वसम्म इच्छा

अह देहति रायसुतो

अह पेच्छइ रायपहे

अह पोंडरीयनामं

अह भणई अणगारो

अह भणई जयधोसं

अह भणति सन्निनाणी

अह मोणमस्सितो सो

अह ऊविणीएँ सहिओ

अहवा वि इमो हेऊ

अहवा वि दुप्पणिहिंदियो

अहवा वि नाण-दंसण

अह सा सत्थाहसुया

अहियासिसुवसग्गे

आ

आइक्खिउं विभइउं

आई मउक्खसाणे

आउज्ज कट्टकम्मे

आउट्टिम उक्किणं

आउरविण्णाइँ एयाइँ

आउविवाग्गसयणाणि

आउस्स वि दाराइँ

आनि २७१

दनि ८

सूनि ६७

दनि ६७

दनि ७५

सूनि ७२

सूनि ११९

दनि १२६

उनि ४०६, ४२६, ४३३, ४६२

उनि २८५

उनि ३९१

उनि ४६८

दशनि १०१

उनि ३९०

उनि ४३१

आनि २१८

उनि ४०८

उनि ४०७

उनि २८६

उनि ४७२

उनि ४७०

उनि ४३४

उनि ३९३

उनि ४३२

दशनि ८३

दशनि २७४।१

सूनि १५७

उनि ४२८

आनि २५२

आनि ३१५

दशनि २

आनि १४७

दशनि १४३

उनि २४२।१

दनि २

आनि १०६

आगमतो उवउसे
 आगमतो पूण आदी
 आगम-नौआगमतो
 आणधअंसुपासं
 आदाणपएणाअंति
 आदाणपदेणाऽऽधं
 आदाणिय संकलिया
 आदाणे गहणम्मि य
 आदाणे परिभोमे
 आविद्धो आदेसंसि
 आदेसो पुण दुविधो
 आभरण-स्त्रायणाऽऽदेसगाण
 आभरणि आणवणी
 आय-परसरीरगया
 आयप्पवायपुब्बा
 आयरिओ तारिसओ
 आयरिओ पुण दुविधो
 आयरियपरपरएण
 आयरिय-सीस पुत्तो
 आयाणपदेणेदं
 आयाण अंग सुयखंघ
 आयाणगाणत्थो
 आयाणपक्खो पुण
 आयाणम्मि अघीते
 आयाणम्मि अहीए
 आयाण सुतं भणियं
 आयाणस्स भगवतो
 आयाणे अंगम्मि य
 आयाणे निक्खेवो
 आयाणे बायाला
 आयाणे बवहारे
 आयाणे अंगाणं
 आयाणे आचालो
 आरंभे रसगिद्धी
 आराहणी उ दब्बे
 आलंबणे य काले
 आसस्स-मोह-ऽवण्णा

दशनि ३१६
 सूनि १३६
 सूनि १३५
 दशनि ३४९
 आनि २३९
 सूनि १०३
 सूनि २८
 सूनि १३२
 दशनि १९९
 उनि ४८
 उनि ५०
 उनि ५३३
 दशनि २५२
 दशनि १७२
 दशनि १५
 उनि ५९
 सूनि १३०
 सूनि १२५
 उनि ५८
 उनि ४९८
 आनि २
 आनि १२
 आनि ३११
 दनि २७
 आनि १०
 सूनि १८३
 आनि ३६६
 आनि ५
 उनि ४७९
 दनि ४७
 दशनि १६७
 आनि ९
 आनि ७
 उनि २४२
 दशनि २४८
 आनि ३३१
 उनि १६३

आलेवण पहरण भूसणे
 आवरणे कवचादी
 आवीचि ओहि अंतिय
 आसंदी य अकरणं
 आसावपुण्णिभाए
 आसायणा उ दुविहा
 आसेवणाय दुविधो
 आहरणं तदेसे
 आहार-उवहि-पूया
 आहार-भय-परिग्गह
 आहारे उवकरणे
 आहारेण विरहिओ

इ

इंगाल-अगणि-अच्ची
 इंदमेयी जम्मा
 इंदपुरे रुद्धपुरे
 इंदियलद्धी निव्वत्तणा
 इंदिय-विसय-कसाया
 इच्छादि साममेसुं
 इच्छा पसत्थमपसत्थिगा
 इच्छा मिच्छा तहक्कारो
 इड्ढि-रस-सात गुरुगा
 इड्ढीए निकखंतो
 इतरेतरसंजोगो
 इत्थं पुण अधिगारो
 इत्थिकहा भत्तकहा
 इत्थीण कहत्थ वट्ठती
 इत्थीपरिग्गहाओ
 इत्थीरयण पुरोहिम
 इत्थीसक्कारपरीसहो
 इमं च एरिसं तं च
 इय सत्तरी जहण्णा
 इरि-एसण-आसाणं

ई

ईसर-तलवर-भाडंविमाण
 उक्कल-कलिंग मोतम
 उक्कलिया मंडलिया

उ

आनि ९३
 सूनि ९३
 उनि २०५
 आनि २६३
 दनि ६४
 दनि १५
 सूनि १२९
 दशनि ६९
 आनि २२५
 आनि ३९
 आनि १४६
 आनि २९३
 आनि ११८
 आनि ४३
 उनि ३४४
 उनि १६२
 दशनि १५१
 उनि ४८१
 दशनि १३९
 उनि ४७८।१
 सूनि ११३
 उनि ४१५
 उनि ३५
 उनि २२९
 दशनि १८०
 उनि ३२१
 दशनि ३१५।१
 उनि ३४८
 आनि २०३
 उनि १२२
 दनि ६९
 दनि ८९
 उनि ३०८
 आनि ३२३
 आनि १६६

उक्कोसो उ नियंठो
 उग्गमदोसा पढमिल्लुगम्मि
 उग्गेणं खत्ताए
 उच्चवद्द सरीराओ
 उच्चार-पासवण-खेलमत्तए
 उच्छाहपालणाए
 उज्जम-धिति-धीरत्तं
 उज्जाणे तिदुगम्मि
 उज्जेणि कालखमणा
 उज्जेणि हत्थिमित्तो
 उज्जेणी क्षणमित्तो
 उद्धमहे तिरियम्मि य
 उण्णियवासाकप्पो
 उत्तरकरणेण कयं
 उत्तरज्जयणाणेसो
 उदएण समुप्पज्जइ
 उदगहं सारद्धं
 उदगसरिच्छा पक्खेण
 उद्धिक्कडं भुज्जति
 उद्देसम्मि चउत्थे
 उद्देसम्मि य तत्तिए
 उद्देसो गुरुवयणं
 उन्नंदमाणहिथओ
 उप्पन्न-विगत-मीसग
 उब्भामिगा य महिला
 उभओ वि अद्धजोयण
 उरग-गिरि-जलण-सागर
 उरभाउणामगोयं
 उरुसो सुक्को य दो छूढा
 उवओग-जोग-अज्जवसाणे
 उवकमिए संजमविग्घकारए
 उवमा खलु एस कता
 उवमा पोंडरीएण
 उवयारेण उ पगयं
 उवलम्भम्मि मिगावद्द
 उवसंपया य काले
 उवसंहारविमुद्धी

उनि २३३
 आनि ३२६
 आनि २६
 आनि ३४४
 दनि ८५
 आनि ३६३
 सूनि ९६
 उनि ३२०
 उनि १२०
 उनि ९०
 उनि ९१
 दनि ७७
 दनि ११८
 उनि १७६
 उनि २७
 दशनि ३३९
 सूनि १८६
 दनि १०२
 दशनि ३३२
 आनि १९९, २१६, २७३
 सूनि ३७
 उनि ८७
 उनि ४०५
 दशनि २५१
 दशनि ८४
 दनि ७६
 दशनि १३२
 उनि २४०
 आनि २३३
 आनि ८४, १५७
 सूनि ४९
 दशनि ११६
 सूनि १५९
 आनि ३०६
 दशनि ७२
 उनि ४७८, २
 दशनि १२०, १

उवसंहारो देवा
 उवसंहारो भमरा
 उवसगभीरणो थोवसस्स
 उवसगम्मि य छक्कं
 उवसग्गा सम्माणय
 उवसगपुरं रायगिहं
 उवसस्स भरहपिउणो
 उवुयारनामगोयं
 उवुयारपुरे नगरे
 उवुयारे निक्खेवो
 उस्सिचण-गावण-धोवणे

ऊ

ऊणातिरित्तमासा
 ऊणातिरित्तमासे
 ऊहाए पण्णत्तं

ए

एए पंच वयंसा
 एए समणा धुत्ता
 एएहि कारणेहि
 एएहि सरीरेहि
 एक्कं च दो व समए
 एक्कारस ति ति दो दो
 एक्केक्को य चउविहो
 एगंतपसरथा तिण्णि
 एगंतरिए इणमो
 एगवइल्ला भंडी
 एगभविए य बद्धाउए
 एगभविय बद्धाउगे य
 एगमुकंदा तुरं
 एगरस-एगवणो
 एगविहो पुण सो संजमो
 एगस्स उ जं गहणं
 एगस्स खीरभोयण
 एगस्स दोण्ह तिण्ह व
 एगा मणुस्सजार्ह
 एगिदिय देवाणं
 एगुणतीसे आवस्सग

दशनि ८८
 दशनि ११९
 सूनि २५
 सूनि ४७
 आनि २५१
 उनि १०१
 उनि २८१
 उनि ३५५
 उनि ३६०
 उनि ३५३
 आनि ११३

दनि ६३

दनि ५९

उनि १७२, १४

उनि ३२९

उनि ३६४

आनि ९४, ११२, १२२

आनि ८३, १३५

सूनि १७५, १७६

आनि ३६८

सूनि ५०

उनि २२८

आनि २३

दनि. ९३

सूनि १४६

सूनि १८७

उनि १५२

उनि ३३

आनि ३१३

आनि १३७

उनि २९३

आनि ८२, १४२, १४३

आनि १९

सूनि १७४

उनि २५

एगो कामो दुहा जातो
 एतं ससत्त्वमरणं
 एतस्स उ पडिसेधो
 एताइं तु खुहाइं
 एताइं पावाइं
 एता चेव कहाओ
 एतासि चेव अट्ठण्ह
 एते चेव य दोसा
 एतेहि कारणेहि
 एत्तो उत्तरकरणं
 एत्तो गुरु आसायण
 एत्थं पुण अधिकारो
 एत्थं पुण अधिगारो
 एत्थ तु अणभिग्गहिं
 एत्थ तु पणनं पणनं
 एत्थ य भण्णेज्ज कोट्ठं
 एत्थ य सहसम्मसुद्धय
 एत्थ समणा सुविहिया
 एमेव ओहिमरणं
 एमेव कामविणओ
 एमेव कलविगण्णो
 एमेव संभकेयण
 एमेव भावसुद्धी
 एयं ण्हाणं एयं
 एयं विद्याणिऊणं
 एयाइं पणवेउं
 एयासि लेसाणं
 एवं चित्तयंतस्स
 एवं तु अवयवाणं
 एवं तु इहं आया
 एवं तु समणुच्चिणं
 एवं तु सुयसमाधि
 एवं नाणे चरणे
 एवं भमराहरणे
 एवं लागति दुम्मेहा
 एवं विकप्पियाणं
 एवं सज्ज जीवस्स वि
 एत्तणमणेसणिज्जं

दशनि २११।१
 उनि २१३
 सूनि १८४
 उनि ३७२
 उनि ३८४
 दशनि १८१
 आनि ११
 सूनि ६१
 उनि १६४, आनि १४८
 उनि १८५
 दनि १२८
 दशनि २१२
 सूनि १५८
 दनि ६६
 दनि ६८
 दशनि ९४
 आनि ६५
 दशनि १०४
 उनि २०९
 दशनि २९०
 दशनि ५७
 दनि १०४
 दशनि २६२
 उनि १४८
 आनि १०४
 दशनि ६
 उनि ५४०
 उनि ४०९
 दशनि १२३।५
 दशनि ५९
 आनि ३०४
 दनि ४८
 उनि ६०
 दशनि ९३
 आनि २३४
 आनि ५५
 दशनि ६१, ६२
 उनि ८१

एसा उ हणह कंहुं
 एसेव य उवदेसो
 एसो दुविहो पणिघी
 एसो भे परिकहितो

ओवे सीलं विरती
 ओदइय ओदइयिण
 ओदइयं उवदिट्ठा
 ओदइयादीयाणं
 ओघाविउकामोऽवि य
 ओधि च आइयंतिय
 ओधुणण घुणण नासण
 ओयाहारा जीवा
 ओरुभे य कागिणी
 ओवसमिण य खइए
 ओसहि तण सेवाले
 ओसिर-हिरिबेराणं
 ओहतहते य निहते
 ओहो अं सामन्नं

कंचुग पज्जुणम्मि य
 कंइ अमत्त छंदो
 कंतारे दुविभवसे
 कंदादी सच्चित्तो
 कंपिल्लं गिरित्ठग
 कंपिल्लपुरवरम्मि
 कंपिल्लपुराहिं वई
 कंपिल्ले मलयवती
 कंसाणं दूसाणं
 कडगासणपरिभोगो
 कडगे ते कुंडले य ते
 कण्णोदु-नास-कर-चरण
 कत्तो कस्स व दब्बे
 कत्थइ पंचावयवं
 कत्थइ पुच्छति सीसो
 कप्पंति करकएहि
 कप्पंति कागिणी मंसगाणि
 कप्पणि कुहाडि असियण

ओ

उनि १५०
 आनि २१४
 दशनि २७८
 दशनि ३०१
 सूनि ८७
 उनि ४९, ५६, सूनि १५६
 आनि १८४
 दनि ५६
 उनि १२३
 उनि २२३
 आनि ३०३
 सूनि १७३
 उनि २४१
 उनि ५१
 आनि ८१
 उनि १४७
 सूनि ६९
 दशनि २५।१, उनि २८।१

क

उनि ३५२
 उनि ८५
 दशनि १००
 उनि २९१
 उनि ३३६
 उनि ३८८
 उनि ३९४
 उनि ३३४
 सूनि १५१
 आनि २५८
 उनि १३९
 सूनि ७७
 उनि ६९
 दशनि ४७
 दशनि ३५
 सूनि ८१
 सूनि ७५
 आनि १४९

कमउत्तरेण पगतं	उनि ३	किंची सकायसरथं	आनि ९६, ११४, १२४,
कम्मगसरीरकरणं	उनि १९७		१५०, १७१, दशनि २१४
कम्मप्पगडी लेसा	उनि १७	किं दुब्बिक्खं जायइ	दशनि ९५।२
कम्मप्पवायगुब्बे	उनि ७०	किं पुण अवसेसेहि	आनि २९८
कम्मम्मि य निक्खेवो	उनि ५२२	किण्हचउइसिरत्ति	उनि १९२
कम्मयदव्वेहि समं	आनि २७९	कितिकम्मं भावकम्मं	आनि १९४
कम्मुद्देमिय चरिम तिग	दशनि २२०।१	किन्नु गिही रंघंती	दशनि ९९
कम्मे य किलिसे य	दनि १२५	किरियाओ भणियाओ	सूनि १६६
करकंडू कलिंसेसु	उनि २५७	किह मे होज्ज अवंभो	आनि ३६२
करणं च कारगो या	सूनि ४	कुंभीसु य पयणेसु य	सूनि ७८
करणलिए जोगतिए	दशनि ३१५	कुक्कुडरव तिलपत्ते	उनि ३५१
कविलालणामगोत्तं	उनि २४५	कुणमाणो वि निविंत्ति	आनि २२१
कविलो निच्चियपरिवेसियाइ	उनि २४७	कुणमाणो वि य किरियं	आनि २२०
कस्सइ बुद्धी एसा	दशनि ९६।१	कुप्पवयणं कुधम्मं	दनि ३६
कह नाम सो तवोकम्म	आनि २९२	कुमारए नदी लेणे	उनि ८८
कहिऊण ससमयं तो	दशनि १६९	कुसुमे सभावपुष्के	दशनि ११८
कहिया जिणेहि लांगो	दनि १२७	केई वहुंति अट्टा	आनि १६२
काइमभूमी मंघारए य	दनि ७२	केई सयं वघ्नेति	आनि १०१
काऊण तवच्चरणं	उनि ३९८, ४३६	केणं ति नत्थि आया	दशनि ७५
काऊण मसकप्पं	दनि ६०, ७०	केवलपरिसं तत्तो	उनि २९४
काऊण य सामणं	उनि ३५७	केसिचि नाणसण्णा	आनि ६३
काऊण समणरूवं	उनि ३६१	कोडि पि देमि अज्जे ति	उनि २५०
काम असंजतस्सा	दनि १३३	कोडीकरणं दुबिहं	दशनि २२०
कामं तु निरवसेसं	दनि ४०	कोघे माणे माया	दशनि २५०, उनि २३५
कामं तु सव्वकाल	दनि ९०	कोत्तलयरे वत्थव्वो	उनि १०७
कामं तु सासतमिणं	सूनि ४१	को वेदेई अकयं ?	सूनि ३४
कामं दुवालसंगं	सूनि १८९, दनि ३८	कोसंबि कासवजसा	उनि २४६
कामाण तु णिक्खेवो	उनि २००	कोसंबीए सेट्ठी	उनि १००
कामो चउवीसतिविहो	दशनि २३६	कोसंबी जण्णदत्तो	उनि १०९
कायं वायं च मणं च	दशनि १२१	कोहं माणं मायं	दशनि २७५
कारणओ उडुगहिते	दनि ८४		
कारणविभास कारणविणास	दशनि २०६		
कासे विणए बहुमाणे	दशनि १५८		
कालो जो जावइओ	उनि १८९, सूनि १०		
कालो य नालियाइहि	दशनि ५८	खंतस्स दंतस्स जिहंदियस्स	आनि २३२
कालो समयादीओ	दनि ५८	खंती य मदवज्जव	दशनि २२५, ३२४
किच दुमा पुप्फंती	दशनि ९६	खंधेसु य दुपवेसादिएसु	उनि १८१, सूनि ८

खडाऽऽदानिय गेहे
खवगे य खीणमोहे
खुट्टुग पायसभासं
खेत्तं कालं पुरिसं
खेत्तं तु जम्मि खेत्ते
खेत्तं-वत्थू धण-धम्म
खेत्तम्मि अवक्कमणं
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते
खेत्ते काले य तद्वा
खेत्ते बहुओघमयं
खेमेणं संपत्तो

ग

गंगाए दोकिरिया
गंडी गली मराली
गंधो पुब्बुद्धिटो
गंधंगमोसधंगं
गंधारगिरी देवम
गज्जं पज्जं गेयं
गणणाए रज्जू खलु
गणसंगह्वगहकारओ
गणियं निमित्तं जुत्ती
गणियाघरम्मि एक्को
गम्भ-पसु-देस-रज्जे
गह्णं नदीकुडंगं
गह्णुगहम्मि अपरिग्गहस्स
गामे वसंतपुरए
गारवपंकनिबुद्धा
गावी महिती उट्टी
गाहावति संजोगे
गाहावितो तिबिधो
गाहोक्ता य अत्था
गिद्धादिभक्खणं गिद्धपिट्ठ
गिहिणो विसयारंभग
गुणमाहण्वं इसिनाम
गुणित्ठगतिस्से या
गुत्ता गुत्तीहि सव्वाहि
गूढसिरागं पत्तं

दनि ९९
आनि २२४
आनि २२८
दशनि १८८
आनि २४७
उनि २३६
दशनि ५२
सूनि १०९
उनि ४७
सूनि ४८
उनि ४२९

उनि १६९
उनि ६५
सूनि १२७
उनि १४५
दनि ९७
दशनि १४६
सूनि १५५
दनि २८
आनि ३५५
उनि १०३
दशनि ३९
उनि ३४२
आनि ३४२
सूनि १९२
उनि २१२
दशनि २३४
आनि २५३
सूनि १३१
सूनि १३९
उनि २१८
दशनि ३१२
आनि ३५६
दशनि १९४
आनि १०५
आनि १४०

गोट्ठगणस्स मज्जे
गोतमकेसीओ या
गोतमनाभागोयं
गोमेज्जए य ह्यगे

वेत्तूण पोंडरीयं

चत्तुक्कणं संकपयं
चउकारणपरिसुद्धं
चउत्थम्मि धुवणविही
चउघा खलु आहरणं
चउवीसं चउवीसं
चउसु कसाएसु गती
चंकमणे य ठाणे
चंदप्पभवेरुल्लिए
चंपाए पुण्णभट्ठम्मि
चंपाए सत्थवाहो
चंपाए सुनंदो नाम
चंपाए सुमणभदो
चंपा कुमार नंदी
चक्कागं भज्जमाणस्स
चतुकारणपरिसुद्धं
चत्तारि उव्वहासे
चत्तारि विचित्ताइ
चरग-महादिमाणं
चरणदिसावज्जाणं
चरणम्मि होति छक्कं
चरणे छक्को दब्बे
चरितं च कप्पितं या
चरिमसरीरो साहू
चरिया य विचित्ता एक्कवीसे
चरिया सेज्जा य परीसहा
चलणं कम्मगई खलु
चाउट्ठिरत्तीए
धारो चरिया चरणं
चित्तं जेयण सण्णा
चित्ते य विज्जुमाला

घ

च

उनि २६०
उनि ४४८
उनि ४४७
आनि ७५
उनि २८८
आनि २४३
आनि ३३२
आनि २५७
दशनि ५०
दशनि २२८
दनि १०४।१
आनि ९२
आनि ७६
उनि २७९
उनि ४२५
उनि ११८
उनि ९४
दनि ९५
आनि १३९
दशनि ३२७
दशनि ८०
आनि २८९
दशनि ३०७।१
आनि ३
आनि २९
उनि ३७७
दशनि ४९
उनि २८३
उनि २३
आनि २९९
दशनि १११
सूनि १३
आनि २४६
दशनि २००
उनि ३३१

चित्ते संभूताउं
चित्ते संभूयम्मि य
चिरसंसट्ठं चिरपरिचियं
चोद्दसवासाहं तदा
चोद्दस सोलस वासा
चोल्लग पासग धन्ते

ख

खजमत्थमरण-केवलि
खक्कं पर एक्केक्कं
खक्काया समितीओ
खज्जीवणिकाए खलु
खज्जीवणिया पडमे
खट्ठमपुब्बेसु
खट्ठम्मि उ उमत्तं
खट्ठं पडिघाओ संजमाओ
खप्पिय जीवणिकाये
खम्मासे खजमरणो
खहि मासेहि अधीतं

ज

जइ ता गिहिणो वि य उज्जमंसि
जइ ताव निज्जरमदो
जइ पगई कीस पुणो
जं किर दब्बं खुज्जं
जं न तवे उज्जुत्ता
जं पडमस्संतिमए
जं पप्प नेगमणओ
जं भणसि नत्थि भावा
जं भत्त-पाण-उवगरण
जं भिक्खमेत्तविसी
जं वक्कं वदमाणस्स
जणवय-सम्मय-ठवणा
जतुघरपासायम्मि य
जत्तो चुओ भवाओ
जत्थ य जं जाणेज्जा
जत्थ य जो पण्णवओ
जत्थ राया सयं चोरो
जदा ते पेत्तिए रज्जे

उनि ३२४
उनि ३२२
उनि २९६
उनि १७२।१
उनि १७१
उनि १६१

उनि २०६
आनि ३४७
दशनि २८५
दशनि १९०
आनि १५
दनि १८
आनि २७४
आनि २६१
आनि २२७
उनि २५१
दशनि ३४८

दनि ४४
सूनि ४४
दशनि ९७।१
उनि ४८५
दशनि १२२
सूनि १३३
उनि ८२
दशनि ६७
दशनि ९०
दशनि ३१९
दशनि २६४
दशनि २४९
उनि ३५०
दनि १३२
आनि ४
आनि ५१
उनि १३४
उनि २७०

जदा रज्जं च रट्ठं च
जदि अत्थि पदविहारो
जध गयकुलसंभूतो
जध दाहकम्मकारो
जध नाम आतुरस्सिह
जध नाम मंडलगणे
जध वा विसगंडूसं
जमदग्निजडा हरेणुया
जमह दिया य रातो
जम्मं मतंगतीरे
जम्माभिसेग-निक्खमण
जयघोसा अणगारा
जयमाणस्स परो जं
जया सव्वं परिच्चज्ज
जलचर-थलचर-खहचारिएसु
जलमाल कद्दमालं
जस्स जओ आहच्चो
जस्स पुण दुप्पणिहिताणि
जस्स वि य दुप्पणिहिता
जह एत्थ चेव इरिया.....
जह एसो सहेसुं
जह खलु भुसिरं कट्ठं
जह खलु मलिणं वत्थं
जह जिणसासणनिरया
जह तुब्भे तह अम्हे
जह दीवा दीवसयं
जह दुमगणा उ तह नगर
जह देवस्स सरीरं
जह देहपरीणामो
जह धातु कणगादी
जह नाम गोतमा रज्ज.....
जह नाम सिरिघराओ
जहन्नं सुत्तरं खलु
जह भमरो त्ति य एत्थं
जह मन्ने एतमट्ठं
जह भम न पियं दुक्खं
जह वक्कं तह भासा

उनि २६९
दनि ७१
दनि ३०
दशनि ३११
दशनि ३४१
सूनि ५१
सूनि ५२
उनि १४६
उनि १२७
उनि ३१७
आनि ३५३
उनि ४५९
आनि ३४८
उनि २७१
सूनि १४८
सूनि १६२
आनि ४७
दशनि २७४
दशनि २७६
दशनि १२०
दशनि २७३
आनि २३५
आनि ३०२
दशनि ८९।१
उनि ३०१
दशनि २८, उनि ८
दशनि ११७
आनि १६७
आनि ११९
उनि ३४
सूनि ९०
सूनि ५३
उनि २
दशनि ९२
उनि २९७
दशनि १२९
आनि ३३६

जह वज्रसावो हटिय
जह वा तिलसक्कुलिया
जह सगलसरिसवाण
जह सव्वपायवाण
जह सुत्तं तह अत्थो
जह सुत्त-मत्त-मुच्छिय
जह हत्थिस्स सरीरं
जहा लाभो तहा लोभो
आइं खेत्ताइं खलु
आइं भणियाइं सुत्ते
जाणग पुच्छा पुच्छति
जाणगभवियसरीरा
जाणगसरीरभविण्

दशानि ६०
आनि १३२
आनि १३१
आनि १८७
सुनि १२४
आनि २१३
आनि २१०
उनि २४९
सुनि १५३
दनि २३
उनि २३
उनि ५२६
उनि ६७, २३२, २३९,
२४४, २५४, २७४,
३१२, ३२३, ३५४,
३६८, ३८६, ४००,
४१८, ४३८, ४४६,
४५३, ४५५, ४५८,
४७८, ४८०, ४८३,
४९२, ४९४, ४९६,
५००, ५०२, ५०६,
५१०, ५१२, ५१५,
५३९, ५४२, ५४५,
५४७

जाणगसरीरभवियं
जाणगसरीरभविया
आणति सयं मत्तीए
जाणावरणपहरणे
जाणि भणित्ताणि सुत्ते
जाती आजातीया
जातीपगासण निवेयणं
जा दव्वकम्मलेसा
जायणपरीसहम्मी
जाव वुत्थं सुहं वुत्थं
जावोगगहपडिमाओ
जा ससमएण पुंठि

उनि ५२३
उनि ५३०, ५४९
आनि ६४
उनि १५५
दनि २१, १३७
दनि १३१
उनि ३४७
उनि ५३४
उनि ११५
उनि १३२
आनि ३१७
दशानि १७१

जा ससमयवज्जा खलु
जिणवमणं सिद्धं चेव
जिणवयणपदुदुठे वि ह
जिणवयणम्मि परिणए
जियसंजमो य लोमो
जीवकरणं तु दुविहं
जीवस्स अत्तज्जणितेहि
जीवस्स उ निक्खेवो
जीवस्स उ परिमाणं
जीवाऽजीवाभिगमो
जीवाजीवाभिगमो
जीवाणमजीवाण य
जीवा भवद्वितीए
जीवो छक्कायपरूवणा
जीवो तु दव्वचित्तं
जुत्ती सुवण्णगं पुण
जे अज्झयणे भणित्ता
जे किर गुरुपडिणीया
जे किर चउदसपुंठवी
जे किर भवसिद्धीया
जे जिणवरा अतीता
जेट्ठासाढेसु मासेसु
जेट्ठा सुवसण जमालि
जेण जीवन्ति सत्ताणि
जेण भिक्खं बलिं देमि
जेण य धरति भवगती
जेण रोहन्ति वीमाणि
जेण व जं व पडुन्चा
जेण सुहप्पज्झयणं
जे तिक्खपरीणामा
जे वादरपज्जत्ता
जे वादरे विधाणा
जे भावा अकरणिज्जा
जे भावा दसकालियसुत्ते
जे मंदरस्स पुंठ्वेण
जेसि पि अत्थि आया

दशानि १७०
दशानि ४६
दशानि १२३।३
दशानि २४०।१
आनि ३३
उनि १९५
आनि २८०
दशानि १९३
दशानि २०९
दशानि १८९
दशानि २१७
उनि ५३१
सुनि १५४
आनि ३५
दनि ३३
दशानि ३२९
दशानि ३३०
उनि ४८८
उनि ३१०
उनि ५५२
आनि २२६
उनि १३०
उनि १७२।२
उनि १३१
उनि १२४
दशानि १९७
उनि १२६
दशानि १२
उनि २८।३
आनि २०४
आनि ८६, १०९, १२०, १४५, १६८
आनि ७९
उनि ३८३
दशानि ३०७
आनि ४९
दशानि ७१

જેસિ તુ પમાણ
જે હોંતિ અભવસિદ્ધા
જો હંદકેડં સમલંકિયં તુ
જોગુવઓગ-કસાણ
જોમે કરણે સળા
જો ચૂયસ્વસ્થં તુ મળાભિરામં
જો જેવ હીતિ મોક્ષો
જો અશ્યા તિત્થગરો
જો જીવો ભવિઓ જલુ
જોણિબ્હૂતે વીણ
જો તેસુ ધમ્મસહો
જો પુઢવિ સમારખતે
જો પુઢવં ઉવદિટ્ઠો
જો પુઢવિ ઉદિટ્ઠો
જો ભિક્ષુ ગુણરહિતો
જો સંજતો પમતો
જો સઘિવાહઓ જલુ
જો સો અરિદ્ધનેમી
જો સો નમિતિત્થયરો

ઠ

ઠવણાણ નિક્કલેવો
ઠવણાકમ્મં એકં
ઠિતિ-અણુભાવે સંધણ

ઢ

ઢલચ્છારે લેવે
ઢલ્લભતિ તિવ્વકસાઓ
ઢહરીઓ તુ હમાઓ

ણ

ણાતં આહરણં તિ મ
ણામંગં ઠવણંગં
ણામં ઠવણા દવિણ
ણાયમ્મિ ગિણિહયલ્લે
ણાસો પરીસહાણં
ણિદ્ધસ્સ ણિદ્ધેણ દુહાહિણ
ણાણે પિયણે તહ ધોવણે

ત

તં જ્ઞામન્નધાયં

ઠનિ ૫૨૦

ઠનિ ૫૫૩

ઠનિ ૨૬૨

ઠનિ ૪૨૦

ઢશનિ ૧૫૨

ઠનિ ૨૬૮

આનિ ૩૬૫

આનિ ૨૯૫

સૂનિ ૧૪૫

ઢશનિ ૨૧૫, આનિ ૧૩૮

ઢશનિ ૮૧૩

આનિ ૧૦૨

ઢશનિ ૨૬૯

ઢશનિ ૨૨૨

ઢશનિ ૩૩૧

ઢશનિ ૧૮૪

ઠનિ ૫૨, ૫૪

ઠનિ ૪૪૨

ઠનિ ૨૬૫

ઢનિ ૫૫

ઢશનિ ૬૩

સૂનિ ૧૭

ઢનિ ૮૮

આનિ ૨૦૯

ઢનિ ૫, ૬

ઢશનિ ૪૮

ઠનિ ૧૪૪

ઠનિ ૧૪૨, ૧૪૩

ઢશનિ ૧૨૫, ૩૪૯, ૧

ઠનિ ૬૬

ઠનિ ૪૧, ૧

આનિ ૧૧૧

સૂનિ ૪૬૫

તં કસિણગુણોક્તં

તંતિસમં વણ્ણસમં

તં ન ભવહ જેણ કુમા

તં નેતિ પિતા તીસે

તં પાસિક્કણ હિલ્લં

તં વયણં સોક્કણં

તં સોક્કણ કુમારો

તગરાણ અરહમિત્તો

તઢતઢતઢત્તિ મજ્જંતિ

તણ્ણાણ્ણાકિલ્લં

તતિણ આચારકહા

તતિણ આહાકમ્મં

તતિણ એસો અપરિમ્મહો

તતિણ જલ્લંકભાવો

તતિણ જયંતછલણા

તતિમમ્મિ અંગચેટ્ઠા

તતિયમ્મિ અદાયણમા

તત્તં જીવાજીવા

તત્તો દોષિ દુગુંછં

તત્તો ય વુયા સંતા

તત્થ અકારિ કરિસ્સં

તત્થ અસંપત્તઽસ્થો

તત્થઽજ્ઞમ્મણં પઢમં

તત્થ મ્મવે આસંકા

તત્થહિગારો તુ સુહં

તત્થાહરણં દુવિહં

તમ્હા ઇ સુરનરાણં

તમ્હા કમ્માણીયં

તમ્હા જલ્લંકભાવં

તમ્હા જલ્લુણ્ણમાયં

તમ્હા જિણવણ્ણત્તે

તમ્હા જે અઢમ્મણે

તમ્હા તુ અપ્પસત્થં

તમ્હા દયાદગુણસુદ્ધિણહિ

તમ્હા ધમ્મે રતિકારણાણિ

તમ્હા ન હુ વીસંભો

તવ-સંજમ ગુણધારી

ઢશનિ ૩૨૮

ઢશનિ ૧૪૯

ઢશનિ ૨૬૩

સૂનિ ૧૯૭

ઠનિ ૨૯૨

ઠનિ ૩૬૩

ઠનિ ૩૩૯

ઠનિ ૯૩

સૂનિ ૭૧

ઠનિ ૩૨૬

ઢશનિ ૨૦

સૂનિ ૩૧

આનિ ૨૩૭

આનિ ૨૫૫

આનિ ૩૨૭

આનિ ૨૭૨

આનિ ૩૩૫

આનિ ૩૫૭

ઠનિ ૩૨૭

ઠનિ ૩૫૮

આનિ ૬૭

ઢશનિ ૨૩૭

ઠનિ ૨૮

ઢશનિ ૧૨૩, ૧૦

ઢનિ ૪૩

ઢશનિ ૪૭, ૧

ઢશનિ ૧૨૩, ૧૧

આનિ ૨૨૨

ઠનિ ૪૯૦

ઠનિ ૫૨૧

ઠનિ ૫૫૪

ઢશનિ ૩૩૩

ઢશનિ ૨૮૪

ઢશનિ ૧૨૦, ૨

ઢશનિ ૩૪૪

સૂનિ ૫૮

ઢશનિ ૧૮૩

तव-संजम-नाणेसु
 तव-संजमण्यहाणा
 तव्वत्थुगम्मि पुरिसो
 तसकाए दाराहं
 तसकाए समारंभण
 तस्स य वेसमणस्सा
 तस्सेगट्ट-पवत्तण
 तह पवयणभस्तिगओ
 तह वि य कोई अत्थो
 तिण्णि दुवे एगा वा
 तिण्णे ताई दविए
 तिण्णे तायी दविए
 तिण्हं अणगाराणं
 तिण्हं पि नेगमणओ
 तित्थकर-सिद्ध-कुल गण
 तित्थकरे य जिणवरे
 तित्थगर केवलीणं
 तित्थगर-गुरु-साहसु
 तित्थगराण भगवओ
 तित्थगरो चउनाणी
 तिबिद्या य दव्वसुद्धी
 तिबिहं तु भावसम्मं
 तिबिहा तिबिहा जोणी
 तिबिहा य दव्वसेज्जा
 तुम्ह पिता सह पिउणो
 तुममेव य अंब हे ! लवे
 से उ पतिण्णविभत्ती
 तेजस्स वि दाराहं
 तेएण कम्मएणं
 तेत्तीसइमे कम्मं
 तेरसपवेसियं खलु
 तेरसमे य नियानं
 तेरिच्छिमा मणुस्सा
 तेसि उत्तरकरणं
 तेसि च रक्खणट्ठाय
 तेसि दोण्ह वि पुत्तो
 तेसि पुत्ता चउरो

सूनि ४३
 सुनि ११४
 दशनि ८१
 आनि १५२
 आनि २६०
 उनि २८७
 आनि ६
 दनि ३१
 सूनि १९०
 दनि ७८
 दशनि १३५
 दशनि ३२०
 उनि १०२
 उनि ७१
 दशनि ३०२
 सूनि १
 उनि ३०९
 दनि १३५
 आनि ३५२
 आनि २९७
 दशनि २६०
 आनि २१९
 आनि १५५
 आनि ३२२
 दशनि ८२
 उनि १३६
 दशनि १२३
 आनि ११६
 सूनि १७८
 उनि २६
 आनि ४१
 उनि २१
 सूनि १४७
 उनि १८३
 आनि ३१६
 उनि ४०४
 उनि ४४१

तेसि मत्ताणुमतेणं
 तेसु वि य धम्मसहो
 तेहि य पव्वइयव्वं
 तो ते सावग नम्हा
 ती समणो जइ सुमणो
 धुतिनिक्खेवो चउहा
 थेरेहिण्णुगहट्ठा
 षोक्कं पि पमायकयं
 दंसण-नाण-चरित्तं
 दंसण-नाण-चरित्ताणि
 दंसण-नाण-चरित्ते
 दंसणमोहे दंसणपरीसहो
 दंसण-वय-सामादय
 दंसमसगस्समाणा
 दक्खत्तणगं पुरिसस्स
 दक्खिण्णं पत्थंती
 दग्घट्ट तिण्णि सत्त व
 दट्ठु संबुद्धो रक्खिओ
 दट्ठूण वेडिमरणं
 दट्ठूण तहि समणे
 ददसम्मत्तचरित्ते
 दया य संजमे लज्जा
 दवियं कारणगहियं
 दव्वहरियाओ तिबिहा
 दव्वं गंअंग-तिलाइएसु
 दव्वं च अत्थिकायो
 दव्वं च परसुमादी
 दव्वं जाणण पच्चक्खाणे
 दव्वं जेण व दव्वेण
 दव्वं तु पोंडगादी
 दव्वं दव्वसभावो
 दव्वं निहावेदो
 दव्वं माणुम्माणं
 दव्वं संठाणादी

य

व

सूनि १२०
 दशनि ८९१२
 उनि ३६२
 दनि ३९
 दशनि १३१
 सूनि ८४
 आनि ३०७
 दशनि १७५
 दनि २२
 दशनि २८१
 दशनि १५६, २६३, २९१;
 आनि १५६, ३५१
 उनि ७८
 दनि ४४।१
 उनि ४८७
 दशनि १६४
 उनि २४८
 दनि ७९
 सूनि १९५
 उनि ९६
 उनि ३६५
 दनि ५१
 उनि १५९
 दशनि ५४
 आनि ३२९
 आनि ३४९
 दशनि ३७
 सूनि ३९
 आनि ३७
 दशनि ३०४, दनि ९, ३३।२
 सूनि ३
 दनि १३०
 सूनि ४२
 दनि १७
 आनि ३४६

दण्डं सत्यग्निसं	वर्षानि २१३, आनि ३६	दसआउविवागदसा	दनि ४
दण्डं सरीरभविओ	आनि २८, ७०, दनि २५	दसकालियं ति नामं	दशनि ७
दण्डकरणं तु दुविहं	उनि १७८	दसकालियस्स एसो	दशानि २४
दण्डगुणो दण्डं चिय	आनि १८०	दसपुर तगरुच्छुधरे	उनि १७२।१०
दण्डदुवणाहारे	दनि ८०	दससु य छक्के दण्डे	उनि ३७४
दण्ड-तदट्टोवासण	दनि ३५	दसार्णं पिडत्थो	दनि ७
दण्डप्पओग-वीससप्पओग	दनि १३८	दहणे पयावणे पगासणे	आनि १२१
दण्डमरणं कुसुंभादिएसु	उनि २०२	दाणेति दत्तं गिण्हण	दशनि ११३
दण्डम्मि सच्चित्तादी	दनि ४१	दासो दासीवतिओ	दनि ९८
दण्डरती खलु दुविहा	दशनि ३३७	दाहिणपासम्मि, उ दाहिणा	आनि ५२
दण्डविमोक्खो निगलाविएसु	आनि २७७	दाहिणपासम्मि य दाहिणा	आनि ४८
दण्डसुय पोंडगादी	उनि ३०५	दिट्ठंतसुद्धि एसो	दशनि १०६
दण्डाणं सण्डभावा	दशनि २९२	दिट्ठंतो अरहंता	दशनि ८७
दण्डादिएहि निच्चो	दशनि ५५	दिन्ते कोडिन्ते या	उनि २८९
दण्डाभिलाष चिधे	सूनि ५५	दुग्गतिफलवादीणं	सूनि १११
दण्डावाए दोसि उ	दशनि ५१	दुपएसादि दुसत्तर	आनि ४४
दण्डुग्गहो उ तिविहो	आनि ३४०	दुपय-चतुप्पय-धण-घस	दशनि ३१४
दण्डुवहाणं सयणे	आनि ३०१	दुप्पणिधियजोगी पुण	दशनि २८२
दण्डे अद अहाउय	दशनि १०	दुमआउणासमोत्तं	उनि २७५
दण्डे किरिएणणया	सूनि १६७	दुमपत्तेणोवम्मं	उनि २७६
दण्डे खेसे काले	वर्षानि ३३४, आनि १७९,	दुमपुप्फिमनिज्जुत्ती	दशनि १२४
	१९२, १९२।१,	दुमपुप्फिमादओ खलु	दशनि १८
	२६५-६७, ३२१, ३३९	दुमपुप्फिया य आहार	दशनि ३४
	दनि १२	दुमा य पादवा खखा	दशनि ३२
दण्डे चित्तलगोणादि	दशनि २४७	दुविधा य होंति जीवा	दशनि १९८
दण्डे तिविधा गहणे	दशनि २७०	दुविधो य होइ गंधो	उनि २३४
दण्डे निधानमादी	सूनि ५	दुविहं पओगकरणं	उनि १८२
दण्डे पओगवीसस	दनि २९	दुविहं तवोमग्गगती	उनि ५०८
दण्डे भावे य सरीरसंपया	दशनि ४१	दुविहम्मि वि तिगभेदो	सूनि ११०
दण्डे भावे वि य मंगलाणि	दशनि ३३५, आनि ३८,	दुविहं वणस्सतिजीवा	आनि १२७
दण्डे सच्चित्तादी	सूनि १७१, दनि १२२	दुविहा उ आउजीवा	आनि १०७
	दशनि २१८।२	दुविहा उ भावलेस्सा	उनि ५३५
दण्डेसणा उ तिविहा	दशनि ३४६	दुविहा उ वाउजीवा	आनि १६५
दण्डे सरीरभविओ	आनि २०१	दुविहा खलु तसजीवा	आनि १५३
दण्डे सीतलदण्डं	आनि ३०५	दुविहा ब।दरपुववी	आनि ७२
दण्डोगाहण आदेस		दुविहा य तेउजीवा	आनि ११७

दुविहा य पुढविजीवा
 दुविहा य भावसेज्जा
 दुविहो परमाणूणं
 दुविहो भावविमोक्खो
 दुविहो य भावबंधो
 दुविहो य होइ दीवो
 दुविहो य होति मोहो
 दुविहो लोगुसरिओ
 देवकुरुसुसमसुसमा
 देवीणं मणुईणं
 देवीय नागदत्ता
 देसविमोक्खो पगयं
 दो अज्झयणा चूलिय
 दो चैव भुतवखंधा
 दोष्णि व तिप्पि व चत्तारि
 दोष्णि वि नमी विदेहा
 दो रयणीओ महिद....
 दो वि य जमला भाउग

ध

धणदेवे वसुमित्ते
 धन्नाणि चउब्बीसं
 धन्नाणि रतण-धावर
 धम्मकहा बोधव्वा
 धम्मत्थिकायधम्मो
 धम्मम्मि जो दढमत्ती
 धम्मम्मि जो पमायति
 धम्मस्स फलं मोक्खो
 धम्मादिपदेसाणं
 धम्माधम्मगासं
 धम्मो अत्थो कामो
 धम्मो एसुवदिट्ठो
 धम्मो गुणा अहिंसादिया
 धम्मो पुब्बुद्धिट्ठो
 धम्मो बावीसतिविहो
 धम्मो संगलमुक्किट्ठं

आनि ७१
 आनि ३२४
 उनि ३६
 आनि २७८
 दनि १४०
 उनि १९८
 आनि १८९
 दशनि ४०
 आनि १८२
 आनि २७०
 उनि १३२
 आनि २९४
 दशनि २३
 सूनि २२
 उनि २२१
 उनि २६४
 उनि १४९
 उनि ४६१

उनि ३३३
 दशनि २२९
 दशनि २२७
 दशनि १६६
 दशनि ३८
 सूनि ६०
 आनि २०५
 दशनि २४१
 उनि ४२
 उनि १८०
 दशनि १७९, २४०
 दशनि २२६
 दशनि ८६
 सूनि ९९
 दशनि २२३
 दशनि १२३।१

धम्मो समाहि मग्गो
 धाडेति पधाडेति य
 धारेह तं तु दब्बं
 धुवलोओ उ जिणाणं

न

न करेति दुक्खमोक्खं
 नत्थि य सि अंगुवंगा
 नत्थि य सि कोइ वेसो
 नदि-खेड जणव उल्लुग
 न दुक्करं वा नरपासमोयणं
 नदिआरण्यामागेत्तं
 नमिपव्वज्ज दुमपत्तयं च
 न य उग्गमाइसुद्धं
 नवकोडीपरिसुद्धं
 नव चैवऽट्ठारसगं
 नव चैव तहा चउरो
 नवबंधवेरमइओ
 नवमासा कुच्चिष्वालिए
 नववाससए वासाहिए
 न वि अत्थि न वि य होही
 न विणा आरासेणं
 न हु अफलघोवनिच्छित्त
 नाऊण निच्छयमत्ती
 नाणं भविस्सई एव....
 नाणं सिक्खति नाणी
 नाणस्स दंसणस्स य
 नाणावरणे वेदे
 नाणाविहसंठाणा
 नाणाविहोवकरणं
 नाणेण दंसणेण य
 नात्तं गणितं गुणितं
 नातिविकिट्ठो उ तवो
 नामअलं ठवणअलं
 नामं ठवणउभयणे
 नामं ठवणपमादे
 नामं ठवणपरिण्णा

सूनि २७
 सूनि ६८
 दशनि १०७
 दनि ८६

सूनि १२६, दनि २०
 आनि ९८
 दशनि १३०
 उनि १७२।६
 सूनि २०१
 उनि २५५
 उनि १४
 दशनि १२०।४
 दशनि १०५
 दशनि २२१
 उनि ४०
 आनि ११
 उनि १३७
 उनि ४४४
 उनि ३०२
 उनि १८८, सूनि ९
 सूनि ३५
 उनि ४११
 आनि ३५९
 दशनि २९३
 दशनि २९
 उनि ७४
 आनि १३३
 दशनि २३५
 उनि ४१३
 दनि २६
 आनि २९०
 सूनि २०२
 उनि ५
 उनि १७३
 सूनि १७९

नामं ठवणविमोक्खो
 नामं ठवणसकारो
 नामं ठवणसरीरे
 नामं ठवणाइरिया
 नामं ठवणाकम्मं
 नामं ठवणाकामा
 नामं ठवणागाधा
 नामं ठवणाचिसं
 नामं ठवणाजाई
 नामं ठवणाजीवो
 नामं ठवणा दविए

आनि २७६
 दशनि ३०५
 दशनि २११
 आनि ३२८
 आनि १९३
 दशनि १३७
 सूनि १३७
 दनि ३२
 दनि १२९
 दशनि १९५
 दशनि ८, ९, १३६
 १५३, १९१,
 १९२
 उनि १, १७७, २०१,
 २३०, ३७३, ३७९,
 ४१६, ४१६
 आनि ४०, १८५, १९१
 सूनि ३२, ५६, ६४,
 १०४, १०७, १४२,
 १४३, १४४, १६८,
 १७०, १८०
 दनि १०

नामं ठवणाधम्मो
 नामं ठवणापिंडो
 नामं ठवणापुठवी
 नामं ठवणाभिक्षु
 नामं ठवणामोहो
 नामं ठवणायारे
 नामं ठवणासम्मं
 नामं ठवणासीयं
 नामं ठवणासुद्धो
 नामं ठवणवहाणं
 नामण-धोवण-वासण
 नामतहं ठवणतहं
 नामदुमो ठवणवुमो
 नामहं ठवणहं
 नामपदं ठवणपदं

दशनि ३६, सूनि १००
 दशनि २१८
 आनि ६९
 दशनि ३०९
 दनि १२१
 सूनि १८२
 आनि २१७
 आनि २००
 दशनि २५९
 आनि ३००
 दशनि १५५
 सूनि १२२
 दशनि ३१
 सूनि १८५
 दशनि १४२

नामम्मि य खेत्तम्मि य
 नामादिचउळभेयं
 नामादी ठवणादी
 नालंदाय समीवे
 निउणो उ हवति कालो
 निक्कंपया य नवमे
 निक्खंतो गयपुरातो
 निक्खम पवेसकालो
 निक्खेवेगट्ट निरुत्त
 निक्खेवो अप्पमाए
 निक्खेवो उ अजीवे
 निक्खेवो उ उरळ्ळे
 निक्खेवो उ गतीए
 निक्खेवो उ तवम्मी
 निक्खेवो उ दुमम्मी
 निक्खेवो उ नमिम्मी
 निक्खेवो उ पमाए
 निक्खेवो उ बिहीए
 निक्खेवो कविलम्मी
 निक्खेवो खलुंक्कम्मि
 निक्खेवो गाधाए
 निक्खेवो गोतमम्मि
 निक्खेवो चरणम्मि य
 निक्खेवो जणम्मि य
 निक्खेवो जीवम्मि य
 निक्खेवो तु चउक्को
 निक्खेवो नियंठम्मि
 निक्खेवो पगडीए
 निक्खेवो पवयणम्मि
 निक्खेवो भिक्षुम्मी
 निक्खेवो मग्गम्मि वि
 निक्खेवो मोक्खम्मि य
 निक्खेवो य मियाए
 निक्खेवो य सुयम्मी
 निक्खेवो विमत्तीए
 निक्खेवो संजङ्गम्मि
 निक्खेवो सामम्मि य

उनि ५७
 दशनि २५।२
 सूनि १३४
 सूनि २०५
 आनि ८९
 उनि २०
 उनि १०८
 आनि १५९
 दशनि ५
 उनि ४९९
 उनि ५४६
 उनि २३८
 उनि ४९५
 उनि ५०५
 उनि २७३
 उनि २५३
 उनि ५१४
 उनि ५११
 उनि २४३
 उनि ४८२
 सूनि २३
 उनि ४४५
 उनि ५०९
 उनि ४५७
 उनि ५४४
 दशनि २४५
 उनि २३१, ४१७
 उनि ५२५
 उनि ४५२
 उनि ३६७
 उनि ४९३
 उनि ४९१
 उनि ३९९
 उनि ५०१
 उनि ५४८
 उनि ३८३
 उनि ४७७

निगमणसुद्धी तित्थंतरा
निगलादिउत्तरो वीससा
निहेसपसंसाए
निष्काइया य सीसा
निरए छक्कं दव्वनिरया
निरामयाऽऽमयभावा
निर्वचित विकालपडिच्छणा
निव्वाण सुहं सायं
निस्संक्रिय-निक्कंखिय
निस्संगया य छट्ठे
निस्सील-कुसीलजडो
नेच्छति जलूमवेज्जग
नेरइय-तिरिय-मणुया
नोकम्मदव्वकम्मं
नोकम्मदव्वलेसा
नोकम्मम्मि य तिविहो
नोकम्मे दव्वाइ
नोमाउगं पि दुविहं
नो य विवक्खापुव्वो
नोसण्णाकरणं पुण
नोसुयकरणं दुविहं

प

पढमं उल्लंघेउं
पंचग बारसगं खलु
पंचण्हं संजोगे
पंचमए अट्टपदेणं
पंचमगस्स अउरथे
पंचमहव्वयजुत्तो
पंच य अणुव्वयाइ
पंच य महव्वयाइ
पंचविहो य पमादो
पंचसया खलसीया
पंचसया जंतेणं
पंचसु कामगुणेसु य
पंचसु वि य विसएसुं
पंचेव आणुपुव्वी
पंचो णायो मग्गो
पक्खतिघयो दुगुणिता

दशनि १२०।३
उनि १३९
दशनि ३०६
आनि २८८
सूनि ६२
दशनि २०७
उनि १०७
आनि २०८
दशनि १५७
आनि ३४
सूनि २६
उनि १०८
आनि १५४
उनि ५२४
उनि ५३७
उनि ६८
उनि ५२७
दशनि १४५
दशनि ६८
उनि १७९
उनि १९६

सूनि १६३
उनि ३९
सूनि ३३
आनि २५९
आनि ३०९
उनि ४६७
दशनि २२४
आनि १४,३१४
उनि १७५
उनि १७२
उनि ११४
आनि १८६
सूनि १०५
उनि ७९
सूनि ११५
उनि १९२।१

पगति-ट्टिति अणुभागो
पगती एस गिहीणं
पगती एस कुमाणं
पगती चउक्कगणंतरे
पगयं तु भावचरणे
पच्चक्खणं सेयं
एक्कयओ य बहुविहो
पण्डितं बहुपागा
पज्जं पि होति तिविहं
पज्जत्तीभावे खलु
पज्जोसमणाए अक्खराइ
पडिचोदितो य कुविओ
पडिमागतस्समीवे
पडिमापडिवज्जगणं
पडिक्खो खलु विणओ
पडिलोमे जह् अभओ
पडिलोमे सुहादी
पडिसेहेणज्जारस्सा
पढमं अधम्मजुत्तं
पढमज्जकयणं दुमपुप्फियं
पढम-वितिया चरित्ते
पढमम्मि अट्टमंगा
पढमम्मि य पडिलोमा
पढमे उवागमण निग्गामो
पढमे महणं बीए
पढमे धम्मपसंसा
पढमे नियगविद्युण्णा
पढमे विणओ वितिए
पढमे संशक्क-संज्ञावाइहि
पढमे संबोधि अणिच्चया
पढमे सम्मावाओ
पढमे सुत्ता अस्संजत
पणयालीसा बारस
पणिधानजोगजुत्तो
पण्णरससु अज्जकयणेसु
पण्णवग दिसट्टारस
पण्णवगदिसाए पुण
पण्णवण वेद रागे

उनि ५२८
दशनि १०३
दशनि ९८
आनि २१
उनि ५१३
उनि १७२।१२
उनि ६१
उनि ११४
दशनि १४८
सूनि २०३
उनि ५३
आनि २८७
सूनि १९८
उनि ६२
दशनि २९७,३००
दशनि ७८
आनि २४
सूनि २०४
दशनि ७७
दशनि २५
दशनि २५८
उनि ७२
सूनि ४५
आनि ३३४
आनि ३३८
दशनि १९
आनि २५०
उनि १८
सूनि ५४
सूनि ३६
आनि २१५
आनि १९८
उनि ४१
दशनि १५९
सूनि १४०
आनि ६१
आनि ६२
उनि ४१९

पण्णाज्जणपरीसह
पत्तिखुद्दएण पगतं
पत्तेमा साधारण
पत्तेया पज्जता
पत्थेण व कुट्ठेण व
परमाणुपुगला खलु
परलोपु मुत्तिमग्गो
परवह वागरणं पुण
परिजित कालामत्तण
परित्तो वायणाए
परिभासिता कुसीला
परिमंडले य वट्ठे
परिमट्टियलावणं
परिवसणा पज्जुसणा
पल्लत्थिया अपत्था
पवदंति य अणगारा
पव्वहए अणगारे
पव्वज्ज गारिगिस्स य
पव्वज्जातिक्खेवो
पसत्थविगतिभाहणं
पाएण एरिसो सिज्जम्ह
पाणवह-मुसावाए
पाधन्ने महसद्दो
पायच्छित्तं विणओ
पायच्छेयण-भेयण
पायसहरणं छेत्ता
पावह धुवमायाति
पावसमणिज्जं तह संजइज्जं
पावाणं कम्मार्णं
पावाण वज्जणा खलु
पावे छक्कं दन्वे
पावे वज्जे वेरे
पावोवरते अपरिग्गहे
पासत्थि पंजरज्जा
पासरथोसण कुसील ...
पासावच्चिज्जो पुच्छिताइओ
पाहण्णेण उ पगयं

उनि १७५
दशानि १५४
आनि १२८
आनि १३४
आनि ८७, १४४, २१०
उनि ३७
दशानि २४२
आनि ६६
दनि ५२
उनि १२१
सूनि ८८
उनि ३८
उनि ३००
दनि ५४
उनि १०
आनि ९९
दशानि १३४, ३२१
उनि २७८
उनि २५६
दनि ८३, ८२१
दनि १३६
आनि ३५०
सूनि ८३
दशानि ४५
आनि ९७
दनि १००
दनि १४२
उनि १५
दशानि १७४
उनि २२
उनि ३८०
दनि १२४
आनि २४९
दनि ११०
सूनि १०२
सूनि २०६
आनि २६९

पाहण्णे अणगारे
पिडेसणाए जा
पिडेसणा य सक्का
पिडो य एसणा या
पिडि संधाए जम्हा
पिसुणा परोवतावी
पीती य दोण्ह द्दुओ
पुच्छाए कोणिओ खलु
पुच्छिसु जंढुणामो
पुट्ठो जहा ववद्धो
पुट्ठवि समारभता
पुट्ठवि-दण-अगणि-मारुय
पुट्ठविफासं अण्णाणु....
पुट्ठवी आउक्काए
पुट्ठवीए जे दारा
पुट्ठवीए निक्खेवो
पुट्ठवी य सक्करा बालुणा
पुप्फाणि य कुसुमाणि य
पुप्फुत्तरातो चवणं
पुरिमत्तरंजि भुमगुह
पुरिमच्चरिमाण कप्पो
पुव्वं बुद्धीइ पेहिता
पुव्वभवे संखस्स उ
पुव्वभवे संघद्विया
पुव्वाधीतं नासति
पुव्वा य पुव्वदक्खिण
पुव्वाहारोसवणं
पोराण य गयदप्पो

फ

फलगततंदोलण-वेत्त
फलोदणं म्हि गिहं पविट्ठो
फरिसेण जहा वाऊ

ब

बंधगुणा पणवीसे
बंधम्मी उ चउक्कं
बद्धो य बंधहेऊ

आनि २६४
आनि ३१८
दशानि २१९
दशानि २१७१
दशानि २१८१
उनि ४८९
सूनि १९४
दशानि ७४
सूनि ८१
उनि १७२, ११
आनि १०३
दशानि ४३
सूनि ६४
आनि १२३
आनि १२६
आनि ६८
आनि ७३
दशानि ३३
उनि २६६१
उनि १७२१७
दनि ११५
दशानि २६८
उनि ३१४
उनि ३५६
दनि ११९
आनि ५६
दनि ८१
उनि २६१

सूनि १०८
आनि २३०
दशानि २०४

उनि २४
आनि १८, उनि ३७५
आनि ३५८

बलकोट्टे बलकोट्टो
 बवं च बालवं चेव
 बहुयाणं सदयं सोच्चा
 बहुरय जमालिपभवा
 बहुरय-पदेस-अश्वत्त
 बहु सुए पूजाए य
 बहुस्तुतं चित्तकहं
 बायरपुडविककाइय
 बासबासे अहिउ
 बारसविहम्मि वि तवे
 बाला मंदा किट्टा
 बाले राई दाली
 बाले सुत्ते भूई
 बावत्तरिकलाओ य
 बावीसं बावरसंपराए
 बाहि ठिता वसभेहि
 बितिउदेसे अदढो
 बितिए नियतीवाओ
 बितिए मग्गविजहणा
 बितिओ वि तमीराया
 बितिओ वि य आदेसो
 बितियंतरिए नियमा
 बितियदुयस्स विवक्खो
 बितियपङ्गणा जिणसासनम्मि
 बितियस्स य पंचमए
 बुद्धाई उक्क्यारे
 बोडियसिखभूतीए
 बोहण पडिभोद्दामण

म

भंजंति अंगमंगाणि
 भगवं पि खूलभट्टो
 भक्तपरिण्णा हंतिणि
 भद्दगेणेव होयन्वं
 भव-आगरिसे कालंतरे

उनि ३१८
 उनि १९०, सूनि ११
 उनि २६७
 उनि १६८
 उनि १६७
 उनि ३०३
 उनि १२५
 आनि ९१
 उनि ५१९
 दशनि १६०
 दशनि ९।१, दनि ३
 दनि १४
 दनि १२०
 उनि ४३०
 उनि ८०
 दनि ६५
 आनि १९७
 सूनि ३०
 आनि २५४
 उनि २६६
 दशनि १७, उनि ५५
 आनि २५
 दशनि १२३।४
 दशनि ८९
 आनि ३०८
 दशनि १२३।८
 उनि १७२।१५
 दनि ९६

सूनि ७३
 उनि १०५
 उनि २१९, २८१
 उनि ३१९
 उनि ४२१

भवणवति-वाणमंतर
 भवति तु असच्चमोसा
 भवसिद्धिया उ जीवा
 भावइरियाओ दुविहा
 भावंगं पि य दुविहं
 भावकरणं तु दुविहं
 भावगई कम्मगई
 भावतहं पुण नियमा
 भावपदं पि य दुविहं
 भावपरिण्णा दुविहा
 भावप्पमायपगयं
 भावबहुणेण बहुमा
 भावम्मि विमत्ती खलु
 भावसमाधि पतुव्विध
 भावसमाधी चित्ते
 भावसमोसरणं पुण
 भावसुयं पुण दुविहं
 भावस्तुव्वगारित्ता
 भावा आगरिसे कालंतरे
 भावे उ निरयजीवा
 भावे उ वत्थिनिग्गहो
 भावे उ सम्मदिट्ठो
 भावे कसायबंधो
 भावे गति आहारे
 भावे जीवस्स सदीरियस्स
 भावे पयोगवीसस
 भावे पसत्थमियरो
 भावे पावं इणमो
 भावे फलसाहणता
 भावेसणा उ दुविहा
 भासणे संपातिवहो
 भिदंतो य जह खुधं
 भिक्खं पविट्ठेण मएऽऽज दिट्ठं
 भिक्खविसोधी तव संजमस्स
 भिक्खूस्स य निक्खेवो
 भिक्खूणं उवघाणे

सूनि १५०
 दशनि २५७
 उनि ३०६
 आनि ३३०
 उनि १५६
 उनि १९३
 दशनि १०९
 सूनि १२३
 दशनि १४४
 आनि २६८
 उनि ५१७
 उनि ३०४
 उनि ५५१
 सूनि १०६
 दनि ३४
 सूनि ११७
 उनि ५०३
 दशनि २१८।४
 उनि ४२१
 सूनि ६३
 उनि ३७६
 दनि ३७
 दनि १४१
 आनि ३०
 सूनि ९४
 सूनि १४
 उनि ९
 उनि ३८१
 आनि २४१
 दशनि २१८।३
 दनि ९१
 दशनि ३१८
 आनि २२९
 दशनि २१
 दशनि ३०८
 दनि ४५

भिक्षूणं उवहाणे
भिक्षेण न मे कज्जं
भीते पलायमाणे
भूमि-घर-तरुणाय य
भेत्ताऽऽगमोवउत्तो
भेत्ता य भेयणं वा
भेदती भेदणं चेव

दनि ४९
उनि ४७५
सूनि ८२
दशनि २३३
दशनि ३१७
उनि ३६९
दशनि ३१०

म

मइजगहे य गहणुरगहे
मंसस्स केइ अट्ठा
मंसादी परिभोगो
मगहापुरनगराओ
मगगईणं दोण्ह वि
मगगतीणं दोण्ह वि
मज्जं विसय-कसाया
मणमं पडुच्च सेज्जंभवेण
मणपज्जबोहिनाणी
मण-वयण-काय आणा....
मण-वयण-कायगुत्तो
मणुया तिरिया काया
मधुरं हेतुनिजुत्तं
मरणं च होइ दसमो
मरणम्मि एगमेगे
मरणविभत्तिपरुवण
मरणविभत्ती पुण पंचमम्मि
मरणे अणंतभागो
मह पंचभूत एकप्पए
महुराए उददत्तो
महुराए कालवेसिय
महुराए संखो खलु
महुरा मंगू आगम
माणुस्सं धम्मसुतो
माणुस्स सेत्त जाती
मातम्मि उ भिक्षेवो
माया-गररवसहितो
माया मे ति पिया मे

आनि ३४१
आनि १६१
अनि १६-
उनि २७७
उनि ५४३
उनि ५०७
उनि १७४
दशनि १४
उनि २१७
सूनि ९५
दनि ९२
आनि ६०
दशनि १४७
दशनि २३८
उनि २०४
उनि २०३
उनि १९
उनि २२५
सूनि २९
उनि ११९
उनि ११६
उनि ३१५
दनि ११२
उनि १५७
उनि १६०
उनि ४५४
दशनि २७९
आनि १९६

माया य रहसोमा
मालाविहारम्मि मएज्ज विट्ठा
मिगआउतामगोयं
मिगदेवी पुत्ताओ
मिच्छत्तं वेदंतो
मिच्छदिट्ठी जीवा
मिच्छादिट्ठी जीवो
मिच्छादिट्ठी तसथावराण
मिच्छापडिवसीए
मिच्छा भवेउ सव्वत्था
मिहिलाए लच्छिधरे
मिहिलापत्तिस्स नमिणो
मीरासु मुंठएसु य
मुणिणं छलकायदयावरेण
मुणिसुव्वयंतवासी
मूलकरणं पुण भुते
मूलकरणं सरीराणि
मूलगुण-उत्तरगुणे
मूलगुणेषु य पगयं
मूले कंघे खंघे
मूले छक्कं वव्वे
मोक्खमगपवन्नेसु
मोक्खो मग्गो य गती
मोत्तुं अकम्मभूमम
मोत्तुं पुराणभावित....
मोत्तूण ओहिमरणं
मोरी नउलि विरासी

रज्जाणि उ अवहाया
रयणाणि चतुब्बीसं
रयणुप्पया य विजओ
रहकारपरसुमादी
रहनेमिनामगोयं
रहनेमिस्स भगवतो
रहनेमी निक्खेवो
रहवीरपुरं नयरं

उनि १७
आनि २३१
उनि ४०१
उनि ४०२
दशनि १८२
उनि ३०७
उनि १६५
दशनि ३१३
दनि १९
दशनि २०२
उनि १७२।५
उनि २६३
सूनि ७४
आनि ३४५
उनि ११३
सूनि १६
सूनि ६
दनि १३४
सूनि १८१
उनि ३२
आनि १८३
उनि २७२
उनि ४९७
उनि २१४
दनि ८७
उनि २१५
उनि १७२।९

र

उनि ४७३
दशनि २३१
उनि ३४६
उनि ३७०
उनि ४३९
उनि ४४३
उनि ४३७
उनि १७२।१३

राईसरिसवमेत्ताणि
रागहोसा दंडा
रागाई मिच्छाई
रायगिह-भिहिल-हत्थिणपुरं
रायगिहम्मि वयंसा
रायगिहागम चोरा
रायगिहे गुणसिलए
रायगिहे मालारो
राया उसुयारो मा
राया य तत्थ बंधो
राया य बंधदत्तो
राया सप्पे कुंथू
रक्खा गुच्छा गुम्मा
रक्खाणं गुच्छाणं
रुवं वयो य वेसो

ल

लघण-पवण-ससत्थो
लक्खणमेयं चेव उ
लज्जाए गारवेण य
लेसा-कसाय-वेदण
लेसाणं निक्खेवो
लोइगा वेइगा चेव
लोइय-लोउत्तरिओ
लोगम्मि कुसमएसु ५
लोगसत्थाणि.....
लोगस्स घम्मसारो
लोगस्स य को सारो
लोगस्स य निक्खेवो
लोगस्स य विजयस्स य
लोगायासपएमे
लोगे चउब्बिहुम्मी
लोगे संघारम्मि य
लोगो ति य विजयोति य
लोगो भणितो वक्कं
लोगोवयारविणयो

उनि १४०
उनि ३७१
दशनि २२१।१
उनि ३४५
उनि ९२
सूनि १९९
उनि १७२।२
उनि १११
उनि ३५९
उनि ३२८
उनि ३३०
दनि ७३
आनि १२९
आनि ८०
दशनि १६५

उनि १२९
आनि १५८
उनि २११
उनि ५३
उनि ५२९
दशनि २०३
सूनि १०१
आनि २४२
दशनि २०२।१
आनि २४५
आनि २४४
आनि १७६
आनि १७४
आनि ८८
आनि २४८
उनि ८६
आनि १७५
आनि १७७
दशनि २८७

व

वइजोगेण पभासित
वंदामि भइवाहुं
वंदित्तु सव्वसिद्धे
वक्कं तु पुव्वभणियं
वक्कं वयणं च गिरा
वग्घस्स मए भीतेण
वग्घो वा सप्पो वा
वत्तपुग्ग-वंभथलयं
वणहत्थी य कुमारं
वणिधूयाऽवकारिय
वणे रामे पुरे भिक्खा
वणम्मि य एक्केक्के
वण्ण-रस-रुव-फासे
वण्ण-रस-रुव-फासेसु
वण्णादिमा य वण्णादिगेसु
वयल्लक्कं कामल्लक्कं
वयणविभत्तिअकुसलो
वयणविभत्तिकुसलस्स
वयणविभत्तीकूलो
वयणविभत्ती पुण सत्तमम्मि
ववहरमाणस्स तहि
वस-पूय-रुहिर-केसऽट्ठि
वसभे य इंदकेऊ
वाउस्स वि दाराइं
वाओदएण राई
वाघातिममादेसो
वाणारसिनगरीए
वादे पराजियाए
वारेयव्व उवाएण
वासइ तो कि विग्घं
वासं कोडीसहियं
वासं व न उवरमती
वासग्गसो य तिण्हं
वासति न तणस्स कते
वाससहस्सं उगं

सूनि १९
दनि १
आनि १
दशनि ३४०
दशनि २४६
उनि १२८
उनि १०४
उनि ३४०
उनि ३४१
दनि १०६
उनि ८९
आनि ७८

उनि १९४, आनि ७७
दशनि २६१
सूनि १५
दशनि २४४
दशनि २६६
दशनि २६५
दशनि २६७
दशनि २२
उनि ४२७
सूनि ८०
उनि २५८
आनि १६४
दनि १०१
आनि २८५
उनि ४६०
सूनि २००
दशनि ६६
दशनि ९५।३
आनि २९१
दनि ७४
उनि ८४
दशनि ९५
उनि ५१८

वासाखेत्तालंभे
विगतिं विगतीभीतो
विच्छ्रय सप्ते मूसग
विजितो कसायलोयो
विज्जा चरणं च तवो
विज्जा व देवकम्मं
विज्जा-सिप्पमुवाओ
विज्जो ओसह् निवयाहिवह
विणयसुयं च परीसह
विणयस्स समाधीए
विणयो पुब्बुद्धिहो
विधुवण वेह्माणस हत्थकम्म
विथण धमणाभिधारण
विथणो य तालविटे
विरिए छक्कं दब्बे
विमघानी रसायणमंगलत्त
विस-तिणिस-वात-वज्जुल
विसयमुहेसु पसत्तं
विहगगई चलणगई
विहमागासं भण्णइ
वीयभय देवदत्ता
वीरिय विउव्वणिङ्की
वीसं उक्कोसपदे
वीसं तु नवरि णेम्मं
वीसज्जिऊण आसं
वुड्ढिं च हाणि च ससीव दद्धं
वेणइयस्स पढमया
वेयालियं इह् देसितं ति
वेयालियम्मि वेयालणो
वेरग्गमप्पमाओ

स

सउणि चतुप्पय नागं
संकुचिनविगसितत्तं
संखमसंखमणता
संखो तिणिसाऽगुह-चंदणाणि
संगामे अत्थि भेदो

दनि ६१
दनि ८२
उनि १७२।८
आनि १७८
दशनि १६८
सूनि १६४
दशनि १६३
दनि ६४।१
उनि १३
दशनि २८६
उनि २९
आनि २५६
आनि १६९
आनि १७०
सूनि ९१
दशनि ३२६
दशनि १३३
दशनि १४०
दशनि ११०
दशनि १०८
उनि ९५
दशनि १७३
उनि ८३
दनि ११
उनि ३९२
उनि २६२।१
दशनि १७७
सूनि ४०
सूनि ३८
आनि ३६१

उनि १९१, सूनि १२
आनि १८१
उनि २२४
• दशनि २३२
उनि ३४९

संघातणा य परिसाङ्गणा
संघायण-परिसाङ्गण
संजमखेत्तचुयाणं
संजमजोगविसण्णा
संजमनामं गोत्तं
संजाणंतो भणती
संजुत्तगसंजोगो
संजोगो निक्खेवो
संजोगो सोलसगं
संते आउयकम्मे
संदीणमसंदीणो
संबंधणसंजोगे
संबंधणसंजोगो
संबुद्धो सो भगवं
सवेगजणितहासो
सवेगसमावसो
सवेगो निव्वेओ
संसारं छेत्तुमणो
संसारपारममणे
संसारस्स उ मूलं
सगद्धुदिसंठियाओ
सच्चप्पवायपुव्वा
सज्झाय-संजम-तवे
सण्णातिगमणवियडे
सण्णासिद्धि पप्पा
सत्तरसविहाणार्ह
सत्तहिं छहिं चउवउहि
सत्तमे य तिप्पि पलया
सत्तेक्कमाणि एकसरणाणि
सत्तेक्कमाणि सत्त वि
सत्थं तु असियगादी
सत्थपरिण्णा अत्थो
सत्थपरिण्णा लोगविज्जओ
सत्थाहसुओ दक्खत्तणेण
सह-रस-रुव-गंधा

सूनि ७, १८९
उनि १८४
दनि ११७
उनि २१०
उनि ३८७
उनि ४७४
उनि ३१
उनि ३०
आनि २०
दशनि १९६
उनि १९९
उनि ६४
उनि ४६, ६२, ६३
उनि ४३५
उनि ४१४
सूनि १९३
दशनि ३२३
आनि १९५
उनि ४५१
आनि १९०
आनि ४६
दशनि १६
दशनि ३४३
उनि ११०
दशनि ११२
उनि २०७
आनि ३६७
आनि २६२
आनि ३४३
आनि ३१०
सूनि ९८
आनि १३
आनि ३१
दशनि १६३।१
दशनि १३८, ३३८

सहंसु य रुवेसु य
 सपरककममादेसो
 सपरकमे य अपरकमे
 सप्पो वि कुललवसगो
 सप्पो वि य कुररेणं
 समकडगातो अडवी
 समणण्णुकंपनिमित्तं
 समणस्स उ निक्खेवो
 समणे चउक्कनिक्खेवओ
 समणेण कहेत्तव्वा
 समणो सि संजतां असी
 सभाधि-ओवहाणे य
 समाधीए चउक्कं
 समिद्धो जण्हज्जं
 समुत्तारो खलु दुविहो
 समुदाणियाणिह तओ
 समुदपालिवाजं
 समुहंण पालियम्मि
 समोसरणे वि छक्कं
 सम्मत्तमप्यभादो
 सम्मत्तुप्पत्ती सावए
 सम्महिट्ठी किरियावादी
 सम्महिट्ठी जीवो
 सम्महिट्ठी तु सुतम्मि
 सम्मप्पणीतमग्गो
 सयणसहस्सपागं
 सयणे अवहत्तं वीयगम्मि
 सयमेव य लुक्ख लोविया
 सरीरेणोयाहारो
 सव्वं पि य तं तिविधं
 सव्वण्णुवदिट्ठा
 सव्वभिचारं हेतुं
 सव्वमिणं चट्ठणं
 सव्वस्स धूलगुरुए
 सव्वा ओसधजुत्ती

दशानि २७१
 आनि २८३
 आनि २८२
 उनि ४६४
 उनि ४६३
 उनि ३३७
 दशानि ९९।१
 दशानि १२८
 उनि ३८२
 दशानि १८६
 उनि १४१
 दनि ४६
 उनि ३७८
 उनि १६
 उनि ७३
 सूनि १६९
 उनि ४२४
 उनि ४२३
 सूनि ११६
 उनि ५०४
 आनि २२३
 सूनि १२१
 उनि १६६
 दशानि २५६
 सूनि ११२
 दनि १०९
 आनि १७३
 उनि १३८
 सूनि १७२
 सूनि ९७
 दशानि २०८
 दशानि ६४
 उनि ३९६
 आनि २४०
 उनि ४४

सव्वा वयणविसोही
 सव्वा वि य सा दुविधा
 सव्वे एते दारा
 सव्वे भवत्थजीवा
 सव्वे वि ईरियविसोहि....
 सव्वे वि य वयणविसोहि....
 सव्वे वि य सेज्जविसोहि ...
 सव्वेसि आयारो
 सव्वेसि उत्तरेणं
 सव्वेसि तवोकम्मं
 सव्वेसि पि नयाण
 ससमयपरसमयपरुवणा
 सागेते चंडवडिसमस्स
 साढेण-पाडण-तोदण
 सा दुविधा छन्विगुणा
 साधु अहिंसाधम्मो
 साधु संवासेती
 साधु तेणे ओगह
 साधु लूहे य तथा
 सा नवहा दुह कीरइ
 सामण्णुध्वगस्स तु
 सामण्णमणुधरंतस्स
 सामाद्वयअणुकमओ
 सामित्ते करणम्मि य
 सामुत्थाणी कविला
 सायं सम्मत्त पुमं
 सारो परुवणाए
 सावज्जगंघमुक्का
 सावत्थी उसभपुरं
 सावत्थीए कुमारो
 सावत्थी जियसलू
 सा सगडित्तिरी वंसगम्मि
 साहारणमाहारो
 साहुक्कारपुरोगं
 सिगाररमुत्तइया
 सिक्खगवसिक्खमाणं
 सिक्खावए य लिंगे य

आनि ३१९
 दशानि २५४
 उनि २२७
 उनि २२२
 आनि ३३३
 आनि ३३७
 आनि ३२५
 आनि ८
 आनि ५०
 आनि २९६
 दशानि १२६, ३४९।२
 सूनि २४
 उनि ३२५
 सूनि ७०
 दनि ४२
 आनि ३६०
 उनि २८२
 दनि १६
 दशानि ३२२
 दशानि २१९।१
 दशानि १२७
 दशानि २७७
 दशानि ११
 दनि ५७
 आनि ५७
 दशानि १२३।६
 आनि १७
 उनि २३७, ४२२
 उनि १७०
 उनि ११७
 उनि ११२
 दशानि ८५
 आनि १३६
 दशानि ७०
 दशानि १८५
 दशानि ५३
 उनि ४४९

सिद्धं जीवस्स अत्थितं
 सिद्धाणमसिद्धाण य
 सिद्धिगतिभुवगयाणं
 सिद्धी य देवलोगो
 सांउण्ह-फास-सुह-दुह
 सीतं परीसह पमादुवसम
 सीतांभूतो परिनिब्बुतो
 सीमंधरो य राया
 सीयाणि य उण्हाणि य
 सीले वतुक्क दब्बे
 सीसं उरो य उदरं
 सीहगिरि भद्गुत्तो
 सीहत्ता निक्खमिडं
 मुग्गीवे नयरम्मि य
 सुचिरं पि वंकडाहं
 सुतच्छे निक्खेवं
 सुतधम्मं पुण ति विद्या
 सुत्ता अमुणिओ सया
 सुत्ते जहा निबद्धं
 सुत्तेण सूहत्तं ति य
 सुहंण निसादीए
 सुद्धप्पयोगविज्जा
 सुद्धोदगे य ओसा
 सुपतिदुठे कुसकुंडि
 सुप्पणिधितजोगी पुण
 सुयनाणं अणुयोगेण
 सुरपूइओ ति हेऊ
 सुर-मणुय-तिरिय निरओ
 सुसमत्था वि असमत्था
 सुह-दुक्खसंपओगो
 सुयगडं अंगाणं
 सुरा सो मण्णंता
 सेज्जंभवं गणघरं
 सेज्जा-हरिया तह उग्गहे
 सेतं सुजातं सुविभत्तसिगं
 सेयवि पीलासाढे
 सेलऽट्टि थं थ दाह्य

दशनि २०१
 उनि ५५०
 दशनि १
 दशनि १७६
 आनि २१०
 आनि २०२
 आनि २०६
 उनि ३६६
 आनि २११
 सूनि ८६
 उनि १५३, १८२।१
 उनि ९८
 उनि ४१२
 उनि ४०३
 उनि ४८६
 उनि १२
 दशनि २५५
 आनि २१२
 दनि ११६
 सूनि २१
 आनि २७
 सूनि १६५
 आनि १०८
 उनि ३४३
 दशनि २८३
 दशनि ३
 दशनि १२३।२
 सूनि १६०
 सूनि ५९
 दशनि ५६
 सूनि २
 सूनि ५७
 दशनि १३
 आनि ३२०
 उनि २५९
 उनि १७२।४
 दनि १०३

सेवाल-कत्थ-भागिय
 सेसं सुत्तफासं
 सेसाइं दाराइं
 सेसाणं मरणाणं
 सोइदियरस्सीहि उ
 सो उज्जाणनिसओ
 सोऊण बिणवरमतं
 सोऊण तं अरहत्तो
 सोऊण तं भगवत्तो
 सोऊण य सो धम्मं
 सो एवं पडिसिद्धो
 सो गुरुमासायंतो
 सोतिदियमादीया
 सोरियपुरम्मि नगरे
 सो लद्धवोहिलाभो
 सोलस दक्खा भागा
 सोलसमे अउभयणे
 सोलस वि य तिरियदिसा
 सोवक्कमो य निरुवक्कमो
 सो समणो पव्वइओ
 सो सिक्खणो तु दुविधो
 सो हम्मती अमच्चो

आनि १४१
 दशनि २१६
 आनि ११५, १२५, १५१, १६३, १७२
 उनि २२६
 दशनि २७२
 उनि ४६९
 सूनि १८
 उनि २९५
 उनि २८४, २९९
 उनि ३९७
 उनि ४७१
 दनि २४
 दनि ५०
 उनि ४४०
 उनि ४१०
 उनि १५१
 सूनि १४१
 आनि ५९
 उनि २२०
 उनि ४६६, ४६७
 सूनि १२८
 उनि ३३८

ह

हत्थे-पादे-ऊरु-बाहु
 हयमारुओ राया
 हरउवमा तव-संजम
 हरिएसनामगोयं
 हरिएसा गोदत्ता
 हरिएसा चंडाला
 हरिएसे निक्खेवो
 हरियाले हिगुलए
 हल-कुलिम-विस-कुदाला
 हसित-ललितोवगूहित
 हिसग-विसयारंभग
 हिसाए पडिवक्खो
 हित-मित-अफरसभासी

सूनि ७६
 उनि ३८९
 आनि २३८
 उनि ३१३
 उनि ३३५
 उनि ३१६
 उनि ३११
 आनि ७४
 आनि ९५
 दशनि २३९
 आनि २३६
 दशनि ४२
 दशनि २९९

परिशिष्ट २

४५९

हेतुसरितोहि अहेतुएहि
हेतु नेरहयाणं
हेतु पादतलाणं
हेतुस्मात्तलं कडस्थं

सूनि ४६ होति उबंगा कण्णा
आनि ५८ होति गहुप्पन्नविणासणम्मि
आनि ५४ होति पुण भावगाथा
उत्ति २९०

उत्ति १५४, १८२।२
वक्कनि ६५
सूनि १३८

एकार्थक

अंग—अवयव ।

अंग दस भाग भेदे, अवयव असंगल य चुण्णिया खंडे ।
देस पदेसे पब्बे, साह पडल पज्जव खिसे य ॥

(उत्ति १५८)

अणुसमय—निरन्तर ।

अणुसमयनिरंतरमवीचि-सन्नियं ।

(उत्ति २०८)

अस्स—अस्व ।

अस्से गोणे य होति एगट्ठा ।

(उत्ति ६५)

आइण्ण—विनीत ।

आइण्णे य विणीए य भइए यावि एगट्ठा ।

(उत्ति ६५)

आय—लाभ ।

आउ त्ति आगमो त्ति य लाभो त्ति य होति एगट्ठा ।

(उत्ति ९)

आयार—आचार ।

आयारो आचालो, आगालो आगरो य आसासो ।
आदरिसो अंगं त्ति य, आइण्णाऽऽजाइ आसोक्खा ॥

(आनि ७)

उवसंत—उपशांत ।

सीतीभूतो परिनिब्बुतो य संतो तहेव पल्हाओ
होउवसंतकसाओ ।

(आनि २०६)

ओघुणण—अवधुनन ।

ओघुणण घुणण नासण, विणासणं ऋवण खवण सोहिकरं ।
छेयण भेयण फेइण, इहणं धुवणं च कम्माणं ॥

(आनि ३०३)

कम्म—कर्म ।

पावे वज्जे वेरे, पणने पंके खुहे असाए य ।
संगे सल्ले अरए, निरए धुत्ते य एगट्ठा ॥

(उत्ति १२४)

खाय—प्रसिद्धि ।

खाय-जस-कित्ती ।

(उत्ति ४३५)

कित्तण—कीर्तन ।

कित्तण-संपूयणा-शुणणा ।

(आनि ३५२)

गंडी - बुद्ध भवन या बैल ।

गंडी गली मराली होंति एगट्टा ।

(उनि ६५)

भार—चर्या ।

चारो चरिया चरण एगट्ठ ।

(आनि २४६)

जीवाजीवाभिगम—दशवैकालिक के चौथे अध्ययन का नाम ।

जीवाजीवाभिगमो, अणारो वेत्त उज्जयणली ।

तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मो य एगट्टा ॥

(दशनि २१७)

जात—जात ।

जातं गणितं गुणितं गतं च एगट्ठ ।

(दनि २६)

तिष्ण—तीर्ण, साधु ।

तिष्णे तायी दविए, वती य खते य दंत विरते य ।

मुणि-तावस-पणवगुजु, भिक्खू बुद्धे जति विदु य ॥

पव्वइए अणगारे, पासंडी चरण वंभणे चेव ।

परिवायगे य समणे, निग्गंथे संजते मुत्ते ॥

साधू लूहे य तहा, तीरट्ठी होति चेव नातब्बे ।

नामाणि एवमादीणि, होंति तव-संजमरताणं ॥

(दशनि ३२०-२२)

दया--दया, अहिंसा ।

दया य संजमे लज्जा, दुग्गुच्छाऽल्लणा इय ।

तितिवक्खा य अहिंसा य, हिरी एगट्ठिया पदा ॥

(उनि १५९)

दुम--दुःख ।

दुमा य पादवा रुक्खा, विडिमी य अगा तरु ।

कुहा महीरुहा वच्छा, रोवगा भंजगा वि य ॥

(दशनि ३२)

दुमपुप्फिया—प्रथम अध्ययन का नाम (दुमपुप्फिका) ।

दुमपुप्फिया य आहारएसणा गोयरे तथा उंछे ।

मेस जलोमा सप्पे, वणऽक्ख-इसु गोत पुत्तुदए ॥

(दशनि ३४)

नात—जात (आहारण) ।

नातं आहारणं ति य दिट्ठंतोवम्म निदरिसणं तह य ॥

(दशनि ४८)

निब्बाणसुह—निर्वाणसुख ।

निब्बाणसुहं सायं सीतीभूयं पयं अणावाहं ।

(आनि २०८)

पंथ--मार्ग ।

पंथो णायो मग्गो, विघ्नी धिती सोमगती हित सुहं च ।

पत्थं सेयं निव्वुत्ति, निव्व्वाणं सिक्कंरं चेव ॥

(सूनि ११५)

पञ्जोसमण्य—पर्यवण्य ।

पञ्जोसमणाए अमखराई, होंति उ इमाइ गोण्णाइ ।
परियायवत्तवणा, पञ्जोसमणा य पागइया ॥
परिवसणा पञ्जुसणा, पञ्जोसमणा य बासवासो य ।
पढमसमोसरणं ति य, ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठा ॥

(दनि ५३, ५४)

पुष्क—पुण्य ।

पुष्काणि य कुसुमाणि य, फुल्लाणि तहेव होंति पसवाणि ।
सुमणाणि य सुद्धमाणि य, पुष्काणं होंति एगट्ठा ।

(दशनि ३३)

वक्क—वाक्य, वाचा ।

वक्कं वयण च गिरा, सरस्सतो भारती य गो वाणी ।
भासा एणवणी देसणी य वड्ढजोग जोगे य ॥

(दशनि २४६)

संवाण ।

संवाण निदाणं ति य पव्वो त्ति य होंति एगट्ठा ॥

(दनि १३७)

समण—(अमण) साधु ।

एव्वइए अणगारे, पासंडी चरक तावसे भिक्खू ।
परिवायए य समणे, निग्गंथे संजते सुत्ते ॥
तिण्णे लाई दविए, मुणी य खंते य वंत विरए य ।
लूहे तीरट्ठी वि य, हवति समणस्स नामाइ ॥

(दशनि १३४, १३५)

सूयगब—सूत्रकृतांग ।

सूतगबं सुत्तकडं सूयगबं चेव गोण्णाणि ।

(सूनि २)

सूर—वीर ।

सूरो सत्तिओ य वीरो य ।

(सूनि ६०)

हरिएस—चंडाल ।

हरिएसा चंडाला, सोवाग भयंग बाहिरा पाणा ।
साणघणा य मयासा, सुसाणवित्ती य नीया य ॥

(उनि ३१६)

देशी शब्द

मज्जुक—चावल की एक जाति ।	(दशनि २२९)	खुल—खण्डित ।	(दनि १४)
महु—दर्पण ।	(दनि ९६)	खुल्लय—छोटा ।	(उनि २३०)
अहाग—दर्पण ।	(दशनि १३३)	खुह—कर्म ।	(दनि १२४)
अडा—काल ।	(दशनि २५१)	गंभी—दुष्ट घोड़ा, अविनीत बैल ।	(उनि ६५)
अम्होव—वनस्पति विशेष ।	(उनि ३९०)	गली—दुष्ट घोड़ा, अविनीत बैल ।	(उनि ६५)
अम्मा—मां, माता ।	(उनि ४१४)	गोण—बैल ।	(उनि ६५, दनि १२)
अवय—अनन्तकाय वनस्पति ।	(आनि १४१)	खंणिया—अशुचिस्थान, मल-	(उनि १०६)
अवहेङ्ग—आंध्रा कीशी रोग ।	(उनि १५०)	विसर्जन भूमि	
उंदर—चूहा ।	(दशनि १३३)	खडगर—बड़ा-चढ़ाकर कहना ।	(दशनि १८७)
उधाहकारि—अवहेलना करने वाला ।	(उनि १३९)	खडुला—खण्ड-खण्ड किया हुआ ।	(सूनि ६९)
उत्तुइय—उत्तेजित ।	(दशनि १८५)	खिक्खल्ल—कदम, कीचड़ ।	(दनि ६०)
ओसा—ओस ।	(आनि १०८)	खिक्खल्ल—कीचड़ ।	(दनि ७४)
कंगु—धान्य विशेष ।	(दशनि २२९)	खोपाल—खालीस ।	(उनि १७१)
कसव—अनन्तकाय वनस्पति ।	(आनि १४१)	खोल्लग—भोजन, क्रम से घर-घर	
काइय—मूत्र ।	(दनि ७२)	में किया जाने वाला भोजन ।	
कालेज्ज—हृदय का मांस खण्ड ।	(सूनि ६१)		(उनि १६१)
किण्हय—वर्षा काल में घड़े आदि में		अल्ल—मैल ।	(उनि ११८)
होने वाली एक प्रकार की काई ।	(आनि १४१)	इगल—पत्थर के टुकड़े ।	(दनि ८८)
कुडंग—बांस का भुरमुट्टा ।	(उनि ३४२)	इक्कण—ठकना, ठक्कन ।	(दशनि ६३)
कुडिय—चुराई हुई वस्तु की खोज		इक्किय—कृषि की गर्जना ।	(उनि २६०)
करने वाला ।	(उनि १०८)	तलवर—नगररक्षक, कोतवाल ।	(उनि ३०८)
कुहाडि—कुल्हाड़ी, फरसा ।	(आनि १४९)	तिपुडग—धान्य विशेष ।	(दशनि २३०)
कोस—समुद्र, सागर ।	(आनि ११३)	खालि—रेखा ।	(दनि १४)
खदावाणिय—धनी, समृद्ध ।	(दनि ९९)	कुयग—दम्पति ।	(उनि ३६०)
खलुंक—अविनीत बैल, दुष्ट ।	(उनि ४८२, आनि २५५)	घणिय—अधिक ।	(दनि ११५)
		घणीय—अत्यन्त गाढ़ ।	(दशनि ६८)
खुह—छोटा शिष्य ।	उनि ९०	धुल—कर्म ।	(दनि १२४)
खुहुग—छोटा शिष्य ।	(आनि २२८)	नालिएर—नारियल ।	(आनि १३३)
खुडय—छोटा ।	(उनि ९१)	नासीर—शिकार ।	(उनि ३८८)
		पणग—कर्म ।	(दनि १२४)

पणय—अनन्तकाय वनस्पति, कदम, काई । (आनि १४१)	मराली—दुष्ट थोड़ा, अविनीत बेल । (उनि ६५)
पतिरिक्त—शून्य एकांत । (दशनि ३४७)	मोरा—बड़ा चूल्हा । (सूनि ६४)
पाण—चण्डाल । (उनि ३१६)	मो—पादपूरक अव्यय । (दशनि १२३/६)
परासर—आह्वान । (उनि ११५)	र—निश्चयार्थक अव्यय । (दशनि १२३/१०)
पिउड—खाद्य पदार्थ विशेष । (उनि १७२/३)	रुख—वृक्ष । (उनि १४६, आनि ८०)
पुण्यपत्त—खुशी से हुत वस्त्र । (उनि ३४२)	सिड—सीँड । (दशनि ८४)
पोंड—फल । (उनि १५२)	सुख ^१ —वृक्ष । (उनि १३८)
पोंडय—कपास का सूत । (उनि ३०५, सूनि ३)	वन्धारिय—बधारा हुआ । (दनि ११६)
पोदसाह—पुरुष का मांस खाने वाला । (उनि ३६४)	वत्ता—सूत्रवेष्टन यंत्र । (सूनि २०१)
फिफिक्त—आंतस्थित मांस विशेष । (सूनि ७१)	विहिमी—वृक्ष । (दशनि ३२)
कुंकुण—करीबानि । (दशनि १८५)	विफिडि—छोटा तालाब । (उनि १३८)
कुफकुस—उदरवर्ती आंत विशेष । (सूनि ७१)	वोसंत—जाते हुए । (उनि ४०७)
बइल—बैल । (दनि ९३)	संगार—संकेत । (सूनि ३२)
बाहिर—चंडाल की जाति । (उनि ३१६)	संगविय—मित्र । (उनि ३५६)
बोड—खण्डित घट । (दनि १४)	सम्म—मल । (दशनि ६३)
बोडिय—जैन सम्प्रदाय विशेष । (उनि १६२/१५)	साल—शाखा । (उनि ३२)
बंढी—गाड़ी । (दनि ९३)	साह—कहना । (दशनि ८१)
बाणिय—अनन्तकाय वनस्पति । (आनि १४१)	साह—अंश । (उनि १५८)
भेवंड—निविष सर्प । (उनि ३१९)	सुडुय—फूल । (दशनि ३३)
मइलित—मैला, गंदा । (उनि १०६)	सेडि ^१ —सेठ । (उनि १००)
मइल—कर्म । (दनि १२५)	सेहि—सैद्ध साठवी । (उनि १३९)
मगत—पीछे । (दनि १०६)	हड—अनन्तकाय वनस्पति । (आनि १४१)
मलगा—पात्र विशेष । (आनि ५९)	हरतणु—पृथ्वी को भेदकर निकलने वाले जलबिंदु । (आनि १०८)
	हरिमंथ—चना । (दशनि २३०)

निक्षिप्त शब्द

अंग (अङ्ग)	(उनि १४४-५६, आनि २)	उवासग (उपासक)	(दनि ३५-३७)
अग्न (अग्न)	(आनि ३०५, ३०६)	उसुयार (इषुकार)	(उनि ३५३, ३५४)
अजीव (अजीव)	(उनि ५४६, ५४७)	एकक (एक)	(दशनि ८, १९१, उनि १४२, ३७३)
अजम्भण (अजम्भन)	(दशनि २५१२, ३०, उनि ५-११, ५३८, ५३९, सूनि १४३)	एककग (एकक)	(उनि १४२, ३७३)
अजम्भीण (अजम्भीण)	(उनि ५)	एसणा (एषणा)	(दशनि २१७।१, २१८।२, ३, ४)
अणगार (अणगार)	(उनि ५४१, ५४२)	कड (कृत)	(सूनि ४)
अद् (आर्द्र)	(सूनि १८५-८७)	कम्म (कर्मन्)	(उनि ५२२-२४, आनि १९३, १९४)
अप्पमाद (अप्रमाद)	(उनि १७३, ४९९)	कण्ठ (करण)	(उनि १७३-१७७, सूनि ४-१४)
अज (अज)	(सूनि २०१)	कविल (कपिल)	(उनि २४३, २४४)
अवाय (अपाय)	(दशनि ५१-५३)	कसाय (कषाय)	(आनि १९१)
अहिंसा (अहिंसा)	(दशनि ४२)	काम (काम)	(दशनि १३७-३९, उनि २००)
आजाइ (आजाति)	(दनि १२९, १३०)	कारग (कारक)	(सूनि ४)
आदान (आदान)	(सूनि १३२)	काल (काल)	(दशनि १०)
आदि (आदि)	(सूनि १३४-३६)	किरिया (क्रिया)	(सूनि १६७)
आय (आय)	(दशनि २९, उनि ५)	केसि (केशिन्)	(उनि ४४७)
आयार (आधार)	(दशनि १५४-६१, उनि ४७९, ४८०, आनि ५, सूनि १८२)	खंघ (स्कन्ध)	(सूनि २३)
आहार (आहार)	(सूनि १७०, १७१)	खलुंक (दे.)	(उनि ४८२, ४८३)
इत्थी (स्त्री)	(सूनि ५५)	खुहुग (दे.)	(उनि २३०, ४१६)
इरिया (ईर्या)	(आनि ३२८-३३०)	खुस्तय (दे.)	(दशनि १५३, उनि २३०)
उग्गह (अवग्रह)	(आनि ३३९-४२)	गद् (गति)	(दशनि १०९-११)
उण्ह (उष्ण)	(आनि २००)	गणि (गणिन्)	(दनि २५)
उत्तर (उत्तर)	(उनि १-३)	गति (गति)	(उनि ४९५, ४९६, ५०७, ५४३)
उरब्भ (उरब्भ)	(उनि २३८, २३९)	गहण (ग्रहण)	(सूनि १३२)
उवसग्ग (उपसर्ग)	(आनि ४७-४९)	गाघा (गाथा)	(सूनि २३, १३७, १३८)
उवहाण (उपधान)	(आनि ३००-३०२)	गुण (गुण)	(आनि १७९)
उवाय (उपाय)	(दशनि ५७, ५८)	गोतम (गौतम)	(उनि ४४५-४७)

चउ (चतुर)	(उनि १४३)	पत्त (पत्र)	(उनि २७५)
चरण (चरण)	(उनि ३७७, ५०९, ५१०, आनि. २९, ३०)	पद (पद)	(दशानि १४२-४५)
चार (चार)	(आनि २४६)	पमाय (प्रमाद)	उनि १७३, ५१४, ५१५)
चित्त (चित्त)	(उनि ३२२, ३२३, दनि ३२-३३।१)	पर (पर)	(आनि ३४७)
चूलिया (चूलिका)	(दशानि ३३४, ३३५)	परिणा (परिणा)	(आनि ३७, २६७, २६८, सूनि १७९)
छक्क (षट्)	(उनि ३७४)	परीसह (परीषह)	(उनि ६६-६८)
छक्कग (षट्क)	(दशानि १९२)	पवमण (प्रवचन)	(उनि ४५२, ४५३)
जण (यज्ञ)	(उनि ४५७, ४५८)	पव्वज्जा (प्रवज्या)	(उनि २५६)
जाय (जात)	(आनि ३३६)	पाय (पात्र)	(आनि ३३८)
जीव (जीव)	(दशानि १९०, १९५-१९७, उनि ५४४, ५४५)	पालिय (पालित)	(उनि ४२३)
झवणा (क्षपणा)	(उनि ५, ११)	पाव (पाप)	(उनि ३८०, ३८१)
ठवणा (स्थापना)	(दनि ५५-५८)	पाहण (प्राधान्य)	(आनि २६४)
ठाण (स्थान)	(उनि ३७९, ५१६, आनि. १८५, सूनि १६८, दनि १०)	पिड (पिड)	(दशानि २१७।१, २१८)
तव (तपस्)	(उनि ५०५, ५०६)	पुडवी (पृथ्वी)	(आनि ६९, ७०)
तह (तथ्य)	(सूनि १२२, १२३)	पुत्त (पुत्र)	(उनि ४०१)
थुति (स्तुति)	(सूनि ८४)	पुप्फ (पुष्प)	(दशानि ३१)
दसग (दशक)	(दशानि ९)	पुरिस (पुरुष)	(सूनि ५६)
दसा (दशा)	(दनि २)	पुव्वग (पूर्वक)	(दशानि १२७-३६)
दिसा (दिक्)	(आनि ४०-४२)	पूमा (पूजा)	(उनि ३०३, ३०८, ३०९)
हुम (हुम)	(दशानि ३१, उनि २७३, २७४)	पोंडरीय (पुंडरीक)	(सूनि १४४-४६)
धम्म (धर्म)	(दशानि ३६-४०, सूनि १००, १०१)	बंध (बंध)	(दनि १३८-४१)
नमि (नभि)	(उनि २५३, २५४)	बंध (ब्रह्मन्)	(उनि ३७५, ३७६, आनि १८-२८)
निकाय (निकाय)	(दशानि १९०)	बहु (बहु)	(उनि ३०३, ३०४)
निथंठ (निर्ग्रंथ)	(उनि २३१, २३२, ४१७, ४१८)	बोह (बोध)	(सूनि ४२)
निहा (निद्रा)	(सूनि ४२)	भावणा (भासना)	(आनि ३४९)
निरय (निरय)	(सूनि ६२, ६३)	भासा (भाषा)	(दशानि २४५, २४७, आनि ३३६)
निसीहिया (निशीथिका)	(आनि ३४३)	भिदियव्व (भिदितव्य)	(उनि ३६९, ३७०)
पगडि (प्रकृति)	(उनि ५२५-२८)	भिकखु (भिक्षु)	[(दशानि ३०९-१६, उनि ३६७, ३६८ दनि ४५)
पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान)	(सूनि १८०)	भेत्ता—	(उनि ३६९, ३७०)
पडिमा (प्रतिमा)	(दनि ४१, ४२)	भेयण (भेदन)	(उनि ३६८, ३६९)
पणिधि (प्रणिधि)	(दशानि २६९-७१)	मंगल (मंगल)	(दशानि ४१)

मग (मार्ग)	(उनि ५४३, ४९३, ४९४, ५०७ सूनि १०७-१०९)	संजत (संयत)	(दशनि ३४६)
मरण (मरण)	(उनि २०१, २०२)	संजोग (संयोग)	(उनि ३०-६४)
मह (महद्)	(सूनि ८३)	संपदा (संपदा)	(दनि २८)
महंत (महद्)	(दशनि १५३, उनि २३०, ४१६, आनि २६४-६६, सूनि १४२)	संभूत (संभूत)	(उनि ३२२, ३२३)
मात (मातृ)	(उनि ४५४, ४५५)	संसार (संसार)	(आनि १९२)
मिया (भृगा)	(उनि ३९९, ४००)	संसार (संसार)	(दशनि ३०५)
मूल (मूल)	(आनि १८३, १८४)	सण्णा (संज्ञा)	(आनि ३८)
मोक्ष (मोक्ष)	(उनि ४९१, ४९२)	सत्थ (शस्त्र)	(दशनि २१३, आनि ३६)
मोह (मोह)	(दनि १२१, १२२)	सद् (शब्द)	(आनि ३४६)
रति (रति)	(दशनि ३३७, ३३८)	सबल (शबल)	(दनि १२)
रहनेमि (रथनेमि)	(उनि ४३७, ४३८)	समण (श्रमण)	(दशनि १२८, उनि ३८२)
लाभ (लाभ)	(दनि १५)	समय (समय)	(सूनि. ३२)
लेसा (लेश्या)	(उनि ५२९, ५३०)	समाधि (समाधि)	(दशनि २८६, ३०४, उनि ३७८, सूनि १०४-१०६)
लोग (लोक)	(आनि १७६, १७७)	समाहि (समाधि)	(दनि ९, ३३१२, ३४)
वक्क (वाक्य)	(दशनि २४५, २४७)	समुद् (समुद्र)	(उनि ४२३)
वत्थ (वस्त्र)	(आनि ३३८)	समोसरण (समवसरण)	(सूनि ११६, ११७)
विजय (विजय)	(आनि १७७)	सम्म (सम्यक्)	(आनि २१७-१९)
विणय (विनय)	(दशनि २८६)	सरीर (शरीर)	(दशनि २११)
विभत्ति (विभक्ति)	(उनि ५४८, ५४९ सूनि ६४)	साम (सम्यक्)	(उनि ४७७, ४७८)
विमोक्ष (विमोक्ष)	(आनि २७६-७८)	सामण (श्रामण्य)	(दशनि १२७)
विधालणिय (विदारणीय)	(सूनि ३८, ३९)	सार (सार)	(आनि २३९)
विरिय (वीर्य)	(सूनि ९१-९४)	सीय (शील)	(आनि २००, २०१)
विहंगम (विहंगम)	(दशनि १०७)	सील (शील)	(सूनि ८६, ८७)
विहि (विधि)	(उनि ५११, ५१३)	सुतखंध (श्रुतस्कंध)	(उनि १२, आनि २)
वीर (वीर)	(सूनि ८३)	सुत्त (सूत्र)	(आनि ३००, सूनि ३, १८२)
वेयालग (वैतालक)	(सूनि ३८)	सुद्धि (शुद्धि)	(दशनि २५९-६२)
वेयालण (विदारण)	(सूनि ३८)	सुय (श्रुत)	(उनि २९, ३०३, ३०५, ५०१- ५०३, सूनि २३)
संजइज (संयतीय)	(उनि ३८५, ३८६)	सेज्जा (शय्या)	(आनि. ३२१-२४)
		हरिएस (हरिवेष्टा)	(उनि ३११, ३१२)

कथाएं

दशवेकालिक-निर्युक्ति की कथाएं

१. शय्यभंग और मत्तक
२. रत्नवणिक्
३. अनर्थ का मूल—धन
४. क्षेत्र और काल अपाय (दशार्हवर्ग और द्वैपायन ऋषि)
५. क्रोध का दारुण परिणाम
६. सत्यप्रतिज्ञा महिला (अभयकुमार और वृद्धकुमारी)
७. हिगुशिव
८. उपाय से अपाय का निवारण (गोधर्विक)
९. सुभद्रा का शील
१०. आर्या चन्द्रना का अनुशासन (मृगावती)
११. कृत्रिम चक्रवर्ती (कोणिक)
१२. आश्वासन (गौतम और महावीर)
१३. नलदाम जुलाहे की बुद्धिमत्ता
१४. महाराज प्रद्योत और अभयकुमार
१५. गोविंद आचार्य
१६. उपाय कथन का विवेक (पिंगल स्थपति)
१७. व्यसनों की शृंखला (बौद्ध भिक्षु)
१८. अथथार्थ आश्चर्य
१९. स्वर्ण खोरक
२०. हेतु उपन्यास
२१. धूर्त पत्नी
२२. लोक का मध्य
२३. शकटतित्तिरी
२४. धूर्तता से धूर्तता का निरसन
२५. दक्षता का उदाहरण (चार मित्र)
२६. दुष्ट श्रद्धा
२७. स्वाध्याय-काल में काल और अकाल का विवेक

२८. भक्ति और बहुमान

२९. उपमान

३०. गुरु का श्रपलाप

उत्तराध्यायन-निर्युक्ति की कथाएं

१. अहं से अहंम् (सनत्कुमार चक्रवर्ती)
२. क्षुधा परीषद्
३. पिपासा परीषद्
४. शीत परीषद्
५. उष्ण परीषद् (अर्हभक्त)
६. दंशमशक परीषद्
७. अचेल परीषद्
- ८-९. अरति परीषद्
१०. स्त्री परीषद् (स्थूलिभद्र मुनि और सिंह-गुफावासी यति)
११. चर्या परीषद्
१२. निषीधिका परीषद्
१३. शय्या परीषद्
१४. आक्रोश परीषद् (अर्जुनमाली)
१५. वध परीषद् (स्कन्दक)
१६. याचना परीषद् (बलदेव)
१७. अलाभ परीषद् (ब्रह्मण मुनि)
१८. रोग परीषद् (कालवैशिक मुनि)
१९. तृणस्पर्श परीषद्
२०. जल्ल परीषद् (सुनंद)
२१. सत्कार-पुरस्कार परीषद् (इंद्रदत्त पुरोहित)
२२. प्रज्ञा परीषद् (आचार्य कालक)
२३. अज्ञान परीषद् (अशकट पिता)
२४. ज्ञान परीषद् (आचार्य स्थूलिभद्र)
२५. दर्शन परीषद् (आषाढभूति)

२६. चोलक
२७. पाणक
२८. धान्य
२९. झूत
३०. रत्न
३१. स्वप्न
३२. चक्र
३३. चर्म
३४. युग
३५. परमाणु
३६. जमालि और बहुरसवाय
३७. तिष्यगुप्त और जीवप्रादेशिकवाद
३८. आचार्य अषाढ के शिष्य और अव्यक्तवाद
३९. अश्वमित्र और समुच्छेदवाद
४०. आचार्य गंग और द्वैतवाद
४१. रोहगुप्त और त्रैलोक्यवाद
४२. गोष्ठामाहिल और अव्यक्तवाद
४३. शिवभूति और बोटिकवाद
४४. उरध्व
४५. काकिणी
४६. अपत्य अंबगं भोज्या
४७. तीन वणिक् पुत्र
४८. कपिल पुरोहित
४९. करकंडु
५०. दुर्मुख
५१. नमि
५२. नगति
५३. गौतम की अधीरता
५४. हरिकेशबल
- ५५, ५६. चित्र-संभूत
५७. भृगु पुरोहित
५८. राजर्षि संजय
५९. मृगापुत्र

६०. समुद्रपाल
६१. रथनेमि-राजीमती
६२. जयघोष-विजयघोष

आचारांग-निर्युक्ति की कथाएं

१. जातिस्मरण-१
२. जातिस्मरण-२
३. जातिस्मरण-३
४. दृष्टि का महत्त्व
५. सकुंडलं वा वयणं न व सि
६. आर्य वज्र का अनशन
७. आर्य समुद्र का अनशन
८. आचार्य तोसलि का अनशन
९. आचार्य की तीक्ष्ण आज्ञा
१०. द्रव्य शय्या

सूत्रकृतांग-निर्युक्ति की कथाएं

१. अभयकुमार बंदी बना
२. महाराज प्रद्योत और अभयकुमार
३. कुलबाल
४. पौडरीक
५. आर्द्रककुमार
६. गौतम और उदक की चर्चा
७. ऋषभ के अष्टानवे पुत्र

वशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति की कथाएं

१. क्षमादान : महादान
२. उद्रायण और प्रद्योत
३. हरिद्र किसान और चोर सेनापति
४. क्रोध का दुष्परिणाम
५. विषा ही बदल गई (अत्यंतकारी मट्टा)
६. आराधक : विराधक (पञ्चरज्जा साठवीं)
७. करणी का फल (आर्य मगु)

दशवैकालिक-निर्युक्ति की कथाएं

१. शर्यभवा और मनक^१

अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के तीसरे पट्टधर आर्य प्रभव थे। एक बार उनके मन में चिंतन उत्पन्न हुआ कि मेरे बाद गण की धारण करने में कौन समर्थ होगा? उन्होंने अपने गण और संघ पर दृष्टि डाली पर कोई भी परम्परा की अविच्छिन्न निभाने वाला पट्टधर नहीं मिला। फिर उन्होंने गृहस्थ समाज पर दृष्टि टिकाई। उपयोग लगाने पर उन्होंने राजगृह नगर में शर्यभवा ब्राह्मण को यज्ञमंडप में यज्ञ करते देखा। आचार्य प्रभव राजगृह नगरी में आए और अपने शिष्यों को यज्ञ-मंडप में भिक्षार्थ भेजा। आचार्य प्रभव ने कहा—‘वहां तुम्हें जब प्रवेश के लिए निषेध करें तो तुम कहना—‘अहो! कष्टं तत्त्वं न शायते—खेद है, सत्य को नहीं जानते।’ साधु वहां गए उन्हें द्वार पर ही रोक दिया गया तब उन्होंने कहा—‘अहो कष्टं तत्त्वं न शायते!’ शर्यभवा ब्राह्मण द्वार पर ही खड़ा था। उसने यह बात सुनी। उसने सोचा—ये उपशान्त तपस्वी असत्यभाषण नहीं करते अतः तत्काल अपने अध्यापक के पास आकर उसने पूछा—‘तत्त्वं क्या है?’ अध्यापक ने कहा—‘वेद।’ तब शर्यभवा ने म्यान से तलवार निकालकर क्रोध में आकर कहा—‘यदि तुम मुझे सही तत्त्व नहीं बताओगे तो मैं तुम्हारा सिर काट दूंगा।’ तब अध्यापक बोला—‘मेरा समय पूरा हो गया है। वेदार्थ में यह प्रतिपादित है कि सिरच्छेद का प्रसंग उपस्थित हो जाने पर सत्य की अभिव्यक्ति कर देनी चाहिए। अब मुझे यथार्थ का गोपन नहीं करना चाहिए।’ अध्यापक ने कहा—‘इस स्तूप के नीचे एक स्वर्णमयी अर्हत् प्रतिमा है अतः आर्हत् धर्म तत्त्व है।’ तब शर्यभवा अध्यापक के चरणों में गिर पड़े। शर्यभवा ने यज्ञवाद के सारे उपस्कर अध्यापक को दे दिए। शर्यभवा उन साधुओं की गवेषणा करते हुए आचार्य के पास पहुंच गए। आचार्य को वंदना करके साधुओं को कहा—‘मुझे धर्म का उपदेश दो।’ आचार्य ने उपयोग लगाया और उन्हें पहचान लिया। तब आचार्य ने उन्हें साधु-धर्म की जानकारी दी। शर्यभवा संबुद्ध होकर प्रव्रजित हो गए। कालान्तर में वे नतुर्देशपूर्वी हुए। जब वे प्रव्रजित हुए तब उनकी भार्या गर्भवती थी। शर्यभवा के प्रव्रजित हो जाने पर लोग यह कहते—अरे, देखो, यह अपनी तरुण पत्नी को छोड़कर प्रव्रजित हो गया है। यह निःसंतान है। वे लोग उसकी पत्नी को पूछते—‘क्या गर्भस्थ कुछ है?’ वह कहती—प्रतीत होता है कि मनाक्—कुछ है। समय बीता। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। बारह दिन बीतने पर स्वजनों ने पुत्र का नाम ‘मनक’ रखा क्योंकि गर्भकाल में स्वजनों द्वारा पूछने पर वह कहती थी—‘मणक’ अर्थात् कुछ है।

जब बालक मनक आठ वर्ष का हुआ तब उसने अपनी मां से पूछा—‘मेरे पिता कौन हैं?’ वह बोली—‘तुम्हारे पिता प्रव्रजित हो गए। ज्ञात नहीं है अब वे कहाँ हैं?’ बालक अपने पिता की

१. आगे अनुवाद में एक और दो कथा के नम्बर नहीं लगे हैं। वहां १ नम्बर की कथा की कथा सं० ३ पर पढ़ें।

खोज में घर से निकल पड़ा। आचार्य उस समय चंपा में विहरण कर रहे थे। बालक मनक भी चंपा में आ गया। आचार्य जब संज्ञा-भूमि में आ रहे थे तब उन्होंने बालक को देखा। बालक ने आचार्य को बंदना की। बालक को देखते ही आचार्य के मन में बालक के प्रति स्नेह उमड़ आया। बालक के मन में भी आचार्य के प्रति अनुरक्ति जाग गयी। आचार्य ने पूछा—'बत्स ! तुम कहाँ से आए हो ?' बालक बोला—'राजगृह नगरी से।' आचार्य ने पूछा—'राजगृह नगरी में तुम किसके पुत्र या पौत्र हो ?' बालक ने कहा—'मैं शय्यभवा ब्राह्मण का पुत्र हूँ।' आचार्य ने पूछा—'तुम यहाँ किस प्रयोजन से आए हो ?' बालक बोला—'मैं भी दीक्षित होना चाहता हूँ।' बालक ने आचार्य से पूछा—'क्या आप मेरे पिता को जानते हैं ?' आचार्य ने कहा—'मैं उनको जानता हूँ।' बालक ने फिर पूछा—'वे अभी कहाँ हैं ?' आचार्य बोले—'वे मेरे एक शरीरभूत अभिन्न मित्र हैं। तुम मेरे पास प्रव्रजित हो जाओ।' उसने अपनी स्वीकृति दे दी। आचार्य उसको साथ लेकर उपाश्रय में आए और सोचा—'यह सचित्त उपलब्धि हुई है।' उन्होंने बालक को प्रव्रजित कर दिया।

दीक्षित करने के बाद आचार्य ने अपने ज्ञान-बल से उसका आयुष्य जानना चाहा। ज्ञान से उन्होंने जाना कि इसका आयुष्य केवल छह मास का ही है। आचार्य ने सोचा—'इसका आयुष्य बहुत कम है अतः क्या करना चाहिए ?' वे जानते थे, चतुर्दशपूर्वी किसी भी कारण के उपस्थित होने पर अवश्य ही पूर्वों से ग्रन्थ का निर्यूहण करते हैं। अन्तिम दशपूर्वी भी अवश्य ही निर्यूहण करते हैं। आचार्य ने सोचा—'मेरे सामने भी कारण उपस्थित हुआ है अतः मुझे निर्यूहण करना चाहिए। उन्होंने पूर्वों से निर्यूहण करना प्रारम्भ कर दिया। निर्यूहण करते-करते विकास की वेला आ गई, दिन कुछ ही अवशिष्ट रहा। दस अध्ययनों का निर्यूहण सम्पन्न हुआ, इसलिए इस ग्रन्थ का नाम 'दसवेआलियं' रखा गया।'

२ रत्नवणिक

एक वणिक दारिद्र्य से अभिभूत था। एक बार वह घूमते हुए रत्नद्वीप में पहुँचा। वहाँ उसने त्रैलोक्य सुन्दर अमूल्य रत्नों को देखा। उनकी गठरी बांध वह घर की ओर चल पड़ा। सम्ये रास्ते में चोर आदि के भय से उन्हें सकुशल घर से जाना सम्भव नहीं था। बुद्धि-कौशल से उसने एक उपाय किया। उन रत्नों को एक स्थान पर गाड़कर अपने हाथ में जीर्ण-शीर्ण पत्थरों को लेकर पागल के वेश में 'यह रत्नवणिक जा रहा है', 'यह रत्नवणिक जा रहा है'—यों चिल्लाता हुआ चोरों की पत्ली के पास से गुजरा। आगे जाकर पुनः लौटते हुए उन्हीं शब्दों को दोहराता हुआ वहाँ से गुजरा। उसने तीन बार ऐसे ही किया। चोरों ने उसे देखा पर पागल समझकर उस ओर ध्यान नहीं दिया। चौथी बार वह गड़े रत्नों को लेकर सुखपूर्वक चोर-पत्ली को पार कर गया। अटवी लंबी थी अतः वह तीव्र प्यास से अभिभूत हो गया। अटवी में उसने एक गड्ढा देखा। गड्ढे में थोड़ा पानी था। उस पानी में अनेक हिरण मरे पड़े थे। इसलिए सारा पानी बसामय हो गया था। उसने श्वाश रोककर स्वाद न लेते हुए उस पानी को पीया। प्यास शांत हुई। वह रत्नों के साथ सुरक्षित रूप से घर पहुँच गया।*

३. अनर्थ का मूल—धन

एक नगर में दो भाई रहते थे। वे बहुत गरीब थे। एक बार वे धनार्जन के लिए मालव देश से सौराष्ट्र गए। वहाँ उन्होंने एक हजार रुपये कमाए। जब वे पुनः अपने घर लौटने लगे तो रुपयों की नौली की बारी-बारी से सुरक्षा करने लगे। एक बार जब एक भाई के पास नौली थी तब दूसरा सोचने लगा—‘अच्छा हो इसको मार दूँ, जिससे वे सारे रुपये मुझे मिल जाएंगे।’ ऐसा ही चिन्तन दूसरे भाई के दिमाग में भी आया। परस्पर एक दूसरे का मारने की चिन्ता में वे चले और अपने ग्राम के समीप बहने वाली नदी के तट पर विश्राम करने ठहर गए।

सहसा छोटे भाई के विचार बदले और वह रोने लगा। दूसरे भाई ने कारण पूछा तो वह बोला—‘मुझे शिक्कार है। मैं धन के लिए अपने भाई को मारने के लिए भी तैयार हो गया।’ दूसरे भाई ने कहा—‘मेरे दिमाग में भी तुम्हें मारने की बात आई थी पर अब मेरा विचार बदल गया है।’ इस धन के कारण ही हमारे मन में बुरे विचार आए ऐसा सोचकर उन दोनों भाइयों ने रुपयों की नौली को नदी में बहा दिया। वहाँ से चलकर वे अपने घर पहुँच गए।

नदी में गिरी हुई उस नौली को एक मत्स्य निगल गया। प्रातः धीवर ने मछलिया पकड़ने के लिए नदी में जाल फेंका। संयोगवश वही मत्स्य उसके जाल में फँस गया और मर गया। धीवर उसे बाजार में बेचने के लिए ले आया। इधर उन दोनों भाइयों की माता ने अपनी लड़की से कहा—‘आज तुम्हारे भाई आए हैं अतः उनके लिए मत्स्य ले आओ।’ वह गई और संयोगवश उसी मत्स्य को ले आई, जिसके पेट में वह नौली थी।

मत्स्य को काटते समय लड़की ने वह नौली देखी और उसे अपनी गोद में छिपा ली। उसकी यह क्रिया बूढ़ी माँ देख रही थी। उसने पूछा—‘बेटी! तुमने गोद में क्या छिपाया है?’ लोभवश लड़की ने कुछ नहीं बताया। बूढ़ी माँ उठी और लड़की के पास आकर छीना-भपट्टी करने लगी। लड़की को आवेश आ गया। उसने अपनी बूढ़ी माँ के समस्थल पर ऐसा प्रहार किया कि वह तत्काल मर गई। भाई बाहर बैठे थे। उन्होंने माँ बेटी की तकरार सुनी। वे अन्दर आए। नौली की जमीन पर पड़ी देख वे माँ की मृत्यु का कारण जान गए। ‘यह धन दोष-बहुल है। इसने हमारी नहीं तो माँ की जान ले ली।’ यह सोच उनका मन उद्विग्न हो गया। वे विरक्त हो गए। उस लड़की का विवाह कर वे प्रव्रजित हो गए।^१

४. क्षेत्र और काल अपाय (दशार्हवर्ग और द्वैपायन ऋषि)

दशार्ह हरिवंश में उत्पन्न राजा थे। कंस ने मथुरा नगरी का विनाश कर दिया। इधर राजा जरासंध का भय बढ़ा तब उस क्षेत्र को अपाय-बहुल समझकर दशार्हवर्ग मथुरा से चलकर द्वारवती नगरी में आ गए।

एक बार भगवान् कृष्ण ने अरिष्टनेमि से पूछा—भगवन्! द्वारवती (द्वारिका) का विनाश कब होगा? भगवान् अरिष्टनेमि ने उत्तर दिया—‘द्वैपायन ऋषि के द्वारा इस नगरी का विनाश चारह वर्षों में होगा। द्वैपायन ऋषि ने उद्योतवरा नगरी में यह बात कर्णकर्णिकया सुनी। ‘मैं इस नगरी का विनाशक न बनूँ, अतः इस कालावधि तक कहीं अन्यत्र चला जाऊँ,’ यह सोच वे द्वारिका

नगरी छोड़कर उत्तरापथ में चले गए ।

कालमान की विस्मृति हो जाने के कारण वे बारहवें वर्ष में ही द्वारिका पुनः लौट आए । यादव कुमारों ने उन्हें अनेकविध कष्ट पहुँचाए । रुष्ट होकर ऋषि ने निदान कर लिया । सरकार वे देव बने और उस नगरी का विनाश कर डाला ।^१

५. क्रोध का दारुण परिणाम

एक क्षपक अपने शिष्य के साथ भिक्षाचर्या में गया । मार्ग में उसके द्वारा एक मेंढकी मर गई । शिष्य ने कहा—‘आपके द्वारा एक मेंढकी मर गई है ।’ क्षपक बोला—‘रे दुष्ट शिष्य ! मैंने कब मारी ? यह तो कब से ही मरी पड़ी थी ।’ इसके बाद वे दोनों अपने स्थान पर पहुँच गए । संध्याकालीन प्रतिक्रमण के समय जब क्षपक ने मेंढकी की आलोचना नहीं की तो शिष्य ने उन्हें सचेष्ट करते हुए कहा—‘आप उस मेंढकी की आलोचना करें ।’ उसकी इस बात पर क्षपक रुष्ट हो गया और श्लेष्म-शराव लेकर शिष्य को मारने दौड़ा । दौड़ते हुए वह एक खंभे से टकराया और पृथ्वी पर गिरते ही मर गया । वह अरुणर ज्योतिष्क देव बन ।

वहाँ से च्युत होकर वह दृष्टि-विष सर्पों के कुल में दृष्टि-विष सर्पों के रूप में पैदा हुआ । एक दिन एक सर्प नगर में इधर-उधर घूम रहा था । उसने राजकुमार को काट लिया । सर्पविद्या-विशारद एक सपेरे ने विद्याबल से सभी सर्पों को आमंत्रित किया और विद्याबल से निर्मित मंडल में उनको प्रविष्ट कर बोला—‘अन्य सभी सर्प अपने-अपने स्थान पर चले जाएं । वही सर्प यहाँ ठहरे, जिसने राजकुमार को काटा है ।’ सभी सर्प चले गए । एक सर्प उस मंडल में ठहरा । सपेरे ने उसको कहा—‘या तो तुम वान्त विष को पी लो अन्यथा इस अग्नि में गिरकर भस्म हो जाओ ।’ वह सर्प अगन्धन कुल का था । उसने अग्नि में प्रवेश कर प्राण त्याग दिये परन्तु वान्त विष का पान नहीं किया । विष का अपहार न होने से राजकुमार की मृत्यु हो गई । राजा अत्यन्त क्रुपित हो गया । उसने राज्य में यह घोषणा करवाई कि जो कोई मुझे सर्प का शिर लाकर देगा, उसे प्रत्येक शिर की एक दीनार मिलेगी । दीनार के लोभ में लोग सर्पों को मारने लगे ।

क्षपक का जीव देवलोक से च्युत होकर जिस सर्पकुल में जन्मा था, वह जातिस्मृतिज्ञान से सम्पन्न था । सर्प ने जातिस्मृति से अपना पूर्व जन्म देख लिया । ‘मेरे देखने मात्र से व्यक्ति भस्मसात् हो जाता है’—यह सोचकर वह दिन भर बिल में रहता और रात को बाहर घूमता । एक बार कुछ सपेरे साँपों की खोज में रात को निकले । वे अपने साथ एक प्रकार का गंध द्रव्य ले गए जिससे रात्रि में निकलने वाले सर्पों की खोज सुखपूर्वक हो सके । उन्होंने घूमते-घूमते उस क्षपक सर्प का बिल देखा । उन्होंने बिल-द्वार पर बैठकर औषधि का प्रयोग किया और सर्प को आह्वान किया । सर्प सोचने लगा—‘मैंने क्रोध का कटु परिणाम देख लिया है । मैं मुँह की ओर से बाहर निकलूँगा तो किसी को जला डालूँगा अतः पूँछ से निकलना ही उचित है ।’ वह पूँछ की तरफ से बाहर निकलने लगा ? उसके शरीर का जितना भाग बाहर निकलता वे सपेरे उसको काट डालते । वह निकलता गया और सपेरे उसके टुकड़े करते गये । शिरच्छेद होते ही वह मर गया ।

वह सर्प देवता परिगृहीत था । देवता ने राजा को स्वप्न में दर्शन देकर कहा—‘राजन् !

सर्पों को मत मारो । नागकुल से निकलकर वह सर्प तुम्हारा पुत्र होगा । उसका नाम नागदत्त रख देना ।'

वह क्षपक सर्प प्राण परित्याग कर उसी राजा का पुत्र हुआ । बालक का नाम नागदत्त रखा गया । वह छोटी अवस्था में ही प्रव्रजित हो गया । परन्तु पूर्वभव में तिर्य्यच होने के कारण उसे भूख बहुत लगती थी । वह सूर्योदय से सूर्यास्त तक खाता ही रहता । वह अत्यन्त उपशांत और धर्म के प्रति अति आस्थावान था ।

जिस गण्ड में वह था, उसमें चार क्षपक थे । वे चारों तपस्वी थे । उनमें से एक चातुर्मासिक तपस्या करता, दूसरा त्रैमासिक तप करता, तीसरा द्विमासिक तप और चौथा मासिक तप करता था । एक बार रात्रि में वहां एक देव वंदना करने आया । वहाँ सबसे आगे चातुर्मासिक तप करने वाला क्षपक बैठा था । उसके पास क्रमशः त्रैमासिक द्विमासिक और एकमासिक तप करने वाले तीनों क्षपक बैठे थे । इन सभी के अन्त में वह नित्यभोजी क्षपक बैठा था । देवता ने इन सभी तपस्वी क्षपकों का अतिक्रमण कर उस नित्यभोजी क्षुल्लक को वंदना की । यह देखकर सभी तपस्वी क्षपक क्रुण्णित हो गए । अन्न देरता जाने लगा तब चातुर्मासिक क्षपक ने उसके वस्त्र को पकड़ते हुए कहा—'हे कटपूतने ! हम तपस्वियों को वन्दना न कर इस नित्यभोजी क्षपक को वंदना करते हो, यह गलत है ।' देवता बोला—'मैं तो भाव-क्षपक को वंदना करता हूँ । जो क्षपक पूजा-सत्कार के इच्छुक हैं तथा अहंकार पर्यंत हैं उन क्षपकों को वंदना नहीं करता ।

तत्पश्चात् वे तपस्वी क्षपक उस नित्यभोजी क्षपक से ईर्ष्या करने लगे । देवता ने सोचा—'ये तपस्वी इस क्षुल्लक की भत्सेना न कर सकें इसलिए मुझे इस क्षपक के निकट ही रहना चाहिए । सभी में इनको बोध दे पाऊंगा ।'

दूसरे दिन वह क्षुल्लक भिक्षु आज्ञा लेकर पर्युषित अन्न (बासी भोजन) लेने के लिए गया । भिक्षाचर्या से निवृत्त होकर वह अपने स्थान पर आया और गमनागमन की आलोचना कर आहार ग्रहण करने के लिए चातुर्मासिक तपस्वी को निमन्त्रण दिया । उसने क्षपक के भोजन-पात्र में थूक दिया । क्षुल्लक मुनि ने हाथ जोड़कर कहा—'भते ! मेरा अपराध क्षमा करे । मैं समय पर 'श्लेष्म पात्र' (थूकदानी) प्रस्तुत नहीं कर सका, इसलिए आपको इस भिक्षापात्र में थूकना पड़ा ।' तब क्षुल्लक मुनि ने आहार पात्र में पड़े श्लेष्म को ऊपर से दूर कर श्लेष्म पात्र में डाल दिया । स्वयं पूर्ण समभाव में रहा । तत्पश्चात् उसने शेष तीनों तपस्वियों को आहार करने का निमन्त्रण दिया । तीनों क्षपकों ने पूर्ववत् आहारपात्र में थूका । क्षुल्लक मुनि श्लेष्म को श्लेष्म-पात्र में डालता गया ।

अन्त में वह क्षुल्लक मुनि शान्त भाव से आहार-पात्र से कवस लेने के लिए तत्पर हुआ तब एक क्षपक ने उसकी दोनों भुजाओं को पकड़ लिया । उस समय भी वह क्षुल्लक मुनि प्रसन्न रहा । उसके परिणाम और लेश्याएं उत्तरोत्तर विशुद्ध होती गईं । उस स्थिति में आचारक कर्मों के क्षीण होने पर उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई ।

तत्काल देवता ने प्रकट होकर क्षपकों से कहा—'तुम वन्दनीय कैसे हो सकते हो ? तुम निरन्तर क्रोधाविष्ट रहते हो, क्रोध से अभिभूत रहते हो ।' यह सुनकर वे सभी तपस्वी क्षपक संवेग से ओत-प्रोत होकर अपने कृत्य की निन्दा करते हुए बोले—'अहो ! यह क्षुल्लक मुनि कितना

मान्तचित्त है। असद्वृत्त्य करने वाले हमने इसकी आशातना की है। वे मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे। इस प्रकार शुभ अध्यवसायों के कारण उनके आदारक कर्मों का फल हुआ और उन सबको कैवल्य की प्राप्ति हो गई।^१

६. सत्यप्रतिज्ञ महिला (अभयकुमार और वृद्धकुमारी)

राजगृह नाम का नगर था। वहाँ श्रेणिक राजा राज्य करता था। रानी ने एक बार राजा से कहा—‘एक खंभे वाला प्रासाद निमित्त करवाएं।’ राजा ने अनेक बड़सों को प्रासाद-निर्माण का आदेश दिया। वे बड़ई उपयुक्त काठ की खोज करने जंगल में गए। अभयकुमार साथ में था। वहाँ उन्होंने सीधा-सरल एक महान् वृक्ष देखा। वह लाक्षणिक था। उन्होंने वहाँ धूप-दीप कर कहा—‘जो इस वृक्ष का अधिष्ठाता देव है, वह हमें दर्शन दे तो हम इस वृक्ष को नहीं काटेंगे। यदि देव साक्षात् दर्शन नहीं देगे तो हम इसे काट डालेंगे।’

वृक्षवासी वाणव्यंतर देव अभयकुमार को दर्शन देकर बोला—‘मैं राजा के लिए एक खंभे वाला प्रासाद बना दूंगा और सभी ऋतुओं के अनुकूल सब प्रकार की वनजातियों से युक्त एक बगीचा भी बना दूंगा। तुम इस वृक्ष को मत काटो। इस प्रकार देव ने एक खंभे वाला प्रासाद निमित्त कर दिया और साथ ही साथ एक सुन्दर बगीचा भी बना दिया।

एक बार एक चण्डालिन को अकाल में आम खाने का मोहद उत्पन्न हुआ। उसने अपने पति से आम खाने को कहा। उस समय आम का मौसम नहीं था। चण्डाल राजा के उस सर्व ऋतुओं में पुष्पित और फलित रहने वाले उद्यान के पास गया और अवनामिनी विद्या के द्वारा आम की शाखा नीचे की। फल तोड़े और उष्णामिनी विद्या से शाखा को पूर्ववत् करके चला गया।

प्रातः राजा ने देखा कि आमों की चोरी हो गई है पर किसी मनुष्य के पदचिन्ह वहाँ नहीं है। राजा ने सोचा—‘क्या कोई मनुष्य वहाँ चोरी कर गया? क्या उसमें यह शक्ति है कि वह आए और पदचिन्ह अंकित न हो। यदि ऐसा शक्तिधर कोई मनुष्य है तो वह मेरे अन्तःपुर में भी घुसता कर सकता है।’

राजा ने तत्काल अभयकुमार को बुलाकर कहा—‘सात दिनों के भीतर चोर को पकड़कर नहीं लाओगे तो तुम जीवित नहीं रह सकोगे। यह सुनकर अभयकुमार चोर की खोज में लग गया।

एक दिन अभयकुमार ने देखा कि एक स्थान पर नर्तक नृत्य करना चाहता है और लोग इकट्ठे हो रहे हैं। वहाँ जाकर अभयकुमार ने एकत्रित लोगों से कहा—‘तट तैयार होकर आता है सब तक मेरी एक कथा सुनो—’

एक नगर में एक दरिद्र सेठ रहता था। उसकी पुत्री वृद्धकुमारी अत्यन्त रूपवती थी। वह श्रेष्ठ पति के लिए कामदेव की अर्चना करती थी। एक दिन चोरी से फूल तोड़ते समय माली ने उसे देख लिया। जब माली उसको पकड़कर कदर्थना करने लगा तब वह बोली—‘तुम्हारे भी बहिन, भानजी हैं, उनकी तरह ही मुझको समझो और मुझ कुमारी की कदर्थना मत करो। माली

बोला कि एक शर्त पर मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ कि जिस दिन तुम्हारा विवाह हो, उसी सुहागरात्रि में पति द्वारा अनुपभुक्त ही तुम मेरे पास आओ।

बृद्धकुमारी ने शर्त स्वीकार कर ली। माली ने उसको छोड़ दिया। कुछ दिनों बाद उसका विवाह हो गया। वह सुहागरात्रि में अपने अपवरक (ओरा) में गई और पति को सारी बात बता दी। पति ने उसे माली के पास जाने की अनुज्ञा दे दी। मार्ग में जाते समय उसको चोरों ने पकड़ लिया। सारी स्थिति समझाने पर चोरों ने भी उसे छोड़ दिया। आगे एक राक्षस मिला जो छह महीनों से आहार लेता था। उसने बृद्धकुमारी को पकड़ लिया। सही बात बताने पर राक्षस ने भी उसे छोड़ दिया। वह माली के पास पहुंच गई।

माली ने उसे देखा और विस्मित होकर बोला—‘कैसे आई हो?’ बृद्धकुमारी ने शर्त की बात याद दिलाई तब माली ने पूछा—‘तुम्हें तेरे पति ने कैसे भेज दिया?’ बृद्धकुमारी ने सारी बात सुना दी। माली सोचने लगा—‘यह महिला कितनी सत्यप्रतिज्ञा है?’ इसने व्यक्तियों ने इसे छोड़ दिया है तो फिर मैं इसको दूषित कैसे करूं यह सोचकर उसने भी उसे मुक्त कर दिया।

पर लौटते समय भी वह राक्षस और चोरों के मध्य होती हुई गुजरी पर उसकी सत्यता से प्रसन्न होकर सबने उसे छोड़ दिया। वह अपने पति के पास अक्षत आ गई। कथानक सुनाकर अभयकुमार ने पूछा—‘बोलो, इस कथानक में सबसे कठिन काम किसने किया?’ ईर्ष्यालु बोले—‘उसके पति ने’। क्षुधार्त बोले—‘राक्षस ने’। पारदारिक बोले—‘मालाकार ने’ और वह हरिकेश चांडाल बोला—‘चोरों ने।’

अभयकुमार ने समझ लिया कि यह चोर है। उसे पकड़कर राजा के सामने उपस्थित कर दिया। राजा ने चोरी का कारण पूछा तो उसने सब कुछ सही-सही बता दिया। राजा बोला—‘यदि तुम अपनी विद्याएं मुझे सिखा दो तो प्राण वण्ड नहीं मिलेगा।’ चाण्डाल ने स्वीकृति दे दी और विद्या का रहस्य समझाने लगा। राजा के कोई बात समझ में नहीं आई तो उसने कहा—‘विद्या सिद्ध क्यों नहीं हो रही है?’

चाण्डाल बोला—‘राजन् ! आप आसन पर बैठे हैं और मैं नीचे भूमि पर। इस प्रकार अविनयपूर्वक पढ़ने से विद्या नहीं आती है।’ राजा तत्काल नीचे बैठ गया। दोनों विद्याएं सिद्ध हो गईं।

७. हिगुशिव

एक नगर में एक मालाकार रहता था। एक दिन वह करण्डक में फूल लेकर बेचने को निकला। रास्ते में मलोत्सर्ग की आशंका से पीड़ित हो गया। उसने वहां शीघ्रता से उत्सर्ग कर करण्डक के सारे फूल उस पर डाल दिए। लोगों ने देखा और पूछा—‘यह क्या है? जो तुम इस प्रकार फूल खड़ा रहे हो?’

मालाकार बोला—‘देवता ने मुझे दर्शन दिए हैं। यहां अभी हिगुशिव नामक व्यन्तर देव उत्पन्न हुआ है। लोगों ने उसकी बात स्वीकार कर ली और वे भी उसकी पूजा करने लगे। आज भी पाटलिपुत्र में हिगुशिव व्यन्तर का मंदिर प्रसिद्ध है।’

१. दशनि ५८, अचू पृ. २२, २३, हाटी प. ४१, ४२।

२. दशनि ६३, अचू पृ. २४, हाटी प. ४४।

८. उपाय से अपाय का निवारण (गांधर्विक)

एक शाम में एक वणिक् रहता था। उसके घर में बहुत सी बहन, बेटियाँ और बहूएँ थीं। उसके घर के पास ही राजकुल से सम्बन्धित (संगीत के आचार्य) गान्धर्विक दिन में तीन बार संगीत करते थे। वे घर की स्त्रियाँ संगीत के मधुर शब्दों द्वारा गांधर्विकों में आसक्त हो गईं अतः वे समय पर कुछ भी काम नहीं करती थीं। उस वणिक् ने सोचा कि ये तो विनष्ट हो रही हैं। अब ऐसा कौन सा उपाय किया जाए जिससे ये कुल-परम्परा को अधुण्य रखें। यह सोचकर उसने अपने एक मित्र को सारी बात बताई।

मित्र बोला—‘तुम अपने घर के पास व्यन्तरदेव का मंदिर बनवा लो।’ उसने वैसा ही किया और पटह बजाने वालों को अपना देकर पटह बजवाने लगा। गान्धर्विक जिस समय संगीत करते उस समय वे पटहवादक पटह बाँसुरी आदि बजाते और साथ-साथ गायन आदि भी करते। इससे गांधर्विकों के संगीत में विघ्न होने लगा। पटह शब्द के कारण गीत शब्द सुनाई नहीं देते थे अतः उन गांधर्विकों ने राजा के समक्ष शिकायत की। राजा ने उस वणिक् को बुलाकर पूछा—‘तुम इनके काम में विघ्न क्यों करते हो?’ वह बोला—‘मेरे घर में एक देव-मंदिर है। मैं तीनों समय पूजा के लिए पटह बजाता हूँ और कुछ नहीं करता। तब राजा ने कहा—‘गांधर्विकों! तुम अन्यत्र जाकर संगीत करो। प्रतिदिन देव-पूजा में बाधा क्यों डालते हो? गांधर्विक वहाँ से चले गए। घर की बहू-बेटियाँ अपनी मूल स्थिति में आ गईं।’

९. सुभद्रा का शील

बंषा नामक नगरी में सुश्रावक जिनदत्त के सुभद्रा नामक लड़की थी। वह अत्यन्त रूपवती थी। एक बौद्ध उपासक ने उसे देखा। वह उसमें आसक्त हो गया। उसने जिनदत्त से सुभद्रा की याचना की। जिनदत्त बोला—‘मैं मिथ्यादृष्टि को अपनी पुत्री नहीं दूंगा।’

यह सुनकर वह बौद्ध उपासक साधुओं के पास गया और धर्म की बात पूछी। साधुओं ने धर्मदेशना दी। उसने कपटपूर्वक श्रावकधर्म को स्वीकार कर लिया। उसने साधुओं को बताया कि मैंने उस लड़की के लिए कपटपूर्वक धर्म ग्रहण किया था। अब मुझे अणुव्रतों का स्वीकरण करा दो। अणुव्रत स्वीकार करने के बाद वह लोक में स्पष्ट रूप से श्रावक हो गया।

समयान्तर में ‘यह श्रावक है’ ऐसा जानकर जिनदत्त ने सुभद्रा का उसके साथ विवाह कर दिया। कुछ समय बाद वह बोला—‘मैं लड़की को अपने घर ले जाऊंगा।’ तब जिनदत्त बोला—‘तुम्हारा सारा कुल उपासक है, यह उसका अनुवर्तन नहीं करेगी तो अपमान होगा अतः तुम इसे वहाँ मत ले जाओ। अत्यन्त आग्रह करने पर जिनदत्त ने सुभद्रा को उसके साथ भेज दिया। वह उसे लेकर घर गया और अपना अलग घर बनाकर रहने लगा। सुभद्रा भिक्षुओं (बौद्ध भ्रमणों) की भक्ति नहीं करती है यह जानकर उसकी सास और ननद उससे द्वेष करने लगी।

एक बार उन्होंने सुभद्रा के पति से कहा कि यह सुभद्रा श्वेतपटधारी (जैन मुनि) से संसक्त है। श्रावक ने उनकी बात पर कोई विश्वास नहीं किया। एक दिन एक मुनि उसके घर भिक्षा लेने आए। मुनि की आंख में रजकण गिर गया था। सुभद्रा ने अपनी जीभ से उस रज कण को निकाल

दिया। सुभद्रा ने सिन्दूर का तिलक लगा रखा था। वह मुनि की आंख से रजकण निकालते समय क्षपक के ललाट में लग गया। उपासिकाओं ने श्रावक को दिखाया। उसे विश्वास हो गया। अब वह उसके साथ पहले जैसा वर्तन नहीं करता था।

सुभद्रा ने सोचा—मैं गृहस्थ हूं, मेरा अपमान हुआ है इसमें क्या आश्चर्य है? पर यह जिनशासन की अवहेलना मुझे दुःख दे रही है। उस राजा को वह कायोत्सर्ग करके लेट गई। देवता आया और बोला—‘आज्ञा दो, मैं क्या करूं?’ सुभद्रा बोली—‘मेरा यह अपमान दूर कर दो।’

देव ने स्वीकृति देकर कहा—‘मैं इस नगर के चारों द्वार बंद कर दूंगा और घोषणा करूंगा कि जो पतिव्रता होगी वह इन दरवाजों को खोल सकेगी। वहां तू ही इन दरवाजों को अनावृत कर सकेगी। अपने परिवार वालों को विश्वास दिलाने के लिए चलनी से पानी निकालना, देव प्रभाव से एक बूंद भी नीचे नहीं गिरेगी, ऐसा आश्वासन देकर देव चला गया।

देव ने राजा के समय नगर के द्वार बंद कर दिए। द्वार बन्द देखकर नगरवासी अधीर हो गए। सहसा आकाशवाणी हुई—‘नागरिकों! निरर्थक बलेश मत करो। यदि शीलवती स्त्री चलनी से पानी निकाल कर उस पानी से द्वार पर छीटे लगाएगी तो द्वार खुल जाएंगे।

नगर के अनेक स्त्रियों और सार्थवाह की पुत्रियों तथा पुत्रवधुओं ने उस ओर चरण बढ़ाने का प्रयत्न भी नहीं किया तभी सुभद्रा ने अपने परिवार वालों से यह काम करने की अनुमति मांगी। वे भेजने के लिए राजी नहीं हुए। उपासिका ने कहा—ओह! अब यह ध्रमण में आसक्त सुभद्रा द्वारों को खोलेगी! किन्तु जब सुभद्रा ने कुएं के पास जाकर चलनी से पानी निकाला और एक बूंद भी पानी नीचे नहीं गिरा तो उपासिका सास विषण्ण हो गई। घर वालों की विश्वास हो गया। उसे जाने की अनुमति प्राप्त हो गई। वह घर से चली उसके हाथ में पानी से भरी चलनी थी।

महान् लोगों द्वारा सत्कारित सुभद्रा नगरद्वार के पास गई, अरिहन्त भगवान् को नमस्कार करके द्वार पर पानी के छीटे लगाए और तत्काल महान् शब्द करते हुए तीनों द्वार खुल गए। उत्तर का द्वार अभी भी बन्द था। उस पर पानी के छीटे न लगाकर वह बोली—‘जो मेरे जैसी शीलवती नारी होगी, वह इस द्वार को खोलेगी। कहा जाता है वह द्वार आज भी बन्द पड़ा है। नागरिक जन सुभद्रा का जय-जयकार करते हुए बोले—‘अहो! यह महासती है। अहो! यह साक्षात् धर्म है।’

१०. आर्या चन्दना का अनुशासन (मृगावती)

प्रव्रजित होते ही साध्वी मृगावती आर्या चन्दना की शिष्या बन गई। एक बार भगवान् महावीर बिहार करते-करते कौशाम्बी नगरी पधारे। चन्द्र और सूर्य अपने विमानों सहित भगवान् को वन्दन करने आए। चतुष्पौरुषिक सभ्यसरण कर अस्तमन बेला में वे लौट गए। उनके जाते ही मृगावती संभ्रान्त हो गई और समीपस्थ साध्वियों से बोली—‘अरे! विकास हो गया है।’ वह तत्काल वहां से उठी और साध्वियों के साथ आर्या चन्दना के पास पहुंची। सब सक अन्धकार हो गया था। आर्या चन्दना आदि साध्वियों ने उस समय प्रतिक्रमण भी कर लिया था। आर्या चन्दना ने

साध्वी मृगावती को उपालम्भ देते हुए कहा—‘उत्तम कुल में पैदा होकर भी तुम ऐसा करती हो ? यह अच्छा नहीं है।’

साध्वी मृगावती उनके पंरों में गिरकर अत्यन्त विनम्रता से क्षमा मांगने लगी । वह बोली—‘करुणाद्रं हृदये ! मेरा यह अपराध क्षमा कर दें । मैं ऐसा फिर कभी नहीं करूंगी ।’ उस समय आर्या चन्दना संस्तारक पर लेटी हुई थी । मृगावती पास में बैठी थी । परम संवेग को प्राप्त होने से उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ।

रात बीतती गई और अन्धकार बढ़ता गया । दोनों के मध्य से एक सर्प आ रहा था । उस समय प्रवर्तिनी चन्दना के प्रलम्बमान हाथ को मृगावती ने उठाया । चन्दना जाग गई और बोली—‘ऐसा क्यों ?’ मृगावती ने उत्तर दिया—‘कोई सर्प की जाति आ रही है ।’

चन्दना—तुमने कैसे जाना ? क्या कोई अतिशय ज्ञान हुआ है ?

मृगावती—हां ।

चन्दना—ज्ञान प्रतिपाति है या अप्रतिपाति ?

मृगावती—अप्रतिपाति ।

आर्या चन्दना ने मृगावती साध्वी से क्षमायाचना की ।^१

११. कृत्रिम चक्रवर्ती (कोणिक)

राजा कोणिक ने भगवान् से पूछा—भंते ! काम-भोगों का त्याग नहीं करने वाले चक्रवर्ती राजा कालमुत्पु को प्राप्त कर कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

भगवान् ने कहा—चक्रवर्ती सातवीं नरक भूमि में उत्पन्न होते हैं ।

कोणिक—भगवान् ! मैं कहाँ उत्पन्न होऊंगा ?

भगवान्—छट्टी नरक भूमि में ।

कोणिक—मैं सातवीं नरकी में क्यों नहीं जाऊंगा ?

भगवान्—सातवीं नरकी में चक्रवर्ती उत्पन्न होते हैं ।

कोणिक—मेरे पास भी चौरासी लाख हाथी हैं, मैं चक्रवर्ती कैसे नहीं हूँ ?

भगवान्—तुम्हारे पास निधियाँ और रत्न नहीं हैं ।

यह सुनकर महाराज कोणिक कृत्रिम रत्न बनवाकर दिग्विजय के लिए निकले । जब वे तमिस्रा गुफा में प्रवेश करने लगे तो किरिमालक देव ने कहा—‘बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं । तुम यह काम करोगे तो विनष्ट हो जाओगे ।’ रोकने पर भी वह नहीं रुका । किरिमालक देव ने उस पर प्रहार किया और वह मरकर छट्टी नरक भूमि में उत्पन्न हुआ ।^२

१२. आश्वासन (गौतम और महावीर)

जब गौतम स्वामी अपने द्वारा दीक्षित मुनियों को केवली पर्याय में देखकर अधीर हो गए तब भगवान् बोले—‘गौतम ! तुम मेरे चिरसंसृष्ट हो, चिरपरिचित हो और चिरभावित हो । तुम अधीर मत बनो, अन्त में हम दोनों समान हो जाएंगे ।’^३

१. दशनि ७२, अचू पृ. २५; हाटी प. ४९, ५० ।

२. दशनि ७४, अचू पृ. २६, हाटी प. ५०, ५१ ।

३. दशनि ७४, अचू पृ. २६, हाटी प. ५१,

विस्तार के लिए देखें उनि कथा सं० ५३ ।

१३. नलदाम जुलाहे की कुशिलता

चाणक्य ने नन्द राजा को उत्थापित करके चन्द्रगुप्त को राज्य-सिंहासन पर बिठा दिया। इधर चन्द्रगुप्त राजा का चोरग्राह (चोरों को पकड़ने वाला) नन्द के आदमियों से मिल गया और नगर में चोरी करने लगा। चाणक्य को दूसरे चोरग्राह की खोज करनी थी। वह त्रिदण्ड लेकर परिक्राजक के वेश में नगर में घूमने लगा।

वहाँ वह नलदाम नामक तन्तुवाय (जुलाहे) के पास गया और उसकी बयनशाला में ठहर गया। उस तन्तुवाय के बच्चे को मार्ग में खेलते समय मकोड़ों ने काट खाया। वह रोता हुआ पिता के पास आया। सारा वृत्तान्त जानकर नलदाम ने बिल खोदकर मकोड़ों को जला दिया।

चाणक्य बोला—इन्हें क्यों जला रहे हो ?

जुलाहे ने उत्तर दिया—इन्हें समूल नष्ट नहीं कर दूंगा तो ये फिर काट खाएंगे।

चाणक्य ने सोचा—यह उपयुक्त चोरग्राह मुझे मिल गया है। यही नन्द के चोरों का समूल उच्छेद कर सकेगा। चाणक्य ने उसे चोरग्राह बना दिया।

उस जुलाहे ने चोरों को विश्वास दिला दिया कि हम मिलकर चोरी करेंगे। उन चोरों ने दूसरे चोरों का अता-पता भी बता दिया और उन्होंने फिर दूसरे चोरों का क्योंकि उन्होंने सोचा—‘अब हम सब मिलकर सरलता से चोरी कर सकेंगे।’ सब चोरों का पता लगने पर उस चोरग्राह जुलाहे ने उन सब चोरों को मरवा दिया।^१

१४. महाराज प्रद्योत और अभयकुमार

अभय और राजा प्रद्योत की कथा के लिए देखें सुनि की कथा सं. ३।

१५. गोविंद आचार्य

गोविंद नामक एक बौद्ध भिक्षु थे। वे एक जैन आचार्य द्वारा वाद-विवाद में अठारह बार पराजित हुए। पराजय से दुःखी होकर उन्होंने सोचा कि जब तक मैं इस सिद्धांत को नहीं जानूंगा तब तक इन्हें नहीं जीत सकता। इसलिए हारने की इच्छा से ज्ञानप्राप्ति के लिए उसी आचार्य की दीक्षा के लिए निवेदन किया। सामायिक आदि ग्रंथों का अध्ययन करते हुए उन्हें सम्यक्त्व का बोध हो गया। गुरु ने उन्हें व्रत-दीक्षा दी। दीक्षित होने पर गोविंद मुनि ने सरलता पूर्वक अपने दीक्षित होने का प्रयोजन गुरु को बतला दिया।^२

१६. उपाय कथन का विवेक (पिंगल स्वपति)

एक राजा ने एक तालाब बनवाया जो समूचे राज्य में सारभूत—श्रेष्ठ था। वह तालाब प्रतिवर्ष भरने के बाद फूट जाता। एक बार राजा ने अपने मंत्रियों तथा अन्यान्य बुद्धिमान् व्यक्तियों को एकत्रित कर पूछा—‘ऐसा क्या उपाय किया जा सकता है जिससे कि यह तालाब न फूटे, भरा का भरा रह जाए।’ वही एक कापालिक भी उपस्थित था। उसने कहा—‘महाराज ! जिस व्यक्ति के शिर तथा बाढी-मूँछ के बाल कपिल (पीले) हों, उसे जीवित अवस्था में वहाँ गाढ़ दिया जाए जहाँ से तालाब फूटता है तो भविष्य में तालाब नहीं फूटेगा।’ सभी ने यह उपाय सुना। कुमारामात्य

१. दशनि ७७, अचू पृ. २६, हाटी प. ५२।

२. दशनि ७८, निभा ३६५६, बू. पृ. २६०।

ने तत्काल कहा—‘राजन् ! यह जिस प्रकार के आदमी की बात कह रहा है, वैसा यह स्वयं है। दूसरा वैसा मिलना कठिन है। तब राजा ने उसी कापालिक को जीवित ही वहां गड़वा दिया।

नीतिकार कहते हैं ऐसा उपाय नहीं बताना चाहिए जिससे स्वयं को मरना पड़े।’

१७. वयसनों की शृंखला (बौद्ध भिक्षु)

कोई बौद्ध भिक्षुक हाथ में जाल लेकर मत्स्य मारने के लिए चला। रास्ते में एक घूर्त मिला। उसने कहा—आचार्य ! आपकी कंधा छिद्रों वाली है। भिक्षु बोला—‘यह तो मछलियों को पकड़ने का जाल है।’

घूर्त—क्या आप मछली खाते हैं ?

भिक्षु—हां, मैं उन्हें मद्य के साथ खाता हूं।

घूर्त—क्या आप मदिरा भी पीते हैं ?

भिक्षु—मैं अकेला मदिरा नहीं पीता, वेश्या के साथ पीता हूं।

घूर्त—क्या आप वेश्या के पास भी जाते हैं ?

भिक्षु—शत्रुओं के गले पर पैर रखने के लिए वहां भी जाता हूं।

घूर्त—क्या आपके शत्रु भी हैं ?

भिक्षु—हां, जिनके घरों में मैं संधि लगाता हूं, वे मेरे शत्रु हैं।

घूर्त—क्या आप चोर हैं ?

भिक्षु—जुए में धन चाहिए उसके लिए चोरी करता हूं।

घूर्त—तो आप जुआरी भी हैं ?

भिक्षु—हां, क्योंकि मैं दासी-पुत्र हूं।^१

१८. अयथार्थ आश्चर्य

एक देवकुल में कुछ कार्पटिक मिले और बोले—किसी ने घूमते हुए कोई आश्चर्य देखा हो तो बताएं। उनमें से एक कार्पटिक बोला—‘मैंने देखा है पर यहां कोई श्रमणोपासक न हो तो बताऊं। शेष कार्पटिकों ने कहा—‘यहां श्रमणोपासक नहीं है।’ इसके बाद वह बोला—

‘पूर्व वैतालिक में मैं एक समुद्रतट पर घूम रहा था। वहां एक बहुत बड़ा वृक्ष था। उस वृक्ष की एक शाखा समुद्र में थी और एक शाखा स्थलभाग में। उसके जो भी पत्ते पानी में गिरते वे जलचर जीव बन जाते और जो स्थल में गिरते वे स्थलचर जीव बन जाते।’

सुनने वाले कार्पटिक बोले—‘अहो ! आर्य भट्टारक ने बहुत बड़ा आश्चर्य बताया।’ वहां एक कार्पटिक श्रावक भी था। उसने पूछा जो पत्ते मध्य भाग में गिरते उनका क्या होता ? वह कार्पटिक क्षुब्ध होकर बोला—‘मैंने पहले ही कह दिया था कि यहां श्रावक होगा तो मैं नहीं बताऊंगा।’^२

१९. स्वर्ण खोरक

एक नगर में एक परिराजक रहता था। वह एक स्वर्ण-खोरक (तापस-भाजन) लेकर

१. दशनि ७९, अचू पृ. २६, हाटी प. ५३, ५४।

३. दशनि ८१, अचू पृ. २७, हाटी प. ५५।

२. दशनि ७९, अचू पृ. २७, हाटी प. ५४।

घूमता था। वह कहता था कि जो मुझे असुनी बात सुनाएगा उसे मैं यह स्वर्ण-खोरक दे दूंगा। एक श्रावक ने यह घोषणा सुनी। उसने परिक्राजक से कहा—

तुज्झ पिया मम पिउणो, धारेई अणूणयं सयसहस्सं ।

जइ सुयपुब्बं दिज्जउ, अहं न सुयं खोरमं देहि ॥

तुम्हारे पिता ने मेरे पिता से लाख रुपए उधार लिए थे। यह बात तुम्हारी सुनी हुई है तो वे रुपए लौटा दो और यदि नहीं सुनी हुई है तो यह स्वर्ण खोरक दे दो।^१

२०. हेतु उपभ्यास

एक व्यापारी यव खरीद रहा था। दूसरे व्यक्ति ने पूछा—यवों को क्यों खरीद रहे हो? उसने कहा—‘मे खरीदने से ही मिलते हैं, मुफ्त नहीं।’ यव खरीदने का यह हेतु है।^२

२१. धूर्त पत्नी

एक वणिक् अपनी स्त्री को साथ ले प्रत्यंत देश में चला गया। प्रत्यंत देश में वे जाते हैं जो दरिद्र हैं, भ्राश्यहीन हैं, अपराधी हैं अथवा जो विपरीत कलाओं में निष्णात हैं। वणिक् की स्त्री कुलटा थी। वह एक पुरुष में आसक्त थी। उस वणिक् पति को अपने बीच व्यवधान समझकर एक दिन वह बोली—‘व्यापार करने के लिए जाओ।’ वणिक् बोला—‘क्या लेकर जाऊं?’ वह बोली—‘उष्ट्र लिडिका, (ऊट के बंभों) लेकर उज्जयिनी जाओ और एक एक दीनार में एक एक लिडिका को बेचो।’ स्त्री का अभिप्राय यह था कि वणिक् लम्बे समय तक वहीं रह जाए।

वह बेचारा ऊट के मींगनों से भरकर एक गाड़ी उज्जयिनी ले गया। बाजार में मींगनों का ढेर लगाकर ग्राहक की प्रतीक्षा करने बैठ गया पर किसी ने कुछ नहीं पूछा। अचानक वहाँ मूलदेव आ गया। उसने देखा और पूछा तो वणिक् ने सारी बात बता दी।

मूलदेव ने सोचा कि यह बेचारा अपनी पत्नी के द्वारा छला गया है। उसने कहा—‘भाई! मैं इन सबको बिकवा दूंगा यदि तुम आधा हिस्सा मुझे दे दो तो?’ वणिक् ने स्वीकार कर लिया। मूलदेव तब पिशाच का रूप बनाकर आकाश में उड़ गया। वह नगर के बीच में ठहरकर बोला—‘मैं वेव हूँ। जिस वस्त्र के गले में उष्ट्र-लिडिका बंधी हुई नहीं होगी उस वस्त्र को मैं भार दूंगा।’ तब सभी भयभीत लोगों ने एक एक दीनार में उष्ट्र-लिडिका खरीद ली। वणिक् का सारा माला बिक गया। उसने आधा हिस्सा मूलदेव को दे दिया।

मूलदेव बोला—‘तेरी स्त्री तो किसी धूर्त से लगी हुई है, इसीलिए उसने तेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है। वणिक् को विश्वास नहीं हुआ तो मूलदेव ने कहा—‘आओ, हम वहाँ चलें। तुम्हें विश्वास न हो तो प्रत्यक्ष दिखा देता हूँ।’

वे दोनों वेश बदलकर वहाँ गए और विकाल का बहाना कर ठहरने के लिए स्थान मांगा। उस स्त्री ने स्थान दे दिया। वे एक ओर ठहर गए। कुछ समय पश्चात् घर में वह धूर्त आया और स्त्री उसके साथ मदिरापान करने लगी। इसी बीच में वह गाने लगी—

‘सहमी के मन्दिर का पुजारी मेरा पति वाणिज्य के लिए गया है वह सैकड़ों वर्षों तक जीए पर जीता हुआ घर न आए।’

अन्य वेशधारी मूलदेव बोला—'हे कदलीपत्रों से वेष्टित नारी ! इसका उत्तर यह है कि जो जोर से गर्जता है, उसका अस्तित्व मुहूर्त मात्र का ही होता है। तब मूलदेव ने वणिक् से कहा—'देख लिया, तुम्हारी स्त्री धूर्त है।'

वह वणिक् मूलदेव के साथ प्रातः घर से चला गया और कुछ समय पश्चात् अपने घर आ गया। वह स्त्री सहसा अपने पति को घर आया देखकर संभ्रात होकर उठी। इसके बाद भोजन आदि करते समय वणिक् ने गीत गाने तक की सारी बात उसे याद दिला दी।

२२. लोक का मध्य

एक परिव्राजक घूमता रहता था। वह यह प्ररूपणा करता था कि समक्षेत्र में दिया गया दान आदि सफल होता है, इसलिए समक्षेत्र में दान करना चाहिए। मैं लोक का मध्य भाग जानता हूँ, दूसरा कोई नहीं जानता। लोग उसका बहुत आदर-सत्कार करते थे। जब उसे लोक का मध्य पूछा जाता तब चारों दिशाओं में कीलें गाड़कर और रस्सी से मापकर वह मायावी कहता—'यह लोक का मध्य है।' लोग विस्मित होकर कहने लगते—'आश्चर्य है, इन्होंने लोक का मध्य जान लिया है।'

वहाँ एक श्रावक रहता था। उसने सोचा—'यह धूर्त लोगों को कैसे ठग रहा है?' मैं भी इसके साथ वंचनापूर्वक व्यवहार करूँ।' ऐसा निश्चय कर श्रावक ने उसे कहा—'भाई ! यह लोक का मध्य भाग नहीं है, तुम भ्रांत हो गए हो।' तत्पश्चात् उस श्रावक ने रस्सी से मापकर दूसरे स्थान को लोक का मध्य भाग बताया। लोग प्रसन्न हो गए। श्रावक ने उस परिव्राजक को निरुत्तर कर दिया।

२३. शकटतित्तिरी

एक ग्रामीण काठ से गाड़ी भरकर नगर में जा रहा था। रास्ते में उसने एक मरी हुई तित्तिरिका देखी। वह उसे गाड़ी के ऊपर रखकर नगर में गया। वहाँ एक नगर-धूर्त ने उसको पूछा—'यह शकट-तित्तिरी कितने में मिल सकती है?' ग्रामीण बोला—'मध्यमान सत्तुक के द्वारा।' वह धूर्त मध्यमान सत्तुक देना स्वीकार कर लोगों को साक्षी बना तित्तिरी सहित शकट ले जाने लगा।

अब वह ग्रामवासी दुःखी होकर बैठ गया। इतने में उधर से मूलदेव जैसा कोई व्यक्ति आया। वह बोला—'अरे देवानुप्रिय ! क्या सोच रहे हो?' ग्रामीण ने बताया कि मुझे एक व्यापारी ने इस प्रकार ठग लिया है। वह बोला—'डरो मत। तुम उपचार से मध्यमान सत्तुक मांगो।' इसके बाद उसने ग्रामीण को कैसे माया करनी है सिखा दिया। 'ऐसा ही होगा' यह कहकर वह ग्रामीण उस धूर्त के पास गया। वहाँ जाकर वह बोला—'यदि तुमने मेरा शकट ले लिया है तो अब सोपचार मध्यमान सत्तुक तो दिलाओ।' अच्छा कहकर वह धूर्त उसे अपने घर ले गया और अपनी स्त्री को आदेश दिया कि वह आभूषणों से अलंकृत होकर परम विनय से इसको मध्यमान सत्तुक दे। कहने के साथ ही वह आ उपस्थित हुई। शाकटिक बोला—'मेरी अंगुली कटो हुई है, इस पर पट्टी बंधी हुई है इसलिए मैं सत्तू को मध्य नहीं सकता। तुम मथकर दे दो।' यह सुनकर उस स्त्री ने मथिका हाथ में ली। ग्रामीण उसे हाथ से पकड़ अपने गांव की ओर जाने लगा। उसने लोगों से कहा—'मैं

अपनी शर्त के अनुसार सत्तिरीक शकट के बदले में यह सत्तुमधिका लेकर जा रहा हूँ।' यह देखकर उस धूर्त ने शकट लौटा, ग्रामीण को राजी कर, अपनी स्त्री को छुड़ा लिया।^१

२४. धूर्तता से धूर्तता का निरसन

एक आदमी ककड़ी से भरी हुई गाड़ी लेकर नगर में गया। वहां उसे एक धूर्त मिला। वह बोला—'जो आदमी इस ककड़ियों से भरी हुई गाड़ी को खाले तो तुम क्या दोगे?' गाड़ीवान् ने उस धूर्त से कहा—'मैं उसे इतना बड़ा लड्डू दूंगा जो इस नगर-द्वार से बाहर न निकल सके।'

वह धूर्त बोला—'मैं तुम्हारे इस ककड़ी से भरे शकट को खा लेता हूँ तुम मुझे वह लड्डू देना जो नगर के द्वार से न निकल सके।' शाकटिक की स्वीकृति मिलने पर उस धूर्त ने कुछ लोगों को साक्षी बनाया। इसके बाद वह शकट पर बैठा और उन ककड़ियों का एक-एक टुकड़ा खाता गया। इस प्रकार सभी ककड़ियों के टुकड़े खा लेने के पश्चात् उभने शाकटिक से मोदक मांगा। शाकटिक बोला—'तुमने सारी ककड़ी नहीं खाई है।' धूर्त बोला—'यदि नहीं खाई है तो तुम इनका विक्रय करो।'

शाकटिक उन्हें बेचने के लिए बैठा। ग्राहक आए और उन खंडित ककड़ियों को देखा। ग्राहक बोले—'इन खाई हुई ककड़ियों को कौन खरीदेगा?' ऐसा कहने से यह प्रमाणित हो गया कि ककड़ियां खाई हुई हैं। शाकटिक हार गया। तब उस धूर्त ने अपना मोदक मांगा। बेचारा शाकटिक दुःखी हो गया। इसी बीच कुछ जुआरी उधर से निकले। उन्होंने शाकटिक को दुःखी जानकर दुःख का कारण पूछा तो शाकटिक ने सारी बात बता दी। उनमें से एक बोला—'तुम नगर-द्वार के बीच में एक छोटा सा मोदक रख दो और उसे द्वार में से बाहर निकलने के लिए कहो।' शाकटिक ने ऐसा ही किया। वह धूर्त से कहने लगा—'लो यह मोदक, यह नगर-द्वार से बाहर नहीं निकल रहा है। तुम इसे ले जाओ।' वह धूर्त पराजित हो गया।^२

२५. दक्षता का उदाहरण (चार मित्र)

राजकुमार, अमात्यपुत्र, श्रेष्ठपुत्र और सार्थवाहपुत्र ये चारों मित्र थे। एक बार वे चारों एक स्थान पर मिले और आपस में पूछने लगे कि कौन किस आधार से जीता है?

राजपुत्र ने कहा—मैं अपने पुण्य के आधार पर जीता हूँ।

अमात्यपुत्र ने कहा—मैं अपने बुद्धिबल से जीता हूँ।

श्रेष्ठपुत्र ने कहा—मैं अपने सौंदर्य से जीता हूँ।

सार्थवाहपुत्र ने कहा—मैं अपनी दक्षता से जीता हूँ।

अपने-अपने अभिमत की पुष्टि के लिए वे दूसरे नगर में गए जहां उनको कोई नहीं जानता था। वहां वे एक उद्यान में ठहरे। सबसे पहले सार्थवाह पुत्र की दक्षता का परीक्षण करने का निश्चय हुआ। उसको खाने-पीने की व्यवस्था करने का आदेश मिला। सार्थवाह पुत्र बाजार में जाकर एक बूढ़े वणिक् की किराने की दुकान के बाहर जाकर बैठ गया। उस दिन कोई बड़ा उत्सव था इसलिए

अपनी शर्त के अनुसार सर्तित्तिरीक शकट के बदले में यह सत्तुमधिका लेकर जा रहा हूँ।' यह देखकर उस धूर्त ने शकट लौटा, ग्रामोण को राजी कर, अपनी स्त्री को छुड़ा लिया।'

२४. धूर्तता से धूर्तता का निरसन

एक आदमी ककड़ी से भरी हुई गाड़ी लेकर नगर में गया। वहाँ उसने एक धूर्त मिला। वह बोला—'जो आदमी इस ककड़ियों से भरी हुई गाड़ी को खा ले तो तुम क्या दोगे?' गाड़ीवान् ने उस धूर्त से कहा—'मैं उसे इतना बड़ा लड्डू दूंगा जो इस नगर-द्वार से बाहर न निकल सके।'

वह धूर्त बोला—'मैं तुम्हारे इस ककड़ी से भरे शकट को खा लेता हूँ तुम मुझे वह लड्डू देना जो नगर के द्वार से न निकल सके।' शाकटिक की स्वीकृति मिलने पर उस धूर्त ने कुछ लोगों को साक्षी बनाया। इसके बाद वह शकट पर बैठा और उन ककड़ियों का एक-एक टुकड़ा खाता गया। इस प्रकार सभी ककड़ियों के टुकड़े खा लेने के पश्चात् उसने शाकटिक से मोदक मांगा। शाकटिक बोला—'तुमने सारी ककड़ी नहीं खाई है।' धूर्त बोला—'यदि नहीं खाई है तो तुम इनका विक्रय करो।'

शाकटिक उन्हें बेचने के लिए बैठा। ग्राहक आए और उन खंडित ककड़ियों को देखा। ग्राहक बोले—'इन खाई हुई ककड़ियों को कौन खरीदेगा?' ऐसा कहने से यह प्रमाणित हो गया कि ककड़ियां खाई हुई हैं। शाकटिक हार गया। तब उस धूर्त ने अपना मोदक मांगा। बेचारा शाकटिक दुःखी हो गया। इसी बीच कुछ जुआरी उधर से निकले। उन्होंने शाकटिक को दुःखी जानकर दुःख का कारण पूछा तो शाकटिक ने सारी बात बता दी। उनमें से एक बोला—'तुम नगर-द्वार के बीच में एक छोटा सा मोदक रख दो और उसे द्वार में से बाहर निकलने के लिए कहो।' शाकटिक ने ऐसा ही किया। वह धूर्त से कहने लगा—'लो यह मोदक, यह नगर-द्वार से बाहर नहीं निकल रहा है। तुम इसे ले जाओ।' वह धूर्त पराजित हो गया।'

२५. दक्षता का उदाहरण (चार मित्र)

राजकुमार, अमात्यपुत्र, श्रेष्ठपुत्र और सार्थवाहपुत्र ये चारों मित्र थे। एक बार वे चारों एक स्थान पर मिले और आपस में पूछने लगे कि कौन किस आधार से जीता है?

राजपुत्र ने कहा—मैं अपने पुण्य के आधार पर जीता हूँ।

अमात्यपुत्र ने कहा—मैं अपने बुद्धिबल से जीता हूँ।

श्रेष्ठपुत्र ने कहा—मैं अपने सौंदर्य से जीता हूँ।

सार्थवाहपुत्र ने कहा—मैं अपनी दक्षता से जीता हूँ।

अपने-अपने अभिमत की पुष्टि के लिए वे दूसरे नगर में गए जहाँ उनको कोई नहीं जानता था। वहाँ वे एक उद्यान में ठहरे। सबसे पहले सार्थवाह पुत्र की दक्षता का परीक्षण करने का निश्चय हुआ। उसको खाने-पीने की व्यवस्था करने का आदेश मिला। सार्थवाह पुत्र बाजार में जाकर एक बूढ़े वणिक् की किराने की दुकान के बाहर जाकर बैठ गया। उस दिन कोई बड़ा उत्सव था इसलिए

ग्राहक बहुत आ रहे थे। वह वृद्ध ग्राहकों को निपटाने में असमर्थ था। वहां बैठा हुआ सार्थवाह पुत्र अपनी दक्षता से जिस ग्राहक को जिस चीज (घी, गुड़, लवण, तेल, सोंठ, मिर्च आदि) की अपेक्षा होती, वही चीज दे देता। इससे वृद्ध को बहुत लाभ हुआ। वृद्ध प्रसन्न होकर बोला—‘तुम यहां के वास्तव्य हो या आगंतुक?’

सार्थवाह पुत्र ने कहा—‘हम तो आगंतुक हैं।’ तब वृद्ध बोला—‘हमारे घर चलो, आज का भोजन वहीं करना है।’ सार्थवाह पुत्र ने कहा—‘मेरे और भी साथी हैं। वे उद्यान में ठहरे हुए हैं, मैं उनके बिना भोजन नहीं करूंगा।’ तब वृद्ध वणिक् ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—‘उन सबको साथ ले चलो।’ सार्थवाह पुत्र ने सबको बुला लिया। वे सब उसके घर गए। वणिक् ने सबको भोजन कराया। तत्पश्चात् ताम्बूल आदि से सत्कार कर उनका बहुमान किया। उसने पांच रुपयों का खर्च किया।

दूसरे दिन रूपवान् वणिक्पुत्र को भोजन की व्यवस्था करनी थी। वह शरीर को सज्जित कर वेश्या-बाड़े में गया। वहां देवदत्ता नाम की वेश्या थी। वह पुरुषों से बहुत द्वेष करती थी। अतः राजपुत्र और श्रेष्ठिपुत्रों द्वारा अभिलषित होने पर भी वह किसी को नहीं चाहती थी। उस वणिक् पुत्र के सौन्दर्य को देखकर वह क्षुब्ध और चंचल हो गई।

एक दासी ने वेश्या की माता से जाकर कहा कि आज तुम्हारी पुत्री एक सुन्दर युवक पर आसक्त हो गई है। वेश्या की माता ने कहा—‘जाओ, श्रेष्ठिपुत्र को कहो कि वह हमारे घर निःसंकोच आए और आज का भोजन वहीं करे।’ उसने भी पूर्ववत् अपने साथियों की बात कही, सबको वहां बुलाया। वेश्या ने सबको अच्छा भोजन कराया। उसने सौ रुपए खर्च किए।

तीसरे दिन बुद्धिमान् अमात्यपुत्र से कहा—‘आज तुम्हें सबके भोजन की व्यवस्था करनी है।’ वह नगर की करणशाला—न्यायशाला में गया, जहां विवादों का निपटारा होता था। वहां तीन दिन से एक विवाद का निपटारा नहीं हो पा रहा था। विवाद यह था—दो सौतें थीं। उनका पति मर गया। उनमें एक के पुत्र था, दूसरी के नहीं। जो अपुत्रा थी वह स्नेह से पुत्र का लालन-पालन करती और कहती—‘यह पुत्र मेरा है।’ पुत्र की वास्तविक माता कहती—‘यह पुत्र मेरा है।’ यह विवाद समाहित नहीं हो रहा था। अमात्यपुत्र बोला—‘मैं इस विवाद को निपटा देता हूं। इस बच्चे के दो खंड करके एक-एक खंड दोनों माताओं को दे दो।’ यह सुनते ही पुत्र की असली माता बोली—‘न तो मुझे धन चाहिए और न यह बालक। दोनों उसी को दे दो। मैं बालक को जीवित देखकर ही संतुष्ट हो जाऊंगी।’ दूसरी स्त्री कुछ भी नहीं बोली। तब अमात्यपुत्र ने उस बालक को उसकी असली मां को सौंप दिया। बालक की मां द्वारा अमात्यपुत्र को भोजन का निमन्त्रण मिला। सभी मित्रों को भोजन कराया। इसमें एक हजार का व्यय हुआ।

चौथे दिन राजपुत्र से कहा—‘राजपुत्र! आज तुम्हें पुण्यबल से हम सबका योगक्षेम वहन करना है।’ राजकुमार ने स्वीकृति दी। वहां से चलकर वह एक उद्यान में ठहरा। उस दिन नगर का राजा मर गया। वह अपुत्र था। मंत्रियों ने तब एक घोड़े की पूजा कर, उसे अधिवासित कर, नगर

में पुनाया। जिस दृष्टि के नीचे राजाजुष से रहा था, उस दृष्टि की छाया स्थिर थी। थोड़ा-बड़ा आकर रुका और हिनहिनाने लगा। वह राजकुमार उस नगर का राजा बन गया। उसने सभी मित्रों को बुला भेजा। वह त्रिपुल संपत्ति का स्वामी बन गया।^१

२६. दृढ़ श्रद्धा

राजा श्रेणिक के सम्यक्त्व की प्रशंसा देवराज इन्द्र ने की। एक देवता उस प्रशंसा को सह नहीं सका। वह नगर के बाहर एक तालाब के किनारे साधु के रूप की विकुर्वणा कर मछलियों को पकड़ने बैठ गया। श्रेणिक उसको निवारित करता है और समझाता है। पुनः वह देव एक गर्भवती साध्वी के रूप में श्रेणिक के सामने उपस्थित होता है। श्रेणिक उसे तलघर में ले जाकर प्रसूतिकर्म करवाता है। उस प्रसूतिकर्म को पूर्णरूप से गुप्त रखने के लिए सारा कार्य वह स्वयं करता है। देव मरी हुई गाय जैसी दुर्गन्ध की विकुर्वणा करता है लेकिन श्रेणिक का मन सम्यक्त्व से विचलित नहीं होता। साध्वी का रूप छोड़कर, प्रसन्न होकर दिव्य ऋद्धि वाले देव ने कहा—‘भो श्रेणिक! तुम्हारा जन्म सफल है, जो प्रवचन पर तुम्हारी इतनी दृढ़ भक्ति है।’^२

२७. स्वाध्याय में काल और अकाल का विवेक

(क) एक मुनि कालिकश्रुत का स्वाध्याय कर रहा था। रात्रि का पहला प्रहर बीत गया। उसे इसका भान नहीं रहा। वह स्वाध्याय करता ही गया। एक सम्यग्दृष्टि देवता ने सोचा कि यह मुनि अकाल में स्वाध्याय कर रहा है। कोई मिथ्यादृष्टि देव इसको उग न ले, इसलिए उसने छाछ बेचने वाले ग्वाले का स्वांग रचा। छाछ लो, छाछ लो—यह कहता हुआ वह ग्वाला उस मार्ग से निकला। वह बार-बार उस मुनि के तपाश्रय के पास आता-जाता रहा। यह छाछ बेचने वाला मेरे स्वाध्याय में बाधा डाल रहा है—यह सोचकर मुनि ने कहा—‘ओ अज्ञानी! क्या यह छाछ बेचने का समय है? समय की ओर ध्यान दो।’ तब उसने कहा—‘मुनिवर्य! क्या यह कालिकश्रुत का स्वाध्याय-काल है? मुनि ने यह बात सुनी और सोचा—‘यह कालिकश्रुत का स्वाध्याय-काल नहीं है। आधी रात बीत चुकी है।’ मुनि ने प्रायश्चित्त स्वरूप—‘मिच्छा मि दुक्कडं’ का उच्चारण किया। देवता बोला—‘फिर ऐसा मत करना, अन्यथा तुम तुच्छ देवता से ठगें जाओगे। अच्छा है, स्वाध्याय-काल में ही स्वाध्याय करो न कि अस्वाध्याय-काल में।’^३

(ख) एक गृहस्थ खेत में सूअरों को डराने के लिए सींग बजाता था। एक बार अवसर देखकर चोर उसकी गायों को चुराकर ले जा रहे थे। प्रतिदिन की भांति उस समय उसने सींग बजाया। सींग की ध्वनि सुनकर ‘चोर गवेपक आ गया है’ वह सोचकर चोर गायों को छोड़कर भाग गए। प्रातः काल उसने गायों को देखा और उन्हें घर ले गया। अब सींग बजाता हुआ वह क्षेत्र और गायों की रक्षा करने लगा। प्रतिदिन सींग बजाते रहने के कारण चोर यथार्थ स्थिति समझ गए। उन्होंने रुष्ट होकर उसे पीटा और गायों को भी साथ में ले गए।^४

१. दशनि.१६४, अचू.पृ. ५४, हाटी.प. १०७-१०९। ३. दशनि.१५८, अचू.पृ. ५१, हाटी.प. १०३, १०४।

२. दशनि.१५७, अचू.पृ. ५०, ५१, हाटी.प. १०२, १०३। ४. दशनि.१५८, अचू.पृ. ५१।

(ग) राजा के निर्गमन काल में एक शंखवादक ने शंख बजाया। 'अधसर भर शंख बजाया है' यह सोचकर राजा ने प्रसन्न होकर उसे एक हजार मुद्राएं दीं। अब वह बार-बार शंख बजाने लगा। एक बार राजा ने विरेचन की दवा ली। वह मल विसर्जन के लिए गया हुआ था। शंखवादक ने शंख बजाया। राजा ने सोचा कि शत्रु-सेना ने दुर्ग पर आक्रमण कर दिया है। राजा मल-विसर्जन के वेग के कारण उठ नहीं सका। उसका मन खिन्न हो गया। वहां से उठने के बाद राजा ने अकारण शंख बजाने के कारण उस शंखवादक को दंडित किया।^१

(घ) एक वृद्धा ने व्यंतर देव की आराधना की। कंडों को उलटते हुए उसके रत्न प्राप्त हुए। वह समृद्ध हो गयी। उसने चतुःशाल घर बनवाया और उसमें अनेक शयन, आसन और रत्न आदि भर दिए। पड़ोसी वृद्धा ने जब यह सुना तो उसने समृद्धि का कारण पूछा। उसने यथार्थ स्थिति बता दी। उस पड़ोसी वृद्धा ने भी व्यंतर देव की आराधना की। देव प्रकट हुआ और पूछा—'तुम्हें क्या दूं?' उस वृद्धा ने कहा—'मुझे यह वर दें कि मेरे पास पड़ोसिन से दुगुना हो जाए। पहली वृद्धा जो-जो सोचती दूसरी के दुगुना होता जाता। प्रथम स्थविरा ने जब यह सुना कि वरदान के कारण पड़ोसिन के सब दुगुना होता जाता है तो उसने सोचा कि मेरा चतुःशाल भवन नष्ट हो जाए और उसके स्थान पर घास-फूस की कुटिया बन जाए। दूसरी पड़ोसिन के दो चतुःशाल घर नष्ट हो गए और उसके स्थान पर दो तृण-कुटिया हो गयीं। पहली ने सोचा कि मेरी एक आंख फूट जाए। उसकी एक आंख फूट गई और दूसरी की दोनों आंखें फूट गयीं। इसी प्रकार उसने देव से कहा—'मेरा एक हाथ और एक पैर टूट जाए।' देव ने कहा—'तथास्तु'। पड़ोसिन के दोनों हाथ और पैर टूट गए। यह असंतोष का फल है।^२

२८. भक्ति और बहुमान

एक गिरि-कंदरा में शिव की मूर्ति थी। ब्राह्मण और भील-दोनों उसकी पूजा-अर्चा करते थे। ब्राह्मण प्रतिदिन स्नान आदि कर, पवित्र होकर अर्चना करता था। अर्चना के पश्चात् वह शिव के सम्मुख बैठकर शिवजी का स्तुति-पाठ कर चला जाता। उसमें शिव के प्रति विनय था, बहुमान नहीं। वह भील शिव के प्रति बहुमान रखता था। वह प्रतिदिन मुंह में पानी भर लाता और उससे शिव को स्नान करा, प्रणाम कर वहीं बैठ जाता। शिव प्रतिदिन उसके साथ बातचीत करते। एक बार ब्राह्मण ने दोनों का आलाप-संलाप सुन लिया। उसने शिव की पूजा कर उपालंभ भरे शब्दों में कहा—'तुम भी व्यन्तर शिव हो, जो ऐसे गंदे व्यक्ति के साथ आलाप-संलाप करते हो।' तब शिव ने ब्राह्मण से कहा—'भील में मेरे प्रति बहुमान—आंतरिक प्रीति है, वह तुम्हारे में नहीं है।'

एक बार शिव ने अपनी आंखें निकाल लीं। ब्राह्मण अर्चा करने आया। शिव के आंखें न देखकर वह रोने लगा और उदास होकर वहीं बैठ गया। इतने में ही भील आ पहुंचा। शिव की आंखें न देखकर उसने तीर से अपनी दोनों आंखें निकाल कर शिव के लगा दीं। ब्राह्मण ने यह देखा। उसे शिव की बात पर पूरा विश्वास हो गया कि भील में बहुमान का अतिरेक है।^३

१. दशनि.१५८, अचू.पृ. ५२।

२. दशनि.१५८, अचू.पृ. ५२।

३. दशनि.१५८, अचू.पृ. ५२, हाटी.प. १०४।

२९. गुरु का अपलाप

एक गांव में एक नापित रहता था। विद्या के प्रभाव से उसका 'क्षुरप्रभांड' अधर आकाश में स्थिर हो जाता था। एक परिव्राजक उस विद्या को हस्तगत करना चाहता था। वह नापित की सेवा में रहा और विविध प्रकार से उसे प्रसन्न कर वह विद्या प्राप्त की। अब वह विद्याबल से अपने त्रिदंड को आकाश में स्थिर रखने लगा। इस आश्चर्य से बड़े-बड़े लोग उस परिव्राजक की पूजा करने लगे। एक बार राजा ने पूछा—'भगवन् ! यह आपका विद्यातिशय है या तप का अतिशय?' उसने कहा—'यह विद्या का अतिशय है।' राजा ने पुनः पूछा—'आपने यह विद्या किससे प्राप्त की?' परिव्राजक बोला—'मैं हिमालय में साधना के लिए रहा। वहां मैंने एक फलाहारी तपस्वी ऋषि की सेवा की और उनसे यह विद्या प्राप्त की।' परिव्राजक के इतना कहते ही आकाश-स्थित वह त्रिदंड भूमि पर आ गिरा।^१

उत्तराध्ययन निर्युक्ति की कथाएं

१. अहं से अहम् (सनत्कुमार चक्रवर्ती)

एक बार इन्द्र ने अपनी सभा में चक्रवर्ती सनत्कुमार के रूप की प्रशंसा की। यह सुनकर दो देवताओं की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। वे ब्राह्मण का रूप बनाकर चक्रवर्ती के पास आए। देवताओं ने राजा को देखकर मस्तक झुकाया। राजा ने पूछा—'पंडितजी! आप क्यों आए हैं?' ब्राह्मण-रूप देवों ने कहा—'हमने आपके रूप की प्रशंसा सुनी अतः देखने आए हैं। चक्रवर्ती ने सगर्व कहा—'जब मैं स्नान कर, आभूषण पहनकर सभा-मंडप में बैठूं तब आप मेरा रूप देखना।'

चक्रवर्ती सनत्कुमार स्नान से निवृत्त हो अनेक आभूषणों से सुसज्जित होकर सिंहासन पर बैठे और ब्राह्मण देवों की ओर देखने लगे। उन्होंने सोचा, अब ये शायद मेरी प्रशंसा करेंगे। ब्राह्मण रूप देव बोले—'पहले आपका शरीर सुन्दर और अमृतमय था। अब विषमय बन गया है। सारा शरीर कीड़ों से व्याप्त हो गया है। आप पात्र में थूक कर देखें।' चक्रवर्ती ने थूका। उस पर मक्खियां बैठते ही मर गयीं। इस घटना से चक्रवर्ती का अभिमान टूट गया। वे विरक्त होकर प्रव्रजित हो गए। कालान्तर में उनके शरीर में सोलह रोग उत्पन्न हो गए। वे उन्हें समभाव से सहने लगे।

एक देव वैद्य के रूप में चिकित्सा के लिए आया। मुनि सनत्कुमार ने कहा—'वैद्यराज! मैं आत्मा को अरुज करने में लगा हूँ। शरीर का रोग तो मैं भी मिटा सकता हूँ।' ऐसा कहकर उन्होंने अंगुलि पर थूक लगाया। कुष्ठ रोग से गलित अंगुलि कंचन के समान चमकने लगी। देव वैद्य आश्चर्यचकित रह गया।

१. दशनि. १५८, अचू.पृ. ५२, २६ से २९ तक की कथाओं का निर्देश आगे अनुवाद वाले टिप्पण में नहीं दिया है अतः क्रमांक में इन्हें सबसे अन्त में दिया है।

मुनि सनत्कुमार अनेक लब्धियों से सम्पन्न थे। परन्तु उन्होंने अपने शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उनका उपयोग नहीं किया। वे सात सौ वर्षों तक रोगों की असह्य वेदना को समभावपूर्वक सहते हुए अंत में निर्वाण को प्राप्त हो गए।^१

2. क्षुधापरीषह

उज्जयिनी नगरी में हस्तिमित्र नामक सेठ रहता था। उसकी अत्यन्त प्रिय पत्नी का अकाल में वियोग हो गया। उसके हस्तिभूति नामक एक पुत्र था। पत्नी का वियोग होने पर संसार की नश्वरता देखकर दोनों पिता-पुत्र प्रव्रजित हो गए।

एक बार उन्होंने साधुओं के साथ उज्जयिनी से भोगकट नगरी की ओर प्रस्थान किया। अटवी के मध्य पिता हस्तिमित्र के पैर में तीक्ष्ण कील लगी। वेदना के कारण एक कदम चलना भी उनके लिए शक्य नहीं था। मुनि ने अन्य साधुओं को कहा—‘मैं तो अभी पैर की पीड़ा से पीड़ित हूँ अतः चलने में असमर्थ हूँ। लेकिन तुम सब लोग अटवी को पार कर यहां से चले जाओ। मेरे साथ रहने से भूख-प्यास से पीड़ित हो जाओगे तथा मारणांतिक कष्ट भी आ सकते हैं। मैं अब यहां भक्त-प्रत्याख्यान कर पंडित-मरण की आराधना करूंगा।’ साधुओं ने कहा—‘आप विषाद न करें, हम आपकी सेवा करेंगे क्योंकि ग्लान की सेवा करना निर्ग्रन्थ-प्रवचन में सबसे बड़ा धर्म है।’ मुनि हस्तिमित्र ने पुनः कहा—‘मैं तो अवस्था प्राप्त हूँ अतः तुम मेरे पीछे व्यर्थ ही कष्ट मत उठाओ।’ ऐसा कहकर उसने सबसे क्षमायाचना की और गिरि कंदरा में एकान्त स्थान पर अनशन स्वीकार कर लिया। अन्य सभी साधुओं ने आगे की यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। हस्तिमित्र मुनि का पुत्र हस्तिभूति अपने पिता की सेवा में रहना चाहता था, लेकिन दूसरे साधु उसे बलपूर्वक अपने साथ ले गए।

कुछ दूर जाकर छोटा मुनि साधुओं को विश्वास दिलाकर लौट आया। वह पिता के पास गया। अपने पुत्र को देखकर पिता ने पूछा—‘वत्स! तुम यहां वापिस क्यों आए? यहां रहने से तुम्हें भूख-प्यास की असह्य वेदना सहन करनी पड़ेगी।’ भूख-प्यास की तीव्र वेदना से हस्तिमित्र मुनि का अनशन उसी दिन सम्पन्न हो गया। क्षुल्लक मुनि यह नहीं जान सका कि पिता मुनि की मृत्यु हो गई है।

मुनि मरकर देवलोक में उत्पन्न हुए। उन्होंने अवधिज्ञान का प्रयोग किया और सोचा कि मैंने क्या दान किया है और कौनसा तप तपा है? अवधि का प्रयोग करते-करते उन्होंने अपना मृत कलेवर और उसके पास बैठे पुत्र को देखा। अनुकंपावश देव अपने कलेवर में प्रवेश कर पुत्र से बोला—‘वत्स! अब भिक्षा के लिए जाओ।’ बाल मुनि ने जिज्ञासा की—‘मुनिवर ! यहां भिक्षा के लिए कहाँ जाऊँ? यहां तो कोई घर भी नहीं है।’ देव रूप मुनि ने कहा—‘यहां धव और न्यग्रोध के वृक्ष हैं। यहां वृक्षों पर रहने वाले भोजन पकाते हैं। वे तुम्हें भिक्षा देंगे।’ अपने पिता की बात सुनकर वह वृक्ष के पास गया और वहां धर्म-लाभ दिया। उसी समय वृक्ष से सुसज्जित एक हाथ निकला और उसने मुनि को भिक्षा दी। इस प्रकार वह बालमुनि प्रतिदिन भिक्षा ग्रहण करने लगा।

दूसरे वर्ष वे सभी साधु दुर्भिक्ष होने के कारण पुनः उज्जयिनी नगरी की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग में वही अटवी पुनः आयी। साधुओं ने उस बालमुनि को देखा और सारी स्थिति की अवगति चाही। मुनि हस्तिभूति ने कहा—‘मेरे पिता भी अभी तक जीवित हैं। वे उस कंदरा में हैं।’ साधु वहां पहुंचे। उनका शुष्क शरीर देखा। मुनियों ने जान लिया कि स्वर्गस्थ मुनि ने देव होकर मोहानुकम्पा से पुनः इस शरीर में प्रवेश किया है। वे साधु उस बाल मुनि को अपने साथ ले गए। देवता भी अपने स्थान पर वापिस चला गया।^१

३. पिपासा परीषद

उज्जैनी नगरी में धनमित्र नामक वणिक् रहता था। उसके आठ वर्ष के पुत्र का नाम धनशर्मा था। अपने पुत्र के साथ धनमित्र दीक्षित हो गया। एक बार वे दोनों मुनि अन्यान्य मुनियों के साथ मध्याह्न में विहार कर एडकाक्षपथ की ओर जा रहे थे। मार्ग में भुल्लूक मुनि को प्यास लगी। वह प्यास से व्याकुल हो गया और धीरे-धीरे चलने लगा। उसका पिता धनमित्र मुनि पीछे से आ रहा था। अन्य मुनि आगे चले गए। विहार के बीच एक नदी आयी। धनमित्र ने पुत्रानुराग से कहा—‘आओ बत्स! यहां पानी पी लो फिर प्रायश्चित्त कर लेना।’ यह मेरे सामने पानी पीने में संकोच कर रहा है। यदि मैं दूर चला जाऊं तो यह पानी पी लेगा।’ ऐसा सोच धनमित्र ने नदी पार कर ली।

एकान्त पाकर वह छोटा मुनि नदी के पास गया। पानी से अंजलि भर ली। उसी समय उसने चिंतन किया—‘मैं असंख्य जीवों से युक्त यह पानी कैसे पी सकता हूँ? इससे कितने जीवों को कष्ट होगा? जिनेश्वर भगवान् ने एक बूंद पानी में असंख्य जीव बताए हैं। यह सोचकर बालमुनि ने दृढ़ वैराग्य भाव से पानी नहीं पीया। अत्यधिक प्यास के कारण वह बालमुनि शुभ अध्यवसायों से वहाँ मृत्यु को प्राप्त हो गया। देवगति में उत्पन्न होकर उसने अपना पूर्वभव तथा मृत शरीर को देखा। उसमें प्रविष्ट होकर वह अपने पिता मुनि के पीछे-पीछे चलने लगा। पिता मुनि भी उसे देख आश्चर्य हो गये।

उस देव ने समस्त प्यासे मुनियों की रक्षा के लिए अनुकंपावश वैक्रिय शक्ति से गोकुल की विकुर्वणा की। साधुओं ने वहां छाछ, दूध आदि ग्रहण किया। देव रूप बाल मुनि हर स्थान पर गोकुल की विकुर्वणा करने लगा। इस प्रकार वे सभी मुनि सुखपूर्वक जनपद के निकट पहुंच गए।

जनपद आने के अंतिम विहार के समय देव ने अपना परिचय कराने के लिए किसी साधु का आसन विस्मृत करवा दिया। एक साधु वहां वापिस आया। वहां उसने आसन तो देखा लेकिन गोकुल कहीं दिखाई नहीं दिया। वापिस आकर उसने सारी बात साधुओं को कही। साधुओं ने जाना कि यह देवकृत चमत्कार था। बाल मुनि देव रूप में प्रकट हुआ। उसने पिता को छोड़कर सबको वंदना की। साधुओं के द्वारा कारण पूछने पर उसने सारी घटना बतायी। देव ने कहा—‘यदि मैं अपने पिता के कहने से पानी पी लेता तो अनन्त संसार में भ्रमण करता तथा विराधक बन जाता। इन्होंने मुझे सचित्त जल पीने की प्रेरणा दी इसलिए मैंने वंदना नहीं की।’ ऐसा कहकर देव पुनः स्वर्गलोक चला गया।^२

१. उनि.९०, उशांटी.प.८५, ८६, उसुटी.प. १८।

२. उनि.९१, उशांटी.प.८७, ८८, उसुटी.प. १९।

४ शीत परीषह

राजगृह नगरी में चार वणिक् मित्र थे। वे बचपन से एक साथ खेले तथा बड़े हुए। एक बार भद्रबाहु स्वामी की देशना सुनकर चारों मित्र उनके पास दीक्षित हो गए। अनेक शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने एकलविहार प्रतिमा स्वीकार की।

एक बार विहार करते हुए वे पुनः राजगृह नगरी में आए। उस समय हेमन्त ऋतु थी। कड़ाके की सर्दी थी। चारों मुनि दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा लेकर पुनः वैभारगिरि पर्वत को ओर आने लगे। पहला मुनि जब गुफाद्वार तक पहुंचा तब चौथा प्रहर प्रारंभ हो गया, इसलिए वह वहीं प्रतिमा में स्थित हो गया। इसी प्रकार दूसरा मुनि उद्यान में, तीसरा उद्यान के समीप, चौथा नगर के पास वे चारों मुनि प्रतिमा में स्थित हो गए।

गुफा के निकट ठहरे मुनि को अबाध शीत परीषह पीड़ित करता रहा। मुनि ने मेरु पर्वत की भांति दृढ़ मनोबल से उसे सहन किया और रात्रि के प्रथम प्रहर में ही स्वर्गस्थ हो गया। उद्यान में ठहरा मुनि शीत के कारण रात्रि के द्वितीय प्रहर में, उद्यान के समीप ठहरा मुनि रात्रि के तीसरे प्रहर में तथा नगर-द्वार पर प्रतिमा में स्थित मुनि रात्रि के चौथे प्रहर में स्वर्गस्थ हुआ क्योंकि उसे नगर की उष्मा बचा रही थी। इस प्रकार चारों मुनि शीत परीषह को समतापूर्वक सहकर सद्गति को प्राप्त हुए।

५. उष्ण परीषह (अर्हन्नक)

तगरा नगरी में अर्हन्मित्र नामक आचार्य विहार कर रहे थे। एक बार दत्त नामक वणिक् अपनी पत्नी भट्टा तथा पुत्र अर्हन्नक के साथ आचार्य अर्हन्मित्र के पास दीक्षित हुआ। दत्त मुनि स्नेहवश अपने पुत्र को कभी भिक्षा के लिए नहीं भेजता था। आहार आदि के समय भी मन इच्छित आहार करवाता था। वह बालमुनि बहुत सुकुमार था लेकिन अन्य साधुओं को यह व्यवहार बहुत अखरता था। पर साधु कुछ कह नहीं सकते थे।

कालान्तर में दत्त मुनि स्वर्गस्थ हो गए। साधुओं ने दो तीन दिन बाद ही मुनि अर्हन्नक को भिक्षा के लिए भेज दिया। सुकुमार होने के कारण ग्रीष्मऋतु के आतप से वे ऊपर, नीचे और पार्श्व से झुलसने लगे। उस दिन वे प्यास से व्याकुल होकर छाया में विश्राम के लिए ठहरे। एक विरहिणी स्त्री ने उन्हें देखा। उसका पति परदेश गया हुआ था। मुनि के सुकुमार और सुन्दर शरीर को देखकर वह स्त्री उसमें आसक्त हो गयी। स्त्री ने दासी द्वारा मुनि को ऊपर बुलाया। महिला ने पूछा—'मुनिवर! आपको क्या चाहिए?' मुनि ने उत्तर दिया—'मुझे केवल भिक्षा चाहिए।' स्त्री ने भिक्षा में पर्याप्त लड्डू बहराए। पुनः उसने पूछा—'आप इस दुष्कर व्रत का पालन क्यों करते हैं?'

मुनि ने सहजता से उत्तर दिया—'सुख के लिए।' यह सुनकर स्त्री ने स्नेहयुक्त दृष्टि से मुनि को देखते हुए कहा—'यदि सुख चाहते हो तो मेरे साथ रहो और भोगों का उपभोग करो। इस दुष्कर चर्या का तो जीवन की अंतिम अवस्था में पालन कर लेना।' यह बात सुन गमी से व्याकुल मुनि श्रामण्य से च्युत हो गया। अब वह उस स्त्री के साथ भोग भोगने लगा। साधुओं ने सभी स्थानों पर

मुनि अर्हन्नक की खोज की लेकिन मुनि का कहीं पता नहीं चला क्योंकि वह गृहस्थ हो गया था। मुनि की माता साध्वी भट्टा पुत्र के शोक से व्याकुल हो गयी। वह अर्हन्नक-अर्हन्नक का विलाप करती हुई नगर के तिराहे-चौराहे में भ्रमण करने लगी। वह किसी भी व्यक्ति को देखती तो सबसे थही पूछती—'क्या तुमने अर्हन्नक को कहीं देखा है?' इस प्रकार विलाप करती हुई वह पागल की भांति इधर-उधर भ्रमण करने लगी।

एक बार उसके पुत्र अर्हन्नक ने गवाक्ष से अपनी माता को देखा। वह उसी समय नीचे उतरा और माता के चरणों में गिर पड़ा। वह बोला—'आपके कुल में कलंक लगाने वाला मैं आपका पुत्र अर्हन्नक हूँ।' पुत्र को देखकर वह स्वस्थ हो गई। उसका चित्त शांत हो गया। उसने कहा—'पुत्र! अब तुम पुनः दीक्षित हो जाओ। इस प्रकार दुर्गति में पड़कर जीवन बर्बाद मत करो। पुत्र ने कहा—'मां! मैं अब संयम-पालन करने में असमर्थ हूँ, परन्तु अनशन कर सकता हूँ।' मां ने स्वीकृति देते हुए कहा—'असंयमी जीवन से अनशन करना अच्छा है। तुम असंयत होकर संसार-अटवी में परिभ्रमण करने वाले मत बनो।' तब अर्हन्नक पादोपगमन अनशन स्वीकार कर एक तप्त शिला पर सो गया। मुहूर्त भर में उसका सुकुमार शरीर गर्मी से सूख गया। पहले अर्हन्नक ने उष्ण परीषह को सहन नहीं किया, तत्पश्चात् उसने उसे समतापूर्वक सहन किया।^१

६. दंशमशक परीषह

चम्पा नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके युवराज का नाम सुमनभद्र था। धर्मघोष आचार्य के पास धर्म सुनकर वह कामभोगों से विरक्त होकर प्रव्रजित हो गया। युवराज सुमनभद्र ने दीक्षित होकर सूत्रों का अध्ययन किया और फिर दृढ़ मनोबल से एकलविहार प्रतिमा स्वीकार कर ली। एक बार वह अटवी में विहार कर रहा था। शरद ऋतु का समय था। वह अटवी में ही कायोत्सर्ग में स्थित हो गया। रात्रि में मच्छरों का उपद्रव रहा। सारी रात मच्छर काटते रहे पर मुनि ने उनका निवारण नहीं किया। मच्छरों ने सारा रक्त चूस लिया। उसने मच्छर-दंश की पीड़ा को समभावपूर्वक सहा और उसी रात दिवंगत हो गया।^२

७. अचेल परीषह

दशपुर नगर में सोमदेव नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम रुद्रसोमा था। उसके दो पुत्र थे—आर्यरक्षित और फल्गुरक्षित। आर्यरक्षित पिता के कथनानुसार अध्ययन करने लगा। जब उसने देखा कि घर में अध्ययन करना संभव नहीं है, तब वह पाटलिपुत्र नगर में चला गया। उसने सांगोपांग चारों वेद पढ़े। जब उसका पारायण सम्पन्न हुआ तब वह शाखापारक विद्वान् बन गया। चौदह विद्यास्थानों को ग्रहण कर वह दशपुर नगर वापिस लौट आया। उसके पिता राजकुल के सेवक थे। आर्यरक्षित ने अपने आगमन की सूचना राजा को दे दी। राजा ने समस्त नगर को भ्रमणियों से सजाया। राजा स्वयं उसकी अगवानी करने गया। उसको सत्कारित-सम्मानित किया और पारितोषिक दिया। नगरवासियों ने उसका अभिनंदन किया। वह हार्थी पर आरूढ़ होकर अपने घर पहुँचा। वहाँ

१. उनि. ९३, उशांटी.प. ९०, ९१ उमुटी.प. २१।

२. उनि. ९४, उशांटी.प. ९२ उमुटी.प. २२।

भी बाह्य और आन्तरिक परिषद् के लोगों ने भावभीना स्वागत किया और पूजा-अर्चना की। उसका घर मित्रों, स्वजनों और उपहारों से भर गया। उसने इधर-उधर देखा। मां को वहां न देखकर वह सीधा घर के भीतर गया। मां ने उसे देखकर कहा—‘पुत्र! स्वागत है।’ इतना कहकर वह मौन बैठ गई। आर्यरक्षित ने पूछा—‘मां! क्या तुम मेरे अध्ययन से संतुष्ट नहीं हो? मैंने चौदह विद्यास्थानों को अधिगत कर लिया है। नगर मेरे अध्ययन से विस्मयाभिभूत है।’ मां बोली—‘पुत्र! मेरी तुष्टि कैसे हो? तुम अनेक जीवों की वधकारक विद्या सीखकर आये हो। इससे संसार का भ्रमण बढ़ता है इसलिए मुझे संतोष कैसे हो? क्या तुमने दृष्टिवाद का अध्ययन कर लिया?’ मां के वचन सुनकर आर्यरक्षित ने सोचा—‘वह दृष्टिवाद कितना बड़ा होगा? कितना ही बड़ा क्यों न हो, मैं उसे अवश्य ढूँगा, जिससे मां को संतोष हो सके। मुझे लोगों को संतुष्ट करने से क्या?’ उसने मां से पूछा—‘मां! वह दृष्टिवाद क्या है?’ मां बोली—‘वह साधुओं का दृष्टिवाद है। यह सुनकर आर्यरक्षित उसके नक्षरार्थ का चिंतन करने लगा। उसने सोचा—‘दृष्टियों का वाद है दृष्टिवाद। नाम सुन्दर है। यदि कोई मुझे इसका अध्ययन करायेगा तो मैं अवश्य अध्ययन करूँगा। माता भी संतुष्ट हो जाएगी।’ उसने मां से पूछा—‘मां! कहाँ है दृष्टिवाद के ज्ञाता?’ मां बोली—‘वत्स! अपने इक्षुगृह में आचार्य तोसलिपुत्र प्राण हुए हैं। वे दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं।’ आर्यरक्षित ने कहा—‘मां! तुम उदासीन मत बनो। मैं कल ही दृष्टिवाद पढ़ने के लिए आचार्य के पास चला जाऊँगा।’ वह सारी रात दृष्टिवाद शब्द के अर्थ का चिन्तन करता हुआ जागता रहा।

दूसरे दिन वह ऊषाकाल में ही घर से प्रस्थित हो गया। उसका एक प्रिय मित्र ब्राह्मण उपनगर में रहता था। जब उसने आर्यरक्षित के विद्याध्ययन कर घर लौटने की बात सुनी तो वह उसका साक्षात् करने घर से निकल पड़ा। उसने सोचा—‘कल मैं उसकी अभिवादन-सभा में नहीं पहुँच सका अतः आज मैं उसका साक्षात् करूँ।’ यह सोचकर अपने मित्र को उपहार देने के लिए नौ पूरे और एक आधा इक्षुदंड लेकर वह घर से निकला। दोनों आमने-सामने मिले। ब्राह्मण ने पूछा—‘तुम कौन हो?’ उसने कहा—‘मैं आर्यरक्षित हूँ।’ तब ब्राह्मण ने अत्यन्त हर्ष से उसे गले लगाया और कहा—‘स्वागत है, स्वागत है। मैं तुम्हें देखने के लिए ही आ रहा था।’ आर्यरक्षित बोला—‘आओ! मैं अभी शरीर-चिन्ता से निवृत्त होकर आ रहा हूँ। तुम ये इक्षुदंड माता को समर्पित कर देना और माता से यह कहना कि मैंने आर्यरक्षित को देखा है और मैं ही पहला व्यक्ति हूँ आज उसे देखने वाला। वह ब्राह्मण अपने इक्षुदंडों के साथ आर्यरक्षित के घर गया। माता को इक्षुदंड समर्पित किए और सारा वृत्तांत बता दिया। मां बहुत प्रसन्न हुई। उसने सोचा—‘मेरे पुत्र ने सुन्दर मंगलमय वस्तु देखी है। वह नौ पूर्व और उसका खंड ग्रहण कर सकेगा। आर्यरक्षित ने सोचा—‘मैं दृष्टिवाद के नौ अध्ययन तथा दसवें का अंश ग्रहण कर सकूँगा। दसवां पूर्व पूरा ग्रहण नहीं कर पाऊँगा। वह वहां से इक्षुगृह के पास गया और सोचने लगा—‘मैं यहां से अपरिचित हूँ। क्या मैं अकेला ही चला जाऊँ? यदि आचार्य का कोई श्रावक मिल जाए तो उसके साथ जाना अच्छा रहेगा—’ यह सोच वह एक ओर ठहर गया।

वहां ढड़र नाम का एक श्रावक शरीरचिन्ता से मुक्त होकर उपाश्रय में जा रहा था। उसने दूरस्थित होकर तीन नैषेधिकी की। इसी प्रकार षाड़स्वरो से ‘ईरिया’ आदि की। आर्यरक्षित मेधावी

था। उसने उस श्रावक को सारी क्रिया सीख ली। वह भी परिश्रम से भीतर गया और सभी साधुओं को वंदना की, पर ढड़ढर श्रावक को वंदना नहीं की। आचार्य ने देखा यह नया श्रावक आया है। आचार्य ने पूछा—‘किसके साथ आए हो?’ उसने कहा—‘मैं इस श्रावक के साथ आया हूँ।’ आचार्य ने साधुओं से कहा—‘यह श्रावकपुत्र है और वही है जो कल हाथी पर आरूढ़ होकर आया था।’ साधुओं ने पूछा—‘तुम यहां कैसे आए हो?’ आर्यरक्षित ने सारा वृत्तान्त सुनाया और कहा—‘आर्यवर! मैं आपके पास दृष्टिवाद का अध्ययन करने आया हूँ।’ आचार्य बोले—‘यदि तुम मेरे पास प्रब्रज्या ग्रहण करो तो मैं तुम्हें अध्ययन करा सकूंगा।’ आर्यरक्षित बोला—‘जैसी आपकी आज्ञा। मैं आपके पास दीक्षित हो जाऊंगा।’ तब आचार्य ने कहा—‘मैं परिपाटी-क्रम से निश्चित काल में पढ़ाऊंगा।’ उसने कहा—‘मुझे यह स्वीकार है। परन्तु गुरुदेव ! मैं यहां प्रव्रजित नहीं हो सकता। यहां का राजा और दूसरे लोग मेरे में अनुरक्त हैं। वे मुझे बलात् घर ले जायेंगे, इसलिए हम अन्यत्र कहीं चलें।’

आचार्य तब आर्यरक्षित को साथ ले दूसरे गांव चले गए। यह उनके प्रथम शिष्य की निष्पत्ति थी। आर्यरक्षित ने दीक्षित होकर कुछ ही समय में ग्यारह अंग पढ़ लिए। उसने आचार्य तोसलिपुत्र के पास दृष्टिवाद का वह सारा अंश ग्रहण कर लिया जितना आचार्य को ज्ञात था। उसने सुना कि युगप्रधान आचार्य वज्र दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं, तब आर्यरक्षित आचार्य वज्र के पास जाने के लिए प्रस्थित हुआ। मार्ग में उज्जयिनी नगर आया। वहां वह स्थविर भद्रगुप्त के पास गया। उन्होंने उसे गले लगाकर कहा—‘तुम धन्य हो, कृतार्थ हो। मैं अभी संलेखना कर रहा हूँ। मेरा कोई निर्यामक नहीं है। तुम मेरे निर्यामक बनो।’ आर्यरक्षित ने स्वीकार कर लिया। स्थविर भद्रगुप्त मृत्युशय्या पर थे। वे बोले—‘वत्स! तुम वज्रस्वामी के साथ मत रहना। किसी दूसरे उपाश्रय में रहकर अध्ययन करना क्योंकि जो व्यक्ति एक रात भी वज्रस्वामी के साथ रह जाता है, वह मर जाता है।’ आर्यरक्षित ने यह बात मान ली। भद्रगुप्त के कालगत होने पर वह वज्रस्वामी के पास गया और उपाश्रय के बाहर ठहर गया।

वज्रस्वामी ने उसी दिन स्वप्न देखा कि मेरा एक पात्र दूध से भरा हुआ है। एक आगंतुक आया और सारा दूध पीकर आश्वस्त हो गया, फिर भी कुछ दूध पात्र में अवशिष्ट रह गया। आचार्य ने अपने स्वप्न की बात साधुओं को बताई। वे सब परस्पर आलाप-संलाप करने लगे। आर्य वज्र बोले—‘तुम नहीं जानते आज मेरा प्रातीक्षिक आयेगा और वह कुछ न्यून दस पूर्ण सीखेगा।’ प्रातःकाल होते ही आर्यरक्षित वहां आ पहुंचे। आचार्य ने पूछा—‘कहां से आये हो?’ आर्यरक्षित ने कहा—‘आचार्य तोसलिपुत्र के पास से आया हूँ।’ आचार्य ने पुनः पूछा—‘क्या तुम आर्यरक्षित हो?’ उसने स्वीकृति में अपना सिर हिलाया। आचार्य ने स्वागत करते हुए पूछा—‘कहां ठहरे हो?’ उसने कहा—‘उपाश्रय से बाहर ठहरा हूँ।’ आचार्य बोले—‘बाहर ठहरे व्यक्ति को अध्ययन कैसे कराया जा सकता है क्या तुम यह नहीं जानते?’ तब आर्यरक्षित बोले—‘आर्य ! क्षमाश्रमण स्थविर भद्रगुप्त ने मुझे कहा था कि तुम बाहर ही ठहरना। यह सुनकर आचार्य वज्र ने ज्ञान का उपयोग लगाया और जाना कि आचार्य किसी को कोई बात निष्कारण नहीं कहते। अन्तः, तुम बाहर ही ठहरो। आचार्य वज्र उसे वाचना देने लगे। कुछ ही समय में आर्यरक्षित ने नौ पूर्ण पढ़ लिए। दसवां

पूर्व चल रहा था। तब आर्य वज्र ने एक दिन कहा—‘इसके यविक पढ़ो। इस पूर्व का यही परिकर्म है। ये सूक्ष्म होते हैं।’ आर्यरक्षित ने चौबीस यविक पढ़ लिए। आर्य वज्र उन्हें पढ़ाते रहे।

इधर आर्यरक्षित के माता-पिता उनके विरह से शोकाकुल हो गए। उन्होंने सोचा—‘आर्यरक्षित कहता था कि मैं उद्योत करूंगा परन्तु उसने अन्धकार कर दिया।’ उन्होंने आर्यरक्षित को बुला भेजा, फिर भी वह नहीं आया। तब उन्होंने उसके अनुज फल्गुरक्षित को भेजा। उसे कहा—‘तुम जाओ, आर्य वज्र के पास जो भी जाता है, उसे वह प्रव्रजित कर देता है।’ फल्गुरक्षित को इस पर विश्वास नहीं हुआ। वह गया और प्रव्रजित होकर उनके पास पढ़ने लगा। आर्यरक्षित का अध्ययन चल रहा था। वह दसवें पूर्व की यविकाओं में अत्यन्त लीन था। एक दिन उसने आर्य वज्र से पूछा—‘भगवन्! दसवां पूर्व कितना अवशिष्ट रहा है?’ आचार्य ने बिन्दु और समुद्र तथा सर्प और मन्दर पर्वत का दृष्टान्त देते हुए कहा—‘अभी तक तुमने बिन्दु मात्र ग्रहण किया है, समुद्र जितना शेष है।’ यह सुनकर वह विषादग्रस्त हो गया। उसने सोचा, मेरे में वह शक्ति कहां है कि मैं इस महासमुद्र का पार पा सकूँ? वह आचार्य वज्र के पास जाकर बोला—‘आर्य! मैं जा रहा हूँ, मेरा यह भाई फल्गुरक्षित आ गया है।’ आचार्य बोले—‘अधीर मत बनो। अध्ययन करते रहो।’ किन्तु वह बार-बार एक ही प्रश्न पूछता रहा। तब आचार्य वज्र ने ज्ञानोपयोग से यह जाना कि मेरा आयुष्य थोड़ा ही शेष है। आर्यरक्षित पुनः वापिस यहाँ नहीं आएगा अतः मेरे बाद दसवें पूर्व का उच्छेद हो जाएगा।

आचार्य की आज्ञा लेकर आर्यरक्षित दशपुर नगर में आ गया। उसने वहाँ माता, भार्या, भगिनी आदि सभी स्वजन वर्ग को दीक्षित कर दिया। जो वृद्ध पिता था, वह भी अनुरक्तिवशात् अपने प्रव्रजित स्वजनों के साथ रहने लगा। परन्तु लज्जावश उसने लिंग-मुनिवेश धारण नहीं किया। वह सोचता, ‘मैं श्रमण कैसे बनूँ? यहाँ मेरे स्वजन हैं। मेरी बेटियाँ, पुत्रवधुएं, पौत्रियाँ आदि हैं। उनके समक्ष मैं नग्न कैसे रह सकता हूँ?’ वह गृहस्थ वेश में ही रहने लगा। अनेक मुनि और आचार्य उसे श्रमण बनने की बात कहते, तब वह वृद्ध कहता कि यदि मुझे युगल-वस्त्र, कमंडलु, छत्र, पादुका, यज्ञोपवीत आदि के साथ प्रव्रजित किया जाए तो मैं प्रव्रजित हो सकता हूँ, अन्यथा नहीं। आर्यरक्षित ने उसे उसी रूप में प्रव्रजित कर दिया। उन्होंने सोचा कि चरणकरण का स्वाध्याय करते समय इसका निग्रह करना चाहिए। उन्होंने कहा—‘ठीक है, तुम कटिवस्त्र धारण करो।’ वह स्थविर बोला—‘छत्र के बिना मैं रह नहीं सकता।’ उन्होंने छत्र की अनुज्ञा दे दी। पुनः उसने अपनी मांग प्रस्तुत की—‘पात्र के बिना मैं उच्चार-प्रसवण नहीं कर सकता।’ उसे कमंडलु की भी आज्ञा मिल गई। ‘मैं ब्राह्मणचिह्न—जनेऊ रखूंगा।’ आर्यरक्षित ने कहा—‘ठीक है।’ इतना रखकर उसने अवशिष्ट का त्याग कर दिया।

एक बार आचार्य आर्यरक्षित चैत्य-वन्दन के लिए निकले। उन्होंने बालकों को यह सिखा दिया था कि वे इस प्रकार कहें—‘हम सब बालक छत्रधारी मुनि को छोड़कर शेष सभी मुनियों को वन्दना करते हैं।’ यह सुनकर वृद्ध मुनि ने सोचा—‘ये मेरे पुत्र-पौत्र सभी वन्दनीय हैं, मैं कैसे अवन्दनीय रहूँ?’ वृद्ध ने उन बालकों से पूछा—‘क्या मैं प्रव्रजित नहीं हूँ?’ बालक बोले—‘मुने! क्या प्रव्रजित होने वाले जूते, कमंडलु, यज्ञोपवीत, छत्र आदि रखते हैं?’ वृद्ध ने सोचा—‘ये बालक

मुझे लक्ष्य कर कह रहे हैं।' उसने तत्काल सभी वस्तुएं छोड़ने का निश्चय कर लिया। वह अपने पुत्र आचार्य आर्यरक्षित के पास गया और कहा—'मैं छत्र छोड़ दूंगा तो आतप में क्या करूंगा?' आचार्य बोले—'आतप में सिर पर कपड़ा डाल देना।' अगर कमंडलु छोड़ दू तो? संज्ञाभूमि में पात्र ले जाते ही हैं। पुनः वृद्ध बोला—'मैं ब्राह्मण हूं अतः यज्ञोपवीत कैसे छोड़ दू?' आचार्य ने समाधान दिया—'हम ब्राह्मण हैं, यह कौन नहीं जानता?' इस प्रकार उसने सभी वस्तुओं का परिहार कर डाला। इतने में बालक चिल्ला उठे—'कटिवस्त्रधारी मुनि को छोड़कर हम सभी मुनियों को वंदना करते हैं।' यह सुनकर वृद्ध मुनि रुष्ट होकर बोला—'तुम सभी मुझे वंदना मत करो। मुझे अन्य लोग वंदना करेंगे पर मैं यह कटिवस्त्र नहीं छोड़ूंगा।'

एक बार वहीं एक मुनि भक्तप्रत्याख्यान कर कालगत हो गया। उसको निमित्त बनाकर आचार्य आर्यरक्षित ने उनका कटिवस्त्र उतरवाने के लिए कहा—'जो इस मृत मुनि का वहन करेगा, वह महान फल का आभागी होगा।' पूर्व प्रव्रजित मुनि बोले—'हम इसको वहन करेंगे।' वे सभी उपस्थित हुए। आचार्य ने कहा—'मेरा स्वजन-वर्ग निर्जरा का भागी न बने इसलिए तुम सब लोग इसको वहन करने के लिए कह रहे हो।' तब वृद्ध मुनि ने पूछा—'पुत्र ! क्या इसको वहन करने से बहुत निर्जरा होती है?' आचार्य ने उत्तर दिया—'इसमें निर्जरा तो प्रत्यक्ष है, पूछना क्या है? तब स्थविर मुनि बोले—'मैं भी इसको वहन करूंगा।' आचार्य बोले—'इसमें उपसर्ग हो सकते हैं। बालक पीछे लग सकते हैं। यदि तुम इन उपसर्गों को सहन कर सको तो इसको वहन कर ले जाओ। यदि तुम सहन नहीं कर पाओगे तो अच्छा नहीं रहेगा।' इस प्रकार उसे स्थिर कर दिया।

वृद्ध साधु ने शव को उठाया। साधु आगे चल रहे थे। पीछे साध्वियां थीं। तब पूर्व योजना के अनुसार कुछ बालक आए और उस स्थविर मुनि का कटिवस्त्र खींच डाला। उसने लज्जावश मृतक को छोड़ना चाहा तब दूसरों ने कहा—'शव को बीच में मत छोड़ देना।' तब वृद्ध ने दूसरे कपड़े से कटिवस्त्र बना डोरी से उसे बांध दिया। अब वह लज्जावश उसे वहन करते हुए सोचने लगा कि मार्ग में मुझे मेरी पुत्रवधुएं देखेंगी। 'यह उपसर्ग आया है'—यह सोचकर उसने उसे सहन किया। फिर उसी अवस्था में उपाश्रय में आया। आचार्य ने पूछा—'मुने ! आज यह क्या?' तब वृद्ध बोला—'पुत्र ! आज उपसर्ग आया था।' आचार्य ने कहा—'अच्छा, शाटक ले आओ।' वृद्ध बोला—'अब शाटक का क्या प्रयोजन? जो देखना था, वह देख लिया। अब तो चोलपट्टक ही उचित रहेगा।' उसे चोलपट्टक दे दिया गया। पहले उसने अचेल परीषह सहन नहीं किया, बाद में सहन किया।^१

८ अरति परीषह

अचलपुर नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसका पुत्र युवराज आचार्य राध के पास दीक्षित हुआ। एक बार वह विहार करता हुआ तगरा नगरी पहुंचा। उस समय आचार्य राध के स्वाध्याय अंतेवासी शिष्य आर्यराध श्रमण उज्जैनी में विहार कर रहे थे। राधश्रमण के कुछ शिष्य तगरा नगरी में आर्य राध के पास आए। आर्य राध ने आए हुए शिष्यों से पूछा—'वहां कोई उपसर्ग

तो नहीं हैं?' मुनियों ने उत्तर दिया—'भंते ! उज्जयिनी में राजपुत्र और पुरोहितपुत्र—दोनों मुनियों को बहुत कष्ट देते हैं।' आचार्य राध के प्रव्रजित सुवराज शिष्य ने भी यह बात सुनी। उज्जयिनी का राजपुत्र उसका भतीजा था। उसने सोचा—'वह इस दुष्प्रवृत्ति से संसार में भ्रमण करेगा इसलिए उसे इससे मुक्त करना चाहिए।' यह सोचकर वह आचार्य से आज्ञा प्राप्त कर उन दोनों को प्रतिबोध देने के लिए उज्जयिनी की ओर प्रस्थित हो गया। वह उज्जयिनी पहुंचा। आचार्य राध श्रमण ने अतिथि मुनि का स्वागत किया। भिक्षा के समय वह भिक्षाचर्या के लिए तत्पर हुआ। आचार्य बोले—'बैठो।' उसने कहा—'मुझे उन दोनों प्रत्यनीकों का घर बता दें।' आचार्य ने एक क्षुल्लक को मुनि के साथ भेजा। क्षुल्लक ने उन दोनों का घर बता दिया। मुनि विश्वस्त होकर घर में प्रविष्ट हुए। वहां राज-परिजन विस्मित होकर खड़े हुए और मुनि को देखकर बोले—'मुने ! आप शीघ्र ही यहां से निकल जाइए अन्यथा कुमार आपकी हंसी करेंगे, अपमान करेंगे। मुनि ने निःसंकोच भाव से बाढ़स्वर में 'धर्मलाभ' का उच्चारण किया। राजपुत्र और मंत्रिपुत्र दोनों ने यह शब्द सुना। वे बोले—'अहां ! आज हमारे अहोभाष कि तुम जैसे मुनि हमारे घर आ गए। हमारी वंदना स्वीकार करो।' 'मुने ! क्या तुम नाचना जानते हो?' मुनि बोले—'हां, मैं नाचना जानता हूं, तुम वाद्य बजाओ।' वे वाद्य बजाने लगे पर वे बजाना नहीं जानते थे। मुनि बोले—'ऐसे ही दोंगी हो तुम, बजाना भी नहीं जानते।' वह सुनकर दोनों कुपित हो गए। वे दोनों उस पर प्रहार करने दौड़े। मुनि ने उन दोनों के शरीर के संधि-स्थलों को क्षुभित कर दिया। पहले उन दोनों की पिटाई की। पीटे जाने पर वे दोनों जोर-जोर से चिल्लाने लगे। अनेक परिजन इकट्ठे हो गए।

मुनि के जाने के बाद परिजनों ने देखा कि वे दोनों न तो जीवित हैं और न मृत। उनकी दृष्टि स्थिर है। राजा को सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ। राजा ने दोनों को मुक्त कर दिया। फिर राजा अपनी सेना के साथ मुनियों के पास आया। वह मुनि भी एक ओर बैठा-बैठा आगमों का परावर्तन कर रहा था। राजा ने आचार्य के चरणों में प्रणिपात कर प्रार्थना के स्वरों में कहा—'भगवन् ! आप कृपा करें।' आचार्य बोले—'मैं कुछ भी नहीं जानता। यहां एक अतिथि मुनि आया है, संभव है यह उसी का काम हो।' राजा उस मुनि के पास गया और उसे पहचान लिया। मुनि ने ओजस्वी वाणी में राजा से कहा—'तुमको भिक्षार है। राजा होकर भी तुम अपने पुत्र पर अनुशासन नहीं कर सके।' राजा अनुनय-विनय करने लगा। मुनि ने कहा—'यदि दोनों प्रव्रजित हो जाएं तो मुक्त हो सकते हैं।' यह सुनकर राजा और पुरोहित दोनों ने दीक्षा की अनुमति दे दी। जब दोनों स्वस्थ हो गए तो दीक्षा के बारे में पूछने पर वे सहर्ष तैयार हो गए। पहले उन दोनों का लोच किया फिर उनको मुक्त करके दीक्षित किया। दीक्षित होकर राजपुत्र शुद्धभाव से चारित्र्य पालन करने लगा। पुरोहितपुत्र को जाति का मद था। वह सोचता था कि हमें बलात् दीक्षित किया गया है। फिर भी संयम-जीवन यापन कर वे दोनों देवलोक में उत्पन्न हुए।

उस समय कौशाम्बी नगरी में तापस नामक सेठ रहता था। वह मरकर अपने ही घर सूअर की योनि में उत्पन्न हुआ। सूअर के भव में उसे जातिस्मृति ज्ञान हो गया। सेठ के पुत्रों ने उसी दिन उस सूअर को मार दिया। वह पुनः अपने ही घर में सर्प के रूप में पैदा हुआ। सांप के भव में भी उसे जातिस्मृति ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। सांप किसी को डस न ले इसलिए उसे मार डाला गया।

वहां से मरकर वह अपने ही पुत्र के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वहां भी जातिस्मृति होने से उसने सोचा—‘मैं अपनी पुत्रवधू को मां तथा पुत्र को पिता कैसे कहूंगा?’ यह सोचकर उसने मौनव्रत स्वीकार कर लिया। माता-पिता ने अनेक उपाय किए लेकिन वह नहीं बोला।

जब वह बड़ा हुआ तब चार ज्ञान के धनी स्थविर मुनि वहां आए। उन्होंने अपने ज्ञान से जाना कि यह संबुद्ध होगा। साधु उसके घर जाकर बोले—‘तापस! इस मौन व्रत को स्वीकार करने से क्या? धर्म के रहस्य को समझकर उसे स्वीकार करो।’ साधुओं की बात सुनकर वह विस्मित हो गया कि इन्होंने मेरे मन की बात कैसे जानी? उसने प्रणाम करके पूछा—‘आपने यह कैसे जाना?’ साधुओं ने कहा—‘हमारे गुरु सब जानते हैं।’ वह आचार्य के पास आया। उनके चरणों में वंदना की और श्रावकधर्म स्वीकार किया। उसका मूल नाम अशोकदत्त था लेकिन फिर मूक हो गया।

इधर पुरोहितपुत्र जो देवलोक में उत्पन्न हुआ था, उसने महाविदेह क्षेत्र में जाकर सीमंधर स्वामी से पूछा—‘मैं सुलभबोधि हूं या दुर्लभबोधि?’ सीमंधर स्वामी ने उत्तर दिया—‘तुम दुर्लभबोधि हो।’ पुनः उसने पूछा—‘मैं यहां से च्युत होकर कहां उत्पन्न होऊंगा?’ भगवान् ने कहा—‘कौशाम्बी नगरी में तुम मूक के भाई बनोगे। तुम्हारा वह मूक भाई दीक्षित हो जायेगा।’

वह देव भगवान् को वंदना कर मूक के पास गया। बहुत-सा धन देकर उसने मूक से कहा—‘मैं देवलोक से च्युत होकर तुम्हारे भाई के रूप में उत्पन्न होऊंगा। उस समय माता को आम खाने का दोहद उत्पन्न होगा। मैंने अमुक पर्वत पर सदाबहार आम का वृक्ष आरोपित कर दिया है। तुम माता को कह देना कि तुम्हारे पुत्र होगा। यदि मां दोहद के लिए आम मांगे तो तुम कहना कि यदि तुम उत्पन्न होने वाले पुत्र को मेरे साथ दीक्षित कर दोगी तो मैं आम ला दूंगा। मेरे जन्म के पश्चात् ऐसा प्रयत्न करते रहना जिससे मुझे धर्मबोध मिलता रहे तथा मैं संबुद्ध होता रहूँ।’ मूक ने यह बात स्वीकृत कर ली। देव भी संतुष्ट होकर वापिस चला गया।

कुछ समय पश्चात् वह देव (पुरोहित-पुत्र) वहां से मूक की माता के गर्भ में उत्पन्न हुआ। माता को अकाल में आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। मूक ने सभी कार्य वैसा ही किया जैसा देव ने कहा था। समय आने पर बालक का जन्म हुआ। वह मूक अपने छोटे भाई को बचपन में ही साधुओं के यहां वंदना करने ले जाता। साधुओं के चरणों में सिर रखने पर वह रोने लगता, वंदना नहीं करता। कुछ समय बाद संतों से प्रतिबोधित होकर परिश्रान्त और संतप्त मूक ने दीक्षा ग्रहण कर ली। वह श्रामण्य का सम्यक् पालन करके देवलोक में उत्पन्न हुआ। देव ने अवधिज्ञान से भाई की अवस्था देखी तो प्रतिबोधित करने के लिए उसके पेट में जलोदर की व्याधि उत्पन्न कर दी। रोग के कारण वह उठ भी नहीं सकता था। सभी वैद्य उपचार करके हार गए।

कुछ समय बाद डोंब का रूप धारण कर वह देव वहां आया। डोंब ने घोषणा की—‘मैं सभी रोगों को शांत कर सकता हूँ।’ तब वह दर्द से तड़फते हुए बोला—‘मेरा उदर-रोग शांत कर दो!’ देव रूप वैद्य ने कहा—‘तुम्हारा रोग असाध्य है। यदि तुम मेरे साथ चलो तो तुम स्वस्थ हो सकते हो।’ वह उसके साथ चलने के लिए तैयार हो गया। वैद्य ने उसे शस्त्रों का थैला लेकर चलने

के लिए कहा। वह धैला देव-माया से धीरे-धीरे भारी होता गया। लेकिन वह उसे लेकर चलने लगा। रास्ते में उन्होंने कुछ साधुओं को पढ़ते हुए देखा। वैद्य ने कहा—'यदि तुम दीक्षा ले लो तो तुम्हें इस भार से मुक्त कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।' भार से खिन्न होकर उसने दीक्षा लेना ही श्रेष्ठ समझा। उसने दीक्षा की स्वीकृति दे दी। उसी समय बालक ने मुनि के पास दीक्षा ले ली।

देव के चले जाने पर वह शीघ्र ही श्रामण्य से खिन्न हो गया और गृहस्थ बन गया। देव ने अर्वाधिज्ञान से देखा तो पुनः उसके उदर में जलोदर पैदा कर दिया और उसी उपाय से पुनः दीक्षित किया। इस प्रकार दो-तीन बार इसी उपाय से पुनः प्रतिबोधित किया। तीसरी बार वह मूक देव उसी के साथ रहने लगा।

एक बार देव ने दूसरा उपाय सोचा। विहार के समय देव ने भुज्य की विक्रिया की और वह हाथ में घास का गट्टर लेकर जलते हुए गांव में प्रवेश करने लगा। यह देखकर मुनि बोला—'मूर्ख! तुम तृणभार को साथ में लेकर जलते गांव में क्यों प्रवेश कर रहे हो?' देव ने कहा—'तुम मुझसे ज्यादा मूर्ख हो क्योंकि तुम क्रोध, मान, माया और लोभ से जलते हुए गृहवास में प्रविष्ट हो रहे हो।' ऐसा कहने पर भी मुनि प्रतिबोधित नहीं हुआ। कुछ समय बाद वे दोनों अटवी में एक साथ चल रहे थे। चलते-चलते वह देव मार्ग को छोड़कर अटवी के उत्पथ की ओर जाने लगा। मुनि ने कहा—'अरे मूर्ख! तुम मार्ग को छोड़कर कुमार्ग की ओर क्यों जा रहे हो?' देव ने मौका देखकर कहा—'मैं तो अज्ञानी हूँ लेकिन तुम मुनि होकर मोक्ष मार्ग को छोड़कर संसार रूपी अटवी में क्यों प्रवेश कर रहे हो?' ऐसा कहने पर भी मुनि प्रतिबोधित नहीं हुआ।

पुनः प्रतिबोध देने के लिए देवता ने व्यंतर का रूप बनाया और देवकुल में ऊपर से नीचे गिरने लगा। यह देख मुनि बोला—'आश्चर्य है यह व्यंतर देव कितना दुर्भाग्यशाली है जो ऊपर रहता हुआ भी बार-बार नीचे गिर रहा है।' व्यंतर देव ने व्यंग्य में कहा—'तुम मुझसे भी ज्यादा दुर्भागी हो। मुनिपद के अर्चनीय स्थान को छोड़कर संयम से बार-बार स्खलित हो रहे हो।' यह बात सुन मुनि ने पूछा—'तुम कौन हो?' देवता ने अपना मूल मूक का रूप बनाया और पूर्वभवं का सारा वृत्तान्त कहा। मुनि ने कहा—'इसका क्या प्रमाण है कि पूर्वभव में मैं देव था।' विश्वास दिलाने के लिए देव उस मुनि को वैताद्वय पर्वत पर ले गया। वहां सिद्धायतन कूट पर पहले ही संकेत-चिह्न कर दिया था। वहां सिद्धायतन की पुष्करिणी में नामांकित कुंडल-युगल दिखाए। अपने नामांकित कुंडल युगल को देखकर मुनि को जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। वह संबुद्ध होकर पुनः दीक्षित हो गया। अब उसके मन में संयम में रति उत्पन्न हो गयी।'

१०. स्त्री परीषह

प्राचीन काल में क्षितिप्रतिष्ठित नामक एक नगर था। जब वह उजड़ गया तब चणकपुर नाम का नगर बसाया गया। उसके उजड़ने पर ऋषभपुर, फिर राजगृह, फिर चंपा और अन्त में पाटलिपुत्र नगर बसाया गया।

पाटलिपुत्र नगर में नंद वंश का नौवां राजा नंद राज्य करता था। वहां कल्पक वंश में उत्पन्न चार बुद्धियों से युक्त शकडाल नाम का मंत्री था। उसके दो पुत्र थे—स्थूलिभद्र और श्रीयक। वहां वररुचि नामक एक भट्टपुत्र रहता था। वह प्रतिदिन प्रशंसावाचक १०८ श्लोकों से राजा की स्तुति करता था। राजा प्रसन्न हुआ। उसने अपने मंत्री शकडाल की ओर देखा लेकिन उसकी आंखों में प्रशंसा के भाव नहीं थे अतः राजा ने उसे पारितोषिक रूप में कुछ भी नहीं दिया। वररुचि ने इसका कारण जाना और शकडाल की पत्नी को कहा कि आप शकडाल को कहें कि वे मेरे द्वारा पढ़े हुए श्लोकों की राजा के सामने प्रशंसा करें। अनुकूलता देखकर पत्नी ने शकडाल से यह बात कही। शकडाल ने सोचा—‘यह ठीक नहीं है, फिर भी पत्नी की बात मानकर शकडाल ने उसके पढ़े हुए श्लोकों पर ताली बजा दी। शकडाल को ताली बजाते देख राजा ने वररुचि को १०८ दीनारें पुरस्कार के रूप में दीं। राजा प्रतिदिन उसे १०८ दीनारें देने लगा। शकडाल ने सोचा कि इस प्रकार प्रतिदिन दीनारें देने से राज्यकोष रिक्त हो जायेगा।

एक दिन शकडाल ने नंद से कहा—‘आप उसे प्रतिदिन इतने स्वर्ण-मुद्राएं क्यों दे रहे हैं?’ राजा ने कहा—‘तुमने ही तो प्रशंसा की थी।’ शकडाल ने कहा—‘यह लौकिक काव्य अस्खलित रूप से पढ़ता है इसलिए मैंने इसकी प्रशंसा की थी।’ राजा ने पूछा—‘क्या ये लौकिक काव्य हैं?’ शकडाल ने कहा—‘मेरी यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, बेणा और रेणा—ये सातों पुत्रियां भी इस काव्य को पढ़ना जानती हैं। यक्षा एक बार सुनते ही ग्रहण कर लेती थीं। यक्षदत्ता दो बार सुनकर किसी भी चीज को अस्खलित सुना देती थी। यावत् रेणा सात बार सुनकर सुना देती थी।

दूसरे दिन राजा ने अतःपुर में पर्दे के पीछे सातों कन्याओं को बिठा दिया। समय पर वररुचि आया और प्रशस्ति-श्लोक पढ़ने लगा। उसके बाद राजा के आदेश से यक्षा ने वे सारे श्लोक सुना दिए। इस प्रकार सातों कन्याओं ने क्रमशः वे श्लोक सुना दिए। राजा को विश्वास हो गया, अतः वररुचि को पुरस्कार देना बंद कर दिया। वररुचि ने दुःखी होकर एक उपाय सोचा। उसने एक यंत्र बनाया और गंगा नदी के बीच रख दिया। उसमें ८०० दीनारों की एक पोटली रखकर यह प्रचारित किया कि गंगा नदी मेरा स्तुति-पाठ सुनकर स्वर्णमय हाथों से ८०० दीनारें देती है। लोगों ने कई बार उस दृश्य को देखा। राजा के पास भी गंगा द्वारा दीनार दिए जाने की बात पहुंची। वररुचि गंगा स्नान कर उस यंत्र के पास खड़ा रहकर गंगा का स्तुतिपाठ करता और यंत्र को पैर से दबाता। इतने में ही एक कनकमय हाथ दीनारों की थैली लिए ऊपर उठता और वररुचि दीनारों की पोटली ले लेता। लोगों को यंत्र की बात ज्ञात नहीं थी। ‘गंगा वररुचि को ८०० मुद्राएं देती है’, राजा ने मंत्री को यह बात कही। शकडाल ने सोचा कि यह यंत्र के प्रयोग से ऐसा कर अपनी झूठी प्रशंसा कर रहा है। मंत्री ने राजा से कहा—‘यदि मेरे सामने गंगा स्वर्णमुद्राएं देगी तो मैं विश्वास करूंगा।’

सन्ध्या के समय मंत्री ने अपने विश्वस्त व्यक्ति को प्रच्छन्न रूप से गंगा के तट पर भेजा। वररुचि स्नान करने आया और चारों ओर किसी व्यक्ति को न देखकर यंत्र में स्वर्णमुद्रा की पोटली रखकर अपने घर वापिस आ गया। वररुचि के लौट जाने पर व्यक्ति ने यंत्र से पोटली निकालकर मंत्री को दे दी। प्रातःकाल मंत्री के साथ राजा गंगा के किनारे आया। वररुचि ने गंगा की स्तुति की।

उसने पैर से यंत्र को दबाया पर कुछ भी नहीं मिला। वह तिलमिला उठा। राजा ने उसके दंभ को देखकर उसकी भर्त्सना की। मंत्री ने लोगों के सामने वह पोटली दिखा दी और सायंकाल वाली सारी बात बता दी। लोगों ने भी उसका तिरस्कार किया। द्वेष को प्राप्त वरुचि मंत्री के दोषों को दूढ़ने लगा। वह पुनः राजा के पास आने-जाने लगा। राजा को मंत्री के दोष बताने लगा लेकिन राजा ने विश्वास नहीं किया।

एक बार श्रीयक के विवाह में राजा को भेंट देने के लिए तैयारी की जाने लगी। वरुचि ने एक राणी से यह बात कह ली कि राजा के लिए भोजन और अन्य सरंजाम किया जा रहा है। वरुचि ने सोचा कि यही अवसर है। उसने बच्चों को मोदक देकर यह गाथा याद कराई—

रायनंदु न वि याणइ, जं सगडालु करेसइ। रायनंदु मारेत्ता, सिरियं रज्जि ठवेसई॥

‘राजा नंद नहीं जानता कि यह शकडाल क्या करने वाला है? यह नंद को मारकर श्रीयक को राजा बनाएगा।’ बच्चे गली-गली में यह गाथा गाने लगे। राजा ने यह सुना और खोज करवाई। ‘शकडाल के यहां सारा सरंजाम है’ यह जानकारी मिली। राजा कुपित हो गया। जैसे-जैसे शकडाल राजा के पैरों में झुकने लगा वैसे-वैसे राजा और अधिक पराङ्मुख होता गया। उसका क्रोध शांत नहीं हुआ। शकडाल ने सोचा—‘राजा का क्रोध अत्यंत अनियंत्रित, विकराल और अज्ञात है। इस क्रोध का कितना भयंकर परिणाम हो सकता है? मेरे एक के वध से कुटुम्ब का वध रुक सकता है—यह चिंतन करके शकडाल अपने घर पहुंचा और राजा के अंगरक्षक अपने पुत्र श्रीयक से कहा—‘संकट का समय उपस्थित हुआ है। उसका समाधान तथा राजा को विश्वास दिलाने का उपाय यह है कि जैसे ही मैं राजा के चरणों में प्रणाम करूं वैसे ही तुम तत्काल मेरा शिरच्छेद कर देना।’ यह सुनकर श्रीयक रोने लगा। वह बोला—‘क्या मैं कुल का क्षय करने के लिए उत्पन्न हुआ हूँ जो आप मुझे ऐसा जघन्य कार्य करने का आदेश दे रहे हैं? अधिक क्या कहूँ? आप राजा के समक्ष मेरा शिरच्छेद कर डालें। कुल के ऊपर आए उपसर्ग के लिए मेरी बलि दे डालें।’ मंत्री ने कहा—‘तुम कुल का क्षय करने वाले नहीं, बल्कि कुल के क्षय का अंत करने वाले हो। मुझे मारे बिना तुम कुल-क्षय के अंतकर नहीं होओगे, इसलिए मेरे आदेश का पालन करो। श्रीयक ने कहा—‘जो होगा वह देखा जाएगा लेकिन मैं गुरुस्थानीय पिता का वध नहीं करूंगा।’ तब मंत्री ने कहा—‘ठीक है, मैं स्वयं तालपुट विष खाकर अपने प्राण त्याग दूंगा। फिर तुम मरे हुए मुझ पर खड़ग चला देना।’ बड़ों का वचन अलंघनीय होता है’ अतः तुम्हें यह कार्य करना होगा। यह समय आक्रन्दन करने का नहीं है। तुम संकट में पड़े कुल का उद्धार करो और मुझे अयश के कीचड़ से बाहर निकालो।’

श्रीयक ने सोचा—‘मेरे जीवन में कैसा संकट उत्पन्न हुआ है। एक ओर गुरुवचन का उल्लंघन है और दूसरी ओर गुरु के शरीर का व्यापादन। मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है कि मुझे क्या करना चाहिए? यदि मैं स्वयं का घात कर लूँ फिर भी कुलक्षय और अयश तो वैसे ही रहेगा।’ ‘बड़ों के वचन अलंघनीय होते हैं’ ऐसा सोचकर उसने पिता की बात स्वीकार कर ली। श्रीयक राजा के पास गया। उसके पीछे-पीछे शकडाल आ गया। शकडाल को देखकर राजा ने अपना मुंह दूसरी ओर कर लिया। शकडाल ने राजा से बात करनी चाही पर राजा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

शकडाल राजा के चरणों में गिर पड़ा। रोष से राजा ने अपना मुंह फेर लिया। मंत्री ने जैसे ही तालपुट विष मुंह में लिया श्रीयक ने अपने पिता शकडाल का शिरच्छेद कर दिया। सभा में हाहाकार मच गया। राजा ने कहा—‘यह क्या किया?’ श्रीयक ने कहा—‘देव! यह आपकी आज्ञा का अतिक्रमण करने वाले हैं इसीलिए चरणों में गिरने पर भी आप इन पर प्रसन्न नहीं हुए। मैं राजा का अंगरक्षक हूँ अतः जो राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह चाहे पिता ही क्यों न हो, मुझे नहीं चाहिए। आपने मुझे ऐसे स्थान पर नियुक्त किया है अतः मुझे यह करना पड़ा।’ राजा ने सोचा—‘ऐसे निस्पृह लोगों के बारे में भी लोग अन्यथा सोचते हैं। निश्चित ही यह वररुचिकृत प्रपंच है। ओह! मैंने कैसा अकार्य कर डाला जो शकडाल जैसे मंत्री की उपेक्षा करता रहा। अब मैं श्रीयक को मंत्रीपद पर स्थापित करूँगा। राजा बोला—‘श्रीयक! विषाद मत करो। मैं तुम्हारे सारे कार्य संपादित करूँगा।’ इस प्रकार आश्वासन देकर राजकीय वैभव के साथ शकडाल का अग्नि-संस्कार किया गया।

शकडाल की मृत्यु के पश्चात् नंद ने श्रीयक को मंत्री-पद स्वीकार करने के लिए कहा। श्रीयक ने कहा—‘मेरे बड़े भाई बारह वर्षों से कोशा के यहां हैं अतः पहले आप उनसे पद-ग्रहण करने के लिए कहें।’ स्थूलिभद्र को मंत्रीपद देने के लिए बुलाया गया तो उन्होंने कहा कि मैं चिन्तन करूँगा। स्थूलिभद्र अशोक-वाटिका में जाकर चिंतन करने लगे। उन्होंने चिंतन किया कि ये काम-भोग मूर्ख और विक्षिप्त व्यक्तियों के लिए हैं। इनसे व्यक्ति नरक की यातनाएं भोगता है। संसार-अटवी में परिभ्रमण करता है। कामभोग आपातभद्र और परिणाम-विरस होते हैं। ऐसा सोचकर उसी समय पंचमुष्टि लोच कर वे प्रव्रजित हो गए और ओढ़े हुए कम्बल को फाड़कर उसका रजोहरण बना लिया।

दीक्षित होकर स्थूलिभद्र राजा के पास आए। राजा ने उनके चिन्तन की सराहना की। मुनि स्थूलिभद्र महल से बाहर जाने लगे। राजा के मन में शंका उभरी कि यह मुनि तो बन गया है पर वेश्या से मोह नहीं छूटा होगा अतः राजा ने प्रासाद के ऊपरी भाग पर चढ़कर देखा लेकिन स्थूलिभद्र तो पूर्ण विरक्त हो गए थे। वे चले जा रहे थे। रास्ते में एक मृत कलेवर पड़ा था। स्थूलिभद्र मुनि समभाव से उसके पास से गुजर गए। राजा ने सोचा कि लोग मृत कलेवर से दूर हटकर चल रहे हैं। अपने नाक को ढंक रहे हैं पर स्थूलिभद्र मुनि समभाव से चल रहे हैं। निश्चित ही इनमें विरक्ति प्रगाढ़ है तब राजा ने छोटे भाई श्रीयक को मंत्री बना दिया। श्रीयक भाई के स्नेह से कोशा वेश्या के पास गया पर वह स्थूलिभद्र के अतिरिक्त किसी पर अनुरक्त नहीं हुई।

कोशा की छोटी बहिन का नाम उपकोशा था। वररुचि उसके साथ रहता था। श्रीयक वररुचि का छिद्रान्वेषण करने लगा। वह अपनी भोजाई कोशा से बोला—‘इस वररुचि के कारण पिता की मृत्यु तथा भाई का वियोग हुआ है। तेरा भी स्थूलिभद्र से वियोग हो गया। अब तुम इसको कभी सुरापान कराना।’ तब कोशा ने उपकोशा से कहा—‘तुम सुरापान कर मत हो जाना। यह वररुचि अमत्त रहेगा। तुम मदिरा पिलाना चाहोगी फिर भी वह अयथार्थ प्रलाप करेगा। लेकिन तुम उसे सुरा पिला देना।’ दूसरे दिन उपकोशा ने उसे सुरा पिलाना चाहा। वररुचि ने आनाकानी की। वह बोली—‘अब तुमसे मेरा क्या प्रयोजन?’ तब वररुचि ने उसके वियोग को सहन न कर सकने के कारण उपकोशा

की इच्छा को बहुमान देते हुए चन्द्रप्रभ नामक सुरा पी ली। लोगों ने जाना कि यह दूध पी रहा है। कोशा ने सारा वृत्तांत श्रीयक को बता दिया।

एक बार राजा ने श्रीयक से कहा—'श्रीयक ! तुम्हारे पिता शकडाल मेरे बहुत हितैषी थे।' श्रीयक बोला—'हां, राजन् ! किन्तु इस मत्त वररुचि ने सारा अनर्थ कर डाला।' राजा बोला—'क्या वररुचि मद्यपान करता है?' श्रीयक बोला—हां। राजा ने पूछा—कैसे ? श्रीयक बोला—'आप स्वयं उसे देखें।' इतने में ही वररुचि राजा के समक्ष आ गया। तब राजा ने एक व्यक्ति को मदनफल से भावित कमल पुष्प देकर कहा—'जाओ, यह पुष्प वररुचि को दे आओ और ये दूसरे फूल दूसरों को दे देना।' उस व्यक्ति ने सभा में आए वररुचि को पुष्प दे दिए। उसने उनको सूंघा। यह मद्यपान करता है, यह जानकर तिरस्कार करके उसे सभा से बाहर निकाल दिया। चतुर्वेद को जानने वाले ब्राह्मण ने उसको प्रायश्चित्त दिया। उसे गर्म शीशा पिलाया, जिससे वह मर गया।

स्थूलिभद्र मुनि सम्भूतविजयजी के पास दीक्षित हो गए। वहां घोर तपश्चर्या करने लगे। एक बार विहार करते हुए उनका संघ पाटलिपुत्र पहुंचा। वहां तीन साधुओं ने अभिग्रह स्वीकार किए। पहले साधु ने आचार्य को निवेदन किया कि मैं सिंह की गुफा में चातुर्मास बिताऊंगा। दूसरे ने सर्प की बांबी पर तथा तीसरे ने कुए की मेंढ पर चातुर्मास करने की प्रतिज्ञा ली। स्थूलिभद्र मुनि ने कोशा वेश्या के यहां चातुर्मास करने की प्रार्थना की। आचार्य ने चारों को स्वीकृति प्रदान कर दी।

पहले साधु की साधना से सिंह उपशांत हो गया। दूसरे की साधना से दृष्टिविष सर्प शांत हो गया। तीसरे ने निर्भयता से कुए की मेंढ पर चातुर्मास बिताया। स्थूलिभद्र को अपनी चित्रशाला में देखकर कोशा की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। उसने सोचा—मुनि परीषह से पराजित होकर यहां आए हैं। कोशा वेश्या ने करबद्ध पूछा—'मैं आपकी क्या सेवा करूं?' स्थूलिभद्र ने नीचे दृष्टि करके संयतवाणी में कहा—'मैं तुम्हारे यहां चातुर्मास बिताना चाहता हूं अतः उद्यान में स्थान की अनुमति दो।' उसने प्रसन्नतापूर्वक अपने उद्यान में स्थान की व्यवस्था कर दी। रात्रि में कोशा सोलह शृंगार कर उद्यान में मुनि के पास आयी। अनेक प्रकार के हावभाव से मुनि को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया लेकिन मुनि स्थूलिभद्र मेरु की भांति अपने संयम में अप्रकंप रहे। मुनि ने कल्याण की भावना से धर्म-वार्ता सुनायी। धर्म सुनकर वह प्रतिबुद्ध हो गयी तथा उसने श्रावक-व्रत स्वीकार कर लिए। उसने संकल्प लिया कि राजाशा के अतिरिक्त मैं आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगी।

चार महीनों का उपवास कर सिंह गुफावासी मुनि आचार्य के पास पहुंचे। आचार्य ने कुछ ठठकर कहा—'स्वागत है दुष्कर कार्य संपादित करने वाले तुम्हारा और सर्प की बांबी पर चातुर्मास सम्पन्न कर आए मुनि का।' जब स्थूलिभद्र चातुर्मास सम्पन्न करके आए तब आचार्य ससंभ्रम उठे और बोले—'स्वागत है, स्वागत है, अति दुष्कर अति दुष्कर कार्य सम्पन्न करने वाले तुम्हारा !' उन मुनियों ने जब यह देखा तो सोचा कि आचार्य का मुनि स्थूलिभद्र पर अमात्य-पुत्र होने के कारण अधिक स्नेह है इसीलिए इसका इतना स्वागत किया है। आचार्य ने पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया है।

१. निर्युक्तिगाथा तथा शान्त्याचार्य टीका में कुए की मेंढ पर चातुर्मास करने वाले मुनि की बात नहीं है। केवल चूणि में यह प्रसंग मिलता है।

दूसरे वर्ष चातुर्मास के लिए सिंहगुफावासी मुनि ने आचार्य से निवेदन किया कि इस वर्ष मैं कोशा वेश्या के यहां चातुर्मास करना चाहता हूँ। आचार्य ने ज्ञान द्वारा मुनि का भविष्य देखा इसलिए उसे बहुत मना किया। लेकिन मुनि आचार्य की आज्ञा की अवहेलना कर कोशा वेश्या के यहां गया। वहां उसने चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा मांगी। वेश्या ने स्वीकृति दे दी।

कोशा बिना शृंगार के भी नैसर्गिक रूप से बहुत रूपवती थी। कुछ ही दिनों में मुनि उसके अप्रतिम सौन्दर्य पर आसक्त हो गया। कोशा ने अपने अनुभवों से मुनि की आंतरिक इच्छा को जान लिया लेकिन वह श्राविका बन चुकी थी। मुनि के द्वारा भोगों की प्रार्थना किए जाने पर कोशा ने कहा—'इसके बदले तुम मुझे क्या दोगे?' मुनि ने कहा—'मैं तुम्हें क्या दूँ?' वेश्या बोली—'शतसहस्र दें।' अब मुनि शतसहस्र (लाख मुद्राएं) प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। कोशा ने कहा—'नेपाल देश का राजा श्रावक है। उसके पास जो व्यक्ति सर्वप्रथम पहुंच जाता है, उसे वह सवा लाख रुपयों के मूल्य वाला कम्बल देता है। वह कम्बल मुझे लाकर दो तो तुम्हारी प्रार्थना पर सोच सकती हूँ।'

मुनि कम्बल के लिए नेपाल देश गया। श्रावक राजा ने उसे शतसहस्र मूल्य वाला कम्बल दिया। कम्बल प्राप्त करके पुनः कोशा के पास आने के लिए उसने नेपाल देश से प्रस्थान किया। चलते-चलते एक स्थान पर चोरों की पल्ली आयी। चोरों ने वहां मार्ग अवरुद्ध कर रखा था। एक पक्षी अपनी सांकेतिक भाषा में बोला—'यह व्यक्ति सवा लाख मूल्य की वस्तु लेकर जा रहा है। सेनापति बाहर आया लेकिन मुनि को देखकर वापिस लौट गया। पक्षी की आवाज पुनः सुनकर सेनापति मुनि के पास आया। मुनि ने चोर सेनापति को यथार्थ बात बता दी। सारी बात सुनकर सेनापति ने मुनि को छोड़ दिया।

मुनि कोशा के पास आया और बहुमूल्य कम्बल उसके हाथों में धमा दिया। कोशा ने कम्बल से पैर पीछकर उसे नाली में डाल दिया। यह देखकर मुनि ने कहा—'यह इतना कीमती कम्बल है, इसे मैं कितने परिश्रम से लाया हूँ? लेकिन तुमने इसका नाश कर डाला।' अवसर देखकर कोशा ने कहा—'मुनिवर! आप भी तो ऐसा ही कार्य कर रहे हैं। संयम-रत्न को छोड़कर काम-भोग रूपी कीचड़ में फंसना चाह रहे हैं।' समय पर दी गई वाणी की चोट से मुनि की धार्मिक चेतना जाग गयी। मुनि आचार्य के पास आए और आलोचना कर, प्रायश्चित्त ले शुद्ध होकर विहार करने लगे। आचार्य ने अनुशासना देते हुए कहा—'व्याघ्र और सर्प तो शरीर को पीड़ा दे सकते हैं पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को खण्डित करने में समर्थ नहीं हैं। मुनि स्थूलिभद्र ने सचमुच दुष्कर-महादुष्कर कार्य किया है क्योंकि पहले इसका गणिका के प्रति बहुत अनुराग था। अब वह श्राविका बन चुकी है।' आचार्य ने उस मुनि को उपालम्भ देते हुए कहा—'तुमने दोषों की अवगति प्राप्त किए बिना यह उपक्रम किया, यह तुम्हारे लिए श्रेयस्कर नहीं था।'

११. चर्या परीषद

कोल्लकर (कोल्लाक) नामक नगर में संगम नामक बहुश्रुत आचार्य विहार कर रहे थे। उस नगर में दुर्भिक्ष का प्रकोप हो गया। आचार्य का जंघाबल क्षीण हो गया था अतः वे अन्यत्र विहार

करने में असमर्थ थे। उन्होंने सिंह नामक शिष्य को अपना उत्तराधिकारी बना सुभिक्ष में विहार करने का आदेश दे दिया। वे उसी नगर के नौ भाग करके वहां भी मासकल्प से विहार करते थे। इस प्रकार वहां विहार करते हुए आचार्य को बारह वर्ष बीत गए। उनकी साधना से प्रभावित होकर नगरदेवी उनकी सेवा में ही रहती थी।

उत्तराधिकारी सिंह मुनि ने दत्त नामक शिष्य को सुखसाता पूछने के लिए भेजा। वह शिष्य आचार्य के पास आया। दत्त मुनि ने सोचा कि आचार्य यहां नित्यवास करते हैं अतः इनके साथ रहने में दोष होगा यह सोचकर वह उपाश्रय के बाहर ठहरा और बिना भक्ति-बहुमान के बंदना की। भिक्षा के समय वह आचार्य के साथ गया। दुष्काल के कारण अज्ञात उँछ से यथेप्सित आहार प्राप्त नहीं हुआ। वह मन ही मन विक्षुब्ध हो गया। उसने सोचा—'आचार्य मुझे सामान्य घरों में ले जा रहे हैं इसलिए आहार नहीं मिल रहा है।' गुरु ने ज्ञान से शिष्य के मन की बात जान ली।

शिष्य को संक्लेश से बचाने हेतु दोनों एक श्रेष्ठि के यहां गए। वहां व्यंतर देवी के प्रभाव से उनका बच्चा छह महीने से निरंतर रो रहा था। उसे देखकर आचार्य ने चुटकी बजाकर कहा—'तुम मत रोओ।' इतना कहने मात्र से बालक व्यंतर के प्रभाव से मुक्त हो गया। पारिवारिक लोगों ने प्रसन्न मन से यथेप्सित आहार दिया। वह आहार गुरु ने शिष्य को दे दिया। वे स्वयं बहुत समय तक घूमकर अंत-प्रांत भोजन लेकर आए। शिष्य ने सोचा कि गुरु ने मुझे तो केवल एक ही घर बताया है अन्य घरों में तो वे स्वयं गए हैं।

संध्या के समय में प्रतिक्रमण के समय गुरु ने दत्त से कहा—'वत्स! आज आहार की आलोचना करो।' दत्त ने कहा—'मुझे कोई बात याद नहीं जिसकी आलोचना करूं।' गुरु ने कहा—'शिष्य! आज तुमने धात्रीपिंड आहार ग्रहण किया है।' शिष्य कुपित हो गया और उसने दोष की आलोचना नहीं की। उसने गुरु से कहा कि आप सूक्ष्मता से अपने दोषों की आलोचना करें। यह कहकर क्रोधावेश में वह अपने स्थान पर चला गया। यह गुरु की अवहेलना करता है इसलिए उसको सम्यक् प्रतिबोध देने के लिए देवता ने अर्धरात्रि में अंधकार और भयंकर जल-वर्षा प्रारम्भ कर दी।

शिष्य ठंडी वायु से क्षुब्ध हो गया। उसने आचार्य को आवाज दी। आचार्य ने वत्सलता से कहा—'शिष्य! यहां आ जाओ।' लेकिन उसे अंधकार में कुछ दिखाई नहीं दिया। दत्त ने कहा—'मुझे अंधकार के अलावा कुछ नहीं दिखता है।' आचार्य ने अपनी अंगुली दिखाई। वह दीप की भांति प्रकाशित हो रही थी। शिष्य ने सोचा—'आचार्य दीपक भी रखते हैं।' उसके ऐसा चिंतन करने पर देवता ने उसकी भर्त्सना की। भयभीत होकर वह आचार्य के चरणों में गिर पड़ा और क्षमायाचना की। गुरु ने उसे नगर के नौ भागों की बात बताई। सारी बात सुनकर शिष्य को पश्चात्ताप हुआ। उसने गुरु से अपने दोषों की आलोचना की तथा स्वयं को शुद्ध कर लिया।^१

१२. निषीधिका परीषह

हस्तिनापुर नगर में कुरुदत्त नामक श्रेष्ठीपुत्र था। वह सर्वगुणसम्पन्न आचार्य के पास दीक्षित हो गया। एक बार कुरुदत्त मुनि एकलविहारप्रतिमा स्वीकार कर साकेत नगर में समवसृत हुए। अन्तिम

प्रहर में मुनि चौराहे पर प्रतिमा में स्थित थे। उस समय गायों को चुराकर कोई व्यक्ति उधर से गुजरा। गायों को खोजते हुए व्यक्ति वहां आए। उन्होंने मुनि को देखा। वहां से दो मार्ग जाते थे। वे मार्ग नहीं जानते थे। उन्होंने मुनि से पूछा—‘चोर किस रास्ते से गए हैं?’ मुनि ने प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर न पाकर वे कुपित हो गए। वे मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल बांधकर उसमें जलती हुई चिता के अंगारों को रख कर चले गए। मुनि ने समभाव पूर्वक उस परीषह को सहन किया।^१

१३. शय्या परीषह

कौशाम्बी नगरी में यज्ञदत्त नामक ब्राह्मण था। उसके सोमदत्त और सोमदेव नामक दो पुत्र थे। दोनों भाई संसार के कामभोगों से विरक्त होकर सोमभूति आचार्य के पास दीक्षित हो गए। वे बहुश्रुत और अनेक आगमों के ज्ञाता बन गए।

एक बार वे दोनों ज्ञाति लोगों की बस्ती में गए। उज्जयिनी नगरी में उनके माता-पिता रहते थे। एक बार वे वहां भिक्षा के लिए गए। वहां के ब्राह्मण मद्यपान करते थे। उन्होंने अन्य द्रव्य में मदिरा मिलाकर उन मुनियों को भिक्षा दी। अज्ञानकारी में पानी समझकर वह शराब उन्होंने पी ली। शराब का नशा उन पर छाने लगा। बाद में उन्होंने चिंतन किया—‘अहो! यह हमने अकृत्य का आसेवन किया है। हमने बहुत बड़ा प्रमाद किया है अतः प्रायश्चित्त स्वरूप अब भक्त प्रत्याख्यान करना ही श्रेष्ठ होगा।’ दोनों ने नदी के किनारे एक काष्ठ पर भक्त प्रत्याख्यान कर प्रायोपगमन संन्यास स्वीकार कर लिया। वहां अकाल में ही वर्षा प्रारम्भ हो गयी। नदी में बाढ़ आने से वे पानी में बहते हुए समुद्र में चले गए। कष्ट आने पर वे मानसिक रूप से भी विचलित नहीं हुए। दोनों मुनियों ने सम्यक् प्रकार से शय्या परीषह को सहन किया।^२

१४. आक्रोश परीषह (अर्जुनमाली)

राजगृह नगरी में अर्जुन नामक माली रहता था। उसकी पत्नी का नाम स्कन्दश्री था। राजगृह नगर के बाहर भुद्गरपाणि यक्ष का मंदिर था। अर्जुनमाली को यक्ष पर प्रगाढ़ आस्था थी। वह कुलदेवता के रूप में उसकी पूजा करता था। माली के उद्यान के रास्ते में ही यक्ष का मंदिर था। अर्जुन प्रतिदिन ताजे फूल लाकर यक्ष की पूजा करने जाया करता था।

एक दिन स्कन्दश्री अपने पति को भोजन देने गयी। आते समय फूलों को लेकर वह घर जा रही थी। रास्ते में मंदिर में छह कामी पुरुषों ने स्कन्दश्री को देखा। वे उसके रूप और लावण्य पर मुग्ध हो गए। उन्होंने सोचा, यह भोग भोगने के लिए उपयुक्त है, ऐसा सोचकर उसे पकड़ लिया और यक्ष की मूर्ति के सामने ही उसके साथ भोग भोगने लगे।

कुछ समय बाद अर्जुनमाली प्रतिदिन की भांति ताजे फूलों को लेकर यक्ष की अर्चना करने आया। अपने पति को देखकर उसने कहा—‘मेरा पति आ रहा है। क्या तुम मुझे छोड़ दोगे?’ कामी पुरुषों ने उसके मानसिक अभिप्राय को जानकर कहा—‘हम अभी उसको रस्सी से बांध देंगे। तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।’ उन लोगों ने अर्जुनमाली को रस्सी से बांध दिया। उसके सामने

१. उनि.१०८, उशांटी.प. १०९, ११०, उसुटी.प. ३३।

२. उनि.१०९, ११० उशांटी.प. १११, उसुटी.प. ३४।

ही वे लोग उसकी पत्नी के साथ दुराचार करने लगे। स्कन्दश्री पति को उत्तेजित करने के लिए मोहोत्पादक स्त्री शब्दों में विलाप करने लगी।

अर्जुनमाली यह घृणित दृश्य देख नहीं सका। उसकी आत्मा विद्रोह करने लगी। उसने चिंतन किया—‘मैं प्रतिदिन ताजे फूलों से यक्ष की पूजा-अर्चना करता हूँ लेकिन फिर भी मैं इसके सामने इतना क्लेश और पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ। यदि यक्ष में कोई शक्ति होती तो इतना क्लेश नहीं पाता। आज यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह केवल काठ की मूर्ति है, मुद्गरपाणी यक्ष की मूर्ति नहीं है।’ इन शब्दों को सुनकर यक्ष ने अनुकम्पावश उसके शरीर में प्रवेश कर लिया। यक्ष के प्रभाव से उसके सारे बंधन तड़-तड़ टूट गए। उसने लोहमय मुद्गर लेकर उन छहों पुरुषों तथा अपनी पत्नी को यमलोक पहुंचा दिया। अब वह प्रतिदिन छह पुरुष और एक स्त्री को मारने लगा। जब तक वह सात व्यक्तियों को नहीं मार देता, राजगृह नगर से बाहर नहीं निकलता था।

एक बार राजगृह नगरी में भगवान् महावीर समवसृत हुए। उस समय सुदर्शन भगवान् महावीर को वंदना करने निकला। रास्ते में अर्जुनमाली ने उसे देख लिया। वह सुदर्शन की ओर दौड़ा। सुदर्शन की दृष्टि अर्जुन पर पड़ी। सुदर्शन ने अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म की शरण लेकर वहीं सागारिक अनशन लेकर कायोत्सर्ग कर लिया और नमस्कार मंत्र का जाप करने लगा। अर्जुनमाली बहुत परिश्रम करके भी सुदर्शन का अनिष्ट नहीं कर सका। वह उसके चारों ओर घूमता हुआ परिश्रान्त हो गया। वह उस विशिष्ट पुरुष को अनिमेष दृष्टि से देखने लगा। यक्ष अर्जुन के शरीर से निकल मुद्गर लेकर अपने स्थान पर खड़ा गया। अर्जुनमाली वहीं घूमने लगा पड़ा। सुदर्शन ने स्नेह-पूर्वक उसे उठाया और पूछा—‘तुम कहां जा रहे हो?’ सुदर्शन ने कहा—‘भगवान् महावीर को वंदना करने जा रहा हूँ।’ अर्जुनमाली भी उसके साथ भगवान् को वंदना करने गया। महावीर के मुख से देशना सुनकर वह वहीं प्रव्रजित हो गया। जब वह भिक्षा के लिए घूमता तब लोग कहते—‘यह हमारे स्वजन का घातक है’, इस प्रकार वह अनेक प्रकार से तिरस्कृत होता। लेकिन मुनि अर्जुनमाली ने समतापूर्वक आक्रोश वचन सहन किए और कैवल्य प्राप्त कर लिया।

१५. वध परीषद् (स्कन्दक)

श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी धारिणी तथा युवराज स्कन्दक था। राजा की पुत्री का नाम पुरंदरयशा था। उसका विवाह कुंभकारकट नगर में दंडकी राजा के साथ किया गया। दंडकी राजा के पुरोहित का नाम पालक था। एक बार श्रावस्ती नगरी में मुनि सुव्रतस्वामी पधारे। उनके समवसरण में अनेक व्यक्ति उपस्थित हुए। स्कन्दक भी देशना सुनने गया। धर्मवार्ता सुनकर उसने श्रावक व्रत स्वीकार कर लिये।

एक बार पालक पुरोहित दूत के रूप में श्रावस्ती नगरी आया। सभा के बीच में ही वह जैन साधुओं की निंदा करने लगा। उस समय कुमार स्कन्दक ने अपनी तेजस्वी याणी से उसे निरुत्तरित कर राज्य से बाहर निकाल दिया। इस घटना से उसके मन में स्कन्दक के प्रति रोष उमड़ पड़ा। उसी दिन से पालक गुप्तचरों के माध्यम से स्कन्दक का छिद्रान्वेषण करने लगा।

कालान्तर में कुमार स्कन्दक पांच सौ व्यक्तियों के साथ मुनि सुव्रत तीर्थकर के पास दीक्षित हुए। वे ज्ञानाभ्यास से बहुश्रुत हो गए। उनकी योग्यता का मूल्यांकन करके कुछ समय बाद मुनि सुव्रत तीर्थकर ने उन्हें पांच सौ शिष्यों का प्रमुख बना दिया।

एक बार स्कन्दक ने भगवान् को निवेदन किया कि मैं अपनी संसारपक्षीया बहिन पुरंदरयशा को व्रतिलेध देने जना चाहता हूँ। यह सुनकर तीर्थकर सुव्रत ने कहा—'वत्स! वहां मारणान्तिक कष्ट आ सकता है।' 'उपसर्ग में हम सब आराधक होंगे या विराधक?' यह पूछने पर भगवान् ने प्रत्युत्तर दिया—'तुमको छोड़कर अन्य सभी साधु आराधक होंगे।' उसने कहा—'अच्छा है, इतने मुनि यदि आराधक होते हैं तो शुभ है।' भगवान् के मनाही करने पर भी आचार्य स्कन्दक अपने पांच सौ मुनियों के साथ कुंभकारकट नगर में पहुंचे। सभी मुनि नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे।

पालक को जब स्कन्दक मुनि के आने का वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उसने उद्यान में गुप्त रूप से शस्त्र छिपा दिए। दूसरे दिन पालक ने राजा के पास आकर उनको भ्रमित करने के लिए कहा—'स्कन्दक मुनि परीषहों से पराजित होकर यहां आया है। वह बहिन से मिलने के बहाने यहां आपको मारकर राज्य ग्रहण करना चाहता है। यदि मेरी बात पर विश्वास न हो तो आप उद्यान में जाकर देखें, वहां अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र छिपाए पड़े हैं।' राजा ने गुप्तचरों को उद्यान में भेजा। छिपे शस्त्रों की बात जानकर राजा का विश्वास स्थिर हो गया। राजा ने सभी मुनियों का निग्रह कर पालक पुरोहित को सौंप दिया। पालक ने एक-एक कर पांच सौ मुनियों को कोल्हू में पील दिया। सभी मुनियों ने समतापूर्वक उस वध परीषह को सहन किया। पूर्ण समाधिस्थ रहने से सबको कैवल्य उत्पन्न हुआ और सभी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।

आचार्य स्कन्दक पास में खड़े थे। उन्होंने यह सारा दृश्य देखा। रुधिर से भरे कोल्हू यंत्र की ओर उनकी दृष्टि गई। उन्होंने कहा—'इस बाल मुनि को मैं यंत्र में पीलते हुए नहीं देख सकता अतः पहले मुझे पील दो।' पर उनके देखते-देखते छोटे शिष्य को यंत्र में पील दिया। यह दृश्य देखकर आचार्य स्कन्दक कुपित हो गए। उन्हें सबसे अंत में पीला गया। वे निदान कर अग्निकुमार देव के रूप में उत्पन्न हुए।

उसी समय एक गृद्ध आचार्य स्कन्दक का रक्तलित रजोहरण को पुरुष का हाथ समझकर उठाकर ले गया। साथ में पुरंदरयशा द्वारा दत्त कंबल भी था। वह रजोहरण पुरंदरयशा के सामने गिरा। रजोहरण और कंबल को देखते ही पुरंदरयशा ने पहचान लिया कि यह मेरे भाई का है। जब उसे ज्ञात हुआ कि मेरे भाई सहित सभी मुनियों को मरवा दिया है तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गयी। उसने राजा से कहा—'अरे पापिष्ठ राजा! तुमने आज विनाश का कार्य किया है। अब मैं स्वयं भी दीक्षा लेना चाहती हूँ।' उसकी प्रबल भावना जानकर देवों ने उसे मुनि सुव्रत स्वामी के पास पहुंचा दिया। उधर अग्निकुमार देव ने अपने पूर्वभव का बदला लेने के लिए पूरे नगर को जलाकर भस्म कर डाला। आज भी वह क्षेत्र दण्डकारण्य कहलाता है।^१

१. उनि. ११२-१४, उशांटी. प. ११५, ११६, उसुटी. प. ३६, निभा. ५७४०-५७४३ चू. पृ. १२७, १२८।

१६. याचना परीषद

द्वारिका नगरी देवनिर्मित और स्वर्णमयी थी। वह सब प्रकार से समृद्ध थी। वहां अर्द्धभरत का चक्रवर्ती वासुदेव राजा राज्य करता था। उसके दो भाई थे—बलदेव और जराकुमार। वे दोनों उससे ज्येष्ठ थे। उनके पिता वसुदेव थे। उनकी पत्नी जरा से जराकुमार उत्पन्न हुआ। शाम्ब, प्रद्युम्न आदि सभी कुमार साढ़े तीन करोड़ कुमारों के साथ सांसारिक भोगों का अनुभव करते हुए राज्य का उपभोग करते थे।

एक बार सर्वज्ञ अरिष्टनेमि भगवान् भव्य लोगों के उद्धार हेतु वहां आए। देवताओं ने समवसरण की रचना की। चारों जाति के देव, यादव और वासुदेव भी भगवान् के दर्शनार्थ आए। भगवान् ने धर्म की देशना दी। धर्मकथा की समाप्ति पर वासुदेव ने पूछा—'धन, स्वर्ण, रत्न, जनपद, रथ और छोड़े से समृद्ध देवनिर्मित, यादवकुल की इस द्वारिका नगरी का किससे और किस निमित्त से विनाश होगा?' भगवान् ने कहा—'यहां द्वीपायन नाम का परिव्राजक है। वह मद्यपान में उन्मत्त शाम्ब आदि राजकुमारों से अपमानित होने पर द्वारिका का विनाश करेगा तथा यादवकुल का अंत करेगा।'

द्वीपायन पहले सौरियनगर के बाहर तापस आश्रम में पाराशर नामक तापस था। उसको एक अविनीत कन्या प्राप्त हुई। उसे लेकर वह यमुना नदी के द्वीप में आ गया। इसलिए उसका नाम द्वीपायन पड़ गया। वह ब्रह्मचारी बेलें-बेलें का तप करता हुआ विचरण करता था।

द्वीपायन ऋषि ने सुना कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् अरिष्टनेमि ने कहा है कि मेरे निमित्त से द्वारिका नगरी तथा यदुवंश का विनाश होगा। यह दुष्ट कार्य मेरे द्वारा कैसे होगा यह सोचकर वह वन में चला गया। भगवान् ने आगे कहा—'तुमने जो अपने मरण का कारण पूछा था, उसे सुनो—'तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी जरा से उत्पन्न जराकुमार से तुम्हारी मृत्यु होगी।' तब यादवों की जराकुमार पर विषाद एवं शोकपूर्ण दृष्टि रहने लगी। जराकुमार ने सोचा—'अत्यन्त खेद की बात है कि किस प्रकार मैं वसुदेव का पुत्र होकर स्वयं ही छोटे भाई के विनाश का कारण बनूंगा।' 'अहो! यह तो महापाप होगा' ऐसा सोचकर कृष्ण की रक्षा हेतु यादवजनों से पूछकर और उन्हें प्रणाम कर जराकुमार वनवास में चला गया। जराकुमार के जाने पर हरि आदि यादव स्वयं को शून्य जैसा मानने लगे। तब भगवान् अरिष्टनेमि को प्रणाम कर सारे यादव संसार की, विशेषतः द्वारिका नगरी की तथा यादववंश की अनित्यता का चिन्तन करते हुए अपनी नगरी में चले गए। नगर में प्रवेश करके वासुदेव कृष्ण ने घोषणा करवाई—'शीघ्र ही सारी सुरा और मद्य कादम्बवन की गुफा में ले जाओ क्योंकि भगवान् अरिष्टनेमि ने कहा है कि मद्यपान करके यादव कुमार द्वीपायन ऋषि को उत्पीड़ित करेंगे और वह कुपित होकर द्वारिका नगरी का विनाश कर देगा। कर्मकरों ने कृष्ण की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन किया। सारी सुरा कादम्ब-वन के शिलाकुंडों पर ढाल दी गयी। पूरा कादम्ब-वन सुरा से भर गया। वह गुफा कादम्ब-वन से आच्छन्न थी, इसलिए उसे कादम्ब-वन गुफा कहा जाता था इसीलिए सुरा का नाम भी कादम्बरी प्रसिद्ध हो गया।

बलदेव के भाई का नाम सिद्धार्थ था। उसके सारथि ने उसे स्नेहपूर्वक कहा—'भगवान्

ने कहा है कि जन्म-जरा और मरण से युक्त इस क्षणभंगुर संसार में कोई वस्तु स्थिर नहीं है। विशेषतः हमारा जीवन तो स्थिर है ही नहीं अतः आप मुझे भगवान् के पास श्रामण्य स्वीकार करने की अनुज्ञा दें। बलदेव ने उसके निश्चय को जानकर कहा—‘ठीक है, तुम प्रव्रज्या ग्रहण करो लेकिन विषति में किसी भी प्रकार से तुम मुझे प्रतिबोधित करना।’ सिद्धार्थ ने स्वीकृति दे दी। वह अपने स्वजनों से पूछकर भगवान् के पास दीक्षित हो गया। घोर तपश्चर्या कर वह छह मास में ही दिवंगत हो गया।

इधर कादम्बवन की गुफा के शिलाकुंडों में उंडेली हुई वह सुरा छह मास में पक्करस वाली हो गयी। वह स्वच्छ, स्वादु रस वाली, श्रेष्ठ, हृदय को सुख देने वाली और कर्केतन रत्न की आभा वाली हो गयी। शाम्बकुमार के पास रहने वाला मदिरालुब्ध पुरुष कादम्ब-वन की गुफा के पास गया। उसने वहां वह सुरा देखी। प्रसन्न होकर वह उसे पीने लगा। स्वादिष्ट होने के कारण वह अंजलि से घूंट पीने लगा। मद्यपायी व्यक्तियों ने उसे देखा। वे भी शीतल, स्वच्छ और स्वादु मदिरा को पीकर निर्भय होकर क्रीड़ा करने लगे। वह व्यक्ति शाम्बकुमार के पास गया और मदिरा वाली बात बताई। शाम्बकुमार वहां आया। उसने वारुणी मदिरा देखी। मदिरा पीने के बाद शाम्बकुमार ने चिंतन किया—‘कुमारों के बिना मैं अकेला मदिरा-सुख का अनुभव नहीं कर सकता अतः कल मैं अपने साथ कुमारों को लेकर आऊंगा।’ शाम्ब दुःखी कुमारों को कादम्बरी गुफा के पास लेकर आया। उन्होंने श्रेष्ठ सुरा को देखा। उसने कर्मकरों को आज्ञा दी कि इस वारुणी शराब को लेकर आओ। आज्ञा प्राप्त कर वे शराब लेकर आ गए। वे विविध वृक्ष, कुसुम आदि से युक्त रमणीय उद्यान में आए। शाम्ब ने कहा—‘किसी भी प्रकार से छह मास से हमने यह सुरा प्राप्त की है अतः इच्छा के अनुसार सब पीओ।’ सब मदिरा पीने लगे। वे उत्सुक होकर गाने, नाचने और परस्पर आलिंगन करने लगे। क्रीड़ा करते हुए वे पहाड़ के पास गये। वहां उन्होंने तप करते हुए द्वीपायन ऋषि को देखा। वे परस्पर बोलने लगे—‘यह वही दुरात्मा है जिसको भगवान् अरिष्टनेमि ने द्वारिका का विनाशक कहा है। इस पापी और निष्कारण वैरी को हम क्यों न मार डालें?’ तब वे रोषपूर्वक पैरों से, मुष्टि से तथा चपेटा के घात से निरपराध द्वीपायन ऋषि को मारने लगे। वह मरणासन्न जैसा धरती पर गिर गया। उसको पीटकर वे लोग द्वारिका आ गए।

वासुदेव के निजी विश्वस्त पुरुषों ने सारी बात कृष्ण को बताई। कृष्ण ने सोचा—‘ये कुमार बहुत दुर्दान्त हैं। अहो! यौवन की अदीर्घदर्शिता! अब हम इन जीवन मात्र को धारण करने वाले कुमारों का क्या करें?’ श्रीकृष्ण बलदेव सहित द्वीपायन ऋषि का अनुनय करने गए। उन्होंने कोप से कांपते हुए अधरों वाले द्वीपायन ऋषि को देखा। समयोचित सम्मान देकर वे बोले—‘भो महातापस ऋषि! क्रोध सब गुणों का विनाश करने वाला है। महासत्त्व और दान्त मुनि क्रोध के वशवर्ती नहीं होते। अज्ञानवश मद्य से प्रमत्त मूढ़ व्यक्तियों के अपराध पर महातपस्वी लोग ध्यान नहीं देते। इसलिए कुमारों ने जो दुश्चेष्टाएं की हैं उसके लिए हमें क्षमा कर दें।’ इतना कहने पर भी द्वीपायन ऋषि ने जब रोष नहीं छोड़ा तो बलदेव ने कहा, भो नराधिप! अब प्रयत्न करना व्यर्थ है। जो इसने सोचा है वह उसे करने दो। क्या जिनेन्द्र की कही हुई बात अन्यथा हो सकती है?

तब द्वीपायन ने कहा—‘मारे जाते हुए मैंने एक बड़ी प्रतिज्ञा की थी कि बलदेव और कृष्ण—इन दो को छोड़कर द्वारिका का कुत्ता भी विनाश से नहीं बच सकता। अतः न हो जिनेश्वर

भगवान् का वचन व्यर्थ हो जाता और न ही मेरी प्रतिज्ञा अत्यन्त ही साकली है अतः आप जाएं, अधिक विचार करने से क्या?' तब महाशोक से संतप्त मन से बलदेव और वासुदेव नगरी में लौट आए। द्वीपायन के प्रतिज्ञा की बात पूरी नगरी में फैल गयी।

दूसरे दिन पूरे नगर में बलदेव ने घोषणा करवाई कि सभी लोग उपवास आदि तपस्या में निरत हो जाएं, धर्मध्यान में लीन हो जाएं। नगरी का वही परिणाम होने वाला है जो भगवान् ने कहा है। इसी बीच भगवान् अरिष्टनेमि विहार करते हुए पुनः रेवतक पर्वत पर समवसृत हुए। यादव लोग भगवान् को वंदना कर अपने-अपने स्थान पर बैठ गए। धर्मकथा के अंत में संसार की अनित्यता से संवेग को प्राप्त प्रद्युम्न, निषध, शुक, सारण, शांब आदि कुमार भगवान् के पास प्रव्रजित हो गए। रुक्मिणी भी पूर्व कर्मों के भय से उद्विग्न होकर वासुदेव को कहने लगी—'भो राजन्! संसार की ऐसी परिणति है और विशेषतः यादव कुल की अतः आप मुझे आज्ञा दें मैं दीक्षित होना चाहती हूँ।' तब कृष्ण ने वाष्पार्द्र आंखों से, बड़े दुःखी हृदय से रुक्मिणी को दीक्षा की आज्ञा दी। रुक्मिणी अन्य श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ प्रव्रजित हो गयी। यादव लोग अरिष्टनेमि को वंदना कर शोकविह्वल होकर द्वारिका नगरी वापिस चले गए। वासुदेव भी रुक्मिणी के विरह में स्वयं को श्रीविहीन समझने लगे। भगवान् अरिष्टनेमि भी भव्य-जनों को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र चले गए।

वासुदेव कृष्ण ने दूसरी बार पूरी नगरी में घोषणा करवाई—'नागरिकों! द्वीपायन ऋषि का महान् भय उत्पन्न हो गया है अतः विशेष रूप से धर्म में रत रहो। हिंसा, असत्य, अदत्त, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह को सभी यथाशक्य छोड़ें। आर्याम्बल, उपवास, बेला, तेला आदि तप सभी यथाशक्य करें। नागरिक भी वासुदेव की बात स्वीकृत कर धर्म में संलग्न हो गए। द्वीपायन ऋषि भी अति दुष्कर बाल तप करके द्वारिका के विनाश का निदान कर भवनपति देवों में अग्निकुमार देव बना। उसने यादवों के कृत्य को याद किया। वह द्वारिका के विनाश हेतु आया पर विनाश करने में समर्थ नहीं हो सका क्योंकि सभी यादव तपस्या में निरत थे। वे देवता की अर्चना एवं मंत्रजाप में तत्पर थे अतः उनका कोई पराभव नहीं कर सका।

द्वीपायन ऋषि छिद्रान्वेषण करने लगा। बारह वर्ष बीत गए। द्वारिका के लोगों ने सोचा कि द्वीपायन ऋषि अब निष्प्रभ और प्रतिहत तेज वाला हो गया है अतः वे पुनः आमोद-प्रमोद और क्रीड़ा करने लगे। वे कादम्बरी के पान से मत्त होकर रति-क्रीड़ा में मस्त हो गए। तब अग्निकुमार देव-योनि में उत्पन्न द्वीपायन ऋषि ने द्वारिका का विनाश करना प्रारम्भ कर दिया। उसने अनेक प्रकार के उपद्रव प्रारम्भ कर दिए। द्वीपायन ने संवर्तक वायु की विकुर्वणा की। प्रलयकाल के समान चलने वाली हवा से काष्ठ, तृण और पत्तों के समूह आवाज करते हुए नगर के अन्दर इकट्ठे होने लगे। ऋषि ने भीषण अग्नि प्रज्वलित कर दी। वह अधम देव बार-बार उद्यान से तरु, काष्ठ, लता और तृण आदि फेंकने लगा। धूएं और अग्नि के कारण एक घर से दूसरे घर में जाना भी संभव नहीं हो सका। पूरी द्वारिका नगरी चारों ओर से जलने लगी। अनेक मणि, रत्न और सोने से बने प्रासाद तड़-तड़ टूटकर पृथ्वी पर गिरने लगे। भेड़, हाथी, बैल, घोड़ा, गधा, ऊंट आदि पशु अग्नि से जलते हुए भीषण दारुण शब्द करने लगे। यादव लोग अपनी प्रियतमाओं के साथ जलने लगे। उनकी अंगनाएं हाहाकार और रुदन का दारुण शब्द करने लगीं। बलदेव और वासुदेव जलती हुई द्वारिका

को देखकर विलाप करते हुए अपने पिता के घर आ गए। शीघ्र ही रोहिणी, देवकी और पिता को रथ पर बिठाकर तीव्र गति से चलने वाले बैल को उसमें जोड़ा पर वे अग्नि में जलते हुए रथ को खींचने में समर्थ नहीं हुए अतः बलदेव और वासुदेव स्वयं ही रथ को खींचने लगे। इसी बीच हा महाराज कृष्ण! हा बलराम! हा वत्स! हा नाथ! ऐसा करुण-विलाप सब घरों में सुनाई देने लगा। तब बलदेव और कृष्ण शीघ्रता से नगरद्वार के पास रथ को ले गए पर वहां दोनों रथ इंद्रकील (द्वार का एक हिस्सा) के द्वारा अवरुद्ध हो गए। उस इंद्रकील को बलदेव ने पैर से चूर्ण कर दिया तब वह द्वार अग्नि में जलने लगा।

इसी बीच द्वीपायन ऋषि ने घोषणा की—‘अरे! मैंने पहले ही कहा था कि बलदेव और कृष्ण तुम दो को छोड़कर कोई भी नहीं बच सकेगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है।’ तब वासुदेव ने अपने पैरों से आहत कर एक कपाट को धरती पर गिरा दिया और धू-धू कर जलते हुए दूसरे कपाट को बलराम ने गिरा दिया। तब वासुदेव ने देवकी और रोहिणी को कहा—‘तुम्हारे जीवित रहने से यादव कुल की पुनः समुन्नति हो जाएगी।’ अतः शीघ्रता से तुम निकल जाओ। माता-पिता के वचन सुनकर करुण विलाप करते हुए यादव लोग वहां से निकल गए। बाहर भग्न उद्यान में स्थित होकर वे जलती हुई द्वारिका को देखने लगे।

द्वीपायन ऋषि ने देवशक्ति से नगरी के सारे द्वार बंद करके पूर्ण रूप से द्वारिका नगरी को जला दिया। बलराम का प्राणवल्लभ कुब्जवारक नामक छोटा लड़का चरिम शरीरधारी था, वह अपने भवन में ऊपर चढ़कर बोला—‘अरे पार्श्वस्थित देवताओ! मैं जिनेन्द्र अरिष्टनेमि का शिष्य हूँ। मैं समस्त प्राणियों के प्रति दया रखने वाला हूँ। मैं चरिमशरीरी हूँ अतः इसी भव में मोक्ष जाऊंगा। यदि भगवान् के ये वचन सत्य हैं तो फिर ऐसा क्यों हो रहा है?’ उसके ऐसा कहने पर जृम्भक देव वहां आए। उन्होंने जलते हुए भवन से उसे निकाला और पल्लवदेश में भगवान् के पास ले गए। कृष्ण की सोलह हजार देवियों ने समभाव पूर्वक अनशन कर लिया। सभी धर्मपरायण यादव महिलाओं ने अग्नि के भय से भक्त प्रत्याख्यान कर लिया। द्वीपायन ने नगर की ६० और ७२ कुलकोटियों को जला दिया। इस प्रकार छह मास तक उसने द्वारिका नगरी को जलाया। फिर पश्चिम समुद्र में उसको प्लावित कर दिया।

बलदेव और वासुदेव—दोनों ने अत्यन्त शोक एवं व्याकुल मन से द्वारिका नगरी को देखा। आंसू से गीले नयनों से द्वारिका को देखकर उन्होंने सोचा—‘अहो! यह संसार की असारता है। कर्मों की गति का वैचित्र्य है। सारा कार्य नियति के अधीन होता है।’ कृष्ण ने कहा—‘सब परिजनों से रहित शोकाकुल और मरणासन्न तथा भय से उद्विग्न लोचन वाले हम अब कहां जाएं?’ बलराम ने कहा—‘पराक्रमी पांडव हमारे बांधव हैं अतः दक्षिण समुद्र में स्थित मथुरा नगरी चलते हैं।’ कृष्ण ने कहा—‘द्रौपदी के लाने के समय महागंगा उतरने के लिए उन्होंने हमें रथ को नहीं भेजा अतः सर्वस्व हरण कर हमने उन्हें निकाल दिया था। ऐसी स्थिति में हम उनकी नगरी में कैसे जाएं?’

बलदेव ने कहा—‘वे महापुरुष हमारे ही कुल में उत्पन्न परमबंधु हैं। वे किसी को परिभव बुद्धि से नहीं देखते। नीचकर्मा या क्रूरकर्मा व्यक्ति भी यदि घर पर आ जाए तो वे उसके साथ निष्ठुर आचरण नहीं करते।’ तब कृष्ण ने बलराम की बात स्वीकार कर ली। वे शरीर-कांति को छिपाते

हुए पैदल ही पूर्व दिशा की ओर चलने लगे। सौराष्ट्र देश को पारकर वे हस्तिनाकल्प नगरी के बाहर पहुंचे। कृष्ण ने बलदेव से कहा—‘मैं भूख और प्यास से व्याकुल हो रहा हूँ।’ तब बलदेव ने कहा—‘मैं शीघ्र ही आपके लिए भक्तपान लाने के लिए जा रहा हूँ। तुम भी जागरूक होकर यहां बैठे रहना। यदि मेरे इस नगरी में जाने पर कोई आपत्ति आई तो मेरा महाशब्द सुनकर तुम आ जाना।’ ऐसा कहकर बलदेव हृदय में वासुदेव की स्मृति करता हुआ हस्तिनाकल्प नगर गया।

वहां धृतराष्ट्र का पुत्र अच्छंदक नाम का राजा राज्य करता था। बलदेव ने अपने श्रीवत्स को वस्त्रों से आच्छादित कर नगरी में प्रवेश किया। वहां लोकापवाद हो गया कि नगरी में अग्नि से बलदेव वासुदेव आदि सभी बंधु जल कर नष्ट हो गए हैं। बलदेव को प्रमाण से भी अधिक सुरूप देखकर लोग विस्मित होकर कहने लगे—‘अहो रूपसंपदा’, ‘अहो चन्द्रमा के समान कांति और सौम्यता!’ इस प्रकार इत्यादि की प्राप्ति करता हुआ बलदेव भोजनालय में गया। वहां अंगूठी बेचकर उसने भोजन और हाथ के कटक देकर मदिरा प्राप्त की। वह वहां से प्रस्थित होकर नगर-द्वार पर पहुंचा। उसे देखकर द्वार-आरक्षकों ने राजा को निवेदन किया—‘कोई बलदेव जैसा पुरुष चोर की भांति दूसरों के चुराए हुए कटक और अंगूठी बेचकर भक्त-पान खरीदकर जा रहा है।’ तब अच्छंदक राजा सशंकित होकर अपनी सेना के साथ वहां गया और बलराम से लड़ना प्रारम्भ कर दिया। बलराम ने कृष्ण को जताने के लिए महाशब्द किया। यह युद्ध का सांकेतिक शब्द था। वह भक्त और पान को छोड़कर पास के हाथी पर चढ़कर अच्छंदक की सेना को विदीर्ण करने लगा। तब तक कृष्ण भी शीघ्र ही वहां आ गए। नगर-द्वार को तोड़कर अर्गला को हाथ में लेकर उन्होंने अच्छंदक की सेना को विदीर्ण कर दिया और अच्छंदक को अपने वश में कर लिया। उन्होंने कहा—‘अरे! दुराचारिन्! क्या तू हमारे बाहुबल को भी नहीं पहचान पाया? अच्छा, हम तुम्हें मुक्त करते हैं। तू अपने राज्य का स्वच्छंदता से उपभोग कर।’

उन्होंने अपना व्यतिकर बताया और वे वनखंड से शोभित उद्यान में चले गए। वहां वे अश्रुपूरित नेत्रों से ‘नमो जिष्णोर्ण’ कहकर लाए हुए अन्न-पानी को ग्रहण करने लगे। दोनों ने सोचा, पूर्वकाल में हम किस प्रकार से भोजन करते थे, उसका अनुभव करते हुए भी हमें आज इस प्रकार भोजन करना पड़ रहा है। सच है, क्षुधा और पिपासा को सहन करना अत्यन्त कठिन होता है। हमें ऐसा क्यों सोचना चाहिए? भगवान् ने स्वयं कहा है—‘प्रत्येक जन्म में सभी भावों की अनित्यता होती है।’ ऐसा सोचकर कुछ आहार-पानी करके वे लोग दक्षिण दिशा में जाने लगे। चलते-चलते वे कोसुंब नामक वन में पहुंचे। मद्यपान एवं लवण युक्त भोजन करने से ग्रीष्मकाल में अत्यधिक पसीना निकल जाने से, शोकाकुल होने से तथा पुण्य-क्षय होने के कारण वासुदेव को अत्यधिक प्यास की अनुभूति हुई। कृष्ण ने बलराम से कहा—‘भातृवत्सल भाई बलराम! प्यास से मेरा मुंह सूख रहा है। मैं शीतलवन तक जाने में भी समर्थ नहीं हूँ।’ यह सुनकर बलदेव ने कहा—‘अति प्राणवल्लभ भाई! तुम थोड़ी देर पेड़ की छाया में विश्राम करो तब तक मैं तुम्हारे लिए जल लेकर आता हूँ।’

कृष्ण ने कौशेय वस्त्र से स्वयं को ढका और एक पैर को जानु के ऊपर रखकर सो गए। बलदेव ने कहा—‘प्राणवल्लभ! तुम यहां जागरूक रहना।’ बलदेव ने वन-देवताओं से कहा—‘यह

मेरा भाई सभी लोगों को अत्यधिक प्रिय है विशेषतः मेरे दुःखी हृदय का प्राणवल्लभ है अतः मेरा भाई तुम्हारी शरण में है तुम इसकी रक्षा करना।' यह कहकर बलराम पानी लेने चला गया।

इसी बीच व्याध वेशधारी जराकुमार धनुष को हाथ में लिए हुए, प्रलंब केश धारण किए हुए, व्याघ्रचर्म से प्रावृत मृग को मारने के उद्देश्य से वहां आया। एक वृक्ष के नीचे कृष्ण तृषातुर होकर बैठे थे। उनको हरिण समझ कर जराकुमार ने धनुष चढ़ा तीक्ष्ण बाण फेंका। उस बाण ने कृष्ण के पैर के मर्मस्थान को बीँध दिया। श्रीकृष्ण वेग से उठे और बोले—'बिना अपराध के ही किसने मेरा पैर बाण से बीँधा है? मैंने पहले किसी भी अज्ञातवंश वाले पुरुष को नहीं मारा है अतः जिसने यह बाण छोड़ा है वह शीघ्र ही अपना गोत्र बताए।' तब जराकुमार ने कुडंग के अंदर बैठे-बैठे सोचा—'यह कोई हरिण नहीं है। यह तो कोई पुरुष है, जो मुझसे गोत्र पूछ रहा है। इसलिए इसे मैं अपना गोत्र बताऊँ।' जराकुमार ने कहा—'मैं हरिवंश कुल में उत्पन्न वसुदेव और जरा देवी का पुत्र तथा पृथ्वी के एक-मात्र वीर श्रीकृष्ण का ज्येष्ठ भ्राता जराकुमार हूँ। 'श्रीकृष्ण की मृत्यु जराकुमार से होगी' अरिष्टनेमि के इन वचनों को सुनकर मैं अपने बंधुवर्ग को छोड़कर एक वन से दूसरे वन में घूम रहा हूँ। मुझे घूमते हुए बारह वर्ष बीत गए हैं। अब तुम अपना परिचय दो कि तुम कौन हो?' कृष्ण ने कहा—'आओ-आओ प्रिय सहोदर! मैं जनार्दन हूँ। तुम्हारा और बलदेव का छोटा भाई हूँ। तुम मेरे प्राणों की रक्षा के लिए घूमते-घूमते यहां आए लेकिन तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ हो गया इसलिए तुम शीघ्र ही मेरे पास आओ।'

तब जराकुमार कृष्ण के पास आया। उसने कृष्ण की अवस्था देखी तब आंसू बहाता हुआ विलाप करने लगा—'हा! मैंने मेरे भाई को मार डाला। मैं दुरात्मा हूँ। हे पुरुषसिंह! तुम यहां कहां से आ गए? क्या द्रौपायन ने द्वारिका जला दी? यादव नष्ट हुए या नहीं?' तब कृष्ण ने जैसा देखा और सुना था वह सब सुना दिया। जराकुमार विलाप करने लगा—'मैं पापी हूँ। मैंने अच्छा किया कृष्ण का आतिथ्य-सत्कार! अब मैं कहां जाऊँ? मेरी सुगति कैसे होगी? भाई के घातक मुझको कौन देखना चाहेगा? हे केशव! लोग तुम्हारा नाम अपने कंठों में धारण कर रखेंगे। मैं वनवासी बन गया पर मैंने क्रूरता से विपरीत आचरण कर डाला। अब मुझ पापी की बहुत अधिक गह्रा होगी। कहां हैं वे राजा? कहां हैं उनकी हजारों रानियां? हे जनार्दन! वे कुमार कहां हैं?' तब कृष्ण ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—'अरे जरानंदन! भगवान् अरिष्टनेमि ने पहले ही कह दिया था कि संसार में सब प्राणी अपने-अपने कर्मों से अनेकों कष्ट पाते हैं। जो व्यक्ति इस भव में या परभव में जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है उसका फल उसे प्राप्त करना होता है। दूसरा तो निमित्त मात्र होता है इसलिए तुम उद्वेग मत करो। तुम्हारा कोई अपराध नहीं है यह तो कर्मों की विचित्र परिणति है। जिनेन्द्र का कथन कभी अन्यथा नहीं होता अतः तुम वक्षस्थल पर स्थित मेरी कौस्तुभ मणि को लेकर पांडवों के पास जाओ और उनको तुम सारी बात बता देना।' मेरी ओर से पांडवों को कहना कि द्रौपदी को ले जाने के समय सामर्थ्य का परीक्षण करने के लिए उन्होंने रथ नहीं भेजा तब मैंने उनका सर्वस्व हरण करके उनको बहिष्कृत कर दिया इसलिए वे मुझे क्षमा करें।' सत्पुरुष क्षमाप्रधान होते हैं और विशेषतः बंधुजन तो क्षमाप्रधान होते ही हैं।' कृष्ण के कहने पर भी जराकुमार जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। तब कृष्ण ने पुनः कहा—'महाभाग! शीघ्र जाओ। तुम जानते हो बलदेव

का मेरे ऊपर बहुत अधिक स्नेह है। वह मेरी प्यास बुझाने हेतु जल लेने गया हुआ है। वह आते ही मुझे भरणावस्था में देखकर तुम्हें मार देगा अतः इन्हीं पैरों से तुम शीघ्रता से यहां से चले जाओ।'

तब पादतल से बाण निकालकर जराकुमार वहां से चला गया। वासुदेव ने भी वेदना समुद्धात उत्पन्न होने पर नमस्कार महामंत्र का जप प्रारम्भ कर दिया। परमपूजा के योग्य अर्हतों को नमस्कार! सुख और समृद्धि से युक्त सिद्धों को नमस्कार! पांच आचार्यों का पालन करने वाले आचार्यों को नमस्कार! स्वाध्याय-ध्यान में रत उपाध्यायों को नमस्कार! साधना में संलग्न साधुओं को नमस्कार! जिनेन्द्र अरिष्टनेमि को नमस्कार, जो सकल आसक्तियों का त्याग करके महामुनि बन गए।

कृष्ण ने तृण-संस्तारक बनाकर अपने शरीर को कपड़े से ढका और वीरासन में स्थित होकर सोचने लगे—'शांब, प्रद्युम्न, निरुद्ध, सारण आदि कुमार, यादव एवं रुक्मिणी आदि रात्रियं धन्य हैं, जिन्होंने सारे संगों का त्याग कर भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण की है। मैं हतभागी तथा और चारित्र्य का पालन किए बिना ही मर रहा हूँ। अचानक जीवन के अंतिम समय में कृष्ण ने शुभ भावों को विस्मृत कर दिया। वे सोचने लगे—'इस अकारण वैरी द्वीपायन ने नगरी को जला कर सारे यादव-कुल का नाश कर दिया इसलिए वह महापापी मारने योग्य है। इस प्रकार अशुभ परिणामों से मृत्यु प्राप्त कर वे तीसरी नारकी में उत्पन्न हुए।

इधर बलदेव शीघ्रता से कमलिनी के पत्तों का दोना बनाकर उसमें पानी लेकर कृष्ण की दिशा में चले। विपरीत शकुन हुए। वे वहां आए। जल को नीचे रखकर बलदेव ने सोचा—'मेरे हृदय को आनन्द देने वाला यह कृष्ण अभी सो रहा है। यह जब जागकर उठेगा तभी मैं इसे पानी दूंगा।' अत्यंत स्नेह होने के कारण, व्याकुल मन के कारण बलदेव कृष्ण की मौत को नहीं जान सके। कुछ समय बाद कृष्ण के शरीर के चारों ओर काली मक्खियां भिनभिना रही हैं, यह देखकर भयभीत होकर बलदेव ने कृष्ण के मुख से कपड़ा हटाया। 'अरे यह तो मर गया है' ऐसा सोचकर बलदेव पृथ्वी पर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। मूर्च्छा दूटने पर बलदेव ने तीव्र सिंहनाद किया। उससे सारे पशु, पक्षी और वन कांप उठा।

बलदेव ने विलाप करना प्रारम्भ किया—'यह मेरा भाई हृदयवल्लभ, पृथ्वी का एकमात्र वीर, जिस निर्दयी और दुष्ट व्यक्ति के द्वारा मारा गया है, वह यदि मेरा सच्चा हितैषी/सच्चा योद्धा है तो मेरे सामने आए। इस सुप्त, प्रमत्त और प्यास से व्याकुल मेरे भाई को क्यों मारा? निश्चित ही वह पुरुषों में अधम है, जिसने ऐसा जघन्य कार्य किया है।' इस प्रकार उच्च शब्दों में बोलता हुआ बलदेव वन में चारों ओर घूमता हुआ पुनः गोविंद के पास आया। वहां आकर वह उच्च स्वर में रोने लगा—'हा मेरे भाई! हा जनार्दन! हा समर्थ योद्धा! हा महारथी! हा हरिचंद! तुम्हारी किस-किस बात पर रोकें? क्या सौभाग्य था? क्या धीरज, बल, वर्ण और रूप था? तुम कहते थे 'बल' मेरा प्रिय भाई है। आज ऐसी विपरीतता क्यों? जिससे तुम उत्तर भी नहीं दे रहे हो? तुम्हारे विरह में मैं मंदभाग्य अकेला क्या करूंगा? अब कहां जाऊं? कहां रहूँ? किसको कहूँ? किसको पूछूँ? किसकी शरण में जाऊँ? किसको उपालम्भ दूँ? किससे रोष करूँ? मेरे लिए तो सारा संसार ही नष्ट हो गया।

अरे वन देवताओ ! मैंने जनार्दन को तुम्हें समर्पित किया था, तुम्हारी ऐसी उपेक्षा क्या उचित है? अरे जनार्दन ! आओ तुम सुना-अनसुना क्यों कर रहे हो? मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है? देवताओ ! यह मेरा भाई कृष्ण मुझ पर कुपित हो गया है अतः करुणा से इसे प्रसन्न करो। हे सहोदर ! सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। उठो, संध्योपासना का समय हो गया है। उत्तमपुरुष संध्यावेला में नहीं सोते। अतः उठो, अंधियारी काली रात आ गई है। क्रूर हिंसक प्राणी चारों ओर घूम रहे हैं। गीदड़, सियार शब्द करते हुए घूम रहे हैं।' इस प्रकार प्रलाप करते हुए प्रातः हो गया। बलदेव पुनः कृष्ण को संबोधित कर कहने लगे—'भाई ! उठो, सूर्य उग गया है।' जब कृष्ण नहीं उठे तो स्नेह से विमूढ़ बना हुआ बलदेव कृष्ण के मृतक शरीर को अपने कंधे पर रखकर गिरि कानन में घूमने लगा। घूमते-घूमते वर्षाकाल आ गया।

बलदेव का सिद्धार्थ नामक सारथि देवलोक को प्राप्त हुआ। अवधिज्ञान लगाकर उसने बलदेव को देखा। अत्यंत खेद के साथ उसने चिंतन किया—'स्नेहानुराग से किस प्रकार बलदेव वासुदेव कृष्ण के मृतक शरीर को ढो रहे हैं? इसलिए भातृवत्सल इस बलदेव को मैं प्रतिबोध दूंगा।' तब देव ने पर्वत पर रथ को उतारते हुए एक पुरुष की विकुर्वणा की। वह रथ टेढ़ा-मेढ़ा चलता हुआ पर्वत पर भग्न नहीं हुआ बल्कि समभूमि पर उसके सैकड़ों टुकड़े हो गए। वह देव उन टुकड़ों का संधान करने लगा। यह देख बलदेव ने कहा—'अरे मूढ़पुरुष ! यह रथ गिरितट पर भग्न नहीं हुआ लेकिन सममार्ग पर भग्न हुआ है अतः खंड-खंड बने इस रथ का तुम कैसे संधान कर सकते हो?' देव ने कहा—'यह कृष्ण अनेक हजार योद्धाओं के द्वारा भी पराजित नहीं हुआ वह आज युद्ध के बिना भी मर गया है। जब वह जीवित हो जाएगा तो रथ भी पुनः नवीन हो जाएगा।' पुनः वह पुरुष शिलापट्ट पर पद्मिनी को रोपने लगा। बलदेव ने कहा—'शिलापट्ट पर रोपी हुई पद्मिनी कैसे उगेगी?' देव ने कहा—'जब यह तुम्हारे कंधे पर स्थित मृतक जी उठेगा तब कमलिनी भी उग जाएगी।' थोड़ी दूर जाने पर एक ग्वाले को केवल अस्थिमय गायों को हरी घास देते हुए देखा। बलदेव ने कहा—'ये गायें हड्डियों का ढांचा मात्र हैं क्या ये हरी घास से पुनः जी सकती हैं?' देव ने कहा—'जब यह तुम्हारा भाई कृष्ण जी उठेगा तब गायें भी जी जाएंगी।' तब बलदेव के ज्ञानतंतु झंकृत हुए और उसने सोचा—क्या मेरा अपराजित भाई मर गया? वनान्तर में स्थित कौन मुझको ऐसा कह रहा है? तब देव सिद्धार्थ के रूप में उपस्थित होकर बोला—'मैं पूर्वभव में आपका सारथि सिद्धार्थ था। तीर्थंकर अरिष्टनेमि की कृपा से मैं देवगति में उत्पन्न हुआ। आपने मुझे पहले कहा था—'जब मैं विपत्ति में पड़ूँ तब तुम मुझे प्रतिबोधित करना।' इसीलिए मैं आपको प्रतिबोध देने यहां आया हूँ। आप शोक को छोड़कर धैर्य को धारण करें। यदि आप जैसे पुरुष भी शोक से विह्वल होंगे तब संसार में कौन स्थिर रह पाएगा? धैर्य आत्मगुण है। संसार में कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जिसने इस स्वच्छंद और वैरी यमराज से कदर्थना प्राप्त न की हो। इसलिए अपने आपको स्थिर करो। स्वामी अरिष्टनेमि ने पहले ही कह दिया था कि जराकुमार से कृष्ण की मृत्यु होगी। वैसा ही हो गया।' बलदेव ने पूछा—जराकुमार ने कृष्ण को कब मारा? देव ने जराकुमार की सारी बात बतायी और उसे पांडवों के पास भेजा तब तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

बलदेव ने सिद्धार्थ का आलिंगन कर स्नेहपूर्वक कहा—‘अब क्या करना चाहिए?’ देव ने कहा—‘सर्व प्रकार के पापों को छोड़कर अन्न तथा आम्रण्य को स्वीकार करें और तीर्थकर अरिष्टनेमि के वचनों को याद करें?’ तब बलदेव ने कहा—‘तुमने जो कहा वह मैं भलीभांति स्वीकार करूंगा। तुमने भगवान् के वचन याद दिलाकर अच्छा किया। अब कृष्ण के कलेवर का क्या करें?’ देव ने कहा—‘दो नदी के बीच के तट पर इसे जलाएंगे। तीर्थकर, चक्री, बलदेव और वासुदेव पूजा के योग्य होते हैं अतः पूजा करेंगे।’ तब उन्होंने दो नदी के संगम स्थल पर कृष्ण के मृत शरीर को रखा, पुष्प, गंध, धूप आदि से पूजा की और शरीर को जला दिया।

अरिष्टनेमि ने बलदेव के प्रव्रज्या सभ्य को जानकर विद्याधर श्रमण को वहां भेजा। उनके पास बलराम ने प्रव्रज्या ग्रहण की। तुंगिया पर्वत के शिखर पर वे तपश्चरण करने लगे। सिद्धार्थ देव पूर्व स्नेह के कारण बलराम की रक्षा में वहीं रहने लगा।

इधर जराकुमार दक्षिण मथुरा में पहुंचा। उसने पांडवों को देखा और पांडवों को कौस्तुभ मणि दे दी। उसने द्वारिका विनाश से लेकर पांडवों तक पहुंचने का सारा वृत्तान्त पांडवों को सुनाया। पांडवों ने अत्यन्त शिलाष और दुःख के साथ एक वर्ष तक उनका प्रेत्यकार्य किया फिर जराकुमार को राज्य देकर स्वयं भगवान् अरिष्टनेमि के पास चले गए।

भगवान् अरिष्टनेमि ने चार ज्ञान के धनी धर्मघोष अनगार को अनेक श्रमणों के साथ पांडवों की प्रव्रज्या के लिए भेजा। पांडव उनके पास दीक्षित हो गए। दीक्षित होकर पांडव भगवान् के पास जाने के लिए प्रस्थित हुए। वे बेला, तेला, चोला (चार दिन की तपस्या), पंचोला (पांच दिन की तपस्या), पक्ष, मास, छह मास की तपस्या करते हुए चले जा रहे थे। उस समय भगवान् बारह योजन दूरी पर स्थित थे। उन्होंने चिन्तन किया कि कल अरिष्टनेमि भगवान् के दर्शन करेंगे अतः रात्रि वहीं बिताई। प्रातःकाल उन्होंने जनप्रवाद सुना कि उज्जयंत पर्वत पर भगवान् मोक्ष चले गए। तब वे अत्यन्त दुःखी हुए और पुंडरीक पर्वत पर प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

समुद्रविजय आदि नव दशार, भगवान् की माता, गजसुकुमाल के साथ दीक्षित होकर देवलोक में गयीं। रुक्मिणी आदि रानियां मोक्ष गयीं। द्रौपदी भी राजीमती के साथ दीक्षा ग्रहण कर, मृत्यु को प्राप्त कर अच्युत कल्प में उत्पन्न हुई। द्वारिका जलन के समय वसुदेव, राहिणी और देवकी देवलोक में उत्पन्न हुए।

बलदेव ऋषि तुंगिया पर्वत के शिखर पर अत्यन्त कष्टग्रस्त एवं घोर तप कर रहे थे। वे सप्त-सप्तमिका भिक्षु प्रतिमा कर रहे थे। सप्तसप्तमिका प्रतिमा इस प्रकार है—‘प्रथम सात दिन भोजन में एक दत्ती ग्रहण करना तथा पानी की भी एक दत्ती ग्रहण करना। दूसरे सप्ताह भोजन पानी की दो-दो दत्ती ग्रहण करना, तीसरे सप्ताह भोजन और पानी की तीन-तीन दत्ती ग्रहण करना। इस प्रकार सातवें सप्ताह सात दत्ती ग्रहण करना। इस प्रकार ४९ रात दिन में १९६ भोजन और पानी की दत्ती ग्रहण करना। इस प्रतिमा की बलदेव मुनि ने भलीभांति अनुपालना की। इसकी संपन्नता होते ही दूसरी अष्टअष्टमिका भिक्षु प्रतिमा प्रारम्भ कर दी। प्रथम आठ दिन भोजन और पानी की एक-एक दत्ती ग्रहण करना, दूसरे आठ दिनों में भोजन और पानी की दो-दो दत्ती ग्रहण करना। इस प्रकार

आठवें अष्टक में भोजन और पानी की आठ आठ दत्ती ग्रहण करना। इस प्रकार यह अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा ६४ दिन-रात में पूरी होती है तथा दो सौ अड़्हासी दत्ती ग्रहण की जाती है। इस प्रकार बलऋषि ने अष्टअष्टमिका, नवनवमिका और दशदशमिका प्रतिमा भी की।

बलराम प्रायः एक पक्ष या एक मास से वन काटने वाले लकड़हारों से जो कुछ प्रासुक एषणीय मिल जाता, वही ग्रहण करते। उन लकड़हारों ने जनपद में आकर राजा से कहा—‘कोई महान् शक्तिशाली दिव्यपुरुष वन में तप कर रहा है।’ तब वह राजा संबुद्ध होकर सोचने लगा—‘कोई राज्य का अभिलाषी व्यक्ति तप कर रहा है अथवा कोई विद्या साध रहा है अतः जाकर उसे मार डालना ही श्रेष्ठ है।’ यह सोचकर राजा अपनी सेना के साथ कवच से सशस्त्र, अनेक प्रकार के शस्त्रों से सज्जित, अनेक यान-वाहन पर आरूढ़ होकर बलराम मुनि के पास आए। इधर रक्षक देव सिद्धार्थ ने बलराम ऋषि के पास भयंकर मुख वाले, बीभत्स दिखाई देने वाले, तीक्ष्ण नखाग्र वाले, दारुण तथा केशर सटा से युक्त सिंहों की विकुर्वणा की। तब वे राजा दूर से ही भयभीत होकर उस महाप्रभावी बलदेव ऋषि को प्रणाम कर शीघ्र ही अपने-अपने घर चले गए। लोक में बलदेव नरसिंह के रूप में प्रसिद्ध हो गए। इस प्रकार बलदेव मुनि प्रतिदिन उपशांत भाव में लीन रहते। बलराम के स्वाध्याय, ध्यान और धर्मव्रत से आकृष्ट होकर अनेक जगद्ध, सिंह, चीते, खन्नोर, संबर, हरिण आदि उपशांत हो गए। उनमें कुछ श्रावक हो गए, कुछ भद्र प्रकृति वाले हो गए, कुछ ने अनशन स्वीकार कर लिया, कुछ कायोत्सर्ग में स्थित हो गए। वे मांसाहार का त्याग करके बलदेव ऋषि की उपासना करने लगे।

वहां एक युवा हरिण भगवान् बलराम मुनि के पूर्वभाव का परिचित था। उसे जातिस्मृति ज्ञान प्राप्त था। वह अत्यन्त संवेग को प्राप्त था। वह भिक्षा आदि के समय भगवान् के पीछे-पीछे दौड़ता था। एक बार बलदेव भी मासखमण के पारणे हेतु नगर में गए। वहां एक तरुणी कुएं से जल निकाल रही थी। उसने पानी निकालते हुए बलदेव को देखा। बलदेव के दिव्य रूप में वह अत्यन्त आसक्त हो गई। उसकी सारी चेतना बलदेव के रूप-लावण्य में उलझ गई। वह अपना भान भूल गई। उसने घड़े के कंठ में कुंडी लगाने के बदले कटि पर स्थित अपने छोटे पुत्र के गले में वह कुंडी लगाकर रस्सी बांधकर उसे कुएं में लटका दिया।

बलदेव ने यह देखा। वह संवेग को प्राप्त होकर सोचने लगे—‘मेरा शरीर भी प्राणियों के लिए अनर्थ का कारण है।’ अनुकम्पावश बालक को मुक्त कराकर उन्होंने प्रतिज्ञा की—‘जहां स्त्रियां नहीं होंगी, वहां यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं।’ बलदेव वापिस वन में चले गए।

एक दिन अच्छी लकड़ी काटने के निमित्त से कुछ रथकार वन में आकर वृक्ष काटने लगे। कुछ समय पश्चात् वे भोजन करने बैठे। उसी समय मुनि बलदेव भी मासखमण के पारणे के लिए वहां आ पहुंचे। हरिण भी उनके साथ-साथ गया। मुनि बलदेव को देखकर रथकार स्वामी ने सोचा—‘हमारे पुण्यों का उदय हुआ है इसीलिए मरुस्थल में भी कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है। अहो!

१. एक अन्य मत के अनुसार अभिमानवश बलदेव ने सोचा कि अपने ही नौकरों से भिक्षा कैसे ग्रहण करूं? यह सोचकर वे ग्राम के बाहर लकड़हारों से ही भिक्षा ग्रहण करने लगे।

इसके रूप, उपशम और तेज की संपदा कैसी है? मैं कृतार्थ हो गया। मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है इसीलिए ये महान् ऋषि भिक्षा के लिए यहां आए हैं। इनकी भिक्षा देकर मैं स्वयं को कलुष रहित कर लूंगा।' ऐसा सोचकर रथकार ने पृथ्वी पर जानु रखकर उन्हें वंदना की और भक्त पान लेकर उनके सामने गया। मुनि ने भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से शुद्ध भिक्षा जानकर उसे ग्रहण कर ली। उस रथकार ने शुद्ध दान देने से देवलोक का आयुष्य बांध लिया। अत्यधिक भक्ति से हरिण की आंखों से आंसू निकलने लगे। वह रथकार और मुनि की ओर प्रसन्न और मंथर दृष्टि से बार-बार देखता हुआ सोचने लगा—'अहो! यह वनछेदक धन्य है। इसका मनुष्य जन्म सफल हो गया है। मैं दुर्भाग्य एवं कर्मदोष से तिर्यक् जाति में उत्पन्न हुआ हूँ। मैं इस महातपस्वी को दान देने से वंचित हूँ। मेरी इस तिर्यक् योनि को धिक्कार है।' इसी बीच तेज वायु से प्रहत होकर एक वृक्ष वनछेदक, बलदेव और हरिण के ऊपर गिरा। वे तीनों मरकर ब्रह्मकल्प के पद्मोत्तर विमान में उत्पन्न हुए। बलदेव भी सौ वर्ष तक श्रामण्य पयाय का पालन कर विशिष्ट देवलोक में उत्पन्न हुए।

देव बनकर बलदेव ने अवभिज्ञान से स्नेहपूर्वक कृष्ण को देखना प्रारम्भ किया। उसने अत्यंत दुःख के साथ कृष्ण को तीसरी नारकी में देखा। शीघ्र ही वैक्रिय शरीर की विकुर्वणा करके वे कृष्ण के पास गए। बलदेव ने दिव्य मणि की प्रभा का उद्योत करके जनार्दन को देखा। बलदेव ने कहा—'अरे भातृवत्सल कृष्ण! अब मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?' कृष्ण ने कहा—'मैं पूर्वकृत कर्मों से उत्पन्न दुःख का अनुभव कर रहा हूँ। कोई भी इसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं है।' तब बलदेव ने अपनी दोनों भुजाओं से कृष्ण को उठा लिया। आतप में नवनीत की भाँति उनका शरीर पिघलने लगा। तब कृष्ण ने कहा—'मुझे छोड़ो। मुझे बहुत कष्ट की अनुभूति हो रही है। तुम अब भरतक्षेत्र में वापिस लौट जाओ। वहां जाकर गदा, खड्ग, चक्र और शंखधारी, पीले वस्त्र पहने हुए तथा गरुडध्वज हलमुसल को धारण किए हुए, नीले वस्त्र पहने हुए अपने आपको सब लोगों को दिखाना। बलदेव ने श्रीकृष्ण की बात को स्वीकार कर लिया। दिव्य विमान में आरुढ़ होकर बलराम ने भरत क्षेत्र में आकर श्रीकृष्ण और बलदेव के रूप की विकुर्वणा करके लोगों को दिखाया। विशेषतः शत्रुलोगों के सामने यह रूप दिखाया। बलदेव ने कहा—'तिराहे, चौराहे और चत्वरों पर हमारा प्रतिरूप स्थापित करो। हम स्वर्ग संहारकारी हैं। हम देवलोक से आए हैं और अब वहीं जा रहे हैं। वहां हम नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में रत रहते हैं। द्वारिका नगरी हमारे द्वारा निर्मित है। पुनः हमने ही उसका संहार करके समुद्र में फेंक दिया है। इसलिए हम ही कारण पुरुष विधाता हैं। लोगों ने ससंभ्रम इस बात को स्वीकार कर लिया और जैसा कहा था वैसा किया। फिर परम्परा से वह बात प्रसिद्ध हो गयी। बलदेव भी ऐसा कर पुनः देवलोक चले गए। वहां से च्युत होकर अमम तीर्थकर जो कृष्ण का जीव है उनके पास शासन में सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त होंगे। नगर के समृद्ध कुलों में भिक्षा की याचना उतनी दुष्कर नहीं है, जितनी अरण्य में तृणहारक और काष्ठहारक के यहां से भिक्षा लेनी। बलदेव ने जैसे याचना परीषह सहन किया वैसे ही सबको सहन करना चाहिए।'

१७. अलाभ परीषह (ढंढण कुमार)

एक गांव में एक ब्राह्मण कृषि-कुशल अथवा शरीर से कृश होने के कारण कुशल था। वह 'कृषि पाराशर' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। वह ब्राह्मण उस ग्राम में राजा के खेत की जुताई के लिए नियुक्त था। बैल दिन भर की जुताई से थक जाते, छाया में विश्राम करना चाहते और चारा-पानी पाने की अभिलाषा करते। आहार आ जाने पर जब वह उनको मुक्त करना चाहता तब सोचता कि एक हलबंभ^१ की जुताई और कर लूं। बैल भूख से पीड़ित रहते। इस प्रकार उसने ६०० बार उन बैलों से खेत की अतिरिक्त जुताई कराई। इससे उसके बहुत सघन अंतराय कर्म बंध गए।

वहां से मरकर वह अपने किसी अन्य पुण्य के प्रभाव से वासुदेव कृष्ण के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम ढण्ड रखा गया। समय आने पर वह तीर्थंकर अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हो गया। दीक्षित होने के बाद अपने पूर्वभवं में बंधा हुआ अंतराय कर्म उदय में आ गया। जब ढंढण मुनि आहार के लिए जाते तो घूमने पर भी विशाल द्वारिका नगरी में शुद्ध आहार नहीं मिलता। यदि कभी आहार मिलता तो वह ऐसे-वैसे कारणों से प्राप्त होता।

एक बार ढंढण मुनि ने भगवान् से इसके बारे में पूछा। भगवान् से पूर्व भवं का सारा वृत्तान्त जानकर ढंढण मुनि ने अभिग्रह किया कि मैं दूसरे के प्रभाव से प्राप्त आहार का उपयोग नहीं करूंगा। एक बार अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी आए। वासुदेव कृष्ण उन्हें वंदना करने गए। वासुदेव कृष्ण ने अरिष्टनेमि से पूछा—'अभी इन अठारह हजार साधुओं में दुष्कर तपश्चर्या अथवा साधना कौन कर रहा है?' भगवान् ने उत्तर दिया—'ढंढण मुनि सबसे कठोर साधना कर रहा है क्योंकि वह अलाभ परीषह को बहुत समता से सहन कर रहा है।' ढंढण मुनि के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करने पर अरिष्टनेमि ने कहा—'जब तुम नगर में प्रवेश करोगे तो ढंढण मुनि तुम्हें रास्ते में मिलेगा।' भगवान् को वंदना कर जब वासुदेव वापिस जाने लगे तो रास्ते में कृश शरीर किन्तु प्रशान्त वदन वाले ढंढण मुनि को देखा। मुनि को देखकर वासुदेव ने हाथी से नीचे उतरकर मुनि को वंदना की। अपने हाथ से उनके चरणों का प्रमार्जन किया तथा सुखपृच्छा की। वासुदेव को वंदना करते हुए एक सेठ ने देख लिया। उसने मन में सोचा यह बहुत बड़ा महात्मा है, तभी वासुदेव नीचे उतरकर वंदना कर रहे हैं।

संयोग से मुनि ने उस दिन भिक्षा के लिए उसी सेठ के यहां प्रवेश किया। सेठ ने अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से भिक्षा में लड्डू बहराए। भिक्षा से लौटकर मुनि ने भगवान् को आहार दिखाकर पूछा—'भते! क्या मेरा अलाभ परीषह क्षीण हो गया?' भगवान् ने कहा—'वत्स! तुम्हारा अलाभ परीषह अभी क्षीण नहीं हुआ है। आज तुम्हें वासुदेव के प्रभाव से आहार मिला है।' अपने संकल्प के अनुसार अनासक्त भावों से मुनि ने आहार का परिष्ठापन कर दिया लेकिन प्रतिज्ञा को भंग नहीं किया। आत्म-धरातल पर चिंतन करते हुए शुभ अध्यवसाय से उन्हें कैवल्य-लाभ हो गया।^२

१८. रोग परीषह (कालवैशिक)

मथुरा नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगर में काला नामक वेश्या रहती

१. हल से विदारित भूमि रेखा।

२. उनि-११५, उशांटी, प. ११९, उसुटी, प. ४५, ४६।

थी। वह बहुत सुन्दर थी अतः राजा ने उसे अपने अंतःपुर में रख लिया। उस वेश्या के कालवैशिक नामक एक पुत्र हुआ। वेश्या की एक पुत्री भी थी, जिसका विवाह हतशत्रु राजा के साथ हुआ।

एक बार कालवैशिक कुमार श्रमणों के पास दीक्षित हो गया। दीक्षित होकर उसने एकलविहार प्रतिमा स्वीकृत की। विहार करते हुए कालवैशिक मुनि अपनी बहिन की ससुराल मुद्गशैलपुर पहुंचे। वहां उनके अर्श (मस्सा) रोग उत्पन्न हो गया। रोग के कारण मुनि बहुत पीड़ित थे। पीड़ा देखकर बहिन ने वैद्य से उपचार पूछा। वैद्य ने कुछ दवाइयां दीं और कहा कि आहार के साथ इस औषध को मिलाकर मुनि को भिक्षा में दे देना। उसने मुनि को औषध मिश्रित आहार भिक्षा में दे दिया। मुनि ने गंध से जान लिया कि मोह के वशीभूत हो मेरी बहिन ने औषध मिश्रित आहार बहराया है तथा मेरे निमित्त हिंसा की है।

मुनि ने चिंतन किया कि ऐसे जीवन से क्या लाभ? ऐसा चिन्तन करके मुनि ने मुद्गशैल शिखर पर भक्त-प्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया। कालवैशिक मुनि जब बालक थे तब उन्होंने रात्रि में सियार के शब्द सुनकर अपने व्यक्तियों से पूछा—'यह आवाज किसकी है?' व्यक्तियों ने उत्तर दिया—'ये सभी जंगली सियार हैं।' कुमार ने सियार को बांधकर लाने की आज्ञा दी। राजपुरुष सियार को पकड़कर ले आए। कुमार कालवैशिक उसको पीटने लगा। पीटने से सियार 'खी, खी' की आवाज करने लगा। आवाज सुनकर कुमार को बहुत प्रसन्नता हुई। इस प्रकार अत्यधिक पीटने से सियार मर गया। अकाम निर्जरा के कारण वह व्यन्तर देव के रूप में पैदा हुआ।

व्यन्तर देव ने अनशन में स्थित कुमार कालवैशिक मुनि को देखा तो तीव्र वैर उत्पन्न हो गया। उसने वैक्रिय शक्ति से सियार के बच्चों की विकुर्वणा की। अपने बच्चों सहित वह सियार रूप देव 'खी-खी' शब्द करके मुनि के शरीर को नोचने लगा। इधर राजा ने जब मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान की बात सुनी तो राजपुरुषों को रक्षा के लिए भेज दिया। राजपुरुष वहां रहते तो देव चला जाता। जब आवश्यक कार्य के लिए वे जाते तो 'खी-खी' शब्द करता हुआ वह देव रूप सियार मुनि के शरीर को खाने लगता। इस प्रकार मुनि ने रोग परीषह को समता-पूर्वक सहन किया।^१

१९. तृणस्पर्श परीषह

श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु राजा था। राजकुमार का नाम भद्र था। दीक्षित होकर उसने एकलविहार प्रतिमा स्वीकार की। विहार करते हुए एक बार वह वैराज्य में पहुंचा। गुप्तचर समझकर सैनिकों ने उसे पकड़ लिया। परित्रय पूछने पर मुनि मौम रहे अतः सैनिकों ने मुनि को बहुत पीटा। शरीर लहलुहान हो गया, फिर सैनिकों ने उस पर नमक छिड़क कर घास से वेष्टित कर छोड़ दिया। तब रक्त मिश्रित दर्भ के कारण उसे अत्यन्त वेदना होने लगी। उसने उस परीषह को समभावपूर्वक सहन किया।^२

१. उनि. ११६, उशांटी. प. १२०, १२१, उसुटी. प. ४७।

२. उनि. ११७, उशांटी. प. १२२, उसुटी. प. ४७।

२०. जल्ल (मैल) परीषह (सुनंद)

चण्डा नगरी में सुनन्द नामक वणिक् श्रावक रहता था। वह मैले-कुचेलों से घृणा करता था। उसकी दुकान पर बहुविध वस्तुएं मिलती थीं। वह साधु को यथेच्छित वस्तुएं अवज्ञापूर्वक देता। औषध, भेषज आदि भी दान देता था।

एक बार ग्रीष्म ऋतु में पसीने से लथपथ मैले शरीर वाले कुछ मुनि दुकान पर आए। मुनि के शरीर से इतनी दुर्गन्ध निकल रही थी कि सुगंधित चीजें भी उस दुर्गन्ध के नीचे दब गयीं। सुनन्द ने मन में चिंतन किया—‘साधुओं का सारा आचार अच्छा है। यदि मैल धारण न करते तो कितना अच्छा होता।’ सुनन्द उस चिंतन की आलोचना-प्रतिक्रमण किए बिना काल-कवलित हो गया और कौशाम्बी नगरी में श्रेष्ठी पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। धर्म के महत्त्व को जानकर काम-भोगों से विरक्त हो उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षित होते ही उसके पूर्वबद्ध कर्म उदय में आ गए। मुनि के शरीर से भयंकर दुर्गन्ध निकलने लगी। वे भिक्षा के लिए जाते तो लोग उपहास तथा अवमानना करते। इसलिए अन्य साधुओं ने उन्हें भिक्षा के लिए भेजना बंद कर दिया। परेशान होकर मुनि ने रात्रि में देवता की आराधना की, कायोत्सर्ग किया। देव प्रभाव से मुनि के शरीर में सुगंधित द्रव्यों की खुशबू आने लगी। लोग फिर अवमानना करने लगे कि यह मुनि होकर सुगंधित द्रव्यों का सेवन करता है। मुनि ने पुनः देवता की आराधना की इससे मुनि का शरीर स्वाभाविक हो गया।^१

२१. सत्कार-पुरस्कार परीषह (इन्द्रदत्त पुरोहित)

चिरकाल से प्रतिष्ठित मथुरा नगरी में इन्द्रदत्त नामक पुरोहित रहता था। वह जैन धर्म का विरोधी था। जब कोई साधु उसके घर के नीचे से गुजरता तो वह अपने दोनों पैर लटका कर मानता कि मैंने साधु के शिर पर पैर रख दिए हैं। यह एक श्रावक ने देखा। उसे बहुत क्रोध आया कि यह साधुओं के ऊपर अपने पैर रखता है। उसने प्रतिज्ञा ली कि मैं अवश्य इस पुरोहित के पैर काटूंगा। वह उसका छिद्रान्वेषण करने लगा लेकिन उसे कोई मौका नहीं मिला।

एक दिन वह श्रावक आचार्य के पास गया, वंदना कर उसने सारी बात कही। आचार्य ने शिक्षा देते हुए कहा—‘मुनि को सत्कार-पुरस्कार परीषह सहन करना चाहिए।’ श्रावक ने पुनः निवेदन किया—‘गुरुदेव! मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं उसके पैर का छेदन करूंगा। जो व्यक्ति शासन की अवहेलना करे उसे दंड मिलना चाहिए इसलिए आप मुझे कोई उपाय बतायें।’

यह सुनकर आचार्य ने पूछा कि इस पुरोहित का क्या अपना कोई घर है? श्रावक ने उत्तर दिया कि पुरोहित ने अभी नया प्रासाद बनवाया है। जिस दिन वह अपने प्रासाद में प्रवेश करेगा, उस दिन राजा को भोजन के लिए आमंत्रित करेगा। यह सुनकर आचार्य ने कहा—‘राजा जब घर में प्रवेश करे तब तुम राजा का हाथ खींच कर उसे बाहर ही रख देना। मैं अपने विद्याबल से भवन गिरा दूंगा।’ श्रेष्ठी मन ही मन प्रसन्न हुआ। उसने वैसा ही किया जैसा आचार्य ने निर्देश दिया। हाथ

खींचने का कारण जब राजा ने पूछा तो श्रेष्ठी श्रावक ने कहा—‘राजन्! यह आपको मारना चाहता था। देखिये, वह भवन गिर गया है। राजा को उसकी बात पर विश्वास हो गया। राजा ने पुरोहित को सेठ की सौंप उचित दंड देने के लिए कहा। सेठ ने उसके पैरों में पहले इंद्रकील डाली फिर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसके पैर काट डाले। वह श्रावक सत्कार-पुरस्कार परीषद् सहन नहीं कर सका।’

२२. प्रज्ञा परीषद् (कालकाचार्य)

उज्जयिनी में कालकाचार्य विहार कर रहे थे। वे चरण-करण की आराधना में तत्पर तथा बहुश्रुत थे। उनके शिष्यों में किसी को अध्ययन की रुचि नहीं थी। सभी शिष्य अविनीत और प्रमादी थे। वे सूत्रार्थ का अध्ययन नहीं करते थे। साधु की सामाचारी में भी आलस्य करते थे। मृदुवाणी में सारणा करने पर भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं आया। भर्त्सना करने पर वे मन में वैर और कलुषता उत्पन्न कर लेते थे। आचार्य ने सोचा—‘इनको बार-बार अनुशासित करने पर मेरे सूत्रार्थ की हानि होती है और कर्मों का बंधन होता है।’ आचार्य शिष्यों से परेशान हो गए। उन्होंने शय्यातर को अपना अभिप्राय बताकर सुवर्णभूमि की ओर विहार कर दिया।

सुवर्णभूमि में उनके पौत्र शिष्य आर्य सागर विहार कर रहे थे। नहीं पहचानने के कारण आचार्य सागर और उनके शिष्यों ने उठकर अभिवादन नहीं किया। आचार्य ने पूछा—‘आप कौन हैं?’ कालकाचार्य ने कहा—‘मैं उज्जयिनी से आया हूँ।’ आचार्य कालक आर्य सागर के साथ एक वृद्ध के रूप में रहने लगे। आचार्य सागर को अपनी प्रज्ञा पर बहुत अभिमान था। एक बार सागर क्षमाश्रमण ने आर्य कालक से पूछा—‘वृद्ध मुने! क्या तुमको कुछ समझ में आता है?’ आचार्य कालक ने स्वीकृति में सिर हिलाया। आर्य सागर अपने शिष्यों के साथ उन्हें भी वाचना देने लगे।

उधर उज्जयिनी में प्रभातकाल में जब शिष्यों ने आचार्य कालक को नहीं देखा तो वे खोज करने लगे। उन्होंने शय्यातर से पूछा। शय्यातर ने कहा—‘आप लोग ऐसे अकृतज्ञ, प्रमादी और दुर्विनीत हैं, जो अपने गुरु के इंगित का पालन भी नहीं कर सकते।’ शय्यातर ने डांटते हुए वास्तविक बात शिष्यों को बतायी। शिष्यों को बहुत ग्लानि हुई। सभी शिष्यों ने सुवर्णभूमि की ओर प्रस्थान कर दिया। मार्ग में लोग पूछते कि यह किस आचार्य का संघ जा रहा है? साधु उत्तर देते कि यह कालकाचार्य का संघ जा रहा है। जनश्रुति से यह संवाद आर्य सागर के पास पहुंचा। इससे उन्हें प्रसन्नता हुई। उन्होंने आर्य कालक से कहा—‘मेरे गुरु के गुरु आ रहे हैं।’ कालकाचार्य ने उत्तर दिया—‘मैंने भी ऐसा सुना है’ लेकिन उन्होंने अपना वास्तविक परिचय नहीं दिया।

सभी आगतुक साधुओं ने आचार्य सागर को वंदना करके अपने आचार्य के बारे में पूछा। आर्य सागर ने शंकित होकर कहा कि कुछ दिनों पूर्व एक वृद्ध मुनि यहां आए थे लेकिन मैं आर्य कालक को आकृति से नहीं पहचानता। साधुओं ने अपने आचार्य को पहचान लिया। वे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। सभी ने गुरु से क्षमायाचना की। आर्य सागर को जब वास्तविकता ज्ञात हुई तब उन्होंने कालकाचार्य के चरणों में प्रणिपात कर क्षमायाचना की तथा आशातना के लिए मिथ्या दुष्कृत किया।

कुछ दिनों बाद आचार्य सागर ने कालकाचार्य से पूछा—गुरुदेव! मैं वाचना कैसी देता हूँ? आचार्य ने कहा—वाचना तो सुन्दर देते हो लेकिन इसके साथ गर्व मत करना। क्या पता कब-कौन सुनने आ जाए। आचार्य ने धूलिपुंज के दृष्टान्त से प्रतिबोध दिया कि जैसे अंजलि से भरी धूलि कुछ न कुछ कम होती जाती है, वैसे ही तीर्थंकर द्वारा प्रदत्त ज्ञान भी कम होता जाता है। परम्परागत होने से इसके कितने ही पर्यायों का क्षरण हो जाता है। इसी प्रकार कीचड़ पिंड को भिन्न-भिन्न स्थान पर रखने से वह कम होता जाता है। इन दोनों उदाहरणों को हृदयंगम कर प्रज्ञा का मद नहीं करना चाहिए। आर्य कालक ने समतापूर्वक प्रज्ञा परीषद सहन किया। ज्ञात होने पर भी अपने प्रशिष्य से वाचना लेते रहे लेकिन अपने आपको प्रकट नहीं किया।^१

२३. अज्ञान परीषद

गंगा के किनारे दो भाई रहते थे। दोनों भाइयों ने विरक्त होकर मुनि दीक्षा स्वीकार कर ली। उनमें एक भाई बहुश्रुत हो गया तथा दूसरा अल्पश्रुत ही रहा। बहुश्रुत मुनि साधुओं को अध्यापन कराता था। उसे अनेक बार वाचना देनी पड़ती। दिन में वह अध्यापन में व्यस्त रहता तथा रात्रि में भी वह अच्छी तरह सो नहीं पाता। एक दिन नींद के कारण परेशान होकर बहुश्रुत आचार्य ने चिंतन किया—‘अहो! मेरा भाई कितना भाग्यशाली है, जो आराम करता रहता है और रात्रि में भी अच्छी तरह सोता है। मैं कितना मंदपुण्य हूँ कि अच्छी तरह सो भी नहीं सकता।’ इस चिंतन से उनके सधन ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हुआ। चिंतन की आलोचना और प्रतिक्रमण किए बिना ही वे स्वर्गस्थ हो गए।

कालान्तर में वे देवलोक से च्युत होकर एक ग्वाले के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। क्रम से बालक बड़ा हुआ। यौवन आने पर माता-पिता ने एक सुन्दर कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। उसके एक अत्यन्त सुन्दर पुत्री थी। एक बार दोनों-पिता और पुत्री दूसरे ग्वालों के साथ घी की गाड़ी भरकर बेचने जा रहे थे। उस गाड़ी को वह कन्या हांक रही थी। अन्य ग्वालों के लड़के उसके रूप पर आसक्त हो गए और वे भी अपनी बैलगाड़ियां उसके बराबर चलाने लगे। गाड़ी चलाते हुए वे उसको बार-बार देख रहे थे। इस असंतुलन के कारण शकट उत्पथ में चलने लगे। वे सब टूट गए। इस वारदात से उन्होंने लड़की का नाम असगडा (अशकटा) रख दिया। उसका पिता असगडपिता के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस घटना से ग्वाले को वैराग्य हो गया। उसने अपनी लड़की का विवाह कर दिया। घर की सारी सम्पत्ति उसे देकर वह दीक्षित हो गया। दीक्षित होकर उसने उत्तराध्ययन के तीन अध्ययन तो सीख लिए लेकिन चौथा अध्ययन सीखते हुए पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आ गया। मुनि ने बहुत प्रयत्न किया लेकिन सफलता नहीं मिली। मुनि ने आचार्य को निवेदन किया। आचार्य ने सारी बात बताकर कहा कि अभी तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है अतः जब तक कर्म क्षीण न हो तब तक आयम्बिल करते रहो। मुनि अदीन भाव से आयम्बिल करने लगे। इस प्रकार उसने बारह वर्षों तक अदीन भाव से आयम्बिल किया और उतने काल में उत्तराध्ययन का केवल चौथा अध्ययन ‘असंख्यं’ सीखा। इस प्रकार उनका ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हो गया। उसके बाद वे बहुत ज्ञान प्राप्त करने लगे।^२

१. उनि-१२०, उशांटी.प. १२७, १२८, उसुटी.प. ५०। २. उनि-१२१ उशांटी.प. १२९, १३०, उसुटी.प. ५१।

२४. ज्ञान परीषद् (स्थूलिभद्र)

स्थूलिभद्र एक बहुश्रुत एवं चतुर्दशपूर्वी आचार्य थे। उनके गृहस्थ-काल का एक बहुत पविष्ठ मित्र था। विहार करते हुए एक बार आचार्य उनके यहां गए। मित्र घर पर नहीं था। उसकी पत्नी से आचार्य ने अपने मित्र के बारे में पूछा। महिला ने उत्तर दिया कि वे आजीविका कमाने के लिए गए हुए हैं।

जब आचार्य ने दीक्षा ली तब उनका मित्र बहुत सम्पन्न था, लेकिन तब आचार्य ने उसकी विपन्न अवस्था देखी। चारों ओर गरीबी दिखाई दे रही थी। उसके पूर्वजों ने एक खंभे के नीचे बहुमूल्य द्रव्य गाड़ रखे थे। आचार्य ने ज्ञानबल से वह गड़ा हुआ धन देख लिया। आचार्य उस खंभे की ओर हाथ कर बोले—‘यह ऐसा है, वह वैसा है।’ आचार्य के ऐसा कहने पर लोगों ने यह समझा कि घर पहले सम्पन्न था अब विपन्न है, शतित-गलित है। आचार्य अनित्यता का निरूपण करने के लिए ऐसा कह रहे हैं।

वह मित्र इधर-उधर भ्रमण कर घर लौटा। उसकी पत्नी ने आचार्य के आगमन की सारी बात बताई। महिला ने कहा—‘आचार्य ने और कुछ नहीं कहा, केवल खंभे की ओर हाथ से संकेत करके कुछ कहा।’ यह सुनकर वह वणिक पूरा रहस्य समझ गया। उसने उस स्थान को खोदा। वहां रत्नों से भरे अनेक कलश निकले। वह पुनः सम्पन्न हो गया। आचार्य अपने ज्ञान परीषद् को सहन नहीं कर सके।^१

२५. दर्शन परीषद्

वत्सभूमि में आर्य आषाढ़ नामक बहुश्रुत आचार्य थे। उनका शिष्य परिवार बहुत बड़ा था। उनके संघ में जो शिष्य कालगत होते उन्हें वे पहले भक्तप्रत्याख्यान अनशन करवाते और कहते—‘तुम देव बनकर अवश्य ही मुझे दर्शन देना।’ अनेक मुनि अनशनपूर्वक दिवंगत हुए पर कोई वापस लौट कर नहीं आया। एक बार एक अत्यन्त प्रिय शिष्य मृत्यु-शय्या पर था। आचार्य ने उसे भक्तप्रत्याख्यान कराते हुए स्नेहपूर्वक कहा—‘देवलोक में उत्पन्न होते ही शीघ्र यहां आकर दर्शन करना, ग्रमादि मत करना।’ उसने कहा—‘आऊंगा।’ मुनि दिवंगत हो गया लेकिन वह भी लौटकर नहीं आया। आचार्य ने सोचा—‘यह निश्चित है कि परलोक है ही नहीं। अनेक लोग विश्वास दिलाकर गए पर कोई वापस नहीं आया। यह कष्टपूर्ण व्रतचर्या निरर्थक है। मैंने व्यर्थ ही भोगों का परित्याग किया।’ आचार्य का मन डांवाडोल हो गया। वे उसी वेश में गण का परित्याग कर पलायन कर गए।

इसी बीच उस प्रिय शिष्य ने अवधिज्ञान से आचार्य की स्थिति को जाना। गुरु को प्रतिबोध देने हेतु उसने मार्ग में एक गांव की रचना की और सुन्दर नृत्य का आयोजन किया। नाटक को देखते हुए छह मास बीत गए। नाटक को देखते हुए आचार्य की न भूख सताती थी, न प्यास और न श्रम। देवता के प्रभाव से छह मास का काल बीतना भी उन्होंने नहीं जाना। देवता ने अपनी माया समेटी। आचार्य वहां से चले। देवता ने उनके संयम के परिणामों की परीक्षा करने हेतु षड्जीवनिकाय के

नाम से छह बालकों की विकुर्वणा की। वे बालक सब अलंकारों से अलंकृत थे। सबसे पहले आचार्य के पास पृथ्वीकाय नामक बालक आया। आचार्य ने सोचा—‘यदि मैं इसके सारे गहने ले लूं तो जीवन सुखपूर्वक बीतेगा।’ आचार्य ने बच्चे से कहा—‘तुम्हारे गहने उतारकर दे दो!’ बालक गहने देने से इन्कार हो गया। आचार्य ने उसे गले से पकड़ा। बालक भयभीत होकर बोला—‘भंते! इस भीषण अटवी में मैं आपकी शरण में आया हूँ अतः आप मेरी रक्षा करें। कहा है अनालंब का आलंबन, विपत्तिग्रस्त व्यक्ति का उद्धार तथा शरणागत की रक्षा—ये तीन रत्न हैं। इन तीनों से पृथ्वी समलंकृत है।’ आचार्य उसका गला पकड़ने लगे तब बालक बोला—‘पहले मेरी कथा सुनें फिर आपकी जो इच्छा हो वह करना।’

पृथ्वीकाय कथा सुनाते हुए बोला—एक कुंभकार मिट्टी को खोद रहा था। अचानक ऊपर की मिट्टी से वह आक्रान्त हो गया। लोगों ने पूछा—‘यह क्या है?’ कुंभकार बोला—‘जिससे मैं भिक्षा देता हूँ, देवताओं को बलि चढ़ाता हूँ, इतिहसों का संस्कार करता हूँ, वही पृथ्वी मुझे आक्रान्त कर रही है। ओह! शरण से भय उत्पन्न हो रहा है।’ इसी प्रकार आप भी मुझ शरणागत पर प्रहार कर रहे हैं।’ आचार्य ने कहा—‘बोलने में तुम बहुत पंडित दिखाई दे रहे हो’—ऐसा कहकर बलपूर्वक उसके सारे आभरण लेकर पात्र में डाल लिए।

थोड़ी देर बाद अप्काय नामक दूसरा बालक आया। वह भी आभूषणों से अलंकृत था। आचार्य ने उससे भी गहनों की मांग की। अप्काय ने एक आख्यान सुनाते हुए कहा—‘एक पाटल नामक तालाचर अनेक प्रकार की कथाएं सुनाकर आजीविका चलाता था। एक बार वह गंगा नदी को पार कर रहा था। इतने में नदी का तीव्र प्रवाह आया और वह पाटल बहने लगा। लोगों ने कहा—‘जब तक तुम बहते-बहते दूर न निकल जाओ, तब तक कुछ सुभाषित वचन तो कहो।’ उसने कहा—‘जिस पानी से बीज उगते हैं, कृषक जीवित रहते हैं, उस पानी से मैं मर रहा हूँ। ओह! शरण से भय उत्पन्न हो रहा है।’ इतना सुनने पर भी आचार्य ने उसके आभूषण उतार लिए।

तीसरा बालक तेजस्काय सामने आया। उसने भी आचार्य को एक आख्यान सुनाया। एक जंगल में एक तापस रहता था। वह प्रतिदिन अग्नि की पूजा करता, आहुति देता। एक बार उसी आग से उसकी झोंपड़ी जलकर राख हो गयी। उस तापस ने कहा—‘जिस अग्नि को मैं दिन-रात मधु-घृत से सोंचता रहा हूँ, उसी अग्नि ने मेरी पर्णशाला जला दी। शरण देने वाला भयप्रद हो गया।’ दूसरा उदाहरण सुनाते हुए उसने कहा—‘एक व्यक्ति जंगल में जा रहा था। इतने में व्याघ्र आता हुआ दिखाई दिया। उसने अग्नि की शरण ली। वह अग्नि जलाकर वहां बैठ गया। व्याघ्र अग्नि को देखकर भाग गया पर उसी अग्नि ने उसे जला डाला। जिसे शरण माना था वही अशरण हो गया।’ आचार्य ने उसके गहने लिए और उसे छोड़ दिया।

चौथे बालक का नाम था—वायुकाय। आचार्य ने उसे भी आभूषण देने के लिए कहा। उसने आनाकानी की। आचार्य ने उसे मार डालने की धमकी दी। बालक बोला—‘पहले मेरा आख्यान सुनें फिर आपकी इच्छा हो वह करना। एक युवक शक्तिसम्पन्न और शरीर-संपदा से युक्त था। एक बार उसे वायुरोग हो गया। शीतल वायु भी उसे पीड़ित करने लगी। लोगों ने पूछा—‘मित्र! पहले तुम कूदने-दौड़ने में समर्थ थे। अब तुम हाथ में दंड लेकर क्यों चलते हो? कौन से रोग से पीड़ित

हो?’ वायु रोग से पीड़ित मित्र ने कहा—‘जेठ और आषाढ़ मास में जो सुखद वायु चलती थी उसी वायु ने मेरे शरीर को तोड़ दिया। जिस वायु से सभी प्राणी जीवित रहते हैं उस वायु के अपरिमित निरोध के कारण मेरा शरीर टूट रहा है।’

इतने में पांचवां बालक वनस्पतिकाय आया। उसने कहा—‘भंते! जंगल में एक विशाल वृक्ष पर अनेक पक्षी विश्राम करते थे। उस पर पक्षियों के अनेक घोंसले थे। घोंसले में अनेक बच्चे थे। एक बार उसी वृक्ष के सहारे एक लता ऊपर उठी और पनपने लगी। धीरे-धीरे उसने सारे वृक्ष को आच्छादित कर दिया। एक दिन एक सर्प उस लता के सहारे चढ़ा और घोंसले में स्थित सभी अंडों को खा गया। तब पक्षियों ने कहा—‘हम इस वृक्ष पर रहते थे तब यह निरुपद्रव था। किन्तु मूल से लता उठी और यह शरण देने वाला वृक्ष भी भय का कारण बन गया।’ आचार्य ने उसके भी आभूषण ले लिए और उसे छोड़ दिया।

इतने में छठा बालक त्रसकाय आया। ज्योंहि आचार्य उसके आभूषण उतारने लगे वह बोला—‘गुरुवर! यह आप क्या कर रहे हैं? मैं तो आपका शरणागत हूँ। मैं आपको एक आख्यानक सुनाता हूँ। एक नगर पर शत्रु-सेना ने चढ़ाई कर दी। शत्रु-सेना से क्षुब्ध होकर नगर के भीतर रहने वाले लोगों ने बाहर वालों को भीतर घुसने नहीं दिया। अंदर वाले लोगों ने कहा—ओ मातंगो! अब तुम दिशाओं की शरण लो। जो नगर शरणस्थल था, वही भय का कारण बन रहा है। दूसरा आख्यानक सुनाते हुए उसने कहा—‘एक नगर में राजा, पुरोहित और कोतवाल तीनों ही चोर थे। जनता उनसे संतुष्ट थी। लोगों ने कहा—‘जहां राजा स्वयं चोर हो, पुरोहित भंडक हो वहां नागरिकों को वन की शरण लेनी चाहिए, क्योंकि शरण भयस्थान बन रहा है।’ दो आख्यानक सुनने पर भी आचार्य ने जब उसे नहीं छोड़ा तो उसने तीसरा आख्यानक सुनाना प्रारम्भ किया—

एक ब्राह्मण के एक पुत्री थी। वीर्य प्राप्त होने पर वह अत्यन्त रूपवती दिखलाई पड़ती थी। ब्राह्मण पिता अपनी पुत्री में आसक्त हो गया। उस चिंता में उसका शरीर कृश हो गया। ब्राह्मणी ने इस बारे में पूछा। उसने सहजता से सारी बात बता दी। ब्राह्मणी ने कहा—‘आप अधीर न बनें। मैं ऐसा उपाय करूंगी, जिससे आपका मनोरथ पूरा हो जाए।’ एक दिन ब्राह्मणी ने अपनी पुत्री से कहा—‘पुत्री! हमारे कुल की यह परम्परा है कि पुत्री का उपभोग पहले यक्ष करता है फिर उसका विवाह किया जाता है। इस मास की कृष्णा चतुर्दशी को यक्ष आएगा। तुम उसका अपमान मत करना। वहां प्रकाश भी मत रखना। लड़की के मन में यक्ष के प्रति कुतूहल जाग गया। कौतुकवश उसने दीपक पर ढक्कन दे दिया। रात को यक्ष के स्थान पर उसका पिता आया। वह उसके साथ रतिक्रीड़ा कर वहीं सो गया। लड़की ने कुतूहल-वश दीपक से ढक्कन उठाया। उसने अपने पास सोये पिता को देखा। उसने सोचा माता ने मेरे साथ छल किया है। जो कुछ होना है वह होने दो। इस समय यही पति है अतः लज्जा से क्या लाभ? वे दोनों पुनः रतिक्रीड़ा में संलग्न हो गए। सूर्योदय होने पर भी वे जागृत नहीं हुए। मां ने मागधिका में एक गीत गाया—‘उदित होते सूर्य का, चैत्य स्तूप पर बैठे कौए का तथा भीत पर आए आतप का सुख की बेला में पता नहीं चलता।’ पुत्री ने उत्तर देते हुए कहा—‘मां तुमने ही कहा था कि आए हुए यक्ष की अवमानना मत करना। यक्ष ने पिता का हरण कर लिया है अब दूसरे पिता का अन्वेषण करो।’ ब्राह्मणी ने पुनः कहा—‘जिसको मैंने

नीं भास तक गर्भ में धारण किया, जिसका मैंने मल-मूत्र धोया, उस पुत्री ने मेरे पति का हरण कर लिया। शरण मेरे लिए अशरण बन गया।'

पुनः त्रसकाय एक और कथानक कहने लगा। एक ब्राह्मण ने एक तालाब खुदवाया। उसके निकट उसने एक मंदिर और बगीचा बनवा दिया। वहां यज्ञ में बकरे मारे जाते थे। वह ब्राह्मण मरकर वहीं बकरा बना। उसके पुत्र उसी बकरे को तालाब के देवालय में यज्ञ में बलि देने के लिए ले गए। बकरे को जातिस्मृति हो गयी। वह अपनी भाषा में बुढ़बुढ़ाने लगा। उसने मन ही मन सोचा—'ओह! मैंने ही तो देवमंदिर बनाया और मैंने ही यह यज्ञ प्रवर्तित किया।' कांपते हुए बकरे को एक अतिशय ज्ञानी ने देखा। मुनि ने बकरे को कहा—'तुमने स्वयं ही तो वृक्ष रोपा और तालाब खुदवाया। अब देव के भोग का अवसर आया तब क्यों चिल्ला रहे हो?' इस बात को सुनकर वह बकरा चुप हो गया। ब्राह्मणपुत्रों ने मुनि से पूछा—'यह बकरा तुम्हारे कुछ कहने मात्र से चुप कैसे हो गया?' साधु ने कहा—'यह तुम्हारा पिता है।' उसने पूछा—'इसकी पहचान क्या है?' मुनि ने कहा—'पूर्वभवं में तुम्हारे पिता ने तुम्हारे साथ जो धन गाड़ा है, इसे यह जानता है।' बकरा उस स्थान पर गया और अपने पैरों से उस पृथ्वी को कुरेदने लगा। पुत्र को विश्वास हो गया और उसने उस बकरे को मुक्त कर दिया। साधु के पास धर्म सुनकर बकरे ने भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार किया और मरकर देवलोक गया। उस ब्राह्मण ने यज्ञ और मंदिर को शरण मानकर उनका निर्माण किया लेकिन वे अशरण ही निकले।

आचार्य ने उसकी बात सुनकर कहा तुम बोलने में अति चतुर और वाचाल हो। ऐसा कहकर आचार्य आषाढ़ उसका गला भरोड़ने लगे। उसने सुभाषित सुनाया—'जो अंधों, हीन तथा लूलों-लंगड़ों पर, बाल-वृद्ध, क्षमाशील तथा विश्वस्त जनों पर, रोगियों तथा शरणागतों पर, दुःखी, दीन तथा दरिद्रों पर निर्दयता से प्रहार करते हैं वे अपने सात कुलों को सातवीं नरक में ले जाते हैं।' तुम अति वाचाल हो, यह कहकर आचार्य ने उसके आभूषण भी ग्रहण कर लिए। देव ने सोचा—'आचार्य चरित्र से तो शून्य हो गए हैं अब इनके सम्यक्त्व की परीक्षा करनी चाहिए।' छहों के आभूषण लेकर आचार्य आगे चले। देव ने साज-श्रृंगार किए हुए एक गर्भवती साध्वी की विकुर्वणा की। विभूषित साध्वी को देखकर आचार्य आषाढ़ ने कहा—'अरे! तुम्हारे हाथों में कटक हैं, कानों में कुंडल हैं, आंखों में अंजन आज रखा है, ललाट पर तिलक है। हे प्रवचन का उड्डाह करने वाली दुष्ट साध्वी! तू कहां से आई है?' साध्वी कुपित होकर बोली—'हे आर्य! तुम दूसरों के राई और सर्पप जितने छोटे दोषों को भी देख लेते हो किन्तु अपने बिल्व जितने बड़े दोषों को देखते हुए भी नहीं देखते।' साध्वी ने आगे कहा—'आप श्रमण हैं, संयत हैं, ब्रह्मचारी हैं, कंचन और पत्थर को समान समझते हैं, वायु की भांति अप्रतिबद्धविहारी हैं। हे ज्येष्ठार्य! कृपा कर बताएं आपके पात्र में क्या हैं?' साध्वी के ऐसा कहने पर आचार्य लज्जित होकर आगे-आगे चलने लगे। आगे चलने पर उन्होंने एक सेना को आते देखा। वे दंडनायक के सम्मुख गए। दंडनायक ने हाथी से उतरकर आचार्य को वंदना की और कहा—'भंते! आज मेरा परम सौभाग्य है कि इस जंगल में आपके दर्शन हुए। आप मुझ पर अनुग्रह करें और ये प्रासुक मोदक मेरे हाथ से ग्रहण करें।' आचार्य ने उपवास की बात कहकर लेने से इंकार कर दिया। उसने बलपूर्वक पात्र ग्रहण किया और मोदक डालने लगा। झोली

में आभरण देखकर वह कुपित होकर भृकुटि चढ़ाकर बोला—'हे अनार्य! ये मेरे पुत्रों के आभरण हैं। तुमने उनको मारकर ये आभरण ग्रहण किए हैं? अभी तुम कहां जा रहे हो?' आचार्य भय से कांपने लगे और कुछ नहीं बोल सके। तत्काल देवता ने अपनी लीला समेटी और प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर बोला—'आप जैसे विशिष्ट आगमधरों के लिए ऐसा सोचना उचित नहीं है कि परलोक नहीं है। देवलोक में अपार सुख हैं अतः सुख का उपभोग करते हुए बीते हुए काल का ज्ञान नहीं हो पाता। आप भी देव द्वारा कृत नाटक छह महीने तक खड़े-खड़े देखते रहे पर आपको काल का ज्ञान नहीं हुआ।'।

आचार्य आषाढ़ परम संवेग को प्राप्त हुए और स्वयं की निंदा करने लगे। देव भी वंदना करके पुनः देवलोक चला गया। आचार्य भी आलोचना-प्रतिक्रमण करके वैराग्य की वृद्धि करते हुए विहरण करने लगे।

२६. चोल्लक

कांपिल्य नामक नगर था। वहां के राजा का नाम ब्रह्म और पटरानी का नाम चुलनी था। उनका पुत्र ब्रह्मदत्त बारहवां चक्रवर्ती बना। जब वह कुमार था तब राजा ब्रह्म की मृत्यु हो गयी। रानी चुलनी और राजा दीर्घ के आपस में प्रगाढ़ सम्बन्ध था अतः उनके भय से वह अपने मित्र वरधनु के साथ-साथ राज्य से पलायन कर गया। उस समय स्थान-स्थान पर घूमते हुए उसके सामने अनेक विपत्तियां आईं लेकिन एक कार्पटिक ब्राह्मण ने उसकी बहुत सेवा की और उसे अनेक विपत्तियों से बचाया। कालान्तर में ब्रह्मदत्त राजा बन गया।

बारह वर्ष तक अभिषेक का कार्यक्रम चला। अभिषेक की बात सुनकर कार्पटिक वहां आया पर उसे वहां आश्रय नहीं मिला। अभिषेक का बारहवां वर्ष चल रहा था। कार्पटिक ने एक उपाय सोचा। वह अपने जूतों को बांधकर ध्वजारोहकों के साथ दौड़ने लगा। राजा ने उसे देखा और निकट वाले व्यक्ति से पूछा—'यह किसकी ध्वजा लिए दौड़ रहा है।' उन्होंने कहा—'राजन्! हम नहीं जानते।' तब राजा ने उसे बुलाया। वह आया। राजा ने पहचान लिया कि यही मेरे सुख-दुःख में सहायक रहा है। राजा तत्काल हाथी से नीचे उतरा। उसे गले लगाया और कुशलक्षेम पूछा।

राजा ने कार्पटिक से कहा—'जो चाहो मांग लो।' उसने कहा—'राजन्! मैं अपनी पत्नी से पूछकर मांगूंगा।' वह अपने गांव गया। पत्नी से कहा—'राजा संतुष्ट हुआ है। मैं जो कुछ मांगूंगा, वह देगा। मैं क्या मांगूँ?' पत्नी ने सोचा, इसे यदि समृद्धि मिल जाएगी तो मेरा मूल्य कम हो जायेगा अतः वह बोली—'अधिक परिग्रह से क्या? पूरे भारतवर्ष में प्रतिदिन सबके यहां भोजन और दक्षिणा में दीनार-युगल मांग लो।' कार्पटिक राजा के पास गया और बोला—'राजन्! मुझे करचोल्लग दो अर्थात् मैं पहले दिन आपके प्रासाद में भोजन करूं फिर बारी-बारी से भारतवर्ष में आपके राज्य के सभी संध्रान्त कुलों में भोजन प्राप्त कर पुनः आपके प्रासाद में भोजन करूं।' राजा ने मुस्कराकर कहा—'इस तुच्छ याचना से तुम्हें क्या लाभ होगा? तुम चाहो तो मैं तुम्हें एक देश का राज्य अथवा

भंडार दे सकता हूँ, जिससे तुम जीवन-भर हाथी के होंदे पर सुखपूर्वक विचरण कर सको।' कार्षटिक बोला—'मुझे इतने विशाल परिग्रह से क्या करना है? मुझे इतने में ही संतोष है।' राजा ने सोचा—

जो जत्तियस्स अत्थस्स, भायणं तस्स तत्तियं होई।

बुढ़े वि दोणमेहे, न डुंगरे पाणियं ठाई॥

—जिस व्यक्ति में जितने धन की पात्रता होती है, उसे उतना ही प्राप्त होता है। भूसलाधार वर्षा होने पर भी डूंगर पर पानी नहीं ठहरता।

राजा ने करचोल्लग की बात स्वीकार कर ली। उसने पहले दिन राजा के यहां भोजन किया। राजा ने उसे दो दीनार भी दिये। अब वह बारी-बारी से नगर-कुलों में भोजन करने लगा। उस नगर में अनेक कुलकोटियां थीं। नगर के घरों में क्रमशः भोजन करता हुआ वह कब उनका अन्त ले पाएगा? उस नगर के पश्चात् सभी गांवों का तथा सम्पूर्ण भारत का क्रम वह कैसे पूर्ण कर पाएगा?

संभव है किसी उपाय या देवयोग से वह सम्पूर्ण भारत के घरों का पार पा जाए पर मनुष्य जन्म को पुनः प्राप्त करना दुष्कर है।

२७. पाशक

गोल्ल देश में चाणक्य नामक ग्राम था। वहाँ चणक नामक ब्राह्मण आश्रित था। एक बार उसके घर साधु ठहरे। ब्राह्मण के यहां दादा सहित पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम चाणक्य रखा। ब्राह्मण ने उसे साधु के चरणों में वंदना करवाई। साधुओं ने कहा—'यह राजा बनेगा।' ब्राह्मण ने सोचा यह दुर्गति में न चला जाए इसलिए उसके दांत घिस दिए। फिर भी आचार्य ने कहा—'इतने पर भी यह पूरा राजा नहीं तो बिंबांतरित राजा अवश्य बनेगा।

जब बालक चौदह वर्ष का हुआ तब चौदह विद्यास्थानों में पारंगत हो गया। श्रावक उसके अध्ययन से बहुत प्रसन्न हुआ। एक दरिद्र ब्राह्मण-कुल की कन्या के साथ चाणक्य का विवाह कर दिया गया। एक बार अपने भाई के विवाह-प्रसंग में वह पीहर गयी। उसकी अन्य बहिनों का विवाह समृद्ध घरों में हुआ था। वे सब विवाह के अवसर पर आभूषणों से अलंकृत होकर आयी थीं। परिवार के लोग उनसे आलाप-संलाप कर रहे थे। चाणक्य की पत्नी अकेली उदास बैठी रहती थी। दारिद्र्य के कारण वह अधीर हो गयी। जब वह पुनः अपने ससुराल आई तो चाणक्य ने उसकी उदासी का कारण पूछा। वह कुछ नहीं बोली केवल आंसुओं से अपने कपोल गीले करती हुई निःश्वास छोड़ती रही। चाणक्य बहुत आग्रहपूर्वक उसके दुःख का कारण पूछने लगा। उसने गद्गद वाणी से पीहर में घटित स्थिति बता दी। चाणक्य ने चिंतन किया—'निर्धनता अपमान का कारण है इसलिए पीहर में भी लड़की का ऐसा परिभव होता है। मुझे किसी भी प्रकार से धन कमाना चाहिए। पाटलिपुत्र में नंद राजा ब्राह्मणों को धन देता है अतः वहां जाना चाहिए। वहां जाकर चाणक्य कार्तिक पूर्णिमा के दिन पूर्वन्वस्त आसन पर सबसे पहले जाकर बैठ गया। वह आसन पल्लीपति के लिए बिछाया जाता था।

नंदराजा के साथ सिद्धपुत्र वहां आया और बोला—'यह ब्राह्मण नंदवंश की मर्यादा का अतिक्रमण कर बैठा है।' दासी ने तब चाणक्य से कहा—'भगवन्! आप दूसरे आसन पर बैठें।' चाणक्य ने दूसरे आसन पर कुंडिका, तीसरे पर दंड और चौथे पर गणेत्रिका (रुद्राक्ष का बना हुआ हाथ का आभूषण विशेष) तथा पांचवें आसन पर यज्ञोपवीत रख दिया। 'यह ब्राह्मण धीठ है' ऐसा कहकर नंद ने उसे बाहर निकाल दिया। चाणक्य अत्यंत क्रुद्ध होकर प्रतिज्ञा के स्वर में बोला—'नंद का कोश और भृत्यसमूह बढ़मूल है। इसका वंश और मित्र वर्ग वृद्धिगत है। मैं नंद राज्य को जैसे ही उखाड़ कर निर्मूल कर दूंगा, जैसे उग्र पवन महावृक्ष को उखाड़ देती है।'

चाणक्य वहां से उस व्यक्ति की खोज में निकला, जो उसका सहयोग कर सके। उसने अपने बारे में प्रतिज्ञा बनने की बात सुनी। नंद के मोरपोषक एक गांव में रहते थे। चाणक्य परिव्राजक के रूप में उस गांव में गया। उसी दिन गांव के मुखिया की बेटी को चांद को खीर पीते हुए देखने का दोहद उत्पन्न हुआ। वह भिक्षाटन करता हुआ वहां गया। दोहद की बात ज्ञात होने पर उसने कहा—'यदि तुम बालक मुझे दे दोगे तो मैं चांद को खीर पीता हुआ दिखा दूंगा।' मुखिया ने बात मान ली। चाणक्य ने कपड़े का तंबू ताना और उसके बीच में छेद कर दिया। उस दिन पूर्णिमा थी। आधी रात में अनेक बच्चों से मिश्रित खीर की थाली भरी और जहाँ चन्द्र का प्रतिबिम्ब उस छिद्र में से पड़ रहा था, उस पट-मण्डप के नीचे उसे रख दी। लड़की को बुलाया। उसने चांद का प्रतिबिम्ब देखा और यह भी देखा कि वह थाली से खीर पी रहा है, खा रहा है। फिर पूर्व निर्दिष्ट पुरुष ने उस छिद्र को ढंक दिया। दोहद पूर्ण होने पर कालक्रम से उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया। धीरे-धीरे वह बढ़ने लगा। वह बच्चों के साथ खेलता और आनन्द में रहता था। चाणक्य वहां से चला गया। वह नंद की घात के लिए छिद्र देखने लगा। कालान्तर में वह लौटकर वहां पर आया। उसने चन्द्रगुप्त को देखा। चाणक्य के पास शस्त्रास्त्र थे। चन्द्रगुप्त ने कहा—'हमें भी दो।' चाणक्य बोला—'कोई तुम्हें इनसे मार न दे।' चन्द्रगुप्त ने उत्तर दिया—यह पृथ्वी बीरभोग्या है। जो वीर होगा, वही इसका उपभोग कर सकेगा।

चाणक्य ने जान लिया कि इस बालक के पास शक्ति के साथ विज्ञान भी है। पूछा, यह बालक कौन है? लड़कों ने कहा—'वह परिव्राजक का पुत्र है।' तब चाणक्य ने कहा—'मैं ही हूँ वह परिव्राजक।' यह बात सुन सबको आश्चर्य हुआ। चाणक्य ने बालक से कहा—'चलो, मैं तुम्हें राजा बनाऊंगा।' वह चाणक्य के साथ चला गया। चाणक्य ने लोगों को एकत्रित कर पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। नंद ने उसको छिन्न-भिन्न कर दिया। परिव्राजक भाग गया। नंद के अश्वारोह उसके पीछे पड़े। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को एक पद्म सरोवर में छिपा कर स्वयं रजक का वेश धारण कर लिया। अश्वारोहियों ने उसे देखा। इतने में नंद का एक अश्वारोही वहां पर आया। वह जात्यश्व पर आरुढ़ था। उसने रजक वेशधारी चाणक्य से पूछा—'कहां है चन्द्रगुप्त?' चाणक्य बोला—'चन्द्रगुप्त इस पद्मसरोवर में छिपा हुआ है।' अश्वारोही ने देखा। उसने अपना वस्त्र चाणक्य को सौंप तलवार हाथ में ले ली। वह अपना कवच उतारकर जल में उतरने लगा। इतने में ही चाणक्य ने उसके हाथ से तलवार खींच कर उसके धड़ को अलग कर दिया। फिर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को पुकारा। चन्द्रगुप्त छुपे स्थान से बाहर निकला। दोनों उस जात्यश्व पर चढ़कर वहां से पलायन कर गये।

चाणक्य ने चंद्रगुप्त से पूछा—‘जिस समय मैंने तुम्हें जो कहा, क्या तुमने उस विषय में कुछ सोचा?’ उसने कहा—‘यही अच्छा हुआ। आप सब कुछ जानते हैं।’ चाणक्य ने तब मन ही मन सोचा—‘यह योग्य पुरुष है। यह कभी विपरिणत नहीं होता।’

चन्द्रगुप्त क्षुधातुर हुआ। चाणक्य उसे एक स्थान पर बिठा, स्वयं भोजन की गवेषणा करने गया। उसके मन में यह भय था कि यहां हमें कोई पहचान न ले। चलते-चलते वह एक विप्र के घर पहुंचा। विप्र घर से बाहर गया हुआ था। उसके पुत्र को स्फेदित कर घर से दही मिश्रित ओदन लेकर चाणक्य चन्द्रगुप्त के पास आया और उसकी भूख शांत की।

एक बार वे घूमते-घूमते एक गांव में आए। उन्होंने देखा कि एक घर में वृद्धा ने बर्तन में अपने पुत्रों को तरल खाद्य पदार्थ परोसा है। एक पुत्र ने खाने के लिए बीच में हाथ डाला। उसका हाथ जल गया। वह रोने लगा। वृद्धा ने कहा—‘चाणक्य के समान मूर्ख मेरे वत्स! तुम खाना भी नहीं जानते?’ चाणक्य द्वारा कारण पूछने पर वृद्धा बोली—‘गर्म चीज किनारे से खानी चाहिए फिर खाते-खाते मध्य तक पहुंचना होता है।’ उस बेटे से प्रेरणा लेकर चाणक्य हिनवंतकूट में गया। वहां पर्वतक राजा से मैत्री की। चाणक्य ने कहा—‘नंद राज्य को हम ग्रहण कर आधा-आधा बांट लेंगे।’ पर्वतक ने चाणक्य की बात स्वीकार कर ली। उसने तैयारी प्रारम्भ कर दी। परन्तु एक भी नगर हस्तगत नहीं हो रहा था। त्रिदंडी परिव्राजक चाणक्य वहां गया। इन्द्रकुमारियों को देखा। उसने सोचा कि इनकी तेजस्विता के कारण नगर का पतन नहीं हो रहा है। उसने छल-कपट कर उन इन्द्रकुमारियों को वहां से बाहर निकाल दिया। नगर हस्तगत हो गया। फिर उसने पाटलिपुत्र नगर पर आक्रमण किया। नंद ने धर्मद्वार मांगा। चन्द्रगुप्त ने कहा—‘एक रथ में जितना ले जा सको, ले जाओ।’ नंद तब अपनी दो पत्नियों, एक कन्या तथा कुछ धन लेकर बाहर निकल गया। रथ में पलायन करते समय वह नंद-कन्या बार-बार चन्द्रगुप्त की ओर देखने लगी। तब नंद बोला—‘जा तू उसी के पास चली जा। वह नंद के रथ से उतरी और ज्योंही चन्द्रगुप्त के रथ पर आरूढ़ हुई, उसी समय उस रथचक्र के नौ अर टूट गए। चन्द्रगुप्त ने अमंगल मानकर उसे निवारित करना चाहा। तब चाणक्य बोला—‘अरे ! इसे मत रोको। नौ पुरुषयुगों तक तुम्हारा वंश चलेगा।’ यह सुनकर चंद्रगुप्त ने उस नंदकन्या को स्वीकार कर लिया। वह उसके अंतःपुर में चली गई।

नंद राज्य के दो भाग कर दिए गए। एक भाग में एक विषकन्या रहती थी। महाराज पर्वतक ने उस भाग की इच्छा की। उसे वह मिल गया। पर्वतक उस रूपवती विषकन्या के प्रेमजाल में फंस गया। अग्नि के स्पर्श की भांति विष के प्रभाव से वह मरने लगा। पर्वतक ने चंद्रगुप्त से कहा—‘मित्र ! मैं मर रहा हूँ।’ चन्द्रगुप्त ने उसे विषमुक्त करने का प्रयत्न किया। तब चाणक्य ने भृकुटि तानकर इस नीतिवाक्य का स्मरण कराते हुए कहा—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं, मर्मज्ञं व्यवसायिनम्।

अर्द्धराज्यहरं भृत्यं, यो न हन्यात् स हन्यते॥

‘वत्स ! इस नीतिवचन को याद रखो। जिसका प्रयोजन समान हो, अथवा ऐश्वर्य की समानता हो, जो समान बल वाला हो, मर्मज्ञ हो, पुरुषार्थ करने वाला हो, आधा राज्य लेने वाला

हो, उसकी यदि घात न की जाए तो व्यक्ति स्वयं मारा जाता है।' यह सुनकर चंद्रगुप्त अपने विचारों से विरत हो गया। महाराज पर्वतक मर गया। नंद का पूरा राज्य चंद्रगुप्त के अधीन हो गया।

नंद के अनुचर चोरी के आधार पर आजीविका चलाते थे। वे राजद्रोह करते थे। चाणक्य एक उग्र चोरग्राह (चोरों को पकड़ने वाला) की खोज में था। वह नगर के बाहर गया। वहां नलदाम जुलाहे को देखा। उसके पुत्र की एक मकोड़े ने खा लिया। उसने कुपित होकर मकोड़े का बिल खोदकर अग्नि जलाकर सब मकोड़ों को नष्ट कर दिया। चाणक्य ने यह दृश्य देखा। उसने सोचा कि यह श्रेष्ठ चोरग्राह बन सकता है। चाणक्य ने उसे बुलाया और ससम्मान आरक्षक बना दिया। सबसे पहले नलदाम ने उन चोरों का विश्वास प्राप्त किया। भोजन, पानी आदि के उपचार से उन्हें विश्वस्त कर दिया। एक बार उन सबको सकुटुम्ब भोजन पर बुलाया और सबको मरवा दिया। राज्य निष्कण्टक हो गया।

कोश को समृद्ध करने के लिए चाणक्य ने समृद्ध लोगों के साथ मद्यपान करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय विशेष वाद्य बजने लगे। वह सबमें भय पैदा करने के लिए नाचते हुए गाने लगा—

दो मज्झ धाउरत्ताई, कंचणकुंडिया तिरदंडं च।

राया वि मे वसवत्ती, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥

मेरे दो भगवा वस्त्र हैं—कंचन कुंडिका तथा त्रिदंड। राजा भी मेरे वशवर्ती है। यहां मद्यपान करते समय भी होल नामक वाद्य बजना चाहिए।

दूसरा व्यक्ति इन वचनों को सहन नहीं कर सका। वह अपनी क्रुद्धि को प्रदर्शित करते हुए नाचते हुए बोला—

गयषोयथस्स मत्तस्स, उप्पइयस्स य जोयणसहस्सं।

पए पए सयसहस्सं, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥

मत्त हस्तिशावक जो सहस्र योजन तक जा चुका है। उसके एक-एक पग पर हजार-हजार मुद्राएं देता हूँ। इस पर भी होल नामक वाद्य बजना चाहिए।

तीसरा व्यक्ति बोला—

तिलआढयस्स वुत्तस्स, निष्कन्नस्स बहुयसइयस्स।

तिले-तिले सयसहस्सं, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥

मैंने एक आढक तिल बोए। उससे अनेक शत आढक तिल निष्पन्न हुए। एक-एक तिल पर एक-एक लाख की मुद्रा देता हूँ। यहां भी होल नामक वाद्य बजना चाहिए।

चौथा व्यक्ति बोला—

णवपाडसम्भि पुन्नाए गिरिनदियाए सिग्घवेगाए।

एगाह महियमेत्तेण, नवणीएण पालिं बंधामि ॥

एत्थ वि ता मे होलं वाएहि।

वर्षाकाल पूर्ण हो जाने पर पर्वतीय नदियों के शीघ्रगामी प्रवाह को रोकने के लिए मैं नवनीत की पाल बांधता हूँ। इस पर भी होल नामक वाद्य बजना चाहिए।

पांचवां व्यक्ति बोला—

जच्चाण णवकिसोराण, तद्विसेण जायमेत्ताण।
केसेहि नभं छाएमि, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥

तत्काल उत्पन्न जात्य अश्व किशोरों के केशों से मैं नभ को आच्छादित कर देता हूँ। इस पर भी होल नामक वाद्य बजना चाहिए।

छठा व्यक्ति बोला—

दो मज्झ अत्थि रयणाइं, सालिप्रसूई य गद्भीया य।
छिन्ना छिन्ना वि रुहंति, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥

मेरे पास दो रत्न हैं—सालिप्रसूति और गर्दभिका (विद्याविशेष), जो काट लेने पर भी बार-बार उगते रहते हैं। इस पर भी होल नामक वाद्य बजना चाहिए।

सातवां व्यक्ति बोला—

सय सुविकल निच्चसुयंधो, भज्ज अणुल्लव्य णत्थि पवासो।
निरिणो य दुपंचसओ, एत्थ वि ता मे होलं वाएहि ॥

मुझे सदा श्वेत शालि धान का भोजन मिलता है। पत्नी अनुगामिनी है। प्रवास नहीं है। ऋण-मुक्त हूँ। पास में हजार स्वर्णमुद्राएं हैं। यहां भी होल नामक वाद्य बजना चाहिए।

चाणक्य ने यह सब सुना। सबसे यथोचित धन की याचना की। शालि से कोष्ठागार भर दिए, जिनके प्रभाव से बार-बार काटने पर भी खेती ज्यों की त्यों बनी रहती थी। एक दिवसजात अश्वों की मांग की। एक दिवसीय नवनीत मांगा। स्वर्ण-उत्पादन के लिए चाणक्य ने यंत्रमय पाशक बनाए। एक दक्ष व्यक्ति को पाशे चलाने सिखा दिए। उसने दीनारों से एक थाल भरा। वह दक्ष व्यक्ति थाल को लिए घोषणा करने लगा—'जो कोई मुझे जुए में जीत लेगा, मैं उसे दीनारों से भरा यह थाल दे दूंगा। यदि मैं जीतूंगा तो केवल एक दीनार लूंगा।' लोग लोभाविल हो उसके साथ जुआ खेलने लगे। दक्ष पुरुष की इच्छानुसार पाशे गिरते। सदा वही जीतता। कोई उसे पराजित नहीं कर सका।

कदाचित् कोई उस दक्षपुरुष को पाशे में जीत भी सकता है पर दुर्लभ मनुष्य जन्म पुनः मिलना दुर्लभ है।^१

२८. धान्य

भरत क्षेत्र के सभी धान्यों को पिंडित करके ढेर लगा दिया। उसमें एक प्रस्थ सरसों के दाने डाल दिए। वृद्धा सूर्य लेकर सरसों के दानों को अलग करने लगी। क्या वह पुनः सारे सरसों

के दानों को पृथक् कर पाएगी? दिव्यप्रसाद से वह वृद्धा दानों को पृथक् कर भी ले परन्तु पुनः मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुष्कर है।^१

२९. द्यूत

एक राजा था। उसका सभामंडप एक सौ आठ खंभों पर आभूत था। एक-एक खंभा एक सौ आठ कोणों से युक्त था। एक बार राजकुमार का मन राज्य-लिप्सा से आक्रान्त हो गया। उसने सोचा—'राजा वृद्ध हो गया है अतः उसे मारकर राज्य ग्रहण कर लूंगा।' अमात्य को यह बात ज्ञात हो गयी। उसने राजा को इस बात की अवगति दी। राजा ने सोचा—'लोभ से आक्रान्त व्यक्ति के लिए कुछ भी अकरणीय नहीं होता।' राजा ने अपने पुत्र को बुलाकर कहा—'हमारे वंश की परम्परा है कि जो राजकुमार राज्य-प्राप्ति के अनुक्रम को सहन नहीं करता उसे जुआ खेलना होता है और उस जुए को जीतने पर ही उसे राज्य प्राप्त हो सकता है। जीतने का क्रम यह है कि जुए में एक दांव तुम्हारा होगा और शेष दांव हमारे होंगे। यदि तुम एक दांव में एक सौ आठ खंभों के एक एक कोण को एक सौ आठ बार जीत लोगे तो राज्य तुम्हारा हो जाएगा।'

ऐसा होना संभव नहीं है, फिर भी यदि देव-योग से ऐसा हो जाए और राजकुमार जीत जाए तो भी विनाश मनुष्य जन्म पुनः प्राप्त होना अत्यन्त दुष्कर है।^२

३०. रत्न

एक वृद्ध वणिक् के पास अनेक रत्न थे। उसी नगर में अन्य अनेक कोट्याधीश वणिक् थे, जिनके मकानों पर पताकाएं फहराती थीं। उस वणिक् के घर पर पताकाएं नहीं फहराती थीं। एक बार वृद्ध देशान्तर चला गया। वृद्ध के जाने पर पुत्रों ने सारे रत्न विदेशी व्यापारियों को बेच डाले। पुत्र खुश थे कि हमारे घर पर भी पताकाएं फहरेंगी। वृद्ध देशान्तर से आया और रत्नों के विक्रय की बात सुनकर चिंतित हो गया। उसने पुत्रों का डांटा और कहा—'बेचे हुए सारे रत्न शीघ्र ही वापिस लेकर आओ।' पुत्र परेशान हो गए, क्योंकि उन्होंने सारे रत्न परदेशी व्यापारियों को बेचे थे। व्यापारी फारस आदि देशों में वापिस लौट गए थे। पुत्र रत्नों को एकत्रित करने इधर-उधर घूमने लगे। जैसे व्यापारियों से रत्न एकत्रित करना असंभव था वैसे ही मनुष्य जन्म पुनः प्राप्त करना असंभव है।^३

३१. स्वप्न

उज्जयिनी नगरी में सभी कलाओं में कुशल, अनेक विज्ञान में निपुण, उदारचित्त, कृतज्ञ, शूरवीर, गुणानुरागी, प्रियवादी, दक्ष तथा रूप-लावण्य से युक्त मूलदेव नामक राजपुत्र रहता था। वह द्यूत व्यसन के कारण पिता द्वारा अपमानित होकर पाटलिपुत्र से भ्रमण करता हुआ उज्जयिनी आया। उज्जयिनी में गुटिका के प्रयोग से वामन रूप बनाकर, वेश परिवर्तन कर विचित्र कथाओं, गंधर्व आदि कलाओं तथा अनेक कौतुकों से वह लोगों को विस्मित करने लगा। लोगों में उसकी बहुत प्रसिद्धि हो गई।

उज्जयिनी नगरी में रूप-लावण्य और विविध कलाओं से गर्वित देवदत्ता नामक प्रधान गणिका रहती थी। मूलदेव ने लोगों से सुना कि वह आत्मगर्विता गणिका किसी सामान्य व्यक्ति से प्रसन्न नहीं होती। मूलदेव ने कुतूहलवश गणिका को विचलित करने के लिए प्रातःकाल उसके घर के समीप मधुर-स्वरों में आरोह-अवरोह के साथ गायन प्रारम्भ कर दिया। देवदत्ता ने उस संगीत को सुना। उसने सोचा—‘अहो! यह तो अपूर्व ध्वनि है, विशिष्ट ध्वनि है। यह कोई दिव्य पुरुष होना चाहिए। मनुष्य का ऐसा मधुर स्वर नहीं हो सकता।’ उसने अपने दासियों को गायक पुरुष की खोज में भेजा। दासियों ने वामन रूप मूलदेव को देखा। उन्होंने सारी बात देवदत्ता को बताई। मूलदेव को बुलाने के लिए देवदत्ता ने माधवी नामक कुब्जा दासी को भेजा। दासी ने विनयपूर्वक मूलदेव से कहा—‘भो महासत्त्व! हमारी स्वामिनी देवदत्ता ने आपको संदेश भिजवाया है कि आप हमारे घर पधारने की कृपा करें।’ मूलदेव ने उस निपुण कुब्जा दासी से कहा—‘नीतिकारों का वचन है कि विशिष्ट लोगों को वेश्याओं के साथ सम्पर्क नहीं रखना चाहिए अतः गणिका के यहां जाने का मेरा कोई प्रयोजन नहीं है और न ही अभिलाषा है। कुब्जा दासी ने अपने वाक् कौशल से मूलदेव का चित्त प्रसन्न कर लिया और आग्रहपूर्वक हाथ पकड़कर घर ले जाने लगी। चलते-चलते वामन रूपधारी मूलदेव ने कला-कुशलता और विद्याप्रयोग द्वारा हस्त-ताड़न से उस कुब्जा को स्वस्थ बना दिया। उसका कुब्जपना मिटा दिया। विस्मय से क्षिप्त चित्तवाली कुब्जा दाम्नी मूलदेव को भवन में ले गई। देवदत्ता ने अपूर्व लावण्यधारी उस वामनरूप मूलदेव को देखा। देवदत्ता वेश्या ने विस्मित होकर उसे आसन और ताम्बूल दिया। वह आसन पर बैठ गया। माधवी ने देवदत्ता को अपना परिवर्तित रूप बताया और पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुनकर देवदत्ता अत्यन्त विस्मित हुई। अब देवदत्ता और मूलदेव दोनों में परस्पर मधुर और पांडित्यपूर्ण संलाप शुरू हो गया। मूलदेव ने उसके हृदय को आकृष्ट कर लिया।

इसी बीच एक वीणावादक वहां आया और वीणा बजाने लगा। देवदत्ता उसे सुनकर अत्यन्त अनुरक्त हो गयी। देवदत्ता ने कहा—‘अरे वीणावादक! तुम्हारी वीणावादन की कला बहुत सुन्दर है।’ मूलदेव ने व्यंग्य में कहा—‘उज्जयिनी के लोग बहुत निपुण हैं, जो सुन्दर और असुन्दर का विवेचन कर सकते हैं।’ देवदत्ता ने कहा—‘इसमें हानि क्या है?’ मूलदेव ने कहा—‘इस वीणा का बांस अशुद्ध है तथा तंत्री सगर्भा है।’ देवदत्ता ने विस्मय से पूछा—‘यह तुमने कैसे जाना?’ मूलदेव ने कहा—‘मैं अभी दिखाता हूं।’ देवदत्ता ने वीणा मूलदेव के हाथ में थमा दी। मूलदेव ने बांस से पत्थर के टुकड़े को निकाला। फिर तंत्री से बाल निकालकर वीणा बजाने लगा। मूलदेव ने परिजन सहित देवदत्ता को अपने अधीन कर लिया। पास में ही एक हथिनी बंधी हुई थी। वह सदा चिंघाड़ती रहती थी। वह भी वीणा के स्वर सुनकर उत्कर्ण हो गयी। देवदत्ता और वीणावादक—दोनों ही अत्यधिक विस्मित हुए। देवदत्ता ने सोचा—‘यह प्रच्छन्न वेश में विश्वकर्मा है।’ देवदत्ता ने वीणावादक को पारितोषिक देकर भेज दिया। भोजन-बेला आई। देवदत्ता ने कहा—‘अंगमर्दक को बुलाओ। हम दोनों— मैं और मूलदेव अपना अंगमर्दन करवाएंगे।’ मूलदेव ने देवदत्ता से कहा—‘मुझे आज्ञा दें, मैं ही आपका अभ्यंगन करूं।’ देवदत्ता ने पूछा—‘क्या तुम अंग-मर्दन भी जानते हो?’ मूलदेव ने

कहा—‘मैं भलीभाँति तो नहीं जानता लेकिन अंगमर्दन के ज्ञाता लोगों के पास रहा हूँ।’ दासी चंपक का तैल लेकर आई। मूलदेव ने अभ्यंगन प्रारम्भ कर दिया। वह मूलदेव के वशवर्ती हो गयी।

देवदत्ता ने सोचा—‘अहो इसके पास विज्ञान का अद्भुत अतिशय है। इसकी हथेली का स्पर्श भी अपूर्व है। वह निश्चित ही प्रच्छन्न रूप से सिद्धपुरुष होना चाहिए। प्रकृति से इस रूप वाले का इतना प्रकर्ष नहीं हो सकता अतः इसके मूल रूप को प्रकट करवाऊँगी।’ देवदत्ता मूलदेव के चरणों में गिर पड़ी और बोली—‘महानुभाव ! आपके असाधारण गुणों से ही मैंने आपको पहचान लिया है कि आप उत्तमपुरुष हैं, वात्सल्ययुक्त हैं तथा उदार हैं अतः आप अपना मूल रूप प्रकट करें। आपके मूल रूप का दर्शन करने हेतु मेरा हृदय अत्यंत उत्कण्ठित है।’ बहुत अधिक आग्रह करने पर मुस्कराकर मूलदेव ने वेश-परावर्तिनी गुटिका निकाली। गुटिका के प्रयोग से वह मूल रूप में आ गया। सूर्य के समान दीप्ता तेज, कामदेव के समान मोहित रूप तथा नव यौवन और लावण्य से युक्त उस मूलदेव को सबने देखा। हर्ष के कारण रोमांचित होकर देवदत्ता मूलदेव के चरणों में पुनः गिर पड़ी। देवदत्ता बोली—‘आपने अपने हाथों से अभ्यंगन किया वह मुझ पर अत्यंत कृपा की है।’ स्नान करने के बाद दोनों ने अच्छी तरह भोजन किया, देवदूष्य पहना और वार्तालाप करने एक स्थान पर बैठ गए। देवदत्ता ने कहा—‘महाभाग ! तुमको छोड़कर कोई भी दूसरा पुरुष मेरे मन को अनुरंजित नहीं कर सका।’ नोतिविदों ने यह सच ही कहा है—

नयणेहि को न दीसइ?, केण समाणं न होति उल्लवा।

हिययाणंदं जं पुण, जणेइ तं माणुसं विरलं॥

‘आंखों से कौन दिखाई नहीं देता? किसके साथ आलाप-संलाप नहीं होता? किन्तु हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाला पुरुष विरल ही होता है। मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि आप प्रतिदिन मेरे घर आया करें।’ मूलदेव ने कहा—‘गुणानुरागिणी देवी ! अन्य देश से आए मुझ जैसे निर्धन से प्रतिबद्धता रखना आपके लिए शोभास्पद नहीं है। ऐसा स्नेह स्थिर नहीं रहता है क्योंकि सभी व्यक्ति प्रयोजनवश ही स्नेह करते हैं।’ देवदत्ता बोली—‘सत्पुरुषों के लिए स्वदेश और परदेश जैसा कुछ नहीं होता अतः आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।’ देवदत्ता का आग्रह देखकर मूलदेव ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उन दोनों का आपस में स्नेहयुक्त संबंध हो गया।

एक बार देवदत्ता ने राजा के समक्ष अपना नृत्य प्रस्तुत किया। उसमें मूलदेव ने वाद्य बजाए। राजा उससे बहुत संतुष्ट हुआ और एक वरदान दिया। देवदत्ता ने राजा से कहा—‘आप मेरा यह वरदान धरोहर के रूप में रखें। समय आने पर मांगूंगी।’

मूलदेव अत्यन्त द्यूत व्यसनी था। वह पहनने के कपड़े भी दाँव पर लगाने से नहीं चूकता था। देवदत्ता ने अनुनयपूर्वक मधुर स्वर में मूलदेव को कहा—‘प्रियतम ! चन्द्रमा में कलंक की भाँति तुम इस व्यसन को क्यों धारण किए हुए हो? तुम सब गुणों से अलंकृत हो पर द्यूत रूप कलंक से कलंकित हो। द्यूत सभी दोषों का घर है अतः मेरे आग्रह से तुम इस व्यसन को पूर्ण रूप से छोड़ दो।’ द्यूत में अत्यधिक रस होने के कारण मूलदेव उसे छोड़ नहीं सका।

देवदत्ता के प्रति वहाँ का निवासी अचल नामक सार्धवाह-पुत्र भी अत्यधिक आग्रह था।

वह देवदत्ता को इच्छानुसार वस्तुएं देता था। समय-समय पर वस्त्र-आभरण आदि भी भेजता रहता था। वह मूलदेव के प्रति प्रेम्ण रखता था। वह निरन्तर उसके दोष खोजने की ताक में रहता था। उसके कारण मूलदेव अवसर के बिना देवदत्ता के घर नहीं जा सकता था। देवदत्ता की मां ने अपनी पुत्री से कहा—‘बेटी ! इस मूलदेव को छोड़ दे। इस निर्धन से तुम्हारा कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है। वह उदार महानुभाव अचल बार-बार तुम्हारे लिए विविध प्रकार की सामग्री भेजता है अतः पूर्ण प्रणय से उसी को अंगीकार करो। एक ही म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती। अलूणी शिला को कोई नहीं चाटता। इसलिए तू जुआरी मूलदेव को छोड़ दे।’ देवदत्ता ने कहा—‘अम्मा ! मैं एकान्त रूप से धन की अनुरागिनी नहीं हूँ। मेरी प्रतिबद्धता गुणों के साथ है।’ मां ने पूछा—‘उस जुआरी में ऐसे क्या गुण हैं, जिससे तू उस पर इतनी आसक्त है?’ देवदत्ता ने कहा—‘मां ! वह गुणों का भण्डार है। वह धीर, उदारचरित, अनुकूल, कलानिपुण, प्रियभाषी, कृतज्ञ, गुणानुरागी और विशेषज्ञ है अतः मैं उसे नहीं छोड़ सकती।’ कुट्टिनी ने अनेक दृष्टान्तों से देवदत्ता को प्रतियोध दिया कि जो अलक्तक मांगने पर नीरस वस्तु देता है, इक्षुखंड मांगने पर उसके छिलके मात्र देता है, फूल मांगने पर वृन्तमात्र देता है। वह जैसा है वैसा ही तुम्हारा प्रियतम है फिर भी तुम उसको नहीं छोड़ रही हो।’ देवदत्ता ने सोचा—‘मेरी मां मूढ़ है, इसीलिए ऐसे दृष्टान्त दे रही है।’

एक दिन देवदत्ता ने अपनी मां से कहा—‘मां ! आप अचलकुमार से इक्षु मंगवाएं।’ उसने अचल को इक्षु लाने को कहा। अचल ने शकट भरकर इक्षु भेज दिए। देवदत्ता ने कहा—‘क्या मैं हथिनी हूँ जो इस प्रकार के पत्तों और डालों से युक्त प्रभूत इक्षु भेजे हैं।’ देवदत्ता की मां ने कहा—‘पुत्री ! अचलकुमार बहुत उदार है इसीलिए उसने शकट भरकर इक्षु भेजे हैं। उसने यह भी सोचा होगा कि वह दूसरों को भी इक्षु बाँटेगी इसलिए प्रभूत इक्षु-दंड भेजे हैं।’

दूसरे दिन देवदत्ता ने अपनी दासी माधवी से कहा—‘हले ! जाकर मूलदेव को कहो कि मेरी इक्षु खाने की इच्छा हो रही है अतः वह इक्षु भेजे।’ दासी ने जाकर सारी बात बताई। मूलदेव ने बाजार में जाकर दो इक्षुदंड खरीदे। उसको छीलकर उसने दो-दो अंगुल प्रमाण टुकड़े किए। इलायची से उन्हें सुगंधित किया। कपूर आदि द्रव्यों से उन्हें वासित किया। एक शूल से थोड़ा छेद करके उन्हें माला के रूप में भागों में पिरो दिए। एक वर्तन में उन्हें रखकर ढक्कन देकर देवदत्ता के पास भेज दिए। माधवी ने वे इक्षुखंड देवदत्ता को उपहृत किए। देवदत्ता ने उन इक्षु खंडों को अपनी मां को दिखाते हुए कहा—‘देखो मां ! दोनों पुरुषों में कितना अंतर है? गुणों के कारण ही मैं मूलदेव पर अनुरक्त हूँ।’ मां ने सोचा—‘यह मूलदेव पर अत्यंत अनुरक्त है अतः यह स्वयं उसे नहीं छोड़ेगी। मुझे कोई न कोई उपाय करना चाहिए, जिससे यह कामुक यहां से चला जाए।’ उसने अचल से कहा—‘तुम बहाना बनाकर ग्रामान्तर जाने की बात देवदत्ता को कहो। फिर मूलदेव के यहां आने पर अपने लोगों के साथ यहां आकर उसका अपमान करो। अपमानित होने पर वह देश-त्याग कर देगा। फिर तुम देवदत्ता के साथ ही रहना। मैं तुम्हें सारी सूचनाएं भेज दूंगी।’ अचल ने यह बात स्वीकार कर ली। दूसरे दिन उसने वैसा ही किया। वह ग्रामान्तर जाने के बहाने घर से निकल पड़ा। मूलदेव निर्भय होकर देवदत्ता के यहां आया। देवदत्ता की मां ने अचल को मूलदेव के आगमन की बात कहलवा दी। वह अपनी साधन-सामग्री के साथ वहां आ गया। देवदत्ता ने अचल

को अपने भवन में प्रवेश करते देखा। उसने मूलदेव से कहा—‘प्रतीत होता है कि मां ने अचल द्वारा प्रेषित सामग्री स्वीकार कर ली है अतः तुम कुछ क्षणों के लिए पलंग के नीचे छिप जाओ।’ वह पलंग के नीचे छिप गया। अचल ने उसे पलंग के नीचे छिपते देख लिया। अचल पलंग पर बैठ गया और देवदत्ता से बोला—‘स्नान की सामग्री तैयार करवाओ।’ देवदत्ता ने कहा—‘ठीक है, तुम उठो और अपने कपड़े उतारो जिससे शरीर में तेलमर्दन किया जा सके। अचल बोला—‘आज मैंने स्वप्न देखा है कि कपड़े पहनकर ही मैंने तेलमर्दन करवाया है तथा पलंग पर आरूढ़ होकर ही स्नान किया है। इसलिए मेरे इस स्वप्न को सत्य करो।’ देवदत्ता ने कहा—‘इससे यह बहुमूल्य रूई का गद्दा और तकिया नष्ट हो जाएगा। अचल ने कहा—‘मैं तुमको इससे भी अधिक विशिष्ट और कीमती बिछौना ला दूंगा। देवदत्ता की मां ने कहा—‘ठीक है, तुम्हारी इच्छा पूरी करो।’ अचल ने वहाँ पलंग पर बैठकर अंगमर्दन और उबटन करवाया तथा गर्म पानी से स्नान किया। नीचे बैठा मूलदेव पानी से भीग गया। तत्काल आयुध ग्रहण किए हुए अनेक पुरुष वहाँ आ गये। देवदत्ता की मां ने अचल को मूलदेव का संकेत कर दिया। उसने मूलदेव के बालों को पकड़कर बाहर निकाला और कहा—‘अरे ! बोल इस समय तेरा कोई शरण है?’ मूलदेव ने अपने चारों ओर देखा। तीक्ष्ण तलवारों को हाथ में लिए अनेक मनुष्य उसे घेरे हुए थे। उसने सोचा—‘मैं आज इन लोगों से बच नहीं सकता अतः मुझे वैर-निर्यातन—वैर-शुद्धि कर लेनी चाहिए। मैं इस समय निःशस्त्र हूँ अतः यह पौरुष दिखाने का अवसर नहीं है।’ मूलदेव ने चिंतन करके कहा—‘जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो।’ अचल ने सोचा—आकृति से तो यह कोई उत्तम पुरुष प्रतीत होता है। संसार में महापुरुष भी व्यसन से आक्रान्त हो जाते हैं। कहा भी है—‘संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है, जो सदा सुखी है, किस व्यक्ति के पास लक्ष्मी स्थिर रही है? कौन ऐसा व्यक्ति है, जिससे स्खलना नहीं होती? कौन ऐसा है जो विधि-भाग्य के द्वारा दुःखी या कदर्थित न हुआ हो?’ अचल ने कहा—‘मूलदेव ! मैं तुम्हें इस अवस्था में मुक्त कर रहा हूँ। भाग्यवश मैं भी कभी ऐसी विपत्ति में फँस जाऊँ तो तुम भी ऐसा ही बर्ताव करना।’

तब मूलदेव दुःखी मन से नगर के बाहर चला गया। उसने सोचा, ओह ! किस प्रकार मैं अचल से छला गया हूँ। उसने सरोवर में स्नान किया और कुछ खाया-पीया। मूलदेव ने चिंतन किया कि मैं विदेश जाऊँ। वहाँ जाकर इस अपमान का प्रतिकार करूँ। वह वेन्नातट की ओर चला। ग्राम, नगर आदि के मध्य से जाते हुए वह बारह थोड़न लम्बी अटवी के पास पहुँचा। उसने सोचा कि यदि चलते हुए कोई वाग्मित्र मिल जाए तो सुखपूर्वक अटवी पार हो जाए। थोड़ी देर में वहाँ विशिष्ट आकृति वाला, पाथेय हाथ में लिए हुए ‘टक्क’ ब्राह्मण मिला। मूलदेव ने पूछा—‘अरे ब्राह्मण ! कितनी दूर जाओगे?’ उसने कहा—‘अटवी के परे वीरनिधान नामक गांव है, वहाँ जाऊँगा।’ ब्राह्मण ने पूछा—‘तुम कहां जाओगे?’ मूलदेव ने कहा—‘मैं वेन्नातट पर जाऊँगा।’ ब्राह्मण ने कहा—‘आओ, हम दोनों साथ चलें।’ मध्याह्न के समय चलते हुए उन्होंने एक सरोवर देखा। टक्क ब्राह्मण ने कहा—‘यहां क्षणभर विश्राम कर लें।’ वे पानी के पास गए और हाथ-पैर धोए। मूलदेव नदी के किनारे स्थित वृक्ष की छाया में बैठ गया। टक्क ब्राह्मण ने अपना पाथेय का थैला खोला और सत्तू को पात्र में डाला। उसको जल में घोलकर वह खाने लगा। मूलदेव ने सोचा—‘यह ब्राह्मण जाति

भूखप्रधान होती है।' ब्राह्मण खाना खाकर अपनी पोटली बांधकर आगे चलने लगा। 'यह मध्याह्न में मुझे देगा' ऐसा सोचकर मूलदेव उसके पीछे-पीछे चलने लगा। दोपहर को उसने खाना खाया पर मूलदेव को नहीं दिया। 'यह कल मुझे कुछ खाने को देगा' इस आशा से मूलदेव आगे चला। आगे चलते हुए रात हो गयी। रास्ता पार कर वे एक वटवृक्ष के नीचे सो गए। प्रातःकाल पुनः प्रस्थान किया। मध्याह्न में वे थक गए। टक्क ने भोजन किया लेकिन मूलदेव को नहीं दिया। तीसरे दिन मूलदेव ने सोचा कि अब तो अटवी लगभग पार हो गयी है, आज तो यह अवश्य मुझे कुछ खाने के लिए देगा। किन्तु ब्राह्मण ने कुछ नहीं दिया। उन लोगों ने अटवी पार कर ली। ब्राह्मण ने कहा—'दोनों के अलग-अलग मार्ग आ गए हैं, यह तुम्हारा मार्ग है और यह मेरा अतः तुम इस मार्ग से चले जाओ।' मूलदेव ने कहा—'ब्राह्मणदेव! मैं आपके प्रभाव से यहां तक आ गया हूँ। मेरा नाम मूलदेव है। यदि आपका कोई प्रयोजन मेरे से सिद्ध हो तो वेनातट पर आ जाना।' मूलदेव ने पूछा—'आपका नाम क्या है?' ब्राह्मण ने कहा—'मेरा नाम सद्धड़ (श्राद्ध) है। लोगों के द्वारा मेरा नाम निर्घृणशर्मा किया गया है।

ब्राह्मण अपने गांव चला गया। मूलदेव भी वेनातट की तरफ चला गया। इसी बीच उसने एक बस्ती देखी। वह भिक्षा के लिए पूरे गांव में घूमा। उसे उड़द के अलावा कोई धान्य नहीं मिला। वह जलाशय की तरफ गया। वहां उसने तपस्या से कृशदेह, मासखमण का पारणा करने के लिए आने वाले एक महातपस्वी को देखा। तपस्वी को देखकर मूलदेव अत्यधिक हर्षित हुआ। मूलदेव ने सोचा—'अहो, मैं कृतार्थ हूँ, जो इस तपस्वी के आज दर्शन हुए हैं। अब अवश्य ही मेरे जीवन का कल्याण होगा। जैसे मरुस्थल में कल्पवृक्ष, दरिद्र के घर स्वर्ण-वृष्टि, मातंग के घर ऐरावत का होना सौभाग्य है, वैसे ही यहां मुनि के दर्शन मेरे लिए अत्यन्त कल्याणप्रद हैं। ये साधु ज्ञान, दर्शन से युक्त तथा स्वाध्याय, ध्यान और तप में निरत हैं अतः ये सुपात्र हैं। इनको दान देना अनन्त सौभाग्य का कारण है। आज अवसर है अतः मैं यह उड़द का भोजन इन्हें दूंगा। इस गांव में कोई दाता नहीं है, इसीलिए ये महात्मा कुछ घरों में दर्शन देकर पुनः लौट जाते हैं। मैं दो तीन बार इस गांव में जाऊंगा तो मुझे उड़द मिल जायेंगे। दूसरा गांव पास ही है अतः ये सारे उड़द मैं इनको ही दे दूंगा।' यह सोचकर मूलदेव ने मुनि को वंदना की और वे उड़द मुनि के समक्ष प्रस्तुत कर दिए। साधु ने द्रव्यशुद्धि और उसके परिणामों के प्रकर्ष को देखकर कहा—'वत्स ! थोड़े देना, सभी मत डाल देना, ऐसा कहकर पात्र नीचे रख दिया। मूलदेव ने प्रवर्धमान भावों से मुनि को उड़द दिए। इसी बीच आकाश के बीच से ऋषिभक्त देवता मूलदेव की भक्ति से प्रसन्न होकर बोला—'मूलदेव! तुमने सुन्दर काम किया है। तुम एक गाथा के पश्चार्थ से जो चाहो वह मांग लो। मैं तुम्हारी सारी कामना पूर्ण करूंगा। मूलदेव ने कहा—'गर्णियं च देवदत्तं, दंतिसहस्सं च रज्जं च'— मुझे देवदत्ता गणिका, एक हजार हाथी और राज्य चाहिए। देवता ने कहा—'वत्स ! तुम निश्चिंत रहो। इस तपस्वी मुनि के प्रभाव से शीघ्र ही तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।' मूलदेव ने कहा—'बस इतना ही।' ऋषि को वंदना कर मूलदेव लौट गया और ऋषि भी उद्यान में चले गए। मूलदेव ने गांव से दूसरी भिक्षा प्राप्त कर ली। भोजन कर मूलदेव ने वेनातट की ओर प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते वह वेनातट पहुंचा और रात्रि में पांथशाला में ही ठहर गया। अंतिम प्रहर में उसने एक स्वप्न देखा कि वह एक स्थान पर अनेक कार्पटिकों के साथ बैठा हुआ है। निर्मल चांदनी से युक्त, पूर्ण मंडल वाला चन्द्रमा पेट

में प्रवेश कर रहा है। दूसरे कार्पटिकों ने भी ऐसा ही स्वप्न देखा। उसने अन्य कार्पटिकों को वह स्वप्न कहा। उनमें से एक कार्पटिक ने कहा—'आज तुम घी और गुड़ से युक्त एक बड़ी रोटी प्राप्त करोगे।' यह सुनकर मूलदेव ने सोचा, ये स्वप्न के परमार्थ को नहीं जानते इसलिए उसने अपने स्वप्न का अर्थ नहीं बताया। स्वप्नद्रष्टा कार्पटिक भिक्षा के लिए गया। उसे छावनी में घी और गुड़ से संयुक्त बड़ा रोट मिला। वह प्रसन्न हो गया। उसने कार्पटिकों से यह बात कही।

मूलदेव भी एक उद्यान में चला गया। वहां फूलों का ढेर लिए एक माली आ रहा था। उसने मूलदेव को पुष्प और फल दिए। उनको लेकर मूलदेव सरोवर पर स्नान आदि से निवृत्त होकर स्वप्न-पाठकों के पास गया। उनको प्रणाम कर कुशलक्षेम पूछा। स्वप्न-पाठकों ने भी उसे बहुमान देते हुए आने का प्रयोजन पूछा। मूलदेव ने करबद्ध होकर स्वप्न का सारा वृत्तान्त बताया। स्वप्नपाठक उपाध्याय ने प्रसन्न होकर कहा—'मैं तुम्हें शुभ मुहूर्त में स्वप्न का फल बताऊंगा। आज तुम हमारे अतिथि बनकर रहो।' मूलदेव ने उसका आतिथ्य स्वीकार कर लिया। स्नान आदि से निवृत्त होकर बहुत आदर और सत्कार के साथ उसने वहां भोजन किया। उपाध्याय ने कहा—'पुत्र ! यह मेरी कन्या विवाह योग्य है, अतः मेरे अनुरोध से तुम इसके साथ विवाह कर लो।' मूलदेव ने कहा—'महाशय ! आप अज्ञात कुल-शील वाले मुझको जामाता कैसे बना रहे हैं?' उपाध्याय ने कहा—'वत्स ! बिना बताए ही आचार से कुल जाना जा सकता है।' उसने अनेक सुभाषितों से उसको समझाकर शुभ मुहूर्त में अपनी कन्या का विवाह मूलदेव के साथ कर दिया।

स्वप्न का फल बताते हुए उपाध्याय ने कहा—'तुम सात दिन के भीतर राजा बन जाओगे।' यह सुनकर मूलदेव अत्यन्त आनन्दित हुआ और वहीं सुखपूर्वक रहने लगा। पांचवें दिन वह नगर के बाहर घूमने गया। वह एक चंपक वृक्ष की छाया में विश्राम करने बैठ गया। अकस्मात् ही नगरी का राजा उस दिन मर गया। उसके कोई पुत्र नहीं था। अमात्य ने पांच दिव्य—हाथी, अश्व, स्वर्णमय जलपात्र, चामर और पुंडरीक की अधिवासित कर नगर में भेजा। वे पांचों नगर के बाहर अपरिवर्तित छाया में विश्राम कर रहे मूलदेव के पास आकर ठहरे। मूलदेव को देखकर हाथी चिंघाड़ने लगा, घोड़ा हिनहिनाने लगा, स्वर्णमय पात्र से मूलदेव का अभिषेक किया गया, चामर हुलाए गए और उस पर कमल रखा गया। लोगों ने जय-जयकार किया। हाथी ने उसे अपनी पीठ पर चढ़ा लिया और नगरी में घुमाया। मंत्री, सामन्त आदि ने उसका अभिषेक किया। आकाश से देववाणी हुई कि यह महानुभाव सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत, देवताभिष्टित शरीर वाला, विक्रमराज नामक राजा है, जो इसके अनुशासन में नहीं रहेगा उसको मैं क्षमा नहीं करूंगा। नगरी के सभी सामन्त, मंत्री और पुरोहित मूलदेव की आज्ञा के अधीन हो गए। वह विपुल सुख का अनुभव करता हुआ रहने लगा। मूलदेव ने उज्जयिनी के राजा विचारधवल के साथ संव्यवहार प्रारम्भ किया। उन दोनों में निरन्तर प्रीति बढ़ती गई।

इधर देवदत्ता अचल द्वारा मूलदेव के प्रति की गई विडम्बना को याद कर अचल से विरक्त हो गयी। उसने अचल को फटकारते हुए कहा—'मैं वेश्या हूं, तुम्हारी पत्नी नहीं हूं। फिर भी तुम मेरे घर में रहते हुए ऐसा व्यवहार करते हो? अब तुम मेरी इच्छा के विरुद्ध प्रणय-याचना मत करना।' यह कहकर वह राजा के पास चली गई। राजा के चरणों में प्रणाम कर वह बोली—

‘राजन् ! आप मुझ पर कृपा करें।’ राजा ने कहा—‘बोलो, क्या चाहती हो? क्या कुछ अभद्र हो रहा है?’ देवदत्ता ने कहा—‘मूलदेव को छोड़कर कोई दूसरा पुरुष मेरे घर न आए। इस अचल का मेरे घर आना रोक दें।’ राजा ने कहा—‘जैसा तुम चाहोगी वैसा ही होगा पर यह तो बताओ कि वृत्तान्त क्या है?’ तब माधवी ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुनकर राजा अचल पर अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। राजा ने कहा—‘मेरी नगरी में दो रत्न हैं—देवदत्ता वेश्या तथा मूलदेव। उनकी भी निर्भर्त्सना होती है?’ राजा ने तब अचल को बुलाया और उसको तिरस्कृत करते हुए कहा—‘क्या तुम इस नगरी के राजा हो जो ऐसा व्यवहार करते हो? तुम बताओ, अब किसकी शरण लेना चाहते हो? मैं तुम्हें प्राणदंड देता हूँ। देवदत्ता ने कहा—‘राजन् ! कुत्ते की मौत मेरे हुए को मारने से क्या लाभ? अतः इसे मुक्त कर दें।’ तब राजा बोला—‘अरे अचल ! देवदत्ता के कहने से मैं तुम्हें मुक्त कर रहा हूँ। तुम्हारी शुद्धि तो तब होगी जब तुम मूलदेव की खोज कर उसे यहां ले आओगे।’ अचल राजा के चरणों में गिरकर राजकुल से बाहर चला गया। वह चारों दिशाओं में मूलदेव की खोज करने लगा। कहीं उसका अता-पता नहीं मिला तब वह भांडों से वाहनों को भरकर अनुभव के आधार पर व्यापारार्थ फारसकुल की ओर प्रस्थित हो गया।

कुछ समय के बाद मूलदेव ने देवदत्ता और वहां के राजा के लिए एक लेखपत्र और अनेक उपहार भेजे। उसने राजा के लेखपत्र में लिखा—‘मेरा स्वभावतः देवदत्ता से बहुत प्रेम है। यदि आपको रुचिकर लगे और देवदत्ता की इच्छा हो तो देवदत्ता को यहां भेजने का अनुग्रह करें।’ राजा ने दूत से कहा—‘विक्रम राजा ने यह क्या बड़ी बात लिखी? हमारे लिए उनसे विशेष कोई चीज है क्या? देवदत्ता क्या सारा राज्य भी उसका ही है।’ राजा ने देवदत्ता को बुलाया और सारी बात बताते हुए कहा कि यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम उसके पास जा सकती हो। देवदत्ता ने कहा—‘आपने मुझ पर अत्यन्त कृपा की। आपकी अनुज्ञा से मेरे मनोरथ फल गए।’ राजा ने अपार वैभव से देवदत्ता का सत्कार कर उसे मूलदेव के पास भेज दिया। मूलदेव ने भी बहुत सम्मान और राजकीय वैभव के साथ उसका नगर में प्रवेश करवाया। इस आदान-प्रदान से दोनों आपस में एक हो गए। देवदत्ता के साथ विषय-सुख का अनुभव करता हुआ वह आनंदपूर्वक रहने लगा।

अचल फारस देश पहुंचा। वहां भांडों का विक्रय कर अपार संपत्ति अर्जित की। उसे नौका में भरकर वह वेनातट पर आया। वह नगर के बाहर रुका। अचल ने लोगों से पूछा—‘यहां के राजा का क्या नाम है?’ लोगों ने कहा—‘विक्रम’। वह सोने, चांदी और मोती के थाल भरकर राजा को भेंट करने गया। राजा ने उसे आसन दिया और पहचान लिया। अचल ने नहीं जाना कि यह वही मूलदेव है। राजा ने पूछा—‘श्रेष्ठिवर ! आप कहां से आए हैं?’ अचल ने कहा—‘मैं फारसकुल से आया हूँ।’ राजा के द्वारा सत्कार किए जाने पर अचल ने कहा—‘राजन् ! आप अपने निरीक्षक को भेजें, जो भांडों का निरीक्षण कर सके।’ राजा ने कहा—‘मैं स्वयं देखने के लिए चलूंगा।’ राजा पंचों के साथ वहां गया। अचल ने अपने जहाज में भरे सभी द्रव्य एक-एक कर राजा को दिखाए। पंचों के समक्ष राजा ने पूछा—‘श्रेष्ठिवर ! क्या आपके पास इतना ही सामान है?’ अचल ने कहा—‘राजन् ! इतना ही है।’ राजा ने तब कहा—‘थैलों को मेरे सामने तोलो और आधा सेठ को दे दो।’ राज-पुरुषों ने उसे तोला। पादप्रहार तथा वंशवेध करने से यह ज्ञात हुआ कि मंजिष्ठ के भीतर बहुमूल्य

पदार्थ छिपाए हुए हैं। राजा ने थैलों को फड़वाया। थैलों को फाड़ने पर यह देखकर राजा को आश्चर्य हुआ कि कहीं सोना, कहीं चांदी तथा कहीं मणि, मोती, प्रवाल आदि बहुमूल्य पदार्थों के भांड रखे हुए हैं। उसे देखकर राजा ने रुष्ट होकर अपने व्यक्तियों को आदेश दिया कि यह प्रत्यक्षतः चोर है। इसे बांधकर ले जाओ। अचल धर-धर धूजने लगा। आरक्षकों ने उसे बांधा। राजा यान पर चढ़कर अपने भवन में चला गया। आरक्षक उसे राजा के पास लाए। उसे गाढ़ बंधन में बंधा देखकर राजा ने कहा—'अरे! इसे छोड़ दो।' आरक्षकों ने उसे मुक्त कर दिया। राजा ने पूछा—'क्या तुम मुझे पहचानते हो?' अचल बोला—'देव! आपका दत्त विश्व में प्रसिद्ध हैं; आपका जौन नहीं जानता है?' राजा ने कहा—'औपचारिक बातों को छोड़ो। यदि तुम जानते हो तो स्पष्ट कहो।' अचल ने कहा—'मैं आपको पूरी तरह नहीं जानता।' तब राजा ने देवदत्ता को वहां बुलाया। वह अलंकारों से अलंकृत होकर वहां आई। अचल ने उसे पहचान लिया। उसे देख वह मन ही मन लज्जा का अनुभव करने लगा। देवदत्ता ने कहा—'यह वही मूलदेव हैं, जिसको तुमने कहा था कि भाग्यवश यदि मेरे में कभी ऐसी विपत्ति आ जाए तो तुम मेरी सहायता करना। यह अवसर है। राजा (मूलदेव) ने तुमको बंधनमुक्त कर दिया है। यह सुनकर अचल लज्जित होकर बोला—'आपने मुझ पर महान् अनुग्रह किया है।' ऐसा कहकर वह राजा और देवदत्ता के चरणों में गिर पड़ा। सकल कलाओं से परिपूर्ण, निर्मल स्वभाव वाले पूर्णिमा के चन्द्रमा की मैंने राहु जैसी कदर्थना की है अतः हे राजन्! मुझे क्षमा कर दें। आपकी कदर्थना करने से कुपित होकर महाराज ने भी मुझे उज्जयिनी में प्रवेश नहीं दिया। मूलदेव ने कहा—'मैंने और देवी देवदत्ता ने तुम्हें क्षमा कर दिया है।' वह फिर उन दोनों के चरणों में गिर पड़ा। देवदत्ता ने परम आदर से उसे स्नान करवाया, भोजन खिलाया और उसे बहुमूल्य वस्त्र पहनाए। राजा ने उसे कर-मुक्त कर दिया। उसका सारा सामान उसको सौंप दिया। राजा विक्रम ने उसे उज्जयिनी भेजा। राजा मूलदेव के द्वारा अभ्यर्थित होने के कारण उज्जयिनी के राजा विचारधवल ने भी उसे क्षमा कर दिया। निर्धृणशर्मा ने जब सुना कि मूलदेव राजा बन गया है तो वह भी वेष्टातट पर आ गया। मूलदेव ने उसकी अदृष्ट सेवा से प्रसन्न होकर एक गांव उसे पुरस्कार के रूप में दे दिया। वह राजा को प्रणाम कर कृतज्ञता ज्ञापित कर अपने गांव चला गया।

इधर उस कार्पटिक ने सुना कि मूलदेव ने मेरे जैसा ही स्वप्न देखा था पर वह स्वप्नादेश से राजा बन गया। उसने सोचा—'मैं वहां जाऊं, जहां गोरस-दही, छाछ, आदि प्राप्त होते हैं। उन्हें पीकर सो जाऊं। सोऊंगा तो पुनः वैसा ही स्वप्न देखूंगा।' संभव है वह पुनः उस स्वप्न को देख ले, लेकिन मनुष्य भव पुनः मिलना दुर्लभ है।'

३२. चक्र

इन्द्रपुर नगर में इन्द्रदत्त नाम का राजा राज्य करता था। उसकी प्रिय रानियों के बावोस पुत्र थे।^१ राजा को सभी पुत्र अपने प्राणों से अधिक प्रिय थे। राजा के अमात्य की एक पुत्री थी। विवाह के अवसर पर राजा ने उसे देखकर पूछा—'यह कौन है?' लोगों ने कहा—'यह आपकी देवी (रानी) है।' राजा उस अमात्य-पुत्री के साथ एक रात रहा। ऋतुस्नाता होने से वह गर्भवती हो गयी। अमात्य

१. उनि. १६१, डसुटी. प. ५९-६५।

२. कुछ मान्यता के अनुसार एक ही रानी के बावोस पुत्र थे।

ने अपनी पुत्री को कहा—'जब तुम्हें गर्भ की अनुभूति हो तब मुझे कह देना।' एक दिन अमात्य-पुत्री ने अपने पिता को दिन, मुहूर्त आदि बताते हुए राजा द्वारा किया गया वादा कह सुनाया। अमात्य ने उसे सारा एक पत्र में लिखा और उस पत्र को छिपाकर रख लिया। अमात्य-पुत्री का गर्भकाल पूरा हुआ। नौ महीनों के पश्चात् उसने एक पुत्र का प्रसव किया। उसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा गया। उसी दिन उसके घर चार दास-पुत्रों का जन्म हुआ। उनके नाम आग्निक, पर्वतक, बाहुलक और सागर रखे गए।

राजा के सभी पुत्रों— सुरेन्द्रदत्त तथा दासीपुत्रों को कलाचार्य के पास शिक्षाग्रहण करने भेजा गया। कलाचार्य ने लेख, गणित आदि अनेक कलाओं का शिक्षण दिया। जब कलाचार्य दासीपुत्रों को शिक्षण देते तब वे आचार्य को आकुल-व्याकुल करते। अविनय और उद्दंडता के कारण वे शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाए। वे बावीस राजकुमार कलाचार्य के द्वारा डांटे जाने पर आचार्य को पीट देते या अशिष्ट वचनों का प्रयोग करते। जब आचार्य उनको पीटते तो वे अपनी माता को जाकर आचार्य की शिकायत कर देते। तब राजा आचार्य को तिरस्कृत करते कि हमारे पुत्रों को आप क्यों पीटते हैं? माता-पिता के हस्तक्षेप से वे बावीस पुत्र सम्यक् रूप से शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके। लेकिन सुरेन्द्रदत्त ने कलाचार्य से बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर ली क्योंकि वह विनीत और गंभीर था।

मथुरा के राजा जितशत्रु के निर्वृति नामक लड़की थी। विवाह के योग्य होने पर उसे अलंकृत करके राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा ने अपनी पुत्री से कहा—'तुम्हें जो वर प्रिय हो, उसका वरण कर लो।' उसने कहा—'जो शूर, वीर और विक्रान्त हो, वही मेरा पति होगा।' राजा ने कहा—'जिसे तुम पसंद करोगी उसे राज्य भी दिया जाएगा।' वह सेना और वाहन को लेकर इन्द्रपुर नगर गयी। वहां इन्द्रदत्त राजा के बहुत पुत्र थे। इन्द्रदत्त ने संतुष्ट होकर सोचा—'अन्य राजाओं से इस लड़की का पिता अच्छा है। यह स्वयं यहां आई है।'

इन्द्रदत्त ने नगर की पताकाओं से सजाया। एक स्थान पर उसने एक अक्ष पर आठ चक्र बनाए। उनके आगे एक पुतली रख दी और उसकी आंख बांधने की शर्त रखी गयी। इन्द्रदत्त राजा सन्नद्ध होकर अपने पुत्रों के साथ वहां आया। निर्वृति राजकुमारी भी सर्वालंकार से विभूषित होकर वहां बैठ गयी। जैसे द्रौपदी के स्वयंवर में राजाओं और योद्धाओं का रंग जमा था वैसा ही रंग उस स्वयंवर में जमा। इन्द्रदत्त राजा के ज्येष्ठ पुत्र का नाम श्रीमाली था। राजा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र से कहा—'इस कन्या और राज्य को ग्रहण करना चाहिए अतः तुम दत्तचित्त होकर पुतली का लक्ष्य-वेध करो।' वह राजकुमार अनभ्यास के कारण लोगों के मध्य धनुष को उठाने में भी समर्थ नहीं हुआ। किसी प्रकार उसने धनुष को उठाया। उसने बाण छोड़ा लेकिन बाण चक्र से भग्न हो गया। इस प्रकार किसी ने एक अर (चक्र) को पार किया, किसी ने दूसरे का तथा किसी-किसी का बाण तो बाहर से ही निकल गया। तब राजा इन्द्रदत्त अधीर होकर अपने आपको अपमानित महसूस करने लगा।

अमात्य ने कहा—'आप अधीर क्यों होते हैं?' राजा बोला—'इन पुत्रों के कारण मुझे अपमानित होना पड़ा है। इन पुत्रों ने मुझे तुच्छ बना डाला है।' तब मंत्री बोला—'मेरी पुत्री से उत्पन्न आपका एक अन्य पुत्र भी है, जिसका नाम सुरेन्द्रदत्त है। वह इस लक्ष्य को बांधने में समर्थ

है।' अमात्य ने पहचान के चिह्नों की बात कही। राजा ने पूछा—'बताओ।' तब अमात्य ने वह लिखित पत्र बताया। राजा ने सुरेन्द्रदत्त का आलिंगन करके कहा—'आठ रथचक्र में स्थित पुतलिका की आंख को बाँधकर तुम राज्य और निर्वृति दारिका को प्राप्त करो। तब सुरेन्द्रदत्त ने 'जैसी आज्ञा' ऐसा कहकर धनुष को उठाया। चारों दिशाओं में स्थित दासपुत्र विघ्न उत्पन्न करने लगे। दोनों पार्श्व में खड्ग को ग्रहण कर दो व्यक्ति खड़े थे। यदि किसी प्रकार यह राजकुमार लक्ष्य को चूक जाए तो इसका शीर्षच्छेद कर देना है। उपाध्याय भी पास में स्थित होकर भय उत्पन्न करते हुए कहने लगा—'यदि लक्ष्य चूक गए तो मारे जाओगे।' वे बाविस राजकुमार जो लक्ष्यभेद नहीं कर सके, वे भी विघ्न उपस्थित करने लगे। सुरेन्द्रदत्त ने इन सब विघ्नों की परवाह न करते हुए लक्ष्य में दृष्टि को स्थिर कर, मन को उसी में निविष्ट कर दिया। उसने आठ रथचक्र के भीतर पुतली की बायीं आंख को बाँध डाला। तब लोगों ने उच्च स्वरों में उसका जय-जयकार किया और धन्यवाद दिया।

जिस प्रकार उस पुतली की आंख को बाँधना दुष्कर था, वैसे ही मनुष्य जन्म दुष्कर है।^१

३३. चर्म

एक तालाब था। उसका विस्तार एक लाख योजन तक था। धीरे तालाब पर सबन शैवाल छाई हुई थी। ऐसा लगता था मानो वह शैवाल रूपी चर्म से अवनद्ध हो। वहाँ एक कछुआ रहता था। एक बार उसने तालाब में एक छिद्र को देखा। छेद उतना ही बड़ा था, जिसमें उसकी गर्दन समा सके। उस कच्छप ने अपनी गर्दन को छेद से बाहर निकाला और ऊपर देखा। आकाश में चांद एवं तारे टिमटिमा रहे थे। चांदनी के प्रकाश में उसने फूल एवं फलों को भी देखा। कुछ क्षणों तक वह देखता रहा, फिर उसने सोचा, परिवार के सदस्यों को भी यह मनोरम दृश्य दिखाऊँ। वह गया और अपने पूरे परिवार को लेकर आया। वह चारों ओर घूमता रहा, परन्तु उसे कहीं भी छिद्र दृष्टिगत नहीं हुआ। इसी प्रकार मनुष्यभवं प्राप्त होना दुष्कर है।^२

३४. युग

एक अथाह समुद्र के एक छोर पर जुआ है और दूसरे छोर पर उसकी कील पड़ी है। उस कील का जुए के छिद्र में प्रवेश होना दुर्लभ है। उसी प्रकार मनुष्य जन्म भी दुर्लभ है। कील उस अथाह पानी में प्रवाहित हो गयी। बहते-बहते संभव है कि वह इस छोर पर आकर जुए के छिद्र में प्रवेश कर ले, किन्तु मनुष्य जन्म से भ्रष्ट जीव का पुनः मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है।^३

३५. परमाणु

(क) एक खंभा था। किसी देव ने उसको चूर्णित कर उस चूर्ण को एक नालिका में भरकर मंदर पर्वत पर जाकर फूँककर बिखेर दिया। स्तम्भ के सारे परमाणु इधर-उधर बिखर गए। क्या दूसरा कोई भी व्यक्ति पुनः उन परमाणुओं को एकत्रित कर वैसे ही स्तम्भ का निर्माण कर सकता है? कभी नहीं। वैसे ही एक बार मनुष्य जन्म को व्यर्थ खो देने पर पुनः उसकी प्राप्ति दुष्कर होती है।

१. उनि.१६१, उसुटी.प. ६५, ६६। २. उनि.१६१, उसुटी.प. ६६। ३. उनि.१६१, उसुटी.प. ६६, ६७।

(ख) शताधिक स्तम्भों पर अवस्थित एक सभा-भवन है। कालान्तर में उस सभाभवन में आग लग गई और वह जलकर नष्ट हो गया। क्या कोई ऐसा समर्थ व्यक्ति है जो उन विनष्ट पुद्गलों को एकत्रित कर पुनः उस सभा-भवन का निर्माण कर सके? यह असंभव है। इसी प्रकार मनुष्य जन्म भी दुर्लभ है।^१

३६. जमालि और बहुरतवाद (केवलोत्पत्ति के १४ वर्ष पश्चात्)

भगवान् महावीर की बड़ी बहिन सुदर्शना कुंडपुरग्राम में रहती थी। उसके पुत्र का नाम जमालि था। भगवान् की पुत्री अनवद्यांगी उसकी भार्या थी। उसका दूसरा नाम प्रियदर्शना था। जमालि ने ५०० पुरुषों के साथ तथा प्रियदर्शना ने हजार स्त्रियों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होकर उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

एक बार जमालि भगवान् से आज्ञा प्राप्त कर पांच सौ साधुओं के साथ श्रावस्ती नगरी चला गया। वहां तिंदुक उद्यान के कोष्ठक चैत्य में समवसृत हुआ। अंत-प्रान्त आहार सेवन से उसका शरीर रोगाक्रान्त हो गया और दाहज्वर उत्पन्न हो गया। वह बैठने में भी समर्थ नहीं रहा। उसने श्रमणों से कहा—‘मेरा शय्या-संस्कारक (बिछौना) करो।’ उन्होंने बिछौना करना शुरू किया। अधीर होकर उसने पूछा—‘क्या बिछौना कर दिया।’ श्रमणों ने कहा—‘कर रहे हैं।’ जमालि के मन में शंका हो गई कि भगवान् तो क्रियमाण को कृत, चलमान को चलित, उदीर्यमाण को उदीरित और निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहते हैं, यह मिथ्या है। प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि बिछौना क्रियमाण है पर कृत नहीं है, संस्तीर्यमाण है पर संस्तुत नहीं है। इस प्रकार वेदना-विह्वल जमालि मिथ्यात्व के उदय से निह्वल बन गया। उससे बहुरतवाद^२ की उत्पत्ति हुई। कुछ साधुओं ने जमालि के कथन पर श्रद्धा की तथा कुछ ने श्रद्धा नहीं की। जिन्होंने श्रद्धा की वे जमालि के पास रहे। जिन्होंने श्रद्धा नहीं की वे बोले—‘जमालि! भगवान् ने जो कहा है, वह तथ्य है। तुम जो कह रहे हो, वह मिथ्या है।’ वे पुनः भगवान् महावीर के शासन में प्रव्रजित हो गए।

साध्वी प्रियदर्शना कुंभकार ढंक के यहां ठहरी हुई थी। वह जमालि के दर्शनार्थ आई। जमालि ने उसे सारी बात समझाई। जमालि के प्रति अनुरक्त होने के कारण उसने जमालि के मत को स्वीकार कर लिया और अन्य साध्वियों को भी समझा दिया। जब कुंभकार को यह ज्ञात हुआ कि प्रियदर्शना उन्मार्ग में प्रस्थित हो गयी है तो उसने उसे सन्मार्ग पर लाना चाहा।

एक दिन प्रियदर्शना कुंभकार के यहां स्वाध्याय पौर्णमी में रत थी। ढंक मृन्मय भांडों का उद्धर्तन कर रहा था। उसने एक अंगारा उछाला, उससे प्रियदर्शना की शाटिका का एक छोर जल गया। उसने कहा—‘आर्य! यह शाटिका जल गई।’ तब कुंभकार ढंक ने कहा—‘तुमने ही तो प्ररूपणा की थी कि दह्यमान अदग्ध है फिर तुम्हारी शाटिका कैसे जल गई?’ भगवान् महावीर के वचनानुसार

१. उनि. १६१, उसुटी. प. ६७।

२. जमालि की दृष्टि के प्रति अनेक जीव रत—आसक्त थे, इसलिए वह बहुरतवाद कहलाया। अथवा एक कार्य की सिद्धि बहुत समय सापेक्ष होती है, इस मान्यता में रत—आसक्त व्यक्ति बहुरतवादी कहलाए। (उशांटी. प. १५७)।

कहा जा सकता है कि दह्यमान दग्ध है न कि तुम्हारी मान्यता के अनुसार। प्रियदर्शना प्रतिबुद्ध हो गयी। वह जमालि को समझाने के लिए गयी पर जमालि ने अपने आग्रह को नहीं छोड़ा। तब साध्वी प्रियदर्शना एक हजार साध्वियों के साथ भगवान् की शरण में चली गयी।

भगवान् महावीर के समझाने पर भी जमालि की शंका दूर नहीं हुई। असत्प्ररूपणा एवं मिथ्या आग्रह के कारण वह दूसरों को भी शंकित एवं भ्रमित करने लगा। उसने अनेक वर्षों तक श्रामण्य पर्याय का पालन किया तथा बेले-तेले आदि की विविध तपस्याएं कीं। १५ दिन की संलेखना एवं एक मास के संथारे में वह दिवंगत हो गया। अपने दोषों की आलोचना और प्रतिक्रमण किए बिना ही मृत्यु को प्राप्त होकर वह लान्तक देवलोक में तेरह सागरोपम की स्थिति वाला देव बना।^१

३७. तिष्यगुप्त और जीव प्रादेशिकवाद (केवलोत्पत्ति के सोलह वर्ष पश्चात्)

राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य में चतुर्दशपूर्वी आचार्य वसु का आगमन हुआ। वे वहां अपने शिष्य तिष्यगुप्त को आत्मप्रवादपूर्वक कहानें सुनाते। उसके एक उपासक में शिष्य ने आचार्य से पूछा—‘भंते! क्या जीव-प्रदेश को जीव कहा जा सकता है?’ आचार्य ने कहा—‘उसे जीव नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार दो, तीन, चार, संख्येय, असंख्येय तथा एक प्रदेश न्यून भी जीव नहीं कहे जा सकते। प्रतिपूर्ण असंख्येय प्रदेशात्मक जीव को ही जीव कहा जाएगा।’ वह उस प्रसंग से विप्रतिपन्न हो गया। वह मिथ्या प्ररूपणा करने लगा कि अंतिम प्रदेश ही जीव है। गुरु ने समझाया कि जब प्रथम प्रदेश जीव नहीं है तब अंतिम प्रदेश जीव कैसे होगा? जैसे एक तन्तु समस्त पट नहीं होता, सारे तंतु मिलकर समस्त पट बनते हैं वैसे ही एक प्रदेश जीव नहीं अपितु सारे प्रदेश समुदित रूप से जीव हैं। गुरु के समझाने पर भी वह विप्रतिपन्न रहा और अपनी असत् प्ररूपणा और मिथ्या-अभिनिवेश से अन्य लोगों को भी विप्रतिपन्न करने लगा।

एक बार वह आमलकल्या नगरी में गया। वहां अंबशालवन में ठहरा। उस नगरी में मित्रश्री नामक श्रमणोपासक था। तिष्यगुप्त को संबोध देने के लिए उसने अपने घर भोजन के लिए आमन्त्रित किया। तिष्यगुप्त वहां गया। मित्रश्री ने उसके समक्ष विविध खाद्य पदार्थ प्रस्तुत किए और प्रत्येक पदार्थ का एक-एक छोटा खंड उसे दिया। चावल का एक दाना, सूप की दो-चार बिन्दु और वस्त्र का एक टुकड़ा दिया। तिष्यगुप्त ने सोचा कि यह बाद में पुनः देगा। मित्रश्री दे चुकने के बाद तिष्यगुप्त के चरणों में गिरा। उसने अपने स्वजनों को कहा—‘वन्दना करो। आज हम दान देकर धन्य हो गए।’ यह सुनकर तिष्यगुप्त बोला—‘तुमने मेरा तिरस्कार किया है।’ श्रावक ने कहा—‘यह तो आपका सिद्धान्त है कि अन्तिम अवयव ही वास्तविक अवयवी है। मैंने तो आपके सिद्धान्त का पालन किया है अतः तिरस्कार कैसे? यदि यह सत्य नहीं है तो मैं आपको भगवान् महावीर के सिद्धान्तानुसार प्रतिलाभित करूं।’ प्रतिबोध पाकर तिष्यगुप्त ने श्रावक मित्रश्री से क्षमायाचना की, तब मित्रश्री ने उसे

प्रतिलाभित किया। वह शिष्य परिवार के साथ अपने पूर्व दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमण करके विहरण करने लगा।^१

३८. आचार्य आषाढ के शिष्य और अव्यक्तवाद (वीर-निर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात्)

श्वेतविका नगरी के पोलाषाढ उद्यान में आचार्य आषाढ वाचनार्थ समवसृत थे। वे आगाढ-योग से प्रतिपन्न अपने शिष्यों को वाचना दे रहे थे। एक बार वे अचानक विसूचिका रोग से ग्रस्त हो गये। वायु की प्रबलता के कारण वे निश्चेष्ट हो गए। उन्होंने किसी शिष्य को जागृत नहीं किया। वे दिवंगत होकर सौधर्म कल्प के नलिनीगुल्म विमान में उत्पन्न हुए। अवधिज्ञान से उन्होंने अपने निश्चेष्ट शरीर और आगाढयोग प्रतिपन्न शिष्यों को देखा। शिष्य उनकी मृत्यु से अनजान थे। तब देव उसी मृत शरीर में प्रविष्ट हुआ और शिष्यों को जगाकर बोला—‘वैरात्रिक करो।’ दिव्य प्रभाव से अध्ययन शीघ्र ही पूरा हो गया। जब शिष्य उस अध्ययन में निष्णात हो गए तब देव प्रकट होकर बोला—‘श्रमणो! मुझे क्षमा करो। मैं असंयत होकर तुम सबसे वंदना आदि कराता रहा। मैं तो अमुक दिन ही काल-कवलित हो गया था।’ इस प्रकार क्षमायाचना कर देव चला गया। शिष्यों ने मृत शरीर का विसर्जन कर सोचा—‘हमने इतने दिनों तक असंयत को वंदना की। यहां सब अव्यक्त है। कौन जाने कौन साधु है और कौन देव? कोई वंदनीय नहीं है। यदि वंदना करते हैं तो असंयमी को भी वंदना हो सकती है अतः अमुक संयमी है यह कहना मिथ्या है।’ बहुत समझाने पर भी शिष्यों ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा तब स्वर्गिण मुनिवर्ग ने उन्हें संतुष्ट कर पृथक् कर दिया।

एक बार विहार करते हुए वे राजगृह नगरी में आए। राजा बलभद्र ने उनको पकड़वा लिया और कहा—‘कौन जानता है साधु वेश में कौन चारिक है? कौन चोर है? आज मैं आपका वध करूंगा।’ संतों ने कहा—‘हम तपस्वी हैं, आप संदेह न करें। ज्ञान और चर्या के आधार पर साधु और असाधु की पहचान होती है। आप श्रावक होकर हम पर संदेह करते हैं?’ राजा ने प्रत्युत्तर दिया—‘जब आपको भी परस्पर विश्वास नहीं है तब मुझे ज्ञान और चर्या में कैसे विश्वास होगा? आप श्रमण हैं या नहीं? आप अव्यक्त हैं। आप श्रमण हैं या चारिक कौन जाने? मैं भी श्रमणोपासक हूँ या नहीं? आप इस संदेह को छोड़कर व्यवहार नय को स्वीकार करें।’ इस प्रकार युक्ति से राजा ने संबोध दिया। उन्होंने राजा से क्षमायाचना की। वे बोले—‘हम निःशंकितरूप से श्रमण-निर्ग्रन्थ हैं।’ राजा बोला—‘मैंने आपको उपालंभ दिया, आपका तिरस्कार किया, कठोर वचन कहे, मृदु वचन भी कहे। यह सारा प्रतिबोध देने के लिए किया। आप क्षमा करें।’ वे पुनः गुरु के पास आए और प्रायश्चित्त लेकर संघ में सम्मिलित हो गए।^२

३९. अश्वमित्र और समुच्छेदवाद (वीर-निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्)

मिथिला नगरी में लक्ष्मीगृह चैत्य था। वहां महागिरि आचार्य के शिष्य कौण्डिन्य रहते थे। कौण्डिन्य अपने शिष्य अश्वमित्र को अनुप्रवादपूर्व के नैपुणिक वस्तु की वाचना दे रहे थे। छिन्न-

१. उनि. १७२/३, उशांटी. प. १५८-१६०, उसुटी. प. ७०, ७१।

२. उनि. १७२/४ उशांटी. प. १६०-६२, उसुटी. प. ७१।

छेदनय की वक्तव्यता के अनुसार प्रथम समय के नारक विच्छिन्न हो जाएंगे, दूसरे समय के नारक भी विच्छिन्न हो जाएंगे। उत्पत्ति के अनन्तर ही वस्तु विनष्ट हो जाती है अतः उच्छेदवाद में उसकी आस्था जम गई। गुरु ने कहा—‘यह बात ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से है। सब नयों की अपेक्षा से सत्य नहीं है।’ गुरु के समझाने पर भी उसने गुरु के कथन को स्वीकार नहीं किया। निहव समझकर गुरु ने उसे संघ से अलग कर दिया। वह अपने शिष्यों के साथ समुच्छेदवाद की मिथ्या प्ररूपणा करता हुआ लोगों को भ्रमित करने लगा कि यह सारा लोक शून्य हो जाएगा।

विहार करते हुए वे राजगृह नगरी में पहुंचे। वहां के खंडरक्ष आरक्षक श्रावक थे। वे शुल्कपाल थे। उन्होंने अश्वमित्र को उसके शिष्यों के साथ पकड़ लिया और सबको पीटने लगे। अश्वमित्र ने कहा कि तुम तो श्रावक हो फिर भी श्रमणों को इस तरह पीट रहे हो? तब श्रावकों ने कहा—‘जो प्रव्रजित हुए थे वे तो विच्छिन्न हो गए। तुम चोर हो या गुप्तचर कौन जाने? आपको कौन मार रहा है आप तो स्वयं विनष्ट हो रहे हो।’ इस प्रकार भय और युक्ति से समझाने पर वे संबुद्ध हो गए और गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्त लेकर पुनः संघ में प्रविष्ट हो गए।^१

४०. आचार्य गंग और द्वैक्रियवाद (वीर-निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्)

उल्लुका नदी के एक तट पर उल्लुकातीर नामक नगर था और दूसरे तट पर ‘खेटस्थान’ था। वहां आचार्य महागिरि के शिष्य धनगुप्त रहते थे। उनका शिष्य आचार्य गंग था। वे नदी के उस तट पर उल्लुगातीर नगर में निवास कर रहे थे। एक बार आचार्य गंग शरदकाल में अपने आचार्य की वंदना करने नदी के उस तट पर स्थित खेटस्थान में जा रहे थे। वे नदी में उतरे। उनका सिर गंजा था। ऊपर सूरज से सिर तप रहा था और नीचे से पानी शीतल लग रहा था। उन्हें एक क्षण में सिर को सूर्य की गरमी और पैरों को नदी की ठंडक का अनुभव हो रहा था। उनको शंका हो गयी कि सूत्र में कहा है कि एक समय में एक क्रिया का वेदन होता है पर मुझे तो दो क्रियाओं का अनुभव हो रहा है। गुरु ने उसको समझाया कि समय, आवलिका आदि काल की सूक्ष्मता तथा मन की सूक्ष्म और शीघ्रगामिता के कारण तुम क्रिया की पृथक्ता का अनुभव नहीं कर सकते पर वे समझे नहीं। उनको संघ से पृथक् कर दिया गया। शिष्यों के साथ मिथ्या-प्ररूपणा करते हुए वे दूसरों को भी शंकित करने लगे।

आचार्य गंग संघ से अलग होकर राजगृह नगर में आए। वहां महातपस्तीरप्रभ नामक एक झरना था। वहां मणिनाग नामक नागदेव का चैत्य था। आचार्य गंग ने उस चैत्य में परिषद् के सम्मुख एक समय में दो क्रियाओं के वेदन की बात कही। मणिनाग नागदेव ने परिषद् के मध्य प्रकट होकर कहा—‘तुम यह मिथ्या प्ररूपणा मत करो। मैंने भगवान् महावीर के मुख से सुना है कि एक समय में एक ही क्रिया का संवेदन होता है। तुम अपने मिथ्या वाद को छोड़ो। इससे तुम्हारा अहित होगा।’ आचार्य गंग प्रतिबुद्ध हो गए। वे गुरु के पास आए और प्रायश्चित्त पूर्वक संघ में सम्मिलित हो गए।^२

१. उनि. १७२/५, उशांटी. प. १६२-६५, उसुटी. प. ७१, ७२। २. उनि. १७२/६, उशांटी. प. १६५-६८, उसुटी. प. ७२

४१. रोहगुप्त और त्रैराशिकवाद (वीर-निर्वाण के ५४४ वर्ष पश्चात्)

अंतरंजिका नामक नगरी में भूतगृह नामक चैत्य था। वहां आचार्य श्रीगुप्त का प्रवास था। उस नगर के राजा का नाम बलश्री था। आचार्य श्रीगुप्त का शिष्य रोहगुप्त दूसरे स्थान पर रहता था। एक दिन वह आचार्य को वंदना करने आया। वहां एक परिव्राजक रहता था जो पेट पर लोहपट्ट को बांधकर जंबू वृक्ष की शाखा हाथ में लेकर घूमता हुआ कहता था कि ज्ञान से मेरा पेट फूट रहा है इसलिए मैंने पेट पर लोहपट्ट बांध रखा है। इस जंबूद्वीप में कोई मेरे साथ प्रतिवाद करने वाला नहीं है इसलिए मैं हाथ में जंबू वृक्ष की शाखा रखता हूँ। लोगों ने उसका नाम पोष्टशाल रख दिया। रोहगुप्त ने उस चुनौती को स्वीकार किया और सारी बात आचार्य को सुनाई। आचार्य ने कहा—‘वह परिव्राजक वृश्चिक, सर्प आदि सात विद्याओं में निष्णात है। मैं तुझे इन विद्याओं की प्रतिपक्षी मायूरी, नाकुली आदि सात विद्याएं सिखा देता हूँ, जिससे तुम अजेय बन जाओगे।’

आचार्य ने उसे रजोहरण मंत्रित करके देते हुए कहा—‘यदि परिव्राजक दूसरी कोई विद्या का प्रयोग करे तो तुम रजोहरण घुमा देना। तुम अजेय हो जाओगे, इन्द्र भी तुम्हें नहीं जीत सकेगा।’ रोहगुप्त इन विद्याओं को ग्रहण कर सभा में आया और परिव्राजक को वाद के लिए आमंत्रित किया। परिव्राजक ने सोचा इसको इसी के सिद्धान्त से पराजित करना चाहिए इसलिए दो राशियों की स्थापना की। रोहगुप्त ने छिपकली की कटी पूंछ का उदाहरण देकर तीसरी राशि की स्थापना की। परिव्राजक निरुत्तर हो गया। उसने रुष्ट होकर अनेक विद्याओं का प्रयोग किया। रोहगुप्त ने प्रतिपक्षी विद्याओं से उसको परास्त कर दिया।

विजयी होकर रोहगुप्त अपने आचार्य के पास आया तब गुरु ने कहा—‘जीतकर तुमने परिषद् में यह क्यों नहीं कहा कि यह अपसिद्धान्त है। तीसरी नोजीव राशि नहीं होती। इस प्रकार की प्ररूपणा तीर्थकरों की आशातना है अतः तुम पुनः परिषद् में जाकर कहो कि यह हमारा सिद्धान्त नहीं है किन्तु मैंने इसे बुद्धि से पराभूत किया है।’ गुरु के बहुत समझाने पर भी अपमान के भय से उसने गुरु की बात को स्वीकृत नहीं किया। वह गुरु के साथ विवाद करने लगा। आचार्य ने सोचा—‘यह स्वयं नष्ट होकर दूसरों को भी नष्ट करेगा अतः मैं लोगों के समक्ष राजसभा में इसका निग्रह करूंगा, जिससे लोगों में मिथ्या तत्त्व का प्रचार नहीं होगा।’

राजा बलश्री के समक्ष चर्चा प्रारम्भ हुई। चर्चा करते हुए छह मास बीत गए। राजा ने कहा—‘चर्चा से सारा कार्य अव्यवस्थित हो रहा है, यह वाद कब समाप्त होगा?’ आचार्य ने कहा—‘मैंने जान-बूझकर इतना समय बिताया है। मैं कल ही इसका निग्रह कर वाद को समाप्त कर दूंगा।’

दूसरे दिन प्रातः वाद प्रारम्भ हुआ। आचार्य ने कहा—‘यदि तीन राशि होती है तो कुत्रिकापण में चलें, वहां सभी वस्तुएं मिलती हैं।’ राजा के साथ वे सभी कुत्रिकापण पहुंचे। वहां नोजीव को मांगा। अधिकारी देव ने कहा—‘यहां जीव और अजीव है। नोजीव की श्रेणी का कोई पदार्थ विश्व में नहीं है।’ इस प्रकार आचार्य श्रीगुप्त ने १४४ प्रश्नों के द्वारा रोहगुप्त का निग्रह कर उसे पराजित किया। राजा ने उसको देश निकाला दे दिया, निहव समझकर उसे संघ से भी पृथक् कर दिया।

उसने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। उसका गोत्र षडूलक था अतः वह षडूलक नाम से भी प्रसिद्ध हुआ।^१

४२. गोष्ठामाहिल और अबद्धिकवाद (वीरनिर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात्)

देवेन्द्र बंघ आर्यरक्षित विहरण करते हुए दशपुर नगर में पहुंचे। मथुरा में अक्रियवादो सक्रिय थे। लोग अक्रियवाद से भावित हो रहे थे। विशिष्ट व्यक्तियों ने संघ को एकत्रित किया पर वहां कोई वादी नहीं था। आर्यरक्षित युगप्रधान आचार्य हैं, ऐसा सोचकर उनको आमंत्रित करने साधुओं को भेजा गया। आर्यरक्षित वहां आए, उन्हें सारी बात बताई गयी। वे वृद्ध थे अतः उन्होंने गोष्ठामाहिल को वाद हेतु भेजा क्योंकि वह वाक्लब्धि सम्पन्न था। वह वहां गया और अक्रियवादी को पराजित कर दिया। श्रावकों के निवेदन करने पर गोष्ठामाहिल ने वहीं चातुर्मांस किया।

एक बार आचार्य आर्यरक्षित ने सोचा कि मेरे बाद गण का धारण करने वाला कौन होगा? क्योंकि जो जानते हुए अपात्र को अपना उत्तराधिकारी बना देता है, वह महापाप का भागी बनता है। उन्होंने दुर्बलिकापुष्यमित्र को इसके योग्य समझा। वहां आचार्य के अनेक स्वजन थे। वे गोष्ठामाहिल या फल्गुरक्षित को उत्तराधिकारी के रूप में योग्य मानते थे। आचार्य ने सबको बुलाकर दृष्टान्त देते हुए कहा—‘तीन प्रकार के घट होते हैं—चने से भरा घट, तैल से भृत घट तथा घी से परिपूर्ण घट। चने के घड़े को उल्टा करने पर सारे चने बाहर निकल जाते हैं। तैल के घड़े से तैल भी बाहर निकल जाता है पर उसका कुछ अंश घड़े के अंग रह जाता है। घी के घड़े को उल्टा करने पर उसका बहुत अंश घड़े के ही लगा रह जाता है। दुर्बलिकापुष्यमित्र ने मुझे चने के घड़े के समान बना दिया है। उसने मुझसे सूत्र, अर्थ तथा उभय—सारा ग्रहण कर लिया है। फल्गुरक्षित द्वारा मैं तैल के घड़े के समान तथा गोष्ठामाहिल द्वारा मैं भृत घट के समान हुआ हूँ अतः दुर्बलिकापुष्यमित्र सूत्र और अर्थ से युक्त है। वह इस गण का आचार्य बने। आचार्य आर्यरक्षित के इस कथन को सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया। आचार्य ने दुर्बलिकापुष्यमित्र से कहा—‘मैंने जैसा व्यवहार फल्गुरक्षित तथा गोष्ठामाहिल के प्रति किया है वैसा व्यवहार तुम्हें भी रखना है।’ तदनन्तर सभी को संबोधित कर बोले—‘शिष्यो! जैसा व्यवहार तुम सबने मेरे प्रति किया है, वैसा ही दुर्बलिकापुष्यमित्र के प्रति करना। मेरे प्रति किसी ने कुछ किया या नहीं, मैंने कभी क्रोध नहीं किया किन्तु दुर्बलिकापुष्यमित्र किसी को क्षमा नहीं करेगा।’ इस प्रकार दोनों पक्षों को शिक्षा प्रदान कर आचार्य भक्तप्रत्याख्यान से पंडित-मरण कर दिवंगत हो गए।

उस समय गोष्ठामाहिल कहीं अन्यत्र विहरण कर रहा था। उसने सुना, आचार्य आर्यरक्षित दिवंगत हो गए हैं। वह वहां आया और पूछा कि आचार्य ने अपना उत्तराधिकारी किसे बनाया है? उसे तीन घड़ों का दृष्टान्त कह सुनाया। तब वह पृथक् उपाश्रय में उपधि आदि रखकर मूल उपाश्रय में आया। वहां स्थित मुनियों ने आदरभाव से कहा—‘आप हमारे साथ यहीं रहें।’ उसने वहां रहना स्वीकार नहीं किया। वह अलग उपाश्रय में ही रहा और अन्यान्य लोगों को बहकाने लगा। परन्तु

ने कहा—‘इस आधी रात में जहाँ द्वार खुला मिले वहीं चले जाओ।’ नियति से उसने साधु के उपाश्रय के द्वार खुले देखे। वह उपाश्रय के अंदर गया। साधुओं को वंदना की और कहा कि मुझे भी प्रव्रजित कर लो। साधुओं ने इन्कार कर दिया पर उसने स्वयं लोच कर लिया। साधुओं ने उसे पुनिवेश धारण करवा दिया। वे सभी वहाँ से विहार कर गए।

एक बार वे पुनः उसी नगरी में आए। राजा ने उसे कंबल-रत्न दिया। आचार्य ने कहा—‘मुनियों को इससे क्या प्रयोजन है?’ इस कंबल-रत्न को क्यों ग्रहण किया—ऐसा कहकर मुनियों ने बिना पूछे ही कंबल को फाड़ दिया और उसकी निपट्टा बना दी। तब वह कुपित हो गया।

एक बार आचार्य जिनकल्पिक की चर्या का वर्णन कर रहे थे। उन्होंने कहा—‘जिनकल्पिक मुनि दो प्रकार के होते हैं—पाणिपात्र और पात्रभर। सवस्त्र तथा अवस्त्र। इनके भी दो-दो प्रकार हैं।’ शिवभूति ने पूछा—‘आज ऐसा क्यों नहीं हो सकता?’ आचार्य बोले—‘जिनकल्पिक आज व्युच्छिन्न हो गया है।’ उसने कहा—‘मेरे लिए वह व्युच्छिन्न नहीं है। परलोकार्थी मुनि को वही ग्रहण करना चाहिए। सर्वथा निष्परिग्रह ही श्रेयस्कर है।’ आचार्य के निषेध करने पर भी शिवभूति आग्रहवश अपने सारे वस्त्र छोड़कर वहाँ से निकल गया। उसकी बहिन उसको वंदना करने गई। उसको देखकर वह भी निर्वस्त्र हो गई। वह भिक्षा लेने गई। एक वेश्या ने उसे देखकर सोचा—‘यह हमारी वेश्यावृत्ति को समाप्त कर देगी।’ उसने उसे लज्जा-स्थान के आवरण के लिए एक वस्त्र दिया। वह नहीं चाहती थी। शिवभूति ने कहा—‘इसे ग्रहण कर लो। ऐसा मानो कि यह देव-प्रदत्त है।’ शिवभूति ने दो शिष्य प्रव्रजित किए—कौण्डिन्य और कोट्टवीर। आगे यह परम्परा चली।

४४. उरध्व

एक सेठ के पास गाय और उसका एक बछड़ा था। उसने एक मेंढ़ा भी पाल रखा था। वह मेंढ़े को खूब खिलाता-पिलाता। सेठ की बहुएं उसे प्रतिदिन स्नान कराती, शरीर पर हल्दी, अंगराग आदि का लेप करती थीं। सेठ के बच्चे भी उसके साथ नाना प्रकार की क्रीड़ाएं करते थे। कुछ ही दिनों में मेंढ़ा स्थूलकाय हो गया। बछड़ा प्रतिदिन मेंढ़े को देखता और मन ही मन चिंतन करता कि इस मेंढ़े का इतना लालन-पालन क्यों हो रहा है? सेठ हम पर इतना ध्यान क्यों नहीं देता? बछड़ा यह देखकर उदास हो गया और उसने स्तनपान करना भी छोड़ दिया। उसने अपनी माता गाय से पूछा—‘सेठ इस मेंढ़े को जौ का भोजन देता है और हमें रूखी-सूखी घास। इसे विशेष अलंकारों से अलंकृत किया जाता है तथा पुत्र की भांति इसका लालन-पालन हो रहा है। दूसरी ओर मैं मंदभाग्य हूँ कि कोई मुझ पर ध्यान नहीं देता। सूखी घास भी कभी-कभी मिलती है, वह भी भर पेट नहीं मिलती। समय पर पानी के लिए भी कोई नहीं पूछता।’ मां ने कहा—‘वत्स! मेमने को अच्छा और पुष्ट भोजन खिलाना उसके रोग और मृत्यु का चिह्न है क्योंकि मरणासन्न प्राणी को पथ्य और अपथ्य जो कुछ वह चाहता है, दिया जाता है। बछड़े के सूखे तृणों का आहार उसकी दीर्घायु का लक्षण है। इस मेंढ़े का मरणकाल निकट है।’

कुछ दिनों बाद सेठ के घर मेहमान आए। बछड़े के देखते-देखते मेंढे के गले में छुरी चला दी गयी। उस मोटे-ताजे मेंढे का मांस पकाकर मेहमानों को खिलाया गया। बछड़ा भय से कांप उठा। उसने अपनी मां से पूछा—‘क्या मैं भी इस मेंढे की भांति मारा जाऊंगा?’ मां ने कहा—‘वत्स ! डरो मत, जो रसगूढ़ होता है, उसे उसका फल भी भोगना पड़ता है। तू सूखी घास चरता है अतः तुझे कटु विपाक नहीं भोगना पड़ेगा।’^१

४५. काकिणी

एक भिखारी ने भीख मांग-मांग कर एक हजार कार्षापण एकत्रित किए। एक बार वह उन्हें साथ लेकर सार्थ के साथ अपने घर की ओर चला। रास्ते में भोजन के लिए उसने एक कार्षापण को काकिणियों में बदलवाया। वह प्रतिदिन काकिणियों से भोजन-खर्च चलाता। उसके पास एक काकिणी बची उसे वह पिछले स्थान पर भूल गया। सार्थ के जाने पर उसने सोचा—‘मुझे कार्षापण काकिणियों में बदलवाना पड़ेगा अतः कार्षापण की नौली एक स्थान पर गाड़कर वह काकिणी के लिए दौड़ा। किन्तु वह काकिणी किसी दूसरे व्यक्ति ने चुरा ली थी। जब वह वापिस लौटा तो उसे नौली भी नहीं मिली क्योंकि नौली को गाड़ते हुए किसी व्यक्ति ने देख लिया और वह उसे लेकर भाग गया। वह भिखारी दुःखी मन से घर पहुँचा और पश्चात्ताप करने लगा।’^२

४६. अपत्थं अंबगं भोच्चा

आम अधिक खाने से एक राजा के आम का अजीर्ण हो गया और उससे विसूचिका—हैजा हो गया। वैद्यों ने बहुत श्रम से उसकी चिकित्सा की। राजा स्वस्थ हो गया। वैद्यों ने राजा को सावधान करते हुए कहा—‘राजन्! यदि तुम पुनः आम खाओगे तो तुम्हारा जीवित रहना दुष्कर हो जाएगा।’ राजा को आम बहुत प्रिय थे। उसने अपने राज्य के सारे आम्र-वृक्ष उखड़वा दिए।

एक बार वह अपने मंत्री के साथ अश्वक्रीड़ा के लिए निकला। अश्व बहुत दूर चला गया। जब वह थक गया तो एक स्थान पर रुक गया। वहां बहुत से आम के वृक्ष थे। मंत्री के मना करने पर भी राजा आम्र-वृक्ष के नीचे विश्राम हेतु बैठा। हवा से राजा के पास अनेक आम गिर पड़े। राजा ने उन्हें हाथों से उठाया और सूँघने लगा। मंत्री के निषेध करने पर भी राजा ने आम खाने शुरू कर दिए। आम खाने से तत्काल उसकी मृत्यु हो गयी।^३

४७. तीन वणिक् पुत्र

एक वणिक् के तीन पुत्र थे। पुत्रों की बुद्धि, व्यवसाय और पुण्य के परीक्षण के लिए उसने तीनों को हजार-हजार कार्षापण दिए और कहा—‘इन रुपयों से तुम तीनों व्यापार करो और अमुक

१ उनि. २४१-२४२/१, उशांटी. प. २७२, २७३, उसुटी. प. ११६, ११७।

२ उनि. २४१, उशांटी. प. २७६, उसुटी. प. ११८।

३. उनि. २४१, उशांटी. पं. २७७, उसुटी. प. ११८।

काल तक अपनी-अपनी पूंजी लेकर मेरे पास आओ। वे तीनों मूल पूंजी लेकर अलग-अलग स्थान पर गए। पहले पुत्र ने सोचा कि पिता ने परीक्षा के लिए हमको व्यापारार्थ भेजा है अतः मुझे विपुल धन का उपार्जन करना चाहिए। भोजन, कपड़े पर उसने कम खर्च किया तथा द्यूत, मद्य आदि व्यसनों से परहेज किया। विधिपूर्वक व्यापार करने से उसने बहुत धन कमा लिया।

दूसरे पुत्र ने सोचा—‘हमारे घर प्रभूत धन-सम्पदा है किन्तु उसका व्यय करने से एक न एक दिन वह सम्पदा नष्ट हो सकती है अतः मूल की रक्षा करनी चाहिए।’ वह भी कमाता उसे भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि में खर्च कर देता। उसने मूल धन की रक्षा की पर धन एकत्रित नहीं कर पाया।

तीसरे पुत्र ने चिन्तन किया कि सात पीढ़ी आराम से खाए इतना धन हमारे यहां पड़ा है फिर भी वृद्ध पिता ने अर्थ के लोभ से हमें परदेश भेजा है अतः अर्थार्जन का कष्ट क्यों किया जाए? उसने कोई भी व्यापार नहीं किया। केवल मद्य, द्यूत आदि व्यसनों तथा शरीर-पोषण में सारे धन को गंवा दिया।

निर्दिष्ट काल पर तीनों पुत्र अपने घर पहुंचे। पिता ने सारी बात पूछी। जिसने अपनी मूल पूंजी गंवा दी थी, उसे नौकर का कार्य सौंपा गया जिसने मूल पूंजी की रक्षा की थी उसे गृह-कार्य सौंपा गया। जिसने मूल की वृद्धि की, उसे गृहस्वामी बना दिया।

४८. कपिल पुरोहित

कौशाम्बी नगरी में जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उस नगरी में चौंसठ विद्याओं में पारंगत काश्यप नाम का ब्राह्मण रहता था। वह राजा के द्वारा बहुत सम्मानित था। उसकी पत्नी का नाम यशा तथा पुत्र का नाम कपिल था। कपिल जब छोटा था तभी काश्यप कालगत हो गया। काश्यप की मृत्यु के बाद राजा ने उसका पद किसी दूसरे ब्राह्मण को दे दिया।

एक दिन वह ब्राह्मण घोड़े पर आरूढ़ होकर, छत्र धारण करके उधर से जा रहा था। यशा उसे देखकर रोने लगी। कपिल ने माता से रोने का कारण पूछा तो उसने बताया कि तेरा पिता भी ऐसी ही ऋद्धि से सम्पन्न था। कपिल ने पूछा—‘उनको ऋद्धि कैसे मिली?’ यशा ने उत्तर दिया—‘वे विद्यासम्पन्न थे।’ कपिल बोला—‘मैं भी विद्या का अभ्यास करूंगा।’ यशा ने कहा—‘यहां तुझे मत्सरभाव के कारण कोई नहीं पढ़ाएगा। यदि तुझे पढ़ना हो तो श्रावस्ती नगरी चले जाओ। वहां तेरे पिता के मित्र इन्द्रदत्त ब्राह्मण हैं, वे तुझे विद्याध्ययन करवाएंगे।’ कपिल इन्द्रदत्त ब्राह्मण के पास गया। इन्द्रदत्त ने पूछा—‘तुम कहां से आए हो?’ कपिल ने सारी घटना बता दी और विनयपूर्वक विद्यादान की प्रार्थना की।

उपाध्याय ने भी पुत्र-स्नेह से उसका आलिंगन करते हुए कहा—‘वत्स! तुम्हारा विद्याग्रहण के प्रति अनुराग उत्तम है। विद्याविहीन पुरुष पशु के समान होते हैं। इहलोक और परलोक दोनों में विद्या कल्याणकारी है।’ ब्राह्मण इन्द्रदत्त ने कहा—‘तुम मेरे यहां सब प्रकार की विद्या सीखने में स्वतंत्र हो पर अपरिग्रही होने के कारण मेरे यहां भोजन की व्यवस्था नहीं हो सकती। भोजन के

बिना पढ़ना भी संभव नहीं है।' कपिल ने कहा—'मैं भिक्षा से भोजन की व्यवस्था कर लूंगा।' ब्राह्मण ने कहा—'भिक्षावृत्ति से अध्ययन में बाधा आती है, पढ़ने को समय नहीं मिलता अतः तुम मेरे साथ चलो मैं किसी सेठ के यहां तुम्हारे भोजन की व्यवस्था करा दूंगा।' वे दोनों शालिभद्र सेठ के पास गए। उन्होंने सेठ को आशीर्वाद दिया। सेठ ने उनके आने का प्रयोजन पूछा। उपाध्याय ने कहा—'यह मेरे मित्र का पुत्र है। विद्या-ग्रहण की अभिलाषा से यह कौशाम्बी से यहां आया है। यह तुम्हारे यहां भोजन और मेरे यहां विद्या-ग्रहण करेगा। विद्या में सहयोग देने से तुम महान् पुण्य के भागी बनोगे।' सेठ ने सहर्ष उनकी बात स्वीकार कर ली।

कपिल उस सेठ के यहां प्रतिदिन भोजन करता और इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास अध्ययन करता। सेठ की एक दासी कपिल को भोजन कराती थी। वह हंसमुख थी। उसका दासी के साथ अनुराग हो गया। दासी कहती कि तुम मुझे प्रिय हो। मैं तुमसे और कुछ नहीं मांगती केवल तुम रोप मत किया करो। मैं वस्त्र का मूल्य पाने के लिए दूसरे के पास कार्य करती हूं, अन्यथा मैं तुम्हारी ही आज्ञा की अनुचरी हूं।

एक दिन दासियों का उत्सव आया। वह दासी उदास हो गयी। उसे नींद नहीं आई तब कपिल ने पूछा—'तुम उदास क्यों हो?' वह बोली—'दासी का उत्सव आ गया है। मेरे पास पत्र-पुष्प आदि के पैसे भी नहीं हैं, इसलिए सखियों के बीच में उपहास का पात्र बन जाऊंगी।' यह सुनकर कपिल भी अधीर हो गया। दासी ने कपिल को कहा—'तुम अधीर मत बनो। यहां धन नामक एक दानवीर सेठ है। ब्रह्ममुहूर्त में जो उसको सबसे पहले बधाई देता है, उसको वह दो मासा सोना देता है। इसलिए आज तुम जाकर उसे बधाई दो।' कपिल ने उसका कथन स्वीकार कर लिया। मुझसे पहले कोई अन्य बधाई देने न चला जाए, इस लोभ से वह आधी रात को ही घर से निकल पड़ा। आरक्षक पुरुषों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और प्रातः महाराज प्रसेनजित् के समक्ष उपस्थित किया। राजा के पूछने पर उसने यथार्थ बात बता दी। राजा कपिल के सत्यकथन से प्रसन्न हुआ और बोला—'तुम जो कुछ मांगोगे वह मैं दूंगा।' कपिल ने कहा—'मैं सोचकर मांगूंगा।' राजा ने उसकी बात स्वीकार कर ली। वह अशोक-वाटिका में गया। एक वृक्ष के नीचे बैठकर चिन्तन करने लगा कि दो मासे सोने से क्या होगा? कपड़े, आभरण, यान, वाहन, बाजों का उपभोग कैसे होगा? घर पर आए हुए अतिथियों के सत्कार के लिए तथा अन्यान्य उपभोग के लिए उतने मात्र से क्या लाभ?' इस प्रकार चिन्तन करते-करते करोड़ मुद्राओं से भी उसका मन संतुष्ट नहीं हुआ। मनन करते-करते वह शुभ अव्यवसाय से संवेग को प्राप्त हुआ। उसने सोचा, मैं विद्या ग्रहण करने हेतु माता को छोड़कर विदेश आया हूं। उपाध्याय के हितकारी उपदेश की अवहेलना करके तथा कुल के गौरव की अवमानना करके मैं एक स्त्री में आसक्त हो गया, यह मेरे लिए अच्छा नहीं है। ऐसा सोचते-सोचते उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया और वह स्वयंबुद्ध हो गया। स्वयं ही पंचमुष्टि लोच कर देवता प्रदत्त उपकरणों को धारण कर मुनि का वेश पहन राजा के समक्ष उपस्थित हुआ।

राजा ने कहा—'तुमने क्या सोचा है?' कपिल बोला—'जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। दो मासा सोने से होने वाला कार्य लोभ बढ़ने पर करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं से

भी पूरा नहीं हो सका क्योंकि तृष्णा का कहीं अंत नहीं है।' राजा ने प्रसन्न मुखमुद्रा से कहा—'मैं तुम्हें करोड़ों स्वर्ण-मुद्राएं भी दे सकता हूँ।' लेकिन कपिल संबुद्ध हो चुका था अतः वह पापों का शमन करने वाला श्रमण बन गया। मुनि बनने के बाद कपिल छह मास तक छद्मस्थ अवस्था में रहा।

राजगृह नगर के बाहर अठारह योजन लम्बी-चौड़ी अटवी में बलभद्र आदि पांच सौ चोर रहते थे। कपिल ने ज्ञान से जाना कि ये संबुद्ध होंगे। वे बिहार कर उस अटवी में आ गए। चोरों ने देखा कि कोई हमें पराजित करने के लिए आ रहा है। वे श्रमण कपिल को पकड़कर अपने सेनापति के पास ले गए। सेनापति ने कहा—'इनको मुक्त कर दो।' चोरों ने कहा—'हम इनके साथ खेलना चाहते हैं।' उन्होंने मुनि कपिल को कहा—'आप नृत्य करें।' कपिल ने कहा कि कोई वादक नहीं है। तब वे पांच सौ चोर ताली बजाने लगे। कपिल मुनि भी गाने लगे—

'अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए।

किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दोगाई ण गच्छेज्जा॥'

अर्थात् इस अधुव, अशाश्वत और दुःख-बहुल संसार में कौन सा ऐसा कार्य है, जिससे मैं दुर्गति को प्राप्त न करूं। यह ध्रुपद था। प्रत्येक श्लोक के अन्त में यह गाया जाता था। कुछ चोर प्रथम श्लोक से प्रतिबुद्ध हो गये। कुछ दूसरे श्लोक की सुनकर, कुछ तीसरे श्लोक को सुनकर। इस प्रकार पांच सौ चोर प्रतिबुद्ध होकर कपिल मुनि के पास प्रव्रजित हो गए।^१

४९. करकंडु

चंपानगरी में दधिवाहन नामक राजा था। चेटक की पुत्री पद्मावती उसकी पत्नी थी। जब वह गर्भवती हुई तब उसके मन में दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं राजा के कपड़े पहनकर उद्यान, कानन आदि में विहरण करूं। दोहद पूरा न होने से उसका शरीर कृश होने लगा। राजा ने कृश काय होने का कारण पूछा। रानी ने राजा को दोहद की बात बताई। यह सुनकर राजा और रानी जय नामक हाथी पर आरूढ़ हुए। राजा ने रानी के सिर पर छत्र धारण किया। वे दोनों उद्यान में गए। वर्षाऋतु होने के कारण मिट्टी की गंध से हाथी वन की ओर दौड़ने लगा। राजकीय लोग उस हाथी को रोकने में समर्थ नहीं हो सके। राजा और रानी दोनों को लेकर हाथी अटवी में प्रविष्ट हो गया। राजा ने एक वटवृक्ष को देखकर रानी से कहा—'जब हाथी इस वटवृक्ष के नीचे से गुजरे तब तुम इस वटवृक्ष की शाखा पकड़ लेना। रानी पद्मावती ने राजा की बात सुनी पर वह वृक्ष की शाखा को पकड़ने में असमर्थ रही। राजा दक्ष था अतः उसने तुरन्त शाखा पकड़ ली। अकेली रानी हाथी पर रह गई। राजा वृक्ष से नीचे उतरा और दुःखी मन से वापिस चंपा नगरी लौट आया। इधर हाथी रानी को निर्जन अटवी में ले गया। वहाँ हाथी को घ्यास का अनुभव हुआ। उसने एक बड़ा तालाब देखा और उसमें उतरकर क्रीड़ा करने लगा। रानी भी धीरे-धीरे नीचे उतरी, तालाब से बाहर आई। वह अपने नगर की दिशा नहीं जानती थी।

अहो! कर्मों की गति कितनी विचित्र है। मैं अकल्पित विपत्ति में फंस गई हूँ। अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मेरी क्या गति होगी? ऐसा सोचते-सोचते वह रोने लगी। क्षण भर बाद उसने धैर्य धारण करके सोचा—'हिंसक एवं अंगलो भ्रष्टों से युक्त इस भीषण जग में कुछ भी हो सकता है अतः हर क्षण अग्रमत्त रहना चाहिए।' उसने अर्हत् आदि चार शरणों को स्वीकार किया। अनाचरणीय की आलोचना की और सकल जीव राशि के साथ मानसिक रूप से क्षमायाचना की। उसने सागारिक भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया। वह नमस्कार महामंत्र का जाप करती हुई एक दिशा में प्रस्थित हुई। बहुत दूर जाने पर उसे एक तापस दिखाई पड़ा। तापस के पास जाकर उसने अभिवादन किया। तापस ने पूछा—'माँ! आप यहां निर्जन वन में कहां से आईं?' वह बोली—'मैं चेटक की पुत्री हूँ। राजा दधिवाहन की पत्नी हूँ। हाथी मुझे यहां तक ले आया।' वह तापस चेटक से परिचित था। उसने रानी को आश्वासन दिया कि तुम डरो मत। तापस ने भोजन के लिए उसे फल दिए और अटवी के पार पहुंचा दिया। तापस ने कहा—'यहां से आगे हल के द्वारा जोती हुई भूमि है अतः मैं आगे नहीं जा सकता। आगे दन्तपुर नगर है।' वहां का राजा दन्तवक्र है।' वह चलकर अटवी से बाहर निकली और दन्तपुर नगर में आर्याओं के पास प्रव्रजित हो गयी। पूछने पर भी उसने अपने गर्भ के बारे में कुछ नहीं बताया। कुछ समय पश्चात् महत्तरिका को यह ज्ञात हुआ। प्रसव होने पर नाममुद्रिका एवं कंबलरत्न से आवेष्टित कर बालक को श्मशान में छोड़ दिया। श्मशान में रहने वाले चांडाल ने उस बालक को उठा लिया और अपनी पत्नी को दे दिया। उसका नाम अवकीर्णक रख दिया।

आर्या पद्मावती ने उस चांडाल के साथ मैत्री स्थापित कर ली। अन्य साध्वियों ने उससे पूछा—'तुम्हारा गर्भ कहां है?' उसने कहा—'मृतक पुत्र पैदा हुआ था अतः उसे श्मशान में डाल दिया।' वह बालक बढ़ने लगा और बच्चों के साथ खेलने लगा। वह बच्चों से कहता—'मैं तुम सब का राजा हूँ अतः तुम सब मुझे 'कर' दो।' एक बार उसे सूखी खाज हो गई। वह बालकों से कहता कि मेरे खाज करो। हाथ से खाज करने के कारण बच्चों ने उसका नाम करकंडु रख दिया। बालक करकंडु भी उस साध्वी के प्रति अनुरक्त हो गया। वह साध्वी भी भिक्षा में जो मोदक आदि अच्छी चीज मिलती, उस बालक को देती थी। बड़ा होने पर वह श्मशान की रक्षा करने लगा।

एक बार दो मुनि किसी कारणवश उस श्मशान भूमि से गुजरे। वहां बांस के झुरमुट में एक डंडा देखा। एक मुनि दंड-लक्षणों का ज्ञाता था। उसने दूसरे मुनि से कहा—'जो इस डंडे का ग्रहण करेगा वह राजा बनेगा। लेकिन वह चार अंगुल और बढ़ने पर ही राज्य-प्राप्त कराने में योग्य बनेगा। तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' वह बात उस मातंग सुत करकंडु एवं एक ब्राह्मण के पुत्र ने सुनी। ब्राह्मण पुत्र निर्जन समय में उस वंशदंड को चार अंगुल जमीन खोदकर बाहर निकाल रहा था तब मातंगपुत्र करकंडु ने उसे देख लिया। उसने उसको डरा-धमकाकर उसके हाथ से डंडा छीन लिया। वह ब्राह्मण उसको न्यायकर्त्ताओं के पास ले गया और कहा—'मेरा डंडा मुझे दिलवाओ।' करकंडु ने कहा—'श्मशान मेरा है अतः मैं इसे नहीं दूंगा।' ब्राह्मण-पुत्र ने कहा—'तुम दूसरा डंडा ले लो।' तब करकंडु बोला—'मैं इस डंडे के प्रभाव से राजा बनूंगा अतः यह डंडा मैं नहीं दे सकता।' तब न्यायकर्त्ताओं ने हंसकर कहा—'जब तुम राजा बन जाओ तब इसको भी तुम

एक गांव दे देना।' करकंडु ने यह बात स्वीकार कर ली। उस ब्राह्मण-पुत्र ने अन्य ब्राह्मण-पुत्रों को अपने पक्ष में कर लिया कि इसको मारकर हम डंडा ग्रहण कर लेंगे। यह बात करकंडु के पिता ने सुनी। उन्होंने उस गांव से पलायन की बात सोची। वे तीनों कांचनपुर पहुंचे।

कांचनपुर का राजा मर गया था। उसके कोई पुत्र नहीं था। राज-कर्मचारियों ने घोड़े को अधिवासित करके छोड़ा। वह घोड़ा नगर के बाहर सोए करकंडु के पास आया। वह करकंडु की प्रदक्षिणा करके खड़ा हो गया। नागरिकों ने देखा कि यह युवक लक्षणयुक्त है। उन्होंने जय-जयकार द्वारा उसको वर्धापित किया। नंदीतूर बजाया गया। वह भी जम्भाई लेते हुए खड़ा हुआ। वह विश्वस्त होकर घोड़े पर बैठ गया। उसने नगर में प्रवेश किया। 'यह चाण्डाल है' ऐसा सोचकर ब्राह्मणों ने उसको प्रवेश करने से रोका। तब करकंडु ने दंडरत्न हाथ में लिया। वह जलने लगा। जलते दंडे को देखकर ब्राह्मण नयभ्रंत हो गए। उसने 'वाटधानक' चांडालों को ब्राह्मण बना दिया। उसका गृह नाम अवकीर्णक था पर बाद में उसका नाम राजा करकंडु प्रसिद्ध हो गया।

एक दिन महाराज करकंडु के पास वह ब्राह्मणपुत्र आया और प्रतिज्ञा के अनुसार गांव की मांग की। करकंडु ने कहा कि जो तुम्हें रुचिकर हो वही गांव मैं तुम्हें दे सकता हूँ। वह बोला—'मेरा घर चंपा जनपद में है अतः वहाँ कोई गांव दे दीजिए।' तब करकंडु ने दधिवाहन को लिखा कि मुझे चंपा जनपद में एक गांव दे दें। मैं आपको इसके बदले अपने राज्य का यथेच्छित गांव या नगर दे दूंगा।' राजा दधिवाहन इस आज्ञापत्र से रुष्ट हो गए। उन्होंने सोचा यह दुष्ट मातंग अपनी शक्ति को नहीं पहचानता तभी उसने मुझे यह लेख लिखकर भेजा है, दूत ने सारा वृत्तान्त महाराज करकंडु को सुनाया। यह बात सुनकर करकंडु कुपित हो गया। उसने चंपा पर आक्रमण कर दिया। युद्ध प्रारम्भ हो गया।

साध्वी पद्मावती को जब युद्ध का वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उसने सोचा कि व्यर्थ ही जनक्षय होगा अतः उसने युद्ध-भूमि में करकंडु को बुलाकर रहस्य खोल दिया कि तुम जिससे लड़ रहे हो वे तुम्हारे पिता हैं। करकंडु ने पालन करने वाले माता-पिता से पूछा तो उन्होंने यथार्थ बात बता दी। पता चलने पर भी करकंडु अभिमानवश युद्ध-भूमि से नहीं हटा तब साध्वी पद्मावती चंपानगरी में राजा दधिवाहन के प्रासाद में गई। ज्ञात होने पर दास-दासियां उनके चरणों में पड़कर रोने लगीं। राजा ने जब यह बात सुनी तो वह भी वहां साध्वी के पास आया और विधिवत् वंदना की। राजा ने गर्भ के बारे में पूछा तो साध्वी ने कहा—'जो इस नगरी पर आक्रमण कर युद्ध कर रहा है, वही आपका पुत्र है।' राजा अपने पुत्र करकंडु के पास गया और प्रसन्नता से गले मिला। दोनों राज्य करकंडु को देकर दधिवाहन प्रव्रजित हो गया। करकंडु विशाल राज्य का सम्राट् बन गया।

करकंडु गोकुल प्रिय था। उसके पास अनेक गोकुल थे। एक बार शरदकाल में वह गोकुल में गया और एक श्वेत हृष्ट-पुष्ट बछड़े को देखा। उसने गोपालक को आदेश दिया कि इस बछड़े की मां को न दुहा जाए। जब यह बड़ा हो जाए तब अन्य गायों का दूध भी इसे पिलाया जाए। गोपालों ने यह बात ध्यान से सुनी और वे उस बछड़े का यथादेश लालन-पालन करने लगे। थोड़े दिनों में वह बड़े सींगों वाला तथा हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला वृषभ बन गया। वह गुद्ध-कला में निपुण बन गया। एक बार राजा कार्यवश अन्यत्र गया। कुछ समय पश्चात् वह पुनः अपने राज्य में लौटा और गोशाला

देखने गया। राजा ने उस हृष्ट-पुष्ट बैल के विषय में पूछा। गोपाल ने राजा को वह वृषभ दिखाया। राजा ने उस महाकाय बैल को जीर्ण-शीर्ण अवस्था में देखा। उसकी आंखें धंस गई थीं। पैर लड़खड़ा रहे थे। वह छोटे-बड़े बैलों से सताया जा रहा था। राजा ने पूछा—'क्या यह वही वृषभ है?' गोपालक बोले—'राजन्! यह वही वृषभ है।' उसे देख राजा करकंदु विषण्ण हो गया। वह संसार की अनित्यता से संबुद्ध होकर प्रव्रजित हो गया।'

५०. द्विमुख

भरतक्षेत्र में कांपिल्यपुर नामक नगर था। वहां हरिवंश कुल में उत्पन्न राजा का नाम जय और उसकी पटरानी का नाम गुणमाला था। एक बार राजा आस्थानमंडप में बैठा था। उसने दूत से पूछा—'ऐसी क्या वस्तु है जो अन्य राजाओं के पास है और मेरे पास नहीं है?' दूत ने कहा—'आपके राज्य में चित्रसभा नहीं है।' राजा ने तत्काल बड़ई को बुलाया और शीघ्र ही चित्रसभा के निर्माण की आज्ञा दी। बड़ई ने कार्य प्रारम्भ कर दिया। पृथ्वी की खुदाई करते हुए पांचवें दिन रत्नमय देदीप्यमान महामुकुट निकला। कर्मकरों ने हर्ष के साथ राजा को यह सूचना दी। राजा ने प्रसन्न होकर नंदी वाद्य बजाकर मुकुट को धरती से ऊपर निकाला तथा कर्मकरों को वस्त्र आदि पुरस्कार में दिए। थोड़े ही दिनों में चित्रशाला का कार्य पूरा हो गया। शुभमुहूर्त में राजा ने चित्रशाला में प्रवेश किया। मंगल वाद्य-ध्वनि के साथ राजा ने मुकुट को अपने मस्तक पर धारण किया। उस मुकुट के प्रभाव से उसके दो मुख दिखाई देने लगे। लोगों ने उसका नाम द्विमुख रख दिया।

कुछ काल बीता। राजा के सात पुत्र हुए पर पुत्री एक भी नहीं हुई। पुत्री के अभाव में गुणमाला अधीर और उदास हो गई। उसने मदन नामक यक्ष की आराधना से वरदान प्राप्त किया। उसके एक पुत्री हुई, जिसका नाम मदनमंजरी रखा गया। क्रमशः मदनमंजरी यौवन को प्राप्त हुई। उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत ने जय राजा के द्विमुख होने की बात सुनी। उसने अपने दूत से इसका कारण पूछा। दूत ने उसे चमत्कारी मुकुट की बात बताई, जिसको धारण करने से राजा दो मुंह वाला बन जाता था। प्रद्योत के मन में मुकुट को प्राप्त करने का लोभ बढ़ गया। दूत ने द्विमुख राजा से कहा—'या तो आप अपना मुकुट चण्डप्रद्योत राजा को समर्पित करें अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाएं।' राजा द्विमुख ने कहा—'यदि चण्डप्रद्योत मुझे चार वस्तुएं दे तो मैं उसे मुकुट दे सकता हूं। (1) अनलगिरि हाथी, (2) अग्निभीरू रथ, (3) रानी शिवादेवी, (4) लोहजंघ लेखाचार्य। ये चारों प्रद्योत के राज्य की निधियां थीं।

दूत उज्जयिनी गया और प्रद्योत को सारी बात बताई। प्रद्योत अत्यन्त कुपित हुआ और चतुरंगिणी सेना के साथ कांपिल्यपुर पर आक्रमण के लिए प्रस्थान कर दिया। उसके साथ दो लाख हस्तिसेना, दो लाख रथसेना, पचास हजार अश्वसेना तथा सात करोड़ पदातिसेना थी।

अनवरत चलते-चलते वह अपनी सेना के साथ पांचाल देश की सीमा पर पहुंच गया। प्रद्योत ने सेना का पड़ाव डाला। द्विमुख भी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ नगर के बाहर आ गया और पांचाल देश की सीमा पर पहुंचा। प्रद्योत ने गरुड़व्यूह की रचना की थी। उसके प्रतिपक्ष में

द्विमुख ने सागरव्यूह की रचना की। दोनों ही सेनाओं में युद्ध प्रारम्भ हो गया। मुकुट के प्रभाव से द्विमुख की सेना अजेय रही। प्रद्योत की सेना पलायन करने लगी। द्विमुख ने प्रद्योत को बंदी बनाकर नगर में प्रवेश कराया।

प्रद्योत कारागृह में बंदी था। एक दिन उसने राजकन्या मदनमंजरी को देखा। वह उसमें आसक्त हो गया। कामाग्नि में जलते हुए चिंतातुर और संतप्त प्रद्योत की वह रात ज्यों-त्यों बीती। प्रातःकाल द्विमुख प्रद्योत के स्थान पर गया। उसने प्रद्योत का म्लान और उदासीन मुखमंडल देखकर उसका कारण पूछा। पहले उसने कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में आग्रह करने पर निःश्वास छोड़ते हुए उसने सारी बात बता दी। प्रद्योत ने कहा—‘यदि मुझे मदनमंजरी नहीं मिली तो मैं अग्नि में कूद कर मर जाऊँगा। यदि मेरा कुशल-क्षेम चाहते हो तो मदनमंजरी का मेरे साथ विवाह कर दो।’ द्विमुख ने शुभमुहूर्त देखकर प्रद्योत के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। कुछ दिन वहाँ रहकर प्रद्योत नववधू के साथ उज्जयिनी आ गया।

कांपिल्यपुर में इन्द्रमहोत्सव था। राजा की आज्ञा से नागरिकों ने इन्द्रध्वज की स्थापना की। वह इन्द्रध्वज अनेक प्रकार के पुष्पों, घण्टियों तथा मालाओं से सज्जित किया गया। लोगों ने उसकी पूजा की। स्थान-स्थान पर नृत्य-गीत होने लगे। सारे लोग मोद-मग्न थे। इसी प्रकार सात दिन बीते। पूर्णिमा के दिन महाराज द्विमुख ने इन्द्रध्वज की पूजा की।

सात दिन बीतने पर लोगों ने इन्द्रध्वज के आधूषण उत्सव किए और काष्ठ के सड़क पर फेंक दिया। एक दिन राजा द्विमुख उसी मार्ग से निकला। उसने उस इन्द्रध्वज के काष्ठ की मलमूत्र में पड़ा देखा और देखा कि लोग उसका तिरस्कार करते हुए अतिक्रमण कर रहे हैं। संसार की अनित्यता देखकर उसे वैराग्य हो गया। वह प्रतिबुद्ध हो, पंच-मुष्टि लोच कर, प्रव्रजित हो गया।^१

५१. नमि राजर्षि

भरत क्षेत्र में अवन्ती जनपद के सुदर्शनपुर नामक नगर में मणिरथ नामक राजा राज्य करता था। उसका भाई युगबाहु युवराज था। उसकी पत्नी मदनरेखा अनुपम रूप और लावण्य से युक्त थी। वह सुदृढ़ श्राविका थी। उसके सर्वगुणसम्पन्न एक पुत्र था, जिसका नाम चन्द्रयश था।

एक दिन मणिरथ मदनरेखा को देखकर उसके रूप में आसक्त हो गया। वह सोचने लगा—‘मेरा इसके साथ संयोग कैसे होगा? पहले मैं इसके साथ प्रीति बढ़ाऊँ फिर इसके साथ रहकर इसके चित्त के भावों को जानकर यथायोग्य करूँगा’—ऐसा चिंतन करके उसने उसके साथ प्रीति-सम्बन्ध स्थापित करना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उसने पुष्प, कुंकुम, तंबोल, विविध वस्त्र एवं अलंकार भेजे। मदनरेखा के मन में कोई गलत भाव नहीं थे अतः उसने वे उपहार स्वीकार कर लिये।

समय बीतने लगा। एक दिन मणिरथ ने मदनरेखा से कहा—‘सुन्दरी! यदि तुम मुझे स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हें सारे राज्य की स्वामिनी बना दूँगा।’ उसने कहा—‘नपुंसकत्व, स्त्रीत्व और पुरुषत्व पूर्व कर्मों से प्राप्त होता है। तुमने पुरुषत्व प्राप्त किया है। यदि मैं तुम्हें स्वीकार न करूँ तो भी भाई

के युवराज की पत्नी हूं अतः मेरे राज्य के स्वामित्व का हरण कौन कर सकता है। जो सत्पुरुष होते हैं, वे मरना स्वीकार कर लेते हैं मगर इहलोक और परलोक के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करते? हिंसा, असत्य-भाषण, स्तेय, परस्त्रीगमन से जीव नरक में जाते हैं इसलिए महाराज दुष्टभाव को छोड़कर आचार-मार्ग को स्वीकार करें।' मणिरथ ने सोचा कि युगबाहु के जीवित रहते यह अन्य पुरुष की इच्छा नहीं करेगी अतः विश्वास में लेकर युगबाहु को मार दूं, फिर बलपूर्वक इसे अपनी बना सकता हूं। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय कारगर नहीं हो सकता। समय बीतने लगा। एक दिन मदनरेखा ने चंद्र का स्वप्न देखा। उसने पति से इसका फल पूछा। युगबाहु ने कहा—'सकल पृथ्वीमंडल पर चांद के समान सुन्दर तुम्हारे एक पुत्र होगा।' वह गर्भवती हुई। गर्भ के तीसरे महीने उसको दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं तीर्थंकर और मुनियों की उपासना करूं तथा सतत तीर्थंकरों का चरित्र सुनूं। उसका दोहद पूरा हुआ। वह सुखपूर्वक गर्भ का वहन करने लगी।

एक दिन बसन्त मास में युगबाहु मदनरेखा के साथ उद्यान में क्रीड़ा करने आया। वे दोनों भोजन-पानी में इतने मस्त हो गए कि सूर्य अस्ताचल में डूब जाने पर भी उन्हें भान नहीं हुआ। रात हो गई। सर्वत्र अंधकार व्याप्त हो गया। इसलिए युगबाहु उसी उद्यान में ठहर गया। मणिरथ ने सोचा—'यह अच्छा अवसर है। युगबाहु नगर के बाहर हैं, उसके पास सहायक भी कम हैं, रात्रि का समय है तथा सघन अंधकार है अतः वहां जाकर यदि मार दूं तो निःशंक होकर मदनरेखा के साथ रमण कर सकूंगा।' ऐसा सोच वह शस्त्र लेकर उद्यान में आया। युगबाहु भी रतिक्रीड़ा कर कदलीगृह में ही सो गया।

चारों ओर प्रहरी पुरुष बैठे थे। मणिरथ ने उनसे पूछा—'युगबाहु कहां है?' उन्होंने बता दिया। मणिरथ ने कहा कि कोई शत्रु यहां युगबाहु का अभिभव न कर दे इस चिंता से मैं यहां आया हूं। ऐसा कह वह कदलीगृह में प्रविष्ट हो गया। युगबाहु ससंभ्रम उठा और भाई को प्रणाम किया। मणिरथ बोला—'चलो, नगर चलते हैं यहां रहना ठीक नहीं है।' युगबाहु उठने लगा। उसी समय कार्य-अकार्य की चिंता किए बिना, जनपरिवाद को सोचे बिना, परलोक के भय को छोड़कर विश्वस्त हृदय से मणिरथ ने तीक्ष्ण खड्ग से युगबाहु की गर्दन पर प्रहार किया। तीक्ष्ण प्रहार की वेदना से उसकी आंखें बंद हो गईं और वहीं धरती पर गिर पड़ा। मदनरेखा ने चीत्कार करते हुए कहा—'अहो ! अकार्य हो गया।' उसकी आवाज सुनकर खड्गधारी पुरुष वहां आ गए और पूछा—'यह क्या हुआ?' मणिरथ ने कहा—'प्रमाद से मेरे हाथ से यह खड्ग गिर गया। हे सुन्दरी! अब भय से क्या?' आरक्षक पुरुष मणिरथ की चेष्टा से उसके भावों को जानकर उसे बलपूर्वक नगर में ले गये। उन्होंने चन्द्रयश को युगबाहु का वृत्तान्त बताया। करुण विलाप करता हुआ वह उद्यान में आया। वैद्यों ने व्रण-चिकित्सा की। थोड़ी देर में उसकी वाणी अवरुद्ध हो गई तथा नयनयुगल बंद हो गए। अंग निश्चेष्ट हो गए। खून का प्रवाह निकलने से उसका शरीर सफेद हो गया।

मदनरेखा ने मरणासन्न स्थिति देखकर पति के कान में मधुर शब्दों में कहा—'महानुभाव! आप मानसिक समाधि रखें। किसी पर द्वेष न रखें। सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखें और चतुः शरण की शरण स्वीकार करें। अपने पूर्वाचीर्ण अनाचारों की गह्रा करें और कर्मोदय से आए इस कष्ट को समता से सहन करें। जो कर्म किए हुए हैं, वे भोगने ही पड़ते हैं। दूसरा तो निमित्त

मात्र होता है। इसलिए शुभचिंतनरूप परलोक के पाथेय को स्वीकार करें। आप समस्त मोह और आसक्ति से विलग हो जाएं। संसार में न कोई माता है, न पुत्र, न भाई और न कोई बंधु। दुःख-बहुल संसार में धन भी किसी का शरण नहीं बन सकता। एक मात्र जिनेन्द्र देव का धर्म ही त्राण और शरण बन सकता है।' युगबाहु ने हाथ जोड़कर मस्तक से यह सब स्वीकार किया। शुभ अध्यवसाय से वह कुछ ही समय में देवगति को प्राप्त हो गया। चन्द्रयश विलाप करने लगा।

मदनरेखा ने सोचा—'इस प्रकार के अनर्थकारी मेरे इस रूप को धिक्कार है। वह पापी मेरी इच्छा के बिना भी अवश्य मेरा शील भंग करेगा अतः यहां रहना उचित नहीं है। किसी दूसरे स्थान पर जाकर इहलोक और परलोक को सुधारूंगी अन्यथा वह पापी मेरे गर्भस्थ पुत्र को भी मार सकता है।' ऐसा सोचकर वह आधी रात के समय ही उद्यान से बाहर निकली और पूर्वदिशा में प्रस्थित हो गई। एक भयानक अटवी में उसने रात गुजारी। दूसरे दिन चलते-चलते मध्याह्न तक वह पद्म-सरोवर के पास पहुंची। वन के फलों से उसने अपनी बुभुक्षा शान्त की। रास्ते की थकान से खिन्न होकर सागारिक अनशन कर वह कदली-गृह में सो गई। रात प्रारम्भ हुई। वहां व्याघ्र, सिंह, वराह आदि अनेक हिंस्र पशुओं का पक्षान्तक आवाहन आने लगी। मदनरेखा का भय बढ़ा। वह नमस्कार महामंत्र का जप करने लगी। अचानक आधी रात को उसके पेट में प्रसव-वेदना हुई। अत्यन्त कष्टपूर्वक उसने सर्वलक्षणसम्पन्न एक बालक को जन्म दिया।

प्रातःकाल बालक को कंबल-रत्न से आवेष्टित कर युगबाहु के नाम की मुद्रिका पहनाकर वह सरोवर पर गई। कपड़ों को धोकर वह स्नान के लिए सरोवर में उतरी। इसी बीच जल के मध्य स्नान करते हुए एक जलहस्ती ने उसे सूंड से पकड़ा और आकाश में उछाल दिया। नियतिवश नंदीश्वरद्वीप की ओर जाते हुए एक विद्याधर ने उसे देखा। 'यह रूपवती है,' ऐसा सोचकर करुण क्रन्दन के साथ नीचे गिरती हुई मदनरेखा को विद्याधर ने पकड़ लिया। वह उसे वैताढ्य पर्वत पर ले गया। रोते हुए मदनरेखा ने कहा—'भो महासत्त्व! आज रात्रि में वन के मध्य मैंने प्रसव किया है। अपने पुत्र को कदलीगृह में छोड़कर मैं सरोवर में स्नान के लिए उतरी थी। जलहस्ती ने मुझे सूंड से ऊपर उछाला। इसी बीच आपने मुझे झेल लिया। बालक को कोई वन्य पशु मार न दे अथवा आहार न मिलने पर वह स्वयं न मर जाए अतः आप मुझे अपत्यदान देने की कृपा करें, व्याघात न करें। हिंस्र पशुओं से उसे बचाएं। आप मुझे शीघ्र वहां ले चले।' विद्याधर ने कहा—'यदि तुम मुझे पति के रूप में स्वीकार करो तो तुम्हारे आदेश का पालन कर सकता हूँ।' विद्याधर बोला—'गांधार जनपद के रत्नापथ नगर में मणिचूड़ नामक विद्याधर राजा था। उसकी पत्नी का नाम कमलावती था। मैं उसका पुत्र मणिप्रभ हूँ। दोनों श्रेणियों के आधिपत्य का पालन कर मणिचूड़ कामभोगों से विरक्त होकर मुझे राज्य सौंपकर चारण श्रमण के पास दीक्षित हो गया। वह अनुक्रम से विहार करता हुआ कल यहां आया था। अभी चैत्यवन्दन हेतु नंदीश्वर द्वीप गया है। उसके पास जाते हुए तुम मुझे दिखलाई दी। अतः हे सुन्दरी! तुम्हें सब विद्याधरियों की स्वामिनी बना दूंगा। मुझे तुम अपना स्वामी स्वीकार कर लो।'

उसने आगे उसके पुत्र के बारे में बताते हुए कहा—'मिथिला का राजा शिकार के लिए निकला। अश्व उसे निर्जन अटवी में ले आया। अटवी में विचरण करने वाले मिथिला के राजा ने

तुम्हारे पुत्र को देखा। उसे लेकर उसने अपनी महादेवी को दे दिया। वह पुत्र की भांति उसका लालन-पालन कर रही है। यह सारी बात मैंने अपने विद्याबल के उपयोग से जान ली है। इसलिए हे सुतनु! उद्वेग को छोड़कर धीरज करो। अपने मन को प्रसन्न करो। अपनी यौवनश्री को मेरे साथ रमणकर आनंदित करो।' यह सुनकर मदनरेखा ने सोचा—'मेरे कर्मों की रेखा कितनी विचित्र है? मुझे नई विपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है। अब मुझे क्या करना चाहिये? कामदेव से ग्रसित प्राणी कार्य और अकार्य का विवेक नहीं कर सकता। वह लोकापवाद की चिंता नहीं करता तथा परलोक का हित नहीं सोचता। इसलिए मुझे किसी भी अवस्था में शील की रक्षा करनी चाहिए।' ऐसा सोचकर उसने विद्याधर से कहा—'आप मुझे नंदीश्वर द्वीप ले चलें। वहां जाकर मैं आपकी इच्छा पूरी करूंगी।' विद्याधर ने प्रसन्नमन से श्रेष्ठ विमान की विकुर्वणा की। मदनरेखा को उसमें बिठाकर वह नंदीश्वरद्वीप ले गया। मणिप्रभ और मदनरेखा दोनों विमान से उतरे और उन्होंने ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन, वारिषेण आदि जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा-अर्चना की। उन्होंने मणिचूड़ चारण मुनि को भी वंदना की और उनके पास बैठ गये। मणिचूड़ चार ज्ञान के धारक थे। उन्होंने अपने ज्ञान के बल से मदनरेखा का वृत्तान्त जान लिया और धर्मकथा से मणिप्रभ को उपशान्त किया। मणिप्रभ ने मदनरेखा से अपने कृत्य के लिए क्षमा मांगी। मणिप्रभ ने कहा—'आज से तुम मेरी भगिनी हो। बोलो, अब मैं तुम्हारे लिए क्या करूं?' मदनरेखा ने कहा—'आपने मुझे नंदीश्वर तीर्थ दिखला दिया अतः बहुत उपकार किया है।' मदनरेखा ने मुनिप्रवर से कहा—'भगवन्! आप मुझे अपने पुत्र का वृत्तान्त बतायें।'

मुनि ने कहा—'जंबूद्वीप के पूर्व विदेह के पुष्कलावती विजय में मणितोरण नामक नगर था। वहां अमितयश नामक चक्रवर्ती था। उसकी भार्या पुष्पवती से दो पुत्र उत्पन्न हुए—पुष्पसिंह और रत्नसिंह। वे दोनों चौरासी लाख पूर्व राज्य कर संसार के भय से उद्विग्न होकर चारण श्रमणों के पास प्रव्रजित हो गए। सोलह लाख पूर्व तक यथोचित श्रामण्य का पालन कर आयु-क्षय होने पर वे अच्युत कल्प में बाबीस सागरोपम के आयुष्य वाले इन्द्र सामानिक देव बने। देव-ऋद्धि का सुख भोगकर वहां से च्युत होकर धातकीखंड के अर्द्ध भरत में हरिषेण बलदेव की पत्नी समुद्रदत्ता के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। एक का नाम सागरदेव तथा दूसरे का नाम सागरदत्त रखा गया। राज्यश्री को असार जानकर बारहवें तीर्थकर दृढ़ सुव्रत स्वामी के तीर्थ के अतिक्रान्त हो जाने पर आचार्य के पास दीक्षित हुए। दीक्षित होने के तीसरे दिन विद्युद्घात से वे दिवंगत हो गये। वे महाशुक्र देवलोक में उत्पन्न हुए। सतरह सागरोपम तक देव-सुख का अनुभव किया। बाबीसवें तीर्थकर के कैवल्य-उत्सव पर वे वहां गए। वहां उन्होंने भगवान् से पूछा—'यहां से च्युत होकर हम कहां उत्पन्न होंगे।' भगवान् ने कहा—'एक मिथिला नगरी के राजा जयसेन के पुत्ररूप में तथा दूसरा सुदर्शनपुर के युगबाहु राजा की पत्नी मदनरेखा के यहां पुत्र होगा। परमार्थतः वे पिता-पुत्र होंगे।' ऐसा सुनकर वे देव पुनः देवलोक में चले गये।

एक देव वहां से च्युत होकर मिथिला नगरी के राजा जयसेन की पत्नी वनमाला के यहां उत्पन्न हुआ। उसका नाम पद्मरथ रखा गया। जब वह युवा हुआ तो पिता ने उसे राजा बना दिया और स्वयं प्रव्रजित हो गया। उसकी पत्नी का नाम पुष्पमाला था। राज्य का पालन करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया।

इधर दूसरा देव देवलोक से च्युत होकर तुम्हारा पुत्र बना। वह पद्मरथ अविनीत घोड़े के द्वारा पथ से च्युत हो गया और अटवी में चला गया। आज प्रातः घूमते हुए उसने तुम्हारा पुत्र देखा। पूर्वभव के स्नेह के कारण उसने अत्यन्त प्रसन्न हृदय से उसे स्वीकार कर लिया। इसी बीच पैर के चिह्नों से खोजते हुए सेना भी वहीं आ गई। वह हाथी पर चढ़कर अपने नगर चला गया। उसने वह बालक अपनी पत्नी पुष्पमाला को दे दिया। राजा ने नन्दनिधन समाप्त हो गया। अत्यन्त स्नेह से उसका लालन-पालन हो रहा है। जब मुनि यह वृत्तान्त बता रहे थे तभी एक दिव्य देदीप्यमान विमान वहां उतरा। उसमें से श्रेष्ठ रत्नों का मुकुट पहने, चंचल मणिकुंडल धारण किए हुए, वक्षस्थल में हार पहने हुए एक देव निकला। वह तीन बार प्रदक्षिणा देकर मदनरेखा के चरणों में गिर पड़ा। उसके बाद वह मुनि के चरणों में वंदना कर धरती पर बैठ गया। तब विद्याधर ने देव का अभिनव देखकर कहा—

अनरेहि नरवरेहि य, परुविया हुंति रायनीईओ।

लुप्पति जत्थ ते च्चिय, को दोसो तत्थ इयराणं? ॥

—देवता और राजा नीति का प्ररूपण करते हैं। यदि वे भी उसका लोप करते हैं तो दूसरों का तो कहना ही क्या?

‘क्रोधादि दोष से रहित, पांच इन्द्रियों का दमन करने वाले, मद का नाश करनेवाले, श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले, तप और संयम से युक्त इम धीर श्रमण को छोड़कर तुमने इस रमणी को पहले वंदना क्यों की?’ देव ने कहा—हे विद्याधरराज! तुमने जो कहा है, वह सत्य है। मैंने इसको प्रथम वंदना की, इसका कारण सुनो। सुदर्शनपुर में मणिरथ नामक राजा था। उसका भाई युगबाहु था। पूर्वभव के वैर के कारण बसंत मास में अपने भाई मणिरथ के द्वारा उसके गर्दन पर प्रहार किया गया। जब मैं मरणासन्न था तब इस मदनरेखा ने जिनधर्म का उपदेश दिया और वैर के अनुबन्ध को उपशान्त कर दिया। सम्यक्त्व आदि परिणामों से कालगत होकर मैं पंचम कल्प में दस सागर की आयुष्य वाला इंद्र सामानिक देव बना हूँ। यह मेरी धर्मगुरु है क्योंकि इस से मैंने सम्यक्त्व का मूल जिनधर्म स्वीकार किया है। कहा भी है—

जो जेण सुद्धधम्ममि, ठाविओ संजएण गिहिणा वा।

सो चेव तस्स जायइ, धम्मगुरू धम्मदाणाओ ॥

जो संयमी साधु या गृहस्थ किसी को धर्म में स्थित करता है, वह उसका धर्मगुरु है इसलिए मैंने इसे पहले वंदना की। यह सुनकर विद्याधर ने सोचा—‘अहो! जिनधर्म का कितना सामर्थ्य है? संसार में अनेक ऐसे व्यक्ति हैं, जो दुःख प्राप्त करते हैं पर जिनधर्म में प्रयत्न नहीं करते।’

देव ने मदनरेखा से कहा—‘साधर्मिणो! कहो, मैं तुम्हारा क्या प्रिय कर सकता हूँ?’ मदनरेखा ने कहा—‘आप परमार्थ के अलावा मेरा और कोई प्रिय करने में समर्थ नहीं हैं। जन्म, जरा, मरण आदि से रहित मोक्ष-सुख ही मुझे प्रिय है। फिर भी हे त्रिदशेश्वर! मुझे आप मिथिला ले जाएं, वहां पुत्र का मुंह देखकर मैं परलोक का हित-सम्पादन करूंगी।’ तब देवता उसको तत्क्षण मिथिला ले गया। मिथिला तीर्थकर मल्लिनाथ और नमिनाथ की जन्म और अधिनिष्क्रमण भूमि है अतः तीर्थभूमि

हैं। वहां वे एक उपाश्रय में गए साध्वियों को वंदना की और उनके सम्मुख बैठ गये। साध्वियों ने उन्हें उपदेश दिया कि मनुष्य जन्म प्राप्त कर, धर्म और अधर्म को जानकर सकल सुख के कारण धर्म में प्रयत्न करना चाहिये। धर्मकथा की समाप्ति पर देवता ने कहा—‘अब राजभवन चलते हैं। वहां तुम्हें तुम्हारे बेटे का मुंह दिखा दूंगा।’ मदनरेखा ने कहा—‘संसार बढ़ाने वाले स्नेह से क्या लाभ? मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूंगी।’ तुम्हें जो रुचिकर लगे वह करो ऐसा कहकर देवता अपने कल्प में लौट गया। मदनरेखा ने साध्वियों के समक्ष दीक्षा ग्रहण कर ली। उसका नाम सुव्रता रखा गया। वह दीक्षित होकर तप और संयम से स्वयं को भावित करने लगी।

इधर वह बालक पद्मरथ राजा के यहां सुखपूर्वक बढ़ने लगा। विपक्षी राजा पद्मरथ के प्रति विनम्र हो गए अतः राजा ने बालक का गुणनिष्पन्न नाम नमि रख दिया। वह पांच धाइयों से परिवृत होकर सुखपूर्वक बढ़ने लगा। जब वह आठ वर्ष का हुआ तभी सब कला-शास्त्र में निपुण हो गया। इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न देवांगनाओं के रूप की लज्जित करने वाली एक हजार आठ कन्याओं के साथ विषय-सुख का अनुभव करता हुआ वह समय बिताने लगा। पद्मरथ राजा भी संसार को असारता को जानकर नमिकुमार को विदेह जनपद का राजा बनाकर स्वयं संयमश्री का वरण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया। नमिराजा राज्य का सम्यक् प्रकार से पालन करने लगे। इधर मणिरथ को ठसी रात में सांप ने डस लिया। मरकर वह चौथी नारकी में उत्पन्न हुआ। सामंत और मंत्रियों ने चन्द्रयश को राजा बना दिया। चन्द्रयश राज्य का भलीभांति परिपालन करने लगा।

एक बार नमि राजर्षि के राज्य का प्रधान हाथी आलानस्तंभ को तोड़कर विंध्य अटवी की ओर भाग गया। वह सुदर्शनपुर नगर के निकट से निकल रहा था। चन्द्रयश राजा की अश्वसेना ने जाते हुए हाथी को देखा। राजा को यह बात बताई गई। चन्द्रयश हाथी को पकड़कर नगर में लेकर आ गया। गुप्तचरों ने नमि राजा को सारा वृत्तान्त बताया। उन्होंने कहा—‘धवल हस्ती को चन्द्रयश ने पकड़ लिया है अतः आप ही प्रमाण हैं। आज्ञा दें हम क्या करें?’ नमि राजा ने चन्द्रयश के पास दूत भेजकर कहलवाया—‘यह धवल हस्ती मेरा है अतः इसे वापिस भेजें।’ नमि के दूत ने चन्द्रयश को यह बात बताई। चन्द्रयश ने कहा—‘रत्नों पर किसी का नाम नहीं लिखा जाता। जो अधिक बलशाली है, वही उसका स्वामी है। नीतिकार कहते हैं :—

कौ देइ कस्स दिज्जइ, कमागया कस्स कस्स व निबद्धा।

विक्रमसारेहि जिए, भुज्जह वसुधा नरिदेहि ॥

वसुधा को कौन किसे देता है? क्रमागत यह वसुधा किस-किस के साथ निबद्ध नहीं हुई। जो पराक्रमी नरेन्द्र होते हैं, वे ही इसका उपभोग भी करते हैं।

तिरस्कृत और सम्मानित होकर दूत मिथिला नगरी में आ गया। चन्द्रयश की सारी बात राजा नमि को बताई गयी। क्रुपित नमि राजा ने सेनाबल के साथ चन्द्रयश पर आक्रमण कर दिया। इधर चन्द्रयश राजा नमि को आक्रमण के लिए आया जानकर सेना के साथ प्रस्थित हुआ। सामने अपशकुन देखकर वह रुक गया। मंत्रियों ने चन्द्रयश राजा को कहा कि नगरद्वार बंद करके हम दुर्ग में रह

जाएँ। उचित समय पर हम अन्य उपाय करेंगे। राजा ने मंत्रियों की बात स्वीकार कर ली। इधर नमि राजा ने आकर नगर को चारों ओर से घेर लिया। जनश्रुति से साध्वी सुव्रता के पास भी यह बात पहुँची। उसने सोचा—'जन और धन की हानि कर ये दोनों अधोगति में न जाएँ इसलिए मैं जाकर उन दोनों को उपशान्त करूँगी।' मुखिया साध्वी की आज्ञा लेकर साध्वियों के साथ साध्वी सुव्रता सुदर्शनपुर गई। आर्या सुव्रता ने नमि राजा को देखा। नमि राजा ने आदरपूर्वक साध्वी को आसन दिया। साध्वी सुव्रता को वंदना कर नमिराज! भूमि पर बैठ गया। साध्वी सुव्रता ने निःसीम सुख के निमित्तभूत जिनधर्म की व्याख्या की। धर्म-कथा के अंत में साध्वी ने कहा—'राजन्! यह राज्यश्री असार है। विषय-सुखों का विपाक बहुत दारुण होता है। पापी व्यक्ति अत्यधिक दुःखप्रद स्थान नरक में उत्पन्न होते हैं इसलिए इस संग्राम से तुम निवृत्त हो जाओ। रहस्य की बात यह है कि ज्येष्ठ भाई के साथ कैसा संग्राम?' नमिराज ने कहा—'क्या वह मेरा ज्येष्ठ भाई है? यह कैसे?' साध्वी सुव्रता ने अपना सारा वृत्तान्त सप्रमाण उसे सुना दिया। फिर भी अभिमानवश वह युद्धभूमि से उपरत नहीं हुआ। तब साध्वी सुव्रता एक छोटे दरवाजे से नगर में प्रवेश कर राजभवन में गई। जैसे ही उसने राजभवन में प्रवेश किया, परिजनों ने उसे पहचान लिया। चन्द्रयश राजा ने साध्वी माता को वंदना की। उनको आदरपूर्वक स्थान दिया और स्वयं धरती पर बैठ गया। अंतःपुर के सदस्यों ने आर्या के आगमन की बात सुनी। वे अश्रुपूरित नयनों से आए और साध्वी सुव्रता की चरण-वंदना की।

राजा चन्द्रयश ने साध्वी से कहा—'यह दुर्धर व्रत क्यों स्वीकार किया है?' आर्या सुव्रता ने अपना पूर्व वृत्तान्त सुनाया। चन्द्रयश ने पूछा—'मेरा छोटा भाई अभी कहाँ है?' आर्या ने कहा—'जिसने तुम पर आक्रमण किया है, वही तुम्हारा छोटा भाई है।' यह सुनकर हर्ष से रोमांचित होकर वह नगर से निकला। नमिराज भी अपने बड़े भाई चन्द्रयश को आते देखकर दौड़ा और उनके चरणों में गिर पड़ा। बड़े आदर-सत्कार और हर्ष के साथ चन्द्रयश ने अपने छोटे भाई को नगर में प्रवेश करवाया। चन्द्रयश ने नमिराज को सम्पूर्ण अवन्ती जनपद का राज्य देकर उसका अभिषेक किया फिर महाराज चन्द्रयश श्रामण्य को स्वीकार कर सुखपूर्वक विहरण करने लगे। नमिराज दोनों देशों पर नीतिपूर्वक राज्य करने लगा। उसका अनुशासन अत्यन्त कठोर था।

एक बार राजा नमि को दाहज्वर हो गया। उसने छह मास तक उसकी घोर वेदना सहनी। वैद्यों ने रोग को असाध्य बता दिया। दाहज्वर को शांत करने के लिए रानियाँ चंदन घिसती रहीं। चंदन घिसते हुए उनके हाथ के कंकण बज रहे थे। कंकण की आवाज से पूरा राजभवन गुंजित हो रहा था। कंकण की आवाज राजा के कानों को अप्रिय लग रही थी। राजा ने कहा कि इस आवाज से मेरे कानों पर आघात सा लगता है। सभी रानियों ने सौभाग्य चिह्न स्वरूप एक-एक कंकण को छोड़कर शेष सभी कंकण उतार दिये। कुछ देर बाद राजा ने मंत्री से पूछा—'कंकण का शब्द क्यों नहीं बज रहा है?' मंत्री ने कहा—'राजन्! कंकण के घर्षण से होने वाली ध्वनि आपको अप्रिय लग रही थी अतः सभी रानियों ने एक-एक कंकण के अतिरिक्त शेष कंकण उतार दिये हैं। अकेले कंकण से घर्षण नहीं होता अतः घर्षण के बिना शब्द भी नहीं हो सकता। यह सुनकर राजा नमि ने परमार्थ का चिंतन किया—'सुख अकेलैपन में है। जहाँ द्वैत है, अनेक हैं, वहाँ दुःख है। राजा

का आत्ममंथन आगे चला। उसने संकल्प ग्रहण किया कि यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊंगा तो अवश्य प्रव्रजित हो जाऊंगा। उस दिन कार्तिक मास की पूर्णिमा थी। राजा इसी चिंतन में लीन होकर सो गया। रात्रि के अंतिम प्रहर में उसने स्वप्न देखा कि श्वेत नागराज मंदरपर्वत पर स्वयं चढ़ गया है। सवेरे नंदीघोष की आवाज से वह जागा। वह प्रसन्नमना चिंतन करने लगा कि मैंने श्रेष्ठ स्वप्न देखा है। पुनः वह गहराई से चिंतन करने लगा कि ऐसा पर्वत मैंने पहले कभी देखा है। इस प्रकार चिंतन करते हुए उसे जातिस्मृति हो गई। उसने देखा कि इस जन्म से पूर्व भनुष्य भव में श्रामण्य का पालन करके मैं पुष्पोत्तर विमान में उत्पन्न हुआ था। नमि राजा प्रतिबुद्ध होकर प्रव्रजित हो गया।^१

५२. नगगति

भरतक्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर था। वहां का राजा जितशत्रु था। एक बार राजा ने चित्रसभा का निर्माण प्रारम्भ करवाया। उसने चित्रसभा का समविभाग कर विभिन्न चित्रकारों को उसे चित्रित करने के लिए कहा। अनेक चित्रकार उसमें लगे। चित्रांगक नामक एक वृद्ध चित्रकार उसमें चित्र करता था। वृद्ध चित्रकार की युवा पुत्री कनकमंजरी रोज उसके लिए भोजन लेकर आती थी। एक दिन वह भोजन लेकर अपने पिता के पास आ रही थी। जब वह जनसंकुल राजमार्ग पर चल रही थी तब तीव्र गति से एक घुड़सवार वहां से गुजरा। वह भयभीत होकर एक ओर सरक गई। घुड़सवार के जाने पर वह अपने पिता के पास आई। चित्रांगक भोजन को आया देखकर शरीर-चिंता के लिए चला गया। कनकमंजरी ने कौतुकवश पृथ्वी-तल पर रंगों से बने प्रतिरूप मोरपिच्छ को देखा। इसी बीच राजा जितशत्रु चित्रसभा में आ गया। चित्र देखते हुए उसने पृथ्वी पर मोरपिच्छ को देखा। 'यह सुन्दर है' ऐसा सोचकर उसने उसे उठाने के लिए हाथ आगे बढ़ाया। वेग के कारण उसके नखाग्रभाग टूट गए। वह चारों ओर दिग्मूढ़ होकर देखने लगा। कनकमंजरी ने हंसते हुए कहा—'तीन पैर से कोई भी आसंदक—कुसी नहीं ठहरती। चौथे मूर्ख पुरुष की खोज करते हुए आज तुम आसंदक के चौथे पैर मिल गए हो।' राजा ने कहा—'कैसे? इसका परमार्थ बताओ।' उसने कहा—'आज मैं अपने पिता के लिए खाना लेकर आ रही थी तब राजमार्ग में एक पुरुष अश्व को बहुत तीव्र गति से चला रहा था। उसके मन में थोड़ी भी करुणा नहीं थी। उसने यह नहीं सोचा कि राजमार्ग से अनेक बाल, वृद्ध, स्त्री आदि गुजरते हैं, कोई भी असमर्थ व्यक्ति उस तीव्रगामी अश्व से कुचला जा सकता है। इसलिए वह महामूर्ख अश्ववाहक आसंदी का एक पैर था। दूसरा पैर है यहां का राजा, जिसने चित्रकारों को समविभाग में चित्रसभा बांटी है। एक-एक कुटम्ब में अनेक चित्रकार होते हैं। मेरा पिता अकेला है। उसके कोई पुत्र नहीं है। वह वृद्ध तथा निर्धन भी है। ऐसे व्यक्ति के लिए भी समविभाग किया है। तीसरा पैर मेरा पिता है, जिसने इस चित्रसभा को चित्रित करते हुए पूर्वार्जित सारा धन खा लिया। इस समय जैसे-तैसे मैं उनके लिए भोजन लाती हूँ। भोजन आने के बाद वह शरीर-चिंता के लिए जाता है। भोजन ठंडा हो जाता है। यह कैसा भोजन?' राजा बोला—'मैं चौथा पैर कैसे हूँ?' कनकमंजरी ने कहा—'तुम सब कुछ जानते हो। यहां मोर का

आगमन कैसे हो सकता है? यदि मोर का आना संभव भी हो तो दृष्टि से अच्छी तरह देखना चाहिए।' राजा ने कहा—'सत्य है। मैं मूर्ख हूँ और आसंदी का चौथा पैर हूँ।' राजा उसके वचन-विन्यास और दह के लावण्य को देखकर उस पर अनुरक्त हो गया। कनकमंजरी भी पिता को भोजन खिलाकर अपने घर चली गयी।

राजा ने अपने सुगुप्त नामक मंत्री के माध्यम से चित्रांगक से कनकमंजरी को मांगा। चित्रांगक ने कहा—'हम दरिद्र हैं अतः विवाह के अवसर पर राजा का सत्कार आदि कैसे कर सकते हैं?' मंत्री ने राजा को आकर सारी बात कही। राजा ने धन, धान्य और हिरण्य से चित्रांगक का भवन भर दिया। प्रशस्त तिथि और मुहूर्त में वैभव के साथ राजा के साथ कनकमंजरी का विवाह हो गया। राजा ने उसके महल में अनेक दास-दासियों को रख दिया।

राजा जितशत्रु के अनेक रानियाँ थीं अतः एक-एक रानी अपने क्रम के अनुसार राजा के शयनगृह में जाती थीं। उस दिन कनकमंजरी को बुलाया गया। वह अलंकारों से विभूषित होकर मदनिका दासी के साथ वहाँ गई। वह आसन पर बैठ गई। इसी बीच राजा वहाँ आ गया। राजा को देखते ही वह विनय-पूर्वक उठी। राजा शय्या पर बैठ गया। इससे पूर्व ही कनकमंजरी ने मदनिका को कह दिया कि राजा के बैठने पर मुझे आख्यानक सुनाने के लिए कहना जिससे राजा भी सुन सके। तब मदनिका ने अवसर देखकर कहा—'स्वामिनी! जब तक राजा सो न जाए तब तक एक कथा सुना दो।' कनकमंजरी ने कहा—'मदनिका! जब राजा नींद में सो जाएगा तब कथा कहूँगी।' राजा ने सोचा यह कैसी कथा कहेगी मैं भी इसकी कथा सुनूँगा अतः वह कपट-नींद में सो गया। मदनिका ने कहा—'स्वामिनी! राजा सो गया है अतः अब आख्यानक सुनाओ।'

कनकमंजरी ने कथा सुनाना प्रारम्भ किया—'बसंतपुर नगर में वरुण नामक सेठ रहता था। उसने एक हाथ प्रमाण पत्थर का मंदिर बनाया। उसमें चार हाथ प्रमाण देवता की मूर्ति बनवाई।' मदनिका ने कहा—'स्वामिनी! एक हाथ प्रमाण देवकुल में चार हाथ का देव कैसे समाएगा? कनकमंजरी ने कहा—'अभी राजा निद्राधीन है अतः कल कहूँगी।' 'ऐसा ही हो' कहकर मदनिका अपने घर चली गयी। राजा को कौतूहल उत्पन्न हो गया, ऐसा कैसे हुआ? वह सो गई।

दूसरे दिन रात्रि को राजा ने कनकमंजरी को पुनः बुलाया। उस दिन भी मदनिका ने कहा—'स्वामिनी! अब आधे कहे हुए कथानक को पूरा करो।' कनकमंजरी ने कहा—'वह देव चतुर्भुज था। उसके शरीर का प्रमाण इतना नहीं था। इतना ही आख्यानक है।' मदनिका ने कहा—'अन्य कोई आख्यानक कहें।' कनकमंजरी ने कहा—'हले! एक बड़ी अटवी थी। उसके अन्दर विस्तृत शाखा-प्रशाखा वाला एक लाल अशोक का वृक्ष था। उसके छाया नहीं थी।' मदनिका ने कहा—'इतने बड़े वृक्ष की छाया कैसे नहीं थी?' कनकमंजरी ने कहा—'आगे की कथा कल कहूँगी। इस समय मैं नींद के पराधीन हो रही हूँ।' तीसरे दिन भी कौतुक वश राजा ने उसी को बुलाया। मदनिका के पूछने पर उसने कहा—उस पादप की अधः शाखा थी अर्थात् नीचे छाया पड़ती थी ऊपर नहीं।

अन्य कथा पूछने पर उसने कहना प्रारम्भ किया—एक सन्निवेश में एक ग्राम-मुखिया था। उसके पास एक बड़ा ऊंट था। वह स्वच्छंद विचरण करता था। एक दिन चरते हुए उसने पत्र, पुष्प एवं फल से समृद्ध बबूल का वृक्ष देखा। वह ऊंट उसके सामने अपनी गर्दन फैलाने लगा, लेकिन

वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका। इसलिए वह बहुत देर तक क्लेश पाता रहा। फिर वह अच्छी तरह चारों ओर गर्दन फैलाने लगा। जब उसने किसी भी प्रकार कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका तो वह कुपित हो गया। उसने उसके ऊपर मूत्र और मल का विसर्जन कर दिया। मदनिका ने कहा—‘उसने बबूल के वृक्ष पर मल और मूत्र का विसर्जन कैसे किया जब कि वह मुख से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता था।’ कनकमंजरी ने कहा—‘आगे कल कहूंगी।’ दूसरे दिन उसने कहा—‘वह बबूल का वृक्ष अंधकूप के गर्त के मध्य था इसलिए ऊंट कुछ भी खा नहीं सका।’ इस प्रकार कनकमंजरी छह महीने तक अनेक आख्यानकों से राजा को मोहित करती रही। राजा का उसके प्रति अत्यधिक अनुराग हो गया। राजा उसके साथ ही एकान्तरित समय बिताने लगा। उसकी सपत्नियां उस पर कुपित हो गयीं और छिद्रान्वेषण करने लगीं। वे सपत्नियां कहने लगीं—इसने राजा पर वशीकरण—सम्मोहन कर दिया है, जिससे उत्तम कुल में प्रसूत हम सबको राजा ने त्याग दिया है। इस शिल्पी की कन्या में अनुरक्त राजा गुण और दोष का विचार भी नहीं करता है। राजा राज्य-कार्य में भी रस नहीं लेता है। इस मायाविनी के कारण धन का नाश होने पर भी राजा को चिंता नहीं होती।

इधर कनकमंजरी मध्याह्न बेला में अपने प्रासाद में जब अकेली रहती तब राजा के दिए हुए कपड़े, आभरण आदि उतार कर पिता के दिए कपड़े पहनती तथा पुष्प के बने अलंकारों को धारण कर स्वयं को संबोधित करती—‘हे जीव! तू ऋद्धि का गौरव और मद मत कर। तू अपने आपकी विस्मृति मत कर। यह समृद्धि राजा की है। तेरे पास तो केवल फटे-पुराने कपड़े और ऐसे आभरण हैं इसलिए तू उपशान्त रह, जिससे तू द्धिरकाल तक इस समृद्धि में सहभागी बन सकती है अन्यथा राजा एक दिन गर्दन पकड़कर बाहर निकाल देगा’। उसकी प्रतिदिन की इस प्रकार की चेष्टाओं को देखकर सपत्नियों ने राजा से कहा—‘यद्यपि आप हम पर निःस्नेह हो गए हैं फिर भी हम आपको अकुशल और अमंगल से बचाती हैं। नारी के लिए पति देवता होता है। वह आपकी हृदयवल्ली भा दयिता कोई क्षुद्रकर्म की साधना कर रही है। उसके वशीभूत होकर आप अपना अनर्थ भी नहीं देख पाते।’

राजा ने कहा—‘कैसे?’ सपत्नियों ने कहा—‘मध्याह्न बेला में जब यह सब कार्यों से उपरत हो जाती है तब द्वार बंद करके कुछ समय तक मन ही मन में कुछ गुनगुनाती है। यदि आपको विश्वास न हो तो आप किसी आत्मीय व्यक्ति को भेजकर खोज कराएं।’ यह सुनकर अपवरक में प्रविष्ट कनकमंजरी को देखने के लिए राजा स्वयं गया। द्वार पर स्थित होकर राजा ने वैसा ही देखा जैसा कहा गया था। राजा ने उसका आत्मानुशासन—स्व को संबोधित कर कहे गए वाक्य सुने। वह बहुत प्रसन्न हुआ। राजा ने सोचा इसमें कितना बुद्धि-कौशल है! कैसा अभिमान का त्याग है! कितना विवेक है! सचमुच यह सकल गुणों की निधान है। मात्सर्य के कारण से सपत्नियां इसके गुण को भी दोष रूप में देख रही हैं। राजा ने प्रसन्न होकर उसे सारे राज्य की स्वामिनी बना दिया। उसे पट्टबद्ध रानी के रूप में मान्यता दे दी। उसे पटरानी बना दिया।

एक बार विमलचन्द्र आचार्य के पास राजा ने कनकमंजरी के साथ श्रावक धर्म अंगीकार किया। कालान्तर में कनकमंजरी मर कर देवी बनी। वहां से ज्युत होकर वैताद्वय पर्वत पर तोरणपुर नगर में दृढ़शक्ति विद्याधर राजा की पुत्री बनी। उसका नाम कनकमाला रखा गया। क्रमशः वह युवती

बनी। एक बार उसके रूप से आकृष्ट हृदय वाले एक विद्याधर ने उसका अपहरण कर वैताद्वय पर्वत पर प्रासाद की विकुर्बणा करके उसमें रख दिया। उसने वेदिका की रचना की और सोचा यहाँ विवाह करूँगा। इसी बीच कनकमाला का ज्येष्ठ भ्राता कनकतेज वहाँ आ गया। दोनों रोषाग्नि में जलते हुए युद्ध करते हुए आपसी घात-प्रत्याघात से मृत्यु को प्राप्त हो गए। कनकमाला भी भाई के शोक से तीव्र विलाप करती हुई उसी प्रासाद में रहने लगी।

एक दिन व्यन्तर/वाणमन्तर जाति का एक देव वहाँ आया। उसने स्नेहपूर्वक कनकमाला से कहा—‘वत्से! तुम मेरी बेटी हो।’ जब वह देव उसे कह रहा था उस समय दृढ़शक्ति नामक विद्याधर अपने पुत्र और पुत्री की खोज करता हुआ वहाँ आ गया। देवमाया से व्यन्तर ने कनकमाला का रूप परिवर्तन कर दिया। उसने पुत्र, पुत्री और वासव के मृत शरीर को धरती पर पड़े हुए दिखाया। उन्हें देख दृढ़शक्ति ने सोचा—‘मेरे पुत्र को वासव ने मारा है और कनकतेज ने वासव को मारा है। आपस में मारते हुए वासव के द्वारा कनकमाला मारी गयी है। धिक्कार है इस दुःख-बहुल संसार को। कौन सयाना इस संसार में रहना चाहेगा? ऐसा चिन्तन करते-करते वह विरक्त हो गया और उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। व्यन्तर ने अपनी माया को समेटा। कनकमाला और देव ने मुनि बने दृढ़शक्ति को वंदना की। साधु ने पूछा—‘यह क्या है?’ कनकमाला ने अपने भाई का वृत्तान्त उसे सुनाया। साधु ने कहा—‘मैंने तीनों के मरे हुए शरीरों को देखा था।’ देव ने कहा—‘वह मेरी माया थी।’ मुनि ने पूछा—‘ऐसा क्यों किया?’ देव ने इसका कारण बताते हुए कहा—

‘क्षितिप्रतिष्ठित नगर में जितशत्रु नामक राजा था। उसने चित्रांगक चित्रकार की लड़की कनकमंजरी के साथ विवाह किया। वह भी श्राविका बन गई। मरणासन्न अवस्था में उसने चित्रांगक को नमस्कार महामंत्र सुनाया, जिससे वह व्यन्तर जाति का देव बना। वह मैं हूँ। मैं इधर से आ रहा था। मैंने शोक-विह्वल कनकमाला को देखा। मेरे मन में इसके प्रति अत्यधिक स्नेह उमड़ पड़ा। मैंने सोचा कि क्या यह पूर्वभव में मेरी कोई परिचित बंधु रही है जो इतना स्नेह उमड़ रहा है। मैंने अवधिज्ञान से उपयोग लगाया तो पता चला कि यह कनकमंजरी पूर्वभव में मेरी पुत्री थी। यह मरकर विद्याधर की बेटी बनी है। इसी बीच आप आ गए। मैंने सोचा—‘यह तुम्हारे साथ चली जाएगी।’ इस विरह के भय से तुम्हें विमोहित करने के लिए माया रची और इसका मरा हुआ शरीर दिखाया। तुमने दीक्षा स्वीकार कर ली है। अब मैं खेद का अनुभव कर रहा हूँ कि यह महानुभाव अपनी पुत्री से वंचित हो गया। इसलिए आप मेरी दुश्चेष्टा के लिए मुझे क्षमा करें।’ साधु ने कहा—‘तुम मेरे परम उपकारी हो क्योंकि तुम्हारे कारण मैंने धर्म स्वीकार किया है।’ ऐसा कहकर वे विद्याबल से आकाश में उड़ गए और यथासमाधि विहरण करने लगे।

व्यन्तर सुर द्वारा सारी बात सुनकर उस पर चिन्तन करने से कनकमाला को भी जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने अपना पूर्वभव जान लिया कि मैं कनकमंजरी थी और यह देव मेरा पिता था। उसने अपने पिता से पूछा—‘मेरा पति कौन होगा?’ देवता ने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर कहा—‘तुम्हारे पूर्व जन्म का पति जितशत्रु राजा तुम्हारा पति होगा। वह देव होकर वृद्धसिंह राजा का पुत्र सिंहरथ के रूप में उत्पन्न होगा। वही तुम्हारा पति होगा।’ कनकमाला ने पूछा—‘मेरा उसके साथ संयोग कैसे होगा?’ व्यन्तर देव ने कहा—‘एक दुष्ट घोड़ा उसका अपहरण कर यहाँ खींच

लायेगा इसलिए तुम यहां सुखपूर्वक रहो, उद्वेग मत करो। मैं तुम्हारे आदेश का पालन करूंगा।' वह देव उसी प्रासाद में उसके साथ रहने लगा। कनकमाला भी सुखपूर्वक उसके साथ रहने लगी।

एक बार देव मेरु पर्वत पर चैत्य-वंदन हेतु गया। उसी दिन मध्याह्न काल में विपरीत शिक्षा वाले घोड़े पर बैठा सिंहरथ वहां आया। राजा ज्यों-ज्यों लगाम खींचता त्यों-त्यों वह तेजी से दौड़ता था। बारह योजन तक चलने पर राजा ने लगाम ढोली छोड़ी। घोड़ा भी वहीं रुक गया। उसे एक वृक्ष से बांध राजा वहां घूमने लगा। वह रात बिताने हेतु पहाड़ पर चढ़ा। वहां सप्तभौम प्रासाद देखा। राजा महल के अंदर गया। वहां उसने सुन्दर कन्या देखी। दोनों एक दूसरे को देखकर अनुरक्त हो गए। राजा ने उसका परिचय पूछा। उसने कहा—'पहले मेरे साथ विवाह करो फिर मैं अपना सारा वृत्तान्त सुनाऊंगी।' राजा ने अति उत्कंठा से उसके साथ विवाह किया। रात बीतने पर प्रातःकाल कनकमाला ने सारी बात बताई। अपने वृत्तान्त को सुनकर सिंहरथ को जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। इसी बीच देवांगनाओं के साथ वह व्यन्तर देव वहां आया। राजा ने उसको प्रणाम किया। देवता ने हर्षपूर्वक उसका अभिनंदन किया। कनकमाला ने अपने विवाह की बात देव को बताई। यह सुनकर वह बहुत हर्षित हुआ। बातचीत करते-करते मध्याह्न का समय हो गया। राजा ने अपनी पत्नी कनकमाला के साथ दिव्य आहार किया। एक मास तक वह वहीं रहा।

एक दिन राजा सिंहरथ ने कनकमाला से कहा—'मेरे न रहने से प्रतिपक्षी राजा मेरे राज्य में उपद्रव करेंगे अतः अब चलना चाहिये।' कनकमाला ने कहा—'जैसी आपको आज्ञा। पर एक बात है, आपका नगर बहुत दूर है अतः वहां तक पैदल चलना कैसे होगा? मेरे पास प्रज्ञप्ति विद्या है। आप मेरे से प्रज्ञप्ति विद्या साध लें।' कनकमाला ने राजा सिंहरथ को वह विद्या सिखा दी। कनकमाला से पूछकर वह अपने नगर पहुंचा। नागरिकों ने महोत्सव का आयोजन किया। सामंतों ने राजा से सारी बात पूछी। राजा ने सारा घटना-प्रसंग उनको सुनाया। सुनकर सभी लोग विस्मित हो गए। सामंतों ने कहा—'पुण्यशाली जीव चाहे समुद्र में चला जाए या अटवी में, लेकिन अपने पुण्यों के प्रभाव से वहां भी आनन्द मनाता है।'

राजा पांच-पांच दिनों से उसी पर्वत पर कनकमाला से मिलने जाया करता था। कनकमाला के साथ कुछ दिन रहकर वह अपने नगर लौट आता था। लोग कहते राजा पर्वत पर जाता है। इसलिए उसका 'नगति' नाम प्रसिद्ध हो गया।

एक बार नगति राजा घूमने के लिए पर्वत पर गया। व्यन्तर देव ने कहा—'यहां रहते हुए मुझे बहुत समय बीत गया है अतः स्वामी के आदेश से किसी कार्यवश मुझे जाना होगा। संभव है कुछ समय लग जाए। कनकमाला मेरे विरह में अधीर हो जाएगी अतः ऐसा उपाय करना जिससे यह अकेली न रहे।' ऐसा कह देव वहां से चला गया। राजा ने सोचा—इसके मन की शांति का और कोई उपाय नहीं है अतः उसी पर्वत पर एक नगर बसा दिया। प्रलोभन देकर वह अपनी बहुत सी प्रजा को वहां से लेकर आ गया। वहां उसने जिनभवनों का निर्माण कर दिया। उसमें प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवा दी। यात्रा-महोत्सव करते हुए तथा न्याय से राज्य की परिपालना करते हुए समय बीतने लगा।

एक बार घूमते हुए राजा ने पुष्पित आम्रवृक्ष देखा। राजा उसकी एक मंजरी तोड़कर आगे निकल गया। राजा के जाने के बाद पीछे चलने वाली सेना ने उस वृक्ष की मंजरी, पत्र, प्रवाल, पुष्प फूल, फल आदि सभी तोड़ लिए। आम्र का वृक्ष केवल टूट मात्र रह गया। कुछ समय पश्चात् राजा उसी मार्ग से लौटा। राजा ने पूछा—‘वह आम्रवृक्ष कहां है?’ मंत्री ने अंगुलि के इशारे से टूट की ओर इशारा किया। राजा ने पूछा—‘इसकी ऐसी अवस्था कैसे हुई?’ मंत्री ने कहा—‘राजन्! आपने एक मंजरी तोड़ी। उसके बाद पूरी सेना ने एक-एक चीज तोड़कर इसकी ऐसी अवस्था कर दी।’ नगति राजा ने सोचा—‘निश्चित ही जहां ऋद्धि है, वहां शोभा है परन्तु सारी ऋद्धियां स्वभावतः चंचल हैं’ ऐसा सोचते-सोचते वह संबुद्ध हो गया।

चारों प्रत्येकबुद्ध क्षितिप्रतिष्ठित नगर के चार द्वार वाले देवकुल में पहुंचे। पूर्व दिशा के द्वार से करकंडु ने, दक्षिण दिशा के द्वार से द्विमुख ने, पश्चिम दिशा के द्वार से नमि ने तथा उत्तर दिशा के द्वार से गांधार अधिपति नगति ने प्रवेश किया। साधु के सामने दूसरी ओर मुंह करके कैसे रहूं इसलिए व्यंतर देव ने चारों ओर अपना मुंह कर लिया।

राजर्षि करकंडु के बालपन से ही खुजली का रोग था। उसने खाज करने वाले उपकरण द्वारा धीरे से अपने कान को खुजलाया। उस उपकरण को उसने एक स्थान पर छिपा दिया। छिपाते हुए उसे द्विमुख ने देख लिया। मुनि द्विमुख बोला—‘जब तुमने राज्य, राष्ट्र, नगर और अंतःपुर भी छोड़ दिया है तो फिर मुनि बनकर संन्यास क्यों करते हो?’ करकंडु ने इस बात का कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। उस समय नमि राजर्षि बोले—‘जब तुम्हारे पिता का राज्य था। तब दूसरे के दोष देखने वाले अनेक कर्मचारी नियुक्त थे। तुमने दीक्षित होकर उस कार्य को छोड़ दिया फिर आज दूसरों के दोष देखने वाले कैसे बन रहे हो?’ तब गांधारराज नगति बोले—‘जब तुमने सब कुछ छोड़कर आत्मकल्याण के लिए मोक्षमार्ग का रास्ता अपनाया है तो फिर दूसरों की निंदा, गद्दी क्यों करते हो?’ यह सुनकर मुनि करकंडु बोले—‘मोक्ष मार्ग में संलग्न ब्रह्मचारी और मुनि यदि किसी के अहित का निवारण करते हैं तो उसे दोष-दर्शन नहीं कहा जा सकता। कहा भी है—

रूसक वा परो मा वा, विसं वा परियत्तड।

भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया॥

—दूसरा चाहे रोष करे अथवा विष का भक्षण करे, साधक को सदा गुणकारी और हितकारी भाषा बोलनी चाहिए। करकंडु द्वारा की गई इस अनुशास्ति को सबने स्वीकार कर लिया। कालान्तर में वे चारों प्रत्येकबुद्ध मोक्ष को प्राप्त हो गए।^१

५३. गीतम की अधीरता

पृष्ठचंपा नामक नगरी में शाल नामक राजा राज्य करता था। युवराज का नाम महाशाल था। उसकी बहिन का नाम यशोमती और पति का नाम पिठर था। उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम गाम्गलि रखा गया। एक बार भगवान् महावीर राजगृह से विहार कर पृष्ठचंपा पधारे। वहां

१. उनि. २५८—७२, उशांटी. प. २८७-३०५, उसुटी. प. १४१-४५।

सुभूमिभाग उद्यान में ठहरे। राजा शाल भगवान् को वंदन करने गया। भगवान् का प्रवचन सुनकर वह विरक्त हो गया। उसने भगवान् से प्रार्थना की—‘भंते! मैं महाशाल का राज्याभिषेक करके दीक्षित होने के लिए अभी आपिस आ रहा हूँ।’ वह नगर में गया और महाशाल से सारी बात कही। महाशाल ने कहा—‘संसार के भय से उद्विग्न हूँ अतः मैं भी प्रव्रजित होना चाहता हूँ।’ राजा ने अपने भानजे गागलि को काम्पिल्यपुर से बुलाया। उसे पट्टबद्ध राजा बना दिया। गागलि ने दो शिविकाएं तैयार करवाईं। वे दोनों पिता-पुत्र प्रव्रजित हो गए। गागलि ने अपने माता-पिता को भी वहीं बुला लिया। यशोमती भी श्रमणोपासिका बन गई। उन दोनों श्रमणों ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

भगवान् महावीर पृष्ठचंपा से विहार करते हुए राजगृह गए। वहां से विहार कर चम्पा पधारे। शाल और महाशाल भगवान् के पास आए और बोले—‘यदि आपकी अनुज्ञा हो तो हम पृष्ठचंपा जाना चाहते हैं। संभव है वहां किसी की प्रतिबोध मिले और कोई सम्यग्दर्शी बने।’ भगवान् ने ज्ञान से जाना कि कुछ लोग संबुद्ध होंगे अतः अनुज्ञा दी और गौतम के साथ उन्हें वहां भेजा। वे पृष्ठचंपा गए। गौतम स्वामी का प्रवचन सुनकर गागलि, यशोमती और पिठर—ये तीनों संबुद्ध हुए। गागलि बोला—‘मैं माता-पिता से आज्ञा लेकर ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपकर दीक्षा लूंगा।’ उसकी बात सुनकर माता-पिता बोले—‘यदि तुम संसार के भय से उद्विग्न हो गए हो तो हम भी तुम्हारे साथ दीक्षा लेंगे।’ वह अपने पुत्र को राज्य देकर माता-पिता के साथ दीक्षित हो गया। गौतम स्वामी उनको अपने साथ लेकर चंपा पहुंचे। मार्ग में चलते-चलते मुनि शाल और महाशाल के अध्यवसायों की पवित्रता बढ़ी और वे केवली हो गये। गागलि और उसके माता पिता को भी केवलज्ञान हो गया।

वे सब महावीर के पास चंपा नगरी पहुंचे। महावीर को प्रदक्षिणा देकर तीर्थ को घ्रणाम करके वे केवलिपरिषद् में बैठ गए। गौतम स्वामी ने भगवान् को तीन बार प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में वंदना की और उठकर उन पांचों से बोले—‘कहां जा रहे हो? आओ, तीर्थकर को वंदना करो।’ तब भगवान् महावीर ने कहा—‘गौतम! केवलियों की आशातना मत करो?’ गौतम स्वामी ने पुनः लौटकर उनसे क्षमायाचना की और संवेग को प्राप्त हो गए।

गौतम स्वामी ने सशंकित होकर सोचा—‘मेरी सिद्धि नहीं होगी।’ इधर देवता परस्पर संलाप करते हुए कहने लगे—‘जो अष्टापद पर्वत पर जाकर चैत्यों को वंदना करता है, वह उसी भव में सिद्ध हो जाता है।’ यह सुनकर गौतम का मन उद्वेलित हो उठा। भगवान् महावीर ने गौतम के मन को जान लिया। यह भी जान लिया कि वहां जाने से तापसों को संबोध प्राप्त होगा तथा गौतम का मन भी शांत और स्थिर हो जाएगा। गौतम ने महावीर से पूछा—‘मैं अष्टापद पर्वत पर जाना चाहता हूँ।’ भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर गौतम ने अष्टापद पर्वत की ओर प्रस्थान कर दिया।

जन-प्रवाद को सुनकर दत्त, कौंडिन्य और शैवाल—ये तीनों तापस अपने पांच सौ शिष्य-परिवार के साथ अष्टापद पर चढ़ने के लिए उत्सुक हो रहे थे। कौंडिन्य तापस चतुर्थ भक्त—एकान्तर तप के पारणे में कंद आदि सचित्त आहार करता था। वह अष्टापद पर्वत के नीचे की मेखला तक ही पहुंच पाया। दत्त तापस षाठभक्त बेलें-बेलों की तपस्या के पारणे में नीचे गिरे हुए पांडुर पत्तों का आहार करता था। वह पर्वत की मध्य मेखला तक ही पहुंच पाया। शैवाल तापस अष्टमभक्त तेलें-तेलों की तपस्या के पारणे में शुष्क एवं गंदे शैवाल का आहार करता था। वह पर्वत की उपरितन मेखला तक ही चढ़ पाया। चढ़ते हुए वे तीनों परिश्रान्त हो गए।

गणधर गौतम का औदारिक शरीर अग्नि तथा बालसूर्य की किरणों के समान तेजस्वी था। गौतम स्वामी को आते देखकर वे आपस में बोले—‘हम महातपस्वी भी ऊपर नहीं चढ़ सके तो यह स्थूलकाय श्रमण पर्वत पर कैसे चढ़ पाएगा?’ गौतम स्वामी जंघाचारण लब्धि से भकड़ी के जाले के तंतुओं के सहारे ऊपर चढ़ गए। तापसों ने देखा कि गौतम आए और अदृश्य हो गए। वे विस्मित होकर उनकी प्रशंसा करने लगे। गौतम स्वामी की ऋद्धि देखकर उन्होंने आपस में चिंतन किया कि जब ये नीचे उतरेंगे तब उनको गुरु रूप में स्वीकार कर लेंगे। वे तापस वहीं बैठ गए। गौतम स्वामी ने उत्तर-पूर्व दिशा में पृथ्वी शिला पट्ट पर अशोक वृक्ष के नीचे रात बिताई।

उसी समय लोकपाल वैश्रमण इंद्र अष्टापद चैत्यवंदन के लिए आया। इंद्र ने चैत्यवंदन करके गौतम स्वामी को वंदन किया। गौतम स्वामी ने अनगर के गुणों पर प्रवचन दिया। प्रवचन सुनकर वैश्रमण इंद्र ने सोचा—‘भगवान् गौतम ने इस प्रकार के दुष्कर साधु-गुणों का वर्णन किया है। इनका स्वयं का शरीर तो देवताओं से भी अधिक सुकुमार है।’ गौतम स्वामी ने उनके मानसिक-आशय को जानकर पुंडरीक नामक अध्ययन की प्ररूपणा करते हुए कहा—‘पुष्करिणी विजय में पुष्करिणी नगरी में नलिनी गुल्म उद्यान था। वहां महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम पद्मावती था। उसके पुंडरीक और कंडरीक नामक दो सुकुमार और सुन्दर पुत्र थे। कालान्तर में पुंडरीक युवराज बना। उस समय स्थविर मुनि नलिनीगुल्म विमान में समवसृत हुए। महापद्म प्रवचन सुनने गया। धार्मिक प्रवचन सुनकर वह बोला—‘हे देवानुप्रिय! मैं पुंडरीक कुमार को राज्य देकर प्रव्रजित होना चाहता हूँ।’ स्थविर मुनि ने कहा—‘जैसी इच्छा हो वैसा करें।’ पुंडरीक राजा और कंडरीक युवराज बन गया। एक दिन महापद्म राजा ने पुंडरीक राजा से दीक्षा की अनुमति ली। तब पुंडरीक ने शिविका तैयार करवाई और महापद्म राजा प्रव्रजित हो गया। दीक्षित होकर उसने चौदह पूर्वों का अध्ययन किया। बेल-तेले आदि की तपस्या करते हुए उसने बहुत वर्षों तक श्रामण्य का पालन किया और अंत में एक मास की संलेखना में शरीर को झोषकर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया।

एक दिन वे स्थविर मुनि पुष्करिणी नगरी में समवसृत हुए। पुंडरीक राजा कंडरीक युवराज के साथ धर्म-प्रवचन सुनने आया। राजा पुंडरीक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। कंडरीक युवराज दीक्षित होने के लिए उत्कंठित हो गया। वह चार घंटों वाले अश्वरथ पर चढ़कर राजा पुंडरीक के पास आया और दीक्षा की अनुमति मांगी। राजा पुंडरीक ने उसे अनेक प्रकार का प्रलोभन दिया और साधु-जीवन के विविध शारीरिक-मानसिक कष्टों का विवेचन किया। लेकिन कंडरीक अपनी भावना पर दृढ़ रहा। राजा पुंडरीक ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर महान् अभिनिष्क्रमण उत्सव मनाने के लिए कहा। कंडरीक प्रव्रजित हो गया। उसने सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और बेल-तेले आदि विविध प्रकार के तप के अनुष्ठान में अपने आपको लगा दिया।

अंत-प्रान्त भोजन करने से एक बार उनके शरीर में दाह ज्वर उत्पन्न हो गया। कालान्तर में विहार करते हुए मुनि कंडरीक पुष्करिणी नगरी के नलिनी वन में समवसृत हुआ। राजा पुंडरीक अपने भाई मुनि कंडरीक के दर्शन करने आया और कंडरीक के पूरे शरीर को रोग से आक्रान्त देखकर उसने निवेदन किया कि मैं प्रासुक और एषणीय औषध-भेषज से आपकी चिकित्सा करना चाहता

हूँ अतः आप मेरी यानशाला में पधारें। कंडरीक उनकी यानशाला में चिकित्सालाभ करने लगे। मनोज एवं सरस आहार करने से शीघ्र ही उनका शरीर दृष्ट-पुष्ट हो गया। स्वस्थ होने के बाद मुनि कंडरीक उस मनोज भोजन-पान में आसक्त हो गये और इसविचार छोड़कर वहीं रहने लगे। एक दिन राजा पुंडरीक ने उन्हें समझाने के लिए विविध दृष्टान्त दिए तथा संसार की नश्वरता एवं कामभोग के कटुविपाक का बोध कराया। संकोचवश कंडरीक ने वहां से विहार कर दिया लेकिन कुछ दिनों के बाद ही वह श्रामण्य से विचलित हो गया।

वह अपने आचार्य के पास से विहार कर पुनः पुष्करिणी नगरी में राजा पुंडरीक के भवन की अशोक वाटिका में आकर ठहरा। वहां पृथ्वीशिला पट्ट पर बैठकर चिंतन करने लगा। तभी राजा पुंडरीक की धायमां वहां आई। उसने तत्काल मुनि कंडरीक के आगमन की सूचना राजा पुंडरीक को दी। राजा अपने अंतःपुर के साथ मुनि के दर्शनार्थ आया। राजा पुंडरीक ने देखा कि मुनि कंडरीक मुनिव्रत त्यागकर पुनः राज्य एवं कामभोग का उपभोग करना चाहता है। उसने तत्काल उसका राज्याभिषेक किया और स्वयं पंचमुष्टि लोच कर चातुर्याम धर्म को स्वीकार कर लिया। उसने दीक्षित होकर कंडरीक के भंडोपकरण ग्रहण कर लिए और यह अभिग्रह किया कि मैं स्थविर आचार्य के पास जाकर ही आहार ग्रहण करूंगा। इधर कंडरीक प्रणीत आहार को सम्यक् रूप से पचा नहीं सका अतः विपुल वेदना से अभिभूत हो गया। वह राज्य और अंतःपुर में आसक्त होकर अकाम-मरण प्राप्त कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ।

मुनि पुंडरीक विहार करते हुए स्थविर आचार्य के पास पहुंचे और पुनः चातुर्याम धर्म स्वीकार किया। वे तेले-तेले की तपस्या करने लगे। अरस-विरस आहार से उनके शरीर में विपुल वेदना उत्पन्न हो गयी। अंत समय में आलोचना-प्रतिक्रमण करके उन्होंने समाधि-मरण प्राप्त किया और सर्वार्थसिद्ध देवलोक में देव बने। आगामी भव में महाविदेह क्षेत्र में वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे। इस कथानक को सुनकर वैश्रमण देव परम संवेग को प्राप्त हुआ और गौतम को वंदना करके लौट गया।

प्रातः होते ही गौतम नीचे उतरे। तब तापसों ने कहा—'हम आपके शिष्य हैं और आप हमारे आचार्य हैं। गौतम स्वामी ने कहा—'तुम्हारे और हमारे आचार्य त्रैलोक्य गुरु भगवान् महावीर हैं।' तापसों ने आश्चर्य व्यक्त किया—'क्या आपके भी कोई अन्य आचार्य हैं?' तब गौतम ने भगवान् महावीर का गुणकीर्तन किया और सभी तापसों को प्रव्रजित कर भगवान् की दिशा में चल पड़े। मार्ग में भिक्षावेला के समय गौतम ने पूछा—'मैं आपके लिए क्या लेकर आऊँ।' उन्होंने दूध की इच्छा व्यक्त की। गौतम सब लब्धियों से सम्पन्न थे। पात्र में मधु संयुक्त दूध लेकर गौतम आए। गौतम को अक्षीणमहानस लब्धि प्राप्त थी अतः सभी तृप्त हो गए। भोजन करते-करते शैवाल और उसके सभी शिष्यों को कैवल्य उत्पन्न हो गया। वे वहां से आगे चले। दत्त तथा उनके शिष्यों को भगवान् के छत्रातिछत्र अतिशय को देखकर कैवल्य उत्पन्न हो गया। कौंडिन्य तथा उनके शिष्यों को भगवान् महावीर को देखते ही केवलज्ञान हो गया। सभी भगवान् के पास आए। गौतम ने महावीर की वंदना-स्तुति की। वे सभी तापस-मुनि केवलिपरिषद् में चले गए। गौतम ने उन्हें भगवान् को वंदना करने के लिए कहा। भगवान् ने कहा—'गौतम! केवलियों की आशातना मत करो।' गौतम ने 'मिच्छामि

दुःख' किया। गौतम का धैर्य टूट गया। भगवान् ने उसके मन की बात जान ली। भगवान् बोले—'गौतम ! देवताओं के वचन प्रमाण हैं या जिनवर के?' गौतम ने कहा—'भगवन् ! जिनवर के वचन प्रमाण हैं।' तब भगवान् ने चार कड़ों का दृष्टान्त दिया और कहा—'गौतम ! तुम्हारा मेरे ऊपर कंबल कड़ के समान स्नेहानुराग है इसीलिए तू मुझसे अत्यन्त निकट है, चिरसंसृष्ट है। गौतम ! प्रशस्त राग भी यथाख्यात चारित्र का नाश कर देता है। यथाख्यात चारित्र के बिना केवल्य उत्पन्न नहीं होता। केवल सरागसंयमी साधुओं के लिए अप्रशस्त राग का निवारण करने के हेतु प्रशस्त राग अनुमत है इसलिए तुम विषाद मत करो। शीघ्र ही तू और मैं—दोनों ही एक अवस्था को प्राप्त होंगे। दोनों में कुछ भी भिन्नता नहीं रहेगी। तब भगवान् ने गौतम को सम्बोधित कर द्रुमपत्रक अध्ययन की प्रज्ञापना की।'

५४. हरिकेशबल

मथुरा नगरी में शंख नामक युवराज प्रवचन सुनकर विरक्त हो गया। वह स्थविर साधुओं के पास महान् विभूति के साथ दीक्षित हुआ। कालक्रम से वह गीतार्थ बन गया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वह एक बार गजपुर—हस्तिनापुर पहुंचा और भिक्षा के लिए नगर की ओर निकला। वह घूमते हुए एक मार्ग के पास पहुंचा। वह मार्ग जलते अंगारे के समान अत्यन्त उष्ण था। वह मार्ग सदा प्रज्वलित रहता था अतः उसका नाम हुतवहं पड़ गया। जो भी उस मार्ग से गुजरता, वह भस्म हो जाता। मुनि मार्ग से अनभिज्ञ थे। उन्होंने गवाक्ष में बैठे एक व्यक्ति से मार्ग पूछा। ब्राह्मण ने कुतूहलवश उष्ण-मार्ग की ओर संकेतकर दिया। मुनि निश्छल भाव से उसी मार्ग पर चल पड़े। वे लब्धिसम्पन्न थे अतः उनके पादस्पर्श से मार्ग ठंडा हो गया। मुनि को अविचल भाव से आगे बढ़ते देख ब्राह्मण भी उस मार्ग पर चल पड़ा। मार्ग को बर्फ जैसा ठंडा देखकर उसने सोचा—'यह मुनि का ही प्रभाव है कि अग्नि जैसा मार्ग भी हिमस्पर्श वाला हो गया है।' उसे अपने अनुचित कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। वह उद्यान में स्थित मुनि के पास दौड़ा-दौड़ा आया और अपने पाप को प्रकट कर क्षमायाचना करते हुए मुनि से पूछा—'मैं इस पापकर्म से कैसे मुक्त बनूं।' मुनि ने उसे संसार की अस्थिरता बताते हुए दीक्षा की प्रेरणा दी। मुनि के धार्मिक उपदेश को सुनकर उसके मन में विरक्ति के भाव उत्पन्न हुए। वह मुनि के पास प्रव्रजित हो गया। उसका नाम सोमदेव था। उसमें जाति और रूप का मद था। कालक्रम से जातिमद से स्तब्ध मरकर वह देव बना। अवधिज्ञान से उसने पूर्वभव का वृत्तान्त जाना। वह देवांगनाओं के साथ भोग भोगने लगा। भोग करते-करते उसके अनेक पत्य बीत गए।

मृत गंगा नदी के तट पर हरिकेश का राजा बलकोट्ट नामक चांडाल रहता था। उसके दो पत्नियां थीं—गौरी और गांधारी। देव आधुष्य को पूरा कर सोमदेव का जीव जातिमद के परिपाक के कारण उस चांडाल के घर गौरी के गर्भ से उत्पन्न हुआ। गर्भकाल में गौरी ने स्वप्न में बसन्त मास की छटा देखी तथा अनेक पुष्पित एवं फलित आम्रवृक्ष देखे। स्वप्नपाठकों ने स्वप्न का फल

१. उनि. २७७-९९, उशांटी. प. ३२३-३३, उसुटी. प. १५३-१५९।

२. सुखबोधा टीका में मार्ग का नाम हुताशन है।

बताते हुए कहा—‘तुम्हारा पुत्र विशिष्ट और महान् बनेगा।’ समय आने पर पुत्र का जन्म हुआ। रूप से वह अत्यन्त कुरूप था। उसका वर्ण कृष्ण था। बलकोट्ट के यहां जन्म लेने के कारण उसका नाम बल रखा गया। यही बालक हरिकेशबल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बालक बल बहुत कलहप्रिय और असहिष्णु था। वह विपक्ष की भांति सबके लिए उद्वेगकारी था।

एक बार बसन्तोत्सव का समय था। सभी लोग उत्सव में मग्न थे। लोग भोज में आहार करके सुरापान कर रहे थे। बालकों ने बल को अप्रियकारी और क्रोधो मानकर उसको अपने खेल में सम्मिलित नहीं किया। दूसरे बालक खेलने लगे। वह केवल द्रष्टा ही बना रहा। इतने में वहां एक भयंकर सर्प निकला। सहसा सब खड़े हो गए और उसे पत्थर से मार डाला। कुछ ही क्षणों बाद वहां एक निर्विष सर्प भेरुंड निकला। लोग एक बार भयभीत हो गए पर उसे निर्विष समझकर छोड़ दिया। बालक बल यह दृश्य देख रहा था। उसने सोचा—‘प्राणी अपने दोषों से ही दुःख पाता है।’ सर्प सविष था अतः वह अपने दोष से मारा गया। भेरुंड निर्विष था अतः लोगों ने उसे छोड़ दिया। यदि मैं भी भेरुंड की भांति निर्विष होता हूं तो कोई दूसरा मुझे क्यों मारता? हा भी है—

भद्रेणेव होयस्यं, पावति भद्राणि भद्राणि।

सविसो हम्मती सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चति॥

उसने सोचा—‘अपने गुण और दोष के आधार पर ही सम्पत्ति और विपत्ति मिलती है। इसलिए दोषों को छोड़कर गुणों को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार चिंतन करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। जातिमद के विपाक का चित्र उसके सामने आया। निर्वेद को प्राप्त होकर उसने प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। उसका नाम हरिकेशबल हो गया।

दीक्षित होकर मुनि हरिकेशबल बेला-तेला यावत् चार मास का घोर तप करने लगे। एक बार वे पार्श्वनाथ की जन्मस्थली वाराणसी के तेंदुक उद्यान में ठहरे। वहां गंडीतिंदुक यक्ष का मंदिर था। वह यक्ष हरिकेश मुनि के गुणों से आकृष्ट होकर उनकी उपासना में रहने लगा। एक बार एक दूसरा यक्ष वहां आया। वह गंडीतिंदुक यक्ष से बोला—‘आजकल दिखाई क्यों नहीं देते?’ उसने कहा—‘ये महात्मा मेरे उद्यान में ठहरे हैं। सारा दिन इनकी ही उपासना में बीतता है।’ वह आगतुक यक्ष मुनि के चरित्र से प्रतियुद्ध हुआ और बोला—‘मित्र! ऐसे उपशांत मुनि का सान्निध्य पाकर तुम कृतार्थ हो। मेरे उद्यान में भी कतिपय मुनि ठहरे हैं। चलो, उन्हें वंदना कर आए?’ दोनों यक्ष वहां गए। उन्होंने देखा अनेक साधु विकथाएं कर रहे हैं। कुछ स्त्रीकथा में और कुछ जनपद-कथा में आसक्त हैं। उनका मन खिन्न हो गया।

एक बार वाराणसी के राजा कौशलिक की पुत्री भद्रा यक्ष की पूजा करने दासियों के साथ उद्यान आई। यक्ष की पूजा कर वह प्रदक्षिणा करने लगी। उसकी दृष्टि ध्यानलीन मुनि पर टिकी। मुनि के मैले कपड़े और कुरूप शरीर को देखकर उसके मन में घृणा हो गयी। आवेश में आकर उसने मुनि पर थूक दिया। यक्ष ने सोचा—‘यह पापिष्णु है, जो इसने महान् तपस्वी मुनि की अवहेलना की है अतः इसका फल इसे मिलना चाहिए।’ यक्ष उसके शरीर में प्रविष्ट हो गया। राजकुमारी अनर्गल प्रलाप करने लगी। दासियां उसे राजमहल में ले गईं। अनेकविध उपचार किए गए पर सब

व्यर्थ हो गए। तांत्रिकों और चांत्रिकों के प्रयास भी निष्फल हो गए। राजा विचलित हो गया। यक्ष ने कहा—‘इस कुमारी ने एक तपस्वी मुनि का तिरस्कार किया है। यदि यह उस तपस्वी के साथ पाणिग्रहण करना स्वीकार कर ले तो मैं इसे छोड़ सकता हूँ, अन्यथा नहीं।’ लाचार होकर राजा ने यक्ष की बात स्वीकार कर ली। महत्तरिकाओं के साथ अपनी पुत्री भद्रा की अलंकारों से विभूषित करके यक्षायतन में भेज दिया। रात्रि में महत्तरिकाओं ने भद्रा से कहा—‘जाओ, अपने पति के पास’। भद्रा यक्षायतन में प्रविष्ट हुई। मुनि ने ध्यान संपन्न किया और भद्रा को स्वीकार न करने की अपनी पर्यादा बताई।

यक्ष ने मुनि का रूप बनाया और राजकन्या के साथ पाणिग्रहण किया। उसने मुनि को आच्छन्न कर कभी दिव्यरूप और कभी मुनिरूप बनाकर उसे ठगा। वह रात भर उस कन्या के साथ ऐसे ही विडम्बना करता रहा। प्रभात में यक्ष दूर हुआ और मुनि ने सही-सही बात कन्या से कही। वह दुःखी मन से राजा के पास गई और यक्ष द्वारा टगे जाने की बात बताई। राजा के पास बैठे पुरोहित रुद्रदेव ने कहा—‘राजन् ! यह ऋषि-पत्नी है। मुनि द्वारा परित्यक्त है अतः इसे किसी ब्राह्मण को दे देना चाहिए। राजा ने उसी पुरोहित को कन्या सौंप दी। कुछ समय बाद पुरोहित रुद्रदेव ने यज्ञ किया। भद्रा को यज्ञपत्नी बनाया गया। दूर-दूर से विद्वान् ब्राह्मण और विद्यार्थी बुलाए गए। उन सबके आतिथ्य के लिए प्रचुर भोजन-सामग्री एकत्रित की गयी। उस समय मुनि हरिकेशबल एक-एक मास का तप कर रहे थे। पारणे के दिन वे भिक्षा के लिए घर-घर घूमते हुए उसी यज्ञ-मंडप में जा पहुंचे। उसके बाद मुनि और ब्राह्मणों में जो वार्ताशाय हुआ, वह उत्तराध्ययन के द्वारद्वे अध्ययन में संकलित है।’

५५, ५६. चित्र-संभूत

साकेत नगर में चन्द्रावतंसक राजा का पुत्र मुनिचन्द्र राज्य करता था। राज्य का उपभोग करते-करते उसका मन विरक्त हो गया। उसने मुनि सागरचंद्र के पास दीक्षा ग्रहण की। वह अपने गुरु के साथ देशान्तर जा रहा था। रास्ते में वह भिक्षा लेने गांव गया पर मार्थ से चिछुड़ गया और एक भयानक अटवी में जा पहुंचा। भूख और प्यास से व्याकुल मुनि को चार ग्वालपुत्रों ने देखा। उनका मन करुणा से भर गया। उन्होंने मुनि की परिचर्या की। मुनि ने स्वस्थ होकर चारों ग्वालपुत्रों को धर्म का उपदेश दिया। चारों बालक प्रतिबुद्ध हुए और मुनि के पास दीक्षित हो गए। वे सभी अन्नद से दीक्षा-पर्याय का पालन करने लगे। किन्तु उनमें से दो मुनिधों के मन में मैले कपड़ों के विषय में जुगुप्सा रहने लगी। चारों मरकर देवगति में गए। जुगुप्सा करने वाले दोनों मुनि देवलोक से च्युत हो दशपुर नगर में शाण्डिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती की कुक्षि से युगल रूप में जन्मे। क्रमशः वे युवा हुए।

एक बार वे जंगल में अपने खेत की रक्षा के लिए गए। रात को वे एक वटवृक्ष के नीचे सो गए। अचानक ही वृक्ष की कोटर से एक सर्प निकला और एक को डस कर चला गया। दूसरा जागकर तत्काल ही उस सर्प की खोज में निकल पड़ा। वही सर्प उसे भी डस गया। दोनों मरकर

कालिंजर पर्वत पर एक मृगी के उदर से युगल रूप में उत्पन्न हुए। एक बार दोनों हरिण आसपास में चर रहे थे। एक व्याध ने एक ही बाण से दोनों को मार डाला। वहां से मरकर वे गंगा नदी के तीर पर एक राज-हंसिनी के गर्भ में आए और युगल रूप में जन्मे। युवा होने पर दोनों साथ-साथ घूम रहे थे। एक बार एक मछुए ने उन्हें पकड़ा और गर्दन मरोड़ कर मार डाला।

उस समय वाराणसी नगरी में चाण्डालों का एक अधिपति रहता था। उसका नाम भूतदत्त था। वह बहुत क्रूर था। वे दोनों हंस मरकर उसके घर में पुनः-पुनः के रूप में उत्पन्न हुए। उनका नाम चित्र और संभूत रखा गया। दोनों भाइयों में अपार स्नेह था।

उस समय वाराणसी नगरी में शंख राजा राज्य करता था। नमुचि उसका मंत्री था। एक बार उसके किसी अपराध पर राजा क्रुद्ध हो गया और उसके वध की आज्ञा दे दी। चाण्डाल भूतदत्त को यह कार्य सौंपा गया। उसने नमुचि को अपने घर में छिपा लिया और कहा—‘मंत्री! यदि आप तलवार में रहकर मेरे दोनों पुत्रों को अध्यापन करना स्वीकार करें तो मैं आपका वध नहीं करूंगा।’ जीवन की आशा में मंत्री ने बात मान ली। अब वह चाण्डाल के पुत्रों—चित्र और संभूत को पढ़ाने लगा। चाण्डाल-पत्नी नमुचि की परिचर्या करने लगी। अध्यापन कराते हुए कुछ काल बीता। नमुचि चाण्डाल-स्त्री में आसक्त हो गया। भूतदत्त ने यह बात जान ली। उसने नमुचि को मारने का विचार किया। चित्र और संभूत—दोनों ने अपने पिता के विचार जान लिए। उपकार के कारण गुरु के प्रति कृतज्ञता से प्रेरित हो उन्होंने नमुचि को कहीं भाग जाने की सलाह दी। नमुचि वहां से भागा-भागा हस्तिनापुर नगर में आया और चक्रवर्ती सनत्कुमार का मंत्री बन गया।

चित्र और संभूत बड़े हुए। उनका रूप और लावण्य आकर्षक था। नृत्य और संगीत में वे प्रवीण हुए। वाराणसी के लोग उनकी कलाओं पर मुग्ध थे। एक बार मदन-महोत्सव का अवसर आया। अनेक गायक-टोलियां मधुर राग में आलाप भर रही थीं और तरुण-तरुणियों के अनेक गण नृत्य कर रहे थे। उस समय चित्र-संभूत की नृत्य-मंडली भी वहां आ गई। उनका गाना और नृत्य सबसे अधिक मनोरम था। उसे सुन देखकर सारे लोग उनकी मंडली की ओर चले आए। युवतियां मंत्र-मुग्ध सी हो गयीं। सभी तन्मय थे। ब्राह्मणों ने जब यह देखा तो उनके मन में ईर्ष्या उभर आई। वे जातिवाद की आड़ ले राजा के पास गए और राजा को निवेदन किया कि ये मातंगपुत्र सबको भ्रष्ट कर रहे हैं। राजा ने दोनों मातंग-पुत्रों को नगर से निकाल दिया। वे अन्यत्र चले गए।

एक बार कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर वे दोनों मातंग-पुत्र राजा की आज्ञा की अवगणना कर कौतूहलवश अपनी नगरी में आए। वे मुंह पर कपड़ा डाले महोत्सव का आनंद ले रहे थे। चलते-चलते उनके मुंह से संगीत के स्वर निकल पड़े। उनका गाना सुनकर लोगों ने उन्हें घेर लिया। उन्होंने सोचा—‘किन्नर के समान कानों को अमृत रस के समान सुखद लगाने वाली यह वाणी किसकी है?’ लोग दोनों के पास आए। अवगुंठन हटाते ही वे उन्हें पहचान गए। उनका रक्त ईर्ष्या से उबल गया। ‘ये चाण्डाल पुत्र हैं’—ऐसा कहकर उन्हें लातों और चाटों से मारा और नगर से बाहर निकाल दिया। वे बाहर एक उद्यान में ठहरे। उन्होंने सोचा—‘धिकार है हमारे रूप, यौवन, सौभाग्य और कला-कौशल को। आज हम चाण्डाल होने के कारण प्रत्येक वर्ग से तिरस्कृत हो रहे हैं। हमारा सारा गुण-समूह दूषित हो रहा है। ऐसा जीवन जीने से लाभ ही क्या? उनका मन जीने से ऊब गया।

वे आत्महत्या का दृढ़ संकल्प ले दक्षिण दिशा में चले गए। दूर से उन्होंने एक पहाड़ देखा। वे आत्महत्या के विचार से दूर चले। उन्होंने देखा कि एक श्वाश्रु-स्थल है। वे प्रसन्न होकर साधु के पास आए और बैठ गए। उन्होंने भक्तिपूर्वक साधुओं को वंदन किया। ध्यान पूर्ण होने पर साधु ने उनका नाम-धाम पूछा। दोनों ने अपना पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया। मुनि ने कहा—'तुम अनेक कला-शास्त्रों के पारगामी हो। आत्महत्या करना नीच व्यक्तियों का काम है। तुम्हारे जैसे विमल-बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए यह उचित नहीं। तुम इस विचार को छोड़ो और जिनधर्म की शरण में आओ। इससे तुम्हारे शारीरिक और मानसिक—सभी दुःख उच्छिन्न हो जायेंगे।' उन्होंने सहर्ष, मुनि के वचन को शिरोधार्य किया और हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आप हमें दीक्षित करें।' मुनि ने उन्हें योग्य समझकर दीक्षा दी। गुरु-चरणों की उपासना करते हुए वे अध्ययन करने लगे। कुछ समय बाद वे गौतम हुए। विचित्र तपस्याओं से आत्मा को भावित करते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करने लगे।

एक बार वे हस्तिनापुर आए और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। एक दिन मामखमण तप का पारणा करने के लिए मुनि संभूत नगर में गए। भिक्षा के लिए वे घर-घर घूम रहे थे। मंत्री नमुचि ने उन्हें देखकर पहचान लिया। उसकी सारी स्मृतियां सद्यस्क हो गईं। उसने सोचा—'यह मुनि मेरा सारा वृत्तान्त जानता है। यहां के लोगों के समक्ष यदि इसने कुछ कह डाला तो मेरी महत्ता नष्ट हो जाएगी।' ऐसा विचार कर उसने लाठी और मुक्कों से मारकर मुनि को नगर से बाहर निकालना चाहा। कई लोग मुनि को पीटने लगे पर मुनि शांत रहे। लोग जब अत्यन्त उग्र हो गए, तब मुनि संभूत का चित्त अशांत हो गया। उनके मुंह से धुंआ निकला और सारा नगर अंधकारमय हो गया। लोग घबराकर मुनि को शांत करने लगे। चक्रवर्ती सनत्कुमार भी वहां आ पहुंचा। उसने मुनि से प्रार्थना की—'भंते ! यदि हमसे कोई त्रुटि हुई हो तो आप क्षमा करें। आगे हम ऐसा अपराध नहीं करेंगे। आप महान् हैं अतः नगर-निवासियों का जीवन-दान दें।' इतने पर भी मुनि का क्रोध शांत नहीं हुआ। उद्यान में बैठे मुनि चित्र ने यह संवाद सुना और आकाश को धूम से आच्छादित देखा। वे तत्काल वहां आए और उन्होंने मुनि संभूत से कहा—'मुने ! क्रोधानल को उपशांत करो। महर्षि उपशम-प्रधान होते हैं। वे अपराधी पर भी क्रोध नहीं करते। तुम अपनी शक्ति का संवरण करो। जिस प्रकार दावाग्नि क्षण भर में वन को जला देती है वैसे ही कषाय-परिणत जीव अपने तप और संयम को नष्ट कर देता है।' जिनेन्द्र भगवान् की उपशम प्रधान वाणी रूपी जल से मुनि संभूत की क्रोधाग्नि शान्त हो गयी। वे वैराग्य को प्राप्त हो गए। उन्होंने तेजोलेश्या का संवरण किया। अन्धकार मिट गया। लोग प्रसन्न हुए। दोनों मुनि उद्यान में लौट आए। उन्होंने सोचा—'हम काय-संलेखना कर चुके हैं इसलिए अब अनशन करना चाहिए।' दोनों ने बड़े धैर्य के साथ अनशन ग्रहण किया।

चक्रवर्ती सनत्कुमार ने जब यह जाना कि मंत्री नमुचि के कारण ही सभी लोगों को संत्रास सहना पड़ा है तो उसने मंत्री को बांधने का आदेश दिया। मंत्री को रस्सों से बांधकर मुनियों के पास लाए। मुनियों ने राजा को समझाया और उसने मंत्री को मुक्त कर दिया। चक्रवर्ती दोनों मुनियों के पैरों में गिर पड़ा। स्त्रीरत्न रानी सुनंदा भी साथ थी। वंदना करते हुए अकस्मात् ही उसके केश

मुनि संभूत के पैरों को छू गए। मुनि संभूत को अपूर्व आनंद का अनुभव हुआ। उसने निदान करने का विचार किया। मुनि चित्र ने ज्ञानशक्ति से यह जान लिया और सोचा— 'अहो ! मोहकर्म कितना दुर्जेय है? इन्द्रियां कितनी दुर्दान्त हैं? विषयों का उन्माद कितना भयंकर है? इन कारणों से तप और चारित्र में संलग्न तथा जिनेन्द्र भगवान् के वचनों का ज्ञाता यह मुनि सम्भूत युवती के केशों के स्पर्श मात्र से ऐसा अध्यवसाय कर रहा है। प्रतिबोध देते हुए मुनि चित्र ने कहा— 'इस अशुभ अध्यवसाय से निवृत्त हो जाओ। ये कामभोग असार और दारुण विपाक वाले हैं। परमार्थतः ये दुःखरूप हैं। जैसे खुजली करने वाला बाद में दुःख पाता है वैसे ही मोहातुर व्यक्ति भी दुःख को सुखरूप मानता है।' मुनि चित्र ने आगे कहा— 'तुम तो आगम के परमार्थ को जानने वाले हो अतः इसमें मूर्च्छित मत बनो।' इस प्रकार अनुशासित करने पर भी वह प्रतिबुद्ध नहीं हुआ। मुनि सम्भूत ने निदान किया कि यदि मेरी तपस्या का फल है तो मैं अगले जन्म में चक्रवर्ती बनूँ।

दोनों मुनियों का अनशन चालू था। वे मरकर सौधर्म देवलोक में देव बने। वहां का आयुष्य पूरा कर चित्र का जीव पुरिमताल नगर में एक इभ्य सेठ का पुत्र बना और संभूत का जीव कांपिल्यपुर में ब्रह्म राजा की रानी चुलनी के गर्भ में आया। रानी ने चौदह महास्वप्न देखे। बालक का जन्म हुआ। उसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। बालक अनेक कलाओं को सीखते हुए बढ़ने लगा।

राजा ब्रह्म के चार मित्र थे— 1. काशी देश का अधिपति कटक 2. गजपुर का राजा करेणुदत्त 3. कौशल देश का राजा दीर्घ और 4. चम्पा देश का अधिपति पुष्पचूल। राजा ब्रह्म का इनके साथ अगाध प्रेम था। एक दूसरे का विरह न सहने के कारण वे सभी एक-एक वर्ष दूसरे के राज्य में रहते थे। एक बार वे सब राजा ब्रह्म के राज्य में समुदित हो रहे थे। अचानक राजा ब्रह्म के असह्य मस्तक-वेदना उत्पन्न हुई। मंत्र, तंत्र, औषधि आदि के प्रयोग से भी वेदना में अंतर नहीं आया। स्थिति चिंताजनक बन गई। राजा ब्रह्म ने कटक आदि राजाओं को बुलाया और अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को चारों मित्रों को सौंपते हुए कहा— 'इसका राज्य तुम्हें चलाना है।' मित्रों ने स्वीकार कर लिया।

कुछ काल बाद राजा ब्रह्म की मृत्यु हो गई। मित्रों ने उसका अन्त्येष्टि-कर्म किया। उस समय कुमार ब्रह्मदत्त छोटी अवस्था में था। चारों मित्रों ने विचार-विमर्श कर कौशल देश के राजा दीर्घ को राज्य का सारा भार सौंपा और बाद में सब अपने-अपने राज्य की ओर चले गये। राजा दीर्घ राज्य की व्यवस्था करने लगा। सर्वत्र उसका प्रवेश होने लगा। वह रानी चुलनी के साथ मंत्रणा करने लगा। उसका धीरे-धीरे रानी चुलनी के साथ प्रेमबंधन गाढ़ होता गया। दोनों निःसंकोच विषय-वासना का सेवन करने लगे।

रानी के इस दुराचार को जानकर राजा ब्रह्म का विश्वस्त मंत्री धनु चिन्ताग्रस्त हो गया। उसने सोचा— 'जो व्यक्ति अधम आचरण में फंसा हुआ है, वह भला कुमार ब्रह्मदत्त का क्या हित साध सकेगा?' उसने रानी चुलनी और राजा दीर्घ के अवैध सम्बन्ध की बात अपने पुत्र वरधनु के द्वारा कुमार तक पहुंचाई। कुमार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने एक उपाय ढूँढ़ा। एक कौवे और एक कोकिल को पिंजरे में बंद कर अन्तःपुर में ले गया और रानी चुलनी को सुनाते हुए बोला— 'जो कोई भी व्यक्ति अनुचित सम्बन्ध जोड़ेगा, उसे मैं इसी प्रकार पिंजरे में डाल दूंगा।' राजा दीर्घ ने यह बात सुनी। उसने चुलनी से कहा— 'कुमार ने हमारा सम्बन्ध जान लिया है। मुझे कौवा

और तुम्हें कोयल मान यह संकेत दिया है। अब हमें सावधान हो जाना चाहिए। मेरे रहते तुम्हारे अन्य संतान हो जाएगी। पर इसको अपने मार्ग से हटाना आवश्यक है।' चुलनी ने कहा—'वह अभी बालक है। जो कुछ मन में आता है, कह देता है।' राजा ने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं है। वह हमारे प्रेम में बाधा डालने वाला है। उसको मारे बिना अपना सम्बन्ध नहीं निभ सकता।' चुलनी ने कहा—'जो आप कहते हैं, वह सही है किन्तु उसे कैसे मारा जाये, जिससे लोकापवाद न हो।' राजा दीर्घ ने कहा—'यह कार्य बहुत सरल है। जनापवाद से बचने के लिए पहले हम उसका विवाह कर देंगे।' विवाह के पश्चात् अनेक खम्भों वाले लाक्षागृह में सुखपूर्वक सोए हुए उसको अग्नि जलाकर मार देंगे। ऐसी मंत्रणा करके एक शुभ वेल में कुमार का विवाह सम्पन्न हुआ। उसके शयन के लिए राजा दीर्घ ने हजार स्तम्भ वाला एक लाक्षा-गृह बनवाया। इधर मंत्री धनु ने राजा दीर्घ से प्रार्थना की—'स्वामिन्! मेरा पुत्र वरधनु मंत्री-पद का कार्यभार संभालने के योग्य हो गया है। मैं अब कार्य से निवृत्त होकर परलोक-हित का कार्य सम्पादित करना चाहता हूँ।' राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और छलपूर्वक कहा—'तुम और कहीं जाकर क्या करोगे? यहीं रहो और दान आदि धर्मों का पालन करो।' मंत्री ने राजा की बात मान ली। उसने नगर के बाहर गंगा नदी के तट पर एक विशाल प्याऊ बनवाई। वहाँ वह पथिकों और परिव्राजकों को प्रचुर अन्न पान देने लगा। दान और सम्मान के वशीभूत हुए पथिकों और परिव्राजकों द्वारा उसने लाक्षा-गृह से प्याऊ तक एक सुरंग खुदवाई। राजा रानी को यह बात ज्ञात नहीं हुई।

नववधू ने अनेक नेपथ्य और परिजनों के साथ नगर में प्रवेश किया। रानी चुलनी ने कुमार ब्रह्मदत्त को नववधू के साथ उस लाक्षा-गृह में भेजा। रानी चुलनी ने शेष सभी जातिजनों को अपने-अपने घर भेज दिया। मंत्री का पुत्र वरधनु वहीं रहा। रात्रि के दो पहर बीते। कुमार ब्रह्मदत्त गाढ़ निद्रा में लीन था। वरधनु जाग रहा था। अचानक लाक्षा-गृह एक ही क्षण में प्रदीप्त हो उठा। हाहाकार मचा। कुमार जागा और दिग्भ्रष्ट बना हुआ वरधनु के पास आकर बोला कि यह क्या हुआ? अब क्या करें? वरधनु ने कहा—'जिसके साथ आपका पाणिग्रहण हुआ है वह राजकन्या नहीं है। इसमें प्रतिबंध करना उचित नहीं है। चलो हम चलें।' उसने कुमार ब्रह्मदत्त को एक सांकेतिक स्थान पर लात मारने को कहा। कुमार ने लात मारी। सुरंग का द्वार खुल गया। वे उसमें धुसे। मंत्री ने पहले ही अपने दो विश्वासो पुरुष सुरंग के द्वार पर नियुक्त कर रखे थे। वे घोड़ों पर चढ़े हुए थे। ज्योंहि कुमार ब्रह्मदत्त और वरधनु सुरंग से बाहर निकले त्यों ही उन्हें घोड़ों पर चढ़ा दिया। वे दोनों वहाँ से चले और पचास योजन दूर जाकर ठहरे। लम्बी यात्रा के कारण घोड़े खिन्न होकर गिर पड़े। अब वे दोनों वहाँ से पैदल चलते-चलते कोष्ठग्राम में आए। कुमार ने वरधनु से कहा—'मित्र! भूख और प्यास बहुत जोर से लगी है। मैं अत्यन्त परिश्रान्त हो गया हूँ।'

वरधनु गाँव में गया। एक नाई को साथ में लाया। कुमार का सिर मुंडाया, गेरू वस्त्र पहनाए और श्रीवत्सालंकृत चार अंगुल प्रमाण पट्ट-बंधन से वक्षस्थल को आच्छादित किया। वरधनु ने भी वेष-परिवर्तन किया। दोनों गाँव में गए। एक दास के लड़के ने घर से निकल कर उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित किया। वे दोनों उसके घर गए। पूर्ण सम्मान से उन्हें भोजन कराया गया। उस गृहस्वामी

के बंधुमती नाम की एक पुत्री थी। भोजन कर चुकने पर एक महिला आई और कुमार के सिर पर आखें (अक्षत) डालें और कहा—‘यह बंधुमती का पति है।’ वह सुनकर वरधनु ने कहा—‘इस मूर्ख बटुक के लिए क्यों अपने आपको नष्ट कर रहे हो?’ उसने कहा—स्वामिन्! एक बार नैर्मलिक ने हमें कहा था कि जिस व्यक्ति का वक्षस्थल पट्ट से आच्छादित होगा और जो अपने मित्र के साथ यहाँ भोजन करेगा, वही इस कन्या का पति होगा।’ कुमार ने बंधुमती के साथ विवाह किया। दूसरे दिन वरधनु ने कुमार से कहा—‘हमें बहुत दूर जाना है।’ बंधुमती से प्रस्थान की बात कह वरधनु और कुमार दोनों वहाँ से चल पड़े।

चलते चलते वे एक गाँव में आए। वरधनु पानी लेने गया। शीघ्र ही आकर उसने कहा—‘कुमार ! लोगों में यह जनश्रुति है कि राजा दीर्घ ने ब्रह्मदत्त के सारे मार्ग रोक लिए हैं। अब हम पकड़े जाएंगे अतः कुछ उपाय ढूँढ़ना चाहिए।’ दोनों राजमार्ग को छोड़ उन्मार्ग से चले और एक भयंकर अटवी में पहुँचे। कुमार प्यास से व्याकुल हो गया। वह एक वटवृक्ष के नीचे बैठ गया। वरधनु पानी की खोज में निकला। घूमते-घूमते वह दूर जा निकला। राजा दीर्घ के सिपाहियों ने उसे देख लिया। उन्होंने उसका पीछा किया। वह बहुत दूर चला गया। ज्यों-त्यों कुमार के पास आ उसने चलने का संकेत किया। कुमार ब्रह्मदत्त वहाँ से भागा। वह एक दुर्गम कान्तार में जा पहुँचा। भूख और प्यास से परिकलान्त होते हुए तीन दिन तक चलकर उसने कान्तार को पार किया। वहाँ एक तापस को देखा। तापस के दर्शन मात्र से उसे जीवित रहने की आशा बंध गई। उसने पूछा—‘भगवन्! आपका आश्रम कहाँ है?’ तापस ने आश्रम का स्थान बताया और उसे कुलपति के पास ले गया। कुमार ने कुलपति को प्रणाम किया। कुलपति ने पूछा—‘वत्स! यह अटवी अणाय-बहुल है?’ तुम यहाँ कैसे आए?’ कुमार ने उनसे सारी बात यथार्थ रूप से कही। कुलपति ने कहा—‘वत्स! तुम मुझे अपने पिता का छोटा भाई मानो। यह आश्रम तुम्हारा ही है। तुम यहाँ सुखपूर्वक रहो।’ कुमार वहाँ रहने लगा। काल बीतने पर वर्षा ऋतु आ गई। कुलपति ने कुमार को चतुर्वेद आदि महत्त्वपूर्ण सारी विद्याएं सिखाईं।

एक बार शरद ऋतु में तापस फल, कंद, मूल, कुसुम, लकड़ी आदि लाने के लिए अरण्य में गए। कुमार भी कुतूहलवश उनके साथ जाना चाहता था। कुलपति ने उसे रोका, पर वह नहीं माना और अरण्य में चला गया। वहाँ उसने अनेक सुन्दर वनखण्ड देखे। वहाँ के वृक्ष फल और पुष्पों से समृद्ध थे। उसने एक हाथी देखा और गले से भीषण गर्जारव किया। हाथी उसकी ओर दौड़ा। यह देख कुमार ने अपने उत्तरीय को गोल गेंद सा बना हाथी की ओर फेंका। तत्क्षण ही हाथी ने उस गेंद को अपनी सूँठ से पकड़ कर आकाश में फेंक दिया। हाथी अत्यन्त कुपित हो गया। कुमार ने उसे छल से पकड़ लिया और अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं से परिश्रान्त कर छोड़ दिया। कुमार उत्पथ से आश्रम की ओर चल पड़ा। वह दिग्मूढ़ हो गया था।

इधर-उधर घूमते-घूमते वह एक नगर में पहुँचा। वह नगर जीर्ण-शीर्ण हो चुका था। उसके केवल खण्डहर ही अवशेष थे। वह उन खण्डहरों को आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगा। देखते-देखते उसकी आँखें एक ओर जा टिकीं। उसने एक खड्ग और चौड़े मुँह वाला बाँस का कुंडग

देखा। उसका कुतूहल बढ़ा। परीक्षा करने के लिए उसने खड्ग से कुंडंग पर प्रहार किया। एक ही प्रहार में झुरमुट नीचे गिर गया। उसके अन्दर से एक मुंड निकला। मनोहर सिर को देख उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने सोचा—'धिकार है मेरे व्यवसाय को।' उसने अपने पराक्रम की निन्दा की और बहुत पश्चात्ताप किया। बाद में उसने एक ओर ऊँचे बंधे हुए पाँव वाले कबंध को देखा। उसकी उत्सुकता और बढ़ी। आगे उसने एक उद्यान देखा। वहाँ एक सप्तभौम प्रासाद था। उसके चारों ओर अशोक वृक्ष थे। वह धीरे-धीरे प्रासाद में गया। वहाँ उसने एक सुन्दर स्त्री देखी। वह विकसित कमल के समान आँखों वाली तथा अत्यन्त सुन्दर थी। ब्रह्मदत्त ने पूछा—'सुन्दरी! तुम कौन हो?' सुन्दरी ने कहा—'महाभाग ! मेरा वृत्तान्त बहुत बड़ा है। तुम ही अपना परिचय दो कि तुम कौन हो? कहाँ से आए हो?' कुमार ने उसकी मधुर वाणी को सुन कर कहा—'सुन्दरी! मैं पांचाल देश के राजा ब्रह्म का पुत्र हूँ। मेरा नाम ब्रह्मदत्त है।' इतना सुनते ही वह महिला अत्यन्त हर्षित हुई। आनन्द उसकी आँखों से बाहर झाँकने लगा। वह उठी और उसके चरणों में गिरकर रोने लगी। कुमार का हृदय दया से भीग गया। 'देवी! रुदन मत करो' यह कह उसने उसे उठाया और पूछा—'देवी! तुम कौन हो?' उसने कहा—'आर्यपुत्र! मैं तुम्हारे मामा पुष्पचूल राजा की लड़की हूँ। एक बार मैं अपने उद्यान में कुँए के पास वाली भूमि में खेल रही थी। नादयोन्मत्त नाम का एक विद्याधर वहाँ आया और मुझे उठाकर यहाँ ले आया। यहाँ आए मुझे बहुत दिन हो गए। मैं परिवार की विरहाग्नि में जल रही हूँ। आज तुम अचानक ही यहाँ आ गए। मेरे लिए यह अचिंतित स्वर्ण-वर्षा हुई है। अब तुम्हें देखकर मुझे जीने की आशा भी बंधी है।' कुमार ने कहा—'वह महाशत्रु कहाँ है? मैं उसके बल की परीक्षा करना चाहता हूँ।' स्त्री ने कहा—'स्वामिन्! उसने मुझे पटितसिद्ध शंकरा नामक विद्या दी और कहा—'इस विद्या के स्मरण मात्र से यह विद्या सखी, दास आदि परिवार के रूप में उपस्थित होकर तुम्हारे आदेश का पालन करेगी। यह विद्या तुम्हारे पास आते हुए शत्रुओं का निवारण करेगी। उसे पूछने पर वह मेरी सारी बात बताएगी। मैंने एक बार उसका स्मरण किया। उसने कहा—'यह नादयोन्मत्त नाम का विद्याधर है। मैं उसके द्वारा यहाँ लाई गई हूँ। मैं अधिक भाग्यशाली हूँ। वह मेरा तेज सह नहीं सका इसलिए वह मुझे विद्या निर्मित तथा सफेद और लाल ध्वजा से भूषित प्रासाद में छोड़ गया। मेरा वृत्तान्त जानने के लिए अपनी बहिन के पास विद्या को प्रेषित कर स्वयं वंशकुंडंग में चला गया। विद्या को साध कर वह मेरे साथ विवाह करेगा। आज उसकी विद्या सिद्ध होगी।'

इतना सुनकर ब्रह्मदत्त कुमार ने पुष्पावती से उस विद्याधर के मारे जाने की बात कही। यह अत्यन्त प्रसन्न होकर बोली—'आर्य ! आपने अच्छा किया। वह दुष्ट मारा गया।' दोनों ने गन्धर्व विवाह किया। कुमार कुछ समय तक उसके साथ रहा। एक दिन उसने दिव्यबलय का शब्द सुना। कुमार ने पूछा—'यह किसका शब्द है?' उसने कहा—'आर्यपुत्र ! विद्याधर नादयोन्मत्त की बहन खण्डविशाखा उसके विवाह के लिए सामग्री लेकर आ रही है। तुम थोड़ी देर के लिए यहाँ से चले जाओ। मैं उसकी भावना जान लेना चाहती हूँ। यदि वह तुम में अनुरक्त होगी तो मैं प्रासाद के ऊपर लाल ध्वजा फहरा दूँगी, अन्यथा सफेद।' कुमार वहाँ से चला गया। थोड़े समय बाद कुमार ने सफेद ध्वजा देखी। वह धीरे-धीरे वहाँ से चल पड़ा और गिरिनिकुंज में आ गया। वहाँ एक बड़ा सरोवर

देखा। उसने उसमें डुबकी लगाई। वह उत्तर-पश्चिम तीर पर जा निकला। वहाँ एक सुन्दर कन्या बैठी थी। कुमार ने उसे देखा और सोचा— 'अहो ! मेरे पुण्य की साक्षात् परिणति है कि यह कन्या मुझे दिखाई दी है।' कन्या ने भी स्नेहपूर्ण दृष्टि से कुमार को देखा और वह वहाँ से चली गई। थोड़े ही समय में एक दासी वहाँ आई। उसने कुमार को वस्त्रयुगल, पुष्प, तंबोल आदि भेंट किए और कहा—'कुमार! सरोवर के समीप जिस कन्या को तुमने देखा था, उसी ने यह भेंट भेजी है और आपको मंत्री के घर में ठहरने के लिए कहा है। आप वहाँ चले और सुखपूर्वक रहें।' कुमार ने वस्त्र पहने, अलंकार किया और नागदेव मंत्री के घर जा पहुँचा। दासी ने मंत्री से कहा—'आपके स्वामी की पुत्री श्रीकान्ता ने इन्हें यहाँ भेजा है। आप इनका सम्मान करें और आदर से यहाँ रखें।' मंत्री ने वैसा ही किया। दूसरे दिन मंत्री कुमार को साथ ले राजा के पास गया। राजा ने उठकर कुमार को आगे आसन दिया और वृत्तान्त पूछा। भोजन से निवृत्त होकर राजा ने कहा—'कुमार! हम आपको और क्या स्थापित करें। राजकुमारी श्रीकान्ता को आपके चरणों में भेंट करते हैं।' शुभ दिन में उनका विवाह सम्पन्न हुआ।

एक दिन कुमार ने श्रीकान्ता से पूछा—'तुम्हारे पिता ने मेरे साथ तुम्हारा विवाह कैसे किया? मैं तो अकेला हूँ।' उसने कहा—'आर्यपुत्र! मेरे पिता पराक्रमी हिस्सेदारों द्वारा उपद्रुत होकर इस विषम पल्ली में रह रहे हैं। वे नगर, ग्राम आदि को लूटकर दुर्ग में चले जाते हैं। मेरी माता श्रीमती के चार पुत्र थे। उनके बाद मैं उत्पन्न हुई इसलिए पिता का मुझ पर अत्यन्त स्नेह था। जब मैं युवती हुई तब एक बार पिता ने कहा—'पुत्री! सभी राजा मेरे विरुद्ध हैं अतः जो घर बैठे ही तुम्हारे लिए उचित घर आ जाए तो मुझे कहना।' इसलिए मैं प्रतिदिन सरोवर पर जाती हूँ और मनुष्यों को देखती हूँ। आज मेरे पुण्यबल से तुम दिखलाई पड़े। यही सब रहस्य है।'

कुमार श्रीकान्ता के साथ विषय-सुख भोगते हुए समय बिताने लगा। एक बार वह पल्लीपति अपने साथियों को साथ ले एक नगर को लूटने गया। कुमार उसके साथ था। गाँव के बाहर कमल सरोवर के पास उसने अपने मित्र वरधनु को बैठे देखा। वरधनु ने भी कुमार को पहचान लिया। असंभावित दर्शन के कारण वह रोने लगा। कुमार ने सान्त्वना दी और उसे गले लगाया। वरधनु ने कुमार से पूछा—'मेरे परोक्ष में तुमने क्या-क्या अनुभव किए?' कुमार ने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। कुमार ने कहा—'तुम अपना वृत्तान्त भी बताओ।' वरधनु ने कहा—'कुमार ! मैं तुम्हें एक वटवृक्ष के नीचे बैठे छोड़कर पानी लेने गया। मैंने एक बड़ा सरोवर देखा। मैं एक दोने में जल भर कर तुम्हारे पास आ रहा था। इतने में ही महाराज दीर्घ के सन्नद्ध भट्ट मेरे पास आए और बोले—'वरधनु! बताओ ब्रह्मदत्त कहाँ हैं?' मैंने कहा—'मैं नहीं जानता।' उन्होंने मुझे बहुत पीटा तब मैंने कहा—'कुमार को बाघ ने खा लिया।' भट्टों ने कहा—'वह प्रदेश हमें बताओ, जहाँ कुमार को बाघ ने खाया था।' इधर-उधर घूमता हुआ मैं कपट से तुम्हारे पास आया और तुम्हें भाग जाने के लिए संकेत किया। मैंने भी परिव्राजक द्वारा दी गई गुटिका मुँह में रखी और उसके प्रभाव से बेहोश हो गया। मुझे मरा हुआ समझकर भट्ट चले गये। बहुत देर बाद मैंने मुँह से गुटिका निकाली और मुझे होश आ गया। होश आते ही मैं तुम्हारी टोह में निकल पड़ा, परन्तु कहीं भी तुम नहीं मिले। मैं एक गाँव में गया। वहाँ एक परिव्राजक ने कहा—'मैं तुम्हारे पिता का मित्र हूँ। मेरा नाम

वसुभाग है।' उसने कहा—'तुम्हारे पिता धनु भाग गए। राजा दीर्घ ने तुम्हारी माता को मर्तगों के मुहल्ले में डाल दिया।' यह सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ। मैं काम्पिल्यपुर गया और कापालिक का वेश धारण कर उस मार्तग दस्ती के प्रधान को धोखा दे माता को ले आया। एक गांव में मेरे पिता के मित्र ब्राह्मण देवशर्मा के यहां मां को छोड़कर तुम्हारी खोज में यहां आया हूं।

इस प्रकार दोनों अपने सुख-दुख की बातें कर रहे थे। इतने में ही एक पुरुष वहां आया। उसने कहा—'महाभाग! तुम्हें यहाँ से कहीं अन्यत्र भाग जाना चाहिए। तुम्हारी खोज करते-करते राजा दीर्घ के मनुष्य यहाँ आ गए हैं।' इतना सुन दोनों—कुमार और वरधनु वहां से चल पड़े। गहन जंगलों को पार कर वे कौशाम्बी नगरी पहुंचे। वे गांव के बाहर एक उद्यान में ठहरे। वहां सागरदत्त और बुद्धिल्ल नाम के दो श्रेष्ठी-पुत्र अपने-अपने कुक्कुट लड़ा रहे थे। लाख मुद्राओं की बाजी लगी हुई थी। कुक्कुटों का युद्ध प्रारम्भ हुआ। सागरदत्त का कुक्कुट बुद्धिल्ल के कुक्कुट के साथ लड़ने में उत्साहित नहीं हुआ। सागरदत्त बाजी हार गया। इतने में ही दर्शक के रूप में खड़े वरधनु ने कहा—'यह क्या बात है कि सागरदत्त का कुक्कुट सुजाति का होते हुए भी हार गया? यदि आपको आपत्ति न हो तो मैं परीक्षा करना चाहता हूं।' सागरदत्त ने कहा—'महाभाग! देखो-देखो मेरी लाख मुद्राएं चली गईं, इसका मुझे कोई दुःख नहीं है। परन्तु दुःख इतना ही है कि मेरे स्वाभिमान की रक्षा नहीं हुई।'।

वरधनु ने बुद्धिल्ल के कुक्कुट को देखा। उसके पांवों में लौह की सूक्ष्म सूइयां बंधी हुई थीं। बुद्धिल्ल ने वरधनु को देखा। वह उसके पास आ धीरे से बोला—'यदि तू इन सूक्ष्म सूइयों की बात नहीं बताएगा तो मैं तुझे अर्द्धलक्ष मुद्राएं दूंगा।' वरधनु ने स्वीकार कर लिया। उसने सागरदत्त से कहा—'श्रेष्ठिन्! मैंने देखा पर कुछ भी नहीं दिखा।' बुद्धिल्ल को ज्ञात न हो इस प्रकार वरधनु ने आंखों में अंगुलि - संचार के प्रयोग से सागरदत्त को कुछ संकेत किया। सागरदत्त ने अपने कुक्कुट के पैरों में सूक्ष्म सूइयां बांध दीं इससे बुद्धिल्ल का कुक्कुट पराजित हो गया। उसने लाख मुद्राएं हार दीं। अब सागरदत्त और बुद्धिल्ल दोनों समान हो गए। सागरदत्त बहुत प्रसन्न हुआ। उसने वरधनु को कहा—'आर्य! चलो, हम घर चलें।' दोनों घर पहुंचे। उनमें अत्यन्त स्नेह हो गया।

एक दिन एक दास आया। उसने वरधनु को एकान्त में बुलाया और कहा—'सूई का व्यतिकर न कहने पर बुद्धिल्ल ने जो तुम्हें अर्द्धलक्ष देने को कहा था, उसके निमित्त से उसने चालीस हजार का यह हार भेजा है।' यों कहकर उसने हार का डिब्बा समर्पित कर दिया। वरधनु ने उसको स्वीकार कर लिया। उसे ले वह ब्रह्मदत्त के पास गया। कुमार को सारी बात कही और उसे हार दिखाया। हार को देखते हुए कुमार की दृष्टि हार के एक भाग में लटकते हुए एक पत्र पर जा टिकी। उस पर ब्रह्मदत्त का नाम अंकित था। उसने पूछा—'मित्र! यह लेख किसका है?' वरधनु ने कहा—'कौन जाने? संसार में ब्रह्मदत्त नाम के अनेक व्यक्ति हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है?' वरधनु कुमार को एकान्त में ले गया और लेख को देखा। उसमें यह गाथा अंकित थी—

पत्थिज्जइ जइ वि जए, जणेण संजोयजणियजत्तेण।

तह वि तुमं चिय धणियं, रयणवई मणई माणेउं ॥

अर्थात् यद्यपि रत्नवती को पाने के लिए अनेक प्रार्थी हैं, फिर भी रत्नवती तुम्हारे लिए

समर्पित है। ब्रह्मदत्त ने सोचा—'मैं इसके भावार्थ को कैसे जानूँ?' दूसरे दिन एक परिव्राजिका आई। उसने कुमार के सिर पर अक्षत तथा फूल डाले और कहा—'पुत्र! हजार वर्ष तक जीओ।' इतना कहकर यह वरधनु को गल्लान में ले गई और उसके साथ कुछ मंत्रणा कर वापस चली गई। कुमार ने वरधनु को पूछा—'यह क्या कह रही थी?' वरधनु ने कहा—'कुमार ! उसने मुझे कहा कि बुद्धिल्ल ने जो हार भेजा था और उसके साथ जो लेख था उसका प्रत्युत्तर दो।' मैंने कहा—'वह ब्रह्मदत्त नाम से अंकित है। बताओ वह ब्रह्मदत्त कौन है?' उस परिव्राजिका ने कहा—'सुनो, लेकिन यह बात किसी को बताना मत।' उसने कहा—'इस नगरी में श्रेष्ठो-पुत्री रत्नवती रहती है। बाल्यकाल से ही मेरा उस पर अपार स्नेह है। जब वह युवती हुई तब एक दिन मैंने उसे कुछ सोचते हुए देखा। मैं उसके पास गई। मैंने कहा—'पुत्री रत्नवती! क्या सोच रहो हो?' उसके परिजनों ने कहा—'यह बहुत दिनों से इसी प्रकार उदासीन है।' मैंने उसे बार-बार पूछा पर वह नहीं बोली। तब उसकी सखी प्रियंगुलतिका ने कहा—'भगवती ! यह लज्जावश तुम्हें कुछ नहीं बताएगी। मैं कहती हूँ कि एक बार यह उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए गई थी। वहां इसके भाई बुद्धिल्ल श्रेष्ठी ने लाख मुद्राओं की बाजी पर कुक्कुट लड़ाए थे। इसने वहां एक कुमार को देखा। उसको देखते ही यह ऐसी बन गई।' यह सुनकर मैंने उसकी काम-व्यथा जान ली। परिव्राजिका ने स्नेहपूर्वक कहा कि पुत्री ! यथार्थ बात बताओ तब उसने ज्यों-त्यों कहा कि तुम मेरी मां के समान हो। तुम्हारे सामने अकथनीय कुछ भी नहीं है। वह ब्रह्मदत्त कुमार यदि मेरा पति नहीं होगा तो मैं निश्चय ही प्राण त्याग दूंगी। यह सुनकर मैंने उसे कहा—'धैर्य रखो। मैं वैसा ही उपाय करूंगी, जिससे तुम्हारी कामना सफल हो सके।' यह बात सुनकर कुमारी रत्नवती कुछ स्वस्थ हुई। कल मैंने उसके हृदय को आश्वासन देने के लिए कहा—'मैंने कुमार को देखा है।' उसने भी कहा—'भगवती ! तुम्हारे प्रसाद से सब कुछ अच्छा ही होगा। किन्तु उसके विश्वास के लिए बुद्धिल्ल के कथन के मिष से हार के साथ ब्रह्मदत्त नामांकित एक लेख भेज देना।' मैंने कल वैसा ही किया। आगे उस परिव्राजिका ने कहा—'मैंने लेख की सारी बात तुम्हें बता दी। अब उसका प्रत्युत्तर दो।' वरधनु ने कहा—'मैंने उसे यह प्रत्युत्तर दिया—

ब्रह्मदत्तो वि गुरुगुणवरधनुकलिओ त्ति माणिठं मणई।

रथणवई रयणिवई, चंदो इव चंदणीजोगो॥

अर्थात् वरधनु सहित ब्रह्मदत्त भी रत्नवती का योग चाहता है, जैसे रजनीपति चांद चांदनी का। वरधनु द्वारा कही गई सारी बात सुनकर कुमार रत्नवती को बिना देखे ही उसमें तन्मय हो गया। उसको प्राप्त करने के उपाय सोचते-सोचते अनेक दिन बीत गए।

एक दिन वरधनु बाहर से आया और सम्भ्रान्त होता हुआ बोला—'कुमार ! इस नगर में स्वामी कौशलाधिपति ने हमें ढूँढ़ने के लिए विश्वस्त पुरुषों को भेजा है। इस नगर के स्वामी ने ढूँढ़ना प्रारम्भ कर दिया है, ऐसा मैंने लोगों से सुना है।' यह व्यतिकर जानकर सागरदत्त ने दोनों को भीहरे में छुपा दिया। रात्रि आने पर कुमार ने सागरदत्त से कहा—'ऐसा कोई उपाय करो, जिससे हम यहाँ से निकल जाएँ।' यह सुनकर सागरदत्त उन दोनों को साथ ले नगरी के बाहर चला गया। सागरदत्त उनके साथ जाना चाहता था। परन्तु ज्यों-त्यों उसे समझा कर घर भेजा और कुमार तथा वरधनु दोनों

आगे चले गये। वे नगर के बाहर उद्यान में पहुँचे। उसमें एक यक्षायतन था। वहाँ वृक्ष के नीचे एक रथ खड़ा था। वह शस्त्रों से सज्जित था। उसके पास एक सुन्दर स्त्री बैठी थी। कुमार को देखकर वह उठी और आदर-भाव प्रकट करती हुई बोली—‘आप इतने समय के बाद कैसे आए?’ यह सुनकर कुमार ने कहा—‘भद्रे! हम कौन हैं?’ उसने कहा—‘स्वामिन्! आप ब्रह्मदत्त और वरधनु हैं।’ कुमार ने कहा—‘तुमने हमको कैसे जाना?’ उसने कहा—‘सुनो, इस नगरी में धनप्रवर नाम का सेठ रहता है। उसकी पत्नी का नाम धनसंचया है। उसके आठ पुत्र हैं। मैं उनकी नौवीं संतान हूँ। मैं युवती हुई पर मुझे कोई पुरुष पसन्द नहीं आया है। तब मैंने इस वृक्ष की आराधना प्रारम्भ की। वृक्ष भी मेरी भक्ति से संतुष्ट हुआ। वह प्रत्यक्ष दर्शन देकर बोला—‘बेटी! भविष्य में होने वाला चक्रवर्ती कुमार ब्रह्मदत्त तुम्हारा पति होगा। मैंने पूछा—‘मैं उसको कैसे जान सकूंगी?’ वृक्ष ने कहा—‘बुद्धिल्ल और सागरदत्त के कुक्कुट युद्ध में जिस पुरुष को देखकर तुम्हें आनन्द हो, उसे ही ब्रह्मदत्त जान लेना।’ उसने मुझे जो बताया, वह सब यहाँ मिल गया। मैंने जो हार आदि भेजा, वह आप जानते ही हैं।’ यह सुनकर कुमार उसमें अनुरक्त हो गया। वह उसके साथ रथ पर आरुढ़ हुआ और उससे पूछा—‘हमें कहाँ जाना चाहिए?’ रत्नवती ने कहा—‘मगधपुर में मेरे चाचा सेठ धनसार्थवाह रहते हैं। वे हमारा वृत्तान्त जान कर हमारा आगमन अच्छा मानेंगे। अतः आप वहीं चलें, उसके बाद जहाँ आपकी इच्छा हो।’ रत्नवती के वचनानुसार कुमार मगधपुर की ओर चल पड़ा। वरधनु को सारांश बनाया।

ग्रामानुग्राम चलते हुए वे कौशाम्बी जनपद को पार कर गए। आगे चलते हुए वे एक गहन जंगल में जा पहुँचे। वहाँ कंटक और सुकंटक नाम के दो चोर-सेनापति रहते थे। उन्होंने रथ और उसमें बैठी हुई अलंकृत स्त्री को देखा। उन्होंने यह भी जान लिया कि रथ में तीन ही व्यक्ति हैं। वे सज्जित होकर आए और उन पर प्रहार करने लगे। कुमार ने भी अनेक प्रकार से प्रहार किए। चोर सेनापति हार कर भाग गया। कुमार ने रथ को आगे बढ़ाया। वरधनु ने कहा—‘कुमार! तुम बहुत परिश्रान्त हो गए हो। कुछ समय के लिए रथ में ही सो जाओ।’ कुमार और रत्नवती दोनों सो गए। रथ आगे बढ़ रहा था। वे एक पहाड़ी प्रदेश में पहुँचे। छोड़े धक्कर एक पहाड़ी नदी के पास जाकर रुक गये। कुमार जागा, वह जम्भाई लेकर उठा। उसने आस-पास देखा पर वरधनु दिखाई नहीं दिया। कुमार ने सोचा—‘संभव है वह पानी लाने गया हो।’ कुछ देर बाद उसने भयाक्रान्त हो वरधनु को पुकारा। उसे प्रत्युत्तर नहीं मिला। उसने रथ के अगले भाग को देखा। वह रक्त से सना हुआ था। कुमार ने सोचा कि वरधनु मारा गया। ‘हा! मैं मारा गया। अब मैं क्या करूँ?’ यह कहते हुए वह रथ में ही मूर्च्छित हो गया। कुछ समय बीतने पर उसे होश आया। ‘हा, हा भ्रात वरधनु!’ यह कहता हुआ वह प्रलाप करने लगा। रत्नवती ने ज्यों-त्यों उसे बिठाया और समझाया। कुमार ने कहा—‘सुन्दरी! मैं स्पष्ट नहीं जान पा रहा हूँ कि वरधनु मर गया था जीवित है? मैं उसको ढूँढ़ने के लिए पीछे जाना चाहता हूँ। रत्नवती ने कहा—‘आर्यपुत्र! यह पीछे चलने का अवसर नहीं है। मैं एकाकिनी हूँ। यहाँ भयंकर जंगल है। इसमें अनेक चोर और श्वापद रहते हैं। यहाँ की सारी घास पौधों से रौंदी हुई है इसलिए यहाँ पास में ही कोई बस्ती होनेनी चाहिए।’ कुमार ने उसकी बात मान ली। वह मगध देश की ओर चल पड़ा। वह उस देश की सन्धि में संस्थित एक ग्राम में पहुँचा।

ग्राम-सभा में बैठे हुए ठाकुर ने कुमार को प्रवेश करते हुए देखा। उसे विशेष व्यक्ति मानकर वह उठा। उसका सम्मान किया और अपने घर ले गया। उसने ब्रह्मदत्त को रहने के लिए मकान दिया। जब वह सुखपूर्वक बैठ गया तब ठाकुर ने कुमार से कहा—'महाभाग! तुम बहुत ही उद्विग्न दिखाई दे रहे हो। क्या कारण है?' कुमार ने कहा—'मेरा भाई चारों के साथ लड़ता हुआ न जाने कहाँ चला गया? किस अवस्था को प्राप्त हो गया?' ठाकुर ने कहा—'आप खेद न करें। यदि वह इस अटवी में होगा तो अवश्य ही मिल जाएगा।' ठाकुर ने विश्वस्त आदिमियों को अटवी में चारों ओर भेजा। वे आकर बोले—'स्वामिन्! हमें अटवी में कोई खोज नहीं मिली।' केवल एक बाण ही मिला है। यह सुनते ही कुमार अत्यन्त उद्विग्न और उदास हो गया। उसने सोचा—'निश्चय ही वरधनु मारा गया है।' रात आने पर कुमार रत्नवती के साथ सो गया। एक प्रहर रात बीतने पर गाँव में चोर घुसे। वे लूट-खसोट करने लगे। कुमार ने चोरों का सामना किया। सभी चोर भाग गये। गाँव के प्रमुख ने कुमार का अभिनन्दन किया। प्रातःकाल होने पर ठाकुर ने अपने पुत्र को उनके साथ भेजा।

वे चलते-चलते राजगृह पहुँचे। नगर के बाहर एक परिव्राजक का आश्रम था। कुमार रत्नवती को आश्रम में बिठाकर गाँव के अन्दर गया। प्रवेश करते ही उसने अनेक खम्भों पर टिका हुआ, अनेक कलाओं से निर्मित एक धवल भवन देखा। वहाँ दो सुन्दर कन्याएं बैठी थीं। कुमार को देखकर अत्यन्त अनुराग दिखाती हुई वे दोनों बोलीं—'क्या आप जैसे महापुरुषों के लिए यह उचित है कि भक्ति से अनुरक्त व्यक्ति को भुलाकर परिभ्रमण करते रहो?' कुमार ने कहा—'वह कौन है, जिसके लिए तुम ऐसा कह रही हो? उन्होंने कहा—'कृपा कर आप आसन ग्रहण करें।' कुमार आसन पर बैठ गया। स्नान कर वह भोजन से निवृत्त हुआ। दोनों स्त्रियों ने कहा—'महासत्त्व! इसी भरत के वैताद्वय पर्वत की दक्षिण श्रेणी में शिवमन्दिर नाम का नगर है। वहाँ ज्वलनसिंह नाम का राजा राज्य करता है। उसकी महारानी का नाम विद्युतशिखा है। हम दोनों उनकी पुत्रियाँ हैं। हमारे ज्येष्ठ भ्राता का नाम नाट्योन्मत्त था। एक दिन हमारे पिता अग्निशिख मित्र के साथ गोष्ठी में बैठे थे। उन्होंने आकाश की ओर देखा। अनेक देव तथा असुर अष्टापद पर्वत के अभिमुख जिनेश्वर देव को वन्दनार्थ जा रहे थे। राजा भी अपने मित्र तथा बेटियों के साथ उसी ओर जाने लगा। हम सब अष्टापद पर्वत पर पहुँचे, जिनदेव की प्रतिमाओं को वन्दना की और सुगन्धित द्रव्यों से अर्चा की। हम तीन प्रदक्षिणा कर लौट रहे थे तभी हमने देखा कि एक अशोक वृक्ष के नीचे दो मुनि खड़े हैं। वे चारणलब्धि सम्पन्न थे। हम उनके पास वन्दना कर बैठ गए। उन्होंने धर्मकथा करते हुए कहा—'यह संसार असार है। शरीर विनाशशील है। जीवन शरद् ऋतु के बादलों की तरह नश्वर है। यौवन विद्युत् के समान चंचल है। कामभोग किंपाक फल जैसे हैं। इन्द्रियजन्य सुख संध्या के राग की तरह हैं। लक्ष्मी कुशाग्र पर टिके हुए पानी की बूंद की तरह चंचल है। दुःख सुलभ है, सुख दुर्लभ है। मृत्यु सर्वव्रगामी है। ऐसी स्थिति में प्राणी को मोह का बंधन तोड़ना चाहिए। जिनेन्द्र प्रणीत धर्म में मन लगाना चाहिए।' परिषद् ने धर्मोपदेश सुना। लोग विसर्जित हुए। अवसर देख अग्निशिख ने पूछा—'भगवन्! इन बालिकाओं का पति कौन होगा।' मुनि ने कहा—'इनका पति भ्रातृ-वधक होगा।' यह सुन राजा का चेहरा श्याम हो गया। हमने पिता से कहा—'तात! मुनियों

ने जो संसार का स्वरूप बताया है, वह यथार्थ है। हमें ऐसा विवाह नहीं चाहिए। हमें ऐसा विषय-सुख नहीं चाहिए।' पिता ने हमारी बात मान ली, तब से हम अपने प्रिय भाई की स्नान-भोजन आदि की व्यवस्था में ही चिन्तित रहती हैं। हम अपने शरीर-परिकर्म का कोई ध्यान नहीं रखती।

एक दिन हमारे भाई ने घूमते हुए तुम्हारे मामे की लड़की पुष्पवती को देखा। वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया और उसे हरण कर यहाँ ले आया। परन्तु वह उसकी दृष्टि सहने में असमर्थ था अतः विद्या को साधने के लिए गया। आगे का वृत्तान्त आप जानते हैं। हे महाभाग! उस समय तुम्हारे पास से आकर पुष्पवती ने हमें भाई का सारा वृत्तान्त सुनाया। उसे सुनकर हमें अत्यन्त शोक हुआ। हम रोने लगीं। पुष्पवती ने धर्मदेशना दे हमें शान्त किया और शंकरी विद्या से हमारे वृत्तान्त को जानकर उसने कहा—'मुनि के वचन को याद करो। ब्रह्मदत्त को अपना पति मानो।' हमने अनुराग पूर्वक आपको अपना पति स्वीकार कर लिया। पुष्पवती के संकेत से आप कहीं चले गए। हमने आपको अनेक नगरों व ग्रामों में ढूँढ़ा पर आप कहीं नहीं मिले। अन्त में हम खिन्न होकर यहाँ आ गईं। आज हमारा भाग्य जागा। अतर्कित हिरण्य की वृष्टि के समान आपके दर्शन हुए। हे महाभाग! पुष्पवती की बात को याद कर आप हमारी आशा पूरी करें।' यह सुन कुमार प्रसन्न हुआ। उसने उनकी बात स्वीकार कर उनके साथ गन्धर्व-विवाह किया। रात वहीं बिताई। प्रातःकाल होने पर कुमार ने कहा—'तुम दोनों पुष्पवती के पास चली जाओ। उसके साथ तब तक रहना, जब तक मैं राजा न बन जाऊँ।' दोनों ने बात मान ली। उनके जाने के बाद कुमार ने देखा कि न वहाँ प्रासाद है और न परिजन। उसने सोचा कि यह विद्याभरियों की माया है अन्यथा ऐसा इन्द्रजाल-सा कौतुक कैसे होता? कुमार को रत्नवती का स्मरण हो गया और वह उसको ढूँढ़ने आश्रम की ओर चला। वहाँ न तो रत्नवती ही थी और न कोई दूसरा। किसे पूछूँ, यह सोच उसने इधर-उधर देखा पर कोई नहीं मिला। वह उसी की चिन्ता में व्यग्र था तभी वहाँ सौम्य आकृति वाला एक पुरुष दिखलाई पड़ा। कुमार ने पूछा—'महाभाग! क्या तुमने अमुक-अमुक आकृति तथा वेष-धारण करने वाली स्त्री को आज या कल कहीं देखा है?' उसने पूछा—'कुमार! क्या तुम रत्नवती के पति हो।' कुमार ने स्वीकृति में अपना सिर हिला दिया।

उसने कहा—'कल अपराह्न-वेला में मैंने उसको रोते देखा था। मैं उसके पास गया और पूछा—'पुत्री! तुम कौन हो कहां से आई हो, तुम्हारे दुःख का कारण क्या है? तुम्हें कहां जाना है?' उसने अपना परिचय दिया। मैंने उसे पहचान लिया और कहा—'तुम मेरी धेवती हो।' मैंने उसका वृत्तान्त जाना और उसे उसके चाचा के पास ले गया। उसने उसे आदर पूर्वक अपने घर में प्रवेश कराया इसीलिए अन्वेषण करने पर भी वह तुम्हें नहीं मिली। तुमने अच्छा किया कि यहाँ आ गये।' इतना कहकर वह कुमार को सार्धवाह के घर ले गया। रत्नवती के साथ उसका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। वह विषय-सुख का भोग करता हुआ वहीं रहने लगा।

एक दिन उसे याद हो आया कि आज वरधनु का दिन है, वह सोच उसने ब्राह्मणों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। संयोगवश वरधनु ब्राह्मण के वेश में भोजन लेने वहाँ आ गया। उसने एक नौकर से कहा—'जाओ, अपने स्वामी से कहो कि यदि तुम मुझे भोजन दोगे तो वह उस परलोकवर्ती के मुँह और पेट में सीधा चला जाएगा, जिसके लिए तुमने भोज किया है।' नौकर

ने जाकर कुमार को सारी बात कही। कुमार बाहर आया। उसने ब्राह्मण-वेश में वरधनु को पहचान लिया। दोनों ने परस्पर आलिंगन किया। दोनों अन्दर आ गए। स्नान-भोजन आदि से निवृत्त हो कुमार ने वरधनु से उसका वृत्तान्त पूछा। वरधनु ने कहा—‘उस रात आप दोनों रथ पर सो गए थे। मैं आगे बैठा था। एक चोर घनी झाड़ी में छुपा बैठा था। उसने पीछे से बाण मारा। मैं वेदना से पराभूत हो धरती पर गिर पड़ा। आप पर कोई आपत्ति न आ जाए इस भय से आवाज नहीं की। रथ आगे चला गया और मैं भी सघन वृक्षों को चीरता हुआ गाँव में पहुँचा, जहाँ आप थे। वहाँ के प्रधान से मैंने आपके विषय में सारी बात जान ली। मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। ज्यों-त्यों मैं यहाँ आया और आपसे मिलना हुआ।’

दोनों अत्यन्त आनंद से दिन बिता रहे थे। एक बार दोनों ने विचार किया कि कितने दिन तक हम निठल्ले बैठे रहेंगे। हमें कोई उपाय ढूँढ़ना चाहिए। मधुमास आया। मदनमहोत्सव की बेला में नगर के सारे लोग क्रीड़ा करने उद्यान में गए। कुतूहलवश कुमार और वरधनु भी वहीं गए। सभी नर-नारी विविध क्रीड़ाओं में मग्न थे। इतने में ही मदोन्मत्त राज-हस्ती आलान से छूट गया। वह निरंकुश हो दौड़ पड़ा। सभी लोग भयभीत हो गए। भयंकर कोलाहल होने लगा। सभी क्रीड़ा-गोष्ठियाँ भंग हो गईं। इस प्रवृद्ध कोलाहल में एक तरुण स्त्री मत्तहाथी के भय से पगल की तरह दौड़ती हुई बाण के लिए इधर-उधर देख रही थी। हाथी की दृष्टि उस पर पड़ी। चारों ओर हहाकार होने लगा। स्त्री के परिवार वाले चिल्लाने लगे। कुमार ने यह देखा। उसने भयभीत तरुणी के आगे हो, हाथी को हाँका। कुमारी बच गई। हाथी कुमारी को छोड़कर अत्यन्त कुपित हो, सूँड को घुमाता हुआ, कानों को फड़फड़ाता हुआ कुमार की ओर दौड़ा। कुमार ने अपनी चादर को गेंद बना हाथी की ओर फेंका। हाथी ने उसे रोष से अपनी सूँड में पकड़कर आकाश में उछाल दिया। वह धरती पर जा गिरा। हाथी उसे पुनः उठाने में प्रयत्नशील था कि कुमार शीघ्र ही उसकी पीठ पर जा बैठा और तीखे अंकुश से उस पर प्रहार किया। हाथी उछला। तत्क्षण ही कुमार ने मीठे वचनों से उसे संबोधित किया। हाथी शान्त हो गया। लोगों ने यह देखा। चारों ओर से साधुवाद की ध्वनि आने लगी। मंगलपाठकों ने कुमार का जयघोष किया। हाथी को आलान पर ले जाया गया। कुमार ब्रह्मदत्त पास ही खड़ा रहा।

राजा आया। कुमार को देखकर विस्मित हुआ। उसने पूछा—‘यह कौन है?’ मंत्री ने सारी बात बताई। राजा प्रसन्न हुआ। कुमार को साथ ले वह अपने राजमहल में आया। स्नान, भोजन, पान आदि से उसका सत्कार किया। भोजन के पश्चात् राजा ने अपनी आठ पुत्रियाँ कुमार को समर्पित कीं। शुभ मुहूर्त में विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। कुमार कई दिन वहाँ रहा।

एक दिन एक स्त्री कुमार के पास आकर बोली—‘कुमार! मैं आपसे कुछ कहना चाहती हूँ।’ कुमार ने कहा बोलो, क्या कहना चाहती हो? उस स्त्री ने कहा—‘इसी नगरी में वैश्रमण नाम का सार्थवाह रहता है। उसकी पुत्री का नाम श्रीमती है। मैंने उसको पाला-पोषा है। यह वही बालिका है, जिसको तुमने हाथी से रक्षा की थी। हाथी के संभ्रम से बच जाने पर उसने तुम्हें जीवनदाता मानकर तुम्हारे प्रति अनुरक्ति दिखाई है। तुम्हारे रूप, लावण्य और कला-कौशल को देखकर वह तुम्हारे में अत्यन्त अनुरक्त है। तभी से वह तुम्हें देखती हुई स्तम्भित की तरह, लिखित मूर्ति की तरह, भूमि

में गद्दी कील की तरह निश्चल और भारी आंखों से क्षण भर वहां ठहरी। हाथी का संभ्रम दूर होने पर ज्यों-त्यों उसे धर ले जाया गया। वह वहाँ भी न स्नान करती है और न ही भोजन। वह तब से मौन है। मैं उसके पास गई। मैंने कहा—'पुत्री! तुम बिना कारण ही क्यों अनमनी हो रही हो? मेरे वचनों की अवहेलना क्यों कर रही हो?' उसने मुस्कराते हुए कहा—'मां! तुमसे मैं क्या छुपाऊँ? किन्तु लज्जावश चुप हूँ। यदि उस कुमार के साथ जिसने मुझे हाथों से बचाया है, मेरा विवाह नहीं हो जाता तो मेरा मरना निश्चित है।' यह बात सुन मैंने उसके पिता से सारी बात कही। उसने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। आप कृपा कर इस बालिका को स्वीकार करें।' कुमार ने उसे स्वीकार कर लिया। शुभ दिन में उसका विवाह सम्पन्न हुआ। वरधनु का विवाह अमात्य सुबुद्धि की पुत्री नन्दा के साथ हुआ। दोनों सुख भोगते हुए वहीं रहने लगे। चारों ओर उनकी कीर्ति फैल गई।

चलते-चलते वे वाराणसी पहुँचे। राजा कटक ने जब कुमार ब्रह्मदत्त का आगमन सुना तो वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। पूर्ण सम्मान के साथ कुमार ब्रह्मदत्त को नगर में प्रवेश कराया गया। उसने अपनी पुत्री कटकावती से ब्रह्मदत्त का विवाह किया। राजा कटक ने दूत भेजकर सेना सहित पुष्पचूल को बुला लिया। मंत्री धनु और करेणुदत्त भी वहाँ आ पहुँचे। चंद्रसिंह, भवदत्त आदि और भी अनेक राजा उनके साथ मिल गए। उन सबने वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त कर काम्पिल्यपुर पर चढ़ाई कर दी। इसी बीच राजा दीर्घ ने कटक आदि राजाओं के पास अपना दूत भेजा पर सबने उसका तिरस्कार किया। अनवरत प्रयाण से सेना काम्पिल्यपुर पहुँच गयी। चारों ओर से नगर को घेर लिया, जिससे नागरिकों का निर्गम और प्रवेश अवरुद्ध हो गया। राजा दीर्घ 'कितने दिन तक अंदर छिपकर बैठा रहूंगा' ऐसा सोचकर साहस के साथ सेना के सम्मुख आया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। अपनी सेना को पराजित होते देख साहस के साथ राजा दीर्घ युद्ध में उपस्थित हुआ। राजा दीर्घ को देखकर कुमार ब्रह्मदत्त ने रोष के साथ उस पर बाण छोड़ा। फिर गांडीव, खड्ग आदि से प्रहार करके उस पर चक्र छोड़ दिया। राजा दीर्घ का सिर धड़ से अलग हो गया। 'चक्रवर्ती की विजय हुई'—यह घोष चारों ओर फैल गया। देवों ने आकाश से फूल बरसाए। 'बारहवां चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ है' यह आकाशवाणी हुई। नागरिकों ने अभिनंदन करते हुए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का नगर में प्रवेश करवाया। सकल सामन्तों ने कुमार ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक किया। वह छह खंड का अधिपति बन गया। पुष्पवती प्रमुख सारा अंतःपुर काम्पिल्यपुर में आ गया।

राज्य का परिपालन करता हुआ ब्रह्मदत्त सुखपूर्वक रहने लगा। एक बार एक नट आया। उसने राजा से प्रार्थना की—'मैं आज मधुकरी गीत नामक नाट्य-विधि का प्रदर्शन करना चाहता हूँ।' चक्रवर्ती ने स्वीकृति दे दी। अपराह्न में नाटक होने लगा। उस समय एक कर्मकरी ने फूल-मालाएँ लाकर राजा के सामने रखीं। राजा ने उन्हें देखा और मधुकरी गीत सुना। तब चक्रवर्ती के मन में एक विकल्प उत्पन्न हुआ कि ऐसा नाटक इसके पहले भी मैंने कहीं देखा है। वह इस चिन्तन में लीन हो गया और उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई। उसने जान लिया कि ऐसा नाटक मैंने सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान में देखा था। इस स्मृति मात्र से वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। पास बैठे हुए सामन्त उठे, चन्दन का लेप किया। राजा की चेतना लौट आई। सम्राट् आश्वस्त हुआ। उसे पूर्वजन्म के भाई की याद सताने लगी। भाई की खोज करने के लिए उसने एक

भार्ग दूँढ़ा। रहस्य को छिपाते हुए सम्राट् ने महामात्य वरधनु से कहा—'आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमसौ तथा' इस श्लोकावर्ध को सब जगह प्रचारित करो और यह घोषणा करो कि इस श्लोक की पूर्ति करने वाले को सम्राट् अपना आधा राज्य देगा। प्रतिदिन यह घोषणा होने लगी। यह अवर्ध-श्लोक दूर-दूर तक प्रसारित हो गया और व्यक्ति-व्यक्ति को कण्ठस्थ हो गया।

इधर चित्र का जीव देवलोक से व्युत्त होकर पुरिमताल नगर में एक सेठ के घर जन्मा-युवा होने पर एक दिन उसे पूर्वजन्म की स्मृति हुई और वह मुनि बन गया। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वह वहीं काम्पिल्यपुर में आया और मनोरम नाम के कानन में ठहरा। एक दिन वह कायोत्सर्ग कर रहा था। उसी समय रहट को चलाने वाला एक व्यक्ति वहाँ बोल उठा—'आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमसौ तथा।'

मुनि ने इस श्लोकावर्ध को सुना और उसके आगे के दो चरण पूरे करते हुए कहा—'एषा नौ षष्ठिका जातिः, अन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः' रहट चलाने वाले उस व्यक्ति ने उन दोनों चरणों को एक पत्र में लिखा और आधा राज्य पाने की खुशी में वह दौड़ा-दौड़ा राज-दरबार में पहुँचा। सम्राट् की अनुमति प्राप्त कर वह राज्य-सभा में गया और एक ही साँस में पूरा श्लोक सम्राट् को सुना डाला। उसे सुनते ही सम्राट् स्नेहवश मूर्च्छित हो गए। सारी सभा क्षुब्ध हो गयी। सभासद क्रुद्ध होकर उसे पीटने लगे। उन्होंने कहा—'तूने सम्राट् को मूर्च्छित कर दिया। कैसी तेरी श्लोक-पूर्ति?' मार पड़ने पर वह बोला—'भुझे मत मारो। श्लोक की पूर्ति मैंने नहीं की है।' 'तो किसने की है?' सभासदों ने पूछा तब उसने कहा—'मेरे रहट के पास खड़े एक मुनि ने की है।' अनुकूल उपचार पाकर सम्राट् सचेतन हुआ।

सारी बात की जानकारी प्राप्त कर वह परिकर सहित मुनि के दर्शन करने के लिए उद्यान में चल पड़ा। मुनि को वंदना कर वह विनयपूर्वक उनके पास बैठ गया। मुनि ने भर्मदेशना दी। कर्म विषाक का वर्णन किया तथा मोक्षमार्ग का विवेचन किया। परिषद् विरक्त हो गयी पर चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भावित नहीं हुआ। पुनः पुनः प्रतिबोध देने पर भी ब्रह्मदत्त प्रतिबुद्ध नहीं हुआ तब मुनि चित्र ने सोचा—'ओह! अब मुझे समझ में आ गया कि ब्रह्मदत्त प्रतिबुद्ध क्यों नहीं हो रहा है? पूर्वभन में चक्रवर्ती सनत्कुमार की स्त्रीरत्न दर्शनार्थ आई थी। वन्दना करते समय उसकी केशराशि का स्पर्श मुनि के चरणों से हुआ। चरण-स्पर्श से मुनि को अपार सुख की अनुभूति हुई। तब मुनि सम्भूत ने स्त्रीरत्न की प्राप्ति का निदान कर डाला। मैंने निदान करने का निषेध किया। परन्तु निषेध का असर नहीं हुआ। यही कारण है कि आज यह अपने राज्य के प्रति इतना आसक्त है। जैसे मृत्यु रूपी नाग से दष्ट व्यक्ति के लिए जिन-वचन रूपी मंत्र-तंत्र कार्यकर नहीं होता, वैसे ही इस पर धर्म-प्रतिबोध का कोई प्रभाव नहीं हो रहा है।' मुनि वहाँ से चले गए और साधना करते-करते मोक्ष को प्राप्त हो गए।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सुखों का अनुभव करने लगा। कुछ काल बीता। एक बार एक ब्राह्मण चक्रवर्ती के पास आकर बोला—'राजन् ! मेरे मन में एक अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि मैं चक्रवर्ती का भोजन करूँ।' चक्रवर्ती बोला—'द्विजोत्तम! मेरा अन्न तुम पचा नहीं पाओगे। यह अन्न मेरे अतिरिक्त कोई नहीं पचा पाता। यह अन्न दूसरों में सम्यक् परिणत नहीं होता।' तब ब्राह्मण बोला—'राजन् !

आपकी इस राज्यलक्ष्मी को धिक्कार है कि आप अन्नदान देने में भी इतना सोच रहे हैं।' तब राजा ने आक्रोश वश उसे भोजन की अनुमति दे दी। अनुमति पाकर ब्राह्मण अपने परिवार सहित चक्रवर्ती के प्रासाद में गया। वहाँ सभी ने भोजन किया। ब्राह्मण अपने परिवार के साथ घर आ गया। रात्रि में अन्न की परिणति के कारण सभी में उन्माद व्याप्त हो गया। सभी परिजन काम-वैदना से आविष्ट होकर संबंधों को भूलकर, एक दूसरे के साथ अनाचार का सेवन करने लगे। अन्न का पूरा परिणमन हुआ। प्रातःकाल ब्राह्मण तथा सभी परिजन अत्यन्त लज्जा का अनुभव करने लगे। वे एक दूसरे को मुंह दिखाने में भी समर्थ नहीं रहे। ब्राह्मण घर छोड़कर नगर के बाहर चला गया। वन की ओर जाते-जाते ब्राह्मण ने सोचा—'राजा के साथ मेरा कोई वैर नहीं था। फिर बिना किसी निमित्त के राजा ने मेरी ऐसी विडम्बना क्यों की?' उसका मन ईर्ष्या और क्रोध से भर गया। वह वन में घूमता रहा। एक दिन उसने एक अजापालक को देखा, जो कंकरोں से पीपल के पत्तों में छेद कर रहा था। कंकर ठीक निशाने पर लग रहे थे। 'यह मेरा विवक्षित कार्य करने में समर्थ है' यह सोचकर ब्राह्मण अजापालक के पास गया। सम्मान से दान-दक्षिणा देकर उसे प्रसन्न किया और उसको एकान्त में अपना अभिप्राय बता दिया। उसने तदनुरूप कार्य करना स्वीकार कर लिया।

एक दिन वह अजापालक एक भीत की ओट में छिपकर खड़ा हो गया। राजा ब्रह्मदत्त अपने प्रासाद से उसी मार्ग पर कहीं जा रहे थे। अचूक निशानेबाज अजापालक ने निशाना साधा और एक साथ कंकर से उनकी दोनों आंखें उखाड़ दीं। अजापालक पकड़ा गया। राजा ने उससे पूरा वृत्तान्त जानकर ब्राह्मण को उसके पूरे परिवार सहित मरवा डाला। अन्योन्य ब्राह्मणों की घात करने के पश्चात् राजा ने मंत्री से कहा—'इन सबकी आंखें एक थाल में सजाकर मेरे सामने उपस्थित करो। मैं अपने हाथों से उन आंखों का मर्दन कर सुख का अनुभव करूंगा।' मंत्री ने सोचा—'राजा अभी क्लिष्ट कर्मोदय के वशीभूत है। मुझे कोई उपाय करना चाहिए।' उसने शाखोटक (सिंहोड) वृक्ष के फलों को थाली में सजाकर राजा के सामने रखा। राजा क्रूर अभ्यवसायों से अभिभूत था। वह उन फलों को मनुष्य की आंखें मानकर उनका मर्दन करता हुआ सुख का अनुभव करने लगा। कुछ दिन बीते। सात सौ सोलह वर्ष का आयुष्य पूरा कर, अत्यन्त रौद्र अभ्यवसायों से मरकर वह सातवीं नरक में तैतीस सागर की आयुष्य वाला नैरयिक बना।'

५७. भृगु पुरोहित

तेरहवें अध्ययन में वर्णित चित्र और संभूत के दो मित्र थे, जो ग्वाले थे। साधु के अनुग्रह से उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। वे वहाँ से मरकर देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवन कर वे क्षितिप्रतिष्ठित नगर में एक सेठ के यहाँ उत्पन्न हुए। चार इभ्यपुत्र उनके मित्र थे। उन सबने युवावस्था में भोगों का उपभोग किया फिर स्थविर मुनि के प्रवचन से विरक्त होकर प्रव्रजित हो गए। चिरकाल तक संयम का पालन कर वे भक्तप्रत्याख्यान अनशन द्वारा सौधर्म देवलोक के षट्मगुल्म नामक विमान में चार पत्न्योपम की स्थिति वाले देव बने। दो ग्वालपुत्रों को छोड़कर शेष चारों मित्र वहाँ से च्युत हुए। उनमें एक कुरु जनपद के इषुकार नगर में इषुकार नामक राजा बना तथा दूसरा उसी राजा की

पटरानी कमलावती बना। तीसरा उसी राजा का पुरोहित बना, जिसका नाम भृगु था तथा चौथा भृगु पुरोहित की पत्नी वाशिष्ठगोत्री यशा बना। भृगु पुरोहित के कोई पुत्र नहीं था। संतान के लिए दोनों पति-पत्नी चिंतामग्न रहते थे। संतान के लिए वे विविध देवताओं और नैमित्तिकों से उपाय पूछते रहते थे।

एक क्षण उन दोनों ग्वालपुत्रों ने देवभवन में अवधिज्ञान से जाना कि वे भृगुपुरोहित के पुत्र होंगे। वे श्रमण का रूप धारण कर भृगु पुरोहित के पास आए। भृगु पुरोहित और यशा—दोनों ने उनका वंदना की। श्रमण देवों ने उन दोनों को धर्म का उपदेश दिया। भृगु दम्पति ने श्रावक व्रत स्वीकार किए। भृगु ने पूछा—‘भगवन्! हमारे कोई पुत्र होगा या नहीं?’ श्रमण युगल ने कहा—‘तुम्हारे दो पुत्र होंगे लेकिन वे धान्यवृक्षा में ही दीक्षित हो जाएंगे। उनकी प्रव्रज्या में तुमको कोई बाधा नहीं पहुंचाना है। वे दीक्षित होकर धर्मशासन की प्रभावना करेंगे और अनेक लोगों को प्रतिबुद्ध करेंगे।’ इतना कहकर वे दोनों श्रमण वहां से चले गए। कुछ समय बाद दोनों देव पुरोहित-पत्नी के गर्भ में आए। दीक्षा के भय से पुरोहित नगर को छोड़कर व्रज गांव में जाकर बस गया। वहां पुरोहित-पत्नी ने दो पुत्रों को जन्म दिया। कुछ बड़े होने पर माता-पिता ने सोचा कि कहीं ये दीक्षित न हो जाएं अतः एक बार उसने कहा—‘ये श्रमण धूर्त और प्रेत-पिशाच रूप होते हैं। ये सुन्दर सुन्दर बालकों को उठाकर ले जाते हैं और फिर उनका मांस खाते हैं अतः तुम कभी भी उनके पास मत जाना।’

एक बार वे दोनों बालक खेलते-खेलते गांव के बाहर चले गए। कुछ साधु उसी मार्ग से आ रहे थे। वे दोनों बालक भयभीत हो गए और दौड़कर एक वृक्ष पर चढ़ गए। संयोगवश साधु भी उसी वृक्ष की सघन छाया में ठहरे। मुहूर्त भर विश्राम करके सभी साधु एक मंडली में भोजन करने लगे। बालकों को माता-पिता की शिक्षा स्मृति में आयी किन्तु उन्होंने देखा कि मुनि के पात्र में मांस जैसी कोई वस्तु नहीं है। साधुओं को अपने घर जैसा सामान्य भोजन करते देख बालकों का भय कम हुआ। उन्होंने सोचा—‘अहो ! हमने ऐसे साधु अन्यत्र भी कहीं देखे हैं।’ चिंतन करते-करते उन्हें जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे प्रतिबुद्ध हो गए। नीचे उतरकर उन्होंने साधुओं को वंदना की और वे अपने माता-पिता के पास आए। उन्होंने माता-पिता से कहा—‘मनुष्य जीवन अनित्य और विघ्नबहुल है, आयु छोटी है अतः हम दीक्षा स्वीकार करने की अनुमति चाहते हैं।’ पिता ने उनको अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया। वार्तालाप में पिता ने उन्हें ब्राह्मण संस्कृति से परिचित कराने का प्रयत्न किया किन्तु दोनों बालकों ने विस्तार से उन्हें श्रमण संस्कृति का ज्ञान कराया। अंत में पुरोहित भी संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या हेतु तैयार हो गया। उसने अपनी पत्नी को समझाया तो वह भी प्रतिबुद्ध हो गयी। इस प्रकार वे चारों—माता-पिता और दोनों पुत्र प्रव्रजित हो गए।

उस समय राज्य का विधान था कि जिसके कोई उत्तराधिकारी नहीं होता, उसकी सम्पत्ति राजा की भान ली जाती थी। भृगु पुरोहित का सारा परिवार दीक्षित हो गया। राजा को जब यह बात ज्ञात हुई तो उसने सारी सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहा। रानी कमलावती को जब यह बात मालूम पड़ी तो उसने राजा से कहा—‘राजन्! व्रमन को खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। आप ब्राह्मण द्वारा परित्यक्त धन लेना चाहते हैं, यह व्रमन पीने जैसा है।’

रानी ने काम-धोंगों की असारता पर मार्मिक प्रकाश डाला। राजा का मन विरक्त हो उठा। राजा और रानी दोनों दीक्षित हो गए। कालान्तर में उन छहों को कैवल्य उत्पन्न हो गया और वे निर्विघ्न को प्राप्त हो गए।^१

५८. राजर्षि संजय

कांपिल्य नगर में संजय नाम का राजा राज्य करता था। एक बार वह मृगया के लिए निकला। उसके साथ चारों प्रकार की सेनाएं थीं। वह घोड़े पर सवार होकर केशर उद्यान में गया। वह मृगों को खदेड़ कर अपने साथ ले गया। एकत्रित मृगों को वह रसलोलुप राजा संव्रस्त कर मारने लगा। उस उद्यान में गर्दभालि अनगार ध्यान कर रहे थे। राजा ने सोचा यहां के मृगों को मारकर मैंने मुनि की आशातना की है। वह तत्काल घोड़े से उतरा और मुनि के पास गया। मुनि के पास चट्टाञ्जलि होकर वह बोला—‘भगवन् ! मुझे क्षमा करें।’ मुनि मौन धारण किए हुए थे अतः कुछ नहीं बोले। राजा भयभीत हो गया। उसने सोचा—‘यदि मुनि क्रुद्ध हो गए तो वे अपने तेज से समूचे विश्व को नष्ट कर देंगे।’ राजा ने पुनः कहा—‘मैं कांपिल्यपुर का राजा हूँ। मेरा नाम संजय है। मैं आपकी शरण में आता हूँ। आप मुझे अपने तपोजनित तेज से न जलाएं।’

मुनि शांतभाव से बोले—‘राजन् ! मैं तुम्हें अभयदान देता हूँ। तुम भी अभयदाता बनो। पानी के बुद्बुदे के समान क्षणभंगुर इस जीवन में अपने मरण को जानकर भी तुम हिंसा में क्यों आसक्त बन रहे हो?’ राजा ने मुनि की धर्मदेशना सुनी और विरक्त हो गया। समग्र वैभव युक्त राज्य को छोड़कर उसने व्रत्रज्या स्वीकार कर ली। अनेक वर्षों तक तपश्चरण कर राजर्षि संजय सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।^२

५९. मृगापुत्र

सुग्रीव नगर में बलभद्र नाम का राजा राज्य करता था। उसकी अग्रमहिषी का नाम मृगावती था। उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम बलश्री रखा गया। वह लोक में मृगापुत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह बुद्धिमान, वज्रऋषभसंहनन वाला तथा तद्भवभुक्तिगामी था। युवा होने पर उसका पाणिग्रहण हुआ।

एक बार वह पत्नियों के साथ प्रासाद के झरोखे में बैठा क्रीड़ा कर रहा था। राजमार्ग से लोग आ-जा रहे थे। स्थान-स्थान पर नृत्य संगीत की मंडलियां आयोजित थीं। एकाएक उसकी दृष्टि राजमार्ग पर मंदगति से चलते हुए निर्ग्रन्थ पर जा टिकी। मुनि श्रुत के पारगामी, धीर, गंभीर एवं तप, नियम और संयम के धारक थे। मुनि के तजोदीप्ता ललाट, चमकते हुए नेत्रों तथा तपस्या से कृश शरीर को वह अनिमेष दृष्टि से देखता रहा। मुनि को देखकर ‘पहले भी मैंने ऐसा रूप कहीं देखा है’—यह विचार करते-करते उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। जातिस्मृति से उसको अतीत की सारी स्मृतियां ताजा हो गयीं। उसने जान लिया कि पूर्वभव में वह श्रमण था। उसका मन संसार

१. उनि. ३५६-६६, उशांटी. प. ३९५, ३९६, उसुदी. प. २०४, २०५।

२. उनि. ३८८-३९८।

से विरक्त हो गया। वह अपने माता-पिता के पास आकर बड़ाझलि बोला—‘पिता जी! मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ। यह शरीर अनित्य है, अशुचिमय है, दुःख और क्लेशों का भाजन है। इसे आज या कल छोड़ना ही होगा। इन काम-भोगों को मैं अभी छोड़ना चाहता हूँ।’

माता-पिता ने अनेक तर्कों से उसे श्रामण्य जीवन की कठोरता से अवगत कराया। लेकिन जब उन्होंने देखा कि इसका संकल्प दृढ़ है तो उन्होंने कहा—‘पुत्र! तुम धन्य हो, जो सुख सामग्री का विद्यमानता में विरक्त बने हो। तुम सिंह की भांति अभिनिष्क्रमण कर सिंह-वृत्ति से ही श्रामण्य का पालन करना। धर्म की कामना रखते हुए कामभोगों से विरक्त होकर विहरण करना। वत्स! तुम ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, संयम, नियम, क्षांति, मुक्ति आदि से सदा वर्धमान रहना।’ संवेगजनित हर्ष से बलश्री ने माता-पिता के आशीर्वाद को स्वीकार किया। पवित्रता से श्रामण्य का पालन किया और अंत में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन गया।^१

६०. समुद्रपाल

चंपा नगरी में पालित नामक सार्थवाह रहता था। वह वीतराग भगवान् महावीर का अनुयायी था। निर्ग्रन्थ प्रवचन में उसकी दृढ़ श्रद्धा थी। वह सामुद्रिक व्यापारी था अतः दूर-दूर तक उसका व्यापार फैला हुआ था। एक बार वह यानपात्र पर आरुढ़ होकर घर से निकला। वह गर्णिम—सुपारी तथा धरिम—स्वर्ण आदि से भरे जहाज को लेकर पिहुंड नगर पहुंचा। क्रय-विक्रय हेतु वह वहां कई दिनों तक रहा। नगरवासियों से उसका परिचय बढ़ा और एक सेठ ने अपनी पुत्री के साथ उसका विवाह कर दिया।

कुछ दिन वहां रहकर वह पत्नी को लेकर स्वदेश की ओर चल पड़ा। उसकी पत्नी गर्भवती हुई। समुद्र-यात्रा के बीच ही उसने एक सुन्दर और लक्षणोपेत बालक को जन्म दिया। समुद्र में जन्म लेने के कारण उसका नाम समुद्रपाल रखा गया। पालित श्रावक सकुशल अपने घर पहुंचा। शिशु समुद्रपाल पांच धार्यों के बीच बड़ा होने लगा। उसने बहतर कलाएं सीखीं। वह न्याय-नीति में निपुण हो गया। यौवन में प्रवेश कर वह अत्यधिक सुन्दर दिखाई देने लगा। युवावस्था में पिता ने रूपिणी नामक कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। वह स्त्रियों के चौंसठ गुणों से युक्त तथा देवांगना के समान सुन्दर थी। समुद्रपाल रूपिणी के साथ पुंडरीक भवन में क्रीडारत रहता था। एक बार वह प्रासाद के गवाक्ष में बैठा नगर की शोभा देख रहा था। उसने देखा कि राजपुरुष एक वध्य को वधभूमि में ले जा रहे हैं। वह व्यक्ति लाल वस्त्र पहने हुए था। उसके गले में लाल कनेर की मालाएं थीं। यह सब देख कुमार का मन संवेग से भर गया। ‘अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है।’ इस चिंतन से उसका मार्ग स्पष्ट हो गया। संबोध प्राप्त कर समुद्रपाल उत्कृष्ट वैराग्य से संपृक्त हो गया। प्रख्यात यश-कीर्ति वाले उस कुमार ने माता-पिता की आज्ञा लेकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। अनेक वर्षों तक तपश्चर्या द्वारा कर्मों का क्षय कर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया।^२

६१. रथनेमि-राजीमती

एक सन्निवेश में ग्रामाधिपति के पुत्र का नाम धन था। गामा की पुत्री धनवती उसकी पत्नी बनी। एक बार ग्रीष्म-काल के मध्याह्न में वे किसी प्रयोजनवश अरण्य में गए। वहां उन्होंने भूख-प्यास एवं परिश्रम से व्याकुल, कृश शरीर वाले एक मुनि को देखा, जो पथ भूल गए थे और मूर्च्छित मे पृथ्वी पर पड़े थे। इस दयनीय अवस्था में मुनि को देखकर दम्पति ने सोचा कि यह कोई महातपस्वी है। करुणा से ओत-प्रोत धन ने मुनि का जल के छींटे डाले। उनके शरीर पर कड़े-कड़े हवा की। धन ने मुनि के शरीर का मर्दन भी किया। जब मुनि स्वस्थ हुए तब धन उन्हें अपने गांव लेकर आ गया। आहार आदि से उनकी सेवा की। मुनि भी उसे उपदेश देते हुए बोले—‘इस दुःख प्रचुर संसार में दूसरों का हित अवश्य करना चाहिए। यदि शक्य हो तो तुम भांस, मद्य, शिकार आदि व्यसनों से निवृत्त हो जाओ क्योंकि ये दोषबहुल हैं।’ मुनि ने और भी अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान की बात कही। धन को धर्म में स्थिर करके साधु ने वहां से विहार कर दिया। वह भी साधु के द्वारा बताए अनुष्ठान का विधिपूर्वक पालन करने लगा। उसने तपस्वी के प्रति वात्सल्य से महान् पुण्य का बंध किया।

कालान्तर में धन एवं उसकी पत्नी ने धर्म स्वीकार कर लिया। दिवंगत होकर धन सौधर्म देवलोक में सामानिक देव बना और उसकी पत्नी उसकी मित्र बनी। वहां दिव्य सुख का अनुभव करके देवलोक से च्यवन कर धन वैताड्य में सूरतेज विद्याधर राजा का पुत्र बना। उसका नाम चित्रगति रखा गया। धनवती भी सूर राजा की रत्नवती कन्या बनी। कालान्तर में वह उसी की पत्नी बनी। मुनि धर्म का पालन कर चित्रगति माहेन्द्र देवलोक में सामानिक देव बना तथा उसकी पत्नी उसकी मित्र बनी। वहां से च्युत होकर वह अपराजित नाम का राजा बना और वह उसकी पत्नी बनी, जिसका नाम प्रियमती था। श्रमण धर्म का पालन कर वे आरण्यक कल्प में देव बने और पत्नी उसकी मित्र बनी। वहां से च्युत होकर वह शंख नामक राजा बना और वह यशोमती नाम से उसकी पत्नी बनी। शंख ने मुनि धर्म स्वीकार किया। अर्हद्-भक्ति आदि हेतु से उसने तीर्थंकर नाम गांत्र का बंधन किया तथा अपराजित विमान में उत्पन्न हुए। यशोमती भी साधुधर्म का पालन करने से वहीं उत्पन्न हुई।

सोरियपुर नगर में दश दशार्षों में ज्येष्ठ राजा समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उसके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। कार्तिक कृष्ण बारस को धन का जीव शिवा रानी के गर्भ में आया। गर्भकाल में माता ने 14 महास्वप्न देखे। उचित समय पर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन शिवा देवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। दिग्-कुमारियों ने जन्म-अभिषेक महोत्सव मनाया तथा राजा समुद्रविजय ने वर्धापनक समारोह का आयोजन किया। स्वप्न में रिष्ट रत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा गया। अरिष्टनेमि आठ वर्ष के हुए। इसी बीच कृष्ण ने कंस का वध कर दिया। महाराज जरासंध यादवों पर कुपित हो गए। जरासंध के भय से सभी यादव पश्चिमी समुद्र-तट पर चले गए। वहां केशव द्वारा आराधित वैश्रमण देव द्वारा निर्मित, स्वर्णमयी, बारह योजन लम्बी एवं नौ योजन चौड़ी द्वारवती नगरी में वे

सुखपूर्वक रहने लगे। कालान्तर में बलराम और केशव ने जरासंध को मार दिया और वे अर्धभरत के राजा बन गए। अरिष्टनेमि युवा होने पर भी विषयों से पराङ्मुख रहते थे। वे सभी यादवों के प्रिय थे।

एक बार आंगनमानेन जौतुकवश श्रीकृष्ण की आयुधशाला में पहुंच गए। वहां उन्होंने अनेक देवाधिपत्यत आयुध देखे। अरिष्टनेमि ने दिव्य कालपृष्ठ उठाया। उसे देखकर आयुधशाला का रक्षक बोला—'कुमार ! यह क्या? स्वयंभूरमण समुद्र को भुजाओं से तैरने की भांति इस धनुष्य का संचालन आपके लिए अशक्य अनुष्ठान है। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त तीनों लोक में कोई भी इस धनुष्य को संचालित करने में समर्थ नहीं है। हंसते हुए अरिष्टनेमि ने आयुधशाला-पालक की अवहेलना करते हुए इस धनुष को उठाकर प्रत्यंचा को आस्फालित किया। उसकी ध्वनि से पृथ्वी कांप उठी। पर्वत हिलने लगे। जलचर, धलचर और खेचर आदि पशु-पक्षी संव्रस्त होकर इधर-उधर पलायन करने लगे। आयुधशाला रक्षक विस्मित हो गया। रक्षकों द्वारा निषेध करने पर भी अरिष्टनेमि ने कालपृष्ठ धनुष को नीचे रखकर राज्यजन्य शंख हाथ में उठाया और उसे कुतूहलवश बजा डाला। शंख के शब्द से सारा संसार बहरा जैसा हो गया। देवता, असुर तथा मनुष्यों के हृदय भी कंपित हो गये। विशेषतः द्वारका नगरी सम्पूर्ण रूप से कांप उठी। कृष्ण ने सोचा—'यह प्रलयकारी भ्वनि कहां से उठी है?' आयुधपाल ने सारी बात श्रीकृष्ण को बताई। श्रीकृष्ण विस्मित हो गए। अरिष्टनेमि के सामर्थ्य को जानकर श्रीकृष्ण ने बलदेव से कहा—'यह बालक होते हुए भी इतना शक्ति सम्पन्न है, जब वह बड़ा होगा तो राज्य को खतरा हो जाएगा।' बलदेव ने कहा—'तुम्हारी यह चिंता व्यर्थ है। केवली भगवान् ने कहा है कि अरिष्टनेमि बावोसर्वे तीर्थकर और तुम नीचे वासुदेव बनोगे।'

एक बार श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि से उद्यान में मिले और बोले—'कुमार ! अपने-अपने बल की परीक्षा के लिए हम बाहुयुद्ध करें।' अरिष्टनेमि ने कहा—'इस निंदनीय बाहुयुद्ध को करने से क्या लाभ है? हम बाहुयुद्ध करेंगे। दूसरी बात यह भी है कि मैं आपसे छोटा हूं यदि आपको हरा दूंगा तो इससे आपकी अपकीर्ति होगी। श्रीकृष्ण ने कहा—'मनोरंजन के लिए किए जाने वाले युद्ध में कैसी अपकीर्ति?' अरिष्टनेमि ने अपनी वाम बाहु फैलाई और कहा कि यदि तुम इसे झुका दोगे तो तुम जीत जाओगे। श्रीकृष्ण बाहु को आंदोलित करना तो दूर किंचित् मात्र भी हिला नहीं सके। श्रीकृष्ण की राज्यहरण की चिंता दूर हो गयी।

यौवन प्राप्त होने पर एक दिन श्रीकृष्ण ने समुद्रविजय को कहा—'कुमार का शीघ्र विवाह कर दिया जाए, जिससे यह शीघ्र ही भोगों में फंस जाए।' रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ने भी यथावसर कुमार से कहा—'त्रिभुवन में आप जैसा रूप किसी का नहीं है। निरुपम सौभाग्य से युक्त स्वस्थ शरीर है अतः दुर्लभ मनुष्य जन्म एवं यौवन का लाभ लेने के लिए विवाह करो।' नेमिनाथ ने हंसते हुए कहा—'तुच्छ काम-भोगों से मनुष्यजन्म की सार्थकता नहीं होती। एकान्तशुद्ध, निष्कलंक एवं निरुपमसुख वाली शाश्वती सिद्धि से ही जीवन की सफलता है। मैं सिद्धि के लिए ही चल करूंगा।' श्री कृष्ण ने कहा—'कुमार ! ऋषभ आदि तीर्थकरों ने भी पहले विवाह किया। सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् पश्चिम वय में प्रव्रजित होकर मोक्ष को प्राप्त किया अतः तुम भी दारसंग्रह करके

दशारचक्र के मनोरथ को पूरा करो।' अरिष्टनेमि ने भवितव्यता जानकर श्रीकृष्ण की बात स्वीकार कर ली। दशारचक्र इस बात को सुनकर हर्षित हो गए। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा—'कुमार के अनुरूप कन्या की अन्वेषणा करो।'

भोज कुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री राजीमती को अरिष्टनेमि के योग्य समझ विवाह का प्रस्ताव रखा। मूल धनवती का जीव अपराजित विमान से च्युत होकर राजीमती के रूप में उत्पन्न हुआ था। अनुरूप संबंध देखकर उग्रसेन ने अनुग्रह मानकर विवाह की स्वीकृति दे दी। दोनों कुलों में वर्धापन हुआ। शुभ मुहूर्त में विवाह-महोत्सव का आयोजन हुआ। विवाह से पूर्व के सारे कार्य सम्पन्न हुए। राजीमती को अलंकृत किया गया। कुमार भी अलंकृत होकर वारात के साथ मत्त हाथी पर आरूढ़ हुए। बलदेव, वासुदेव के साथ सभी दशार एकत्रित हुए। बाजे बजने लगे। शंख-ध्वनि होने लगी तथा मंगलदीप जलाए गए। चंवर डुलने लगे। जनसमूह के साथ वरयात्रा विवाह-मंडप के पास आई। राजीमती भी नैमिकुमार को देखकर हर्षवैभोर हो गयीं।

उसी समय अरिष्टनेमि के कानों में क्रन्दन भरे शब्द सुनाई पड़े। उन्होंने सारथी से पूछा—'ये करुण क्रंदन युक्त शब्द कहाँ से आ रहे हैं?' सारथी ने कहा—'देव ! ये करुणा भरे शब्द पशुओं के हैं। ये आपके विवाह में सम्मिलित होने वाले अतिथियों के लिए भोज्य बनेंगे।' अरिष्टनेमि ने कहा—'यह कैसा आनन्द ! जहाँ हजारों मूक और दीन निरपराध प्राणियों का वध किया जाता है। ऐसे विवाह से क्या जो संसार-परिभ्रमण का हेतु बनता है?' ऐसा कहकर अरिष्टनेमि ने हाथी को अपने निवास-स्थान की ओर मोड़ दिया। सारथी ने नेमिकुमार के अभिप्राय को जानकर प्राणियों को मुक्त कर दिया। नेमिकुमार को विरक्त और मुड़ते देखकर राजीमती मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। सखियों ने ठण्डा जल छिड़का, पंखा झला। चेतना प्राप्त करके राजीमती विलाप करने लगी। सखियों ने समझाया कि विलाप करना व्यर्थ है अतः तुम धैर्य धारण करो। राजीमती बोली—'सखियों ! आज स्वप्न में देव, दानवों से भिरा हुआ एक दिव्य पुरुष द्वार पर खड़ा दिखाई दिया जो ऐरावत हाथी पर आरूढ़ था। तत्क्षण वह सुमेरु पर्वत पर चढ़ गया और सिंहासन पर बैठ गया। अनेक लोग वहाँ आए, मैं भी वहाँ गयीं। वह शारीरिक और मानसिक दुःखों को दूर करने वाले कल्पवृक्ष के चार-चार फल सबको दे रहा था।' मैंने कहा—'भगवान् ! मुझे भी ये फल दें। मुझे भी उन्होंने वे फल दिए। इसके बाद मेरी नींद खुल गयी। सखियों ने कहा—'प्रिय सखी ! वर्तमान में कटु लगने पर भी यह स्वप्न परिणाम में सुन्दर फल देने वाला है।'

इधर इन्द्र का आसन चलित हुआ। लोकान्तिक देवों ने अरिष्टनेमि को प्रतिबोध दिया कि सब प्राणियों के हित के लिए आप तीर्थ का प्रवर्त्तन करें। नेमिकुमार अपने माता-पिता के पास गए और प्रव्रज्या की आज्ञा माँगी। माता-पिता मोह से विलाप करने लगे। राजीमती के साथ पाणिग्रहण करने का आग्रह किया। अरिष्टनेमि ने अपने माता-पिता को समझाते हुए कहा—'तात ! आप मानसिक संताप न करें। यह यौवन अस्थिर है, ऋद्धियां चंचल हैं, संध्याभ्र के समान पिता, पुत्र एवं स्वजनों का संयोग क्षणभंगुर है अतः मुझे संसार रूपी अग्नि से बाहर निकलने की अनुमति प्रदान करें।' दशारचक्र ने बद्धाञ्जलि प्रार्थना की—'कुमार ! कुछ समय प्रतीक्षा करो उसके बाद तुम प्रव्रज्या

स्वीकार कर लेना।' अरिष्टनेमि ने सांवत्सरिक महादान के निमित्त से एक वर्ष तक घर में रहना स्वीकार कर लिया। नेमिकुमार ने महादान प्रारम्भ कर दिया।

एक वर्ष पूरा होने पर माता-पिता की आज्ञा से श्रावण शुक्ला पक्षी के दिन सहस्राम्र वन के उद्यान में देव और मनुष्यों की परिषद् में ब्रह्मे की तपस्या में अरिष्टनेमि ने स्वयं पंचमुष्टि लोच किया। वे तीन सौ वर्ष तक अगारवास में रहे।

अब रथनेमि राजीमती के पास आने-जाने लगे। उन्होंने कहा—'सुतनु ! तुम विषाद मत करो। अरिष्टनेमि तो वीतराग हैं। वे विषयानुबन्ध करना नहीं चाहते। अब तुम मुझे स्वीकार करो। मैं जीवन भर तुम्हारी आज्ञा का पालन करूंगा।' राजीमती ने उत्तर देते हुए कहा—'यद्यपि मैं नेमिनाथ के द्वारा परित्यक्ता हूँ फिर भी मैं उनको नहीं छोड़ूंगी। मैं उनकी शिष्या बनना चाहती हूँ इसलिए तुम इस अनुबन्ध का त्याग कर दो।'

कुछ दिनों बाद रथनेमि ने पुनः भोगों की प्रार्थना की। राजीमती का मन काम-भोगों से निर्विण्ण हो चुका था। उसे रथनेमि की प्रार्थना अनुचित लगी। उसे प्रतिबोध देने के लिए राजीमती ने मधु-घृत संयुक्त पेय पीया। फिर उसके सामने मदनफल खाकर वमन किया। वमन को एक स्वर्ण कटोरे में भर रथनेमि को उसे पीने के लिए कहा। रथनेमि ने कहा—'वमन किए हुए को मैं कैसे पीऊँ?' राजीमती ने कहा—'क्या तुम इस बात को वास्तविक रूप में जानते हो?' रथनेमि ने कहा—'इस बात को तो एक बालक भी जानता है।' राजीमती ने कहा—'यदि यह बात है तो मैं भी अरिष्टनेमि द्वारा वान्त हूँ। मुझे स्वीकार करना क्यों चाहते हो? धिक्कार है तुम्हें जो वान्त वस्तु को पीने की इच्छा करते हो। इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है।' रथनेमि जागृत होकर आसक्ति से उपरत हो गए। राजीमती दीक्षा की भावना से विविध प्रकार की तपस्या से शरीर को कृश करने लगी।

भगवान् अरिष्टनेमि ५४ दिन अन्यत्र विचरण करके रेवन्तगिरी के सहस्राम्र वन के उद्यान में आए। आसोज की अमावस्या को शुभ अध्यवसायों द्वारा तेल के तपस्या में भगवान् को कैवल्य उत्पन्न हो गया। राजीमती ने स्वप्न में जिस दिव्य पुरुष को चार फल देते हुए देखा, वह स्वप्न साकार हो गया क्योंकि उसे कल्पवृक्ष के चार फलों की भांति चार महाव्रत (चातुर्याम धर्म) मिल गए।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि रेवतक पर्वत पर समवसृत थे। साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ भगवान् को वंदना करने आई। अचानक रास्ते में भयंकर वर्षा प्रारम्भ हो गयी। साथ वाली साध्वियां इधर-उधर गुफाओं में चली गयीं। राजीमती भी एक शून्य गुफा में प्रविष्ट हुई। वर्षा के कारण नियतिवश मुनि रथनेमि पहले से ही वहां बैठे हुए थे। अंधकार के कारण राजीमती को मुनि दिखाई नहीं दिए। राजीमती ने सुखाने के लिए अपने कपड़े फैलाए। राजीमती का निरावरण शरीर देखकर रथनेमि का मन विचलित हो गया। अचानक राजीमती ने रथनेमि को देख लिया। शीघ्र ही बाहों से अपने शरीर को ढंकती हुई वह वहीं बैठ गई। रथनेमि ने कहा—'मैं तुम्हारे में अत्यन्त अनुरक्त हूँ। तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता अतः अनुग्रह करके मुझे स्वीकार करो और मेरी मनोकामना पूर्ण करो। फिर मानसिक समाधि होने पर हम दोनों पुनः संयम मार्ग स्वीकार कर लेंगे।' राजीमती ने साहसपूर्ण शब्दों में कहा—'आप उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हैं। व्रत का इस प्रकार

भंग करना क्या आपके लिए उचित है? महापुरुष अपना जीवन छोड़ देते हैं लेकिन प्रतिज्ञा का लोप नहीं करते। इसलिए मन में विषयों के दारुण विषाकों का चिंतन करके जीवन की अस्थिरता का चिंतन करो।' राजीमती के प्रतिबोध से रथनेमि संबुद्ध हो गया। उपकारी मानकर राजीमती का अभिनंदन कर वह अपने मांडलिक साधुओं के पास चला गया। राजीमती भी आर्यिकाओं के पास चली गयी। अरिष्टनेमि भगवान ने ५४ दिन कम ७०० वर्ष तक केजली पशुपति का पालन किया। अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोधित करके एक हजार वर्ष का आयुध पूर्ण करके आपाद् शुक्ला अष्टमी को रेवतपर्वत पर एक मास की तपस्या में पांच सौ छत्तीस श्रमणों के साथ सिद्ध, बृद्ध और मुक्त हो गए। रथनेमि और राजीमती भी सिद्ध हो गए।

६२. जयघोष-विजयघोष

वाराणसी नगरी में जयघोष और विजयघोष नामक दो ब्राह्मण काश्यपगोत्री थे। वे पट्कर्म में रत तथा चार वेदों के अभ्येता थे। वे दोनों युगल रूप में जन्मे। एक बार जयघोष मुनि स्नान हेतु गंगा नदी के तट पर गया। वहाँ उसने सर्प द्वारा मेंढक को निगलते देखा। इतने में भाजोर - कुरुर पक्षी वहाँ आया और सर्प को खाने लगा। कुरुर द्वारा पकड़े जाने पर भी साँप मेंढक को खाने लगा। कम्पायमान सर्प को खाने में कुरुर पक्षी आसक्त था। आपस के घात-प्रत्याघात को देखकर जयघोष मुनि प्रतियुद्ध हो गया। गंगा को पार करके वह साधुओं के पास गया और वहाँ श्रमण बन गया।

एक बार जयघोष मुनि ने एकरात्रिही रतिग स्वीकार की। दामाधुम्राज विहरण करते हुए वे बनारस पहुँचे। उनके मासखमण का पारणा था अतः भिक्षा के लिए वे नगर में गए। उस दिन ब्राह्मण विजयघोष ने यज्ञ प्रारम्भ किया। दूर-दूर से बुलाए गए ब्राह्मणों के लिए विविध प्रकार की भोज्य-सामग्री तैयार की गयी। मुनि जयघोष भिक्षा हेतु यज्ञवाट में पहुँचे। वहाँ उन्होंने भिक्षा की याचना की। विजयघोष ने कहा—'तुम वेदों और यज्ञ-विधि को नहीं जानते अतः तुम्हें भिक्षा नहीं मिलेगी।' जयघोष मुनि ने यह बात सुनी। भिक्षा हेतु निषेध करने पर भी मुनि समचित्त रहे। उन्होंने भिक्षा हेतु नहीं अपितु याजकों को सही ज्ञान कराने के लिए कई नए तथ्य प्रकट किए। ब्राह्मण शब्द के नए अर्थ दिए। जयघोष की प्रेरणा से विजयघोष भी सम्युद्ध हो गया और उनके पास प्रव्रजित हो गया।*

आचारांग-निर्युक्ति की कथाएं

१. जातिस्मरण (क)

बसन्तपुर नगर का राजा जितशत्रु अपने पुत्र धर्मरुचि को राज्य सौंपकर तापस दीक्षा लेना चाहता था। धर्मरुचि ने माँ से पूछा—'माँ ! पिताजी राज्यश्री को क्यों छोड़ रहे हैं?' माँ ने कहा—'राज्य नरक आदि दुःखों का हेतुभूत है। इसे छोड़ तुम्हारे पिता शाश्वत सुख पाना चाहते हैं।' पुत्र ने कहा—'यदि यह यथार्थ है तो मुझे इसमें क्यों फंसाया जा रहा है? मैं भी प्रव्रजित हो जाऊंगा।' वह

१. उनि. ४४०-४४, उमुटी. प. २७७-८२।

२. उनि. ४६०-७६, उमुटी. प. ३०५।

पिता के साथ प्रव्रजित होकर तापस बन गया और तापस क्रियाओं का यथावत् पालन करने लगा। एक दिन एक तापस ने आश्रम में भोग्या की कि कल अनाकुट्टी होगी इसलिए आज ही समिधा, कुसुम, कन्द, फल, फूल आदि ले आए। यह सुनकर धर्मरुचि तापस ने अपने पिता तापस से पूछा—‘तात ! यह अनाकुट्टी क्या है?’ पिता तापस ने कहा—‘अमावस्या आदि पंच दिनों में कन्द, फल आदि का छेदन नहीं करना चाहिए। यह हिंसायुक्त क्रिया है।’ यह सुनकर धर्मरुचि तापस ने सोचा कि यदि सदा के लिए अनाकुट्टी की जाए तो वह श्रेष्ठ है।

एक बार अमावस्या के दिन आश्रम के निकटवर्ती भाग से विहार करते हुए साधुओं को उसने देखा। उनको देखकर धर्मरुचि तापस ने पूछा—‘क्या आज आपके अनाकुट्टी नहीं है? आज आप अटवी में क्यों जा रहे हैं?’ मुनि बोले—‘हमारे तो यावज्जीवन ही अनाकुट्टी है।’ यह कहकर मुनि आगे प्रस्थान कर गए। तापस धर्मरुचि ईहा, अपोह और विमर्श में निमग्न हो गया। चिंतन करते-करते उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने जान लिया कि पूर्वजन्म में वह श्रामण्य का पालन कर देवलोक में सुखों का अनुभव कर यहां उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार उसने अपने जातिस्मरण ज्ञान से विशिष्ट दिशा से आगमन की बात जान ली।^१

२. जातिस्मरण (ख)

गणधर गौतम ने भगवान से पूछा—‘मुझे केवलज्ञान की प्राप्ति क्यों नहीं होती?’ भगवान ने कहा—‘तुम्हारा मुझ पर अतीव स्नेह है, इसलिए कैवल्य का लाभ नहीं हो रहा है।’ गौतम ने पूछा—‘यह स्नेह क्यों है?’ भगवान ने कहा—‘गौतम अनेक जन्मों से हम दोनों का संबंध रहा है, यही स्नेह का कारण है।’ गौतम को तब विशिष्ट दिशा से आगमन का ज्ञान हो गया। यह तीर्थंकर के कथन से होने वाला ज्ञान है।^२

३. जातिस्मरण (ग)

मल्लिकुमारी ने विवाह के लिए समागत छह राजपुत्रों को जन्मान्तर का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—‘हम सभी एक साथ प्रव्रजित हुए थे और एक साथ जयन्त विमान देवलोक में सुखानुभव किया था।’ यह सुनकर वे छहों प्रतिबुद्ध हो गए और उन्हें विशिष्ट दिशा से आगमन का विज्ञान प्राप्त हो गया। यह अन्य श्रवण से उत्पन्न ज्ञान का उदाहरण है।^३

४. दृष्टि का महत्व

उदयसेन राजा के वीरसेन और सूरसेन नामक दो पुत्र थे। वीरसेन खंभा था। उसने गान्धर्व (गायन) आदि कलाएं सीख लीं। सूरसेन धनुर्विद्या आदि कलाओं में निपुण हो गया तथा लोक में उसकी प्रसिद्धि हो गयी। यह सुनकर वीरसेन ने राजा को निवेदन किया कि मैं भी धनुर्विद्या का अभ्यास करूंगा। राजा ने उसके आग्रह को देखकर धनुर्विद्या सीखने की आज्ञा दे दी। उपयुक्त उपाध्याय के उपदेश तथा अपनी प्रज्ञा के अतिशय से वह शब्दवेधी धनुर्धर बन गया। युवावस्था प्राप्त होने पर उसने राजा से शत्रु-सेना के साथ युद्ध की आज्ञा मांगी। राजा ने अनुमति दे दी। वह शत्रु

सेना के साथ लड़ने निकल पड़ा। शत्रु सैनिकों ने बिना हो हल्ला किए उसे अंधा समझकर पकड़ लिया। वह शब्दवेधी धनुर्धर होने पर भी अंधत्व के कारण कुछ नहीं कर सका। सूरसेन को यह ज्ञात हुआ। उसने राजा से आज्ञा प्राप्त की और अपनी धनुर्विद्या के बल से शत्रु सेना को अवष्टम्भित कर वीरसेन को मुक्त करा लिया।

५. सकुंडलं वा वयणं न व ति

पाटलिपुत्र नगर में जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उसके मंत्री का नाम रोहगुप्त था। वह जैन दर्शन का अच्छा ज्ञाता था। एक बार राजा जब सभामण्डप में उपस्थित हुआ तब उसने सभासदों के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित किया कि कौन-सा धर्म सबसे अच्छा है? प्रश्न के उत्तर में सभी ने अपने-अपने धर्मों की प्रशंसा की। मंत्री अभी तक चुप बैठा था। राजा ने मंत्री से पूछा—‘मंत्रीवर! आप अभी तक चुप कैसे बैठे हैं?’ मंत्री ने कहा—‘राजन्! जिस व्यक्ति को जो धर्म अच्छा लगता है, वह उस धर्म की प्रशंसा करेगा। इसलिए इससे किसी भी धर्म को अच्छाई का निर्णय नहीं किया जा सकता। यदि आपको इस जिज्ञासा का समाधान खोजना है तो स्वयं इसकी परीक्षा करें।’ राजा को यह सुझाव पसंद आया। उसने “सकुंडलं वा वयणं न व ति” संस्कृत के इस एक चरण को लिखवाकर नगर के मध्य लटका दिया। इसके बाद सभी धर्मावलम्बियों को सूचित किया कि जो इस चरण की पूर्ति करेगा उसको राजा यथेप्सित पुरस्कार देगा तथा उसका भक्त बन जाएगा। सभी धर्मावलम्बी सातवें दिन राजा के समक्ष समस्या-पूर्ति को लेकर उपस्थित हुए। सर्वप्रथम परिव्राजक ने बोलना शुरू किया—

भिक्षुं पविट्टेण मएऽज्ज दिट्ठं, पमदामुहं कमलविसालनेत्तं।

वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न व ति॥

राजा ने इस गाथा को सुनकर कहा कि यह वीतरागता की सूचक नहीं है अतः उसका तिरस्कार करके उसे बाहर निकाल दिया। उसके बाद तापस ने अपनी समस्यापूर्ति पढ़नी शुरू की—

फलोदणं मिह गिहं पविट्ठो, तत्थासणत्था पमदा मि दिट्ठा।

वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न व ति॥

उसके पश्चात् बौद्ध भिक्षु ने अपनी बात कहनी प्रारम्भ की—

मालाविहारम्मि मएऽज्ज दिट्ठा, उवासिया कंचणभूसियंगी।

वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न व ति॥

इस प्रकार और भी अनेक धर्मावलम्बियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से पाद-पूर्ति की। जैन मुनि वहां उपस्थित नहीं थे। राजा ने अमात्य से पूछा कि जैन भिक्षु वहां उपस्थित क्यों नहीं हुए? मंत्री ने निवेदन किया—‘राजन्! मैं खोजकर आपके समक्ष जैन साधुओं को प्रस्तुत करूंगा।’ मंत्री ने राजकर्मचारियों को आदेश दिया कि जैन मुनियों को खोजो। उसी समय एक बालमुनि भिक्षा के

लिए प्रविष्ट हुआ। बालमुनि को वह चरण बताया गया। उसने समस्या की पूर्ति करते हुए कहा—

खंतस्स दंतस्स जिहंदियस्स, अण्णप्पजोगे गवमाणसस्स।

किं मण्ण एण विचिंतिएणं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति॥

इस गाथा को सुनकर राजा मुनि की शांति और वीतरागता से बहुत प्रसन्न हुआ। राजा ने बालमुनि को निवेदन किया कि आप मुझे धर्म की शिक्षा दें। बालमुनि ने दो मिट्टी के गोले भीत की ओर फेंके।

राजा ने जिज्ञासा की कि इसका तात्पर्य क्या है? मुनि ने राजा को प्रतिबोधित करते हुए कहा—‘राजन्! मिट्टी के दो गोले सूखे और गीले को यदि भीत पर फेंका जाए तो गीला वहां चिपक जायेगा लेकिन सूखा गोला वापिस नीचे गिर जाएगा। इसी प्रकार कामभोगों के कीचड़ से जिसका मन आर्द्र है, वह कर्म-परमाणुओं को निरन्तर ग्रहण करता रहता है। इसके विपरीत जो वीतराग है, वह सूखे गोले की भांति कर्मरजों से लिप्त नहीं होता। धर्म का मर्म समझकर राजा ने श्रावकव्रत स्वीकार किए। धर्मबोध देकर मुनि वापिस लौट गए।

उसी समय मंत्री रोहगुप्त ने राजा से कहा—‘राजन्! जितने भी अन्य धर्मावलम्बियों ने समस्या-पूर्ति की, उन सबके चित्त विशिष्ट थे। किसी का भिक्षा के कारण तथा किसी का उपासिका के कारण क्योंकि उनकी वीतरागता की साधना नहीं सधी थी। जैन साधु वीतरागता की साधना करते हैं, परमार्थतः यही मोक्ष का मार्ग है।’ राजा को अपने प्रश्न का समाधान मिल गया।^१

६. आर्य वज्र का अनशन

एक बार आर्य वज्र स्वामी अपने कानों पर सूट का गांठिया रखकर भूल गए। उन्हें अपने प्रमाद की अवगति हुई। उन्होंने जान लिया कि मरण सन्निकट है। वे उस समय शारीरिक शक्ति से सम्पन्न थे फिर भी उन्होंने “रथावर्त शिखरिणी” नामक प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर पंडितमरण का वरण कर लिया।^२

७. आर्य समुद्र का अनशन

आर्य समुद्र शरीर से कृश थे। जब उन्होंने देखा कि वे जंघाबल से क्षीण हो गए हैं तथा शरीर से जो लाभ होना चाहिए वह नहीं हो रहा है तब उन्होंने शरीर को छोड़ने की इच्छा से गच्छ में ही उपाश्रय के एक निश्चित स्थान में प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर लिया।^३

८. आचार्य तोसलि का अनशन

तोसलि देश में भैसे बहुत होते थे। एक बार आचार्य तोसलि वन्य भैसों से उपद्रुत हुए। उनसे छुटकारा न देखकर आचार्य ने चारों आहार का परित्याग कर दिया और व्याघातिम मरण को प्राप्त किया।^४

१. आनि. २२८-३४, आटी.पृ. १२५।

३. आनि. २८४, आटी.पृ. १७५।

२. आनि. २८३, आटी.पृ. १७५।

४. आनि. २८५, आटी.पृ. १७५।

९. आचार्य की तीक्ष्ण आज्ञा

एक मुनि बारह वर्ष की संलेखना कर आचार्य के पास अनशन की आज्ञा लेने आया। आचार्य ने कहा—‘कुछ काल तक और संलेखना करो।’ साधु क्रुद्ध हो गया। उसने अपनी अंगुली को तोड़ कर दिखाते हुए कहा—‘मेरे में क्या दोष है?’ आचार्य बोले कि मेरे कहते ही तुमने अंगुली तोड़ दी, यही दोष है। देखो, एक राजा था। उसकी आँखें निस्पन्द रहती थीं। पलकें स्थिर रहती थीं। वैद्यों ने चिकित्सा की पर आँखें स्वस्थ नहीं हुईं। एक दिन एक वैद्य आकर बोला—‘राजन्! मैं आपको स्वस्थ कर दूँगा यदि आप वेदना को सहन कर सकें तथा वेदना से पीड़ित होकर मेरी घात करने की आज्ञा न दें। राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। वैद्य ने चिकित्सा की। राजा भयंकर वेदना से अभिभूत हो गया। उसने वैद्य को मार डालने की आज्ञा दे दी। वह राजा की तीक्ष्ण आज्ञा थी। कुछ क्षणों बाद वेदना शांत हुई और राजा की आँखें स्वस्थ हो गईं। राजा ने वैद्य की प्रशंसा की और अनेक उपहार देकर उसे प्रसन्न किया। इसी प्रकार आचार्य की प्रेरणात्मक आज्ञा पहले तीक्ष्ण लगती है किन्तु परमार्थतः वह शीतल होती है।’

१०. द्रव्यशय्या

एक अटवी में उत्कल और कलिंग नामक दो भाई रहते थे। वे चोरी से अपना निर्वाह करते थे। उनकी भगिनी का नाम वल्गुमती था। एक बार वहाँ गौतम नामक नैमित्तिक आया। दोनों भाइयों ने उसका स्वागत-सत्कार किया। वल्गुमती ने कहा—‘मुझे लगता है कि इस नैमित्तिक का यहाँ रहना निरापद नहीं है। यह कभी न कभी इस पल्ली के विनाश का कारण बनेगा, इसलिए यह उचित है कि इसको यहाँ से निकाल दिया जाए। भगिनी की बात मानकर भाइयों ने उस नैमित्तिक को वहाँ से निकाल दिया। नैमित्तिक गौतम वल्गुमती पर रुष्ट हो गया। उसने प्रतिज्ञा की कि मेरा नाम गौतम नहीं है यदि मैं इस वल्गुमती के पेट को चीर कर उसके शव पर न सोऊँ। वह गौतम वहाँ की भूमि में सरसों के दाने बो कर चला गया। वर्षाकाल में सरसों का पौधा विकसित हुआ। गौतम ने किसी दूसरे राजा को प्रेरित करके उस पल्ली को खूट लिया और पूरी पल्ली को जला डाला। गौतम ने वल्गुमती के पेट को चीर डाला। उसके प्राण अभी अवशिष्ट थे। वह उस वल्गुमती की देह पर सो गया। यह सचित्त द्रव्य शय्या है।’

सूत्रकृतांग-निर्युक्ति की कथाएं

१. अभयकुमार बंदी बना

महाराज चंडप्रद्योत अभयकुमार को बंदी बनाना चाहते थे। उन्होंने इस कार्य के लिए एक गणिका को भुना। गणिका ने सारी योजना बनाई। इस कार्य के लिए उसने शहर की दो सुन्दर और

चतुर षोडशियों को तैयार किया। वे तीनों राजगृह में आई और अपने आपको धर्मनिष्ठ श्राविकाओं के रूप में विख्यात कर दिया। प्रतिदिन मुनिदर्शन, धर्मश्रवण तथा अन्यान्य धार्मिक क्रियाकार्यों को करने का प्रदर्शन कर जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अभयकुमार भी उनकी धार्मिक क्रियाओं और तत्त्वज्ञान की प्रवणता को देखकर आकृष्ट हो गया।

एक दिन अभयकुमार ने तीनों को भोजन के लिए आमन्त्रित किया। वे तीनों अभयकुमार के वहां गयीं। भोजन से निवृत्त होकर उन्होंने धार्मिक चर्चा की। उन तीनों ने भी अभयकुमार को अपने निवास-स्थान पर आमन्त्रित किया। अभयकुमार ठीक समय पर उनके निवास-स्थान पर पहुंचा। तीनों ने भाव भरा स्वागत किया, सुस्वादु भोजन करवाया और चन्द्रहार सुरा के मिश्रण से निष्यन्न मधुर पेय पिलाया। मदिरा के प्रभाव से अभयकुमार को तत्काल मूर्च्छा एवं नींद आने लगी। सुकामल शय्या तैयार थी। अभयकुमार उस पर सो गया। वह बेसुध सा हो गया। गणिकाएं उसे रश्मि में डालकर अवन्ती ले गयीं। उसे चंडप्रद्योत को सौंप कर गणिकाएं अपने घर चली गयीं। अभयकुमार का बुद्धिबल पराजित हो गया।^१

२. चंडप्रद्योत

अभयकुमार चंडप्रद्योत से बदला लेना चाहता था। चंडप्रद्योत वीर था। उसके आगे-पीछे लड़कर पराजित कर पाना असंभव था। अभयकुमार ने गुप्त योजना बनाई। वह बनिए का रूप बनाकर उज्जयिनी आया। दो सुन्दर गणिकाएं उसके साथ में थीं। बाजार में एक विशाल मकान किराए पर लेकर वह वहीं रहने लगा। चंडप्रद्योत प्रतिदिन उसी मार्ग से अन्ता-जाता था। उस समय वे स्त्रियां गवाक्ष में बैठकर हावभाव दिखाती थीं। चंडप्रद्योत उनके प्रति आकृष्ट हुआ और अपनी दासी के साथ प्रणय-प्रस्ताव भेजा। एक दो बार वह दासी निराश लौट आई। तीसरी बार गणिकाओं ने महाराज को अपने घर आने का निमन्त्रण दे दिया।

इधर अभयकुमार ने एक व्यक्ति को अपना भाई बनाकर उसका नाम प्रद्योत रख दिया। उसने उसे पागल का अभिनय करने का प्रशिक्षण दिया। लोगों में यह प्रचारित कर दिया कि यह पागल है और सदा कहता है कि मैं प्रद्योत राजा हूं, मुझे जबरदस्ती पकड़कर ले जाया जा रहा है।

निर्धारित दिन के अपराह्न में चंडप्रद्योत गणिका के द्वार पर आया। गणिका ने स्वागत किया। चंडप्रद्योत एक पलंग पर लेट गया। इतने में ही अभय के सुभटों ने उसे धर दबोचा। उसे रस्सी से बांधकर चार आदमी अपने कंधों पर उठाकर बीच बाजार से ले चले। उसका मुँह ढंका हुआ था। वह चिल्ला रहा था, 'मुझे बचाओ। मैं प्रद्योत राजा हूं। मुझे जबरदस्ती पकड़कर ले जा रहे हैं। लोग इस चिल्लाहट को सुनने के आदि से हो गए थे। किसी ने ध्यान नहीं दिया।

उसे बंदी अवस्था में लाकर अभयकुमार ने श्रेणिक को सौंप दिया। प्रद्योत का शरीरबल परास्त हो गया।^२

३. कूलबाल

महाराज अजातशत्रु वैशाली के प्राकारों को भंग करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी प्रतिज्ञा सफल नहीं हो रही थी। एक व्यन्तरी ने महाराज से कहा—‘राजन्! यदि मागधिका वेश्या तपस्वी कूलबाल को अपने फंदे में फंसा ले तो आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो सकती है।’ मागधिका वेश्या चंपा में रहती थी। महाराजा अजातशत्रु ने उसे बुला भेजा और अपनी बात बताई। वेश्या ने कार्य करने की स्वीकृति दे दी। कूलबाल तपस्वी का अता-पता किसी को ज्ञात नहीं था। गणिका ने श्राविका का कपट रूप बनाया। आचार्य के पास आने-जाने से उसका परिचय बढ़ा और एक दिन मधुर वाणी से आचार्य को लुभाकर तपस्वी का पता जान ही लिया।

वह तपस्वी कूलबाल अपने शाप को अन्यथा करने के लिए एक नदी के किनारे कायोत्सर्ग में लीन रहता था। जब कभी आहार का संयोग होता तो भोजन कर लेता अन्यथा तपस्या करता रहता। गणिका उसी जंगल में पहुंची, जहां तपस्वी तपस्या में लीन थे। उनकी सेवा-शुश्रूषा का बहाना बनाकर उसने वहीं पड़ाव डाला। मुनि को पारणे के लिए निर्मंत्रित कर औषध-मिश्रित मोदक बहराए। उनको खाने से मुनि अतिसार से पीड़ित हो गए। यह देखकर मागधिका ने कहा—‘मुनिवर! अब मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगी। आप मेरे आहार से रोगग्रस्त हुए हैं अतः मैं आपको स्वस्थ करके ही यहां से हटूंगी।’ अब वह प्रतिदिन मुनि की वैयावृत्य, अंगभर्दन और भिन्न-भिन्न प्रकार से सेवा करने लगी। मुनि का अनुराग बढ़ता गया। दोनों का प्रेम पति-पत्नी के रूप में विकसित हुआ और मुनि अपने मार्ग से च्युत हो गए।

४. पोंडरीक

एक रमणीय पुष्करिणी में अथाह जल था। स्थान-स्थान पर कीचड़ भी था। उसमें अनेक श्वेत शतदल जल से ऊपर उठे हुए थे। पुष्करिणी के बीच में एक विशाल रमणीय और विशिष्ट गंध, वर्ण, रस वाला पद्मवर पुंडरीक—श्वेत कमल खिला हुआ था। चार पुरुष चारों दिशाओं से आए। वे उस श्वेत कमल को पाने के लिए ललचाने लगे। एक-एक कर चारों पुरुष उस पुष्करिणी में उतरने लगे। वे स्वयं को कुशल एवं पारगामी समझते थे। पर वे उस पुष्करिणी के कीचड़ में फंस गए। वे न तट पर आ पाए और न ही आगे बढ़ पाए। वे वहां कीचड़ में फंसे हुए खेद का अनुभव करने लगे और त्राण के लिए इधर-उधर देखने लगे। इतने में एक भिक्षु आया वह पानी में नहीं उतरा, तीर पर खड़े-खड़े ही उसने आह्वान किया—‘हे पद्मवर पुंडरीक! ऊपर आओ, ऊपर आओ।’ वह पद्मवर पुंडरीक ऊपर आ गया।

५. आर्द्रक कुमार

प्रतिष्ठानपुर नामक नगर था। वहां सामयिक नामक गाथापति अपनी पत्नी के साथ धर्मघोष आचार्य के पास प्रव्रजित हुआ। वह साधुओं के साथ तथा उसकी साध्वी पत्नी साध्वियों के साथ विहरण करने लगी। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक बार दोनों एक ही गांव में आ गए। सामयिक

१. सूनि. ५७, कथा सं. १-३ तक की तीन कथाएं सूत्रकृतांग की चूर्णि और टीका में नहीं हैं। टीकाकार ने मूलादावश्यकादवगंतव्यानि का उल्लेख किया है।

२. सूनि. १६२-६५।

ने अपनी पत्नी साध्वी को भिक्षाचर्या करते देखा। उसे पूर्वभुक्त काम-क्रीड़ाओं की स्मृति हो आई और वह उसमें पुनः अनुरक्त हो गया। मुनि ने अपने साथी मुनि से कहा—‘यह मेरी पत्नी है। इसे श्रामण्य से च्युत कर दो। मैं इसे पुनः स्वीकार करना चाहता हूँ।’ मुनि साथी ने सोचा कि गलत कार्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसने कहा—‘मुने! मैं इस कार्य को आज ही कर दूंगा या मर जाऊंगा।’ यह कहकर वह साध्वियों के उपाश्रय में गया और महत्तरिका को सारी बात बता दी। प्रवर्तनी ने साध्वी को बुलाकर कहा—‘तुम इस देश को छोड़कर दूसरे देश में चली जाओ।’ साध्वी ने यह बात सुनकर प्रवर्तनी से कहा—‘इस स्थिति में मैं अकेली किसी अन्य देश में नहीं जा सकती। वह वहां भी मेरा पीछा नहीं छोड़ेगा। मेरे लिए यही श्रेष्ठ है कि चरित्र-भंग की अपेक्षा भक्तप्रत्याख्यान करके प्राण-त्याग दूं।’

उस साथी मुनि ने विचलित और दृष्ट मुनि को आकर कहा—‘यहां तुम दोनों का मिलन दुष्कर है। अमुक दिन मिलना होगा, अन्यथा यह शक्य नहीं है।’ वह दृष्ट मुनि वहीं रहा और दिन गिनने लगा। साध्वी ने उस दिन की निकटता को देखकर वैहानसमरण—फांसी लगाकर अपना शरीर त्याग दिया। मरकर वह देवलोक में उत्पन्न हुई। आचार्य को साध्वी के कालगत होने का निवेदन किया गया। जब पति साधु ने यह बात सुनी तो उसके मन में संवेग उत्पन्न हो गया। उसने सोचा—‘साध्वी ने व्रतभंग के भय से अनशनपूर्वक मृत्यु का आलिंगन किया है। मेरा मानसिक रूप से तो व्रतभंग हो ही चुका है अतः इस अकार्य के प्रायश्चित्त हेतु मुझे भी अनशन कर लेना चाहिए।’ वह मुनि अपने आचार्य के पास आया और उनकी अनुज्ञा लेकर अनशनपूर्वक मृत्यु का वरण किया। वह भी देवलोक में उत्पन्न हुआ।

मुनि देवलोक से च्युत होकर अनार्य देश के आर्द्रकपुर नगर के राजा आर्द्रक राजा की पत्नी धारिणी के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम आर्द्रक कुमार रखा गया। उस कुल की यह परम्परा थी कि वहां उत्पन्न होने वाले सभी आर्द्रक ही कहलाते थे। वह साध्वी भी देवलोक से च्युत होकर बसन्तपुर के एक सेठ के यहां पुत्री रूप में उत्पन्न हुई। आर्द्रक कुमार क्रमशः यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। एक बार महाराज आर्द्रक ने राजा श्रेणिक से मित्र-स्नेह प्रकट करने के लिए विशिष्ट उपहार भेजे। कुमार आर्द्रक को जब यह बात ज्ञात हुई तो उसने दूत से पूछा—‘ये सारे बहुमूल्य उपहार कहां भेजे जा रहे हैं?’ दूत ने कहा—‘आपके पिता के परममित्र महाराजा श्रेणिक को ये सारे उपहार भेजे जा रहे हैं।’ आर्द्रक कुमार ने पूछा—‘क्या उनके कोई राजकुमार है?’ दूत ने स्वीकृति में अपना सिर हिला दिया। आर्द्रक कुमार ने कहा—‘ये उपहार मेरी ओर से राजकुमार को भेंट कर देना और कहना कि राजकुमार आपसे प्रगाढ़ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है।’ दूत दोनों के बहुमूल्य उपहार लेकर मगध देश की ओर चला। वह राजगृह पहुंचा। राजाज्ञा से वह सभा में आया और प्रणाम कर राजा आर्द्रक द्वारा भेजे गए उपहार भेंट किए। राजा श्रेणिक ने दूत का यथोचित सम्मान किया।

दूसरे दिन वह राजकुमार अभय के पास गया और राजकुमार आर्द्रक द्वारा भेजे गए उपहार देकर प्रगाढ़ मित्रता की बात कही। उसने भी उपहार स्वीकार किए और दूत का सम्मान किया। अभय

कुमार ने अपनी पारिणामिकी बुद्धि से जान लिया कि राजकुमार आर्द्रक भव्य और निकट भविष्य में मुक्ति जाने वाला है। अभय ने सोचा—‘वह मेरे साथ मित्रता करना चाहता है अतः मेरा परम कर्तव्य है कि मैं उसकी मुक्तिगमन योग्यता को उजागर करने जैसा उपहार भेजूं।’ अभयकुमार ने आदि-तीर्थंकर भगवान् ऋषभ की प्रतिमा बनवाई। उसे एक बहुमूल्य मंजूषा में रखकर अन्यान्य और भी उपहार दूत को देकर अभयकुमार ने कहा—‘तुम्हारे राजकुमार से कहना कि इस मंजूषा को एकान्त में खोले। लोगों के समक्ष न खोले।’ दूत उपहार लेकर आर्द्रक नगर पहुंचा। राजा आर्द्रक को सारे उपहार दिए और श्रेणिक का संदेश सुनाया। राजा ने उसको सत्कारित किया। दूसरे दिन राजकुमार आर्द्रक के पास गया और अभयकुमार द्वारा प्रेषित उपहार और मंजूषा देते हुए अभय का संदेश सुना दिया। उसने भी दूत का सत्कार करके उसे विदा किया। राजकुमार आर्द्रक मंजूषा लेकर महलों में उपर गया। वहाँ लोगों को विरार्जित करके एकान्त में मंजूषा को खोला। आर्द्रक कुमार मंजूषा में ऋषभदेव की प्रतिमा को देखकर सोचने लगा—‘ओह! यह रूप तो मैंने पहले कभी देखा है।’ चिंतन करते-करते उसे जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने सोचा कि अभयकुमार ने मुझे परम उपकार किया है। मुझे धर्म का सही प्रतिबोध दिया है। आर्द्रक कुमार के मन में संवेग उत्पन्न हो गया। उसने सोचा—‘मैं देव था तब मनोनुकूल भोग-सामग्री उपलब्ध थी फिर भी मन की तृप्ति नहीं हुई। देवता के भोगों के समक्ष मनुष्य के कामभोग तुच्छ और अल्पकालिक हैं अतः मुझे इनमें आसक्त नहीं होना है।’

राजकुमार आर्द्रक संसार से विरक्त हो गया। वह संसार में रहते हुए भी विरक्त जीवन जीने लगा। राजा को जब राजकुमार के विरक्त जीवन की बान ज्ञात हुई तो उसने परिचारकों से इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा—‘राजन्! जब से राजकुमार अभय कुमार द्वारा प्रेषित उपहार कुमार को प्राप्त हुए हैं तभी से वे विरक्ति का जीवन जी रहे हैं।’ राजा उद्विग्न हो गया। उसने सोचा कहीं राजकुमार घर से पलायन न कर जाए। राजा ने पांच सौ कुमारामात्य पुत्रों को राजकुमार के संरक्षण का भार सौंप दिया और कहा—‘तुम पर राजकुमार के संरक्षण का दायित्व है। यदि वह कहीं पलायन कर गया तो तुम सबको मृत्युदंड दूंगा।’ वे सब राजकुमार की सेवा और संरक्षण करने लगे।

आर्द्रक कुमार का मन घर से विरक्त हो चुका था। वह पलायन करके अभिनिष्क्रमण करना चाहता था। उसने उपाय खोजा। एक दिन अश्ववाहनिका का बहाना बनाकर अपने रक्षक पांच सौ साथियों के साथ घूमने निकल पड़ा। बहुत दूर जाकर उसने अपने घोड़े को दूसरी दिशा में मोड़ दिया। जब पांच सौ कुमारामात्य रक्षकों को ज्ञात हुआ तो वे उसकी खोज में निकले पर वे उसे खोज नहीं पाए। आर्द्रक नगर से पलायन कर आर्द्रककुमार प्रव्रजित होने के लिए उद्यत हुआ। मित्र देव ने कहा कि अभी दीक्षा मत लो क्योंकि उपसर्ग उपस्थित हो सकते हैं। राजकुमार आर्द्रक ने देवता की बात पर ध्यान नहीं दिया और दीक्षा ग्रहण कर ली।

एक बार वह विहार करते-करते बसन्तपुर नगर में आया और साधु-प्रतिमा का पालन करते हुए कायोत्सर्ग में स्थित हो गया। एक सेठ की पुत्री अपनी सहेलियों के साथ उद्यान में क्रीड़ा कर

रही थी। खेल-खेल में वह मुनि को देखकर बोली—‘यह मेरा पति है।’ यह सुनकर पास में अदृश्य रूप में स्थित देव ने मन ही मन सोचा कि लड़की ने अच्छा चिंतन किया। दिव्य प्रभाव से उसी समय साढ़े तेरह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की वृष्टि हुई। राजा को जब यह बात ज्ञात हुई तो वह स्वर्ण मुद्राओं को हस्तगत करने आया। उसी समय देव सर्प रूप में उपस्थित हुआ और राजा को कहा—‘राजन्! यह सारी सम्पत्ति सेठ की पुत्री की है। कोई दूसरा इस पर अधिकार करने की चेष्टा न करे।’ लड़की का पिता आया और सारी सम्पत्ति सुरक्षित कर घर ले गया।

कायोत्सर्ग सम्पन्न होने के बाद आर्द्रककुमार ने सोचा कि अब मुझे यहां नहीं रहना चाहिए। वह तत्काल वहां से अन्यत्र चला गया। एक बार श्रेष्ठी-पुत्री से विवाह करने के इच्छुक कुछ सुबक आए। कन्या ने अपने माता-पिता से कहा—‘कन्या का विवाह जीवन में एक बार ही होता है, अनेक बार नहीं। मेरा तो उसके साथ विवाह हो चुका है, जिसका धन आपने एकत्रित किया है। वही मेरा पति है।’ पिता ने पूछा—‘क्या तुम उसे पहचानती हो?’ कन्या ने कहा कि उनके पैरों से मैं उन्हें पहचान लूंगी। भिक्षु की खोज हेतु सेठ ने भिक्षुओं को दान देना प्रारम्भ किया। अनेक प्रकार के भिक्षु भिक्षार्थ आने लगे। बारह वर्ष बीतने पर एक दिन भवितव्यता के योग से भिक्षुक बना राजकुमार आर्द्रक उसी बसन्तपुर नगर में आया। वह भिक्षार्थ उसी सेठ के घर पहुंचा। लड़की ने उसे पदचिह्न से पहचान लिया। कन्या ने अपने पिता से कहा—‘यही मेरा पति है।’ कन्या उस भिक्षुक के पीछे-पीछे जाने लगी। भिक्षुक ने सोचा कि इस प्रकार तो मेरा तिरस्कार होगा। उसे देवता का वचन याद आया। कर्मों का उदय मान भिक्षु-वेश का त्याग कर वह श्रेष्ठी-कन्या के साथ रहने लगा। उसके एक पुत्र हुआ। उसके साथ रहते हुए बारह वर्ष बीत गए, एक दिन आर्द्रककुमार ने अपनी पत्नी से कहा कि अब तुम दो हो गए हो। मैं पुनः प्रव्रजित होकर अपना कल्याण करना चाहता हूँ। कन्या ने प्रत्युत्तर नहीं दिया, वह रोने लगी।

एक दिन वह सूत बनाने के लिए कपास कात रही थी। इतने में उसका पुत्र उसके पास आया और बोला—‘मां, तुम यह क्या कात रही हो? यह काम तुम्हारे लायक नहीं है।’ उसने कहा—‘तुम्हारे पिता प्रव्रज्या लेना चाहते हैं। तुम अभी छोटे हो अतः जीवन-निर्वाह हेतु मैंने यह कार्य प्रारम्भ कर दिया है।’ बालक प्रतिभासम्पन्न और चंचल था। मां के द्वारा काता गया सूत लेकर वह पिता के पास पहुंचा। पिता को सूत से वेष्टित करते हुए वह बोला—‘मेरे द्वारा बांधे जाने पर अब आप कहां जाएंगे?’ आर्द्रक कुमार ने सोचा—बालक ने मुझे जितने तंतुओं से बांधा है, उतने वर्ष मुझे गृहवास में और रहना है, आगे नहीं। तंतु गिनने पर बारह निकले। वह बारह वर्षों तक घर पर रहा फिर घर से अभिनिष्क्रमण कर प्रव्रजित हो गया।

आर्द्रककुमार ने एकाकी विहार करते हुए राजगृह की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में एक भयंकर जंगल आया। उस जंगल में पांच सौ चोर रहते थे। ये वे ही संरक्षक थे, जिन्हें आर्द्रककुमार के संरक्षण के लिए नियुक्त किया था। जब आर्द्रक अपने घोड़े पर पलायन कर गया तब वे पांच सौ रक्षक राजाज्ञा की अवहेलना के भय से घर न जाकर जंगल में चले गए और वहां चोरी, लूट-

खसोट करते हुए जीवन-यापन करने लगे। आर्द्रक कुमार ने उन्हें पहचान लिया। आर्द्रक मुनि ने पूछा कि तुम लोग चोर कैसे बन गए? उन्होंने राजभय की बात कही। मुनि आर्द्रक ने उन्हें प्रतिबोध दिया। वे सभी संबुद्ध होकर मुनि बन गए।

पांच सौ को प्रव्रजित कर उन्हें अपने साथ लेकर आर्द्रककुमार महावीर के दर्शनार्थ राजगृह आया। नगर के प्रवेश-द्वार पर गोशालक, हस्तितापस आदि विभिन्न दर्शनों के आचार्य मिले। सबने मुनि आर्द्रक को अपने धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न किया। वाद-विवाद में उन सबको पराजित कर मुनि आर्द्रक आगे बढ़ा। इतने में एक विशालकाय हाथी अपने बंधनों को तोड़कर मुनि आर्द्रक के चरणों में झुक गया। राजा को जब यह बात ज्ञात हुई तो वह आर्द्रककुमार के पास आया और चरण-वंदना कर बोला—'भंते! आपके दर्शनमात्र से यह उन्मत्त हाथी अपने बंधनों से मुक्त कैसे हो गया? आपका अचिन्त्य प्रभाव है।' मुनि आर्द्रक बोले—'राजन्! मनुष्यों द्वारा निर्मित सांकलों द्वारा बंधे हुए हाथी का बंधनमुक्त होना आश्चर्य की बात नहीं है, यह दुष्कर भी नहीं है। कच्चे सूत की डोरी से बंधे हुए मेरा बंधन-मुक्त होना दुष्कर है क्योंकि स्नेह-तंतु को तोड़ना अत्यन्त दुष्कर होता है।' राजा मुनि की स्तवना करता हुआ महावीर के समवसरण में चला गया।'

६. आज्ञा का महत्त्व

नालन्दा के समीप मनोरथ नामक उद्यान था। एक बार गणधर गौतम अनेक शिष्यों के साथ वहां समवसृत थे। तीर्थंकर पार्श्व की परम्परा में दीक्षित श्रमण उदक जिज्ञासा के समाधान हेतु गौतम के पास आया। वह पेड़ाल का पुत्र और मेदार्य गोत्र वाला था। उसने गौतम से श्रावक के विषय में अनेक प्रश्न पूछे। गौतम ने उनका समाधान किया। एक प्रश्न के समाधान में एक कथानक सुनाते हुए गौतम ने कहा—

'रत्नपुर नगर में रत्नशंखर नामक राजा था। एक दिन प्रसन्न होकर राजा ने अग्रमहिषी रत्नमाला आदि रानियों को कौमुदीप्रचार की आज्ञा दे दी। नागरिक लोगों ने भी अपनी स्त्रियों को कौमुदी-महोत्सव में क्रीड़ा करने की अनुमति दी। राजा ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि कौमुदी महोत्सव के प्रारम्भ हो जाने पर सूर्यास्त के बाद जो कोई व्यक्ति नगर में मिलेगा उसको बिना कुछ पूछताछ किए दंडित किया जाएगा। एक व्यापारी के पुत्र उस दिन क्रय विक्रय और व्यापार में इतने व्यस्त हो गए कि सूर्यास्त हो गया। सूर्यास्त होते ही नगरद्वार बंद कर दिए गए। वे छहों वणिक्पुत्र समय के अतिक्रान्त हो जाने पर बाहर नहीं जा सके। वे भयभीत होकर नगर के मध्य में ही कहीं छुप गए। कौमुदी-महोत्सव पूर्ण होने पर राजा ने आरक्षकों को बुलाकर आदेश दिया कि तुम अच्छी तरह देखो कि कौमुदी-महोत्सव में नगर में कौन पुरुष उपस्थित था। आरक्षकों ने पूर्णरूपेण निरीक्षण कर छह वणिक् पुत्रों की बात राजा से कही। आज्ञा-भंग के अपराध से राजा ने कुपित होकर छहों को मृत्युदण्ड दे दिया। पुत्र-शोक से विह्वल पिता ने राजा से कहा—'आप हमारे कुल को नष्ट न करें। आप मेरी सारी सम्पत्ति ले लें पर मेरे छहों पुत्रों को मुक्त कर दें। आप अनुग्रह करें।' राजा ने प्रार्थना स्वीकार नहीं की। तब वणिक् हताश होकर पांच, चार, तीन, दो और एक पुत्र की मुक्ति की प्रार्थना

करता रहा। राजा ने उसके निवेदन को स्वीकार नहीं किया। अंत में वणिक् राजा के चरणों में गिर पड़ा और गदगद स्वरों में निवेदन करने लगा। राजा का मन करुणार्द्र हुआ और ज्येष्ठ पुत्र को मुक्त करने का आदेश दे दिया।

गणधर गौतम और पार्श्वपत्नीय श्रमण उदक की चर्चा लम्बे समय तक चली। उदक का मन समाहित हो गया। चर्चा सम्पन्न होने के बाद उदक बिना कृतज्ञता ज्ञापित किए ही जाने लगा। गौतम ने कहा—'उदक! तुम बिना कुछ कहे ही जा रहे हो।' तब उदक ने कहा कि आप क्या कहना चाहते हैं मैं समझ नहीं सका। गौतम ने शिक्षा देते हुए कहा कि लौकिक परम्परा में भी शिक्षागुरु के प्रति सम्मान व्यक्त किया जाता है फिर परमार्थ का तो कहना ही क्या? यह सत्य है कि पूज्य व्यक्ति पूजा-प्रतिष्ठा की भावना से दूर रहता है पर व्यवहार में यह अनिवार्य हो जाता है कि पूज्य के उपकार को बहुमान दिया जाए। तुमने इस चर्चा से यश्नाथ की अवगति की है। कृतज्ञता ज्ञापित किए बिना तुम्हारा यों ही जाना क्या उचित है?

उदक को अपने प्रमाद का अहसास हुआ। वह बोला—'गौतम! तुम्हारे से मैंने परमार्थ का अवबोध किया है। मैं उस तत्त्व के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता हूँ और चातुर्याम धर्म से पंचयाम धर्म स्वीकार करूँ, अप्रतिक्रमण धर्म से सप्रतिक्रमण धर्म में आऊँ तथा पार्श्व की परम्परा से महावीर की परम्परा में दीक्षित बनूँ, ऐसी मेरी भावना है।' गौतम उदक के साथ भगवान् महावीर के पास आए। उदक ने भगवान् को वंदना की और पंचयाम धर्म में प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। भगवान् महावीर ने उसे अपने शासन में सम्मिलित कर लिया।

दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति की कथाएं

१. क्षमादान : महादान (दुरुतक कुंभकार)

एक कुम्हार मिट्टी के भांडों से गाड़ी भरकर दुरुतक नामक अनार्य गांव में गया। उसके एक बैल का अपहरण करने की इच्छा से गांव के कुछेक लोग कहने लगे कि अरे! एक आश्चर्य देखो, यह गाड़ी एक बैल से चल रही है। यह सुनकर कुम्हार भी व्यंग्य में बोला—'देखो! इस गांव का खलिहान जल रहा है।' कुम्हार जब कार्यवश इधर-उधर गया तब गांव वालों ने उसके एक बैल का अपहरण कर लिया। कुम्हार के बैल मांगने पर उन्होंने कहा कि तुम एक ही बैल से गाड़ी चला रहे थे। जब उन्होंने बैल वापिस नहीं दिया तो वह कुम्हार प्रतिवर्ष उनका धान्य जलाने लगा। सात वर्ष तक लगातार यह क्रम चला। बाद में एक उत्सव के अवसर पर उस गांव के मुखिया ने घोषणा की—'जिसका हमने अपराध किया है, उससे हम क्षमा चाहते हैं। इस प्रकार हमारा धान्य नष्ट मत करो।' यह सुनकर कुम्हार ने भी घोषणा की कि मेरा बैल वापिस कर दो। मैं धान्य नहीं जलाऊंगा। बाद में उन दोनों में समझौता हो गया। कुम्हार को बैल वापिस मिल गया। दोनों ने एक-दूसरे को क्षमा कर दिया।

२. उद्रायण एवं प्रस्रोत^१

चम्पा नगरी में अनंगसेन नामक स्वर्णकार रहता था। वह स्त्रियों के प्रति बहुत आसक्त था। वह जिस कन्या को देखता, उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो उठता। बहुत सा धन देकर वह उससे विवाह कर लेता। इस प्रकार उसने पाँच सौ कन्याओं के साथ विवाह किया। वह उनके साथ काम-भोगों में रत रहता। उसी समय पंचशील नामक द्वीप में विद्युन्माली नामक एक यक्ष का च्यवन हो गया। उसकी दो अग्रमहिषियाँ थीं—हासा और प्रहासा। भोग की बलवती भावना से प्रेरित होकर वे किसी सुन्दर पुरुष की खोज में निकलीं। उन्होंने अनंगसेन को देखा। विक्रिया के माध्यम से सुन्दर रूप बनाकर अशोक-वाटिका में वे अनंगसेन के समक्ष गयीं। उनकी कामपूरक चेष्टाओं को देखकर अनंगसेन चंचल और उन्मत्त होकर उनकी ओर हाथ फैलाने लगा। उसकी काम-विह्वलता देखकर देवियों ने कहा कि हमें पाने की पहली शर्त यह है कि पंचशील द्वीप में आओ। इतना कहकर वे अदृश्य हो गईं।

अनंगसेन उनके पीछे पागल हो उठा। उसने राजा को प्रेरित कर यह घोषणा करवाई कि जो अनंगसेन को पंचशील द्वीप में पहुँचाएगा, उसे वह एक करोड़ मुद्रा देगा। एक बूढ़े नाविक ने उस घोषणा को स्वीकार कर कहा कि मैं पंचशील द्वीप में पहुँचा दूंगा। उसने एक करोड़ मुद्राएं ले लीं। पाधेय लेकर नौका पर आरूढ़ होकर दोनों ने गंतव्य की ओर प्रस्थान किया। कुछ दूर जाने पर नाविक ने पूछा—‘आगे जल के ऊपर कुछ दिखाई देता है?’ अनंगसेन ने नकारात्मक उत्तर दिया। कुछ दूर जाने पर पुनः प्रश्न किया तो अनंगसेन के कहा कि मानव सिर के बराबर कोई कृष्णवर्णी वस्तु नजर आ रही है।

नाविक ने कहा—‘यहीं पंचशील की धारा में स्थित वटवृक्ष है। नौका इसके नीचे से जाएगी। इसके आगे जलावर्त है अतः तुम सावधान होकर इस वृक्ष की शाखा को पकड़ लेना। मैं नौका से जलावर्त में जाऊंगा। जब जल का वेग उतर जाए तब तुम पर्वत पर चढ़कर उस ओर उतर जाना। वहीं पंचशील द्वीप है। फिर जहाँ जाना हो वहाँ चले जाना। संध्याकाल में बड़े-बड़े पक्षी पंचशील द्वीप से यहाँ आयेंगे और रात्रि-निवास करके वापिस लौटेंगे। तुम उनके पैर पकड़कर पंचशील द्वीप चले जाना। इतने में नौका वटवृक्ष के पास जा पहुँची। वह शीघ्र वट पर आरूढ़ हो गया और नाविक आगे जलावर्त में चला गया।

नाविक के कथनानुसार अनंगसेन द्वीप में पहुँचकर दोनों यक्षिणियों से मिला और अपनी भावना व्यक्त की। दोनों देवियों ने नकारात्मक उत्तर दिया और कहा—‘तुम्हारा यह अशुचि शरीर हमारे परिभोग के योग्य नहीं है। यदि तुम हमें चाहते हो तो बाल-तपस्या और निदान करके यहाँ जन्म लो तभी तुम हमारे लिए भोग्य और आदेय हो सकते हो।’ देवियों ने अतिथि-धर्म का पालन करते हुए दिव्य पत्र, पुष्प, फल आदि से उसका आतिथ्य किया। थकान के कारण वह वहीं शीतल छाया में सो गया। नींद में ही देवियों ने उसे हाथ में उठाया और चम्पानगरी में उसके मकान की

१. दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि में इस कथा का उल्लेख नहीं है अतः यहाँ निरीथ चूर्णि के अनुसार कथा का अनुवाद किया गया है।

छत पर छोड़ दिया। जागने पर उसने स्वयं को अपने ही घर में चारों ओर से स्वजन-परिजनों से घिरा हुआ देखा। तब वह हासे! प्रहासे! कहकर प्रलाप करने लगा। लोगों के पूछने पर उसने पंचशैल में देखा हुआ सारा वृत्तान्त बताया। जब उसके मित्र नाइल श्रावक ने यह बात सुनी तो उसने अनंगसेन को जिनोपदिष्ट धर्म का उपदेश दिया और उसे जीवन-व्यवहार में उतारने के लिए प्रेरित किया। नाइल श्रावक ने कहा—‘धर्म-पालन से तुम सौधर्म आदि स्वर्गों में दीर्घकालीन स्थिति वाली देवियों के साथ उत्तम भोग भोग सकते हो। उनके सामने इन अल्पकालीन व्यन्तर देवियों की कोई मूल्यवत्ता नहीं है। नाइल के उपदेश का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। स्वजन-परिजनों द्वारा दी गयी सलाह की अवहेलना कर उसने निदान कर इंगिनीमरण द्वारा मरकर उसी द्वीप में विद्युन्माली यक्ष के रूप में जन्म लिया। वह तीव्र भावना से हासा और प्रहासा से भोग भोगने लगा। नाइल श्रावक प्रव्रजित हुआ और श्रामण्य का निरतिचार पालन करता हुआ मर कर अच्युत देवलोक में देव बना। वह भी उसी पंचशैल द्वीप में आया।

एक बार नंदीश्वर द्वीप में अष्टाह्निक महोत्सव था। वहां इन्द्र द्वारा आज्ञापित देव अपने-अपने कार्यों में नियुक्त होकर परस्पर मिले। विद्युन्माली को बाजे बजाने का कार्य सौंपा गया। वह ढोल बजाना नहीं चाहता था लेकिन आदेश का पालन भी आवश्यक था। इच्छा न होते हुए भी वह दूर बैठा ढोल बजा रहा था। नाइल देव ने उसे देखा। पूर्वस्नेह के कारण वह उसे प्रतिबोध देने उसके पास आया। विद्युन्माली उसके भव्य तेज को सहन नहीं कर सका और ढोल बजाना ब्रीच में ही बंद कर दिया। नाइल देव ने पूछा कि क्या तुम मुझे जानते हो? ‘विद्युन्माली देव पहचानने में असमर्थ रहा। वह बोला कि क्या तुम शक्र हो, इन्द्र हो? मैं तुम्हें नहीं जानता। नाइल देव बोला—‘मैं पूर्वभव की बात पूछता हूँ, देवत्व की नहीं। उसने कहा—‘मैं तुम्हें नहीं जानता।’

तब अपना परिचय देते हुए नाइल ने बताया—‘मैं पूर्वभव में चम्पानगरी में तुम्हारा मित्र नाइल था। उस समय तुमने मेरी बात नहीं मानी इसलिए तुम अल्पकृद्धि वाले देव बने हो। खैर, अब भी तुम जिनप्रणीत धर्म स्वीकार करो।’ यह कह नाइल देव ने उसे धर्मबोध देकर जिनधर्म अंगीकार करवाया। विद्युन्माली ने पूछा—‘अब मुझे क्या करना चाहिए?’ अच्युतदेव नाइल ने कहा—‘बोध के लिए तुम किसी स्थान पर जिन प्रतिमा का अवतरण कराओ।’ तब विद्युन्माली ने अष्टाह्निक महोत्सव संपन्न होने पर चुल्ल हिमवन्त पर्वत से गोशीर्ष चंदन लेकर दैविक प्रभाव से जिन प्रतिमा बनवाई। रत्न आदि विभिन्न आभूषणों से अलंकृत करके उसे गोशीर्ष चंदन की लकड़ी के बीच रख दिया। उसके बाद उसने चिंतन किया कि यह प्रतिमा अब मैं बाहर कैसे भेजू?

इधर उसी समय समुद्र में एक वणिक् की नाव डगमगा रही थी। डोलते हुए नाव को छह मास बीत गए। वणिक् चिंतित हो उठा। वह धूप-दीप लेकर इष्ट देवता का स्मरण करने लगा। यह देखकर विद्युन्माली ने कहा—‘अरे भाई! आज प्रातःकाल तुम्हारी नौका वीतभय नगर के किनारे पहुंच जायेगी। तुम इस गोशीर्ष चंदन को लेकर जाओ और राजा उदयन को भेंट करके कहना कि इस लकड़ी से देवाधिदेव की प्रतिमा बनवाए, यह देवकथन है।’ उसी रात देव-अनुग्रह से वह नौका वीतभय नगर पहुंच गयी।

वर्णिक नगरी में पहुंचते ही अर्घ्य लेकर राजा के पास पहुंचा। पूर्व वृत्तान्त बताते हुए उस गोशीर्ष चन्दन से देवाधिदेव की प्रतिमा बनाने का निवेदन किया। सारी बात सुनकर राजा ने सभी चतुर लोगों को बुलाकर यह बात बतायी। राजा ने काष्ठकारों को बुलाया। उन्हें प्रतिमा बनाने के लिए कहा। उन्होंने प्रतिमा बनाने के लिए हथौड़ा ठाया लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ। उस समय ब्राह्मणों ने कहा कि देवाधिदेव ब्रह्मा हैं अतः उनकी प्रतिमा बनवाओ। शिल्पी ने कुल्हाड़ी मारी लेकिन व्यर्थ चली गयी। किसी ने कहा कि देवाधिदेव विष्णु हैं, फिर भी चंदन-काष्ठ पर शस्त्र का असर नहीं हुआ। इस दृश्य को देखकर स्कन्द, रुद्र आदि देवों के नाम लेकर शस्त्र चलाया लेकिन वह प्रयास व्यर्थ ही हुआ। यह देखकर राजा बहुत दुःखी हुआ। उसी समय रानी प्रभावती ने राजा को भोजन के लिए बुलाया। राजा ने इन्कार कर दिया। भोजन-बेला का अतिक्रमण जानकर प्रभावती ने दासी को पुनः राजा के पास भेजा।

दासी के निवेदन करने पर राजा ने सारी स्थिति दासी को बतायी। दासी ने रानी को यथार्थ स्थिति से अवगत कराया। सारी स्थिति जानकर रानी बोली—‘अहो! मिथ्यादर्शन के कारण राजा देवाधिदेव को भी नहीं जानते हैं।’ उसी समय रानी श्वेत वस्त्रों को पहन कर कौतुक मंगल आदि क्रिया से निवृत्त होकर राजा के पास आयी और बोली—‘देवाधिदेव महावीर वर्द्धमान स्वामी हैं, उनकी प्रतिमा बनवाओ।’ महावीर का नाम लेकर काष्ठकार ने लकड़ी पर कुल्हाड़ी चलायी। एक बार में ही लकड़ी के दो टुकड़े हो गए। उसके अन्दर से सर्व अलंकारों से सुशोभित भगवान् महावीर की प्रतिमा निकली। राजा ने अपने निवास-स्थल के पास देवायतन बनवाया और मूर्ति की स्थापना की। देवायतन में कृष्णगुटिका नामक दासी को नियुक्त किया। अष्टमी, चतुर्दशी के दिन रानी प्रभावती स्वयं वहां जाकर नृत्य आदि में भाग लेती थी। राजा भी उसी के अनुरूप मृदंग बजाता था।

एक बार जब रानी प्रभावती नृत्य कर रही थी, तब राजा ने रानी के सिर की छाया नहीं देखी। अमंगल की चिन्ता से राजा के हाथ के बाद्य छूट गए। रानी प्रभावती इस बात से नाराज हो गयी। राजा ने कहा—‘महारानी ! तुम रुष्ट मत बनो। आज मैंने अमंगल देखा है अतः चित्त की विक्षिप्तता से मेरे हाथ से बाद्य छूट गया।’ यह सुनकर रानी प्रभावती बोली—‘जिन शासन में अनुरक्त व्यक्ति को मरने से नहीं डरना चाहिए।’

एक दिन रानी प्रभावती जब स्नान आदि से निवृत्त हो गयी तो दासी को श्वेत वस्त्र लाने के लिए कहा। दासी वस्त्र लाने गयी लेकिन देवकृत उपद्रव से वे वस्त्र बीच में ही लाल हो गए। दासी चकित हो गयी। दासी ने वस्त्र महारानी को दिए। उस समय महारानी दर्पण में अपना मुंह देख रही थी। रानी उन लाल वस्त्रों को देखकर क्रोधित हो गई। रुष्ट होकर वह बोली—‘देवायतन में प्रवेश करते हुए तुमने यह अमंगल क्यों किया? क्या इस समय मैं शयनगृह में जा रही हूँ, जो ये लाल वस्त्र लायी हो?’ क्रोधावेश में व्यक्ति अंधा हो जाता है। रानी ने दर्पण से दासी के सिर पर प्रहार किया फलस्वरूप दासी उसी समय मर गई। उधर उसी समय वस्त्र पुनः स्वाभाविक स्थिति में आ गए। यह देखकर रानी ने आत्मालोचन किया कि मैंने व्यर्थ ही निरपराध दासी की हत्या कर दी। चिरकाल से पालित मेरा स्थूल प्राणातिपात-विरमण व्रत भंग हो गया। निश्चय ही यह बात

मेरे लिए भावी अमंगल की सूचक है। रानी ने राजा को सारी स्थिति बतलाई और दीक्षा की अनुमति मांगती हुई बोली कि मैं संयम के बिना मरना नहीं चाहती। रानी की तीव्र भावना देखकर राजा ने कहा कि यदि तुम मरकर मुझे सद्धर्म में प्रेरित करो तो तुम्हें दीक्षा की अनुमति दे सकता हूँ। अनुज्ञा मिलते ही रानी प्रभावती साध्वी प्रभावती बन गई। छह मास तक संयम का सम्यक् पालन कर अन्तिम समय में आलोचना प्रतिक्रमण कर रानी वैमानिक देव बनी।

प्रभावती देव ने अवधि ज्ञान से अपना पूर्वभव देखा। पूर्व अनुराग तथा प्रतिज्ञा की स्मृति से उसने राजा उदयन को अनेक रूपों में यतिधर्म का उपदेश दिया। राजा उस समय तापसों का परम भक्त बना हुआ था अतः उसने जिन धर्म स्वीकृत नहीं किया। प्रतिबोध देने हेतु देव प्रभावती ने तापस का रूप बनाया और फूल, फल आदि लेकर राजा के पास उपस्थित हुआ। तापस ने अत्यंत रमणीय फल राजा को समर्पित किया। वह फल गंध से सुरभित, रूप में मनोरम और स्वाद में रसयुक्त था। राजा ने उस अनुपम फल के बारे में जिज्ञासा व्यक्त की। तापस रूप देव ने कहा कि यहां से निकट ही तापसों के आश्रम में ऐसे फल देने वाले अनेक वृक्ष हैं। राजा ने तापसाश्रम और उन वृक्षों को देखने की जिज्ञासा व्यक्त की। राजा उस देव तापस के साथ अकेला ही अनेक अलंकारों से विभूषित होकर गया। आश्रमद्वार में प्रवेश करते ही उसे दिव्य गंध की अनुभूति हुई।

राजा को देखते ही तापसों की आवाज सुनायी दी कि यह राजा अनेक अलंकारों को पहन कर आया है अतः इसे मारो, पकड़ो। राजा भय से पीछे सरकने लगा। यह देखकर साथ आने वाला तापस देव भी चिल्लाया कि अरे! यह राजा भाग रहा है, इसे पकड़ो। आवाज सुनकर अनेक तापस दण्ड, कमण्डलु लेकर 'मारो, पकड़ो' की आवाज करते हुए पीछे दौड़ने लगे। भय विह्वल राजा ने एक वन-खण्ड देखा। वहाँ अनेक भनुष्यों की आवाज सुनायी दी। शरण लेने की इच्छा से राजा ने उस वन-खण्ड में प्रवेश किया। वहाँ चन्द्र की भांति सौम्य, कामदेव जैसा रूपवान् तथा बृहस्पति की तरह सर्व शास्त्रों के विशारद एक तेजस्वी श्रमण को देखा। उसके चारों ओर अनेक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएं उपदेश सुनने बैठे हुए थे। उसी समय राजा 'शरण दो' 'शरण दो' की आवाज करता हुआ वहां आया। साधुओं ने अभय का उपदेश दिया। आश्चर्य होकर राजा वहीं बैठ गया। तापस भी 'यह हाथ से निकल गया' यह कहकर वापिस लौट गए। साधुओं ने राजा को धर्म का रहस्य बताया। प्रभावित होकर राजा ने श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया। देव तापस ने भी अपनी माया समेट ली। राजा ने अनुभव किया कि मैं तो सिंहासन पर बैठा हूँ न कहीं गया और न आया फिर यह घटना कैसे घटी? प्रभावती रूप देव ने आकाशवाणी करते हुए कहा—'राजन्! यह सब माया मैंने तुमको प्रतिबोधित करने के लिए की। अब तुम धर्म में दृढ़ रहना और कभी आपत्ति का अनुभव करो तो मुझे याद कर लेना।' यह कहकर देव अन्तर्धान हो गया।

उसी समय गंधार जनपद में एक श्रावक दीक्षा लेना चाहता था। वह सभी तीर्थकरों की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि, कैवल्यभूमि और निर्वाण-भूमि को देखकर लौटा। उसने सुना कि वैताद्वय पर्वत की गुफा में ऋषभ आदि तीर्थकरों की रत्न-निर्मित स्वर्ण-प्रतिमाएं हैं। साधु के मुख से यह बात सुनकर उसके मन में वह स्थान देखने की भावना जागृत हुई। उसने देवता की आराधना करके प्रतिमा प्रकट करायी।

वह श्रावक वहां रहता हुआ अहर्निश भगवान् की स्तुति करने लगा। उसके मन में रत्नों

और सोने के प्रति थोड़ा भी लोभ जागृत नहीं हुआ। उसका मानस अध्यात्म से पूर्णतया आपूरित था। श्रावक की निर्लोभता और अनासक्ति से देवताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। प्रसन्न होकर देवता ने उसे वरदान मांगने के लिए कहा। कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए श्रावक बोला—‘देवानुप्रिय! मैं अब भौतिक काम-भोगों से विरत हो गया हूँ अतः अब वरदान से मुझे क्या प्रयोजन है?’ देवता ने प्रसन्नता से कहा कि देवदर्शन निष्फल नहीं होते। देवता ने उसे आठ सौ गुटिकाएं दीं, जो मन इच्छित वस्तुएं दे सकती थीं। श्रावक ने वे अपने पास रख लीं और वहां से प्रस्थान कर दिया।

कुछ दिनों पश्चात् उसने सुना कि वीतभय नगर में सर्व अलंकारों से सुशोभित देवों द्वारा अवतारित प्रतिमा हैं। वह उस प्रतिमा को देखने की इच्छा से वीतभय गया। कुछ दिन वहीं रहने की इच्छा से वह वहीं देवायतन में ठहर गया। किसी कारण से वह वहां रुग्ण हो गया। कृष्णगुटिका दासी वहीं रहती थी अतः उसने उसकी खूब सेवा की। श्रावक ने सोचा मैं तो दीक्षा लूंगा अतः गुटिकाओं से मेरा क्या प्रयोजन? यह सोचकर उसने कृष्णगुटिका को सेवा से प्रसन्न होकर सारी गुटिकाएं उसे देकर वहां से प्रस्थान कर दिया। दासी ने सोचा कि ये गुटिकाएं वास्तव में मनोरथ पूर्ण करने वाली हैं अथवा केवल कल्पना मात्र? उसने मन में चिंतन किया कि यदि ये प्रभावशाली हैं तो मैं उत्तम स्वर्ण जैसी वर्णवाली रूपवती और सुभगा नारी बन जाऊं। वह वैसी ही बन गई। लोगों ने उसके अद्भुत रूप को देवता का प्रसाद माना और उसे स्वर्णगुटिका कहने लगे। स्वर्णगुटिका को उन गुटिकाओं पर विश्वास हो गया। उसने दूसरी गुटिका मुख में रख कर चिंतन किया कि इस गुटिका के प्रभाव से राजा प्रद्योत मेरा पति बने।

वीतभय से उज्जैनी नगरी केवल अस्सी योजन दूर थी। एक दिन सहसा प्रद्योत की राजसभा में कुछ अग्रणी पुरुषों ने कहा कि वीतभय नगरी में देवावतारित प्रतिमा की सेवा में रहने वाली कृष्णगुटिका दासी देवअनुग्रह से स्वर्णगुटिका बन गई है। वह अत्यन्त लावण्यवती है। उसके सौन्दर्य के पिपासु अनेक व्यक्ति हैं। सारी बात सुनकर प्रद्योत ने एक दूत राजा उद्रायण के पास भेजा और संदेश भिजवाया कि स्वर्णगुटिका को इस दूत के साथ भेज दो। दूत राजा उद्रायण के पास गया और स्वयं के आने का प्रयोजन बताया। उद्रायण ने दूत का तिरस्कार करके उसे वापिस भेज दिया। दूत ने सारी बात प्रद्योत को बतायी। कुछ दिनों बाद राजा प्रद्योत ने गुप्त रूप से एक दूत को स्वर्णगुटिका के पास भेजा और उसका अभिप्राय जानना चाहा। दूत ने पूछा—‘यदि स्वर्णगुटिका राजा प्रद्योत से प्रेम करती है तो वह गुप्त रूप से उसके पास आ जाए।’ दासी ने उत्तर दिया कि यदि देवावतारित प्रतिमा भी मेरे साथ जाए तो मैं जाने के लिए तैयार हूँ अन्यथा मैं वहां नहीं जा सकती। दूत की बात सुनकर राजा प्रद्योत अनलगिरि हस्तिरत्न पर आरुढ़ होकर एक दिन में ही वीतभय नगरी पहुंच गया। प्रदोष-बेला में उसने स्वर्णगुटिका से गुप्तरूप से बात की।

उसी समय वसन्त महोत्सव के अवसर पर लेप्यक उत्सव मनाया गया। प्रद्योत ने उस अवसर पर एक सुन्दर मिट्टी की प्रतिमा बनवायी। गीत, नृत्य, वाद्य आदि के साथ उसने वह प्रतिमा भी देवावतारित प्रतिमा के देवालय में रखवा दी। भाग्ययोग से छलपूर्वक मिट्टी की प्रतिमा उसी मन्दिर में रख दी गयी। लोग जब ढोल आदि बजा रहे थे तब उन्हीं के सामने स्वर्णगुटिका देवप्रतिमा को बाहर ले आई। लोगों ने सोचा कि मिट्टी की प्रतिमा बाहर लायी होगी। प्रद्योत स्वर्णगुटिका और प्रतिमा दोनों का हरण करके ले गया।

जिस रात्रि में गंधहस्ती अनलगिरि ने वीतभय नगरी में प्रवेश किया, उसकी गंध से आलान-स्तम्भ में बंधे हाथी पृथ्वी पर लुढ़कने लगे और स्तम्भों को तोड़ने का प्रयत्न करने लगे। मंत्रियों ने सोचा, अनलगिरि अपने खंभे को तोड़ कर यहां आ गया होगा अथवा कोई जंगली हाथी आया होगा। प्रातःकाल यथार्थ वृत्तान्त ज्ञात हुआ। गुप्तचरों ने अनलगिरि का मल देखा अतः राजा को निवेदन किया कि रात्रि में राजा प्रद्योत आया था लेकिन वह वापिस चला गया। यह सुनकर राजा ने स्वर्णगुटिका दासी को खोज करायी। ज्ञात हुआ कि मध्यरात्रि में राजा प्रद्योत ने स्वर्णगुटिका दासी का अपहरण कर लिया है।

देवावतारित प्रतिमा की यह विशेषता थी कि उस पर चढ़ाए गए फूल चंदन की शीतलता के कारण म्लान नहीं होते थे। राजा उद्रायण मध्याह्न में जब देवायतन गया तो फूलों को म्लान देखा। राजा ने चिंतन किया कि यह देवकृत उपद्रव है अथवा देव-प्रतिमा के स्थान पर दूसरी प्रतिमा रख दी है। फूलों को हटाने पर ज्ञात हुआ कि प्रद्योत ने प्रतिमा की भी चोरी की है। कुपित होकर राजा ने दूत के साथ संदेश भिजवाया कि तुमने दासी की चोरी की इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है लेकिन मेरी प्रतिमा वापिस कर दो। प्रत्युत्तर में राजा प्रद्योत ने कहा कि मैं प्रतिमा भी वापिस नहीं करूंगा। यह बात सुनते ही उद्रायण के रोष का पार नहीं रहा। राजा उद्रायण ने दस राजाओं के नेतृत्व में विशाल सुसज्जित सेना लेकर उज्जैनी की ओर प्रस्थान किया।

भयंकर ग्रीष्म ऋतु का समय था। मरुभूमि में पैदल चलने से तथा पानी के अभाव में सारी सेना तीसरे ही दिन व्यथित और दुःखी हो गयी। सेना की यह स्थिति देखकर राजा दुःखी हो उठा। बहुत चिंतन करने पर भी कोई समाधान नहीं मिला। अंत में राजा ने रानी प्रभावती का स्मरण किया। फलस्वरूप प्रभावती का आसन कंपित हुआ। प्रभावती देव ने अवधि ज्ञान से जाना कि राजा उद्रायण अभी आपत्ति में है। देव प्रभाव से खूब वर्षा हुई। कृत्रिम सरोवर बना दिए गए। शीतल वायु बहने लगी। यह देवकृत सरोवर है अतः वहां पुष्कर तीर्थ की स्थापना कर दी।

उद्रायण ने उज्जैनी पर चढ़ाई कर दी। अकारण ही अनेक लोगों की मौत को देखकर उद्रायण ने चण्डप्रद्योत से कहा—‘विरोध तो परस्पर हमारा है अतः हम दोनों ही लड़ेंगे। शेष निरपराध जनता को मारने से क्या लाभ?’ प्रद्योत ने उद्रायण की बात स्वीकृत कर ली। दूतों के माध्यम से आपस में चिन्तन किया कि युद्ध हाथी से करें, रथ से करें अथवा घोड़ों से? प्रद्योत ने कहलवाया कि तुम्हारे पास श्रेष्ठ हस्ती नहीं है अतः रथ से ही युद्ध करेंगे। लेकिन युद्ध के दिन राजा प्रद्योत हाथी लेकर उपस्थित हुआ। उद्रायण रथ पर आरूढ़ था। शेष सेना दर्शक की भांति मध्यस्थ भाव से युद्ध का नजारा देख रही थी। उद्रायण ने चुनौती देते हुए कहा कि अपने वचन का पालन न करने वाले को जीने का कोई अधिकार नहीं है। प्रथम बार में ही क्षत्रिय शौर्य दिखाते हुए उद्रायण ने चक्रभ्रम की तरह तीर छोड़ा जिससे हाथी के चारों पांव बिंध गए। वह मृत होकर वहीं गिर गया। उद्रायण ने प्रद्योत को हराकर बंदी बना लिया। उज्जैनी पर उद्रायण का अधिकार हो गया। स्वर्णगुटिका दासी को वहीं मार दिया गया। प्रतिमा देवाधिष्ठित थी अतः वहां से वापिस वीतभय ले जाना संभव नहीं हो सका। राजा उद्रायण ने प्रतिबोधित करने के लिए प्रद्योत के तलाट पर ‘दासीपति’ शब्द अंकित करवा दिया। उद्रायण अपनी सेना के साथ प्रद्योत को बंदी बनाकर ले गया। उस समय तक वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गयी थी। प्रतिदिन दसों मुकुटबद्ध राजा और उद्रायण के आहार करने के पश्चात् प्रद्योत को आहार करवाया जाता था।

एक बार पर्युषण काल में उद्रायण ने उपवास किया। उसने रसोइए को भेजकर प्रद्योत को पूछवाया कि आज तुम्हारे लिए क्या बनवाया जाए? प्रद्योत से जब उसकी इच्छा पूछी गयी तो उसका मन आशीर्षित हो गया। उसने सोचा आज तक मुझसे यह प्रश्न नहीं पूछा गया आज ही यह बात क्यों पूछी गयी? निश्चित ही राजा विष मिश्रित भोजन देकर मुझे मारना चाहता है। तत्काल उसके मन में चिंतन उभरा कि संदेह नहीं करना चाहिए अतः इसी से पूछूं कि वास्तविकता क्या है? पूछने पर रसोइए ने उत्तर दिया कि राजा श्रमणोपासक है अतः पर्युषण पर्व की आराधना के लिए उपवास किया है, इसलिए आपकी इच्छा जानने के लिए मुझे भेजा है। यह सुनते ही प्रद्योत को स्वयं पर बहुत ग्लानि हुई और वह अपने आपको धिक्कारने लगा कि आज मुझे पर्युषण का दिन भी याद नहीं रहा। फिर उसने कहा कि मैं भी श्रमणोपासक हूँ अतः राजा से कहना कि मैं भी आज उपवास करूंगा। रसोइए ने जाकर सारी बात उद्रायण के सामने प्रकट की। आत्मचिंतन करते हुए उद्रायण ने सोचा—‘मैंने अपने साधर्मिक को बंदी बना रखा है अतः आज मैं उसे मुक्त किए बिना शुद्ध सामायिक नहीं कर सकता।’ राजा उसी क्षण प्रद्योत के पास गया और उसके सारे बंधन खोलकर क्षमायाचना की। ललाट पर लिखित शब्दों को ढंकने के लिए उद्रायण ने प्रद्योत के सिर पर एक स्वर्णपट्ट बंधवा दिया। उसी दिन से राजा प्रद्योत पट्टबद्ध राजा के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

३. दरिद्र किसान और चोर सेनापति

किसी गांव में उत्सव के अवसर पर धनवानों के घर खीर बनी। खीर देखकर एक गरीब के बच्चे भी खीर खाने का आग्रह करने लगे। बच्चों की इच्छा देखकर वह दरिद्र व्यक्ति मांग कर चावल और दूध लाया तथा अपनी पत्नी को खीर बनाने के लिए कहा।

वह सीमावर्ती गांव था। उस दिन चोरों की सेना वहां आ गयी। चोरों ने गांव को लूटना प्रारम्भ कर दिया। वे उस दरिद्र के घर भी आए और पात्र सहित खीर को ले गए। उस समय वह गरीब खेत पर गया हुआ था। खेत से घास आदि काटकर जब वह वापिस आया तो उसने चिंतन किया कि आज खीर बनी है अतः बच्चों के साथ ही खाना खाऊंगा। लेकिन जब वह घर पहुंचा तो बच्चों ने रोते हुए चोरों द्वारा खीर ले जाने की सारी बात बतायी। क्रोधावेश में घास के गट्टर को वहीं छोड़कर वह चोरों की पल्ली में गया। वहां उसने सेनापति के सामने खीर का पात्र देखा। उस समय चोर तो पुनः गांव लूटने चले गए थे। सेनापति अकेला बैठा था। उसने तलवार से सेनापति का सिर काट लिया। नायक की मृत्यु पर चोर असहाय हो गए लेकिन उस समय मृतककृत्य करके सेनापति के छोटे भाई को अपना मुखिया बना दिया।

मुखिया बनने पर उसकी मां, बहिन और भाभी व्यंग्य में कहने लगी कि तुम्हारे जीवन को धिक्कार है, जो तुम अपने भाई के शत्रु से बदला लिए बिना सेनापति बन गए हो। परिजनों की बात सुनकर क्रोध में आकर वह चोर सेनापति उस गरीब को जीवित ही पकड़ कर ले आया। उसके हाथों में बेड़ियां डालकर परिजनों के सम्मुख उसे प्रस्तुत किया। चोर सेनापति ने तलवार हाथ में लेकर गरीब को संबोधित करते हुए कहा—‘बोल, तेरा वध कहां करूँ? तू मेरे भाई का घातक है।’ गरीब ने दीन भाषा में कहा—‘जहां शरणागत मारे जाते हैं, वहीं मुझे मारो।’ उसके उत्तर को सुनकर सेनापति ने चिंतन किया कि शरणागत तो अवध्य होते हैं। उसने अपने परिजनों की ओर

देखा। उन्होंने कहा—‘शरणागत का वध नहीं किया जाता।’ यह सुनकर चोर सेनापति ने उस भ्रातृघातक को ससम्मान विसर्जित कर दिया।^१

४. क्रोध का दुष्परिणाम

एक ब्राह्मण के पास एक बैल था। एक बार वह बैल को लेकर खेत जोतने के लिए गया। खेत जोतते हुए बैल थक गया और वहीं गिर गया। असमर्थता के कारण वह उठ नहीं सका। ब्राह्मण ने उसे चाबुक से मारा। चाबुक टूट गया लेकिन बैल उठ नहीं सका। अन्य कोई चीज न देखकर वह मिट्टी के ढेलों से बैल को मारने लगा। इस प्रकार एक-एक करके चार केदारों के ढेलों से उसे मारा फिर भी वह नहीं उठा तो ढेलों से मारते-मारते बैल के चारों ओर ढेलों का ढेर हो गया और वह बैल मर गया।

वह ब्राह्मण गोहत्या के पाप की विशुद्धि के लिए अन्य ब्राह्मणों के पास उपस्थित हुआ। उन्हें सारी घटना सुनायी। ब्राह्मण ने आत्मालोचन करते हुए कहा कि मुझे इतना क्रोध आया कि अभी भी क्रोध शांत नहीं हुआ है। ब्राह्मणों ने सारी बात सुनकर कहा—‘तुम अतिक्रोधी हो अतः तुम्हारी शुद्धि नहीं हो सकती। हम तुम्हें प्रायश्चित्त नहीं देंगे।’ ऐसा कह उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया तथा वह लोगों की दृष्टि में निन्दा और घृणा का पात्र बन गया।^२

५. दिशा ही बदल गई (अत्वंकारी भट्टा)

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम धारिणी और मंत्री का नाम सुबुद्धि था। उसी नगर में धन नामक श्रेष्ठी निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम भट्टा था। सेठ के आठ पुत्रों के पश्चात् एक पुत्री हुई। सेठ ने उसका नाम भट्टा रखा। वह पारिवारिक जनों की अत्यन्त दुलारी थी अतः माता-पिता ने सभी से कह रखा था कि वह जो कुछ भी करे लेकिन इसे कोई ‘चू’ तक न कहे, रोक-टोक न करे अतः उसका नाम अत्वंकारिय भट्टा—अत्वंकारी भट्टा पड़ गया। भट्टा बहुत रूपवती थी अतः अनेक लोग उससे विवाह करने के इच्छुक थे। जब वह यौवन की दहलीज पर पहुंची तो उसने संकल्प लिया कि वह उसी व्यक्ति को अपना जीवन-साथी बनाएगी जो उसके सभी आदेशों का पालन करेगा तथा अपराध होने पर भी कुछ नहीं कहेगा।

एक बार उसके लावण्य से मोहित होकर मंत्री सुबुद्धि उसके साथ विवाह करने को तैयार हो गया। मंगल-बेला में दोनों विवाहसूत्र में बंध गए। मंत्री सदा उसकी आज्ञा का पालन करने लगा। मंत्री प्रतिदिन राजकार्य समाप्त कर एक प्रहर रात बीतने पर घर लौटता था। भट्टा ने मंत्री से कहा कि आप सायं घर शीघ्र आया करें। पत्नी के कहे अनुसार मंत्री शीघ्र ही राज्य के कार्य से निवृत्त होकर घर लौट आता था। एक दिन राजा ने चिंतन किया कि यह मंत्री इतनी जल्दी घर क्यों चला जाता है? राजा के चिन्तन को जानकर अन्य राजदरबारियों ने कहा—‘महाराज! मंत्री बड़ा पत्नी-भक्त है अतः वह उसकी आज्ञा का भंग नहीं कर सकता।’

एक दिन राजा ने कारणवश कुछ काम बताकर मंत्री को वहीं रोक लिया। मंत्री देरी से

१. दनि ९९, १००, दचू प. ६१, निभा ३१८६, ३१८७ चू. पृ. १४७, १४८।

२. दनि १०५, दचू प. ६२, निभा ३१९३ चू. पृ. १५०।

घर पहुँचा। भट्टा अपने वाग्दे की अवहेलना सह न सकी अतः उसने द्वार नहीं खोले। मंत्री बाहर ही खड़ा रहा। जब अति विलम्ब हो गया तब मंत्री ने भट्टा से कहा—‘मैं तो जाता हूँ, अब तुम ही इस घर की स्वामिनी बनकर रहना।’ यह सुनते ही भट्टा ने द्वार खोला और अभिमानवश अकेली ही जंगल में चली गयी। वह अनेक आभूषणों से विभूषित थी अतः रास्ते में चोरों ने उसे पकड़ लिया। चोरों ने उसके आभूषण उतार लिए और अपने सेनापति के समक्ष उसे उपस्थित किया। चोरों का मुखिया उसके रूप पर मुग्ध हो गया और उसे विवाह-सूत्र में बंधने के लिए कहा लेकिन उसने वह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। अनेक प्रयत्नों के बाद भी वह उसे प्राप्त नहीं कर सका। अंत में सेनापति ने जलौक वैद्य के हाथों उसे बेच डाला। उसने भी उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा लेकिन वह शीलवती नारी थी अतः अपने धर्म से नहीं डिगी। अंत में उस जलौक वैद्य ने रोष में कहा कि जाओ मेरे लिए जलौक लेकर आओ। वह शरीर पर मक्खन चुपड़कर जल में अवगाहन करती और जौंक पकड़ती। वह कार्य उसके लिए उपयुक्त नहीं था। वह वैसा करना भी नहीं चाहती थी परन्तु शीलरक्षा के लिए उसे वैसा करना पड़ रहा था। इस कार्य से उसका रूप और लावण्य नष्ट हो गया।

एक बार दूत कार्य में नियुक्त उसका भाई वहाँ आया। वहाँ उसने अपनी बहिन को पहचान लिया और उससे सारा वृत्तान्त जाना। भाई जलौक वैद्य से अपनी बहिन को मुक्त कराकर घर ले आया। वमन-विरेचन आदि प्रयत्नों से वह पूर्ण स्वस्थ हो गई। अमात्य ने उस पर विश्वास कर लिया। अपने घर लाकर उसे पुनः गृहस्वामिनी बना दिया। क्रोधपूर्वक अभिमान के दुष्परिणाम को देखकर उसने संकल्प किया कि मैं अब क्रोध और अभिमान नहीं करूंगी। अब उसका अभिमान मर चुका था। भट्टा के घर लक्षपाक तैल का निर्माण हुआ। एक मुनि ने अपनी व्रण-चिकित्सा के लिए भट्टा से वह तैल मांगा। भट्टा ने अपनी दासी को तैल का घट लाने को कहा। दासी जब घट उठाने लगी तो वह उसके हाथ से गिरकर फूट गया। इसी प्रकार दूसरा और तीसरा घट भी हाथ से गिरा और फूट गया। बहुमूल्य तैल-घटों के नष्ट हो जाने पर भी भट्टा को क्रोध नहीं आया। चौथी बार उसने स्वयं उठकर लक्षपाक तैल साधु को दिया। तीन घटों के फूट जाने से भी उसके मन पर कोई असर नहीं हुआ।

६. आराधक-विराधक (पांडुरा आर्या)

एक शिथिलाचारिणी साध्वी थी। उसका नाम ‘पांडुरा’ था। उसको शरीर और उपकरणों के प्रति आसक्ति थी अतः वह शरीरबकुश और उपकरणबकुश थी। वह प्रतिदिन स्वच्छ और सफेद वस्त्र धारण करती थी इसीलिए लोगों ने उसका नाम ‘पांडुरा आर्या’ रख दिया। पांडुरा को अनेक विद्या, मंत्र, वशीकरण और उच्चाटन आदि की जानकारी थी तथा उसको अनेक विद्याएं सिद्ध थीं। वह उन विद्याओं का प्रयोग भी करती थी। इन विद्याओं का चमत्कार देखने अनेक व्यक्ति श्रद्धा से उसके पास आते और मस्तक झुकाकर हाथ जोड़े खड़े रहते।

आधी उम्र बीतने पर उसे वैराग्य आया और उसने अपने आचार्य को निवेदन किया कि आप मुझे अकल्मष वृत्तियों की आलोचना करवाएं। आलोचना के बाद उसने दीर्घकाल तक दीक्षा-पालन में अपनी असमर्थता व्यक्त की। आचार्य ने मंत्र, विद्या आदि का प्रयोग करने का प्रत्याख्यान

कराकर संभारा दिला दिया तथा साधु-साध्वियों को निर्देश दिया कि यह बात लोगों को न कही जाए।

भक्त प्रत्याख्यान के पश्चात् कुछ साधु-साध्वियों के अतिरिक्त वह एकाकी हो गयी। पहले वह बहुत लोगों से घिरी रहती थी। अब लोग उसके पास नहीं आते थे। कुछ समय पश्चात् उसे इस साधना से अरुचि पैदा हो गयी। उसने मानसिक रूप से पुनः विद्या का प्रयोग किया जिससे लोगों का आवागमन पुनः शुरू हो गया। लोग पुष्प, फल आदि भेंट लेकर वंदना करने आने लगे। आचार्य ने साधु-साध्वियों से पूछा—'क्या तुमने पांडुरा के बारे में लोगों को जानकारी दी है, जिससे इतनी भीड़ हो रही है।' श्रमणवर्ग ने नकारात्मक उत्तर दिया। आखिर पांडुरा से पूछा तो उसने यथार्थ बात बता दी। गुरु ने प्रतिबोध दिया और उसने उस दोष की आलोचना की। उसने पुनः विद्या का प्रयोग छोड़ दिया अतः लोगों का आवागमन कम हो गया। एकाकीपन उसे खलने लगा। इस प्रकार तीन बार उसने विद्या का प्रयोग किया और पूछने पर सम्यक् प्रतिक्रमण और आलोचना की।

चौथी बार जब उसने विद्या का प्रयोग किया तो पुनः लोग आने लगे। पूछे जाने पर उसने माया का प्रयोग किया और कहा कि ये लोग पूर्व अभ्यास के कारण आते हैं। इस दोष की आलोचना किए बिना ही वह काल-धर्म को प्राप्त हो गयी? मरकर वह सौधमं देवलोक में ऐरावत की अग्रमहिषी बनी। उसके पश्चात् वह हथिनी के रूप में भगवान् महावीर के समवसरण में उपस्थित हुई। धर्मदेशना समाप्त होने पर भगवान के सामने वह जोर से धिंवाड़ने लगी तथा गूड़ से प्रखंड उधा छोड़ने लगी। यह देखकर गौतम स्वामी के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उन्होंने भगवान से पूछा। भगवान ने उसके पूर्वभव को बतलाया और प्रेरणा देते हुए कहा कि जो कोई साधु-साध्वी इस प्रकार माया का सेवन करेगा उसे ऐसा ही परिणाम भोगना पड़ेगा। माया के परिणाम अत्यंत भयंकर होते हैं।^१

७. करणी का फल (आर्य मंगु)

आचार्य मंगु बहुश्रुत, आगमज्ञ और विरक्त आचार्य थे। वे अपनी शिष्य-संपदा के साथ विहार करते हुए एक बार मथुरा नगरी पधारे। उनके वैराग्य को देखकर लोगों ने वस्त्र आदि से अभ्यर्थना की तथा प्रतिदिन दूध, दही, घी आदि स्वादिष्ट पदार्थों का दान देने लगे। आचार्य मंगु सुख और भोगों में प्रतिबद्ध होकर वहीं रहने लगे। वे विहार की चर्चा भी नहीं करते। शेष साधुओं को यह बात नहीं भायी। वे अन्यत्र विहार कर गये। आचार्य मंगु ने अन्तिम समय में अपने कृत्य पापों की आलोचना नहीं की अतः वे व्यन्तर जाति में यक्ष रूप में उत्पन्न हुए। उस स्थान से जब कोई साधु विहार करते तब वे यक्ष-प्रतिमा में प्रवेश करके खूब लम्बी जीभ निकालते। साधुओं के पूछने पर वे कहते कि मैं जीभ के सुख में प्रतिबद्ध और आसक्त हो गया था अतः कम ऋद्धिवाला देव बना हूं। तुम लोगों को प्रेरणा देने यहां आया हूं। तुम जिह्वा-सुख में प्रतिबद्ध मत होना।^२

८. आचार्य कालक और पर्युषणपर्व

उज्जयिनी नगरी में बलमित्र और भानुमित्र नामक दो राजा थे। उनका भानजा आचार्य कालक द्वारा दीक्षित हुआ। राजाओं ने आक्रुष्ट होकर आर्य कालक को देश-निकाला दे दिया। वे

१. दनि ११०, १११, दचू प. ६२, ६३, निभा ३१९८, ३१९९, चू. पृ. १५१, १५२।

२. दनि ११२, दचू प. ६३, निभा ३२००, चू. पृ. १५२, १५३।

प्रतिष्ठान नगर में गए। वहां शातवाहन नामक राजा श्रावक था। उसने 'श्रमणपूजा' नामक उत्सव प्रारम्भ किया। और अंतःपुर में कहा कि अमावस्या और अष्टमी आदि को उपवास करके पारण में साधु को भिक्षा देकर पारणा करना चाहिए।

एक बार पर्युषणाकाल निकट आने पर शातवाहन को आचार्य कालक ने कहा कि भाद्रव शुक्ला पंचमी को पर्युषणा होती है। राजा ने कहा—'उस दिन में यहाँ इन्द्र-महोत्सव होगा अतः मैं उस दिन साधु और चैत्य की पर्युपासना नहीं कर सकूँगा अतः षष्ठी के दिन पर्युषणा कर ली जाए।' आचार्य ने कहा—'पंचमी के दिन का अतिक्रमण नहीं हो सकता।' राजा ने निवेदन किया कि फिर चतुर्थी को ही पर्युषणा कर ली जाए। आचार्य ने कहा कि ऐसा संभव है अतः चतुर्थी के दिन ही पर्युषणा की गयी। इस प्रकार कारण उपस्थित होने पर चतुर्थी को भी पर्युषण मनाया गया।^१

९. ईर्यासमिति की जागरूकता

एक साधु ईर्या समिति में उपयुक्त था। उसकी साधना के प्रभाव से इन्द्र का आसन चलित हो गया। इन्द्र ने देवताओं के मध्य उसकी प्रशंसा की। एक मिथ्यादृष्टि देव इस प्रशंसा को सह नहीं सका अतः वह उस साधु के निकट आया। उसने मक्खी जितने प्रमाण की मेंढ़कियों की विकुर्वणा की। पूरा मार्ग मेंढ़कियों से समाकुल हो गया। उसी मार्ग पर पीछे से एक हाथी दौड़ता हुआ आ रहा था। उसका भय था पर मुनि ने अपनी गति में भेद नहीं किया। वे ईर्यापूर्वक मार्ग में चलते रहे। हाथी निकट आया और उसने मुनि को सूंड से पकड़ ऊपर उछाला। उस समय मुनि ने अपने शरीर की परवाह नहीं की। नीचे गिरने पर सत्त्वों की हिंसा होगी इस दयाभाव में परिणत होकर वे ध्यानस्थ हो गए।^२

१०. मनोगुप्ति

एक श्रेष्ठीपुत्र अपनी पत्नी को छोड़कर प्रव्रजित हो गया। एक बार वह शून्यगृह में प्रतिमा में स्थित था। उसकी पत्नी एक पारदारिक के साथ उसी शून्यगृह में आयी। अंधकार सघन था। वहाँ एक मंचक था। स्त्री ने मंचक को उठाया। न दीखने के कारण मंचक का एक हिस्सा (पाया) मुनि के पैर पर रख दिया। मुनि को मंचक के उस पाये की कील की चुभन महसूस होने लगी। पर वे प्रतिमा में स्थित थे। पारदारिक ने उसके साथ रतिक्रीड़ा की। मुनि ने दोनों को अनाचार का सेवन करते देख लिया, जान लिया पर वे विचलित नहीं हुए। वे प्रतिमा में स्थिर रहे।^३

१. दनि ६८, दचू प. ५५।

२. दनि ९१, दचू प. ५९।

३. दनि ९२, दचू प. ६०, दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति की ८-१० इन तीन कथाओं का क्रमांक आगे अनुवाद के पादटिप्पण में नहीं लग पाया है अतः इनको क्रम की दृष्टि से अंत में रखा है।

परिभाषाएं

अलगव—अयोगव । सुदूरेण वइस्सीए जाओ अलगवुत्ति भण्णइ ।

शूद्र पुरुष से वैश्य स्त्री में उत्पन्न संतान अयोगव कहलाती है । (आचू. पृ. ५)

अंबट्ट—अम्बष्ठ । बंधणेण वइस्सीए जाओ अंबट्टो ति वुच्चइ ।

ब्राह्मण पुरुष से वैश्य स्त्री में उत्पन्न संतान अम्बष्ठ कहलाती है । (आचू. पृ. ५)

अकम्मस—अकर्माश । कर्मणस्ते अवगया जस्स सो अकम्मसो ।

जिसके सभी कर्म अपगत हो गए हों, वह अकर्माश है । (उचू. पृ. १४५)

अकहा—अकथा । मिच्छसं वेदंतो जं अण्णाणी कहं परिकहेति... सा अकहा देसिया समए ।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का वेदन करता हुआ अज्ञानी जो कथा करता है, वह विकथा कहलाती है । (दशानि. १८२)

अकिंचण—अकिञ्चन । नत्थि जस्स किंचणं सोऽकिंचणो ।

जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह अकिञ्चन है । (दशअचू. पृ. ११)

अकिंचणया—अकिञ्चनता । अकिंचणया नाम सदेहे निस्संगता निम्ममत्तणं ति वुत्तं भवति ।

अपने शरीर के प्रति निःसंगता और निर्ममत्व अकिञ्चनता कहलाती है । (दशजिचू. पृ. १८)

अक्खेवणी—आक्षेपणी । जाए सोता रंजिज्जति, सा अक्खेवणी ।

जिसको सुनकर श्रोता रंजित होते हैं, वह आक्षेपणी कथा है । (दशअचू. पृ. ५५)

• विज्ञा-चरण-पुरिसकार-समिति-गुत्तीओ जाए कहाए उवदिस्संति, सो कहाए अक्खेवणीए रसो ।

जिस कथा में विद्या, चरण, पुरुषकार, समिति, गुत्तियां उपदिष्ट होती हैं, वह आक्षेपणी कथा का रस है । (दशअचू. पृ. ५६)

अगंधण—अगंधन । अगंधणा णाम मरणं ववसंति, ण च वंतयं आवियंति ।

जो मरना पसन्द कर लेते हैं पर वान्त विष का पुनः पान नहीं करते, वे अगंधन कुल के सर्प कहलाते हैं । (दशजिचू. पृ. ८७)

अगग्गीय—अग्रबीज । जेसिं कोरंटगादीणं अग्गाणि रुप्पंति ते अगग्गीया ।

जिसका अग्रभाग ही बीज है, जिसका अग्रभाग बोया जाता है, वह वनस्पति अग्रबीज कहलाती है, जैसे— कोरंटक आदि । (दशअचू. पृ. ७५)

अगला—अर्गला । दुधारे तिरिच्छं खीलिकाकोडियं कट्ठं अगला ।

द्वार में तिरछे काष्ठ का अवष्टम्भन अर्गला कहलाती है । (दशअचू. पृ. १२७)

अचियत्त—अप्रिय । अचियत्ते ति अप्रीतिकरः दृश्यमानः सम्भाष्यमाणो वा सर्वस्थाप्रीतिमेवोत्पादयति ।

जिसको देखने से एवं जिसके साथ बातचीत करने से अप्रीति उत्पन्न होती है, वह अचियत्त—अप्रीतिकर है। (उशांटी. प. ३४६)

• अणिट्ठो पवेसो जस्स सो अचियत्तो

जिसका आना अनिष्टकर लगता है, वह अचियत्त—अप्रीतिकर है। (दशअचू. पृ. १०४)

अच्चि—अर्चि। दीपसिंहासिहरादि अच्चि।

दीपशिखा के अग्रभाग को अर्चि कहते हैं। (दशअचू. पृ. ८९)

• दाह्यप्रतिबद्धो ज्वालाविशेषोऽर्चिः।

दाह्य वस्तु से प्रतिबद्ध ज्वाला—विशेष अर्चि कहलाती है। (आटी. पृ. ३३)

• अच्ची नाम आगासाणुगयापरिच्छिन्ना अगिसिहा।

आकाश की ओर ऊपर उठने वाली अपरिच्छिन्न अग्निशिखा अर्चि कहलाती है। (दशजिचू. पृ. १५६)

अच्छिन्नसंधना—अच्छिन्नसंधना। पसत्थेसु भावेसु वट्टमाणो जं अपुब्बं भावं संधेइ एसवि अच्छिन्नसंधना।

प्रशस्त भावों में वर्तमान व्यक्ति जिन अपूर्व भावों का संधान करता है, वह अच्छिन्नसंधना कहलाती है। (आचू. पृ. ४७)

अण्णप्प—अध्यात्म। अण्णामधिकरेऊणं जं भवति तं अण्णप्पं।

आत्मा को लक्ष्य कर जो तिष्ठ्य जाता है, वह अण्णप्प है। (दशअचू. पृ. २४१)

अण्णयण—अध्ययन। अण्णप्पस्साणयणं, कम्मणं अवचओ उवचियणं।

अणुवचओ य नवाणं, तम्हा अण्णयणमिच्छंति॥

अधिगम्मंति य अत्था, इमेण अधिगं च नयणमिच्छंति।

अधिगं च साहु गच्छति, तम्हा अण्णयणमिच्छंति॥

अध्ययन का अर्थ है—अध्यात्म का आनयन। उपचित (संचित) कर्मों का अपचय और नए कर्मों का अनुपचय, यह सारा अध्यात्म का आनयन है। यह अध्ययन है।

जिससे अर्थ-बोध होता है, वह अधिगम अध्ययन है अथवा जिससे अर्थबोधि में अधिक गति होती है, वह अध्ययन है। इससे मुनि संयम के प्रति तीव्र प्रयत्न करता है, इसलिए (भव्य जन) अध्ययन की इच्छा करते हैं। (दशनि. २६, २७, उनि. ६, ७)

अट्ट—आर्त। अट्टो णाम अट्टण्णोवगतो रागदोससहितो।

आर्तध्यान से युक्त तथा राग-द्वेष से प्रभावित व्यक्ति आर्त कहलाता है। (आचू. पृ. ८७)

अट्ट—आर्तध्यान। ऋतं—दुःखं तन्निमित्तं दुरण्णवसातो अट्टं।

दुःख का निमित्तभूत दुर अण्णवसाय आर्तध्यान है। (दशअचू. पृ. १६)

अणंतजीव—अनंत (काय) जीव।

चक्कागं भजमाणस्स, गंठी चुण्णधणो भवे।

पुढविसरिसभेदेणं, अणंतजीवं वियाणाहि॥

गूढसिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं।

जं पुण पणट्ठसंधिय, अणंतजीवं वियाणाहि॥

—जिसके मूल, कंद, त्वक्, पत्र, पुष्प, फल आदि को तोड़ने से समानरूप में चक्राकार टुकड़े होते हैं, जिसका पर्वस्थान चूर्ण—रजों से व्याप्त होता है अथवा जिसका भेदन करने पर पृथ्वी सदृश भंग होते हैं, वह अनन्तकाय वनस्पति कहलाती है।

—जिसके पत्ते क्षीर मुक्त अथवा क्षीर शून्य तथा गूढ़ शिराओं वाले होते हैं, जिनकी शिराएं अलक्ष्यमाण होती हैं, जिनके पत्रार्थ की संधि दृगोच्चर नहीं होती, वे अनन्तजीव वनस्पति कहलाती हैं। (आनि १३९, १४०)

अणगार—साधु। गुत्ता गुत्तीहिं सव्वाहिं, समिया समितीहिं संजया।

जयमाणगा सुविहिता, एरिसगा होंति अणगारा॥

जो गुप्तियों से गुप्त, सभी समितियों से समित, संयत और यतना करने वाले होते हैं, वे अणगार कहलाते हैं। (आनि १०५)

• अगारं—गृहं तं जस्स नत्थि सो अणगारो।

जिसके कोई अगार—घर नहीं है, वह अणगार कहलाता है। (दशअचू पृ. ३७)

अणाइल—अनाकुल। अणाइलेत्ति न धर्मं देशमानो आतुरो भवति चोदितो वा आकुलव्याकुलीभवति।

जो धर्म की देशना देता हुआ तथा प्रश्न पूछने पर आकुल-व्याकुल नहीं होता, वह अनाकुल है। (सूचू १ पृ. २३५)

• अणाइलो णम परीवहीपसर्गः नर्कः समुद्रवद् नाऽऽकुलीक्रीभते।

जैसे मगरमच्छ आदि जलजंतुओं से समुद्र आकुल नहीं होता, वैसे ही जो परीवहों और उपसर्गों से आकुल नहीं होता, वह अनाकुल है। (सूचू १ पृ. ६३, ६४)

अणाजीवी—अनाजीवी। अणाजीवी ण तवमाजीवति लाभ-पूयणादीहिं।

जो लाभ, पूजा आदि के लिए तप से आजीविका नहीं करता, वह अनाजीवी है।

(दशअचू पृ. ५३)

अणायु—अनायु। अनायुरिति नास्यागमिष्यं जन्म विद्यते आगमिष्यायुष्कबंधो वा।

जिसका आगामी जन्म नहीं होता, जिसके आगामी आयुष्य का बंध नहीं होता, वह अनायु होता है। (सूचू १ पृ. १४४)

• न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यनायुः।

जिसके चारों प्रकार का (मनुष्य, देव, नरक और तिर्यञ्च) आयुष्य न हो, वह अनायु है। (सूटी पृ. ९७)

अणिदान—अनिदान। माणुसरिद्धिनिमित्तं तव-संजमं न कुब्बइ से अनियाणे।

जो मनुष्य-सम्बन्धी ऋद्धि को प्राप्त करने के लिए तप, संयम नहीं करता, वह अनिदान होता है। (दशजिचू पृ. ३४५)

• अणिदानो ण दिव्व-माणुस्सएसु कामभोगेषु आसंसापयोगं करेति

जो देवसंबन्धी तथा मानुषिक कामभोगों की आशंसा नहीं करता, वह अनिदान है।

(सूचू १ पृ. ७६)

अणिव्वुड—अनिर्वृत। तत्तं पाणितं पुणो सीतलीभूतं आठक्कायपरिणामं जाति तं अपरिणयं अणिव्वुडं।

गर्म पानी भी ठंडा हो जाने पर पुनः अप्काय के परिणाम (संचित जल) वाला बन जाता है, वह अपरिणत और अनिर्वृत जल कहलाता है। (दशअचू पृ. ६१)

अणिह—अनिभ। अनिहो नाम परीषहोपसर्गेन निहन्यते तव-संजमेसु वा संतपरकर्म ण णिहेति।

जो परीषहों और उपसर्गों से पराभूत नहीं होता अथवा जो तप और संयम में अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता, वह अनिभ है। (सूचू १ पृ. ५५)

अणुक्कस—अनुत्कर्ष। अणुक्कसो णाम न जात्यादिभिर्मदस्थानैरुत्कर्षं गच्छति।

जाति आदि मदस्थानों के आधार पर जो अहंकार नहीं करता, वह अनुत्कर्ष है।

(सूचू १. पृ. ४५)

अणुप्पेहा—अनुप्रेक्षा। अणुप्पेहा नाम जो मणसा परिअट्टेइ, णो वायाए।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है—मानसिक जाप, इसमें वचन का सर्वथा विसर्जन होता है।

(दशहाटी प. ३२)

• सुत्तऽत्थाणं मणसाऽणुचिंतणं।

सूत्रार्थ का मन ही मन अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

(दशअचू पृ. १६)

अणुभाव—अनुग्रह और विग्रह का सामर्थ्य। अणुभावो णाम शापानुग्रहसामर्थ्यम्।

शाप देने और अनुग्रह करने का सामर्थ्य अनुभाव कहलाता है।

(उचू पृ. २०८)

अणुव्विग्ग—अनुद्विग्न। अणुव्विग्गो परीसहाणं अभीठ त्ति सुत्तं भवति।

परीषहों में अभीत रहने वाला अनुद्विग्न कहलाता है।

(दशजिचू पृ. १६८)

अत्तगवेसि—आत्मगवेषी। अत्तगवेसगो णाम णरगोसु पडभाणं अत्ताणं गवेसतीति अत्तगवेसिणो।

जो नरक आदि दुर्गति में गिरती हुई आत्मा की गवेषणा करते हैं, वहां की उत्पत्ति के कारणों की भीमांसा करते हैं, वे आत्मगवेषी हैं।

(दशजिचू पृ. २९२)

अत्तपण्ण—आत्मप्रज्ञ। जेहिं इह अप्पीकता पण्णा ते अत्तपन्ना।

जो प्रज्ञा को आत्मसात् कर लेते हैं, वे आत्मप्रज्ञ हैं।

(आचू पृ. २०१)

अत्तव—आत्मवान्। णाणदंसणचरित्तमयो जस्स आया अत्थि सो अत्तव।

जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय हो, वह आत्मवान् है। (दशअचू पृ. १९७)

अत्थविणय—अर्थविनय। अत्थनिमित्तं रायादीण विणयकरणं अत्थविणयो।

धन के लिए राजा आदि का विनय करना अर्थविनय है।

(दशअचू पृ. २०२)

अदिट्ठधम्म—अदृष्टधर्मा। अदिट्ठधम्मे णाम सुतधम्म-चरित्तधम्मअजाणए भण्णइ।

जो श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को नहीं जानता, वह अदृष्टधर्मा है। (दशजिचू पृ. ३१७)

अदीण—अदीन। अदीणो णाम जो परीसहोदए ण दीणो भवति अथवा रोगिवत् अपत्थाहारं अकामः

असंजमं वज्जतीति अदीनः, जे पुण हृष्यति इव ते अदीणा।

जो परीषह आदि में कभी दीन नहीं होता अथवा जैसे रोगी अपथ्य आहार को छोड़ देता है वैसे ही जो असंयम का परिहार करता है तथा जो सदा प्रसन्न रहता है, वह अदीन है।

(उचू पृ. १६५)

अदीणवित्ति—अदीनवृत्ति। अदीणवित्ती नाम आहारोवहिमाइसु अलब्भमाणेसु नो दीणभावं गच्छइ।

जो आहार, उपधि आदि नहीं मिलने पर भी दीन नहीं बनता, वह अदीनवृत्ति है।

(दशजिचू पृ. ३२२)

अदेसकालपलायि—क्षेत्र और समय को जाने बिना बोलने वाला। **अदेसकालपलायी जाहे किंचि कज्जं**

अतीत ताहे भणति जति पकरेतो सुन्दरं होतं, मए पुब्बं चेव चिंतितेज्जयं।

अदेशकालपलायी वह होता है, जो कार्य सम्पन्न होने पर सोचता है कि यदि मैं यह कार्य कर लेता तो कितना अच्छा होता। मैंने पहले ही यह सोच रखा था। (उचू पृ. १९७)

अपडिण्ण—अप्रतिज्ञ। **अप्रतिज्ञः इह परलोकेषु कामेषु अप्रतिज्ञः अमूर्च्छित अद्विष्टो वा।**

जो इहलोक और परलोक सम्बंधी कामभोगों में अमूर्च्छित और आर्काक्षारहित होता है, वह अप्रतिज्ञ है। (सूचू १ पृ. १८५)

अप्पिच्छ—अल्पेच्छ। **अप्पिच्छया णाम जो ण मुच्छं करेइ, ण वा अतिरित्ताण गिण्हइ।**

प्राप्त पदार्थों में मूर्च्छा न करने वाला तथा आवश्यकता से अधिक न लेने वाला अल्पेच्छ होता है। (दशजिचू पृ. ३२०)

• **अप्पिच्छो णाम जो अस्स आहारो ताओ आहारपमाणाओ ऊणमाहारेमाणो अप्पिच्छो भवति।**

अपनी आहार की मात्रा से जो कम आहार लेता है, वह अल्पेच्छ कहलाता है।

(दशजिचू पृ. २८२)

अबुह—अज्ञानी। **अबुहो णाम अप्रबुद्धेन्द्रियो बालः।**

जिसका इन्द्रिय-ज्ञान विकल है, जो बाल है, वह अबुध है। (सूचू १ पृ. ३७)

अब्भक्खाण—अभ्याख्यान। **अब्भक्खाणं असम्भूताभिणिवेसो।**

अयथार्थ अभिनिवेश अभ्याख्यान कहलाता है। (सूचू १ पृ. २४७)

अब्भुट्ठाण—अभ्युत्थान। **अब्भुट्ठाणं णाम जं अब्भुट्ठाणरिहस्स आगयस्स अभिमुहं उट्ठाणं।**

अभ्युत्थान के योग्य व्यक्ति के आने पर उसके सम्मुख खड़ा होना अभ्युत्थान है।

(दशजिचू पृ. २९५)

अभिगम—विनयप्रतिपत्ति। **अभिगमो नाम साधूणमायरियाणं जा विणयपडिवत्ती सो अभिगमो भण्णइ।**

साधुओं तथा आचार्य के प्रति की जाने वाली विनयप्रतिपत्ति को अभिगम कहा जाता है।

(दशजिचू पृ. ३२४)

अभिणिष्खुड—अभिनिर्वृत। **अभिनिर्वृतो लोभादिजयात्रिरातुरः।**

अभिनिर्वृत वह है, जो कषाय-विजय से अनातुर हो गया है। (सूटी पृ. ११७)

अभिधारणा—अभिधारणा। **प्रस्विन्नो यद्धिहिरवतिष्ठते वातागमनमार्गे साऽभिधारणा।**

पसीने से लथपथ हो जाने पर बाहर वायु के आगमन मार्ग में जाकर बैठना अभिधारणा है।

(आटी पृ. ५०)

अभिहट्ठ—अभिहत। **अभिहट्ठं जं अभिमुहमाणीतं उवस्सए आणेऊण दिण्णं।**

सम्मुख लाकर उपाश्रय में दी जाने वाली भिक्षा अभिहत भिक्षा है। (दशअचू पृ. ६०)

अयल—अचल। **अचलोत्ति थिरो नाणादिसु थिरचित्तो, ण य भज्जति अरतिरतीहिं अणुलोमेहिं पडिलोमेहिं**

य उवसगेहिं।

जो ज्ञान आदि में स्थिर चित्त वाला होता है तथा अनुलोम और प्रतिलोम उपसर्गों और रति-
अरति से भग्नचित्त नहीं होता, वह अचल कहलाता है। (उचू.प. ४३)

अरह—अर्हत्। नास्य रहस्यं विद्यत इति अरहा।

जिनके लिए कोई रहस्य नहीं रहता, वे अर्हत् हैं। (उचू.पृ. १४५)

अलोलुप—अलोलुप। आहारदेहादिसु अप्रतिबद्धे अलोलुप।

जो आहार और शरीर के प्रति अप्रतिबद्ध—अनासक्त होता है, वह अलोलुप है।

(दशअचू.पृ. २५४)

• अलोलुप नाम उक्कोसेसु आहारादिसु अलुब्धो भवइ अहवा जो अप्पणो वि देहे अप्रतिबद्धो
सो अलोलुओ भण्णइ।

जो अच्छे आहार आदि में लुब्ध नहीं होता, वह अलोलुप है अथवा जो अपने शरीर में भी
अप्रतिबद्ध होता है, वह अलोलुप कहलाता है। (दशजिचू.पृ. ३२१)

अविहेटय—दूसरों को तिरस्कृत न करने वाला। अविहेटए णाम जे परं उक्कोस-तेप्पणादीहिं न
विहेटयति।

जो आक्रोश, ताड़ना आदि के द्वारा दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता, उसे अविहेटक कहते
हैं। (दशजिचू.पृ. ३४३)

• परे विग्गहविकथापसंगे सुसमत्थो वि ण तालणादिणा विहेटयति एवं अविहेटए।

जो समर्थ होते हुए भी विग्रह और विकथा के प्रसंग में ताड़ना आदि के द्वारा दूसरों का
तिरस्कार नहीं करता, वह अविहेटक कहलाता है। (दशअचू.पृ. २४०)

असप्पलावि—असत्प्रलापी। असप्पलावी नाम जो असंतं उल्लावेति।

जो असत् बात कहता है, वह असत्प्रलापी है। (उचू.पृ. १९७)

असब्भपलावि—असभ्य बोलने वाला। असब्भपलावी जो असब्भं उल्लावेति खरफरस-उक्कोसादि
असब्भं पलवइ।

जो कर्कश, परुष, आक्रोश आदि असभ्य वचनों से बोलता है, वह असभ्यप्रलापी है।

(उचू.पृ. १९७)

असमिक्खियपलावि—बिना विचारे बोलने वाला। असमिक्खियपलावी असमिक्खिउं उल्लविति, जं
से मुहातो एति तं उल्लावेति।

जो बिना सोचे-समझे बोलता है, जो मुंह में आता है, वही बोल डालता है, वह असमीक्ष्यप्रलापी
है। (उचू.पृ. १९७)

अस्स—अश्व। अश्नाति अश्नुते वा अध्वानमिति अश्वः।

जो मार्ग को खाता है, पार हो जाता है अथवा जो पथ में व्याप्त हो जाता है, वह अश्व
है। (उचू.पृ. १२२)

आठर—आतुर। सारीरमाणसेहिं दुक्खेहिं आतुरीभूतो अच्चत्थं तुरति आतुरो।

शारीरिक और मानसिक दुःखों से दुःखी होकर जो अत्यंत त्वरा करता है, वह आतुर है।

(आचू.पृ. १०८)

आगंतार—धर्मशाला। तत्र आगत्य आगत्यागारं तिष्ठन्ति तं आगंतारम्।

जहां आ-आकर पथिक ठहरते हैं, वह आगंतार—धर्मशाला है। (आचू. पृ. ३४०)

आगास—आकाश। आकाशान्ते—दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र तदाकाशम्।

अपने-अपने धर्मों से युक्त पदार्थ जहां दीप्त होते हैं, वह आकाश है। (दशहोदी. प. ६९)

आणापाणु—आन-अपान। नासिकागतस्स वातस्स अंतो अणुप्पवेसणमाणूपाणूहिं निच्छुभणं आणापाणू।

नासिकागत वायु को भीतर ले जाना 'आन' तथा बाहर निकालना 'अपान' है।

(दशअचू. पृ. ६७)

आणारुह—आज्ञारुचि। जा तित्थगराणं आणा तं आणं महता संवेगसमावन्नो पसंसइ एस आणारुहं।

जो तीर्थंकरों की आज्ञा की तीव्र संवेग से प्रशंसा करता है, आदर करता है, वह आज्ञारुचि है।

(दशजिचू. पृ. ३३)

आतजोगि—आत्मयोगी। आतजोगीणं ति जस्स जोगा वसे वट्ठंति आप्ता वा यस्य जोगा।

जिसके योग बशवर्तों होते हैं अथवा जिसके योग आस हैं, वह आप्तयोगी कहलाता है।

(दचू. प. २७)

आयंक—आतंक। फुसंति पावंति आगता अंगं संकामेन्ति आयंका।

जो बाहर से आकर शरीर का स्पर्श करते हैं, उसे प्राप्त करते हैं तथा उसमें सक्रांत होते हैं, वे आतंक—सद्योघाती रोग हैं।

(आचू. पृ. २०३)

• सारीरमाणसेहिं दुक्खेहिं अप्पणं अंकेति आतंको।

शारीरिक और मानसिक दुःखों से जो व्यक्ति को आतंकित करता है, वह आतंक है।

(आचू. पृ. ३८)

आलीढ—आलीढ, युद्ध की मुद्रा विशेष। तत्त्वालीढं दाहिणपादं अग्गहुत्तं काठं वामं पादं पच्छतोहुत्तं ओसारेति, अंतरं दोण्हं वि पायाणं पंचपादा।

भनुर्भर के खड़े रहने की एक अवस्थिति विशेष आलीढ है, जिसमें दक्षिण पैर आगे और वाम पैर पीछे रहता है। दोनों के मध्य पांच कदमों का अन्तर होता है। (दचू. प. ४)

आवण—आपण। आवणं कयधिकयत्थाणं।

क्रय-विक्रय का स्थान आपण है।

(दशअचू. पृ. ११७)

आवेसण—आवेसन। आगंतुं विसंति जहियं आवेसणं।

जहां आगंतुक आकर बैठते हैं, वह आवेसन है।

(आचू. पृ. ३११)

आसायणा—आशातना। मिच्छापडिवत्तीए, जे भावा जत्थ होंति सम्भूता।

तेसिं तु वितहपडिवज्जणाए आसायणा तम्हा॥

सद्भूत अर्थ को मिथ्या प्रतिपत्ति के द्वारा वितथरूप में स्वीकार करना आशातना है।

(दनि. १९)

• आयं सादयति आसादणा।

जो आय—लाभ का विनाश करती है, वह आशातना है।

(दचू. प. ११)

आसीविष—आशीविष। दाढासु जस्स विसं स आसीविसो भण्णति।

जिसकी दाढ़ा में विष होता है, वह आशीविष है।

(उच्चू.पृ. १८५)

आसुपण्ण—आशुप्रज्ञ। आसुपण्णे त्ति न पुच्छितो चिंतेति, आशु एव प्रजानीते आशुप्रज्ञः।

प्रश्न करने पर जिसको चिन्तन नहीं करना पड़ता, तत्काल सब कुछ समझ लेता है, वह आशुप्रज्ञ कहलाता है।

(सूचू.१.पृ. १२६)

• **आशुप्रज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञः क्षणलवमुहूर्तप्रतिबुद्ध्यमानता।**

आशुप्रज्ञ वह है, जो प्रतिक्षण जागरूक तथा अप्रमत्त रहता है।

(सूचू.१.पृ. २२९)

• **आशुप्रज्ञः न छद्मस्थवद् मणसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते।**

जो छद्मस्थ की भांति मन से पर्यालोचित कर पदार्थों का अवबोध नहीं करता, वह आशुप्रज्ञ है।

(सूटी.पृ. १०१)

आसूरिय—आसूर्य। आसूरियाणि न तत्थ सूरौ विद्यते, अधवा एगिंदियाणं सूरौ णत्थि जाव तेईदिया असूरा वा भवन्ति।

आसूर्य अर्थात् जहां सूर्य नहीं होता, प्रकाश नहीं होता अथवा एकेन्द्रिय जीवों से त्रीन्द्रिय जीवों तक असूर्य होते हैं, उनके आंखें नहीं होतीं।

(सूचू.१.पृ. ७२, ७३)

आहेण—आहेण। आहेणं ति यद्विवाहोत्तरकालं वधूप्रवेशे वरगृहे भोजनं क्रियते।

विवाह के बाद वधू के गृहप्रवेश पर वर के घर में जो भोजन का आयोजन किया जाता है, वह आहेण (बडार का बहूमेला) कहलाता है।

(आटी.पृ. २२३)

इंगाल—अंगारा। खदिरादीण णिद्धाण धूमधिरहितो इंगालो।

खदिर आदि लकड़ियों के जल जाने पर जो धूमरहित धमधमता कोयला होता है, वह अंगार है।

(दशअचू.पृ. ८९)

इंदियदम—इन्द्रियसंयम। इंदियदमो सोइंदियपयारणिरोधो वा सद्दतिराग-दोसणिग्गहो वा।

श्रोत्रेन्द्रिय के विषय का निरोध अथवा शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष का निग्रह करना इन्द्रियदम है।

(दशअचू.पृ. ९३)

इतरेतरसंजोग—इतरेतरसंयोग। दुप्पभितीण परमाणूणं जो संजोगो सो इतरेतरसंजोगो भवति परमाणूणं।

दो-तीन आदि परमाणुओं का संयोग होना इतरेतरसंयोग है।

(उच्चू.पृ. १७)

उक्कोसणियंठ—उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ। जो उक्कोसएसु संयमद्वाणेषु वट्ठति सो उक्कोसणियंठो भण्णति।

जो उत्कृष्ट संयम-स्थानों में वर्तन करता है, वह उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ है।

(उच्चू.पृ. १४६)

उग्ग—उग्र। खत्तिएणं सुद्धीए जातो उग्गोत्ति वुच्चइ।

क्षत्रिय पुरुष से शूद्र स्त्री में उत्पन्न संतान उग्र कहलाती है।

(आचू.पृ. ५)

उज्जलण—उज्ज्वलन। उज्जलणं नाम पीयणमाईहिं जालाकरणमुज्जलणं।

पंखे आदि से अग्नि को उद्दीप्त करना उज्ज्वलन है।

(दशजिचू.पृ. १५६)

उज्जु—ऋजु। उज्जु रागदोसपक्खविरहितो।

ऋजु वह होता है, जो राग-द्वेष के पक्ष से रहित है।

(दशअचू.पृ. ६३)

उष्णपरीसह—उष्णपरीषह। जे तिष्वपरीणामा परीसहा ते भवंति उष्णा उ।

जो तीव्र परिणाम वाले परीषह हैं, वे उष्ण परीषह कहलाते हैं। (आनि-२०४)

उदाहरण—उदाहरण। तद्धम्मभावी दिट्ठतो उदाहरणं।

कथनीय धर्म का समर्थन करने वाला दृष्टान्त उदाहरण कहलाता है। (दशअचू. पृ. २०)

• तथोदाहियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति उदाहरणम्।

दार्ष्टान्तिक अर्थ को प्रबलता से प्रस्तुत करने वाला उदाहरण है। (दशहाटी. प. ३४)

उद्देसित—उद्दिष्ट। उद्देसितं ज उद्दिस्स किञ्चित्।

जो किसी को उद्दिष्ट कर बनाया जाए, वह उद्दिष्टकृत है। (दशअचू. पृ. ६)

उद्भिज—उद्भिज। उद्भिज्या नाम भूमिं भेत्तुण पंखालया सत्ता उप्पज्जति।

पृथ्वी को भेदकर उत्पन्न होने वाले पतंग आदि सत्त्व उद्भिज कहलाते हैं।

(दशजिचू. पृ. १४०)

उवगरणसंजम—उपकरणसंयम। उवगरणसंजमो महाधणमोल्लेसु वा दूसेसु वज्जणं तु संजमो।

महामूल्यवान् वस्त्रों के उपभोग का संयम उपकरणसंयम है। (दशअचू. पृ. १२)

उवज्झाय—उपाध्याय। अविदिण्णदिसो गणहरपदजोगो उवज्झातो।

जो गणधर पद के योग्य है, किन्तु अभी तक पद प्राप्त नहीं है, वह उपाध्याय है।

(दशअचू. पृ. १५)

उवधानव—उपाधनकर्ता। उवधानव जे जे सुयस्स जोगो तं तहेव करेति।

जिस-जिस सूत्र के वाचन में जितना तपोयोग का कथन है, वैसा करने वाला उपधानवान् है। (उचू. पृ. १९८)

उवधि—उपधि। उवधी नाम अन्येषां वशीकरणम्।

दूसरों को वश में करने का साधन उपधि है।

(सूचू. १ पृ. १०२)

उवमाण—उपमान। उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम्।

दृष्टान्तगत अर्थ को जो उपमित करता है, वह उपमान है।

(दशहाटी. प. ३४)

उववृहण—उपवृहण। तत्रोपवृहणं नाम समानधार्मिकाणां सद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकरणम्।

साधार्मिकों के सद्गुणों की प्रशंसा कर उनको वृद्धिगत करना उपवृहण है।

(दशहाटी. प. १०२)

उवसंति—उपशान्ति। णवस्स कम्मस्स अकरणं पोराणस्स खवणं उवसंती वुच्चति।

नए कर्मों का अबंध और बंधे हुए पुराने कर्मों का क्षपण उपशान्ति है। (आचू. पृ. ९१)

उवहाण—उपधान। उवहाणं णाम तवो जे जस्स अण्णयणस्स जोगो आगाढमणागाढो तहेव अणुपालेयव्वो।

जिस आगम के लिए जो तप विहित है, उसका उसी रूप में पालन करना उपधान है।

(दशजिचू. पृ. १००)

उवेहासंजम—उपेक्षासंयम। उवेहासंजमो—संजमवतं संभोइयं पमायंतं चोदेंतस्स संजमो, असंभोइयं

चोर्यंतस्स असंजमो, पावयणीए कज्जे चियत्ता वा से पडिचोयण ति अण्णसंभोइयं

पि चोएति, गिहत्ये कम्मायाणेसु सीदमाणे उवेहंतस्स संजमो।

सांभोजिक मुनि को प्रमाद के प्रति जागरूक करना, प्रवचन के प्रति होने वाली अवहेलना

को टालने के लिए असांभोजिक मुनि को जागरूक करना तथा कर्मादान से विषण्ण गृहस्थ को जागरूक करना उपेक्षा संयम है। (दशअचू.पृ. १२)

उस्सूलग—खाई। उस्सूलगा णाम खातिआ उवाया जत्थ परबलाणि पडंति।

वह परिखा, जहाँ शत्रुसेना गिर पड़ती है, उसे उस्सूलक कहते हैं। (उचू.पृ. १८२)

एग—शुद्ध आत्मा। एगो णाम रागद्वेषरहितो।

एक अर्थात् राग-द्वेष रहित शुद्ध आत्मा। (उचू.पृ. ६६)

एगचर—एकचर। एकचरो नाम एक एवासौ चरति, न तस्य सहायकृत्यमस्ति।

जो अकेला चलता है, जिसका कोई सहयोगी नहीं होता, वह एकचर है।

(सूचू.१ पृ. १०६)

ओगाहरुइ—अवगाढ़रुचि। ओगाहरुई नाम अणेगनयवायभंगुरं सुयं अत्थओ महता संवेगमावज्झइ एस ओगाहरुई।

जो अनेक नय और वादों—विकल्पों से युक्त गंभीर श्रुत के अर्थ को तीव्र संवेग से ग्रहण करता है, वह अवगाढ़रुचि कहलाता है। (दशजिचू.पृ. ३४)

ओय—शुद्ध। रागद्वेषविरहितं चित्तं ओअं ति भन्नति सुद्धं।

जिसका चित्त राग-द्वेष से शून्य है, जो शुद्ध है, वह ओज कहलाता है। (दचू.पृ. २७)

ओस्सा—ओस। सरयादौ णिसि मेघयन्धनो सिणेहणिसेसो तोरणा।

शरदकाल की रात्रि में मेघोत्पन्न स्नेह-विशेष को ओस कहते हैं। (दशअचू.पृ. ८८)

कंदण—क्रन्दन। कंदणं महता सहेण विरवणं संपओग-विप्पओगतं।

संयोग और वियोग के लिए जोर-जोर से चिल्लाना क्रन्दन है। (दशअचू.पृ. १७)

कप्पित—कल्पित। कप्पितं असम्भूतमपि अत्थसाहणत्थमुपपादिज्जति।

असद्भूत अर्थ की सिद्धि के लिए किया जाने वाला प्रयत्न कल्पित है।

(दशअचू.पृ. २१)

कब्बड—छोटा गांव। कब्बडं कुणगरं जत्थ जलत्थलसमुत्थवविचित्तभंडविणियोगो णत्थि।

जहाँ जल और स्थल कहीं से भी क्रय-विक्रय नहीं होता, वह कर्बट कहलाता है।

(दशजिचू.पृ. ३६०)

• **कब्बडं** णाम धुल्लओ जस्स पागारो।

वह गांव, जहाँ धूल का प्रकार हो, कर्बट कहलाता है।

(आचू.पृ. २८१)

कम्मपुरुष—कर्मपुरुष। कम्मपुरुषो नाम यो हि अतिपौरुषाणि कम्माणि करेति।

कर्मपुरुष वह व्यक्ति है, जो अति पौरुषेय कार्य करता है।

(सूचू.१ पृ. १०२)

करग—ओला। वरिसोदगं कदिणीभूतं करगो।

आकाश से गिरने वाले उदक के कठिन भाग को करक—ओला कहते हैं।

(दशअचू.पृ. ८८)

कलह—कलह। कलाभ्यो हीयते येन स कलहः।

जिससे सारी कलाएं क्षीण हो जाती हैं, वह कलह है।

(उचू.पृ. १७१)

कल्साण—कल्याण, भुक्ति। **कल्सं**—आरोग्यं तं आणेइ कल्साणं संसारातो विमोक्खणं।

कल्य का अर्थ है—आरोग्य। जो आरोग्य या स्वास्थ्य प्रदान करता है वह है कल्याण।

कल्याण का अर्थ है—संसार से मुक्त हो जाना। (दशअचू पृ. ९३)

कसायकुसील—कषायकुशील। **कसायकुसीलो** जस्स पंचसु णाणाइसु कसाएहिं विराहणा कज्जति सो कसायकुसीलोत्ति।

जो ज्ञानादि पांच प्रकार के आधारों से कषायों के द्वारा विराहना करता है, वह कषायकुशील है। (उचू पृ. १४४)

कहा—कथा। **तव**—संजमगुणधारी, जं चरणरया कहेंति सम्भावं।

सध्वजगज्जीवहिर्यं, सा उ कहा देसिया समए॥

जो तप, संयम आदि गुणों के धारक चारित्र्यश्रमण संसारस्थ प्राणियों को हितकर तथा परमार्थ का उपदेश देते हैं, वह कथा (उपदेश) कहलाती है। (दशनि १८३)

कागिणी—काकिनी। **कागिणी** णाम रुक्खगस्स असीतिमो भागो वीसोवगस्स चतुभागो।

रुपए का अस्सीवां भाग तथा विसोपग (एक सिक्का) का चौथा भाग काकिनी है।

(उचू पृ. १६१)

काम—काम। **उक्कामयंति जीवं धम्मातो तेण ते कामा**।

जो धर्म से उत्क्रान्त—दूर करता है, वह काम कहलाता है।

• **विविक्तविश्रम्भरसो हि कामः।**

एकान्त में शृंगाररस की बात करना काम है।

(सूचू १ पृ. १०५)

• **शब्द-रस-रूप-गन्ध-स्पर्शाः मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामाः।**

मोह के उदय से अभिभूत व्यक्तियों द्वारा जो इन्द्रियविषय काम्य होते हैं, वे काम कहलाते हैं। (दशहाटी प. ८५)

कायसंजम—कायसंयम। **कायसंजमो** नाम आवस्सगाइजोगे मोत्तुं सुसमाहिथणाणिपादस्स

कुम्भो इव गुत्तिदियस्स चिट्ठमाणस्स संजमो भवइ।

आवश्यक आदि संयम-योग में की जाने वाली प्रवृत्ति को छोड़कर जो हाथ-पैर से सुसमाहित तथा कूर्म की भांति गुप्तेन्द्रिय होता है, उसके 'काय-संयम' होता है।

(दशजिचू पृ. २१)

काश्य—काश्यप। **काशो** नाम इक्खु भण्णइ, जम्हा तं इक्खुं पिबति तेन काश्यपा अभिधीयंते।

काश्य का अर्थ है—इक्षु। इक्षु का पान करने वाला काश्यप कहलाता है। (दशजिचू पृ. १३२)

किति—कीर्ति। **परेहिं गुणसंसङ्गं कित्ती**।

दूसरों द्वारा किया जाने वाला गुणकीर्तन कीर्ति है।

(दशअचू पृ. २२७)

• **सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्तिः।**

सब दिशाओं में व्याप्त साधुवाद कीर्ति है।

(दशहाटी प. २५७)

किमिच्छय—किमिच्छक। **राया जो जं इच्छति तस्स तं देति एस रायपिंडो किमिच्छतो**।

याचक जो चाहता है, राजा उसको वह देता है—यह राजपिंड किमिच्छक है।

(दशअचू पृ. ६०)

कीतकड—क्रीतकृत । कीतकडं जं किणिऊण दिज्जति ।

जो खरीद कर दी जाती है, वह निर्यात प्रतीतकृत है ।

(दशअचू.पृ. ६०)

कुंडमोय—पात्र विशेष । कुंडमोयो नाम हत्थिपदागिती संठियं कुंडमोयं ।

हाथी के पांव के आकार वाला बर्तन कुंडमोद कहलाता है ।

(दशजिचू.पृ. २२७)

कुसल—कुशल । कुशलो हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिनिपुणः ।

जो अपने हितकारी कार्य में प्रवृत्त तथा अहितकारी कार्य से निवृत्त होने में निपुण होता है, वह कुशल है ।

(सूटी.पृ. ८)

कुसील—कुशील । कुत्सितं शीलं यस्य पञ्चसु प्रत्येकं ज्ञानादिषु सो कुसीलो ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा वीर्य—इन पांच प्रकार के आचारों के प्रति स्खलित आचरण वाला कुशील है ।

(उचू.पृ. १४४)

कोविदप्पा—विचक्षण । कोविदात्मा ज्ञातव्येषु सर्वेषु परिचेष्टितः ।

जिसने सभी ज्ञातव्य तथ्यों का पारायण कर लिया, वह कोविदात्मा है ।

(उचू.पृ. २३८)

कोहण—क्रोधी । परं च संजलयति दुक्खसमुत्थेण रोसेण संजलण इव कोहणो बुज्जति ।

जो दुःख से उत्पन्न रोष से दूसरों को प्रज्वलित करता है, वह संज्वलन की भांति क्रोधी है ।

(दचू.पृ. ३९)

क्षण—क्षण । खणमिति कालः सो य सत्तउत्सासणिस्सास थोवो एस एव खणो भन्नति ।

सात उच्छ्वास-निःश्वास परिमाण काल को क्षण कहा जाता है ।

(उचू.पृ. २२४)

खत्तिय—क्षत्रिय । सुदेण खत्तियाणीए जाओ खत्तिओत्ति भण्णइ ।

शूद्र पुरुष से क्षत्रिय स्त्री में उत्पन्न संतान क्षत्रिय कहलाती है ।

(आचू.पृ. ६)

खमा—क्षमा । कोहोदयस्स निरोहो कातव्वो उदयप्पत्तस्स वा विफलीकरणं एसा खमा ।

क्रोध के उदय का निरोध तथा उदयप्राप्त क्रोध का विफलीकरण क्षमा है ।

(दशअचू.पृ. ११)

खमावीरिय—क्षमावीर्य । क्षमावीर्यं आक्रुश्यमानोऽपि न क्षुभ्यति ।

आक्रोश करने पर भी जो क्षुब्ध नहीं होता, वह क्षमावीर्य है ।

(सूचू.१ पृ. १६४)

खलुंका—दुष्ट, अविनीत । जे किर गुरुपडिणीया, सबला असमाहिकारया पावा ।

अहिगरणकारगा वा, जिणवयणे ते किर खलुंका ॥

पिसुणा परोषतापी, भिन्नरहस्सा परं परिभवति ।

निव्वय-निस्सील सठा, जिणवयणे ते किर खलुंका ॥

जो गुरु के प्रत्यनीक, शबल दोष लगाने वाले, असमाधि पैदा करने वाले, पापाचरण करने वाले, कलहकारी, पिशुन, परपीड़ाकारी, गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करने वाले, दूसरों का परिभव करने वाले, व्रत और शील से रहित तथा शठ हैं—वे जिनशासन में खलुंका—अविनीत कहे जाते हैं ।

(उनि.४८८, ४८९)

खवण—कर्मक्षय करने वाला । भवं चउप्पगारं खवेमाणो खवणो भण्णइ ।

अणं कम्मं भण्णइ, जम्हा अणं खवइ तम्हा खवणो भण्णइ ।

जो चार प्रकार की गतियों का क्षय करता है अथवा जो अण—कर्मों का क्षय करता है, वह क्षपण कहलाता है। (दशजिचू.पृ. ३३३, ३३४)

खोतोदग—क्षोदोदक। खोतोदगं नाम उच्चुरसोदगस्स समुद्रस्य अथवा इहापि इक्षुरसो मधुर एव। (सूचू.१ पृ. १४८)

• खोओदए इति इक्षुरस इवोदकं यस्य इक्षुरसोदकः।

जिस समुद्र का पानी इक्षु रस की तरह मीठा है, उसे क्षोदोदक कहा जाता है। (सूटी.पृ. १००)

गंधण—गंधन कुल का सर्प। गंधणा नाम जे डसिकुण गया मंतेहिं आगच्छिया तमेव विसं वणमुवट्टिया पुणो आधिर्यति ते।

जो सर्प डस कर चले जाते हैं तथा मंत्रों से आहूत होकर लौट आते हैं और उसे हुए स्थान पर मुंह रखकर वान्त विष को पुनः चूस लेते हैं, वे गंधनकुल के सर्प होते हैं।

(दशजिचू.पृ. ८७)

गंभीर—गम्भीर। गंभीरो नाम न परीषहैः क्षुभ्यते, दांतु वा कार्तु वा णो ठसुणो भवति।

जो परीषहों से क्षुब्ध नहीं होता तथा जो देने में तथा कार्य करने में उतावला नहीं होता, वह गंभीर है। (सूचू.१ पृ. १६४)

गणहर—गणधर। यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वदेशात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग् विहरति स गणधरः।

जो आचार्य के समान होता है तथा जो आचार्य के आदेश से साधु संघ को लेकर पृथक् विहरण करता है, वह गणधर है। (आटी.पृ. २३६)

गणावच्छेदय—गणावच्छेदक। गणावच्छेदकस्तु गच्छकार्यचिन्तकः।

जो गण के कार्य के विषय में चिन्तन करता रहता है, वह गणावच्छेदक है। (आटी.पृ. २३६)

गार्गंगणिय—गार्गंगणिक। गार्गंगणिए त्ति गणाद् गणं षण्मासाभ्यन्तर एव संक्रामतीति गार्गंगणिक इत्यागमिका परिभाषा।

जो छह महीनों के भीतर एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करता है, वह मुनि गार्गंगणिक कहलाता है। (उशांटी.पृ. ४३५, ४३६)

गाथा—गाथा। मधुराभिधानजुत्ता, तेण गाह त्ति णं वेत्ति।

जो मधुर उच्चारण से युक्त होती है, वह गाथा कहलाती है। (सूनि.१३८)

• गाधीकता या अत्था अथवा सामुहएण छंदेण।

जहां बिखरे अर्थों को पिंडीकृत—एकत्रित किया जाता है अथवा जो सामुद्रिक छंद में निबद्ध होती है, उसे गाथा कहा जाता है। (सूनि.१३९)

गाम—ग्राम। ग्रसति बुद्धिमादिणो गुणा इति गामो।

जहां बुद्धि आदि गुण ग्रस्त हो जाते हैं, वह ग्राम है। (दशअचू.पृ. ९९)

गिल्लि—यान विशेष। पुरुषद्वयोत्क्षिता झोल्लिका।

दो पुरुषों द्वारा ठठाई जाने वाली कपड़े की झोली। (सूटी. पृ. २२०)

गुत्त—गुप्त। गुत्तो नाम मणसा असोभणं संकप्पं वज्जर्यतो वामाए कज्जमेत्तं भासंती।

जो मन से असत् संकल्प या चिन्तन नहीं करता तथा वचन से भी कार्यवश ही बोलता है,
वह गुप्त कहलाता है। (दशजिचू.पृ. २८८)

गुरु—गुरु। गृणन्ति शास्त्रार्थमिति गुरुः।

जो शास्त्र के अर्थ को अभिव्यक्ति देते हैं, वे गुरु हैं। (उचू.पृ. २)

गेय—गेय। गेयं णाम यद् गीयते सरसंचारेण।

स्वरसंचार से गीत जाने वाला गेय कहलाता है। (सूचू.१ पृ. ४)

गोष्टी—गोष्ठी। समवयसां समुदायो गोष्ठी।

समान वय वालों का समुदाय गोष्ठी है। (दशहाटी.प. २२)

गोत्र—गोत्र। प्रधानमप्रधानं वा करोतीति गोत्रं।

जो व्यक्ति को प्रधान या अप्रधान बनाता है, वह गोत्र है। (उचू.पृ. २७७)

गोयम—गोतम। गोतमा णाम पासंदिणो मसगजातीया, ते हि गोणं णाणाविधेहिं उवाएहि

दमिऊण गोणपोतगेण सह गिहे धाणं ओहारेंता हिंइति।

मशकजातीय अन्यतीर्थिकों का एक समूह जो छोटे बैल के साथ घूम-घूमकर अनेक ठपायों
से घरों से धान्य एकत्रित करते हैं। (सूचू.१ पृ. १५२)

गोरहग—गोरथक। गाओ जे (रहजोगा) रहमिख वा धावन्ति ते गोरहगा भण्णन्ति।

रथयोग्य बैल जो रथ की भांति दौड़ते हैं, 'गोरथक' कहलाते हैं। (दशजिचू.पृ. २५३)

गोव्वतिग—गोव्रतिक। गोव्वतिगा नि धीयारप्राया एव, ते च गोणा इव णत्थितेएलगा रंभावमाणा

गिहे गिहे सुप्पेहि गहितेहि भण्णं ओहारेमाणा विहरन्ति।

सांड की भांति गर्जते हुए जो छाज लेकर घर-घर में धान्य मांगते फिरते हैं, वे गोव्रतिक
कहलाते हैं। (सूचू.१ पृ. १५२)

घसा—पोल। घसा नाम जत्थ एगदेसे अवकममाणे सो पदेसो सव्वो चलइ सा घसा भण्णइ।

एक प्रदेश को आक्रान्त करने पर जहां सारे प्रदेश हिलने लगें, वह घसा—पोल कहलाती
है। (दशजिचू.पृ. २३१)

चंगबेर—काष्ठपात्री। चंगबेरं कट्टमयं भावणं भण्णइ।

काष्ठमयी पात्री को चंगबेर कहा जाता है। (दशजिचू.पृ. २५४)

चंडाल—चाण्डाल। सुहेण बंधणीए जाओ चंडालोत्ति पयुच्चइ।

शूद्र पुरुष से ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न संतान चांडाल कहलाती है। (आचू.पृ. ६)

चक्षुसंधण—चक्षुसंधान। चक्षुसंधणं णाम दिट्ठीए दिट्ठिसमागमो।

आंख से आंख मिलाना चक्षुसंधान है। (सूचू.१ पृ. १०५)

चरित्तविणीय—चारित्रविनीत। अट्ठविधं कम्मचयं, जम्हा रिक्तं करेति जयमाणो।

नवमन्नं च न बंधति, चरित्तविणीओ भवति तम्हा॥

जो आठ प्रकार के कर्मचय को रिक्त करता है और नया कर्म नहीं बांधता, वह चारित्रविनीत
है। (दशनि.२९४)

छठमस्थमरण—छट्मस्थमरण। मणपञ्चबोहिनाणी, सुयमइनाणी मरंति जे समणा। छठमस्थमरणमेयं.....

मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी आदि श्रमण जिस मरण को प्राप्त होते हैं, वह छट्मस्थमरण है। (उनि. २१७)

जरा—बुढ़ापा। णरो जिज्जति जेण सा जरा।

प्राणी जिससे जर्जरित होता है, वह जरा है। (आचू. पृ. १०७)

जराठय—जरायुज। जराठया णाम जे जरवेट्ठिया जायंति जहा गोमहिसादि।

जन्म के समय जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं। (दर्शजिचू. पृ. १३९, १४०)

जाणणापरिण्णा—ज्ञपरिज्ञा। जाणणापरिण्णा णाम जो जं किंचि अत्थं जाणइ सा तस्स जाणणापरिण्णा भवति।

किसी वस्तु को जानना ज्ञपरिज्ञा है। (दर्शजिचू. पृ. ११६)

जाला—ज्वाला। उद्धितोपरि अविच्छिन्ना जाला।

प्रदीप्त अग्नि से संबद्ध या अविच्छिन्न अग्निशिखा ज्वाला है। (दशअचू. पृ. ८९)

जिईदिय—जितेन्द्रिय। जिईदिओ णाम जिताणि सोयाईणि इंदियाणि जेण सो जिईदिओ।

जिसने श्रोत्र आदि इन्द्रियों को जीत लिया, वह जितेन्द्रिय कहलाता है। (दर्शजिचू. पृ. २८५)

जिह्मोगह—ज्येष्ठावग्रह। वरिसासु चत्तारि मासा एगखेतोग्गहो भवति ति जिह्मोगहो।

वर्षाकाल में मुनि चार मास एक ही क्षेत्र में रहते हैं, वह ज्येष्ठावग्रह कहलाता है। (दचू. प. ५१)

जीवत्थिकाय—जीवास्तिकाय। जीवत्थिकायो सततमुपयोगधम्मी।

जो सतत उपयोगधर्मा होता है, वह जीवास्तिकाय है। (दशअचू. पृ. १०)

जुद्ध—युद्ध। जुद्धं आयुहादीहि हणाहणी।

शस्त्रास्त्रों से मरना-मारना युद्ध है। (दशअचू. पृ. १०२)

जोगक्खेम—योगक्षेम। अप्राप्तविशिष्टधर्मप्राप्तिः प्राप्तस्य च परिपालनं योगक्षेमम्।

अप्राप्त विशिष्ट धर्म की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा करना योगक्षेम है। (उशांटी. प. २८३)

जोगव—योगवान्। जोगा वा जस्स वसे वट्ठंति स भवति योगवान्।

जिसके सभी योग—प्रवृत्तियां वशवर्ती हैं, वह योगवान् है। (सूचू. १ पृ. ५४, ५५)

ज्ञाण—ध्यान। ददमण्णवसाणं ज्ञाणं।

दृढ़ अध्यवसाय ध्यान है। (दशअचू. पृ. १६)

• एगगचिंतानिरोहो ज्ञाणं।

एकाग्रचिन्तन अथवा विचारों का निरोध ध्यान है। (दशअचू. पृ. १६)

टंकण—टंकण। टंकणा णाम म्लेच्छजातयः पार्वतेयाः ते हि पर्वतमाश्रित्य सुमहन्तमपि अस्सबलं वा हत्थिबलं वा प्रारभन्ते आगलन्ति।

पार्वतीय म्लेच्छ जाति विशेष, जो पर्वत पर रहकर बड़ी से बड़ी अश्वसेना और हस्तिसेना को भी पराजित कर देती है। (सूचू. १ पृ. ९३)

टाल—बिना गुठली का फल, कच्चा फल। टालाणि नाम अबद्धट्टिगाणि भण्णति।

जिस फल में गुठली न पड़ी हो, उसे टाल कहा जाता है। (दशजिचू. पृ. २५६)

ठितप्पा—स्थितात्मा। ठितप्पा णाण-दंसण-चरित्तेहिं।

ज्ञान, दर्शन और चरित्र में स्थित व्यक्ति स्थितात्मा कहलाता है। (सूचू. १ पृ. २४८)

• स्थितो व्यवस्थितोऽशेषकर्मविगमात्मस्वरूपे आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा।

सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से जो आत्मस्वरूप में स्थित हो गया है, वह स्थितात्मा है।

(सूटी. पृ. ९७)

णाणविणीथ—ज्ञानविनीत। नाणं सिक्खति नाणी, गुणेति नाणेण कुणति किच्चाणि।

नाणी नवं न बंधति, नाणविणीओ भवति तम्हा॥

जो ज्ञान को ग्रहण करता है, ग्रहीत ज्ञान का प्रत्यावर्तन करता है, ज्ञान से कार्य सम्पादित करता है तथा नए कर्मों का बंधन नहीं करता, वह ज्ञान विनीत कहलाता है।

(दशनि. २९३)

णाणि—ज्ञानो। णाणी णाम जो विसए जहावट्टिते पासति।

जो विषय को यथावस्थित देखता है, जानता है, वह ज्ञानी है। (आचू. पृ. ११५)

णात—ज्ञात। णज्जति अणेण अत्था णातं।

जिससे अर्थ ज्ञात होते हैं, वह ज्ञात है।

(दशअचू. पृ. २०)

ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम्।

जिससे दार्ष्टान्तिक अर्थ जाना जाता है, वह ज्ञात है।

(दशहाटी. पृ. ३४)

णिगंथ—निर्ग्रन्थ। बज्झऽब्भंतरातो गंथातो णिगतो णिगंथो।

बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ से जो अतीत है, वह निर्ग्रन्थ है।

(सूचू. १ पृ. २४६)

णिट्ठाण—निष्ठात्र। णिट्ठाणं णाम जं सव्वगुणोववेयं सव्वसंभारसंभियं तं णिट्ठाणं भण्णइ।

जो सर्वगुणसम्पन्न तथा सब प्रकार के उपस्कार से युक्त होता है, वह आहार निष्ठात्र कहलाता है।

(दशजिचू. पृ. २८१)

णिसीहिया—नैषेधिकी। णिसीहिया सज्झायधानं।

नैषेधिकी का अर्थ है—स्वाध्याय का स्थान।

(दशअचू. पृ. १२६)

णिह—निभ। जो अप्पाणं संजमतवेसु णिहेति सो णिहो।

जो स्वयं को संयम और तप में नियोजित करता है, वह निभ है।

(आचू. पृ. ७०)

णिह—वधस्थान। निहन्यन्ते प्राणिनः कर्मवशात्ता यस्मिन् तन्निहम्—आघातस्थानम्।

जहां कर्म के वशवर्ती प्राणियों का वध किया जाता है, वह स्थान 'निह' कहलाता है।

(सूटी. पृ. १३७)

णीरय—नीरज, कर्ममुक्त। णीरया नाम अट्ठकम्मपगडीविमुक्ता भण्णति।

आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त आत्माएं नीरज कहलाती हैं।

(दशजिचू. पृ. ११७)

तज्जना—तर्जना। तर्जना अंगुलिभ्रमणभूत्क्षोपादिरूपा।

अंगुलि दिखाकर या भींहे चढ़ाकर तिरस्कार करना या डांटना तर्जना है।

(उशांटी.प. ४५६)

तप—तप। तपो णाम तावयति अट्टविहं कम्मगंठिं नासेति त्ति वुत्तं भवइ।

जो आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि को तपाता है, नष्ट करता है, वह तप है।

(दशजिचू.पृ. १५)

तपोविणीय—तपोविनीत। अवणेति तपोण तपं, उवणेति य मोक्खमग्गमप्पाणं।

तप विणय-निच्छित्तमती, तपोविणीओ हवति तम्हा॥

जो तपस्या से अज्ञान को दूर करता है तथा आत्मा को स्वर्ग और मोक्ष के निकट ले जाता है, वह तपोविनीत कहलाता है।

(दशनि. २९५)

तपस्सि—तपस्वी। तपस्सी नाम जो उगगतवचरणरओ।

तपस्वी वह है, जो उग्र तपस्या के आचरण में रत रहता है।

(दशहाटी.पृ. ३१)

• तपस्सी णाम तपो बारसविधो सो जेसिं आयरिथणं अत्थि ते तपस्सिणो।

जो बारह प्रकार के तप में रत रहता है, वह तपस्वी है।

(दशअचू.पृ. २२३)

तहागय—तथागत। तहागता णाम खीणरागदोसमोहा केवलजीवसभावत्था।

जिनके राग, द्वेष और मोह सर्वथा क्षीण हो गए हैं, जो केवल आत्मस्वभाव में लीन हैं, वे तथागत हैं।

(आचू.पृ. १२२)

ताइ—त्रायी। संसारमहाभयादात्मानं त्रायतीति त्रायी।

संसार के महान् भय से आत्मा की रक्षा करने वाला त्रायी होता है।

(उचू.पृ. १७१)

तालपुड—तालपुट। तालपुडं नाम जेणंतरेण ताला संपुडिअंति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं।

जितने समय में दोनों हाथों की हथेलियां बंद की जाएं, उतने समय में जो मार देता है, वह तालपुट विष है।

(दशजिचू.पृ. २९२)

तावस—तापस। तपो से अत्थि तावसो।

जो तप करता है, वह तापस—तपस्वी है।

(दशअचू.पृ. ३७)

तिगुत्त—त्रिगुप्त। तिगुत्ता मण-वयण-कायजोगनिग्गहपरा।

जो मन, वचन और काया के योग का निग्रह करते हैं, वे त्रिगुप्त हैं।

(दशअचू.पृ. ६३)

तित्थ—तीर्थ। तित्थंति जं तेण तहिं या तरिज्जइ सि तित्थं।

जिससे या जहां से तैरा जाता है, वह तीर्थ है।

(सूचू.१ पृ. २)

तित्थगर—तीर्थकर। संसारमहाभयात्तो भवियज्जणमुपदेसेण त्रायन्तीति परतातिणो तित्थकरा।

जो भव्य लोगों को अपने उपदेश से संसार के महान् भय से त्राण देते हैं, वे परत्राता—तीर्थकर हैं।

(दशअचू.पृ. ५९)

तुंबाग—घोया। तुंबागं अं तयाए मिलाणममिलाणं अंतो त्वम्लानं।

• तुंबागे नाम अं तयामिलाणं अज्जंतरओ अइयं।

जिसकी त्वचा म्लान हो गयी हो और अंतर भाग अम्लान या आर्द्र हो, वह तुम्बाग कहलाता है। (दशअचू. पृ. ११७, दशजिचू. पृ. १८४)

थावर—स्थावर। थावरो जो थाणातो न अवलति।

जो अपने स्थान से नहीं चल पाता, वह स्थावर है। (दशअचू. पृ. ८१)

• जे एगम्नि ठाणे अवट्टिया चिट्ठति ते थावरा भण्णति।

जो एक ही स्थान पर अवस्थित रहते हैं, वे जीव स्थावर कहलाते हैं। (दशजिचू. पृ. १४७)

थिगल—थिगल नाम जं घरस्स दारं पुब्बभासी तं पडिपूरियं।

घर का वह द्वार, जो किसी कारणवश फिर से चिना हुआ हो। (दशजिचू. पृ. १७४)

थिरीकरण—स्थिरीकरण। स्थिरीकरणं तु धर्माद्विधीदतां सतां तत्रैव स्थापनम्।

धर्म में विधादप्राप्त लोगों को पुनः धर्म में स्थापित करना स्थिरीकरण है।

(दशहाटी. पृ. १०२)

थिल्लि—यानविशेष। थिल्लि त्ति वेगसराद्वयनिर्मितो यानविशेषः।

जो यान दो खच्चरों से चलता है, वह थिल्ली कहलाता है। (सूटी. पृ. २२०)

थेर—स्थविर। थेरो जाति-सुय-परियाएहिं धृद्धो जो वा गच्छस्स संधित्तिं करोति।

जन्म, श्रुत तथा संयम पर्याय में वृद्ध तथा गच्छ में अस्थिरता प्राप्त मुनि को स्थिर करने वाला स्थविर कहलाता है। (दशअचू. पृ. १५)

थेरग—स्थविर। थेरगो दंडधरितग्गहत्थो अत्यन्तदशां प्राप्तः।

जो अंतिम दशा को प्राप्त है तथा जो लाठी के सहारे चलता है, वह स्थविर है।

(सूचू. १ पृ. ८४)

दंत—दान्त। दंतो इंदिएहिं णोइंदिएहिं य।

जो इंद्रियों तथा नोइंद्रियों का दमन करता है, वह दान्त है। (दशअचू. पृ. ९३)

दंतवाक्य—दान्तवाक्य। दम्यन्ते यस्य वाक्येन शत्रवः स भवति दान्तवाक्यः।

जिसके वचन मात्र से शत्रु दान्त हो जाते हैं, वह दान्तवाक्य कहलाता है। (सूचू. १ पृ. १४८)

दंसणविणय—दर्शनविनय। दब्बाण भव्वभावा, ठवदिट्ठा जे जहा जिणवरेहिं।

ते तह सहहति नरो, दंसणविणओ भवति तम्हा॥

जिनेश्वर देव के द्वारा द्रव्यों की जितनी पर्यायें जिस प्रकार उपदिष्ट हैं, जो उन पर वैसी ही श्रद्धा करता है, वह दर्शनविनय है। (दशनि. २९२)

दविय—द्रव्य, शुद्ध। दविओ नाम रागदोसरहितो।

राग-द्वेष रहित चेतना द्रव्य कहलाती है।

(सूचू. १ पृ. १०६)

दव्वजिण—द्रव्यजिन। दव्वजिणा जे बाहिं वेरियं वा जिणति।

बाह्य शत्रुओं को जीतने वाले द्रव्यजिन हैं।

(दशअचू. पृ. ११)

दव्वपमाद—द्रव्यप्रमाद। दव्वपमादो जेण भुत्तेण वा पीत्तेण वा पमत्तो भवति।

जिस द्रव्य के खाने अथवा पीने से व्यक्ति प्रमत्त होता है, वह द्रव्य-प्रमाद है। (उचू. पृ. १०२)

द्रव्यपूजा—द्रव्यपूजा। ईसर-तलवर भाईबियाण सिव-इंद-खंद-विण्हणं।

जा किर कीरइ पूया, सा पूया द्रव्यतो होई॥

ईश्वर (धनपति), तलवर (राजा आदि), भाईम्बिक (जलदुर्ग का अधिकारी), शिव, इन्द्र, स्कन्ध, विष्णु आदि की जो पूजा की जाती है, वह द्रव्यपूजा कहलाती है। (उनि. ३०८)

द्रव्यभिक्षु—द्रव्यभिक्षु। गिहिणो विसयारंभग, उज्जुप्पणं जणं विमग्गंता।

जीवणिय दीण-किविणा, ते विज्जा द्रव्यभिक्षु ति॥

करणतिए जोगतिए, सावजे आयहेतु पर उभए।

अट्ठाऽण्डुपवत्ते, ते विज्जा द्रव्यभिक्षु ति॥

जो गृहस्थ का जीवन-यापन करते हुए विषयों में आसक्त रहते हैं, ऋजुप्रज्ञ (भोले) व्यक्तियों के पास याचना करते हैं, वे द्रव्यभिक्षु हैं तथा जो आजीविका के निमित्त दीन-कृपण अर्थात् कार्पटिक आदि भिक्षा के लिए घूमते हैं, वे भी द्रव्य भिक्षु हैं। जो तीन करण तीन योग से अपने लिए, दूसरों के लिए अथवा दोनों के लिए प्रयोजनवश अथवा अप्रयोजनवश पाप कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, वे द्रव्यभिक्षु हैं। (दशनि. ३१२, ३१५)

दिट्ठत—दृष्टान्त। दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः।

जो दृष्ट अर्थ को अंत तक ले जाता है, वह दृष्टान्त है।

(दशहाटी. प. ७५)

दिट्ठतिय—दार्ष्टान्तिक। निश्चयेन दश्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकः।

जो निश्चय से दिखाता है, निरूपित करता है, वह दार्ष्टान्तिक है।

(दशहाटी. प. ३४)

द्रुम—द्रुम। द्रूः-साहा ताओ जेसिं विज्जंति ते हुमा।

द्रु का अर्थ है शाखा। जो शाखायुक्त होते हैं, वे द्रुम कहलाते हैं।

(दशअचू. पृ. ७)

• भूमीय आगासे य दोसु माया दुमा।

जो भूमि और आकाश दोनों में समाते हैं, वे द्रुम हैं।

(दशअचू. पृ. ७)

देव—देव। दीवं आगासं तम्मि आगासे जे वसंति ते देवा।

जो दिव-आकाश में निवास करते हैं, वे देव हैं।

(दशअचू. पृ. १५)

दोगुंदग—क्रीडाप्रधान देव। नित्यं भोगपरायणा दोगुंदगा इति भण्णति।

(उशांटी. प. ४५१)

जो सदैव भोग में रत रहते हैं, वे दोगुंदक देव कहलाते हैं।

धम्म—धर्म। धारेति दुगतिमहापडणे पतंतमिति धम्मो।

दुर्गति के महान् गढ़ में गिरते हुए को जो धारण कर लेता है, बचा लेता है, वह धर्म है।

(दशअचू. पृ. ९)

धम्मकहा—धर्मकथा। धम्मकहा णाम ओ अहिंसाइलकखणं सव्वण्णुपणीयं धम्मं अपणुओगं

या कहेइ एसा धम्मकहा।

जिसमें सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत अहिंसा धर्म का प्रतिपादन हो अथवा उसकी विशेष व्याख्या हो, वह धर्मकथा है।

(दशहाटी. प. ३२)

धम्मत्थकाम—धर्मार्थकाम। धम्मस्स अत्थं कामयंतीति धम्मत्थकामा।

धर्म के अर्थ की कामना करने वाले धर्मार्थकाम हैं।

(दशअचू. पृ. १३९)

धम्मस्थिकाय—धर्मास्तिकाय । धम्मस्थिकायो गतिपरिणयस्स गमणोवकारि त्ति गतिसभावो गतिलक्षणो ।

गति में परिणत जीव और पुद्गल की गति में उपकारी, गतिस्वभाव तथा गतिलक्षण वाला पदार्थ धर्मास्तिकाय है । (दशअचू.पृ. १०)

धारणा—धारण । अतीतगंधधारणं धारणा ।

अतीत को धारण करना—स्मृति में रखना धारणा है । (दशअचू.पृ. ६७)

धीर—धीर । धीरो इति बुद्ध्यादीन् गुणान् दधातीति धीरः ।

जो बुद्धि आदि गुणों से युक्त है, वह धीर है । (सूचू.१ पृ. २१)

धुममोह—मोह जीतने वाला । धुममोहा नाम जितमोह त्ति पुत्तं भवइ ।

मोह जीतने वाले को धुतमोह कहा जाता है । (दशजिचू.पृ. ११७)

धुवजोगी—ध्रुवयोगी । ध्रुवजोगी णाम जो खण-लव-मुहुत्तं पडिबुण्णमाणादिगुणजुत्तो सो ध्रुवजोगी ।

जो क्षण, लव, मुहुत्त—प्रतिपल जागरूकता आदि गुणों से युक्त होता है, वह ध्रुवयोगी है । (दशजिचू.पृ. ३४१)

धुवमग्ग—ध्रुवमार्ग । धुवमग्गो णाम संजमो विरागमग्गो वा ।

संयम अथवा वैराग्य का मार्ग ध्रुवमार्ग है । (सूचू.१ पृ. १०९)

नगर—नगर । ण एत्थ करो विज्जतीति नगरं ।

जहां कर नहीं लगता, वह नकर—नगर है । (आचू.पृ. २८१)

नरक—नरक । नयन्ते तस्मिन् पापकर्मा स्वकर्मभिरिति नारकाः ।

जिसमें पापी अपने कर्म से ले जाए जाते हैं, वे नरक हैं । (उचू.पृ. १३८)

नाग—नाग । न तेषां किञ्चिज्जलं थलं वा अगम्यमिति नाग ।

जिनके लिए जल या स्थल कुछ भी अगम्य नहीं रहता, वे नाग (नागकुमार देव) हैं । (सूचू.१ पृ. १४८)

नाहियवादि—नास्तिकवादी । नास्त्यात्मा एवं वदनशीलः नाहियवादी ।

जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिकवादी है । (दचू.पृ. ३६)

निगमण—निगमन, उपसंहार । पतिण्णाए पुणो वयणं निगमणं ।

प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन है । (दशअचू.पृ. २०)

निण्हव—निहव । निण्हवो णाम पुच्छितो संतो सव्वहा अवलवइ ।

पूछने पर जो सर्वथा अपलाप करता है, वह निहव है । (दशजिचू.पृ. २८५)

निद्देशवत्ति—निर्देश का पालन करने वाला । निद्देशवत्तिणो नाम जमाणवेति तं सव्वं कुब्बंतीति निद्देशवत्तिणो ।

जो गुरु की आज्ञा का उसी रूप में पालन करते हैं, वे निर्देशवर्ती कहलाते हैं । (दशजिचू.पृ. ३१४)

निम्मम—ममत्वरहित । नास्य कलत्र-मित्र-वित्तादिसु बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु ममता विद्यते इति निर्म्मम ।

जिसको स्त्री, मित्र, धन आदि बाह्य वस्तुओं में तथा आभ्यन्तर परिग्रह में ममता नहीं है, वह निर्म्मम होता है । (सूचू.१ पृ. १७६)

नियाग—नित्याग्र। **नियामं प्रतिणियतं जं णिब्बन्धकरणं।**

प्रतिनियत तथा प्रतिबद्ध भिक्षा नित्याग्र है।

(दशअचू.पृ. ६०)

निरासय—आशा रहित। **निग्गता आसा अपसत्था जस्स सो निरासए।**

जिसमें अप्रशस्त आशा नहीं होती, वह निराशक है।

(दशजिचू.पृ. ३२८)

निव्वेयणी—निर्वेदनी कथा। **पावाणं कम्माणं, असुभविधागो कहिज्जए जत्थ।**

इह य परत्थ य लोए, कहा उ निव्वेयणी णाम॥

जिस कथा में इहलौकिक और पारलौकिक पाप कर्मों के अशुभ विपाक का वर्णन होता है, वह निर्वेदनी कथा है।

(दशनि. १७४)

निसग्गरुइ—निसर्गरुचि। **निसग्गरुइ णाम निसग्गो सहावो सहावेण चेष जिणपणीए भावे रोयइ बहुजणमज्जे य महता संवेगसमावण्णो पसंसइ एस निसग्गरुइ।**

जो स्वभावतः जिनप्रणीत भावों/पदार्थों में रुचि रखता है तथा तीव्र वैराग्य के कारण जनता से प्रशंसित होता है, वह निसर्गरुचि है।

(दशजिचू.पृ. ३३)

निसाद—निषाद। **बंभणेण सुदीए जातो निसादो सि युच्चति।**

ब्राह्मण पुरुष से शूद्र स्त्री में उत्पन्न व्यक्ति निषाद कहलाता है।

(उचू.पृ. ९६)

निसेज्जा—निषद्या। **निषद्या स्वाध्यायभूम्यादिकां यत्र निषद्यते।**

जहां बैठकर स्वाध्याय आदि किया जाता है, वह निषद्याभूमि/स्वाध्यायभूमि है।

(उशांटी.प. ४३४)

पओगकम्म—प्रयोगकर्म। **जम्मि पओए वट्टमाणो कम्मपोग्गले गिण्हइ तं पओगकम्मं।**

जिस प्रयोग में प्रवृत्त होकर जीव कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह प्रयोगकर्म है।

पंक—पङ्क। **पङ्को नाम स्वेदाबद्धो मलः।**

(आचू.पृ. ४८)

पसीने के साथ शरीर पर जमा हुआ मैल पंक कहलाता है।

(उचू.पृ. ७९)

पंडिय—पंडित। **पंडिता इति सा बुद्धिपरिकम्पिता जेसिं ते।**

जिनकी बुद्धि परिकर्मित होती है, वे पंडित कहलाते हैं।

(दशअचू.पृ. ४८)

• **पापाङ्गीनः पण्डितः पण्डा या बुद्धिः पण्डितः।**

जो पापों से रहित है, जिसकी बुद्धि पंडा—तत्त्वानुगा है, वह पंडित है।

(उचू.पृ. २८)

• **पंडिया णाम वत्ताणं भोगाणं पडियाइयणे जे दोसा परिजार्णति पंडिया।**

जो त्यक्त भोगों के पुनः सेवन से होने वाले दोषों को जानते हैं, वे पंडित कहलाते हैं।

(दशजिचू.पृ. ९२)

पक्खपिंड—पक्षपिंड। **पक्खपिंडो दोहिं वि बाहाहिं उरुगजाणूणि घेतूण अच्छणं।**

दोनों हाथों से घुटनों एवं साथल को वेष्टित करके बैठना पक्षपिंड है।

(उचू.पृ. ३५)

पगासभोइ—प्रकाशभोजी (दिन में भोजन करने वाला)। **प्रकाशभोइ दिवसतो भुजति न रात्री।**

जो दिन में भोजन करता है, रात में नहीं, वह प्रकाशभोजी है।

(दचू.प. ४०)

पच्चक्खाणपरिण्णा—प्रत्याख्यानपरिज्ञा। **पच्चक्खाणपरिण्णा नाम पाव कम्मं जाणिऊण तस्स पावस्स जं अकरणं सा पच्चक्खाणपरिण्णा भवति।**

पापकर्म को जानकर उस पाप को नहीं करना प्रत्याख्यान परिज्ञा है। (दशजिचू.पृ. ११६)

पच्चक्खायपावकम्म—प्रत्याख्यात पापकर्मा। **पच्चक्खायपावकम्मो** नाम निरुद्धासवदुवारो भण्णति।

जो आसव-द्वारों का निरोध कर देता है, वह प्रत्याख्यातपापकर्मा है। (दशजिचू.पृ. १५४)

पच्चाजाति—प्रत्याजाति। **जत्तो चुओ भवाओ, तत्थेव पुणो वि जह हवति जम्मं सा खलु पच्चाजाति.....।**

एक भव से च्युत होकर पुनः उसी में जन्म लेना प्रत्याजाति है। (दनि.१३२)

पडिभा—प्रतिभा। **पभणति वा पतिभा श्रोतॄणां संशयोच्छेत्ता।**

जो श्रोताओं के संशय का उच्छेद करती है, वह प्रतिभा है। (सूचू.१ पृ. २३३)

पडिसेवणा—प्रतिसेवना। **सम्माराहणविवरीया पडिगया वा सेवणा पडिसेवणा।**

सम्यक् आराधना के विपरीत जो आसेवना है, वह प्रतिसेवना है। (उचू.पृ. १४४)

पडिहयपावकम्मा—पाप कर्मों को प्रतिहत करने वाला। **पडिहयपावकम्मो** नाम नाणावरणादीणि अट्ठ

कम्माणि पत्तेयं जेण हयाणि सो पडिहयपावकम्मो।

जिसने ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म का नाश कर दिया है, वह प्रतिहतपापकर्मा है।

(दशजिचू.पृ. १५४)

पणगसुद्धम—पनकसूक्ष्म। **पणगसुद्धमं** नाम पंचवण्णो पणमो वासासु भूमिकट्ट-उवगरणादिसु

तहव्वसमवण्णो पणगसुद्धमं।

वर्षा में भूमि, काठ और उपकरण (वस्त्र) आदि पर उस द्रव्य के समान वर्ण वाली जो

काई उत्पन्न होती है, वह पनक सूक्ष्म कहलाती है। (दशजिचू.पृ. २७८)

पण्णापरीसह—प्रज्ञापरीषह। **प्रज्ञापरीसहो** नाम सो हि सति प्रज्ञाने तेण गव्वितो भवति तस्स प्रज्ञापरीषह।

प्रज्ञा का गर्व करना प्रज्ञा परीषह है। (उचू.पृ. ८२)

पतिण्णा—प्रतिज्ञा। **साहणीयनिदेसो पतिण्णा।**

साधनीय का निर्देश प्रतिज्ञा है। (दशअचू.पृ. २०)

पम्भारा—प्राग्भारा (जीवन की एक अवस्था)। **भाषिते चेष्टिते वा भारेण नत इव चिद्धए पम्भारा।**

बोलते अथवा काम करते समय भार से नत व्यक्ति की भांति झुके रहने की अवस्था प्राग्भारा

अवस्था है। (दचू.प. ३)

परमदंसि—परमदर्शी। **मोक्खो वा परं पस्सतीति परमदंसो।**

जो मोक्षदर्शी है, वह परमदर्शी है। (आचू. पृ. ११४)

परिनिव्वुड—परिनिर्वृत। **परिनिव्वुडो** नाम जाइ-जरा-मरण- रोगादीहिं सव्वप्पगारेण वि विप्पमुक्क

ति वुत्तं भवइ।

जो जन्म, जरा, मरण तथा रोग आदि से मुक्त हैं, वे परिनिर्वृत कहलाते हैं।

(दशजिचू.पृ. ११७)

• **परिनिव्वुत्ता** समता णिव्वुत्ता सव्वप्पकारं घातिभवधारणकम्मपरिक्खते।

जो घातिकर्मों का तथा भवधारणीय कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर देते हैं, वे परिनिर्वृत कहलाते

हैं। (दशअचू.पृ. ६४)

• परिणिव्वुतो नाम रागद्वेषविमुक्तो ।

जो रागद्वेष से विमुक्त है, वह परिनिवृत है ।

(उचू.पृ. १९३)

परियट्ठण—परिवर्तना, चितारना । परियट्ठणं पुब्बपटितस्स अब्भसणं ।

पूर्व पटित का अभ्यास करना परिवर्तना है ।

(दशअचू.पृ. १६)

परियागवत्थवणा—पर्यायव्यवस्थापना । पब्बज्जापरियातो पज्जोसमणावरिसेहिं गणिज्जंति तेण

परियागवत्थवणा भण्णति ।

प्रब्रज्या पर्याय को पर्युषणा कल्प से गिना जाता है, वह पर्याय-व्यवस्थापना कहलाती है ।

(दचू.प. ५१)

परिव्वायग—परिव्राजक । सव्वसो पापं परिवज्जयंतो परिव्वायगो भण्णइ ।

सर्वथा पाप का वर्जन करने वाला परिव्राजक कहलाता है । (दशजिचू.पृ. ७३, ७४)

परुहत्थिया—पर्यस्तिका, पालथी । पर्यस्तिका जानुजंघोपरिधस्त्रवेष्टनात्मिका ।

घुटनों और जंघाओं के चारों ओर वस्त्र बांधकर बैठना पर्यस्तिका है । (उशांटी.प. ५४)

पवा—प्रपा, प्याऊ । पवा जत्थ पाणितं पिज्जइ ।

जहां पानी पिलाया जाता है, वह प्रपा है ।

पथियक्खण—प्रविचक्षण । पथियक्खणा वायाए वि परिगाहणसमत्था ।

कथन मात्र से अर्थ को ग्रहण कराने में समर्थ व्यक्ति प्रविचक्षण कहलाता है ।

(दशअचू.पृ. ४८)

पव्वइय—प्रव्रजित । पव्वइओ नाम पापाद्धिरतो प्रव्रजितः ।

जो पाप से विरत है, वह प्रव्रजित कहलाता है ।

(दशजिचू.पृ. ७३,)

पाओवगमण—प्रायोपगमन । पाओवगमणं जं निप्पडिकम्मो पायवो विव जहापडिओ अच्छति ।

वृक्ष की शाखा की भांति निश्चेष्ट तथा शरीर के प्रति निष्प्रतिकर्म रहना प्रायोपगमन अनशन है ।

(दशअचू.पृ. १२)

पागार—प्राकार । प्रकर्वेण मर्यादया च कुर्वन्ति तमिति प्राकाराः ।

जो विशाल तथा परिमाण—मर्यादा से निर्मित होता है, वह प्राकार है ।

(उशांटी.प. ३११)

पायच्छित्त—प्रायश्चित्त । पापं छिनत्तीति पापच्छित् अथवा यथावस्थितं प्रायश्चित्तं शुद्धमस्मिन्निति प्रायश्चित्तम् ।

जो पाप का छेदन करता है, वह पापच्छित् अर्थात् प्रायश्चित्त है । अथवा जिसमें चित्त प्रायः

यथावस्थित होकर शुद्ध हो जाता है, वह प्रायश्चित्त है ।

(दशहाटी.प. ३०)

पायव—पादप । पादेहिं पिबंति पालिज्जंति वा पायवा ।

जो पैरों (जड़ों) से पीते हैं अथवा पालित होते हैं, वे पादप (वृक्ष) हैं ।

(दशअचू.पृ. ७)

पारगामि—पारगामी । जे पुण अप्पसत्थरतिविणियट्ठा पसत्थरतिआठट्ठा विमुत्ता ते जणा पारगामिणो ।

जो अप्रशस्त रति से विनिवृत्त और प्रशस्त रति में प्रवृत्त रहते हैं, वे पारगामी हैं ।

(आचू.पृ. ५९)

पाव—पाप। पभूतं पातयतीति पावः।

जो बहुत नीचे गिराता है, वह पाप है।

(दशअचू पृ. १३३)

पावग—पाप। पावगं नाम असुभकम्मोवचओ घण-चिक्कणो भण्णइ।

अत्यन्त स्निग्ध अशुभ कर्मों का उपचय पाप है।

(दशजिचू पृ. १५८)

पावक—पावक, अग्नि। पावं व हव्यं सुराणं पावयतीति पावकः।

जो हव्य को देवताओं तक पहुंचाता है, वह पावक (अग्नि) है।

(उचू पृ. ९९)

पासंडि—पाषंडी। अट्टविहकम्मपासादो घरपासादो वा डीणे पासंडी।

अष्ट प्रकार के कर्म रूपी प्रासाद में अथवा गृह प्रासाद में रहने वाला पाषंडी है।

(दशअचू पृ. ३७)

पासणिय—प्राश्निक। प्रश्नेन राजादिकिवृत्तरूपेण दर्पणादिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निकः।

राजा आदि के इतिहास-ख्यापन तथा दर्पण, अंगुष्ठ आदि विद्या के द्वारा आजीविका चलाने वाला प्राश्निक कहलाता है।

(सूटी पृ. ४६)

पासस्थ—पार्श्वस्थ। पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थाः।

जो ज्ञान आदि के पार्श्व में स्थित हैं, वे पार्श्वस्थ हैं।

(सूचू १ पृ. ९७)

पासाद—प्रासाद। प्रसीदंति अस्मिन् जनस्य नयनमनांसि इति प्रासादः।

जिसको देखकर मनुष्य के नयन और मन प्रसन्न हो जाते हैं, वह प्रासाद है।

(उचू पृ. १८९)

• **पासादो समालको घरविसेसो।**

मंजिलों से युक्त गृह विशेष प्रासाद कहलाता है।

(दशअचू पृ. ११७)

पिंडोलग—पिंडोलक, भिक्षा में आसक्त संन्यासी। पिंडेसु दीयमाणेसु ओलंति पिंडोलगा।

जो दीयमान पिंड—भिक्षा में आसक्त होते हैं, वे पिंडोलक हैं।

(उचू पृ. १३८)

पिड्ढमंसिय—चुगलखोर। पिड्ढीमंसं खायतीति पिड्ढमंसितो।

जो पीठ का मांस खाते हैं अर्थात् पीठ के पीछे अनर्गल बात कहते हैं, वे पृष्ठमांसी (चुगलखोर) होते हैं।

(दचू प. ३९)

• **पिड्ढमंसितो**—परमुहस्स अवण्णं बोद्धे अगुणे भासति णाणादिसु।

जो परोक्ष में किसी का अवर्णवाद कहता है, ज्ञान आदि विषयक अगुण की उद्भावना करता है, वह पृष्ठमांसी—चुगलखोर है।

(दचू प. ७)

पिशुण—पिशुन। प्रीतिशून्य इति पिशुनः।

जो प्रीतिशून्य होता है, वह पिशुन है।

(उचू पृ. १३३)

पुंडरीय—पुण्डरीक। तिरिच्छणा मणुस्सा, देवगणा चेव होंति जे पवरा। ते होंति पोंडरीया

तिर्यञ्च, मनुष्य और देवताओं में जो श्रेष्ठ होते हैं, वे पोंडरीक कहलाते हैं। (सूनि १४७)

पुरिस—पुरुष। प्रीणाति चात्मानमिति पुरुषः। पूर्णो वा सुख-दुःखानामिति पुरुषः। पुरि शयनाद्वा पुरुषः।

१. जो आत्मा को प्रीणित करता है, वह पुरुष है।

२. जो सुख-दुःख से प्रतिपूर्ण है, वह पुरुष है।

३. जो शरीर में निवास करता है, वह पुरुष है। (उचू.पृ. १४७)

पुरेकम्म—पूर्वकर्म दोष (भिक्षा का दोष)। पुरेकम्मं नाम जं साधूणं ददूणं हत्थं भायणं धोवइ तं पुरेकम्मं भण्णइ।

साधु को देखकर भिक्षा देने के निमित्त पहले सजीव जल से हाथ, कड़हड़ी आदि धोना पूर्वकर्म दोष है। (दशजिचू.पृ. १७८)

पुलाग—पुलाक। पाण-दंसण-चरित्तं निस्सारत्तं जो उवेति सो पुलागो।

जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र को निस्सार कर देता है, वह पुलाक (निर्ग्रन्थ) है।

(उचू.पृ. १४४)

पुव्वदिसा—पूर्वदिशा। जस्स जओ आइच्चो उदेति सा तस्स होति पुव्वदिसा।

जिस क्षेत्र में जिस ओर सूर्य उदित होता है, वह उस क्षेत्र के लिए पूर्वदिशा है।

(आनि.४७)

• जत्थ य ओ पण्णवओ, कस्स वि साहति दिसाण उ निमित्तं। जत्तो मुहो य ठायइ सा पुव्वा..।

कोई प्रज्ञापक जहां स्थित होकर दिशाओं के आधार पर निमित्त—ज्योतिष् का कथन करता है, वह जिस ओर अभिमुख है, वह पूर्वदिशा है। (आनि.५१)

पूयणट्ठि—पूजार्थी। पूयणट्ठी णाम पूया-सक्कारादि पत्थेति।

जो सत्कार-पूजा आदि को वांछा करता है, वह पूजार्थी है। (सूचू.१ पृ. २४८)

पूयणा—पूतना। पात्तयन्ति धर्मात् पासयन्ति वा चारित्रमिति पूतनाः।

जो धर्म से नीचे गिराती है अथवा चारित्र को बांध देती है, वह पूतना है।

(सूचू.१ पृ. ९९)

पेशल—पेशल। पेशलो नाम पेशलवाक्यः अथवा विनयादिभिः शिष्यैः गुणैः प्रीतिमुत्पादयति पेशलः।

जो मृदुभाषी है, वह पेशल है। जो विनय आदि शिष्य-गुणों से प्रीति उत्पन्न करता है, वह पेशल है। (सूचू.१ पृ. २२२)

पोगलपरियट्ट—पुद्गलपरिवर्त। सव्वपोगला जावतिण्ण कालेण सरीरफास-अशनादीहिं फासिज्जंति सो पोगलपरियट्टो भवति।

समस्त पुद्गल जितने काल में अशन आदि के द्वारा शरीर का स्पर्श करते हैं, वह

पुद्गलपरिवर्त है। (उचू.पृ. १८९)

फलग—फलक। फलगं जत्थ सुप्पति।

जिस पर सोया जाता है, वह फलक है।

(दशअचू.पृ. ९१)

बठस—बकुश। सरीरोपकरणाविभूषाऽनुवर्तिनः ऋद्धियशकामाः सातागौरवाश्रिताः

अविधिवत्परिवारः छेदशबलचारित्तजुत्ता णिगंथा बठसा भण्णंति।

शरीर और उपकरणों की विभूषा में रत रहने वाले, ऋद्धि और यश की कामना करने वाले, साता और तीन गौरवों में संलग्न, परिवार में आसक्त तथा शबल चारित्र से युक्त निर्ग्रन्थ बकुश कहलाते हैं। (उचू. पृ. १४४)

बंध—बन्ध। कम्मयदव्वेहि समं, संजोगो होति जो उ जीवस्स। सो बंधो नायव्वो...।

जीव का कर्म-पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होना बंध है। (आनि. २७९)

• बंधो णाम यदात्मा कर्मयोग्यपुद्गलानां स्वदेशैः परिणमयति परस्परं क्षीरोदकवत् तदा बंधो भवति।

कर्मयोग्य पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत् लोलीभूत हो जाना बंध है। (उचू. पृ. २१)

बंध—ब्रह्म। बृंहति बृंहितो वा अनेनेति ब्रह्मः।

जो व्यापक है अथवा जिससे व्यापकता होती है, वह ब्रह्म है। (उचू. पृ. २०७)

बंधण—ब्राह्मण। अट्टारसविधो बंधं धारयतीति बंधणो।

अठारह प्रकार के ब्रह्म को धारण करने वाला ब्राह्मण है। (दशअचू. पृ. २३४)

बहुमाण—बहुमान। भावओ नाणमंतेसु णेहपडिबंधो बहुमाणो।

ज्ञानियों के प्रति अंतःकरण से स्नेहप्रतिबद्धता बहुमान है। (दशअचू. पृ. ५२)

बहुस्सुत—बहुश्रुत। परिसमसगणिपिट्ठगज्झयणस्सवणेण य विसेसेण य बहुस्सुतो।

जो गणिपिटक—द्वादशांगी के अध्ययन और श्रवण-विशेष को परिसंपन्न कर लेता है, वह बहुश्रुत कहलाता है। (दशअचू. पृ. २५६)

बोक्कस—बोक्कस। निसाएणं अंबट्टीए जातो सो बोक्कसो भवति।

निषाद पुरुष से अंबट्टी स्त्री में उत्पन्न संतान बोक्कस कहलाती है। (उचू. पृ. ९६)

• निसाएण सुद्धीए जातो सो वि बोक्कसो।

निषाद पुरुष से शूद्र स्त्री में उत्पन्न संतान भी बोक्कस कहलाती है। (आचू. पृ. ६)

भगव—भगवान्। अत्थ-जस-धम्म-लच्छी-रूप-सत्त-विभवाण छण्हं एतेसिं भग इति णामं,

जस्स संति सो भण्णति भगवं।

भग के छह प्रकार हैं— अर्थ, यश, धर्म, लक्ष्मी, रूप और सत्त्व। जिसको 'भग'—वैभव प्राप्त है, वह भगवान् है। (उचू. पृ. ५१)

भत्ति—भक्ति। भत्ती पुण अभ्भुट्ठाणाति सेवा।

अभ्युत्थान आदि से सेवा करना भक्ति है। (दशअचू. पृ. ५२)

भवंत—भवान्त। भवमवि चतुप्पगारं खवेमाणो भवंतो भवति।

नरक आदि चारों प्रकार के भव—संसार का क्षय करने वाला भवान्त कहलाता है।

(दशअचू. पृ. २३३)

भवजीवित—भवजीवित। जस्स उदएण णरगादिभवगाहणेसु जीवति जस्स य उदएण भवातो भवं गच्छति एतं भवजीवितं।

जिस कर्म के उदय से प्राणी नरक आदि भवों में जीता है, अथवा जिस कर्म के उदय से एक भव से दूसरे भव में जाता है, वह भवजीवित कर्म है। (दशअचू. पृ. ६६)

भवाठ—भवायु। जेण य धरति भवगतो, जीवो जेण उ भवाठ संकमई। जाणाहि तं भवाठ....॥

जिसके आधार पर जीव भव धारण करता है अथवा भवायुष्य संक्रमित होता है, वह भवायु है। (दशअचू. पृ. ६६)

भारियकम्मा—भारीकर्मा । जो गुण निष्कलापिते लक्षणोन्नेज्ज क्खेत्तु सो खलु भारियकम्मा ।

जो बिना प्रयोजन हो अति उत्कर्ष से कर्मबन्ध करता है, वह भारीकर्मा है ।

(दचू.प. १२)

भावगणि—भावगणी । भावगणी गुणसमंतितो गुणोवपेतो अट्ठविधाए गणिसंपदाए ।

गुणों से तथा आठ गणि-संपदाओं से युक्त गणी भावगणी कहलाता है । (दचू.प. १६)

भावचित्त—भावचित्त । अकुसलमणनिरोही, कुसलाणं उदीरणं च जोगाणं । एयं तु भावचित्तं.... ॥

अकुशल योगों का निरोध तथा कुशल योगों की उदीरणा भावचित्त है । (दनि.३३/१)

भावज्झवण—भावक्षपण । अट्ठविहं कम्मरयं, पौराणं जं खवेइ जोगेहिं ।

एयं भावज्झवणं, जेयव्वं आणुपुव्वीए ॥

जो बंधे हुए चिरन्तन आठ प्रकार के कर्म-रजों को विनष्ट करता है, वह परम्परा से भावक्षपण कहलाता है । (उनि.११)

भावतित्थ—भावतीर्थ । जतो णाणादिभावतो मिच्छत-उण्णाणा-उविरतिभवभावेहिं तो तारयति तेण भावतित्थं ति । अधवा क्रोध-लोभ-कम्मरय-दाह-तण्हाछेद-कम्ममलावणयणमेगीतियमच्चंतियं च तेण कज्जति ति अतो भावतित्थं ।

जो ज्ञान आदि की भावना से मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति आदि भावों से बचाता है तथा क्रोध, लोभ, कर्म, दाह, तृष्णा तथा कर्ममल का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक अपनयन करता है, वह भावतीर्थ है । (सूचू.१ पृ. २)

भावधुय—भावधुत । अहियासित्तुवसगे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य ।

जो विहुणइ कम्माई, भावधुतं तं विषाणाहि ॥

जो देवता सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों को सहन कर कर्मों का धुनन करता है, वह भावधुत है । (आनि.२५२)

भावपुलाय—भावपुलाक । भावपुलाए जेण मूलगुण-उत्तरगुणपदेण पडिसेविण निस्सारो संजमो भवति सो भावपुलाओ ।

मूलगुण और उत्तरगुण की प्रतिसेवना से जिसका संयम निस्सार हो जाता है, वह भावपुलाक है । (दशजिचू.पृ. ३४६)

भावपूया—भावपूजा । तित्थगरकेवलीणं, सिद्धायरियाण सव्वसाहुणं ।

जा किर कीरइ पूया, सा पूया भावतो होइ ॥

तीर्थकर, केवली, सिद्ध, आचार्य और समग्र साधुओं की जो पूजा की जाती है, वह भाव पूजा है । (उनि.३०९)

भावसत्थ—भावशस्त्र । भावसत्थं कायो धाया मणो य दुप्पणिहियाई ।

मन, वचन और काया का दुष्प्रणिधान भावशस्त्र है । (आचू.पृ. ८)

भावसुत्त—भावसुप्त । भावसुत्तस्तु ज्ञानादिविरहितः अज्ञानी मिथ्यादृष्टिरचारित्री च ।

जो ज्ञान आदि से शून्य है—अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि और अचारित्री है, वह भावसुप्त है ।

(सूचू.१ पृ. ५१)

भिक्षु—भिक्षु। जो भिक्षुं खलु खलु सो भिक्षु।

जो क्षुत्—कर्म का भेदन करता है, वह भिक्षु कहलाता है।

(उनि. ३६८)

भित्ति—भित्ति। नदितडीतो जवोवहलिया सा भित्ति भण्णति।

नदी के तट पर पानी के वेगवान् प्रवाह से पड़ी हुई दरार 'भित्ति' कहलाती है।

(दशजिचू. पृ. २७५)

मंगल—मङ्गल। मंगं लातीति मंगलं अथवा मां गालयते भवादिति मंगलं।

मंग अर्थात् कल्याण। जो कल्याण को लाता है, वह मंगल है। जीवन से मा—विघ्न को दूर करने वाला मंगल है।

(उचू. पृ. ४)

• शास्त्रस्य मा गलौ भूदिति मंगलं।

शास्त्र (की परिसमाप्ति) में कोई विघ्न न हो, वह मंगल है।

(उचू. पृ. ४)

• मं संसारिकेभ्यो अपायेभ्यः गलतीति मंगलं।

जो सांसारिक अपाय को दूर करता है, वह मंगल है।

(दशजिचू. पृ. २)

• सम्यग्दर्शनादिमार्गलयनाद्वा मंगलम्।

सम्यग्दर्शन आदि के मार्ग में लीन करने वाला मंगल है।

(सूचू. १ पृ. २)

• मंग्यते हितमनेनेति मंगलम्, मङ्गयते (अधिगम्यते) साध्यत इत यावत्। अथवा मंगः—धर्म ला— आदाने मंगं लातीति मंगलम्।

जिससे हित साधा जाता है अथवा प्राप्त किया जाता है, वह मंगल है। मंग का अर्थ है धर्म, जो धर्म को प्राप्त कराता है, वह मंगल है।

(सूचू. १ पृ. २)

मंजुल—मञ्जुल, मनोरम। मणसि लीयते मनोऽनुकूलं वा मंजुलम्।

जो मन में समा जाता है, वह मंजुल है। जो मनोनुकूल है, वह मंजुल है।

(सूचू. १ पृ. १०६)

मंद—मन्द। मंदा नाम बुद्ध्यादिभिरपचिता।

जो बुद्धि आदि से शून्य है, वह मन्द है।

(उचू. पृ. १७३)

मंदबुद्धि—स्थूलबुद्धि। जस्स बूला बुद्धी सो मंदबुद्धी भण्णइ।

जिसकी बुद्धि स्थूल है, वह मंदबुद्धि है।

(उचू. पृ. १७२)

मंसखल—मांस सुखाने का स्थान। मसखलं जत्थ मंसा सुक्खाविंति सुक्खस्स वा कहवस्सा कता।

जहाँ मांस सुखाया जाता है तथा सूखे मांस के टुकड़े किए जाते हैं, वह मांसखल है।

(आचू. पृ. ३३५)

मडंब—मडम्ब। मडंबो जस्स अइठाइजेहि गाउएहि णत्थि गाभो।

जिसके चारों ओर ढाई कोस तक कोई गांव नहीं होता, वह मडम्ब कहलाता है।

(आचू. पृ. २८१)

मणविणय—मानसिक विनय। मणविणयो आयरियादिसु अकुसलमणवज्जणं कुसलमणउदीरणं।

आचार्य आदि गुरुजनों के प्रति अमंगलकारी मन (भावना) का निरोध तथा मंगलकारी मन (भावना) की उदीरणा मानसिक विनय है।

(दशअचू. पृ. १५)

मणि—मणि। मण्यते मन्यते वा तमलङ्कारमिति मणिः।

जो उस-उस अलंकार को श्रेष्ठ बना देता है, वह मणि है। (उचू.पृ. १५१)

मणोरम—मनोरम। मणोरमे मणांसि अत्र मनस्विनां रमन्त इति मणोरमे भवति।

जो मनस्वी लोगों के मन में रमण करता है, वह मनोरम है। (सूचू.१ पृ. १४६)

मच्छर—मात्सर्य। मत्सरो नाम अभिमानपुरस्सरो रोषः।

जो अभिमानयुक्त रोष होता है, वह मात्सर्य है। (सूचू.१ पृ. ७४)

महवया—मार्दव। महवता जाति-कुलादीहिं परपरिभवाभावो।

जाति, कुल आदि के आधार पर दूसरों का परिभव न करना मार्दव है। (दशअचू.पृ. ११)

मयगंगा—मृतगंगा। मतगंगा हेङ्गाभूमीए गंगा अण्णमण्णेहिं मग्गेहिं जेण पुब्बं वोदूणं पच्छा

ण वहति सा मतगंगा भण्णति।

गंगा प्रतिवर्ष नए-नए मार्ग से समुद्र में जाती है। जो मार्ग चिरत्यक्त हो, बहते-बहते गंगा

ने जो मार्ग छोड़ दिया हो, उसे मृतगंगा कहा जाता है। (उचू.पृ. २१५)

महिया—महिका, कुहरा। जो सिसिरे तुसारो पडह, सा महिया भण्णइ।

शिशिर काल में जो तुषार गिरती है, वह महिका कहलाती है। (दशजिचू.पृ. १५५)

• गर्भमासादिषु सायं प्रातर्वा धूमिकापातो महिकेत्युच्यते।

गर्भमास आदि में सायं और प्रातः जो धूंअर आती है, वह महिका कहलाती है।

(आटी.पृ. २७)

• पातो सिसिरे दिसामंधकारकारिणी महिता।

शिशिर में जो अंधकारकारक तुषार गिरता है, उसे महिका या कुहरा कहते हैं।

(दशअचू.पृ. ८८)

महेसि—महान् की एषणा करने वाला। महानिति मोक्षो तं एसन्ति महेसिणो।

जो महान् अर्थात् मोक्ष की एषणा करता है, वह महैषी—महर्षि है। (दशअचू.पृ. ५९)

मागह—मागध। वइस्सेण खत्तिवाणीए जाओ मागहो ति भण्णइ।

वैश्य पुरुष से क्षत्रिय स्त्री में उत्पन्न संतान मागध कहलाती है। (आचू.पृ. ५)

माण—सम्मान। भाणो अब्भुट्ठाणादीहिं गुब्बकरणं।

अभ्युत्थान आदि से गर्व करना मान है।

(दशअचू.पृ. १३३)

• जाति-कुल-रूप बलादिसमुत्थो गर्वो मानः।

जाति, कुल, रूप, बल आदि से उत्पन्न गर्व मान है।

(आटी.पृ. ११४)

मामग—ममकार करने वाला। मामको णाम ममीकारं करोति देशे ग्रामे कुले वा एगपुरिसे वा।

जो देश, ग्राम, कुल अथवा किसी पुरुष विशेष में ममकार करते हैं, वे मामक—मोहो हैं।

(सूचू.१ पृ. ६७)

माया—माया। परवञ्चनाध्यवसायो माया।

दूसरे को ठगने की भावना माया है।

(आटी.पृ. ११४)

माया—मात्रा। मीयतेऽसौ मीयते वाऽनयेति माया।

जो मापा जाता है अथवा जिससे मापा जाता है, वह मात्रा है। (उचू.पृ. १३३)

मार—कामदेव। खणे खणे मारयतीति मारो।

जो क्षण-क्षण में मारता है, वह मार/कामदेव है। (आचू.पृ. १०८)

माहण—माहन, अहिंसक। मा हणह सव्वसत्तेहिं भणमाणो अहणमाणो य माहणो भवति।

किसी सत्त्व का हनन मत करो, ऐसा कहने वाला माहन कहलाता है अथवा जो किसी का हनन नहीं करता, वह 'माहन' होता है। (सूचू.१ पृ. २४६)

मीसियाकहा—मिश्रकथा। धम्मो अत्थो कामो, ठवइस्सइ जत्थ सुत्त कव्वेसु।

लोगे वेदे समए, सा उ कहा मीसिया नामं॥

जिन सूत्रों, काव्यों तथा लौकिक ग्रन्थों—रामायण आदि में, यज्ञ आदि क्रियाओं में तथा सामयिक ग्रन्थों—तरंगवती आदि में धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों का कथन किया जाता है, वह मिश्रकथा है। (दशनि. १७९)

मुट्ठि—मुष्टि। अंगुल्लुलितलसंघातो मुट्ठी।

अंगूठे और अंगुलि का संघात होने मुष्टि है। (दचू.पृ. ३५)

मुनि—मुनि। मुणेति जगं तिकालावत्थं मुणी।

जो त्रिकालावस्थित जगत् को जानता है, वह मुनि है। (आचू.पृ. १०४)

• मनुते मन्यते वा धर्माधर्मानिति मुनिः।

धर्म और अधर्म का मनन करने वाला मुनि होता है। (उचू.पृ. २०३)

• सावज्जं न भासति सि मुणी।

• सावज्जेसु भोणं सेवति सि मुणी।

जो सावद्य वाणी नहीं बोलता, वह मुनि है। (दशअचू.पृ. ३८, दशजिचू.पृ. ७४)

मुक्त—मुक्त। बाहिरऽब्बंतरेहि गंवेहिं विप्पमुक्को मुत्तो।

बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथि से रहित मुक्त कहलाता है। (दशअचू.पृ. २३४)

• ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनादियुक्तो मुक्तः।

ज्ञानावरणाय आदि कर्मबन्धन से विमुक्त मुक्त कहलाता है। (सूटी.पृ. ९७)

मुम्मुर—मुर्मुर। करिस्सगादीण किंघि सिद्धो अग्गी मुम्मुरो।

• मुम्मुरो नाम जो छाराणुगओ अग्गी सो मुम्मुरो।

कंठे की अग्नि या क्षारादिगत अग्नि-कण को मुर्मुर कहते हैं।

(दशअचू.पृ. ८९, दशजिचू.पृ. १५६)

• विरलाग्निकर्णं भस्म मुर्मुरः।

वह राख जिसमें विरल अग्निकण हो, मुर्मुर कहलाती है। (दशहाटी.पृ. १५४)

मुम्मुही—मुन्मुखी (जीवन की एक अवस्था)। विणओवकमंतो मूक इव भाषते मुम्मुही।

जिस अवस्था में व्यक्ति मूक की भांति बोलता है, वह मुन्मुखी है। (दचू.पृ. ३)

मुखरी—मुखरी (वाचाल), अटसंट बोलने वाला। मुखे अरिमावहतीति मुखरी।

जो अटसंट बोलता है, मुख में शत्रुता को वहन करता है, वह मुखरी है। (उचू.पृ. २८)

मुहाजीवि—मुधाजीवी। मुहाजीवी नाम जं जातिकुलादीहिं आजीवणविसेसेहिं परं न जीवति।

जो जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता, उसे मुधाजीवी कहा जाता है।

(दशजिचू.पृ. १९०)

मुहालब्ध—मुधालब्ध। मुहालब्ध नाम जं कौटलवेंदलादीणि मोत्तूणमितरहा लब्धं तं मुहालब्धं।

तंत्र, मंत्र और औषधि आदि के द्वारा हित-संपादन किए बिना जो मिले, उसे मुधालब्ध कहा

जाता है। (दशजिचू.पृ. १९०)

मूढ—मूढ। मूढो कञ्जाकज्जमयायाणो।

कार्य और अकार्य के विवेक से विकल व्यक्ति मूढ कहलाता है। (सूचू.१ पृ. १७२)

• मूढा तत्त्वातत्त्वअजाणगा।

• मूढा हिताहितविवेचनं प्रत्यसमर्थाः।

तत्त्व और अतत्त्व के ज्ञान से शून्य तथा हित और अहित के विवेक से विकल मूढ कहलाता है। (उचू.पृ. १४९, उशांटी.प. २६२)

मेधावि—मेधावी। मेधावि सि आशुग्रहणधारणसम्पन्नः।

शीघ्र ग्रहण और धारण—इन दो बुद्धिगुणों से सम्पन्न व्यक्ति मेधावी कहलाता है।

(सूचू.२ पृ. ३१२)

मोक्ष—मोक्ष। बंधवियोगो मोक्षो भवति।

कर्मबंधन का वियोग मोक्ष है।

(आचू.पृ. २४६)

मोह—मोह। मोहो णाम हिताहिते निव्विसेसता।

जो हित और अहित में निर्विशेष होता है, वह मोह है।

(आचू.पृ. ९१)

मोहुवासक—मोहोपासक। कुप्पवयणं कुधम्मं, उवासए मोहुवासको सो उ।

जो कुप्रवचन तथा कुधर्म की उपासना करता है, वह मोहोपासक है। (दनि.३६)

रसणिज्जूढ—रसनिर्यूढ। रसणिज्जूढं णाम जं कदसणं ववगयरसं तं रसणिज्जूढं भण्णइ।

नीरस और विकृत आहार को रसनिर्यूढ कहते हैं।

(दशजिचू.पृ. २८१)

रसज—रसज। रसया नाम तक्कंभिलमाइसु भवति।

छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्मशरीरी जीव रसज कहलाते हैं।

(दशजिचू.पृ. १४०)

राग—राग। रागो नाम तीव्राभिनिवेशः।

तीव्र अभिनिवेश—आसक्ति को राग कहते हैं।

(दचू.पृ. ३६)

रायधम्म—राजधर्म। रायधम्मो इट्ठाणिट्ठेसु दंडधरणं।

प्रिय या अप्रिय व्यक्ति का चिन्तन किए बिना अपराधी को दंड देना राजधर्म है।

(दशअचू.पृ.११)

रायपिंड—राजपिंड । मुद्राभिसित्तस्स रण्णो भिक्षा रायपिंडो ।

मूर्धाभिषिक्त राजा की भिक्षा लेना राजपिंड है ।

(दशअचू.पृ. ६०)

रायहाणी—राजधानी । रायहाणी जत्थ राया वसइ ।

जहां राजा रहता है, वह राजधानी है ।

(आचू.पृ. २८२)

लक्खण—लक्षण । पच्चक्खमणुवल्लभमाणो जेणाणुमीयते अत्थि त्ति लक्खणं ।

जो प्रत्यक्ष में अनुपलब्ध है परन्तु जिस गुण से अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, वह लक्षण है ।

(दशअचू.पृ. ६६)

लाढ—संयमी । लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वात्मानं चापयतीति लाढः ।

जो प्रासुक एषणीय आहार से अथवा साधु-गुणों के द्वारा जीवन-यापन करता है, वह लाढ कहलाता है ।

(उशांटी.प. १०७)

लोम—रोम । लुनाति लूयंते वा तानि लीयंते वा तेषु यूका इति लोमानि ।

जिनको उखाड़ा जाता है, अथवा जिनमें जू आदि रहते हैं, वे लोम—केश हैं ।

(उचू.पृ. १४२)

लोढ—लोभ । तृष्णापरिग्रहपरिणामो लोभः ।

तृष्णा और परिग्रह का परिणाम लोभ है ।

(आटी.पृ. ११४)

वैशाख—वैशाख, योद्धा की मुद्रा विशेष । वइसाहं पण्हओ अभितराहुत्तीओ समसेढीए करेति, अग्गिमत्तलो बाहिराहुत्तो ।

दोनों एड़ियों को भीतर की ओर समश्रेणी में रखकर अग्रिम तल को बाहर रखना वैशाख-स्थान है ।

(दचू.प. ४)

वक्कसुद्धि—वाक्शुद्धि । जं वक्कं वदमाणस्स, संजमो सुण्हई न पुण हिंसा ।

न य अत्तकलुसभावो, तेण इहं वक्कसुद्धि त्ति ॥

जिस वाक्य को बोलने से संयम की शुद्धि होती है, हिंसा नहीं होती, आत्मा में कलुषभाव नहीं आता, वह वाक्शुद्धि है ।

(दशनि.२६४)

वच्च—वर्चस्, पाखाना । वच्चं नाम जत्थ वीसिरंति कातिकाइसन्नाओ ।

जहां मल और मूत्र का उत्सर्ग किया जाए, वे दोनों स्थान वर्चस् कहलाते हैं ।

(दशजिचू.पृ. १७७)

वच्छ—वृक्ष । पुत्ता इव रक्खिज्जंति वच्छा ।

पुत्र की भांति जिनकी रक्षा की जाती है, वे वत्स (वृक्ष) हैं ।

(दशअचू.पृ. ७)

वज्जभीरु—वज्रभीरु । वज्जभीरुणो णाम संसारभठव्विग्गा थोवमथि पार्वं जेच्छंति ।

जो संसार के भय से उद्विग्न होकर थोड़ा भी पाप का सेवन नहीं करते, वे वज्रभीरु हैं ।

(दशजिचू.पृ. ९२)

वण्ण—लोकव्यापी यश । लोकव्यापी जसो वण्णो ।

लोकव्यापी यश वर्ण है ।

(दशअचू.पृ.२२७)

वयसंजम—वाक्संयम। वयसंजमो नाम अकुशलवहनिरोहो कुशलवहउदीरणं वा।

अकुशल वचन का निरोध तथा कुशल वचन की उदीरणा वचन-संयम है।

(दशजिचू पृ. २१)

वलय—वलय। वलयं नाम एकदुवारो गङ्गापरिक्रमेण वलयसंठितो वलयं भणति।

एक द्वार वाला गर्त का परिक्षेप, जो वलय के आकार का होता है, वह वलय कहलाता है।

(सूचू १ पृ. ८८)

वलायमरण—वलन्मरण। संजमजोगविसण्णा, मरंति जे तं वलायमरणं तु।

संयम-योगों से विषण्ण होकर मरना वलन्मरण कहलाता है।

(उनि २१०)

वसट्टमरण—वशार्तमरण। इंदियविसयवसगता, मरंति जे तं वसट्टं तु।

जो प्राणी इन्द्रिय-विषयों के वशवर्ती होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं, उनका मरण वशार्त मरण कहलाता है।

(उनि २१०)

वसवट्टि—वशवर्ती। वश्येन्द्रियो वा यः स वशवट्टी गुरुणा वा वशे वर्तते इति वशवर्ती।

जिसकी इन्द्रियां स्ववश में हों अथवा जो स्वयं गुरु के वश में हो, वह वशवर्ती है।

(सूचू १ पृ. १०७)

वसुधा—वसुधा। वसूनि निधत्ते इति वसुधा।

जो वसु—रत्नों को धारण करती है, वह वसुधा है।

(उचू पृ. २०९)

वाय—वाद। पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।

पक्ष और प्रतिपक्ष का प्रयोग करना वाद है।

(दचू प. २२)

• वादो नाम छल-जाति-निग्रहस्थानवर्जितः।

जिसमें छल, जाति और निग्रह-स्थान का कोई अवकाश नहीं होता, वह वाद है।

(सूचू १ पृ. ९३)

वायणा—वाचना। सीसस्स अज्झावणं वायणा।

शिष्य को पढ़ाना वाचना है।

(दशअचू पृ. १६)

वायावीरिय—वाग्वीर्य। वायावीरियं नाम जो भणति ण य करेति।

जो कहता है पर करता नहीं, वह केवल वाग्वीर्य है।

(सूचू १ पृ. १०९)

वासावास—वर्षावास। वरिसासु चत्तारि मासा एगत्थ अच्छंतीति वासावासो।

वर्षाकाल में एक स्थान पर चार मास तक रहना वर्षावास कहलाता है। (दचू प. ५१)

विकहा—विकथा। जो संजतो पमत्तो, रागद्वेषसवसगओ परिकहेइ।

सा उ विकहा पवयणे, पणत्ता धीरपुरिसेहिं॥

जो संयमी मुनि प्रमाद तथा राग-द्वेष के वशीभूत होकर कथा (भ्रमोपदेश) करता है, वह विकथा कहलाती है।

(दशानि १८४)

• जहा विणहुसीला विसीला णारी एवं विणहुकहा विकहा।

जैसे नारी का शील विनष्ट हो जाने पर वह विशीला कहलाती है वैसे ही जिस कथा का स्वरूप विनष्ट हो जाता है, वह विकथा है।

(दशअचू पृ. ५८)

विक्षेवणी कहा—विक्षेपणी कथा। जा ससमयवज्जा खलु होइ कहा लोग-वेय-संजुत्ता।

परसमयाणं च कहा, एसा विक्षेवणी नाम॥

जो कथा (धर्मोपदेश) स्वसिद्धान्त से शून्य तथा लौकिक कथाओं से संयुक्त है वह पर-सिद्धान्त का कथन करने वाली विक्षेपणी कथा है। (दशनि-१७०)

• **विविहं विण्णाण-विसयादीहिं खिवति विक्षेवणी।**

जो कथा विविध उपायों से श्रोता को इन्द्रिय-विषयों से दूर ले जाती है, वह विक्षेपणी कथा है। (दशअचू.पृ. ५५)

विगयगेहि—विगतगृद्धि। बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु विगता यस्य गेधी स भवति विगतग्रेधी।

जो बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं के प्रति गृद्ध नहीं होता, वह विगतगृद्धि है।

(सूचू.१ पृ. १४९)

विज्जल—विज्जल। विगयमात्रं जतो जलं तं विज्जलं।

जिस पंक में वितस्तिमात्र जल हो, वह विज्जल है। (दशअचू.पृ. १००)

विण्णाण—विज्ञान। विविहेहिं ऊहावोहादीहिं जेण उवलभति तं विण्णाणं।

जो विविध ऊहा, अपोह आदि से जाना जाता है, वह विज्ञान है। (दशअचू.पृ. ६७)

वितह—वितथ। जं वत्थुं न तेण सभावेण अत्थि तं वितहं भण्णइ।

अतद्रूप वस्तु वितथ कहलाती है। (दशजिचू.पृ. २४६)

विभूसा—विभूषा। विभूसा नाम ण्हाण-हत्थ-पाद-मुह-वत्थादिधोवणं।

स्नान करना, हाथ, पैर, मुंह, वस्त्र आदि धोना विभूषा है। (आचू.पृ. २८)

वियक्खण—विचक्षण। वियक्खणो पराभिप्पायजाणतो।

दूसरों के अभिप्राय का ज्ञाता विचक्षण कहलाता है। (दशअचू.पृ. १०६)

वियत्त—व्यक्त। व्यक्तो बालभावाभिक्रान्तः परिणतबुद्धिः।

जो बालभाव को पार कर चुका है, जिसकी बुद्धि परिपक्व हो चुकी है, वह व्यक्त कहलाता है। (सूटी.पृ. ८)

विरमण—विरमण, विरति। विरमणं नाम सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्तनम्।

सम्यग् ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक सर्वथा निवर्तन करना विरमण है। (दशहाटी.प. १४४)

विरय—विरत। पाणवधादीहिं आसवदारेहिं न वहइ त्ति विरतो।

जो प्राणवध आदि आस्रव-द्वारों में प्रवृत्त नहीं होता, वह विरत कहलाता है।

(दशजिचू.पृ. ७४)

• **विरओ णामऽणेगपगारेण बारसविहे तवे रओ।**

बारह प्रकार के तप में अनेक प्रकार से निरत भिक्षु विरत कहलाता है।

(दशजिचू.पृ. १५४)

विसय—विषय। विधीदन्ति—अवबध्यन्ते एतेषु प्राणिन इति विषयाः।

जहां प्राणी बंध जाते हैं, वे इन्द्रिय-विषय हैं।

(दशहाटी.प. ८६)

विसारय—विशारद। अर्थग्रहणसमर्थो विशारदः प्रियकथनो वा।

अर्थ ग्रहण करने में समर्थ अथवा प्रियवादी व्यक्ति विशारद कहलाता है।

(सूचू १ पृ. २२४)

विहंगम—विहंगम। विहं—आगासं, विहायसा गच्छंति त्ति विहंगमा।

जो विह—आकाश में विचरण करते हैं, वे विहङ्गम हैं।

(दशअचू पृ. ३३)

• विहं गच्छन्त्यवतिष्ठन्ते स्वसत्तां बिभ्रतीति विहङ्गमाः।

जो आकाश में उड़ते रहते हैं, अपनी सत्ता को बनाए रखते हैं, वे विहंगम हैं।

(दशहाटी पृ. ७०)

विहुयकप्प—विधूतकल्प। विधूतं वा जेण कम्मं तेण तुल्यो विधूतकप्पो।

जिसने कर्मों को धुन डाला है, उसके तुल्य विधूतकल्प होता है। (आचू पृ. २१७)

वीससाकरण—विससाकरण। खंधेषु य दुपदेसादिपसु, अब्बेसु विज्जुमादीसु।

निष्फण्णगाणि दब्बाणि, जाणि तं वीससाकरणं॥

द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों में तथा अभ्र, विद्युत् आदि में परिणत पुद्गल-द्रव्य विससाकरण कहलाता है। (सूत्रि ८)

वीससामेल—विससामेल। विससामेलो णाम दोण्हं तिण्हं चतुण्हं पंचण्हं वा वण्णाणं संयोगविसेसेण उप्पज्जते।

दो, तीन, चार अथवा पांच वर्णों के संयोग विशेष से जो उत्पन्न होता है, वह विससामेल है। (सूचू १ पृ. १०)

वुसीमंत—संयमी। वशे येषामिन्द्रियाणि ते भवन्ति वुसीमं, वसन्ति वा साधुगुणेहि वुसीमंतः।

जो जितेन्द्रिय अथवा मुनि-गुणों से युक्त हैं, वे वृषिमान्—संयमी हैं। (उचू पृ. १३७)

वेणव—वेणव। वैदेहेणं खत्तीए जाओ वेणवु त्ति वुच्चइ।

वैदेह पुरुष से क्षत्रिय स्त्री में उत्पन्न संतान वेणव कहलाती है।

(आचू पृ. ६)

वेदवि—वेदवित्। दुवालसंगं वा प्रवचनं वेदो, तं जे वेदयति स वेदवी।

द्वादशांगी अथवा जिन-प्रवचन का अपर नाम वेद है। जो इसको जानता है, वह वेदविद् है। (आचू पृ. १८५)

वेदेह—वैदेह। वइस्सेण बंभणीए जाओ वेदेहो त्ति भण्णति।

वैश्य पुरुष से ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न संतान वैदेह कहलाती है।

(आचू पृ. ६)

वोसट्ठकाय—व्युत्सृष्टकाय। वोसट्ठकाए त्ति अपडिकम्मसरीरो उच्चूठसरीरो त्ति वुत्तं होति।

जो शरीर का प्रतिकर्म नहीं करता, शरीर की सार-संभाल नहीं करता, वह व्युत्सृष्टकाय है।

(सूचू १ पृ. २४६)

संखडी—जीमनवार। छण्हं जीवनिकायाणं आउयाणि संखडिज्जंति जीए सा संखडी भण्णइ।

जहाँ छह जीवनिकायों के प्राणियों का आधुष्य खंडित किया जाता है, जीव वध किया जाता है, वह संखडी (भोज, जीमनवार) है। (दशजिचू पृ. २५७)

संगम—संग्राम। समस्तं ग्रस्यते ग्रस्यन्ते वा तस्मिन्निति संग्रामः।

जो सबको ग्रस्त कर देता है, खा जाता है अथवा जिसमें सब ग्रस्त हो जाते हैं, वह संग्राम है। (सूचू. १ पृ. ७९)

संजम—संयम। संजमो पाणातिवायविरती।

प्राणातिपात (प्राणहिंसा आदि) से विरत होना संयम है। (दशअचू. पृ. ११)

• सव्यावत्यमहिंसोवकारी संजमो।

जो सब अवस्थाओं में अहिंसा का उपकारक है, वह संयम है। (दशअचू. पृ. १२)

संजममधुवजोगजुत—संयमधुवयोगयुक्त। संजमधुवजोगेण जुतो जस्स अप्पा, स भवति संजमधुवजोगजुतो।

जिसकी आत्मा संयम के ध्रुवयोगों से युक्त है, वह संयमधुवयोगयुक्त है। (दचू. पृ. २१)

संजलण—क्रोध। संजलनं नाम रोषोद्गमो मानोदयो वा।

संज्वलन अर्थात् क्रोध या मान का उदय। (उचू. पृ. ७२)

संजलण—क्रोधो। संजलणो णाम पुणो पुणो रुस्सइ, पच्छा चरित्तमस्सं हणति इहइ वा अग्गिवत्।

जो बार-बार कुपित होता है और चारित्र्य रूपी शस्य को जला देता है, वह संज्वलन— क्रोध है। (दचू. पृ. ७)

संजय—संयत। संजओ नाम सोभणेण पगारेण सत्तरसविहे संजमे अबद्धिओ संजतो भवति।

सत्तरह प्रकार के संयम में भली-भांति अवस्थित साधक संयत है। (दशजिचू. पृ. १५४)

• छसु पुढविकायादिसु त्रिकरणएकभावेण जता संजता।

पृथ्वी आदि छह जीवनि कार्यों के प्रति जो मन, वचन और कर्मा से उपरत रहता है, उनकी हिंसा नहीं करता, वह संयत कहलाता है। (दशअचू. पृ. ६३)

संडिब्भ—बच्चों का क्रीड़ास्थल। संडिब्भं नाम बालरूपाणि रमंति धणुहिं।

जहाँ बालक धनुष्य आदि से खेलते हैं, वह स्थान 'संडिब्भ' कहलाता है।

(दशजिचू. पृ. १७१, १७२)

संधव—संस्तव। संधवो णाम उल्लव-समुल्लावा-ऽऽदान-ग्गहणसंपयोगादि।

परस्पर आलाप-संलाप करना, देना-लेना, परस्पर मिलना—संस्तव है। (सूचू. १ पृ. १२०)

संधार—संस्तारक। संधारो अङ्गाइज्जहत्थो आयतो। हत्थं समचत्तरंगुलं वित्थिण्णो।

• संधारो यइइङ्गाइज्जहत्थाततो समचत्तरंगुलं हत्थं वित्थिण्णो।

ढाई हाथ लम्बा और एक हाथ चार अंगुल चौड़ा बिछौना संस्तारक कहलाता है।

(दशजिचू. पृ. १५८, दशअचू. पृ. ९१)

संदीण—संदीनद्वीप। संदीणो णाम जो जलेण छाट्टेज्जति।

जो जल से आप्लावित होता है, वह संदीनद्वीप कहलाता है। (उचू. पृ. ११४)

संधि—सन्धि। संधी जमलवराणं अंतरं।

दो घरों के बीच का अंतर संधि कहलाता है।

(दशअचू. पृ. १०३)

संपसारण—संप्रसारक। संप्रसारकः देववृष्ट्यर्थकाण्डादिसूचककथाविस्तारकः।

देववृष्टि, अर्थकाण्ड आदि की सूचक कथा का विस्तार करने वाला संप्रसारक कहलाता है। (सूटी. पृ. ४६)

० संप्रसारणो णाम असंजतार्ण असंजमकज्जेसु साम छंदेति उवदेसं वा ।

गृहस्थों के असंयममय कार्यों का समर्थन करने वाला तथा उनका उपदेश देने वाले को संप्रसारणी कहा जाता है । (सूचू. १ पृ. १७८)

संमुच्छिन्न—सम्मुच्छिन्न । सम्मुच्छिन्ना नाम जे विणा बीएण पुढविषरिसादीणि कारणाणि पप्प उट्ठेति ।

जो उत्पादक बीज के बिना केवल पृथ्वी, पानी आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं, वे सम्मुच्छिन्न कहलाते हैं । (दशजिचू. पृ. १३८)

संवर—संवर । संवरो नाम पाणवहादीण आसवार्ण निरोहो भण्णइ ।

प्राणातिपात आदि आस्रवों के निरोध को संवर कहते हैं । (दशजिचू. पृ. १६२, १६३)

संवेयणी—संवेजनी । संवेगं संसारदुक्खेहिं तो जणेति संवेदणी ।

संसार के दुःखों से संवेग प्राप्त कराने वाली कथा संवेजनी है । (दशअचू. पृ. ५५)

संसय—संशय । संशय्यते च अर्धद्वयमाश्रित्य बुद्धिरिति संशयः ।

द्वयार्थक शब्द के प्रति बुद्धि में जो विपर्यास होता है, वह संशय है । (उचू. पृ. १८३)

संसार—संसार । अट्टविहो जोणिसंगहो संसारेति पबुच्चइ ।

आठ प्रकार का योनि संग्रह—उत्पत्ति-स्थल संसार कहलाता है । (आचू. पृ. ३६)

० संसरति तासु तासु गतिष्विति संसारः ।

विभिन्न गतियों में संसरण करना संसार है । (उचू. पृ. ९७)

संहिता—संहिता । संहिता अविच्छेदेण पाढो ।

संहिता का अर्थ है—अव्यवच्छिन्न पाठ का उच्चारण । (दशअचू. पृ. ९)

संस्कार—संस्कार । शुभाऽशुभकर्म संस्कुर्वन्तीति संस्काराः ।

जो शुभ-अशुभ कर्मों से वासित करते हैं, वे संस्कार कहलाते हैं । (सूचू. १ पृ. २९)

सच्च—सत्य । सच्चं—अणुवधायगं परस्स वयणं ।

दूसरे का उपघात न करने वाला वचन सत्य है । (दशअचू. पृ. ११)

शट—शठ । शठो नाम अन्यथा संतमात्मानमन्यथा दर्शयति ।

जो स्वयं को दूसरे रूप में प्रदर्शित करता है, वह शठ है । (उचू. पृ. १३३)

शबल—शबल । सालंबो वा जयणाए सेवतो शबलो भवति ।

जो पुष्ट आलंबन से अथवा यतनापूर्वक अनासेव्य का सेवन करता है, वह शबल (चारित्र्यी) है । (दचू. पृ. ९)

सण्णा—संज्ञा । पुब्बदिट्ठमत्थमाहितसंस्कारादि एसा सण्णा ।

पूर्वदृष्ट अर्थ से संस्कारित होना संज्ञा है । (दशअचू. पृ. ६७)

सभा—सभा । सभा नाम नगरादीणं मज्जे देसे कीरंति ।

नगर आदि के मध्य में निर्मित जन-स्थान सभा कहलाता है । (आचू. पृ. ३११)

सभिक्षु—सद्भिक्षु । अट्टविधं कम्मखुहं, तेण निरुत्तं सभिक्षु ति ।

आठ प्रकार के कर्मों का भेदन करने वाला सद्भिक्षु होता है । (दशनि. ३१७)

समण—समण। समेति व धाणी समणो।

जो अपने कथन के अनुसार चलता है, वह समण है।

(आचू. पृ. २७१)

• जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्व जीवाणं।

• न हणति न हणावेति, य सममणई तेण सो समणो॥

जैसे मुझे दुःख अप्रिय है वैसे ही सब जीवों को है—ऐसा जानकर जो व्यक्ति न हिंसा करता है, न करवाता है तथा जो समान व्यवहार करता है, वह समण है। (दशनि. १२९)

• मित्ता—ऽरिसु समो मणो जस्स सो भवति समणो।

जिसका शत्रु और मित्र के प्रति समान मन होता है, वह समन है। (सूचू. १ पृ. २४६)

• णत्थि य सि कोति वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होति समणो.....।

जिसके लिए कोई प्रिय या अप्रिय नहीं होता, वह समण है। (दशअचू. पृ. ३६)

समर—समर, युद्ध। समरं नाम जत्थ हेट्ठा लोहयारा कम्मं करेति अहवा सहारिभिः समरः।

जहां लोहकार कार्य करते हैं, वह समर है अथवा जहां शत्रुओं के साथ सामना होता है, वह समर (युद्ध) है। (उचू. पृ. ३७)

संवुद्धकम्मा—संयमी। मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा यस्य संवृता भवन्ति स संवृतकर्मा।

जिसके मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग संवृत होते हैं, वह संवृतकर्मा—संयमी कहलाता है। (सूचू. १ पृ. ६९)

समाहि—समाधि। समाधिर्नाम राग-द्वेषपरित्यागः।

राग-द्वेष का परित्याग करना समाधि है।

(सूचू. १ पृ. ६७।)

समाहितप्पा—समाहित आत्मा। नाण-दंसण-धरित्तसु सुद्ध आहितप्पा समाहितप्पा।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अच्छी तरह स्थित व्यक्ति समाहित कहलाता है।

(दशअचू. पृ. २४१)

समाहियच्च—समाहितार्च। जस्स भावो समाहितो स भवति समाहियच्चो।

जिसके भाव समाधियुक्त होते हैं, वह समाधितार्च है।

(आचू. पृ. २८१)

समिह—समिति। सम्मं पवत्तणं समिती।

सम्यक् प्रवर्तन करना समिति है।

(दशअचू. पृ. ५३)

समुत्थिय—समुत्थित। मोक्षाय सम्यगुत्थिताः समुत्थिताः।

मोक्षप्राप्ति के लिए सम्यक् पुरुषार्थ करने वाले समुत्थित कहलाते हैं। (सूचू. १ पृ. ६७)

सयग्घी—शतघ्नी। शतं धन्तीति शतघ्न्यः।

एक साथ सौ को मारने वाला शस्त्र शतघ्नी है।

(उचू. पृ. १८२)

सरण—शरण। जेण आवति तरति जं अस्सिता णिब्भयं वसंति तं सरणं।

जहां आपदाओं से रक्षा होती है तथा जहां निर्भयतापूर्वक रहा जा सकता है, वह शरण है।

(आचू. पृ. ५३)

शरीरबुधसः—शरीरबुधः। शरीराभिषक्तचित्तो विभूषितार्थो तत्प्रतिकारसेवी शरीरबुधः।

जो शरीर के प्रति आसक्त, विभूषा का अर्थी (निरन्तर शरीर का परिकर्म करने वाला) तथा शरीर के प्रतिकूल तथ्य का प्रतिकार करने वाला होता है, वह शरीरबुध कहलाता है।

(उचू पृ. १४५)

ससणिद्धः—जल से स्निग्ध। ससणिद्धं जं न गलति तित्थं तं ससणिद्धं भण्णइ।

गीली वस्तु, जिससे जल-बिन्दु नहीं गिरते, उसे सस्निग्ध कहते हैं। (दशजिचू पृ. १५५)

साधु—साधु। जेण कारणेण तस-धावरणं जीवारणं अप्पणो य हियत्थं भवइ तहा जयंति अतो य ते साहुणो भण्णंति।

जो त्रस-स्थावर जीवों के तथा स्वयं के हित के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे साधु हैं।

(दशजिचू पृ. ७०)

सिक्खगः—नवदीक्षित। सिक्खगो णाम जो अहुणा पव्वइओ।

तत्काल प्रव्रजित मुनि शैश कहलाता है।

(दशहाटी प. ३१)

सिक्खा—शिक्षा। शिक्षा नाम शास्त्रकलासु कौशलम्।

शास्त्रों में तथा कलाओं में कुशलता प्राप्त करना शिक्षा है।

(उचू पृ. १६५)

सिणातः—स्नातक। मोहणिज्जाइयातियचठकम्मावगतो सिणातो भण्णति।

जो मोहनीय आदि चार भूतों कर्मों का विनाश कर देता है, वह स्नातक निर्ग्रन्थ है।

(उचू पृ. १४५)

सिद्धः—सिद्ध। रागादिवासनामुक्तं, चित्तमेव निरामयम्।

सदा नियतदेशस्थं, सिद्ध इत्यभिधीयते॥

राग आदि की वासना से मुक्त, निर्मल चित्त वाले तथा सदा नियत स्थान में स्थित सिद्ध कहलाते हैं।

(दशहाटी प. १)

सिला—शिला। सवित्थारो पाहाणविसेसो सिला।

विस्तृत पाषाणखंड शिला कहलाती है।

(दचू प. ११)

• सिला नाम वित्थिण्णो जो पाहाणो सा सिला।

मूल से विच्छिन्न पाषाण शिला कहलाती है।

(दशजिचू पृ. १५४)

सीओदगः—सचित्त जल। उदगं असत्थहर्यं सजीवं सीतोदगं भण्णइ।

जो जल शस्त्र प्रतिहत नहीं होता, वह शीतोदक (अप्रासुक जल) कहलाता है।

(दशजिचू पृ. ३३९)

सीयपरीसहः—शीतपरीषह। जे मंदपरीणामा परीसहा ते भवे सीया।

मंद परिणाम वाले परीषह शीत परीषह कहलाते हैं।

(आनि २०४)

सीलगुणः—शीलगुण। सीलगुणो णाम अक्कुस्समाणो वि ण खुब्भति, अहवा सद्दादिएसु भइयपावएसु ण रज्जति दुस्सति वा।

आक्रोश किए जाने पर भी क्षुब्ध नहीं होना, प्रशस्त इन्द्रिय-विषयों में अनुरक्त तथा अप्रशस्त इन्द्रिय-विषयों में द्वेष नहीं करना शीलगुण है।

(आचू पृ. ४५)

सुंडिया—उन्मत्तता । जा सुरातिसु गेही सा सुंडिया भण्णति ।

सुरा आदि के प्रति गृद्धि सोंडिका कहलाती है ।

(दशजिचू.पृ. २०३)

सुत्तरुइ—सूत्ररुचि । सुत्तरुयी सुत्तं पढंतो संवेगमावज्जति ।

सूत्र को पढ़ने से जो संवेग को प्राप्त होता है, वह सूत्ररुचि है ।

(दशअचू.पृ. १८)

सुपणिहियजोगी—सुप्रणिहितयोगी । जो पुण सुपणिहियजोगी सो सुभासुभविषागं जाणइ ।

जो शुभ और अशुभ विपाक को जानता है, वह सुप्रणिहितयोगी कहलाता है ।

(दशजिचू.पृ. २७०)

सुपण्णत्त—सुप्रज्ञप्त । सुपण्णत्ता जहाबुद्धिसिस्साणं प्रज्ञापिता ।

शिष्यों को अपनी-अपनी योग्यता एवं बुद्धि के अनुसार प्रज्ञापित करना सुप्रज्ञप्त है ।

(दशअचू.पृ. ७३)

सुभग—सुभग । अप्पिच्छित्तणेण सुभगो भवइ ।

जिसकी इच्छाएं अल्प हैं, वह सुभग कहलाता है ।

(दशजिचू.पृ. २८२)

सुसंतुट्ठ—सुसंतुष्ट । जेण वा तेण वा आहारेण संतोसं गच्छइ, सो सुसंतुट्ठो भण्णइ ।

जो जिस किसी प्रकार के भोजन से संतोष प्राप्त कर लेता है, वह सुसंतुष्ट कहलाता है ।

(दशजिचू.पृ. २८२)

सुसमाहिय—सुसमाहित । नाण-दंसण-चरित्तसु सुदट्ठ आहिता सुसमाहिता ।

जो ज्ञान, दर्शन और चरित्र में सम्यक् रूप से भावित होता है, वह सुसमाहित है ।

(दशअचू.पृ. ६३)

सुह—सुख । सरीरमनसोरनुकूलं सुखमिति ।

शरीर और मन के जो अनुकूल होता है, वह सुख है ।

(आटी.पृ. १०१)

सूय—सूत । खसिएणं बंधणीए जाओ सूओ त्ति भण्णति ।

क्षत्रिय पुरुष से ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न संतान सूत कहलाती है ।

(आचू.पृ. ५)

सूर—शूर । शवत्थसौ युद्धं मुंचति वा तमिति सूरः ।

जो युद्ध को श्मशान बना देता है, वह शूर है । जिसको सब छोड़ देते हैं कोई सामने नहीं आता, वह शूर है ।

(उचू.पृ. ५९)

सूरप्पमाणभोई—सूर्यप्रमाणभोजी । सूरप्पमाणभोई सूर एव प्रमाणं तस्य उदिते सूर आरद्ध जाव ण अत्थमेइ ताव भुंजति सञ्ज्ञायमादी ण करेति, पढिनोदितो रुस्सति ।

जो सूर्योदय से सूर्यास्त तक खाता रहता है, स्वाध्याय आदि नहीं करता, प्रेरणा देने पर रुष्ट होता है, वह सूर्यप्रमाणभोजी है ।

(दचू.पृ. ७,८)

सोय—श्रोत्र । शृणोति भाषापरिणतान् पुद्गलानिति श्रोत्रम् ।

जो भाषा रूप में परिणत पुद्गलों को सुनता है, वह श्रोत्र (कान) है ।

(आटी.पृ. ६९)

सोयण—शोक । अंसुपुण्णनयणस्स रोयणं सोयणं ।

अश्रुपूर्ण नयनों से रुदन करना शोचन/शोक है ।

(दशअचू.पृ. १७)

सौवाग—श्वपाक । उग्रेण खत्तियाणीए सौवागो ति बुच्चइ ।

उग्र पुरुष से क्षत्रिय स्त्री में उत्पन्न संतान श्वपाक कहलाती है । (आचू.पृ. ६)

हढ—हढ । हढो णाम वणस्सइविसेसो, सो दह-तलागादिसु छिन्नमूलो भवति तथा वातेण य आइइओ इओ-तओ य णिज्जइ ।

द्रह, तालाब आदि में जो मूल रहित वनस्पति होती है तथा वायु के द्वारा प्रेरित होकर इधर-उधर हो जाती है, वह हट वनस्पति कहलाती है । (दशजिचू.पृ. ८९)

हत्य—हस्त । हसंति येनावृत्य मुखं हंति वा हस्ताः ।

जिससे मुंह ढककर हंसा जाता है अथवा जिनसे घात की जाती है, वे हाथ हैं ।

(उचू.पृ. १३२)

हरतणु—हरतनु, भूमि भेदकर निकलने वाले जलकण । हरतनुः भुवमुद्भिन्न तृणाग्रादिषु भवति ।

भूमि का भेदन करके जो जलबिन्दु तृणाग्र आदि पर होते हैं, वे हरतनु हैं ।

(दशहाटी.प. १५३)

• वर्षा—शरत्कालयोर्हरिताङ्कुरमस्तकस्थितो जलबिन्दुर्भूमिस्नेहसम्पर्कोद्भूतो हरतनु शब्देनाभिधीयते ।

वर्षा और शरत्काल में हरिताङ्कुरों के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु जो भूमि के स्नेह के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, वह हरतनु कहलाता है । (आटी.पृ. २७)

हरियसुहुम—हरितसूक्ष्म । हरितसुहुमं णाम जो अहुणुद्वियं पुढविसमाणवण्णं दुव्विभावणिज्जं तं हरियसुहुमं ।

जो तत्काल उत्पन्न, पृथ्वी के समान वर्ण वाला और दुर्ज्ञेय हो, वह अंकुर हरितसूक्ष्म है ।

(दशजिचू.पृ. २७८)

हव्व—हव्य । जं हूयते घयादि तं हव्वं भण्णइ ।

घी आदि की आहूति हव्य है ।

(दशजिचू.पृ. २२५)

हायणी—हायनी (जीवन की एक अवस्था) । हायत्यस्यां बाहुबलं चक्षु र्वा हायणी ।

जिस अवस्था में बाहुबल तथा आंखें कमजोर हो जाती हैं, वह हायनी अवस्था है । (दचू.प. २)

हिंसा—हिंसा । पमत्तजोगस्स पाणवधरोवणं हिंसा ।

प्रमादवश प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है ।

(दशअचू.पृ. १२)

हिम—हिम, बर्फ । अतिसीतावत्थंभितमुदगमेव हिमं ।

अत्यन्त सर्दों में जो जल जम जाता है, वह हिम है ।

(दशअचू.पृ. ८८)

• हिमं तु शिशिरसमये शीतपुद्गलसम्पर्काज्जलमेव कठिनीभूतम् ।

शिशिरकाल में शीत पुद्गलों के सम्पर्क से जमा हुआ जल हिम कहलाता है । (आटी.पृ. २७)

हीणपेषण—आज्ञा की अवहेलना करने वाला । हीणपेसणं णाम जो य पेसणत्तं आयरिएहिं दिन्नं तं देसकालादीहिं हीणं करेति ति हीणपेसणे ।

जो आचार्य की आज्ञा को देश, काल आदि के बहाने से हीन कर देता है, वह हीनप्रेषण है । (दशजिचू.पृ. ३१७)

हेठ—हेतु । हिनोति—गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः ।

जो जिज्ञासित धर्म के विशिष्ट अर्थों का जापक होता है, वह हेतु है । (दशहाटी प. ३३)

सूक्त-सुभाषित

दशवैकालिक निर्युक्ति

- देवा वि लोगपुज्जा पणमंति सुधम्मं । (८६)
- तसथावरहिंसाए जणा अकुसला उ लिप्पंति । (९१)
- उक्कट्टं मंगलं धम्मो । (१२०/२)
- जह मम न पिपं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं । (१२९)
- उक्कामयंति जीवं धम्मातो तेण ते कामा । (१४०)
- कामे पत्थेमाणो रोगे पत्थेति खलु जंतू । (१४१)
- इंदिय विसय-कसाया, परीसहा वेयणा पमादा य ।
- एए अवराहपदा, जत्थ विसीयंति दुम्मेहा ॥ (१५१)
- वयणविभत्तिअकुसलो, वओगतं बहुविधं अजाणंतो ।
- जइ वि न भासति किंची, न चेव वइगुत्तयं पत्तो ॥
- वयणविभत्तीकुसलो, वओगतं बहुविधं वियाणंतो ।
- दिवसमवि भासमाणो, अभासमाणो व वइगुत्तो ॥ (२६६, २६७)
- पुष्पं बुद्धीइ पेहिता, ततो वक्कमुदाहरे । (२६८)
- जस्स पुण दुप्पणिहिताणि, इंदियाइ तवं चरंतस्स ।
- सो हीरति असहीणेहि, सारही इव तुरंगेहिं ॥ (२७४)
- कोहं भाणं मायं लोभं च महाभयाणि चत्तारि । (२७५)
- जस्स वि य दुप्पणिहिता, होति कसाया तवं करंतस्स ।
- सो बालतवस्सी विव, गयण्हाणपरिस्समं कुणति ॥
- सामण्णमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होति ।
- मन्नामि उच्छुफुल्लं व, निप्फलं तस्स सामण्णं ॥ (२७६, २७७)
- नाणी नवं न बंधति । (२९३)
- जो भिक्खू गुणरहितो, भिक्खं हिंडति न होति सो भिक्खू ।
- वण्णेणं जुत्तिसुवण्णगं व असत्ती गुणनिधिम्मि ॥ (३३१)

उत्तराध्ययन निर्युक्ति

- जह दीवा दीवसयं, पदिप्पए सो य दिप्पती दीवो ।
- दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेति ॥ (८)
- सुहिओ हु जणो न बुज्झती । (१३५)

राईसरिसवमेत्ताणि, परछिद्दाणि पाससि ।	
अप्पणो बिल्लमेत्ताणि, पासंतो वि न पाससि ॥	(१४०)
माणुस्स-खेत्त-जाती, कुल-रूवारोग-आठयं बुद्धी ।	
सवणोग्गह-सद्धा संजमो य लोमम्मि दुलहाई ॥	(१६०)
न लभइ सुइ हियकरि संसारुत्तारिणिं जीवो ।	(१६४)
जहा लाभो तहा लोभो, लाभा लोभो पवइद्धति ।	
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥	(२४९)
भद्दगेणेव होयव्वं, पावति भद्दाणि भद्दओ ।	(३१९)
गहणं नदीकुडंगं गहणतरागाणि पुरिसहिययाणि ॥	(३४२)
.....जलबुब्बुयसन्निभे य माणुस्से ।	
किं हिंसाए पसज्जसि, जाणंतो अप्पणो दुक्खं ॥	(३९५)
सव्वमिणं चइऊणं, अवस्सं जदा य होइ गंतव्वं ।	
किं भोगेसु पसज्जसि, किं पागफलोवमनिभेसु ॥	(३९६)
परमत्थदिट्ठसारो, नेव य तुट्ठो न वि य रुट्ठो ।	(४७१)
जेसिं तु पमाएणं, गच्छइ कालो निरत्थओ धम्मे ।	
ते संसारमणंतं, हिंडंति पमाददोसेणं ॥	(५२०)
आचारांग निर्युक्ति	
अंगाणं किं सारो? आयारो ।	(१६)
एगा मणुस्सजाई ।	(१९)
सातं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ।	(९४)
भावे य असंजमो सत्थं ।	(९६)
कामनियत्तमई खलु, संसारा मुच्चए खिप्पं ।	(१७८)
जस्स कसाया वट्ठंति, मूलडाणं तु संसारे ।	(१८६)
संसारस्स उ मूलं, कम्मं तस्स वि य होति उ कसाया ।	(१९०)
माया मे त्ति पिया मे, भगिणि भाया य पुत्त दारा मे ।	
अत्थम्मि चेव गिद्धा, जम्मणमरणाणि पावेंति ।	(१९६)
अभयकरो जीवाणं, सीयधरो संजमो भवति सीतो ।	(२०७)
अस्संजमो च उण्हो ।	(२०७)
इज्झति तिव्वकसाओ, सोगाभिभूओ उदिण्णवेदो य ।	(२०९)
कामा न सेवियव्वा ।	(२११)
सुत्ता अमुणिओ सया, मुणिओ सुत्ता वि जागरा होति ।	(२१२)
न हु बालतवेण मोकखो त्ति ।	(२१५)

कुणमाणोऽवि निवित्तिं परिच्चयंतो वि सयण-धण-भोए ।

दितो वि दुहस्स उरं, मिच्छदिट्ठी न सिञ्जइ उ ॥

(२२१)

दंसणवओ हि सफलाणि होंति तवनाणचरणाइ ।

(२२२)

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्ठियामया ।

दो वि आवडिया कुट्टे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गती ॥

एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।

विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ।

(२३३, २३४)

जह खलु झुसिरं कट्ठं, सुचिरं सुक्कं लहुं डहइ अग्गी ।

तह खलु खवेंति कम्मं, सम्मच्चरणदिठया साहू ॥

(२३५)

सारो हु नाण-दंसण-तव-चरणगुणा हियट्ठाए ।

(२४२)

लोगस्स भम्मसारो, धम्मं पि नाणसारियं बेंति ।

नाणं संजमसारं, संजमसारं च निव्वारणं ॥

(२४५)

जह खलु मलिणं वत्थं, सुञ्जइ उदगादिएहि दक्खेहिं ।

एवं भावुवहाणेण, सुञ्जती कम्म अट्ठविहं ॥

(३०२)

किह ये होज्ज अवंझो, दिवसो? किं वा पभू तवं काउं ।

को इह दक्खे जोगो, खेत्ते काले समय-भावे ॥

(३६२)

सूत्रकृतांग निर्युक्ति

तव-संजम-नाणोसु वि, जइ माणो वज्जितो महेसीहिं ।

अत्तसमुक्कसणद्धं, किं पुण हीला नु अन्नेसिं? ॥

(४३)

दीसंति सूरवादी, नारीवसगा न ते सूर ।

(५९)

धम्मम्मि जो दढमती, सो सूरु सत्तिओ य वीरो य ।

न हु धम्मनिरुच्छाओ, पुरिसो सूरु सुबलिओ वि ॥

(६०)

सम्मव्यणीतमग्गो, नाणं तध दंसणं चरित्तं च ।

(११२)

न करेति दुक्खमोक्खं, उज्जममाणो वि संजम-तवेसु ।

तम्हा अत्तुक्करिसो, वज्जेतव्वो जतिजणेणं ॥

(२०)

दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति

दंसण-नाण-चरित्तं, तवो य विणओ य होंति गुरुमूले ।

(२२)

आणं कोवेमाणो, हंतव्वो बंधियव्वो य ।

(९८)

सण्झाय-संजम-तवे, धणियं अप्पा नियोतव्वो ।

(११४)

उपमा और दृष्टान्त

दशवैकालिक निर्युक्ति

जह सीहसहु सीहे पाहणुवयारओऽन्नत्थ ।	(८९/३)
कुसुमे सभावपुप्फे, आहारंति भमरा जह तहेव ।	(११८)
भत्तं सभावसिद्धं, समणसुविहिता गवेसंति ॥	(१२०/२)
भमरोच्च अवहवित्तीहिं ।	
उरग-गिरि-जलण-सागर-नभतल तरुणसमो य जो होइ ।	
भमर-मिग-धरणि-जलरुह, रवि-पवणसमो य सो समणो ॥	
विस-तिणिस-वात-वंजुल, कणियारुप्पलसमेण समणेण ।	
भमरुंदर-मड-कुक्कुड, अद्दागसमेण भाजितव्यं ॥	(१३२, १३३)
फरिसेण जहा वडि	(२०४)
पत्थेण व कुडवेण व जह कोइ मिणेज्जं सव्वधत्ताइं ।	(२१०)
सारही इव तुरंगेहिं ।	(२७४)
अहवा वि दुप्पणिहिंदियो उ मज्जार-बगसमो होइ ।	(२७४/१)
सो बालतवस्सी विव गयण्हाणपरिस्समं कुणति ।	(२७६)
मत्तामि उच्छुफुल्लं व निष्फलं तस्स सामणं ।	(२७७)
निसिद्धंगो व कंटइल्ले जह पडंतो ।	(२८२)
सुक्कतिणाइं जहा अग्गी ।	(२८३)
वण्णेणं जच्चसुवण्णं व ।	(३३०)
जध नाम आतुरस्सिह	(३४१)

उत्तराध्ययन निर्युक्ति

दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति ।	(८)
जह धातू कणगादी, सभावसंजोगसंजुया होंति ।	
इय संततिकम्मेणं, अणाइसंजुत्तओ जीवो ॥	(३४)
चोल्लग पासग धन्ने, जूए रयणे य सुमिण चक्के य ।	
चम्म जुगे परमाणू, दस दिट्ठंता मणुयत्तंभे ॥	(१६१)
पुट्ठो जहा अबद्धो, कंचुइणं कंचुओ समन्नेति ।	
एवं पुट्ठमबद्धं, जीवो कम्मं समन्नेति ॥	(१७२/११)

ओरब्भे य कागिणी अंबए य ववहार सागरे चेव ।

पंचेते दिट्ठंता.....

(२४१)

बुद्धिं च हाणिं च ससीव दट्ठं, पूरावरेणं च महानईणं ।

(२६२/१)

जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि य होहिहा जहा अम्हे ।

अप्पाहेइ पडंतं, पंडुरपत्तं किसलयार्णं ॥

(३०१)

जलबुब्बुयसन्निभे य माणुस्से ।

(३९५)

किंपागफलोवमनिभेसु..... ।

(३९६)

सीहत्ता निक्खमिडं, सीहत्ता चेव विहरसू ।

(४१२)

अमरवधूणं सरिसरूवं ।

(४३१)

दोगुंदगो व देवो ।

(४३२)

दंसमसगस्समाणा, जलूक-विच्छुगसमा ।

(४८७)

आचारांग निर्युक्ति

अट्ठी जहा सरीरम्मि, अणुगतं चेयणं खरं दिट्ठं ।

एवं जीवाणुगयं, पुढविसरीरं खरं होति ॥

(८५)

जह हत्थिस्स सरीरं, कललावत्थस्स अहुणोववन्नस्स ।

होति उदगंडगस्सं थ, एसुवमा ओठजावाणं ॥

(११०)

जह देहपरीणामो, रत्तिं खज्जोयगस्स सा ठवमा ।

जरितस्स य जह उम्हा, एसुवमा तेठजीवाणं ॥

(११९)

जह सगलसरिसवाणं, सिलेसमिस्साण वत्तिया वट्ठी ।

पत्तेय..... ।

जह वा तिलसक्कुलिया, बहुहिं तिलेहिं मेलिया संती ।

पत्तेय..... ।

(१३१, १३२)

जह देवस्स सरीरं, अंतद्धाणं व अंजणादीसुं ।

एओवमा आदेसो, वाएऽसंतेऽवि रूवम्मि ॥

(१६७)

जह सब्बपायवाणं, भूमीए पतिट्ठियाणि मूलाणि ।

इय कम्मपायवाणं, संसारपइट्ठिया मूला ॥

(१८७)

जह सुत्त-मत्त-मुच्छिय, असहीणो पावती बहुं दुक्खं ।

(२१३)

सीयधरो संजमो भवति सीतो ।

(२०७)

कमलविसालनेत्तं ।

(२२९)

जह खलु झुसिरं कट्ठं, सुचिरं सुक्कं लहं डहइ अग्गी ।

तह खलु खवेत्ति कम्मं, सम्मच्चरणट्ठिया साहू ॥

(२३५)

रण्णो जह तिक्ख-सीयला आणा ।

(२८७)

सउणी जह अंडगं पयत्तेणं ।

(२८८)

जह खलु मलिणं वत्थं, सुज्झइ उदगादिएहि दव्वेहिं ।

(३०२)

एवं----- ।

रुक्खस्स पव्वयस्स य जह अग्गाइं तहेताइं ।

(३०६)

सूत्रकृतांग नियुक्ति

जध नाम मंडलग्गेण, सिरं छेत्तूण कस्सइ मणुस्सो ।

अच्छेज्ज पराहुत्तो, किं नाम ततो न घेप्पेज्जा? ॥

(५१)

जध वा विसर्गद्धूसं, कोई घेत्तूण नाम तुण्हक्को ।

अण्णेण अदील्ले, किं नाम ततो न घेप्पेज्जा? ॥

(५२)

जह नाम सिरिघराओ, कोई रयणाणि नाम घेत्तूणं ।

अच्छेज्ज पराहुत्तो, किं नाम ततो न घेप्पेज्जा ॥

(५३)

दशाश्रुतस्कन्ध नियुक्ति

जध गयकुलसंभूतो, गिरि-कंदर-कडग-विसम-दुग्गेसु ।

परिवहइ अपरितंतो, निययसरीरुग्गए दंते ॥

(३०)

दृष्टिवाद के विकीर्ण तथ्य

पूर्व ज्ञान के अक्षय भण्डार थे। लेकिन संहनन, धृति और स्मृति की कमजोरी से वे धीरे-धीरे लुप्त होने लगे। इनका लोप देखकर आचार्यों ने कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों का निर्यूहण किया। पूर्वज्ञान से निर्यूह रचना का प्रारम्भ खीर-निर्वाण के ८० वर्ष के बाद आचार्य शय्यभवं ने किया। उन्होंने अपने पुत्र मनक के लिए दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया। उसके बाद आचार्य भद्रबाहु आदि आचार्यों ने छेदसूत्र जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों का निर्यूहण किया। अंगविज्ञा जैसा विशालकाय ज्योतिष सम्बन्धी ग्रंथ भी पूर्वों से उद्धृत है। यद्यपि दृष्टिवाद की विशाल श्रुतराशि आज हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं है पर यह खोज का विषय है कि दृष्टिवाद का उल्लेख कहां-कहां किस रूप में मिलता है?

कम्मप्पवायपुव्वे, सत्तरसे पाहुडम्मि जं सुत्तं।

सणयं सोदाहरणं, तं चेव इहं पि णातव्वं॥

(उनि. ७०)

परीसहा बारसमाओ अंगाओ कम्मप्पवायपुव्व्वाओ णिज्जूढा।

(उचू. पृ. ७)

अस्य कर्मप्रवादपूर्वसप्तदशप्राभृतोद्धृततया वस्तुतः सुधर्मस्वामिनैव जम्बुस्वामिनं प्रति प्रणीतत्वात्।

(उशांटी. प १३२)

आयप्पवायपुव्व्वा, निज्जूढा होइ धम्मपण्णत्ती।

कम्मप्पवायपुव्व्वा, पिंडस्स तु एसणा तिविधा॥

(दशनि. १५)

सच्चप्पवायपुव्व्वा, निज्जूढा होति वक्कसुद्धी उ।

अवसेसा निज्जूढा, नवमस्स उ ततियवत्थूतो॥

(दशनि. १६)

चरिमो चोदसपुव्वी अवस्सं निज्जूहति, चोदस (दस) पुव्वी वि कारणे।

(दशअचू. पृ. ४, ५)

चोदसपुव्वी कहिं पि कारणे समुप्पण्णे निज्जूहइ, दसपुव्वी पुण अपच्छिमो अवस्समेव।

(दशजिचू. पृ. ७)

आयारपकप्पो पुण, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।

आयारनामधेज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया॥

(आनि. ३११)

छट्ठट्ठमपुव्वेसु आउवसण्णो ति सव्वजुत्तिकओ।

(दनि. १८)

अट्ठविहं पि य कम्मं, भणियं मोहो ति जं समासेणं। सो पुव्वगते भणिओ.....।

(दनि. १२३)

भद्रबाहुस्स ओसप्पिणीए पुरिसाणं आयु-बलपरिहाणिं जाणिऊण चिंता समुप्पण्णा। पुव्वगते वोच्छिण्णे

मा साहू विसोधिं ण याणिस्संति ति काठं अतो दसाकप्पक्कवहारा निज्जूढा पच्चक्खाणपुव्व्वातो।

(दचू. पृ. ४)

दिट्ठिवायातो नवमातो पुव्व्वातो असमाहिट्ठाणपाहुडातो असमाधिट्ठाणं, एवं सेसाओ वि सरिसनामेहिं

पाहुडेहिं निज्जूढाओ। केण? भद्रबाहुहिं।

(दचू. पृ. ६)

सच्चप्पवायपुव्वे अक्खरपाहुडे तत्रादुपसर्गो वर्ण्यते। अट्ठमे कम्मप्पवायपुव्वे अट्ठमं महानिमित्तं

तत्थ स्वरचिंता तत्रापि आदुपसर्गो वर्ण्यते।

(दचू. पृ. १२)

उवासगपडिमा थेरा गणधरा तेहिं अक्खातं णवमे पुव्वे।

(दचू. पृ. ३८)

अन्य ग्रंथों से तुलना

निर्युक्ति गाथा	निर्युक्ति संख्या	अन्य ग्रन्थ
अइसेस इड्डियायरिय	दशनि १५७/१	निभा ३३
अंबे अंबरिसी चेव	सूनि ६६	सम १५/१/१, भ. ३/२५९/१
अक्खीणं दिज्जंतं	ठनि २८/४	विभा ९५६
अग्गबिय मूलबीया	आनि १३०	मूला. तु. २१३
अज्झप्पस्साणयणं	ठनि ६	अनुद्धा ६३१/१
अज्झयणगुणो भिक्खू	दशनि ३२५	पंच ११९१
अट्टविधं कम्मचयं	दशनि २९४	मूला. तु. ५८९
अणभिगगहिता भासा	दशनि २५३	प. ११/३७/२
अणसणमूणोयरिया	दशनि ४४	उ. तु. ३०/८
अणिगूहितबलविरियो	दशनि १३१	निभा ४२, पंचभा तु. ११३६, मूला ४१३
अतसि हरिमंथ तिपुड्ढग	दशनि २३०	निभा १०३०
अपडिक्कमसोहप्पे	दनि १११	निभा ३१९९
अप्पिणह तं बइल्लं	दनि ९४	निभा ३१८१
अब्भुवगतगतवेरे	दनि ११३	निभा ३२०१
अरती अचेल इत्थी	ठनि ७६	भ. ८/३२१/१
अवणेति तवेण तमं	दशनि २९५	मूला. ५९०
अवहंत गोण मरुए	दनि १०५	निभा ३१९३
असिपत्ते धणुं कुंभे	सूनि ६७	सम. १५/१/२, भ. ३/२५९/२
असिवादिकारणेहिं	दनि ६७	निभा ३१५२, बृभा ४२८३
असिवे ओमोयरिए	दनि ७५	निभा ३१६१
आमंतणि आणवणी	दशनि २५२	प. ११/३७/१, मूला. तु. ३१५, भआ. ११८९
आय-परसरीरगया	दशनि १७२	ठाणं तु. ४/२४९
आयारे ववहारे	दशनि १६७	ठाणं तु. ४/२४७
आलस्स मोहऽवण्णा	उनि १६३	आवनि ८४१
आसाढपुण्णिमाए	दनि ६४	निभा ३१४९, बृभा ४२८०
इंगाल अगणि अच्ची	आनि ११८	मूला. तु. २११
इंदगेयी जम्मा	आनि ४३	भ. १०/४, १३/५१, ठाणं १०/३१
इंदियलद्धी निव्वत्तणा	ठनि १६२	विभा ३२४८
इच्छा-मिच्छा सहक्कारो	ठनि ४७८/१	ठाणं १०/१०२/१, भ. २५/५५५/१, अनुद्धा २३९/१, आवनि ६६६

इय सत्तरी जहण्णा
इरि-एसण-भासाणं
उकलिया मंडलिया
उच्चार-पासवण खेल
उड्डमहे तिरियम्मि य
उण्णियवासाकप्पो
उदगसरिच्छा पक्खेण
उद्धिक्कडं भुजति
उभओ वि अद्धजोयण
उरग-गिरि-जलण-सागर
उल्लो सुक्को य दो छूढा
उवसंपया य काले

दनि.६९
दनि.८९
आनि.१६६
दनि.८५
दनि.७७
दनि.११८
दनि.१०२
दशनि.३३२
दनि.७६
दशनि.१३२
आनि.२३३
उनि.४७८/२

ऊणातिरित्तमासा
ऊणातिरित्तमासे
ऊहाए पण्णत्तं
एगबइल्ला भंडी
एगस्स ठ जं गहणं
एगस्स दोण्ह तिण्ह व
एतेहिं कारणेहिं
एत्थ तु अणभिग्गहियं
एत्थ तु पण्णं पण्णं
एमेव थंभकेयण
एवं लग्गंति दुम्मेहा
ओदइयादीयाणं
ओहो जं सामण्णं
कहिऊण ससमयं तो
करकंडू कलिंगेसु
काइयभूमी संथारए
काऊण मासकप्पं
कामं तु सव्वकालं
कारणओ उड्डगहिंते
काले विणए बहुमाणे
कालो समय्वादीओ
कोल्लियरे त्थिक्खो
कोहे माणे माया

दनि.६३
दनि.५९
उनि.१७२/१४
दनि.९३
आनि.१३७
आनि.१४३
उनि.१६४
दनि.६६
दनि.६८
दनि.१०४
आनि.२३४
दनि.५६
दशनि.२५/१,
दशनि.१६९
उनि.२५७
दनि.५७२
दनि.६०, ७०
दनि.९०
दनि.८४
दशनि.१५८
दनि.५८
उनि.१०७
उनि.२३५

निभा.३१५४, वृभा.४२८५
निभा.३१७६
मूला. तु. २१२
निभा.३१७२
निभा.३१६३
निभा.३२०६
निभा.३१८९
पंच.१२०२
निभा.३१६२
अनुद्धा.७०८/५
उ.२५, ४०
ठाणं १०/१०२/२, आवनि.६६७,
अनुद्धा.२३९/२, भ. २५/५५५/२
निभा.३१४८
निभा.३१४४
विभा.३०३३, निभा.५६१०
निभा.३१८०
प. १/४८/५४
प. १/४८/५७
आवनि.८४२
वृभा.४२८२, निभा.३१५१
वृभा.३१५३, वृभा.४२८४
निभा.३१९०
उ.२५/४१
निभा.३१४१
विभा.९५८
ठाणं तु. ४/२४८
उ. १८/४५
निभा. ३१५९
निभा.३१४५, ४२८६, वृभा.४२८६
निभा.३१७७
निभा.३१७१
निभा.८, मूला. २६९, ३६७, भआ. ११२
निभा.३१४३
निभा.४३९२
प. ११/३४/२ ठाणं १०/९० वृभा.८३१,

खंती य महवज्जव	दशनि. २२५	मूला. १०२२
खट्वादाणिय गेहे	दनि. ९९	निभा. ३१८६
गंगाए दोकिरिया	उनि. १६९	आवनि. ७८०, विभा. १७८४
गंधारगिरी देवय	दनि. ९७	निभा. ३१८४
गावी महिसी उट्टी	दशनि. २३४	निभा. १०३४
गूढसि.	आनि. १३५	प. १/४८/३९, निभा. ४८२७, बृभा. ९६७
गोमेज्जए थ रुयगे	आनि. ७५	उ. ३६/७५, प. १/२०/३, मूला. तु. २०८
चठवीसं चउवीसं	दशनि. २२८	निभा. तु. १०२८
चउसु कसाएसु गती	दनि. १०४/१	निभा. ३१९२
चंदप्पभ वेरुलिए	आनि. ७६	उ. तु. ३६/७६ प. तु. १/२०/४, मूला. तु. २०९
चंपा कुमार नंदी	दनि. ९५	निभा. ३१८२, बृभा. ५२२५
चक्कागं भज्जमाणस्स	आनि. १३९	प. १/४८/३८, निभा. ४८२८, बृभा. ९६८
चतुक्कारणपरिमुद्धं	दशनि. ३२७	पंव. ११९६
चोदसवासाई तदा	उनि. १७२/१	विभा. २७८८, निभा. ५६११
चोदस सोलस वासा	उनि. १७१	आवनि. ७८२, निभा. ५६१८, विभा. २७८६
चोह्म पासग धत्ते	उनि. १६१	आवनि. ८३२
जणवय सम्मय उवणा	दशनि. २४९	टाणं १०/८९, प. ११/३३/१, मूला. तु. ३०८
		भआ. ११८७
जत्थ य जं जाणेज्जा	आनि. ४	अनुद्धा. ७/१
जदि अत्थि पदविहारो	दनि. ७१	बृभा. ४२८७, निभा. ३१५७
जध गयकुलसंभूतो	दनि. ३०	पंकभा. १९१५, व्यभा. १९४७
जह तुब्बे तह अम्हे	उनि. ३०१	अनुद्धा. ५६९/३
जह दीवा दीवसयं	उनि. ८	अनुद्धा. ६४३/१, चंदा. ३०
जह मम न पिंयं दुक्खं	दशनि. १२९	अनुद्धा. ७०८/३, विभा. ३३१५
जह वा तिलसक्कुलिया	आनि. १३२	प. १/४७/३, जी. १/७२/३
जह सगलसरिसवाणं	आनि. १३१	प. १/४७/२, जी. १/७२/२
जहा लाभो तहा लोभो	उनि. २४९	उ. ८/१७
जाणावरणपहरणे	उनि. १५५	आवनि. ८४३
जीवाजीवाभिगमो	दशनि. २१७	बृभा. ४१२
जुत्तीसुवण्णगं पुण	दशनि. ३२९	पंव. ११९९
जे अज्झयणे भणिता	दशनि. ३३०	पंव. १२००
जेट्ठा सुदंसण जमालि	उनि. १७२/२	निभा. ५५१७
जेण सुहप्पज्झयणं	उनि. २८/३	विभा. ९५५
जोगुवओग कसाए	उनि. ४२०	भ. २५/२७८/२
जोगे करणे सण्णा	दशनि. १५२	पंव. ११६३, मूला. तु. १०१९
जोणिब्भूते बीए	दशनि. २१५	गोजी. १९०, प. १/४८/५१

जो भिक्खू गुणरहितो	दशनि. ३३१	पंच. १२०१
ठवणाए निक्खेवो	दनि. ५५	निभा. ३१४०
डगलच्छारे लेवे	दनि. ८८	निभा. ३१७५
णायम्मि गिण्हियम्मे	दशनि. १२५	अनुद्धा. ७१५/५
णिद्धस्स णिद्धेण दुहाहिएण	उनि. ४१/१	प. १३/२२/२
तं कसिणगुणोवेतं	दशनि. ३२८	पंच. ११९८
तम्हा जे अज्झयणे	दशनि. ३३३	पंच. १२०४
तह पवयणभत्तिगओ	दनि. ३१	पंचभा. १९१६, व्यभा. १९४८
तिण्णि दुवे एगा वा	दनि. ७८	निभा. ३१६४
तो समणो जइ सुमणो	दशनि. १३१	अनुद्धा. ७०८/६, आवनि. ८६७, विभा. ३३१७
दंसण-णाण-चरित्ते	दशनि. २९१	मूला. ५८६
दगघट्ट तिण्णि सत्त व	दनि. ७९	निभा. ३१६५
दब्बं सत्थग्गिविसं	दशनि. २१३	आनि. ३६, ठाणं. तु. १०/९३
दब्बदुवणाहारे	दनि. ८०	निभा. ३१६६
दब्बे अद्ध अहाउय	दशनि. १०	आवनि. ६६०
दसपुरनगरुच्छुधरे	उनि. १७२/१०	निभा. ५६०७, विभा. २९९२
दासो दासीवत्तिओ	दनि. ९८	निभा. ३१८५
धन्नाणि चउवीसं	दशनि. २२९	निभा. १०२९
धन्नाणि रतण-थावर	दशनि. २२७	निभा. तु. १०२८
धम्मकहा बोधव्वा	दशनि. १६६	ठाणं. तु. ४/२४६
धुवलोओ उ जिणाणं	दनि. ८६	निभा. ३१७३
नत्थि य सि कोइ वेसो	दशनि. १३०	अनुद्धा. ७०८/४, आवनि. ८६८, विभा. ३६१६
नदि-खेड-जणव उल्लुग	उनि. १७२/६	निभा. ५६०१, विभा. २९०७
नवबंभचेरमइओ	आनि. ११	निभा. १
न वि अत्थि न वि य होही	उनि. ३०२	अनुद्धा. ५६९/४
नाणं सिक्खति नाणो	दशनि. २९३	मूला. ३६८
नाणाविहसंठाणा	आनि. १३३	जी. १/७२/१, प. १/४७/१
नाणाविहोवकरणं	दशनि. २३५	निभा. तु. १०३५
नामं ठवणा दविए	दशनि. ८	बृभा. ५
नामं ठवणा पिंडो	दशनि. २१८	पिनि. तु. ५
नामण-भोवण-वासण	दशनि. १५५	निभा. ६
नामादिचउब्भेयं	दशनि. २५/२	विभा. ९५९
निक्खेवेगट्ट-निरुत्त	दशनि. ५	बृभा. १४९
निवर्चित विकालपडिच्छणा	दनि. १०७	निभा. ३१९५
निस्संकिय निक्कंखिय	दशनि. १५७	प. १/१०१/१४, आवनि. १५६१, निभा. २३, मूला. २०१, उ. २८/३१

नेच्छति जलूगवेज्जग	दनि. १०८	निभा. ३१९६
पंचसया चुलसीया	उनि. १७२	आवनि. ७८३, विभा. २७८७, निभा. ५६२१
पंचसया जंतेणं	उनि. ११४	निभा. ३९६५
पंचेव आणुपुब्बो	उनि. ७९	ग. ८/३१९/१
पक्खतिधयो दुगुणिता	उनि. १९२/१	विभा. ३३४९
पच्चक्खाणं सेयं	उनि. १७२/१२,	विभा. ३०३४
पच्छित्तं बहुपाणा	दनि. ११४	निभा. ३२०२
पज्जोसमणाए अक्खराइ	दनि. ५३	निभा. ३१३८
पडिमापडिवन्नाणं	दनि. ६२	निभा. ३१४७
पणिधानजोगजुत्तो	दशनि. १५९	निभा. ३५, मूला. २९७
पण्णवण वेद रागे	उनि. ४१९	भ. २५/२७८/१
परियट्ठिय लावण्णं	उनि. ३००	अनुद्वा. तु. ५६९/२
परिवसणा पज्जुसणा	दनि. ५४	निभा. ३१३९
पसत्थक्खिगतिग्गहणं	दनि. ८२/१, ८३	निभा. ३१६९, तु. ३१७०
पायच्छित्तं विणओ	दशनि. ४५	ठ. ३०/३०, मूला. तु. ३६०
पायस्सहरणं छेत्ता	दनि. १००	निभा. ३१८७
पावाणं कम्माणं	दशनि. १७४	ठाणं तु. ४/२५०
पासत्थि पंडरज्जा	दनि. ११०	निभा. ३१९८
पुट्ठो जहा अबद्धो	उनि. १७२/११	विभा. २९९९, निभा. ५६०८
पुढवी य सक्करा बालुगा	आनि. ७३	उ. ३६/७३, प. १/२०/१, मूला. २०६
पुरिमंतरंजि भुयगुह	उनि. १७२/७	निभा. ५६०२, विभा. २९३४
पुरिम-चरिमाण कप्पो	दनि. ११५	निभा. ३२०३
पुव्वाधीतं नासति	दनि. ११९	निभा. ३२०७
पुव्वाहारोसवर्णं	दनि. ८१	निभा. ३१६७
बवं च बालवं चेव	उनि. १९०	विभा. ३३४८
बहुरय जमालिपभवा	उनि. १६८	ठाणं ७/१४०, आवनि. ७७९
बहुरय पदेस अप्वत्त	उनि. १६७	आवनि. ७७८, निभा. ५५९६
बारसविहम्मि वि तवे	दशनि. १६०	निभा. ४२, पंकभा. १२१४, पं. ५६२, भआ. १०६, मूला. ४०९, ९७२
बाला मंदा किट्ठा	दशनि. ९/१	ठाणं १०/१५४, निभा. ३५४५, पंकभा. २५२, तंदुल. ३१
बाले सुत्ते सूर्इ	दनि. १२०	निभा. ३२०८
बाहिं ठिता वसभेहिं	दनि. ६५	निभा. ३१५०, बृभा. ४२८१
बोडियसिवभूतीए	उनि. १७२/१५	विभा. ३०३५, निभा. ५६२०
बोहण पडिमोद्दयण	दनि. ९६	निभा. ३१८३
भव आगरिसे कालंतरे	उनि. ४२१	भ. २५/२७८/३

भासणे संपातिवहो	दनि.९१	निभा.३१७८
भूमी घर-तरुगणा य	दशनि.२३३	निभा.१०३३
मण-वयण-कायगुत्तो	दनि.९२	निभा.३१७९
महुरा-मंगू आगम	दनि.११२	निभा.३२००
माणुस्स खेत जाती	उनि.१६०	आवनि.८३१
माया य रुहसोमा	उनि.९७	आवनि.७७५
मिच्छादिद्वी जीवो	उनि.१६५	भआ.३९
मिच्छापडिवतीए	दनि.१९	निभा.२६४८
मिहिलाए लच्छिघरे	उनि.१७२/५	विभा.२८७२, निभा.५६००
मुणिसुल्लयंतवासी	उनि.११३	निभा.३९६४
मोत्तुं पुराण भावित	दनि.८७	निभा.३१७४
मोरी नउलि बिराली	उनि.१७२/९	विभा.२९३६, निभा.५६०४
रयणाणि चतुव्वीसं	दशनि.२३१	निभा.१०३१
रहवीरपुरं नयरं	उनि.१७२/१३	विभा.३०३४, निभा.५६०९
रुग्गिहे गुणसिद्धि	उनि.२०२/१	विभा.२८१६, निभा.५५९८
राया सप्पे कुंथू	दनि.७३	निभा.३१५८
रुक्खा गुच्छा गुम्मा	आनि.१२९	जी. १/६९/१
वंदामि भद्दबाहुं	दनि.१	पंकभा.१
वणिधूयाचंकारिय	दनि.१०६	निभा.३१९४
वयल्लं कायल्लं	दशनि.२४४	सम.१८/३/१, जीतभा.५८७
वाओदएण राई	दनि.१०१	निभा.३१८८
वासं व न उवरमती	दनि.७४	निभा.३१६०
वासाखेत्तालंभे	दनि.६१	निभा.३१४६
विगतिं विगतीभीतो	दनि.८२	निभा.३१६८, पंव.३७०
विच्छुय सप्पे मूसग	उनि.१७२/८	विभा.२९३५, निभा.५६०३
विसघाति रसायण मंगलत्त	दशनि.३२६	पंव.११९२
सउणि चउप्पय मागं	उनि.१९१	विभा.३३५०
संखो तिणिसाऽगरु	दशनि.२३२	निभा.१०३२
संघातणा य परिसाडणा	उनि.१८६	निभा.१८०४
संजमखेतचुयाणं	दनि.११७	निभा.३२०५
सम्महिद्वी जीवो	उनि.१६६	भआ.३१
सयगुणसहस्सपाणं	दनि.१०९	निभा.३१९७
सल्लेसिं पि नयाणं	दशनि.१२६	अनुद्धा.७१५/६
सामित्ते करणम्मि य	दनि.५७	निभा.३१४२
सायत्थी उसभपुरं	उनि.१७०	ठाणं ७/१४२, आवनि.७८१, निभा.५६२२, विभा.२७८५

साहारणमाहारो	आनि.१३६	पं. १/४८/५५, गोजों. १९२
सीसं उरो य उदरं	उनि.१५३	निभा.५९३
सीहगिरि भद्रगुप्तो	उनि.९८	आवनि.तु. ७७६
सुत्ते जहा निबद्धं	दनि.११६	निभा.३२०४
सुद्धोदगे य ओसा	आनि.१०८	मूला. तु. २१०
सेयधि पोलासादे	उनि.१७२/४	विभा.२८३९, निभा.५५९९
सेलट्टि थंभ दारुय	दनि.१०३	निभा.३१९१
हरियाले हिंगुलए	आनि.७४	उ. ३६/७४, पं. १/२०/२, मूला. तु. २०७
हित-मित-अफरुसभासी	दर्शनि.२९९	मूला. तु. ३८३
होति उवंगा कण्णा	उनि.१५४, १८२/२	निभा.५९४

विशेषनामानुक्रम

अंक (मणि)	आनि. ७५	अणोज्जा (साध्वी)	उनि. १७२/२
अंगुलि (अवयव)	उनि. १८२/२	अण्णाणिय (दर्शन)	सूनि. ३०, ११८, ११९
अंजण (पृथ्वीकाय)	आनि. ७४	अतसि (धान्य)	दशनि. २३०
अंतगय (अवयव)	सूनि. ७१	अद्द (राजा)	सूनि. १८८
अंतरंजि (नगरी)	उनि. १७०, १७२/७	अद्दज्ज (अध्ययन)	सूनि. १८८
अंतरा (ग्राम)	उनि. ३४१, ३४३	अद्दग (राजकुमार, मुनि)	सूनि. १८८, १९१
अंतिय (मरण)	उनि. २०५	अद्दपुर (नगर)	सूनि. १८८
अंतोसल्ल (मरण)	उनि. २०५	अद्दय (मुनि)	सूनि. १९३
अंब (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६६, ६८	अद्दसुत (राजकुमार)	सूनि. १८८
अंब (फल)	उनि. २५८	अपरक्कममरण (मरण)	आनि. २८४
अंबट्ट (वर्णान्तर)	आनि. २२, २३	अप्पमादसुय (अध्ययन)	उनि. ५०४
अंबट्टी (वर्णान्तर)	आनि. २६	अप्पमाय (भावना)	आनि. ३६१
अंबय (फल)	उनि. २४१	अफलवाद (दर्शन)	सूनि. २९
अंबरिसि (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६६, ६९	अप्फोव (मण्डप)	उनि. ३९०
अकारगवाद (दर्शन)	सूनि. २९	अबद्धिग (दर्शन)	उनि. १६७
अक्रियवादी (दार्शनिक)	सूनि. ११८	अब्भ (पृथ्वीकाय)	आनि. ७४
अक्खेवणी (कथा)	दशनि. १६६-१६८, १७७, १७८	अभत्तछंद (रोग)	उनि. ८५
अग्गेय (दिव्य शस्त्र)	सूनि. ९८	अभय (मंत्री)	दशनि. ५८, ७८, सूनि. ५७, १९४
अग्गेयी (दिशा)	आनि. ४३	अभिधम्मा (दिशा)	आनि. ५७
अचंकारियभट्टा (महिला)	दनि. १०४, १०६	अय (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४
अच्छि (अवयव)	उनि. १८२/२	अय (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३
अच्छिवेयणा (रोग)	उनि. ८५	अयलपुर (नगर)	उनि. ९९
अजोगव (वर्णान्तर)	आनि. २२, २४	अरहणय (मुनि)	उनि. ९३
अज्जरक्खिय (आचार्य)	उनि. ९८, १७२/१०	अरहमित्त (मुनि)	उनि. ९३
अज्जुणय (माली)	उनि. १११	अरिट्टनेमि (तीर्थंकर)	उनि. ४४१, ४४२
अट्टमपुब्ब (ग्रंथ)	दनि. १८	अवय (वनस्पति)	आनि. १४१
अट्टावय (पर्वत)	उनि. २८०, आनि. ३५४, सूनि. ४१	अवरउत्तर (दिशा)	आनि. ५६
अणुक (धान्य)	दशनि. २२९	अवरदिसा (दिशा)	आनि. ४७
अणुप्पवाय (ग्रंथ)	उनि. १७२/५	अवरा (दिशा)	आनि. ५६
		अवहेडग (रोग)	उनि. १५०

अव्वल्लवाय (निहववाद)	उनि. १६७, १६८	आसंदी (उपकरण)	आनि. २६३
असगड (मुनि)	उनि. १२१	आसतरग (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४
असि (शस्त्र)	सूनि. ७२	आसमित्त (निहव)	उनि. १६८, १७२/५
असि (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ७६	आसाढ (आचार्य)	उनि. १२३, १६८, १७२/४
असिपत्त (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६७	इंगिणिमरण (मरण)	उनि. २०६, २२८, आनि. २७४, २८१, दनि. ९५
असिपत्तधनु (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ७७	इंदा (दिशा)	आनि. ४३
असिय (शस्त्र)	दनि. १००	इंदजसा (रानी)	उनि. ३३०
असियग (शस्त्र)	आनि. १४९, सूनि. ९८	इंददत्त (पुरोहित)	उनि. ११९, २४६
अस्स (तिर्यञ्च)	दशनि. ६०, उनि. ६५	इंदनील (मणि)	आनि. ७५
अहालंद (विशिष्ट मुनि)	दनि. ६२	इंदपद (पर्वत)	दनि. ७७
अहि (तिर्यञ्च)	उनि. २६३	इंदपुर (नगर)	उनि. ३४४
अहिछत्ता (नगरी)	उनि. ३४०, ३४३	इंदभूति (गणधर)	सूनि. २०५
अहिमार (वृक्ष)	उनि. १५२	इंदवसु (रानी)	उनि. ३३०
अहोदिसा (दिशा)	आनि. ५८	इंदसिरी (रानी)	उनि. ३३०
आइय (मरण)	उनि. २१५	इक्कड (चोर की जाति)	उनि. २५१
आइयंतिय (मरण)	उनि. २०९, २२३	इक्खु (धान्य)	दशनि. २३०
आघ (अध्ययन)	सूनि. १०३	इसिभासित (ग्रंथ)	सूनि. १९०
आढगम (माष)	उनि. १५१	इसिवुडिढ (रानी)	उनि. ३३५
आतच्छट्ट (दर्शन)	सूनि. २९	ईसाणा (दिशा)	आनि. ४३
आमदोष (रोग)	दशनि. ३४१	उंदर (तिर्यञ्च)	दशनि. १३३
आमलकप्पा (नगरी)	उनि. १७२/३	उक्कल (व्यक्ति)	आनि. ३२३
आमेलय (आभूषण)	उनि. १५२	उक्कलिया (वायु)	आनि. १६६
आयप्पवायपुब्ब (ग्रन्थ)	दशनि. १५	उग्ग (वर्णान्तर)	आनि. २२, २३, २६
आयय (संस्थान)	उनि. ३८, ४०, ४१	उज्जित (पर्वत)	आनि. ३५४
आयार (ग्रंथ)	दशनि. १६७, आनि. १, ९, १०, ३२, ३०६, ३०७, ३११ सूनि. २२, दनि. २७, ४७	उज्जेणी (नगरी)	उनि. ९०, ९१, ९५, ९९, १२०
आयारग (ग्रंथ)	आनि. १२, ३२, ३०७	उच्छु (वनस्पति)	दशनि. २७७, उनि. १५१, १८८
आयारधर (विशिष्ट मुनि)	आनि. १०, दनि. २७	उच्छुघर (स्थान विशेष)	उनि. १७२/१०
आयारपकण्य (ग्रंथ)	आनि. ३११, ३१७,	उट्ट (तिर्यञ्च)	दशनि. ८४
आलित्त (शस्त्र)	आनि. १५	उट्टी (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४
आवीइय (मरण)	उनि. २२२	उड्ढदिसा (दिशा)	आनि. ५४, ५९
आवीचि (मरण)	उनि. २०५, २१५	उत्तरज्झयण (ग्रंथ)	उनि. ४, २७, ५५२
आस (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४,		

उत्तरदिसा (दिशा)	आनि. ४८, ५६	एलग (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४
उदग (मुनि)	सूनि. २०५, २०६	एलगच्छपह (मार्ग)	उनि. ९१
उदधि (सार्धचाह)	उनि. ४२९	ओह (अवयव)	उनि. १८२/२, सूनि. ७७
उदयण (राजा)	उनि. १४८	ओदण (धान्य)	दशनि. २१८
उदर (अवयव)	उनि. १८२/१	ओय (आहार)	सूनि. १७१
उदहि (आचार्य)	आनि. २८४	ओरब्भिज्ज (अध्ययन)	उनि. २४२
उद्दयण (राजा)	दनि. ९६	ओवाई (विद्या)	उनि. १७२/९
ठप्पल (पुष्प)	दशनि. १३३	ओसा (नगरी)	उनि. ३३६
उर (अवयव)	उनि. १८२/१	ओसिर (वनस्पति)	उनि. १४७
उरग (तिर्यञ्च)	दशनि. १३२, उनि. १००	ओहि (मरण)	उनि. २०५, २०९, २१५
उरब्भ (तिर्यञ्च)	उनि. २३८, २४०	कंगु (धान्य)	दशनि. २२९
उरभ (तिर्यञ्च)	उनि. २४०	कंचुग (व्यक्ति)	उनि. ३५२
उवरिमदिसा (दिशा)	आनि. ५८	कंडु (रोग)	उनि. ८५, १५०
उवरुद्द (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६६, ७३	कंपिल्ल (नगर)	उनि. ३३४, ३३६
उवल (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३	कंपिल्लपुर (नगर)	उनि. ३८८, ३९४
उवहाणपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४६	कंस (कांस्य)	सूनि. १५१
उवहाणसुय (अध्ययन)	आनि. २९५	कच्चाइणी (रानी)	उनि. ३३२
उवासगपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४९	कडग (आभूषण)	उनि. १३९
उसभ (तीर्थकर)	उनि. २८१, आनि. १९, सूनि. ४१	कडग/कडय (राजा)	उनि. ३२८, ३४९
उसभ (राजा)	उनि. ३३२	कडवाद (दर्शन)	सूनि. ३१
उसभपुर (नगर)	उनि. १०१, १७०	कणग (धातु)	उनि. ३४, ४६०
उसुयार (राजा)	उनि. ३५३, ३५५, ३५९, ३६५	कणगमूल (वनस्पति)	उनि. १४९
उसुयार (नगर)	उनि. ३५८	कणियार (वनस्पति)	दशनि. १३३
उसुयारपुर (नगर)	उनि. ३२७, ३६०	कणेरुदत्त (राजा)	उनि. ३२८
उलुगी (विद्या)	उनि. १७२/९	कण्ण (अवयव)	उनि. १८२/२, सूनि. ७७
उल्लुगातीर (नगरी)	उनि. १७०, १७२/६	कण्ह (आचार्य)	उनि. १७२/१३
ऊरु (अवयव)	सूनि. ७३, ७७	कत्थ (वनस्पति)	आनि. १४१
ऊस (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३	कप्प (ग्रंथ)	दनि. १
एकप्पय (दर्शन)	सूनि. २९	कप्पणी (शस्त्र)	आनि. १४९, सूनि. ६९
एगग्ग (भावना)	आनि. ३६१	कमल (पुष्प)	आनि. २२९
एगराइय (प्रतिमा)	उनि. ४६८	कमलावई (रानी)	उनि. ३५९
एगविहारपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४६	कम्मप्पवायपुव्व (ग्रंथ)	दशनि. १५, उनि. ७०
एरंड (वृक्ष)	आनि. २४०	कर (अवयव)	सूनि. ७३, ७७
		करकंडु (प्रत्येकबुद्ध)	उनि. २५७, २५८

करकय (शस्त्र)	सूनि. ८९	कुक्कुड (तिर्यञ्च)	उनि. ३५१, दशनि. १३३, ३३५
करमोदि (वनस्पति)	उनि. ४८६	कुक्कुरअ (वर्णान्तर)	आनि. २७
करिस (माप)	उनि. १४७	कुच्छिद्येयणा (रोग)	उनि. ८५
करेणुदत्ता (रानी)	उनि. ३३५	कुडव (माप)	दशनि. २१०
करेणुपदिगा (रानी)	उनि. ३३५	कुदाल (शस्त्र)	आनि. ९५, १४९
करेणुसेणा (रानी)	उनि. ३३५	कुरर (तिर्यञ्च)	उनि. ४६३
कलाय (धान्य)	दशनि. २३०	कुरु (जनपद)	उनि. ३५८
कलिंग (व्यक्ति)	आनि. ३२३	कुरुदत्त (व्यक्ति)	उनि. १०८
कलिंग (जनपद)	उनि. २५७	कुरुमती (रानी)	उनि. ३३५, ३५२
कविल (मुनि)	उनि. २४३, २४५, २४६, २४७	कुलत्थ (धान्य)	दशनि. २३०
कविला (दिशा)	आनि. ५७	कुलल (तिर्यञ्च)	उनि. ४६३, ४६४
कागिणी (मुद्रा)	उनि. २४१, ५३३	कुलिय (कृषि उपकरण)	दशनि. ५७
कागी (विद्या)	उनि. १७२/८	कुसकुंडी (रानी)	उनि. ३४३
काल (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६६, ७४	कुसुंभ (रंग)	उनि. १८७, २०२, दनि. १०३
कालखमण (आचार्य)	उनि. १२०	कुसुंभय (रंग)	दनि. १०३
कालवेसिय (मुनि)	उनि. ११६	कुहाडि (शस्त्र)	आनि. १४९
कालेज्ज (अवयव)	सूनि. ७१	कूलबाल (मुनि)	सूनि. ५७
कावलिक (आहार)	सूनि. १७२	केवलमरण (मरण)	उनि. २०६, २१७
कास (रोग)	उनि. ८५	केस (अवयव)	उनि. १८२/२, सूनि. ८०
कासव (पुरोहित)	उनि. २४६	केसर (उद्यान)	उनि. ३८९, ३९०
कासव (गोत्र)	उनि. ४६०	केसि (आचार्य)	उनि. ४४७, ४४८
किंत्थुग्घ (करण)	सूनि. १२	कौंत (शस्त्र)	सूनि. ७२
किंपाग (फल)	उनि. ३९६	कोट्टवीर (शिष्य)	उनि. १७२/१५
किंसुग्घ (करण)	उनि. १९१	कोडिन्न (तापस, मुनि)	उनि. १७२/५, १५
किण्हय (वनस्पति)	आनि. १४१		२८६, २८९
कित्तिमई (रानी)	उनि. ३३१	कोणिय (राजा)	दशनि. ७४
कित्तिसेण (राजा)	उनि. ३३१	कोदव (धान्य)	दशनि. २२९
किमि (तिर्यञ्च)	दनि. १०३	कोलव (करण)	उनि. १९०, सूनि. ११
किरियवादी (दर्शन)	सूनि. ११८, १२१	कोल्लयर (नगर)	उनि. १०७
कुंजर (तिर्यञ्च)	उनि. ३५२	कोसंबी (नगर)	उनि. १००, १०९,
कुंजरसेणा (रानी)	उनि. ३३५		११८, २४६, ३४०,
कुंडय (पात्र)	उनि. ३५०	खइर (वनस्पति)	आनि. २४०
कुंडल (आभूषण)	उनि. १३९	खंडरक्खा (आरक्षक)	उनि. १७२/५
कुंभी (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ७४		

खंद (देव)	उनि. ३०८	गिरिपुर (नगर)	उनि. ३४०
खंदय (मुनि)	उनि. ११२, ११३	गुंजा (वायु)	आनि. १६६
खंदसिरी (महिला)	उनि. १११	गुड (खाद्य पदार्थ)	दशनि. २१८
खंध (अवयव)	उनि. १८३	गुणसिलय (चैत्य)	उनि. १७१/३
खण्जोय (तिर्यञ्च)	आनि. ११९	गो (तिर्यञ्च)	दनि. १०३
खत्त (वर्णान्तर)	आनि. २२, २४	गोड्डाभाहिल (निहव)	उनि. १६९
खसा (वर्णान्तर)	आनि. २६	गोड्डाभाहिल (निहव)	उनि. १७२/१०
खरस्सर (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६७, ८१	गोण (तिर्यञ्च)	उनि. ६५, ४८४, दनि. १२,
खलुंक (तिर्यञ्च)	उनि. ४८२-८५	गोतम (गणधर)	उनि. २८४, २८७, २९२, २९४,
खीर (खाद्य पदार्थ)	उनि. २९३, दनि. ९९		२९५, २९८, ४४५, ४४७, ४४८,
खेलेज्जा (दिशा)	आनि. ५७		सूनि. ९०, २०६ दनि. १११
गंग (निहव)	उनि. १६९, १७२/६	गांतम (नैमित्तिक)	आनि. ३२३
गंगा (नदी)	उनि. १२१, १२५, ४६२, ४६५	गोदत्ता (रानी)	उनि. ३३५
गंडयजक्ख (यक्ष)	उनि. ३२०	गोधुम (धान्य)	दशनि. २२९
गंडि (यक्ष)	उनि. ३२०	गोमेज्जय (मणि)	आनि. ७५
गंडितिंदुगवण (उद्यान)	उनि. ३१७, ३२०	गोयमस्सामी (गणधर)	दशनि. ७४
गंधार (श्रावक)	उनि. ९५	गोरी (महिला)	उनि. ३१८
गंधार (जनपद)	उनि. २५७	गोविंदवायग (आचार्य)	दशनि. ७८
गंधार (पर्वत)	दनि. ९७	गोसाल (भिक्षु)	सूनि. १९१, १९९
गंधारी (महिला)	उनि. ३१८	घणवाय (वायु)	आनि. १६६
गद्दभ (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४	घोडग (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४
गद्दभालि (मुनि)	उनि. ३१०	चउप्पय (करण)	उनि. १९१, सूनि. १२
गय (तिर्यञ्च)	दशनि. २७६, उनि. ४८६,	चउरंस (संस्थान)	उनि. ३८, ४०
	सूनि. २०१, दनि. ३०	चंडवडिंसय (राजा)	उनि. ३२५
गयगपयय ^१ (पर्वत)	आनि. ३५४	चंडाल (वर्णान्तर)	उनि. ३१६,
गयपुर (नगर)	उनि. १०८, ३१५		आनि. २२, २५
गरादि (करण)	उनि. १९०, सूनि. ११	चंदपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४७
गागलि (राजा, मुनि)	उनि. २७८	चंदप्पभ (मणि)	आनि. ७६
गावी (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४	चंपपुरी (नगरी)	उनि. २७८
गाहा (छंद)	सूनि. १३९	चंपा (नगरी)	उनि. ९४, ११८, २७९,
गिद्धपिट्ट (मरण)	उनि. २०६, २१८,		३३६, ३४५, ४२५, दनि. ९५
	आनि. २७३	चक्क (शस्त्र)	उनि. १६१, सूनि. ९३
गिरितडग (नगर)	उनि. ३३६	चमर (देव)	आनि. ३५४

परिशिष्ट १२ : विशेष नामानुक्रम

चरक (परिव्राजक)	दशनि. १३४, ३०७/१	जसवई (रानी)	उनि. ३३२
चरण (अवयव)	सूनि. ७३, ७७	जसा (पुरोहित पत्नी)	उनि. २४६
चरित (भावना)	आनि. ३५१	जावग (हेतु)	दशनि. ८३, ८४
चाउत्थिग (रांग)	उनि. ३२०	जिणपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४१
चारित्तसमाहिपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४८	जियसतु (राजा)	उनि. ११२, ३४३
चारुदत्त (राजा)	उनि. ३३२	जीवपदेस (दर्शन)	उनि. १६८
चित्त (मुनि)	उनि. ३२२, ३२४, ३४७, ३३१	जोहा (अवयव)	दनि. ११२
चित्तसंभूय (अध्ययन)	उनि. ३२४	ठाण (ग्रंथ)	दनि. ४७
चित्तसेणअ (राजा)	उनि. ३३१	ढंक (श्रमणोपासक)	उनि. १७२/२
चुलणिदेवी (रानी)	उनि. ३३०	ढंढ (मुनि)	उनि. ११५
चूतरुक्ख (वृक्ष)	उनि. २६८	णंदिसर (द्वीप)	दनि. ९५
चूयपादव (वृक्ष)	उनि. ३४९	णाया (ग्रंथ)	दनि. ५
छठमत्थ (मरण)	उनि. २०६, २१७	तडय (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३
छगल (तिर्यञ्च)	उनि. १३८	तंब (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३
छट्टपुव्व (ग्रन्थ)	दनि. १८	तंबोल (ताम्बूल)	आनि. २८७
छत्तय (उपकरण)	दनि. १२०	तंस (संस्थान)	उनि. ३८, ३९
छलूग (निहव)	उनि. १६९	तगरा (नगरी)	उनि. ९३
जंघा (अवयव)	सूनि. १६२, उनि. १८२/२	तज्जीवतस्सरोर (दर्शन)	सूनि. २९
जंबु (आचार्य)	सूनि. ८५	तब्भव (मरण)	उनि. २०५, २१४, २१५
जंबुय (तिर्यञ्च)	उनि. ११६	तमा (दिशा)	आनि. ४३
जक्खहरिल (यक्ष)	उनि. ३३२	तमालपत्त (वनस्पति)	उनि. १४७
जगदग्गिजडा (वनस्पति)	उनि. १४६	तव (भावना)	आनि. ३५१
जण्णदत्त (ब्राह्मण)	उनि. १०९	ताल (वृक्ष)	आनि. १३३
जमालि (निहव)	उनि. १६८, १७२/२, सूनि. १२५	तालवंट (उपकरण)	आनि. १७०
जम्मा (दिशा)	आनि. ४३	तावस (श्रेष्ठी)	उनि. १००
जयघोष (मुनि)	उनि. ४५९, ४६१, ४६२, ४६५, ४७०, ४७४, ४७६	तिंदुग (उद्यान)	उनि. १७२/२, ३१७, ३२०
जर (रोग)	उनि. ८५	तिणिस (वनस्पति)	दशनि. १३३, २८६
जलकंत (मणि)	आनि. ७६	तित्तिरी (तिर्यञ्च)	दशनि. ८५
जलूक (तिर्यञ्च)	उनि. ४८७, दनि. १०८	तिपुडग (धान्य)	दशनि. २३०
जलोय (तिर्यञ्च)	दशनि. ३४	तिमिर (रोग)	उनि. १५०
जव (धान्य)	दशनि. २२९	तिल (धान्य)	दशनि. २२९, उनि. ३५१, आनि. ३४९
जसभद (आचार्य)	दशनि. ३४९	तिलसक्कुलिया (खाद्यपदार्थ)	आनि. १३२
		तिसूल (शस्त्र)	सूनि. ७२

तीसगुप्त (निहव)	उनि. १६८, १७२/३	दसासु (ग्रंथ)	दनि. १
तुंबवण (वन)	उनि. २८८	दारुय (वणिक्)	उनि. ३३३, ३५१
तुरंग (तिर्यञ्च)	दशनि. २७४	दाहिणदिसा (दिशा)	आनि. ४८, ५२
तुरग (तिर्यञ्च)	उनि. ४६	दिट्ठिवाय (ग्रंथ)	दशनि. १६७
तुवरी (धान्य)	दशनि. २३०	दिन्न (तापस, मुनि)	उनि. २८९
तूर (वाद्य)	उनि. १५२	दीवग (उद्यान)	उनि. १७२/१३
तेइज्जग (रोग)	उनि. १५०	दीवसिहा (रानी)	उनि. ३३३
तेरासिय (निहववाद)	उनि. १६९	दीवायण (ऋषि)	दशनि. ५२
तोमर (रास्त्र)	सूनि. ७२	दीह (राजा)	उनि. ३२८, ३४६
तोसलि (आचार्य)	आनि. २८५	दुड्ड (खाद्य)	सूनि. ३५
तोसलिपुत्त (आचार्य)	उनि. ९७	दुमपुप्फिया (अध्ययन)	दशनि. १८
थग (अवयव)	सूनि. ७७	दुम्मुह (प्रत्येकबुद्ध)	उनि. २५७, २५८
थाल (उपकरण)	उनि. ३५०	दुरुत्तग (व्यक्ति)	दनि ९४
थावग (हेतु)	दशनि. ८३, ८४	दुरुयग (व्यक्ति)	दनि. ९२, ९४
थूलभट्ट (आचार्य)	उनि. १०१, १०५, १०६, १२२	देवकुरु (क्षेत्र)	आनि. १८२, सूनि. १५३
थीविलोयण (करण)	उनि. १९०, सूनि. ११	देवदत्त (व्यक्ति)	दशनि. ६०
दंडइ (राजा)	उनि. ११३	देवदत्ता (दासी)	उनि. ९५, दनि ९६
दंडगी (राजा)	उनि. ११२	देवी (रानी)	उनि ३३२
दंसण (भावना)	आनि. ३५१	दोकिरिय (निहववाद)	उनि. १६९
दक्खी (वनस्पति)	उनि. १५१	दोगुंदग (देव)	उनि. ४०५, ४३२
दक्खिणा (दिशा)	आनि. ५६	धण (श्रेष्ठी)	दनि. १०८
दक्खिणापरा (दिशा)	आनि. ५६	धणगिरि (श्रेष्ठी)	उनि. २८८
दढनेमि (राजकुमार)	उनि. ४४१	धणगुत्त (शिष्य)	उनि. १७२/६
दत्त (मुनि)	उनि. ९३, १०७	धणदेव (वणिक्)	उनि. ३३३
दत्तिय (शस्त्र)	आनि. १४९	धणमित्त (मुनि)	उनि. ९१
दसकालिय (ग्रंथ)	दशनि ७, ११, १३, १४, २४	धणसम्म (मुनि)	उनि. ९१
दसकालियनिज्जुत्ति (ग्रंथ)	दशनि. १	धणसेट्ठि (श्रेष्ठी)	उनि. २४६
दसण (अवयव)	सूनि. ७७	धणु (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६७
दसण्ण (जनपद)	उनि. ३२७	धणुय (सेनापति)	उनि. ३३०
दसपुर (नगर)	उनि. ९६, १७०, १७२/१०	धम्मघोस (आचार्य)	उनि. ९४
दसवेयालिय (ग्रंथ)	दशनि. ६	धम्मचक्र (स्थान)	आनि. ३५४
दसारवग (जाति)	दशनि. ५२	धम्मपण्णत्ति (अध्ययन)	दशनि. १५
		धायगी (वनस्पति)	उनि. १५१

धारिणी (रानी)	उनि. ११२	निसाय (वर्णान्तर)	आनि. २२, २३, २६
धुय (अध्ययन)	आनि. ३१०	निसीह (ग्रंथ)	आनि. ३६६
नवली (विद्या)	उनि. १७२/९	नेरुती (दिशा)	आनि. ४३
नंगल (कृषि उपकरण)	दशनि. ५७	पउम (पुष्प)	सूनि. १६३, १६४
नंद (सन्निवेश)	उनि. ३३६	पउमगुम्म (विमान)	उनि. ३५७
नंद (राजा)	उनि. १०१	पंचाल (जनपद)	उनि. २५७, २६२/१
नंदण (भवन, प्रासाद)	उनि. ४०५	पंडरज्जा (साध्वी)	दनि. ११०, १०४
नंदी (वाद्य)	उनि. २६३	पंडिय (मरण)	उनि. २०५, २१६
नंदी (द्वीप)	दनि. ९५	पंथक (राजा)	उनि. ३३१
नंदीसर (द्वीप)	आनि. ३५३	पक्खेव (आहार)	सूनि. १७१, १७२
नग्गति (प्रत्येकबुद्ध)	उनि. २५७	पडिसंलीण (प्रतिमा)	दनि. ४६
नदिखंड (जनपद)	उनि. १७२/६	पच्चक्खाण (ग्रंथ, दृष्टिवाद)	आनि. ३११
नमि (राजर्षि)	उनि. २५३, २५५, २५७, २५८, २६३, २६४, २६६, २६७	पज्जुण (व्यक्ति)	उनि. ३५२
नमि (तीर्थंकर)	उनि. २६४, २६५	पज्जुनसेण (राजा)	उनि. ३३४
नयय (अवयव)	उनि. २७	पज्जोत/पज्जोय (राजा)	सूनि. ५७, दशनि. ७८, उनि. ९५, ९६
नलदाम (व्यक्ति)	दशनि. ७७	पडलब्ध (पृथ्वीकाय)	आनि. ७४
नलिणिगुम्म (विमान)	उनि. १७२/४, ३४६	पडुय (तिर्यञ्च)	उनि. २६१
नह (अवयव)	उनि. १८२/२	पणय (वनस्पति)	आनि. १४१
नाग (करण)	उनि. १११, सूनि. १२	पण्णत्ति (ग्रंथ)	दशनि. १६७
नागजसा (रानी)	उनि. ३३१	पण्णवित्ती (दिशा)	आनि. ५७
नागदत्ता (रानी)	उनि. ३३२	पतिगा (रानी)	उनि. ३३४
नाण (भावना)	आनि. ३५१	पत्थ (माप)	दशनि. २१०
नाणवादी (दर्शन)	सूनि. ३०	पत्थिव (दिव्य शस्त्र)	सूनि. ९८
नालंदइज्ज (अध्ययन)	सूनि. २०५	पभावई (रानी)	उनि. ९६, दनि. ९६
नालंदा (उपनगरी)	सूनि. २०४, २०५	पमायप्पमाय (अध्ययन)	उनि. १७५
नालिया (उपकरण)	दशनि. ५८	पयण (पात्र)	सूनि. ७८
नालिएर (वृक्ष)	आनि. १३३	परसु (शस्त्र)	उनि. ३७०, आनि. १४९
नावा (वाहन)	आनि. ३३४, सूनि. १६२		सूनि. ३९, ८१
नास (अवयव)	उनि. १८२/२	परासर (वर्णान्तर)	आनि. २३
निप्फाव (धान्य)	दशनि. २३०	परिमंडल (संस्थान)	उनि. ३८
नियतीवाय (दर्शन)	सूनि. ३०	परिमंडलग (संस्थान)	उनि. ४१
निब्बेयणी (कथा)	दशनि. १७४, १७५	परियाधम्मा (दिशा)	आनि. ५७
निसादी (वर्णान्तर)	आनि. २७	पल (माप)	उनि. १४७

पलियंक (उपकरण)	दशनि २४४	पुल्लदक्खिणा (दिशा)	आनि ५६
पवाल (मणि)	आनि ७४, सूनि १५१	पुल्लदिसा (दिशा)	आनि ४७, ५६
पसेणई (राजा)	उनि २४६	पुल्लुत्तरांदसा (दिशा)	आनि ५६
पाईण (गोत्र)	दनि १	पुसमिस (आचार्य)	उनि १७२/१०
पाओवगमण (मरण)	उनि २०६	पोंडरीय (राजकुमार)	उनि २८६, २८८
पाडल (पुष्प)	उनि १२५	पोंडरीय (दृष्टान्त)	दशनि ६३
पाडलिपुत्त (नगरी)	उनि १०१	पोंडरीय (पुष्प)	सूनि १४५
पाण (चांडाल जाति)	उनि ३१६	पोट्टसाल (परिव्राजक)	उनि १७२/७
पाद (अवयव)	उनि १८२/२, सूनि ७६	पोत (राजा)	उनि ३३३
पायवगमण (मरण)	उनि २२८	पोथाई (विद्या)	उनि १७२/८
	आनि २७४, २८३,	पोलास (उद्यान)	उनि १७२/४
	२८४, २९१	फगुरक्खिय (मुनि)	उनि ९७
पायस (खाद्य पदार्थ)	दनि ९९, १००	फलह (मणि)	आनि ७५
पारासर (कृषक)	उनि ११५	फिग्ग (अवयव)	सूनि ७७
पालवक (पुरोहित)	उनि ११३	फिप्फिस (अवयव)	सूनि ७१
पालिग (सार्थवाह)	उनि ४२५	फुप्फुस (अवयव)	सूनि ७१
पालिय (सार्थवाह)	उनि ४२९	बइल्ल (तिर्यञ्च)	उनि ४८३, दनि ९३, ९४
पास (अवयव)	सूनि ७६	बंध (राजा)	उनि ३२८
पास (तीर्थकर)	आनि ३५४	बंधच्चेर (ग्रंथ)	आनि १२
पासावच्चिक्क (सम्प्रदाय)	सूनि २०६	बंधथलय (नगरी)	उनि ३४०
पिठड (खाद्य पदार्थ)	उनि १७२/३	बंधदत्त (चक्रवर्ती)	उनि ३२७, ३३०,
पिंगल (संन्यासी)	दशनि ७९		३५२, ३४५
पिंगला (रानी)	उनि ३३३	बंधवती (परिव्राजक)	सूनि १९१
पिंडेसणा (अध्ययन)	दशनि २१९	बंधी (दार्शनिक)	सूनि १९९
पिट्टिचंपा (नगरी)	उनि २७७	बग (तिर्यञ्च)	दशनि २७४/१
पिट्ठी (अवयव)	उनि १८२/१	बलकोट्ट (चाण्डाल-अधिपति)	उनि ३१८
पिट्हुंड (नगर)	उनि ४२६, ४२७	बलदेव (मुनि)	उनि ११५
पुंडरीय (भवन)	उनि ४३२	बलभद (राजा)	उनि १७२/४
पुक्खर (तीर्थ)	उनि ९६, दनि ९७	बलभद (चोर)	उनि २५१
पुण्णभद (चैत्य)	उनि २७९	बलभद (मुनि)	उनि ४०३
पुप्फचूल (राजा)	उनि ३२८	बलसिरी (राजा)	उनि १७२/७
पुप्फुत्तर (विमान)	उनि २६६/१	बलसिरी (राजकुमार)	उनि ४०२, ४०४
पुत्थी (रानी)	उनि ३३३	बव (करण)	उनि १९०, सूनि ११
पुरंदरजसा (रानी)	उनि ११२, ११३	बसंतपुर (नगर)	सूनि १९२

बहुरय (निहववाद) उनि. १६७, १६८, १७२/१	भेरुड (तिर्यञ्च) उनि. ३१९
बालपंडित (मरण) उनि. २१६	भोयडपुर (नगर) उनि. ९०
बालमरण (मरण) उनि. २०५, २१६	मंगु (आचार्य) दनि. १०४, ११२
बालव (करण) उनि. १९०, सूनि. ११	मंडलग (शस्त्र) सूनि. ५१
बालुगा (पृथ्वीकाय) आनि. ७३	मंडलिया (वायु) आनि. १६६
बालुय (पृथ्वीकाय) आनि. ७४	मंडुक्क (तिर्यञ्च) उनि. ४६२, ४६४
बाहिर (चाण्डाल) उनि. ३१६	मंडुक्रिया (तिर्यञ्च) दशनि. ५२
बाहा (अवयव) सूनि. १६२, उनि. १८२/१	मंदर (पर्वत) दशनि. ३३५, उनि. २६३, आनि. ४९, ३५३
बाहु (अवयव) सूनि. ७३, ७७	मंसू (अवयव) उनि. १८२/२
बिराली (विद्या) उनि. १७२/९	मगहापुर (नगर) उनि. २७७
बिल्ल (वनस्पति) उनि. १४०	मच्छ (तिर्यञ्च) दशनि. ५१
बुक्कस (वर्णान्तर) आनि. २६	मज्जार (तिर्यञ्च) दशनि. २७४/१
बोडियलिंग (मत) उनि. १७२/१५	मणग (मुनि) दशनि. १४, १७, ३४८
बोडियसिखभूति (आचार्य) उनि. १७२/१४, १५	मणगणियर (आचार्य) दशनि. १३
भक्तपरिण्णा (मरण) उनि. २०६, २१९	मणिणाय (देव) उनि. १७२/६
आनि. २६३, २७३, २८१	मणोरह (उद्यान) सूनि. २०५
भद् (राजकुमार) उनि. ११७	मणोसिला (पृथ्वीकाय) आनि. ७४
भद्गुत्त (आचार्य) उनि. ९८	मतंग (नदी) उनि. ३१७
भद्दार (वृक्ष) उनि. १४७	मयंग (चाण्डाल जाति) उनि. ३१६
भद्बाहु (आचार्य) दनि. १, उनि. ९२	मधुकरी (तिर्यञ्च) दशनि. ११४
भद्दा (साध्वी) उनि. ९३	मय (तिर्यञ्च) दशनि. ९५
भद्दा (रानी) उनि. ३३१	मयास (चाण्डाल जाति) उनि. ३१६
भमर (तिर्यञ्च) दशनि. ९२, ९६, ९७, ११४, ११५, ११७, ११९, १२०/२, १३३	मयूर (तिर्यञ्च) दशनि. ३३५
भरहपिउ (तीर्थकर) उनि. २८१	मरगय (मणि) आनि. ७५
भाणिय (वनस्पति) आनि. १४१	मरुग (श्रमण) दशनि. ३०७/१
भावणा (चूला) आनि. ३१०, ३१७	मरुय (किसान) दनि. १०४, १०५
भासज्जाय (अध्ययन) आनि. ३०९	मलयवती (रानी) उनि. ३३४
भिकुंडि (राजा) उनि. ३४३	मल्लिया (पुष्प) उनि. १४६
भिव्खुपडिमा (प्रतिमा) दनि. ४५	मसग (तिर्यञ्च) उनि. ९४, ४८७
भिगु (पुरोहित) उनि. ३५९, ३६६	मसारगल्ल (मणि) आनि. ७५
भुयगुह (चैत्य) उनि. १७२/७	मसूर (धान्य) दशनि. २३०
भुयमोयग (मणि) आनि. ७५	महपंचभूत (दर्शन) सूनि. २९
	महाकाल (परमाधार्मिक देव) सूनि. ६६, ७५

महागिरि (आचार्य)	उनि. १७२/५, १७२/६	मुग (धान्य)	दशनि. २२९
महाघोस (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६७, ८२	मुगगर (शस्त्र)	उनि. ८८
महातव (पर्वत)	उनि. १७२/६	मुगगरपाणि (यक्ष)	उनि. १११
महानियंठ (अध्ययन)	उनि. ४२१, ४२२	मुगगसेलपुर (नगर)	उनि. ११६
महापरिणाम (अध्ययन)	आनि. २६९, २७०, २९०	मुणिचंद (मुनि)	उनि. ३२५
महावीर (तीर्थकर)	उनि. २७९	मुणिसुल्लग (तीर्थकर)	उनि. ११३
महासाल (राजकुमार)	उनि. २७७	मुत्तावलि (आभूषण)	आनि. ४६
महिंदफल (फल)	उनि. १४९	मुरिय (वंश)	उनि. १७२/४
महिंसी (तिर्यञ्च)	दशनि. २३४, आनि. २८५	मूसग (विद्या)	उनि. १७२/८
महु (खाद्यपदार्थ)	उनि. १२७	मूसगावरद्ध (रोग)	उनि. १५०
महुगरि (तिर्यञ्च)	दशनि. ९६	मेरु (पर्वत)	आनि. ४९, ५०
महुयर (तिर्यञ्च)	दशनि. ९५, १२०/१, १२०/४	मेस (तिर्यञ्च)	दशनि. ३४
महुरा (नगरी)	उनि. ११६, ११९, ३१५, ३४०, ३४३ दनि. ११२	मोत्तिय (मणि)	सूनि. १५१
मागह (माप)	उनि. १५१	मोय (प्रतिमा)	दनि. ४७
मागह (वर्णान्तर)	आनि. २२, २४	मोयग (खाद्यपदार्थ)	दशनि. ८५
मास (धान्य)	दशनि. २२९	मोरी (विद्या)	उनि. १७२/९
मास (माप)	उनि. २४९	रक्खिय (आचार्य)	उनि. ९८
मिंठ (तिर्यञ्च)	दनि. १०३	रयणवई (रानी)	उनि. ३३२
मिग (तिर्यञ्च)	दशनि. १३२, आनि. ९५	रयणि (माप)	उनि. १४९
मिगदेवी (रानी)	उनि. ४०२	रह (वाहन)	उनि. ४६, ३५०
मिगपुत्तिज्ज (अध्ययन)	उनि. ४०२	रहनेमि (मुनि)	उनि. ४३७, ४३९, ४४१, ४४२, ४४३
मिगा (रानी)	उनि. ४०३	रहवीरपुर (नगर)	उनि. १७०, १७२/१३, १४
मिगावई (साध्वी)	दशनि. ७२	रहावत्तनग (पर्वत)	आनि. ३५४
मिगी (विद्या)	उनि. १७२/८	राई (वनस्पति)	उनि. १४०
मित्तिसिरी (श्रमणोपासक)	उनि. १७२/३	राध (आचार्य)	उनि. ९९
मिय (तिर्यञ्च)	उनि. ३८९	रायगिह (नगर)	उनि. ९२, १०१, १११, १७२/३-६, २५१, ३४०, ३४५, सूनि. १९९, २०४
मिहिला (नगरी)	उनि. १७०, १७२/५, ३४५	रायमती (साध्वी)	उनि. ४४४
मिहिलापति (राजर्षि)	उनि. २६३	रायमास (धान्य)	दशनि. २३०
मीरा (उपकरण)	सूनि. ७४	रालग (धान्य)	दशनि. २२९
मिहिलाहिव (राजर्षि)	उनि. २६७	राहक्खमण (आचार्य)	उनि. ९९
मीस (बालपंडितमरण)	उनि. २०५	रुद्ध (परमाधार्मिकदेव)	सूनि. ७२
मुकुंद (वाद्य)	उनि. १५२		

रुहपुर (नगर)	उनि. ३४४	वणराइ (रानी)	उनि. ३३४
रुहसोमा (व्यक्ति)	उनि. ९७	वणिय (करण)	उनि. १९०, सूनि. ११
रुप्य (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३	वद्धमाण (तीर्थकर)	आनि. २९६, उनि. ५१९,
रुयग (मणि)	आनि. ७५		दनि. ११५
रूविणी (सार्धवाह-पत्नी)	उनि. ४३१, ४३२	वयग्गाम (ग्राम)	उनि. ३६३
रोह (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६६	वयरोसभ (संहनन)	उनि. ४०४
रोहगुत्त (शिष्य)	उनि. १७२/७	वरग (मंत्री)	दनि. १०६
रोहगुत्त (मंत्री)	आनि. २२८	वरधणु (मंत्री)	उनि. ३३०, ३३७
लच्छिघर (चैत्य)	उनि. १७२/५	वरधणुग (मंत्री)	उनि. ३३७
लवण (समुद्र)	आनि. ५०	वररुइ (व्यक्ति)	उनि. १०१
लाउयपाल (अलाबुपात्र)	दनि. ११८	वराहो (विद्या)	उनि. १७२/८
लोगसार (अध्ययन)	आनि. २३९	वलय (आभूषण)	उनि. २५८, २६७
लोण (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३	वसट्टमरण (मरण)	उनि. २०५, २१०
लोम (आहार)	सूनि. १७१, १७२	ववहार (ग्रन्थ)	दशनि. १६७, दनि. १, ४७
लोहि (उपकरण)	सूनि. ७८	वसट्टमरण (मरण)	उनि. २०५, २१०
लोहियक्ख (मणि)	आनि. ७५	वसभ (तिर्यञ्च)	उनि. २५८, २६०, २६१
वइर (रत्न)	आनि. ७३, २४०	वसह (तिर्यञ्च)	उनि. २५९, २६१
वइर (आचार्य)	आनि. २८३	वसु (आचार्य)	उनि. १७२/३
वइरक्खमण (आचार्य)	उनि. १८	वसुमित्त (वणिक्)	उनि. ३३३
वंजुल (वनस्पति)	दशनि. १३३	वाउ (दिव्यशस्त्र)	सूनि. ९८
वंस (वनस्पति)	दनि. १०३	वाघातिममरण (मरण)	आनि. २८५
वंसीपासाय (भवन)	उनि. ३३६	वाणारसी (नगरी)	उनि. ३१७, ३४०,
वक्कसुद्धि (अध्ययन)	दशनि. १६		४६०, ४६८
वाग्गु (विमान)	उनि. २८८	वाणीरा (रानी)	उनि. ३३४
वाग्गुमती (महिला)	आनि. ३२३	वायव्वा (दिशा)	आनि. ४३
वग्घ (तिर्यञ्च)	उनि. १०३, १२८	वायस (तिर्यञ्च)	उनि. १३५
वग्घी (विद्या)	उनि. १७२/९	वारिभद्ग (दार्शनिक)	सूनि. ९०
वच्छी (रानी)	उनि. ३३२	वारुण (दिव्यशस्त्र)	सूनि. ९८
वट्ट (संस्थान)	उनि. ३८	वारुणी (दिशा)	आनि. ४३
वडथलग (नगर)	उनि. ३४०	वालु (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ६७
वडपायव (वृक्ष)	उनि. ३३७	वालूग (परमाधार्मिक देव)	सूनि. ७९
वडपुरग (नगर)	उनि. ३४०	वासवदत्ता (राजकुमारी)	उनि. १४८
वडपुरय (नगर)	उनि. ३४१	वासि (शस्त्र)	आनि. १४९
वड्ढुकुमारी (महिला)	दशनि. ५८	वासिट्टा (पुरोहित-पत्नी)	उनि. ३५९, ३६६

त्रिखेत्रणी (कथा)	दशनि. १६६, १७०, १७७, १७८	वेभारगिरि (पर्वत)	उनि. ९२
त्रिज्जुमती (रानी)	उनि. ३३१	वेयडू (पर्वत)	उनि. २८२
त्रिज्जुमाला (रानी)	उनि. ३३१	वेरग (भावना)	आनि. ३५१, ३६१
विंझ (शिष्य)	उनि. १७२/१०	वेसलिय (मणि)	आनि. ७६
विच्छुग (तिर्यञ्च)	उनि. ४८७	वेसमण (इन्द्र)	उनि. २८५, २८७
विच्छुय (विद्या)	उनि. १७२/८	वेहाणस (मरण)	उनि. २०६, आनि. २७३
विजयघोस (मुनि)	उनि. ४५९, ४६१, ४७४, ४७६	वेहास (मरण)	उनि. २१८
विट्ठि (करण)	उनि. १९०, सूनि. ११	सठणि (करण)	उनि. १९१, सूनि. १२
विणयसुत (अध्ययन)	उनि. २८	संख (युवराज, मुनि)	उनि. ३१४, ३१५
विण्हु (देव)	उनि. ३०८	संख (तिर्यञ्च)	उनि. १८६, सूनि. ७
विदेह (जनपद)	उनि. २५७, २६४	संजइज्ज (अध्ययन)	उनि. ३८७
विदेह (वर्णान्तर)	आनि. २६	संजत (राजा)	उनि. ३८८
विमला (दिशा)	आनि. ४३	संजतपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४१
विमुत्ति (चूला)	आनि. ३१०, ३१७	संजय (राजा)	उनि. ३८८
वियण (उपकरण)	आनि. १६९, १७०	संभूय (मुनि)	उनि. ३२२, ३२४
विवित्तचरिया (चूला)	दशनि. २३	संवेयणी (कथा)	दशनि. १७२, १७३
विवेगपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४६	सक्करा (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३
विसाहदत्त (व्यक्ति)	उनि. ३४४	सगड (वाहन)	उनि. १८६, सूनि. ७
वीयभय (नगरी)	उनि. ९५	सगडाल (मंत्री)	उनि. १०१
वीयरगसुय (अध्ययन)	उनि. ४९८	सञ्जणेमि (राजकुमार)	उनि. ४४१, ४४२
वीर (तीर्थकर)	उनि. २७७, २७८, सूनि. २५, ८५, २००	सञ्चप्पवायपुत्त्व (ग्रन्थ)	दशनि. १६
वीरवर (तीर्थकर)	उनि. ४२५	सङ्गीय (धान्य)	दशनि. २२९
वोहि (धान्य)	दशनि. २२९	सतपुप्फ (वनस्पति)	उनि. १४७
वेणइय (दर्शन)	सूनि. ११८, ११९	सत्ति (शस्त्र)	सूनि. ७२
वेणव (वर्णान्तर)	आनि. २६	सत्थपरिण्णा (अध्ययन)	आनि. १२, १३, ३१०, ३१२, ३१६
वेतरणी (परमाधार्मिकदेव)	सूनि. ६७	सप्पिण्णिय (वनस्पति)	उनि. १४६
वेयरणी (परमाधार्मिकदेव)	सूनि. ८०	सप्प (विद्या)	उनि. १७२/८
वेतालिक (छंद)	सूनि. ४०	सप्प (तिर्यञ्च)	दशनि. ३४, उनि. १०३, १०४, ३१८, ३१९, ४६२-६४
वेत्त (वनस्पति)	सूनि. १०८		दनि. ७३
वेद (ग्रंथ)	आनि. ११	सप्पावरद्ध (रोग)	उनि. १५०
वेदेह (वर्णान्तर)	आनि. २२, २४	सप्पि (खाद्यपदार्थ)	उनि. १२७
		सबरनियंसणिय (वनस्पति)	उनि. १४६

सबल (परमाधार्मिक देव)	मुनि. ६६	साल (राजकुमार)	उनि. २७७
सभिवक्षुय (अध्ययन)	दशनि. १८	सालि (धान्य)	दशनि. २२९
समकडग (नगर)	उनि. ३३६, ३३७	सालिभद (श्रेष्ठी)	उनि. २४६
समाधि (अध्ययन)	सूनि. १०३	सावत्थी (नगरी)	उनि. ११२, ११७, १७०, १७२/१, २, २४६, ३४१, ३४५
समाधिपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४६	सावित्री (दिशा)	आनि. ५७
समुच्छ (दर्शन)	उनि. १६७	सास (रोग)	उनि. ८५
समुदपाल (सार्थवाहपुत्र)	उनि. ४२८	सासग (पृथ्वीकाय)	आनि. ७४
समुदपालिज (अध्ययन)	उनि. ४२४	सिंधुदत्त (वणिक्)	उनि. ३३४
समुद्विजय (राजा)	उनि. ४४०	सिंधुसेण (वणिक्)	उनि. ३३४
समूसण (औषधि)	उनि. १४९	सिंबलि (वृक्ष)	सूनि. ८१
समोसरण (अध्ययन)	सूनि. १२०	सिद्धपव्वत (पर्वत)	उनि. २८२
सम्मत्तपरक्कम (अध्ययन)	उनि. ४९८	सियविया (नगरी)	उनि. १७०
सरल (वृक्ष)	आनि. १३३	सिर (अवयव)	सूनि. ७३
सरस (वनस्पति)	उनि. १४९	सिरिगुत्त (आचार्य)	उनि. १७२/७
सरिसव (वनस्पति)	उनि. १४०	सिरिय (शकडाल का पुत्र)	उनि. १०१
सव्वक्खरसन्निवाइ (लब्धिधारी मुनि)	उनि. ३१०	सिरोरोग (रोग)	उनि. १५०
सव्वक्खरसन्निवाय (लब्धि)	सूनि. १८९	सिला (रानी)	उनि. ३३२
ससल्लमरण (मरण)	उनि. २१२, २१३	सिला (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३
सहस्सपाग (तैल)	दनि. १०९	सिलिंद (धान्य)	दशनि. २३०
साण्य (नगरी)	उनि. ३३६	सिव (देव)	उनि. ३०८
साकेय (नगरी)	उनि. १०८	सिवदत्त (व्यक्ति)	उनि. ३४४
सागरखमण (आचार्य)	उनि. १२०	सिवभूइ (निहव)	उनि. १७२/१३, १४
सागरचंद (मुनि)	उनि. ३२५	सिवा (रानी)	उनि. ४४०
सागरदत्त (वणिक्)	उनि. ३३३	सीओसणिज्ज (अध्ययन)	आनि. २११
सागेत (नगरी)	उनि. ३२५	सीमंधर (राजा)	उनि. ३६६
साणधण (चांडाल जाति)	उनि. ३१६	सीवण (उपकरण)	दशनि. ३४१
साम (परमाधार्मिकदेव)	सूनि. ६६	सीस (अवयव)	उनि. १८२/१
सामइय (मुनि)	सूनि. १९२	सीसग (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३
सामाइय (ग्रन्थ)	दशनि. ११	सीह (तिर्यञ्च)	दशनि. ८९/३
सामलि (पुष्प)	उनि. १५२	सीहगिरि (आचार्य)	उनि. ९८
सामाइयसमाहिपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४८	सोही (विद्या)	उनि. १७२/९
सामुच्छेद (दर्शन)	उनि. १६८	सुंठय (पात्र)	सूनि. ७४
सामुत्थाणी (दिशा)	आनि. ५७	सुग्रीव (नगरी)	उनि. ४०३
सामुदय (छंद)	सूनि. १३९		

सुत्तकंड (ग्रंथ)	सूनि. २	सोमदेव (ब्राह्मणपुत्र)	उनि. १०९
सुदंसण (श्रेष्ठी)	उनि. १११	सोमभूइ (आचार्य)	उनि. १०९
सुदंसण (व्यक्ति)	उनि. ३३३, ३५१	सोमा (दिशा)	आनि. ४३
सुदंसणा (महावीर की बहिन)	उनि. १७२/२	सोमा (रानी)	उनि. ३३४
सुद (वर्ण)	आनि. २४, २७	सोरियपुर (नगरी)	उनि. ४४०
सुदी (वर्ण)	आनि. २६	सोवाग (चांडाल जाति)	उनि. ३१६
सुद्धवाय (वायु)	आनि. १६६	सोवाग (वर्णान्तर)	आनि. २६
सुधम्मा (गणधर)	सूनि. ८५	सोहम्म (देवलोक)	दनि. १११
सुनन्द (श्रावक)	उनि. ११८	हड (वनस्पति)	आनि. १४१
सुनन्दा (महिला)	उनि. २८८	हत्थ (अवयव)	उनि. १८२/२, सूनि. ७६
सुपतिट्ट (नगर)	उनि. ३४३	हत्थि (तिर्यञ्च)	दशनि. ६०, २३४, आनि. ११०
सुभदा (महिला, सती)	दशनि. ६९	हत्थिणपुर (नगरी)	उनि. ३३६, ३४५
सुभदा (राजकुमारी)	उनि. ३१७	हत्थिणी (तिर्यञ्च)	दनि. १११
सुमणुभद (मुनि)	उनि. ९४	हत्थितावस (तापस)	सूनि. १९१
सुयसमाहिपडिमा (प्रतिमा)	दनि. ४८	हत्थिपुर (नगर)	उनि. ३४५
सुवण्ण (पृथ्वीकाय)	आनि. ७३	हत्थिभूइ (मुनि)	उनि. ९०
सुवण्णभूमि (जनपद)	उनि. १२०	हत्थिमित्त (मुनि)	उनि. ९०
सुसाणवित्ति (चांडालजाति)	उनि. ३१६	हत्थिय (तिर्यञ्च)	उनि. ३४१, ३५०
सुइय (शस्त्र)	सूनि. ७२	हय (तिर्यञ्च)	उनि. ३८९
सूई (उपकरण)	आनि. २६२, दनि. १२०	हरिणस (कुल)	उनि. ३१६
सूतगड (ग्रंथ)	सूनि. २	हरिणस (चांडाल जाति)	उनि. ३१४
सूय (वर्णान्तर)	आनि. २२, २४	हरिणसा (रानी)	उनि. ३३५
सूयगड (ग्रंथ)	सूनि. १, २, १८, २०, १०२	हरिमंथ (धान्य)	दशनि. २३०
सूयर (तिर्यञ्च)	उनि. १००	हरियाल (पृथ्वीकाय)	आनि. ७४
सूरकेंत (मणि)	आनि. ७६	हरेणुया (वनस्पति)	उनि. १४६
सूल (शस्त्र)	सूनि. ७२	हल (उपकरण)	आनि. ९५
सेज्जंभव (आचार्य)	दशनि. ११, १३, ३४९	हलिदा (वनस्पति)	दनि. १०३
सेयवि (नगरी)	उनि. १७२/४	हिंगुलय (पृथ्वीकाय)	आनि. ७४
सेयविया (नगरी)	उनि. १७२/४	हिंगुसिव (व्यन्तर देव)	दशनि. ६३
सेवाल (मुनि)	उनि. २८९, २५१	हियय (अवयव)	सूनि. ७१
सेवाल (वनस्पति)	आनि. १४१	हिययसूल (रोग)	उनि. १७२/४
सोमदत्त (ब्राह्मणपुत्र)	उनि. १०९	हिरिबेर (वनस्पति)	उनि. १४७
सोमदेव (आर्यवज्र के पिता)	उनि. ९७		

वर्गीकृत विशेष नामानुक्रम

अध्ययन

अप्पमादसुय (उत्त. का उन्नीसवां अध्ययन)	उनि. ५०४
आघ (सूत्रकृतांग का दसवां अध्ययन)	सूनि. १०३
धम्मपण्णत्ति (दशवै. का चौथा अध्ययन)	दशनि. १५
पमायप्पमाय (उत्त. का चौथा अध्ययन)	ठनि. १७५
वीयरगसुय (उत्त. का उनतीसवां अध्ययन)	उनि. ४९८

अवयव

अंगुलि (अंगुलि)	उनि. १८२/२	पिट्ठी (पीठ)	उनि. १८२/१
अंजलि (अंजलि)	दशनि. २८८	फिग्ग (नितम्ब)	सूनि. ७७
अंतगय (आंत)	सूनि. ७१	फिफ्फिस (उदरवर्ती आंत विशेष)	सूनि. ७१
अच्छि (आंख)	उनि. १८२/२	फुफ्फुस (फेंफड़ा)	सूनि. ७१
उदर (पेट)	उनि. १८२/१	बाहा (बाहु)	सूनि. १६२
उर (हृदय)	उनि. १८२/१	बाहु (बाहु)	सूनि. ७३
उरुय (जंघा)	उनि. १८२/१	मंसु (दाढ़ी)	उनि. १८२/२
ऊरु (जंघा)	सूनि. ७३	सिर (शिर)	सूनि. ७३
ओट्टु (होठ)	उनि. १८२/२, सूनि. ७७	सीस (शिर)	उनि. १८२/१
कण्ण (कान)	उनि. १८२/२	हत्थ (हाथ)	आनि. १८२/२
कर (हाथ)	सूनि. ७३	हियय (हृदय)	सूनि. ७१
कालेज्ज (कलेजा)	सूनि. ७१	आचार्य	
केस (केश)	उनि. १८२/२	आसाढ (आषाढ)	उनि. १२३, १६८, १७२/४
खंध (कंधा)	उनि. १८३	उदहि (उदधि)	आनि. २८४
चरण (पैर)	सूनि. ७३, ७७	कण्ह (कृष्ण)	उनि. १७२/१३
जंघा (जंघा)	उनि. १६२	कालखमण (कालकाचार्य)	उनि. १२०
जीहा (जीभ)	दनि. ११२	केसि (केशी)	उनि. ४४७, ४४८
थण (स्तन)	सूनि. ७७	गोविंदवायग (गोविंदवाचक)	दशनि. ७८
दसण (दांत)	सूनि. ७७	जंबु (जंबू)	सूनि. ८५
नयण (नयन)	दशनि. २७	जसभद्द (जशोभद्र)	दशनि. ३४९
नह (नाख)	उनि. १८२/२	तोसलि (तोसलि)	आनि. २८५
नास (नाक)	उनि. १८२/२	तोसलिपुत्त (तोसलिपुत्र)	उनि. ९७
पाद (पैर)	उनि. १८२/२	थूलभद्द (स्थूलभद्र)	उनि. १०१, १०५, १०६, १२२
पास (पार्श्व)	सूनि. ७६	धम्मघोस (धर्मघोष)	उनि. ९४

पुसमित्त (पुष्यमित्त)	उनि. १७२/१०
बोटिकसिवभूति (बोटिकशिवभूति)	उनि. १७२/१५
भद्रगुप्त (भद्रगुप्त)	उनि. ९८
भद्रबाहु (भद्रबाहु)	दनि. १, ९२
मंगु (मंगु)	दनि. १०४, ११२
मणगपियर (शय्यभवन)	दशनि. १३
महागिरि (महागिरे)	उनि. १७२/५, ६
रक्खियखमण (आर्यरक्षित)	उनि. ९८, १७२/१०
राध (राध)	उनि. ९९
राहक्खमण (राधाचार्य)	उनि. ९९
वइर (वज्र)	आनि. २८३
वइरक्खमण (आर्य वज्र)	उनि. ९८
वसु (वसु)	उनि. १७२/३
सागरक्खमण (आर्य सागर)	उनि. १२०
सिरिगुत्त (श्रीगुत्त)	उनि. १७२/७
सीहगिरि (सिंहगिरि)	उनि. ९८
सेज्जंभव (शय्यभवन)	दशनि. ११, १३, ३४९
सोमभूइ (सोमभूति)	उनि. १०९

आभूषण

आमेलय (शिर का आभूषण)	उनि. १५२
कडग (हाथ का आभूषण)	उनि. १३९
कुंडल (कुण्डल)	उनि. १३९
मुत्तावल्लि (मोतियों की माला)	आनि. ४६
वल्लय (वल्लय)	उनि. २५८

आहार

ओय (ओज)	सूनि. १७१
कावल्लिक (कावल्लिक)	सूनि. १७२
अक्खेव (अक्षेप)	सूनि. १७१
लोम (लोम)	सूनि. १७१

उद्यान एवं वन

केसर (केसर)	उनि. ३८९, ३९०
गंडित्तिदुगवण (गंडित्तिदुकवन)	उनि. ३१७, ३२०
तिंदुग (तिन्दुक)	उनि. १७०, १७२/२, ३१७, ३२१
तुंबवण (तुम्बवन)	उनि. २८८

दीवग (दीपक)	उनि. १७२/१३
पोलास (पोलास)	उनि. १७२/४
मणोरह (मनोरथ)	सूनि. २०५

उपकरण

आसंदी (कुर्सी)	आनि. २६३
कंडु (पात्र)	सूनि. ७८
छत्त (छत्र)	सूनि. १०८
तालवंट (तालवृंट, पंखा)	आनि. १७०
नंगल (लांगल)	दशनि. ५७
नालिया (समय जानने का यंत्र)	दशनि. ५८
पयण (कड़ाही)	सूनि. ७८
पलियंक (पलंग)	दशनि. २४४
मीरा (चूल्हा)	सूनि. ७४
लाउयपात्त (पात्रविशेष)	दनि. ११८
लोहि (पात्र विशेष)	सूनि. ७८
वियण (व्यजन, पंखा)	आनि. १६९, १७०
सुंठय (पात्र विशेष)	सूनि. ७४
हल (हल)	आनि. ९५

कथा

अक्खेवणी (आक्षेपणी)	दशनि. १६६-१६८, १७७, १७८
निब्बेयणी (निर्वेदनी)	दशनि. १७४, १७५
विक्खेवणी (विक्षेपणी)	दशनि. १६६, १७०, १७७, १७८
संवेयणी (संवेजनी)	दशनि. १७२, १७३,

करण

किंत्थुग्घ (किंस्तुग्घ)	सूनि. १२
किंसुग्घ (किंस्तुग्घ)	उनि. १९१
कोलव (कोलव)	उनि. १९०, सूनि. ११
गरादि (गरादि)	उनि. १९०, सूनि. ११
चउप्पय (चतुष्पद)	उनि. १९१, सूनि. १२
श्रीविलोयण (स्त्रीविलोकन)	उनि. १९०, सूनि. ११
नाग (नाग)	उनि. १९१, सूनि. १२
बव (बव)	उनि. १९०, सूनि. ११
बालव (बालव)	उनि. १९०, सूनि. ११

वणिय (वणिज)	उनि.१९०, सूनि.११
विट्ठि (विष्टि)	उनि.१९०, सूनि.११
सउणि (शकुनि)	उनि.१९१, सूनि.१२

क्षेत्र

देवकुरु (देवकुरु)	आनि.१, सूनि.१५३, १८२

स्त्राय पदार्थ

ओदण (ओदण)	दशनि.२१८
खीर (खीर)	उनि.२९३, दनि.९९
गुड (गुड)	दशनि.२१८
तिलसकुलिया (तिलपपड़ी)	आनि.१३२
दुध (दूध)	सूनि.३५
पायस (खीर)	दनि.९९, १००
पिठड (कूरपिंड)	उनि.१७२/३
महु (मधु)	उनि.१२७
मोयग (लड्डू)	दशनि.८५
लोण (नमक)	दशनि.३६
सप्पि (घी)	उनि.१२७

गणधर

इंदभूति (इन्द्रभूति)	सूनि.२०५
गोतम (गौतम)	उनि.२८४, २८७, २९२, २९४, २९५, २९८, ४४५, ४४७, ४४८, सूनि.९०, २०६, दनि.१११
गोयमस्सामी (गौतमस्वामी)	दशनि.७४
सुधम्मा (सुधर्मा)	सूनि.८५

गोत्र, जाति एवं वंश

इक्कड (चोर की जाति)	उनि.२५१
कासव (काश्यप)	उनि.४६०
दसारवग्ग (दशार्हवर्ग)	दशनि.५२
पाईण (प्राचीन)	दनि.१
मुरिय (मौर्य)	उनि.१७२/४

ग्रन्थ

अणुप्पवाय (अनुप्रवाद)	उनि.१७२/५
आयार (आचारांग)	दशनि.१६७, आनि.१,

६, ८, ९, १०, ३०, ३२, २१७, ३०७, ३११, ३६६, सूनि. २२, दनि. २७, ४७
आयारंग (आचारांग) आनि. १२, ३२, ३०७
आयप्पवायपुव्व (आत्मप्रवादपूर्व) दशनि. १५
आयारपकप्प (आचारप्रकल्प) दनि. २७, आनि. ३११, ३१७

इसिभासित (ऋषिभाषित)	सूनि.१९०
उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन)	उनि.४, २७, ५५२
कप्प (कल्प)	दनि.१
कम्मप्पवायपुव्व (कर्मप्रवादपूर्व)	दशनि.१५, दनि.१७०
छट्ठपुव्व (सत्यप्रवादपूर्व)	दनि.१८
ठाण (स्थानांग)	दनि.४७
णाया (ज्ञाताधर्मकथा)	दनि.५
दसकालिय (दशवैकालिक)	दशनि.७, ११, १३, १४, २४, ३०७

दसकालियनिज्जुति

(दशवैकालिकनिर्युक्ति)

दसवेयालिय (दशवैकालिक)	दशनि.१
दसासु (दशाश्रुतस्कन्ध)	दशनि.६
दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)	दनि.१
निसोह (निशौथ)	दशनि.१६७
पच्चक्खाण (प्रत्याख्यानपूर्व)	आनि.३६६
पण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति)	आनि.३११
बंभच्चेर (आचारांग)	दशनि.१६७
ववहार (व्यवहार)	आनि.१२
वेद (आचारांग)	दशनि.१६७, दनि.१, ४७
सच्चप्पवायपुव्व (सत्यप्रवादपूर्व)	आनि.११
सामाइय (सामायिक)	दशनि.१६
सुत्तकड (सूत्रकृत)	दशनि.११
सूतगड (सूत्रकृत)	सूनि.२
सूयगड (सूत्रकृत)	सूनि.२
सूनि १, २, १८, २०, १०२	

वक्रयती

बंभदत्त (ब्रह्मदत्त)	उनि.३२७, ३३०, ३५२, ३४५

चाण्डाल जाति

पाण (पाण)	उनि. ३१६
बलकोट्ट (बलकोट्ट)	उनि. ३१८
बाहिर (बाह्य)	उनि. ३१६
मयंग (मातंग)	उनि. ३१६
मयास (मृताश)	उनि. ३१६
साणधण (श्वानधन)	उनि. ३१६
सुसाणवित्ति (श्मशानवृत्ति)	उनि. ३१६
सोवाग (श्वपाक)	उनि. ३१६
हरिएस (हरिकेश)	उनि. ३१४, ३१६

चैत्य

उच्छुधर (इक्षुगृह)	उनि. १७२/१०
गुणसिलय (गुणशिलक)	उनि. १७१/३
पुण्यभद्र (पूर्णभद्र)	उनि. २७९
भुयगृह (भूतगृह)	उनि. १७२/७
लच्छिधर (लक्ष्मीगृह)	उनि. १७२/५

छंद

गाहा (गाथा)	सूनि. १३९
वेतालिक (वैतालिक)	सूनि. ४०
सामुद्रय (सामुद्रक)	सूनि. १३९

जनपद एवं नगरी

अंतरंजि (अंतरंजिका)	उनि. १७०, १७२/७
अंतरा (अन्तराग्राम)	उनि. ३४१, ३४३
अदपुर (आर्द्रपुर)	सूनि. १८८, १९३
अचलपुर (अचलपुर)	उनि. ९९
अहिच्छता (अहिच्छत्रा)	उनि. ३४०, ३४३
आमलकप्पा (आमलकल्पा)	उनि. १७२/३
इंदपुर (इन्द्रपुर)	उनि. ३४४
उज्जेणी (उज्जयिनी)	उनि. ९०, ९१, ९५, ९९, १२०
उल्लुगातीर (उल्लुकातीर)	उनि. १७०, १७२/६
उसभपुर (ऋषभपुर)	उनि. १०१, १७०
उसुयारपुर (इक्षुकारपुर)	उनि. ३२७, ३५८, ३६०
एलगच्छपह (एडकाक्षपथ)	उनि. ९१
ओसा (अवश्याय)	उनि. ३३६
कंपिल्लपुर (काम्पिल्यपर)	उनि. ३३६, ३८८, ३९४

कलिंग (कलिंग)	उनि. २५७
कुंभकारकड (कुंभकारकट)	उनि. ११३
कुरु (कुरु)	उनि. ३५८
कोल्लयर (कोल्लकर)	उनि. १०७
कोसंबो (कौशाम्बी)	उनि. १००, १०९, ११८, २४६, ३४०
गंधार (गंधार)	उनि. २५७
गयपुर (गजपुर)	उनि. १०८, ३१५
गिरितडग (गिरितटक)	उनि. ३३६
गिरिपुर (गिरिपुर)	उनि. ३४०
चंपपुरी (चम्पापुरी)	उनि. २७८
चंपा (चम्पा)	उनि. ९४, ११८, २७९, ३३६, ३४५, ४२५, दनि. ९५
तगरा (तगरा)	उनि. ९३
दसण्ण (दशाण)	उनि. ३२७
दसपुर (दशपुर)	उनि. ९६, १७०, १७२/१०
नंद (नंद)	उनि. ३३६
नदिखेड (नदिखेट)	उनि. १७२/६
नालंदा (नालन्दा)	सूनि. २०४, २०५
पंचाल (पाञ्चाल)	उनि. २५७, २६२/१
पाडलिपुत्त (पाटलिपुत्र)	उनि. १०१
पिड्डीचंपा (पृष्ठिचंपा)	उनि. २७७
पिहुंड (पिहुण्ड)	उनि. ४२६, ४२७
बंभथलय (ब्रह्मस्थलक)	उनि. ३४०
बंसतपुर (जसन्तपुर)	सूनि. १९२
भोयडपुर (भोगकटपुर)	उनि. ९०
मगहापुर (मगधपुर)	उनि. २७७
महुरा (मथुरा)	उनि. ११६, ११९, ३१५, ३४०, ३४३, दनि. ११२
मिहिला (मिथिला)	उनि. १७०, १७२/५, ३४५
मुगसेलपुर (मुद्गशैलपुर)	उनि. ११६
रहवीरपुर (रथवीरपुर)	उनि. १७०, १७२/१३, १४
रायगिह (राजगृह)	उनि. ९२, १०९, १११, १७२/३-६, २५१, ३४०, ३४५, सूनि. १९९, २०४
रुद्रपुर (रुद्रपुर)	उनि. ३४४

वंशीपासाय (वंशीप्रासाद)	उनि.३३६
वडधलग (घटस्थलक)	उनि.३४०
वडपुरग (वटपुरक)	उनि.३४०, ३४१
वयगगाम (व्रजग्राम)	उनि.३६३
वाणारसी (वाराणसी)	उनि.३१७, ३४०, ४६०, ४६८
विदेह (विदेह)	उनि.२५७, २६४
वीयभय (वीतभय)	उनि.९५
समकडग (समकटक)	उनि.३३६, ३३७
साएय (साकेत)	उनि.३३६
साकेय (साकेत)	उनि.१०८
सागेत (साकेत)	उनि.३२५
सावत्थी (श्रावस्ती)	उनि.११२, ११७, १७०, १७२/१, २, २४६, ३४१, ३४५
सियविया (स्वेतविका)	उनि.१७३
सुग्गीव (सुग्रीव)	उनि.४०३
सुपतिट्ट (सुप्रतिष्ठ)	उनि.३४३
सुवण्णभूमि (सुवर्णभूमि)	उनि.१२०
सेयवि (श्वेतविका)	उनि.१७२/४
सेयविया (श्वेतविका)	उनि.१७२/४
सोरियपुर (शौरिकपुर)	उनि.४४०
हत्थिणपुर (हस्तिनापुर)	उनि.३३६, ३४५
हत्थिपुर (हस्तिपुर)	उनि.३४५

तिर्यञ्च

अस्स (घोड़ा)	दशनि.६०
अय (बकरा)	दशनि.२३४
अहि (सांप)	उनि.२६३
आस (घोड़ा)	दशनि.२३४
आसतरग (खच्चर)	दशनि.२३४
उंदर (चूहा)	दशनि.१३३
उट्ट (ऊंट)	दशनि.८४
उट्टी (ऊंटनी)	दशनि.२३४
उरग (सर्प)	दशनि.१३२
उरब्भ (मेमना)	उनि.२३८
एलग (भेड़)	दशनि.२३४

किमि (कृमि)	दनि.१०३
कुंजर (हाथी)	उनि.३५२
कुंथु (कुंथु)	दनि.७३
कुक्कुड (मुर्गा)	उनि.३५१
कुरर (कुरल)	उनि.४६२
कुलल (कुरल)	उनि.४६३
खज्जोय (जुगनु)	आनि.११९
खलुंक (दुष्ट बैल)	उनि.४८२
गद्दभ (गधा)	दशनि.२३४
गय (हाथी)	दशनि.२७६
गावी (गाय)	दशनि.२३४
गो (गाय)	दनि.१०३
गोण (बैल)	उनि.६५
घोडग (घोड़ा)	दशनि.२३४
छगल (बकरा)	उनि.१३८
जंबुय (शृगाल)	उनि.११६
जलूक (जलौका)	उनि.४८७
जलोय (जलौका)	दशनि.३४
तुरंग (घोड़ा)	दशनि.२७४
तुरग (घोड़ा)	उनि.४६
तित्तिरी (तीतर)	दशनि.८५
पड्डय (बछड़ा, पाड़ा)	उनि.२६१
बइल (बैल)	उनि.४८३
बग (बक)	दशनि.२७४/१
भमर (भ्रमर)	दशनि.९२
भेरुंड (निर्विष सर्प)	उनि.३१९
मंडुक्क (मैंदक)	उनि.४६२
मंडुक्किया (मैंदकी)	दशनि.५२
मच्छ (मत्स्य)	दशनि.५१
मज्जार (बिलाव)	दशनि.२७४/१
मधुकरी (भ्रमरी)	दशनि.११४
मय (मृग)	दशनि.९५
मयूर (मोर)	दशनि.३३५
मसग (मच्छर)	उनि.९४

महिषी (भैंस)	आनि. २८५
महुगरि (भ्रमरी)	दशनि. ९६
महुयर (भ्रमर)	दशनि. ९५
मिंढ (मेंढा)	दनि. १०२
मिग (मृग)	आनि. ९५
मिय (मृग)	उनि. ३८९
मेस (मेंढा)	दशनि. ३४
कध (क्यात्र)	उनि. १०३
कसभ (बैल)	उनि. २५८
कसह (बैल)	उनि. २५९
वायस (कौआ)	उनि. १३५
विच्छुग (बिच्छु)	उनि. ४८७
संख (शंख)	उनि. १८६/७
सप्प (सर्प)	दशनि. ३४
सीह (सिंह)	दशनि. ८९/३
सूयर (सूकर)	उनि. १००
हत्थि (हाथी)	दशनि. ६०
हत्थिणी (हथिनी)	दनि. १११
हय (घोड़ा)	उनि. ३८९

तीर्थ

पुक्खर (पुष्कर)	उनि. ९६, दनि. ९७

तीर्थंकर

अरिहनेमि (अरिष्टनेमि)	उनि. ४४१, ४४२
उसभ (ऋषभ)	उनि. २८१, आनि. १९, सूनि. ४१
नमि (नमि)	उनि. २६४, २६५
पास (पार्श्व)	आनि. ३५४
	सूनि. २०६
भरहपिउ (ऋषभ)	उनि. २८१
महावीर (महावीर)	उनि. २७९
मुणिसुव्वय (मुनिसुव्रत)	उनि. ११३
वद्धमाण (वर्धमान)	आनि. २९६, ५१९ दनि. ११५
वीर (महावीर)	उनि. २७७, २७८, सूनि. २५, ८३, २००
वीरवर (महावीर)	उनि. ४२५, आनि. ३०४

तैल

सहस्सपाग (सहस्रपाक)	दनि. १०९

दर्शन एवं दार्शनिक

अकारगवाद (अकारकवाद)	सूनि. २९
अकिरियवादी (अक्रियावादी)	सूनि. ११८
अण्णाणय (अज्ञानवाद)	सूनि. ३०, ११८, ११९
अफलवाद (अफलवाद)	सूनि. २९
आतच्छट्ठ (आत्मषष्ठ)	सूनि. २९
एकप्पय (एकात्मवाद)	सूनि. २९
कडवाद (कृतवाद)	सूनि. ३१
किरियवादी (क्रियावादी)	सूनि. ११८, १२१
तज्जीवतस्सरीर (तज्जीवतत्शरीरवाद)	सूनि. २९
नाणवादी (ज्ञानवादी)	सूनि. ३०
नियतीवाय (नियतिवाद)	सूनि. ३०
महपंचभूत (पंचमहाभूत)	सूनि. २९
वेणइयवादी (वैनयिकवादी)	सूनि. ११८

दिव्य शास्त्र

अग्गेय (आग्नेय)	सूनि. ९८
पत्थिव (पार्थिव)	सूनि. ९८
वाउ (वायव्य)	सूनि. ९८
वारुण (वारुण)	सूनि. ९८

दिशा

अग्गेयी (आग्नेयी)	आनि. ४३
अभिधम्मा (अभिधर्मा)	आनि. ५७
अवरउत्तर (पश्चिमउत्तर)	आनि. ५६
अवरदिसा (पश्चिमदिशा)	आनि. ४७, ५६
अहोदिसा (अधोदिशा)	आनि. ५८
ईदा (ऐंद्री, पूर्व)	आनि. ४३
उड्ढदिसा (उर्ध्वदिशा)	आनि. ५४, ५९
उत्तरदिसा (उत्तरदिशा)	आनि. ४८, ५६
उत्तरिमदिसा (उर्ध्वदिशा)	आनि. ५८
ईसाणा (ईशानी)	आनि. ४३
कविला (कपिला)	आनि. ५७
खेलेज्जा (खेलेज्जा)	आनि. ५७
जम्मा (याम्या, दक्षिण)	आनि. ४३
तमा (अधोदिशा)	आनि. ४३
दक्खिणा (दक्षिणदिशा)	आनि. ५६

दक्खिणापरा (दक्षिणपश्चिमदिशा)	आनि.५६
दाहिणदिसा (दक्षिणदिशा)	आनि.४८, ५२
नेरुती (नैऋती)	आनि.४३
पण्णवित्ती (प्रज्ञापनी)	आनि.५७
परियाधम्मा (पर्याधर्मा)	आनि.५७
पुव्वदिसा (पूर्वदिशा)	आनि.४७, ५६
पुव्वदक्खिणा (पूर्वदक्षिणदिशा)	आनि.५६
पुव्वुत्तरदिसा (पूर्वोत्तरदिशा)	आनि.५६
वायव्वा (वायव्या)	आनि.४३
वारुणी (वारुणी, पश्चिम)	आनि.४३
विमला (विमला)	आनि.४३
सामुत्थाणी (सामुत्थानी)	आनि.५७
सावित्ती (सावित्री)	आनि.५७
सोमा (सोमा, उत्तर)	आनि.४३

देव एवं यक्ष

अंब (अम्ब)	सूनि.६६
अंबरिसि (अंबरिसी)	सूनि.६६
असि (असि)	सूनि.७६
असिपत्त (असिपत्र)	सूनि.६७
ठवरुद्द (उपरौद्र)	सूनि.६६, ७३
काल (काल)	सूनि.६६, ७४
कुंभ (कुम्भ)	सूनि.६७
कुंभी (कुंभी)	सूनि.७४
खंद (स्कंद)	उनि.२०८
खरस्सर (खरस्वर)	सूनि.६७, ८१
गण्डयजक्ख (गण्डकयक्ष)	उनि.३२०
चमार (चमर)	आनि.३५४
दोगुंदग (दोगुंदक)	उनि.४०५, ४३२
धणु (धनु)	सूनि.६७, ७७
मणिणाय (मणिनाग)	उनि.१७२/६
महाकाल (महाकाल)	सूनि.६६, ७५
महाघोस (महाघोष)	सूनि.६७, ८२
मुग्गरपाणि (मुद्गरपाणि)	उनि.१११
रुद्द (रुद्र)	सूनि.७२
रोद्द (रौद्र)	सूनि.६६

बालु (बालु)	सूनि.६७
बालुग (बालुक)	सूनि.७९
विण्हु (विष्णु)	उनि.३०८
वेतरणी (वेतरणी)	सूनि.६७, ८०
वेसमण (वैश्रमण)	उनि.२८५, २८७
सबल (शबल)	सूनि.६६, उनि.७१
साम (श्याम)	सूनि.६६
सिव (शिव)	उनि.३०८
हरिल (हरिल)	उनि.३३२
हिंसुसिव (हिंसुशिव)	दशनि.६३

देवलोक एवं देवदिमान

नलिणिगुम्म (नलिनिगुल्म)	उनि.१७२/४,
	उनि.३४६
पठमगुम्म (पद्मगुल्म)	उनि.३५७
पुण्फुत्तर (पुष्पोत्तर)	उनि.२६६/१
वग्गु (वल्गु)	उनि.२८८
सोहम्म (सौधर्म)	दनि.१११

द्वीप

गंदिसर (नंदीश्वरद्वीप)	दनि.९५
नंदि (नंदीश्वरद्वीप)	दनि.९५
नंदिसर (नंदीश्वरद्वीप)	आनि.३५३

धान्य

अणुक (अणुक)	दशनि.२२९
अत्तसि (अलसी)	दशनि.२३०
इक्खु (इक्षु)	दशनि.२३०
ओदण (चावल)	दशनि.२१८
कंगु (कंगु)	दशनि.२२९
कुलत्थ (कुलथी)	दशनि.२३०
कलाय (कलाय, मटर)	दशनि.२३०
कोद्दव (कोद्रव)	दशनि.२२९
गोधुम (गेंहू)	दशनि.२२९
जव (जौ)	दशनि.२२९
तिपुडग (त्रिपुटक)	दशनि.२३०
तिल (तिल)	दशनि.२२९
तुवरी (अरहर)	दशनि.२३०

निष्पात्र (निष्पाव)	दशनि २३०
मसूर (मसूर)	दशनि २३०
मास (उड़द)	दशनि २२९
मुग्ग (मूंग)	दशनि २२९
रायमास (राजमाष)	दशनि २३०
रालग (रालक)	दशनि २२९
वीहि (ब्रीहि)	दशनि २२९
सट्ठीय (साठी चावल)	दशनि २२९
सालि (शालि)	दशनि २२९
सिलिंद (मोठ)	दशनि २३०
हरिमंथ (हरिमंथ)	दशनि २३०

नदी एवं समुद्र

गंगा (गंगा)	उनि १२१, १२५, ४६२, ४६५
मतगंगा (मृतगंगा)	उनि ३१७
लवण (लवणसमुद्र)	आनि ५०

निहव एवं निहववाद

अबद्धिग (अबद्धिकवाद)	उनि १६७
अव्यक्तवाय (अव्यक्तवाद)	उनि १६७, १६८
आसमित्त (अश्वमित्त)	उनि १६८, १७२/५
गंग (गंग)	उनि १६९, १७२/६
गोड्डामाहिल (गोष्ठामाहिल)	उनि १६९
गोष्ठामाहिल (गोष्ठामाहिल)	उनि १७२/१०
छलुग (षडलूक)	उनि १६९
जमालि (जमालि)	उनि १६८, १७२/२, सूनि १२५
जीवपदेस (जीवप्रादेशिकवाद)	उनि १६८
तीसगुत्त (तिष्यगुत्त)	उनि १६८, १७२/३
तेरासिय (त्रैराशिक)	उनि १६९
दोकिरिया (द्वैक्रियवाद)	उनि १६९
बहुरय (बहुरत)	उनि १६७, १६८
बोटियलिंग (बोटिकलिंग)	उनि १७२/१५
समुच्छ (सामुच्छेदवाद)	उनि १६७
सिवभूइ (शिवभूति)	उनि १७२/१३, १४
सामुच्छेद (सामुच्छेदवाद)	उनि १६८

परिव्राजक और संन्यासी

गोसाल (गोशाल)	सूनि १९१, १९९
चरक (चरक)	दशनि १३४, सूनि ११२
तिदंडिय (त्रिदंडी)	सूनि १९१, १९९
दीवायण (द्वीपायन)	दशनि ५२
पिंगल (पिंगल)	दशनि ७९
पोट्टसाल (पोट्टशाल)	उनि १७२/७
बंभवती (ब्रह्मवादी)	उनि १९१
बंभी (ब्रह्मवादी)	सूनि १९९
भिक्षु (बौद्ध भिक्षु)	सूनि १९९
मरुग (मरुक)	दशनि ३०७/१
वारिभद्ग (वारिभद्रक, शौचवादी)	सूनि ९०
हत्थितावस (हस्तितापस)	सूनि १९१

पर्वत

अट्टावय (अष्टापद)	उनि २८०, आनि ३५४, सूनि ४१
इंदपद (इंद्रपद)	दनि ७७
उज्जित (उज्जयंत)	आनि ३५४
गंधारगिरि (गंधारगिरि)	दनि ९७
गयगपय (गजाग्रपद)	आनि ३५४
मंदर (मंदर)	दशनि ३३५, उनि २६३, आनि ४९, ३५३
महातव (महातप)	उनि १७२/६
मेरु (मेरु)	आनि ४९, ५०
रहावत्तनग (रथावर्त)	आनि ३५४
वैभारगिरि (वैभारगिरि)	उनि ९२
वेयड्डु (वैताड्ड)	उनि २८२
सिद्धपव्वत (सिद्धपर्वत)	उनि २८२

पुरोहित एवं ब्राह्मण

इंददत्त (इन्द्रदत्त)	उनि ११९, २४६
कासव (काश्यप)	उनि २४६
जण्णदत्त (यज्ञदत्त)	उनि १०९
पालक (पालक)	उनि ११३
भिगु (भृगु)	उनि ३५९, ३६६
वररुई (वररुचि)	उनि १०१
सोमदत्त (सोमदत्त)	उनि १०९
सोमदेव (सोमदेव)	उनि १०९

पुष्प

उप्पल (उत्पल)	दशनि १३३
कमल (कमल)	आनि २२९
धायगी (धातकी)	उनि १५१
पउम (पद्म)	सूनि १६३, १६४
पाडल (पाटल)	उनि १२५
पोंडरीय (पोंडरीक)	सूनि १४५
मल्लिया (मल्लिका)	उनि १४६
सामलि (शाल्मलि)	उनि १५२

पृथ्वीकाय

अंजण (अंजन)	आनि ७४
अब्भपडल (अभ्रपटल)	आनि ७४
अब्भवालुय (अभ्रबालुक)	आनि ७४
अय (लोह)	आनि ७३
उवल (उपल)	आनि ७३
ऊस (ऊष)	आनि ७३
तउस (त्रपुष)	आनि ७३
तंब (तांबा)	आनि ७३
बालुय (बालुक)	आनि ७४
मणोसिला (मनःशिला)	आनि ७४
रुप्य (चांदी)	आनि ७३
लोण (लवण)	आनि ७३
सक्करा (शर्करा)	आनि ७३
सुवण्ण (स्वर्ण)	आनि ७३
सासग (शस्यक)	आनि ७४
सिला (शिला)	आनि ७३
सोसग (शीशा)	आनि ७३
हरियाल (हरताल)	आनि ७४
हिंगुलय (हिंगलु)	आनि ७४

प्रतिमा

उवहाणपडिमा (उपधानप्रतिमा)	दनि ४६
उवासगपडिमा (उपासकप्रतिमा)	दनि ४९
एगराइय (एकरात्रिकी)	उनि ४६८
एगविहारपडिमा (एकलविहारप्रतिमा)	दनि ४६
चंदपडिमा (चन्द्रप्रतिमा)	दनि ४७

चारित्तसमाहिपडिमा

(चारित्रसमाधिप्रतिमा)	दनि ४८
जिणपडिमा (जिनप्रतिमा)	दनि ४१
पडिसंलीणपडिमा (प्रतिसंलीनप्रतिमा)	दनि ४६
भिक्षुपडिमा (भिक्षुप्रतिमा)	दनि ४५
मोयपडिमा (मोकप्रतिमा)	दनि ४७
विवेगपडिमा (विवेकप्रतिमा)	दनि ४६
संजतपडिमा (संयतप्रतिमा)	दनि ४१
समाधिपडिमा (समाधिप्रतिमा)	दनि ४६
सामाहयसमाहिपडिमा	
(सामायिकसमाधिप्रतिमा)	दनि ४८
सुयसमाधिपडिमा (श्रुतसमाधिप्रतिमा)	दनि ४८

प्रत्येकबुद्ध

करकंडु (करकण्डु)	उनि २५७, २५८
दुम्मुह (दुर्मुख)	उनि २५७, २५८
नग्गति (नगति)	उनि २५७
नमि (नमि)	उनि २५३, २५५, २५७, २५८, २६३, २६४, २६६, २६७.

प्रासाद

नंदण (नंदन)	उनि ४०५
पुंडरीय (पुण्डरीक)	उनि ४३१, ४३२
वंसीपासाय (वंशीप्रासाद)	उनि ३३६

फल

अंब (आम)	उनि २५८
अंबय (आम)	उनि २४१
किंपाग (किम्पाक)	उनि ३९६
महिंदफल (माहेन्द्रफल)	उनि १४९

भावना

अप्पमाय (अप्रमाद)	आनि ३६१
एगग (एकाग्र)	आनि ३६१
चरित्त (चारित्र)	आनि ३५१
तव (तप)	आनि ३५१
दंसण (दर्शन)	आनि ३५१
नाण (ज्ञान)	आनि ३५१
वेरग (वैराग्य)	आनि ३५१, ३६१

मंडप		इंगिणि (इंगिनी)	उनि. २०६, २२८,
अण्फोव (अण्फोव)	उनि. ३१०	आनि. २७४, २८१, दनि ९५	
मंत्री		ओहि (अवधि)	उनि. २०५, २०९, २१५
अभय (अभय)	दशनि. ५८, ७८, सूनि. ५७, १९४	केवलि (केवलिमरण)	उनि. २०६, २१७
धणुय (धनुक)	उनि. ३३०	गिद्धपिष्ट (गृद्धपृष्ठ)	उनि. २०६, २१८, आनि. २७३
रोहगुत (रोहगुस)	आनि. २२८	छउमत्थ (छद्यस्थ)	उनि. २०६, २१७
वरग (वरक)	दनि. १०६	तब्भव (तद्भव)	उनि. २०५, २१४, २१५
वरधणु (वरधनु)	उनि. ३३०, ३३७	पंडिय (पंडित)	उनि. २०५, २१६
वरधणुग (वरधनुक)	उनि. ३३७	पाओवगमण (प्रायोपगमन)	उनि. २०६
सगडाल (शकडाल)	उनि. १०१	पायवगमण (प्रायोपगमन)	उनि. २२८, २७४, २८१, २८३, २८४, २९१
सिरिय (श्रीयक)	उनि. १०१	बाल (बाल)	उनि. २०५, २१६
मणि		बालपंडित (बालपंडित)	उनि. २१६
अंक (पुलकमणि)	आनि. ७५	भक्तपरिणा (भक्तपरिज्ञा)	उनि. २०६, २१९, २२८, आनि. २६३, २७३, २८१
इंदनील (इंद्रनील)	आनि. ७५	मौस (बालपंडितमरण)	उनि. २०५
गोमेज्जथ (कर्केतन)	आनि. ७५	वलाय (वलन्मरण)	उनि. २०५, २१०
चंदप्पथ (चन्द्रकान्त)	आनि. ७६	वसट्ट (वशार्त)	उनि. २०५, २१०
जलकंत (जलकान्त)	आनि. ७६	वाधातिम (व्याधातिम)	आनि. २८५
पवाल (प्रवाल)	आनि. ७४, सूनि. १५१	वेहाणस (वैहानस)	उनि. २०६, आनि. २७३
फलिह (स्फटिक)	आनि. ७५	वेहास (वैहानस)	उनि. २१८
भुयमोयग (भुजमोचक)	आनि. ७५	ससल्ल (सशल्य)	उनि. २१२, २१३
भरगय (भरकत)	आनि. ७५	महिला	
मसारगल्ल (मसारगल्ल)	आनि. ७५	अचंकारियभट्टा (अत्वंकारीभट्टा)	दनि. १०४, १०६
मोत्तिय (मोती)	सूनि. १५१	खंदसिरी (स्कन्दश्री)	उनि. १११
रुयग (रुचक)	आनि. ७५	गंधारी (गांधारी)	उनि. ३१८
लोहियक्ख (पद्मराग, लोहिताक्ष)	आनि. ७५	गोरी (गौरी)	उनि. ३१८
वेरुलिय (वैदूर्य)	आनि. ७६	जसा (यशा)	उनि. २४६
सूरकंत (सूर्यकान्त)	आनि. ७६	देवदत्ता (दासी)	उनि. ९५, दनि. ९६
मरण		रुदसोमा (रुद्रसोमा)	उनि. ९७
अंतिय (अत्यंत)	उनि. २०५	रुविणी (रूपिणी)	उनि. ४३१, ४३२
अंतोसल्ल (अंतःशल्य)	उनि. २०५	वग्गुमती (वल्गुमती)	आनि. ३२३
अपरक्कम (अपराक्रम)	आनि. २८४	वड्डकुमारी (वृद्धकुमारी)	दशनि. ५८
आइयंतिय (आत्यन्तिक)	उनि. २०९, २२३	वासिट्ठा (वाशिष्ठा)	उनि. ३५९, ३६६
आवीइय (आवीचि)	उनि. २२२	सुदंसणा (महावीर की बहिन)	उनि. १७२/२
आवीचि (आवीचि)	उनि. २०५, २१५		

सुनंदा (सुनन्दा)	उनि.२८८
सुभद्रा (सती)	दशनि.६९

माप

आढगम (आढक)	उनि.१५१
करिस (कर्ष)	उनि.१४७, ३३५
कुडव (कुडव)	दशनि.२१०, अनि.८७, १४४
पत्थ (प्रस्थ)	दशनि.२१०, अनि.८७, १४४
पल (पल)	उनि.१४७
भाग (पलिका)	उनि.१४७
मागह (मागध)	उनि.१५१
मास (मासा)	उनि.२४९
रयणि (रत्नि)	उनि.१४९

मुद्रा

कागिणी (काकिणी)	उनि.२४१, ५३३

मुनि

अद्ग (आर्द्रक)	सूनि.१८८, १९१, २००
अद्ग (आर्द्रक)	सूनि.१९२
अरहन्नय (अर्हन्नक)	उनि.९३
अरहमित्त (अर्हन्मित्र)	उनि.९३
असगड (अशकट)	उनि.१२१
उदग (उदक)	सूनि.२०५, २०६
कविल (कपिल)	उनि.२४३, २४५-२४७
कूलबाल (कूलबाल)	सूनि.५७
कोडिन्न (कौडिन्य)	उनि.१७२/५, २८६, २८९, १७२/१५
कोट्टवीर (कोट्टवीर)	उनि.१७२/१५
खंदय (स्कन्दक)	उनि.११२, ११३
गद्भालि (गर्दभालि)	उनि.३९०
गागलि (गागलि)	उनि.२७८
चित्त (चित्र)	उनि.३२२, ३२४, ३४७, ३३१
जयघोस (जयघोष)	उनि.४५९, ४६१, ४६२, ४६५, ४७०, ४७४, ४७६
ढंढ (ढण्ड)	उनि.११५
दत्त (दत्त)	उनि.९३, १०७
दिन्न (दत्त)	उनि.२८९

धणगुत्त (धनगुप्त)	उनि.१७२/६
धणमित्त (धनमित्र)	उनि.९१
धणसम्म (धनशर्मा)	उनि.९१
फगुरक्खिय (फल्लगुरक्षित)	उनि.९७
बलदेव (कृष्ण का भाई)	उनि.११५
मणग (मनक)	दशनि.१४, १७, ३४८
मुणिचंद (मुनिचन्द्र)	उनि.३२५
रहनेमि (रथनेमि)	उनि.४३७, ४३९, ४४१, ४४२, ४४३
रोहगुत्त (रोहगुप्त)	उनि.१७२/७
विजयघोस (विजयघोष)	उनि.४५९, ४६१, ४७४, ४७६
संख (शंख)	उनि.३१४, ३१५
संभूय (संभूत)	उनि.३२२, ३२४
सागरचंद (सागरचन्द्र)	उनि.३२५
सामइय (मुनि)	सूनि.१९२
सुमणुभद्द (सुमनुभद्र)	उनि.९४
सेवाल (शैवाल)	उनि.२८९, २९१
सोमदेव (आर्यभट्ट के पिता)	उनि.९७, १०९
हत्थिमित्त (हस्तिमित्र)	उनि.९०
हत्थिभूइ (हस्तिभूति)	उनि.९०

रत्न

अगरु (अगरु)	दशनि.२३२
आमिल (ऊनी वस्त्र)	दशनि.२३२
कट्ट (काष्ठ)	दशनि.२३२
गंध (सौगंधिक द्रव्य)	दशनि.२३२
चंदण (चन्दन)	दशनि.२३२
चम्म (चर्म, सिंह आदि का)	दशनि.२३२
तउ (कलई)	दशनि.२३१
तंब (ताम्र)	दशनि.२३१
तिणिस (तिनिश)	दशनि.२३२
दंत (दांत, हाथी आदि के)	दशनि.२३२
दब्बोसह (पीपर आदि औषधि)	दशनि.२३२
पवाल (प्रवाल)	दशनि.२३१
पासाण (विजातीय रत्न)	दशनि.२३१
बाल (चमरी गाय के बाल)	दशनि.२३२

मणि (मणि)	दशनि. २३१	जियसत्तु (जितशत्रु)	उनि. ११२, ३४३
मोत्तिय (मुक्ता)	दशनि. २३१	दंडइ (दंडकी)	उनि. ११३
रयय (चांदी)	दशनि. २३१	दंडगी (दंडकी)	उनि. ११२
लोह (लोहा)	दशनि. २३१	नंद (नन्द)	उनि. १०१
वइर (वज्र)	दशनि. २३१	दीह (दीर्घ)	उनि. ३२८, ३४६
वत्थ (वस्त्र)	दशनि. २३२	पंधक (पन्थक)	उनि. ३३१
संख (शंख)	दशनि. २३२	पज्जुत्तसेण (प्रद्युम्नसेन)	उनि. ३३४
सीसग (सीसा)	दशनि. २३१	पज्जोय (प्रद्योत)	दशनि. ७८, उनि. ९५, ९६, सूनि. ५७, दनि. ९२, ९७
सुवण्ण (स्वर्ण)	दशनि. २३१, ३२५	पसेणई (प्रसेनजित्)	उनि. ३४६
हिरण्ण (रुपया)	दशनि. २३१	पुप्फचूल (पुष्पचूल)	उनि. ३२८

राजकुमार

अइसुत (आर्द्रककुमार)	सूनि. १८८	पोत (पोत)	उनि. ३३३
कालवेसिय (कालवैशिक)	उनि. ११६	बंध (ब्रह्म)	उनि. ३२८
दढनेमि (दृढनेमि)	उनि. ४४१	बलभद्द (बलभद्र)	उनि. १७२/४, ४०३
पोंडरीय (पुण्डरीक)	उनि. २८६, २८८	बलसिरि (बलश्री)	उनि. १७२/७
बलसिरी (बलश्री)	उनि. ४०२, ४०४	भिकुंडि (भ्रिकुंडि)	उनि. ३४३
भद्द (भद्र)	उनि. ११७	मिहिलापति (नमिराजा)	उनि. २६३
महासाल (महाशाल)	उनि. २७७	मिहिलाहिय (नमिराजा)	उनि. २६७
सच्चनेमि (सत्यनेमि)	उनि. ४४१, ४४२	विसाहदत्त (विशाखदत्त)	उनि. ३४४
साल (शाल)	उनि. २७७	संजत (संजय)	उनि. ३८८, ३९४

राजा

अइ (आर्द्र)	सूनि. १८८	संजय (संजय)	उनि. ३८५, ३८६
उदयण (उदयन)	उनि. १४८	समुहविजय (समुद्रविजय)	उनि. ४४०
उद्दयण (उद्दयण)	दनि. ९६	सीमंधर (सीमन्धर)	उनि. ३६६

रानी

उसभ (ऋषभ)	उनि. ३३२	इंदजसा (इंद्रयशा)	उनि. ३३०
उसुयार (इषुकार)	उनि. ३५३, ३५५, ३५९	इंदवसु (इन्द्रवसु)	उनि. ३३०
कंपिल (काम्पिल्य)	उनि. ३६५	इसिवुडिह (ऋषिवृद्धि)	उनि. ३३५
कडग (कटक)	उनि. ३२८	इंदसिरी (इन्द्रश्री)	उनि. ३३०
कडय (कटक)	उनि. ३२८, ३४९	कच्चाइणी (कात्यायनी)	उनि. ३३२
कणेरुदत्त (कणेरुदत्त)	उनि. ३२८	कमलावई (कमलावती)	उनि. ३५९
कित्तिसेण (कीर्तिसेन)	उनि. ३३१	करेणुदत्ता (करेणुदत्ता)	उनि. ३३५
कोणिय (कोणिक)	दशनि. ७४	करेणुपदिगा (करेणुपतिका)	उनि. ३३५
चंडवडिंसय (चन्द्रावतंसक)	उनि. ३२५	करेणुसेणा (करेणुसेना)	उनि. ३३५
चारुदत्त (चारुदत्त)	उनि. ३३२	कित्तिमई (कीर्तिमती)	उनि. ३३१
चित्तसेणअ (चित्तसेनक)	उनि. ३३१	कुंजरसेणा (कुंजरसेना)	उनि. ३३५

कुरुमती (कुरुमती)	उनि.३३५, ३५२
कुसकुंडी (कुसकुंडी)	उनि.३४३
गोदत्ता (गोदत्ता)	उनि.३३५
चुलणि (चुलनी)	उनि.३३०
जसवई (यशोमती)	उनि.३३२
दीवसिहा (दीपशिखा)	उनि.३३३
देवी (देवी)	उनि.३३२
धारिणी (धारिणी)	उनि.११२
नागजसा (नागयशा)	उनि.३३१
नागदत्ता (नागदत्ता)	उनि.३३२
पतिगा (पतिगा)	उनि.३३४
पभावई (प्रभावती)	उनि.१६, दनि.१६
पिंगला (पिंगला)	उनि.३३३
पुत्थी (पुत्थी)	उनि.३३३
पुरंदरजसा (पुरन्दरयशा)	उनि.११२, ११३
भद्रा (भद्रा)	उनि.३३१
मलयवती (मलयवती)	उनि.३३४
मिगदेवी (मृगादेवी)	उनि.४०२
मिगा (मृगादेवी)	उनि.४०३
रयणवई (रत्नवती)	उनि.३३२
वच्छी (वत्सी)	उनि.३३२
वणराइ (वनराजि)	उनि.३३४
वाणीरा (वानीरा)	उनि.३३४
वासवदत्ता (वासवदत्ता)	उनि.१४८
विजुमती (विद्युन्मती)	उनि.३३१
विजुमाला (विद्युन्माला)	उनि.३३१
सिला (शिला)	उनि.३३२
सिवा (शिवा)	उनि.४४०
सुभद्रा (सुभद्रा)	उनि.३१७
सोमा (सोमा)	उनि.३३४
हरिएसा (हरिकेशा)	उनि.३३५

रोग

अच्छिखेयणा (अक्षिवेदना)	उनि.८५
अभत्तछंद (अजीर्ण)	उनि.८५
अवहेडग (अर्धशिरोरोग)	उनि.१५०

आमदोस (आमदोष)	दशनि.३४१
कंडु (खाज)	उनि.८५, १५०
कास (खांसी)	उनि.८५
कुच्छिखेयणा (कुक्षिवेदना)	उनि.८५
चाउत्थिग (ज्वरविशेष)	उनि.१५०
जर (ज्वर)	उनि.८५
तिमिर (आंख का रोग)	उनि.१५०
तेइज्जग (ज्वर विशेष)	उनि.१५०
मूसगावरद्ध (चूहे का काटा हुआ)	उनि.१५०
सम्पावरद्ध (सांप का काटा हुआ)	उनि.१५०
सास (वास रोग)	उनि.८५
सिरोरोग (शिरोरोग)	उनि.१५०
हिययसूल (हृदयशूल)	उनि.१७२/४

लब्धि

सब्बकखरसन्निवाय (सर्वाक्षरसन्निपात) सूनि.१८९

वनस्पति

अवय (अवक)	आनि.१४१
उच्छु (इक्षु)	दशनि.२७७
ओसिर (ओसीर)	दशनि.१४७
कणगमूल (कनकमूल)	उनि.१४९
कणियार (कनेर)	दशनि.१३३
कत्थ (कत्थ)	आनि.१४१
करमंदि (करमदी, गुल्मविशेष)	उनि.४८६
किण्हय (किण्व)	आनि.१४१
खइर (खदिर)	आनि.२४०
जमदग्गिजडा (जमदग्निजटा)	उनि.१४६
तंबोल (तंबोल)	आनि.२८७
तमालपत्र (तमालपत्र)	उनि.१४७
तिणिस (तिनिस)	दशनि.१३३
दक्खा (द्राक्षा)	उनि.१५१
धायगी (धातकी)	उनि.१५१
पणय (पनक)	आनि.१४१
बिह्ल (बेल)	उनि.१४०
भाणिय (भाणिक)	आनि.१४१

राई (रई)	उनि. १४०
बंस (बांस)	दनि. १०३
बेत (बांस)	सूनि. १०८
सतपुष्प (शतपुष्प)	उनि. १४७
सर्पिण्णय (तमालपत्र)	उनि. १४६
सबरनियंसणिय (शबरनिवसनक)	उनि. १४६
सरस (आर्द्रक)	उनि. १४९
सरिसव (सर्षप)	उनि. १४०
सेवाल (शैवाल)	आनि. १४१
हड (हट)	आनि. १४१
हरेणुया (प्रियंगु)	उनि. १४६
हलिद्या (हरिद्रा)	दनि. १०३
हिरिबेर (हीबेर)	तनि. १४७

वर्णान्तर

अंबट्ट (अम्बट्ट)	आनि. २२, २३, २६
अंबट्टी (अम्बट्टी)	आनि. २६
अजोगव (अयोगव)	आनि. २२, २४
उग (उग्र)	आनि. २२, २३, २६
कुक्कुरअ (कुक्कुरक)	आनि. २७
खत्त (क्षत्र)	आनि. २२, २४, २६
खत्ता (क्षत्रिया)	आनि. २६
चंडाल (चाण्डाल)	उनि. ३१६, आनि. २२, २५
निसादी (निषादी)	आनि. २७
निसाय (निषाद)	आनि. २२, २३, २६
परासर (पराशर)	आनि. २३
बुक्कस (बुक्कस)	आनि. २६
मागह (मागध)	आनि. २२, २४
वेणव (वेणव)	आनि. २६
विदेह (विदेह)	आनि. २६
वेदेह (वेदेह)	आनि. २२, २४
सुद (शूद्र)	आनि. २४, २६, २७
सुदी (शूद्री)	आनि. २६
सूय (सूत)	आनि. २२, २४
सोवाग (श्वपाक)	आनि. २६

वाद्य

तूर (तूर्य)	उनि. १५२
नंदी (वाद्य)	उनि. २६
मुकुंद (मुकुन्द)	उनि. १५२
संख (शंख)	सूनि. ७

वायु

उकलिया (उत्कलिका)	आनि. १६६
गुंजा (गुंजा)	आनि. १६६
घणवाय (घनवात)	आनि. १६६
मंडलिया (मंडलिका)	आनि. १६६
सुद्धवाय (शुद्धवात)	आनि. १६६

वाहन

नावा (नौका)	आनि. ३३४
रह (रथ)	उनि. ४६
सगड (शकट)	उनि. १८६

विद्याविशेष

उलुगी (उलूकी, काकविद्या की प्रतिपक्षी)	उनि. १७२/९
ओवाई (उल्लावकी, पोताकीविद्या की प्रतिपक्षी)	उनि. १७२/९
कागी (काकीविद्या)	उनि. १७२/८
नउली (नाकुली, सर्पविद्या की प्रतिपक्षी)	उनि. १७२/९
पोवाई (पोताकीविद्या)	उनि. १७२/८
बिराली (बिडाली, मूषकविद्या की प्रतिपक्षी)	उनि. १७२/९
मिगी (मृगीविद्या)	उनि. १७२/८
मूसग (मूषकविद्या)	उनि. १७२/८
मोरी (मायूरी, वृश्चिकविद्या की प्रतिपक्षी)	उनि. १७२/९
बग्घी (ब्याघ्री, मृगीविद्या की प्रतिपक्षी)	उनि. १७२/९
वराही (वराहीविद्या)	उनि. १७२/८
विच्छुय (वृश्चिकविद्या)	उनि. १७२/८
सम्प (सर्पविद्या)	उनि. १७२/८

सोही (सिंही, वराही विद्या
की प्रतिपक्षी)

उनि. १७२/९

विशिष्ट मुनि

अहालंद (यथालंदक) दनि. ६२
आचारधर (आचारधर) आनि. १०
सव्यक्खरसन्निवाइ (सर्वाक्षरसन्निपाती) दनि. ३१०

वृक्ष

अहिमार (अभिमार) उनि. १५२
एरंड (एरण्ड) आनि. २४०
चूतवृक्ष (आम्रवृक्ष) उनि. २६८
चूयपादव (आम्रवृक्ष) उनि. ३४८
ताल (ताड़) आनि. १३३
नालिएर (नारियल) आनि. १३३
भददारु (देवदारु) उनि. १४७
वंजुल (वज्जुल) दशनि. १३३
षडपायव (वटवृक्ष) उनि. ३३७
सरल (चीड़) आनि. १३३
सिंबलि (सिम्बलि) सूनि. ८९

व्यक्ति

अज्जुणय (अर्जुनमाली) उनि. १११
उक्कल (उत्कल) आनि. ३२३
कंचुग (कंचुक) उनि. ३५२
कलिंग (कलिंग) आनि. ३२३
गोतम (गौतम नैमित्तिक) आनि. ३२३
दुरूतग (दुरूतग ग्रामीण) दनि. ९४
देवदत्त (देवदत्त) दशनि. ६०
नलदाम (जुलाहा) दशनि. ७७
परासर (पारासर कृषक) उनि. ११५
बलभद्र (बलभद्र चोर) उनि. २५१
मरुय (मरुक किसान) दनि. १०४, १०५

शस्त्र

असि (तलवार) सूनि. ७२
असिय (तलवार) दनि. १००
असियग (तलवार) आनि. १४९
आलित्त (आलित्तक) आनि. ९५

कप्पणी (करवत)

आनि. १४९

करकय (करवत)

सूनि. ८९

कुद्दाल (कुदाल)

आनि. ९५

कुद्दहि (कुठारी)

आनि. १४९

कौत (भाला)

सूनि. ७२

चत्त (चक्र)

उनि. १६१

तिसूल (त्रिशूल)

सूनि. ७२

तोमर (भाला)

सूनि. ७२

दत्तिय (दांती)

आनि. १४९

परसु (परशु)

उनि. ३७०

मंडलग (मण्डलाग्र)

सूनि. ५९

मुग्गर (मुद्गर)

उनि. ८८

वासि (वसौला)

आनि. १४९

सत्ति (शक्ति, सांग)

सूनि. ७२

सूइय (सूई)

सूनि. ७२

सूल (शूल)

सूनि. ७२

श्रमणोपासक

खंडरक्खा (खंडरक्षा) उनि. १७२/५
गंधार (गान्धार) उनि. ९५
ढंक (ढंक) उनि. १७२/२
मित्तसिरी (मित्रश्री) उनि. १७२/३
सुनन्द (सुनन्द) उनि. ११८

श्रेष्ठी

कुरुदत्त (कुरुदत्त) उनि. १०८
तावस (तापस) उनि. १००
दारुय (दारुक) उनि. ३३३, ३५१
धण (धन) उनि. २४६, दनि. १०८
धणगिरि (धनगिरि) उनि. २८८
धणदेव (धनदेव) उनि. ३३३
पज्जुण (प्रद्युम्न) उनि. ३५२
वसुमित्त (वसुमित्र) उनि. ३३३
सागरदत्त (सागरदत्त) उनि. ३३३
शालिभद्र (शालिभद्र) उनि. २४६
सिंधुदत्त (सिन्धुदत्त) उनि. ३३४
सिंधुसेण (सिन्धुसेन) उनि. ३३४

सिवदत्त (शिवदत्त वणिक्) उनि. ३४४
 सुंदरण (सुदर्शन) उनि. १११, ३३३, ३५१

संस्थान

आयय (आयत) उनि. ३८, ४०, ४१
 चउरंस (चतुरस्र) उनि. ३८, ४०
 तंस (त्र्यस्र) उनि. ३८, ३९
 परिमंडल (परिमण्डल) उनि. ३८
 परिमंडलग (परिमण्डल) उनि. ४१
 वट्ट (वृत्त) उनि. ३८

साध्वी

अणोज्जा (अनवद्या) उनि. १७२/२
 पंडरज्जा (पाण्डुरा) दनि. ११०, १०४
 भद्दा (भद्रा) उनि. ९३

मिगावई (भृगावती) दशनि. ७२
 रायमती (राजीमती) उनि. ४४४

सार्धवाह

उदधि (उदधि) उनि. ४२९
 पालिग (पालिक) उनि. ४२५
 पालिय (पालिक) उनि. ४२९
 समुद्रपाल (समुद्रपाल) उनि. ४२८

हेतु

जावग (यापक) दशनि. ८३, ८४
 थावग (स्थापक) दशनि. ८३, ८४
 लूसग (लूषक) दशनि. ८३, ८५
 वंसग (व्यंसक) दशनि. ८३, ८५

वर्गीकृत विषयानुक्रम

अंग	उनि. १४४-६२		२०१
अकारकवाद	सूनि. ३४, ३५	आत्मा की	
अग्र	आनि. ३०५-३०७	परिणामनशीलता	दशनि. ६२
अजीव	उनि. ५४६, ५४७	आर्द्रक	सूनि. १८८-२०१
अध्ययन	दशनि. २६, २७, ३०, उनि. ५-७, ९, ११, २८/३, ४, ५३८, ५३९, सूनि. १४३, उनि. ५४१, ५४२	आशातना	दनि. १५-१९, २४
अनगार	आनि. २८७	आहार	सूनि. १७०-७८
अनशन	दशनि. २४४	इषुकार	उनि. ३५३-६६
अनाचार	दशनि. ३-५	ईर्या	आनि. ३२८-३३
अनुयोग	आनि. १०६-१५	उच्चार-प्रस्ववण	आनि. ३४४, ३४५
अपकाय	उनि. ४९९, ५००	उत्तर	उनि. १, २
अप्रमाद	दशनि. २२६-३५	उत्तराध्ययन	उनि. ३, ४, १३-२७, ५५२-५४
अर्थ	सूनि. २०२, २०३	उदाहरण	दशनि. ४७-८२
अलं	आनि. ३३९-४२	उपधान	आनि. ३००-३०४
अवग्रह	दशनि. १२३-१२३/११	उपसर्ग	सूनि. ४७-५०
अवयव	दशनि. ४२, आनि. २२६, २२७	उपासक	दनि. ३५-३७, ३९
अहिंसा	दशनि. १५४-६१, उनि. ४७९	उपासक-प्रतिमा	दनि. ४४/१
आचार	आनि. ७-१७, ३१-३५, १९७-९९, २१५, २१६, २३६-३८, २५०, २५१, २५३-६३, २६७, २६८, २७१-७५, २९५, २९९	उरभ्र	उनि. २३८-२४२/१
आचारांग	आनि. ३०७-११, ३१७, ३२६, ३२७, ३३४, ३३५, ३४३, ३६४	कथा	दशनि. १६२-८८
आचार्य	दशनि. २८, उनि. ८, सूनि. १३०, १३१	कपिल	उनि. २४३-५२
आजाति/निदान	दनि. १२९-३७, १४२	करण	उनि. १७६-९७, सूनि. ४-१६
आत्मकर्तृत्ववाद	दशनि. ७१, २०२	कर्म	उनि. ५२२-२४, आनि. १९३-१५, दनि. १२४-२६
आत्मा	दशनि. ५९-६१, ७३-७६,	कषाय	दशनि. २७६-७८, आनि. १९१, दनि. १०१-१०४/१
		काम	दशनि. १३७-४१, २३६-३९, उनि. २००
		कामगुण	आनि. १८६
		कामलालसा	आनि. २३३, २३४
		कुशील	सूनि. ९०
		कोटि	दशनि. २१९/१-२२१/१
		क्रिया	सूनि. १६६, १६७

क्षुल्लक	उनि. ४१६	दशवैकालिक	दशनि. ७-२५, १८९, २८५,
खलुंक	उनि. ४८२-९०		३४८, ३४९
गद्यकाव्य	दशनि. १४७	दशा	दनि. २-७
गणी	दनि. २५-२८, ३०, ३१	दिशा	आनि. ४०-६२
गति	उनि. ४९५, ४९६	दीप	उनि. १९८, १९९
गाथा	सूनि. २३, १३७-४०	द्रुम	दशनि. ३१, ३२, उनि. २७३-७६
गुण	आनि. १७९-८२	द्रुमपुष्पिका	दशनि. ३४
गुणश्रेणिविकास	आनि. २२३, २२४	द्वीप	उनि. १९८, १९९
गेय	दशनि. १४९	द्वुष्प्रणिहित	दशनि. २८२
गौतम	उनि. २७७-३०२, ४४५-४७	धर्म	दशनि. ३६-४०, ८६-९०,
ग्रंथ	उनि. २३४-३६		२२३-२५, २४१, सूनि. ९९-
चतुर्वर्ण	आनि. १९		१०१
चरण	उनि. ३७७, ५०९, ५१०,	धर्मप्राप्ति के	
	आनि. २९, ३०	बाधक तत्त्व	उनि. १६३, १६४
चारित्र्यआचार	दशनि. १५९	धुत	आनि. २५१, २५२
चित्त	दनि. ३२-३३/१	नमि	उनि. २५३-५५, २६३-६७
चित्र-संभूत	उनि. ३२२-२७	नय	दशनि. १२५, १२६
चूडा	दशनि. ३३४-३६	नरक	सूनि. ६२, ६३
जयघोष	उनि. ४६०-७६	मारकीय वेदना	सूनि. ६५
जात	आनि. ३३६	निक्षेप	आनि. ४
जातिस्मृति	आनि. ६३-६७	नित्यानित्यवाद	दशनि. ५५, ५६
जीव	दशनि. १९३-२०९, उनि. ५४४, ५४५	निर्ग्रन्थ	उनि. २३१-३३, २३७, ४१७ ४२२
जीव के लक्षण	दशनि. १९९, २००	निहववाद	उचि. १६७-१७२/१५
जीवत्व-सिद्धि	दशनि. ६६-६८	पंचभूतवाद	सूनि. ३३
ज्ञान आचार	दशनि. १५८	पद	दशनि. १४२-५२
तथ्य	सूनि. १२२-१२४	पद्य	दशनि. १४८
तप	दशनि. ४४, ४५, उनि. ५०५, ५०६, आनि. २०९, २९२, २९३, २९६, २९८	परमाधार्मिक देव	सूनि. ६६-८२
तप आचार	दशनि. १६०	परिज्ञा	आनि. ३७, २६७-६९,
तीर्थंकर	आनि. २९५-९७		सूनि. १७९
तेजस्काय	आनि. ११६-२५	परीषद्	उनि. ६६-१४१, आनि. २०२-
त्रसकाय	आनि. १५२-६३		२०४
त्रिवर्ग	दशनि. २२३-२४०/१	पर्युषणा	दनि. ५३-१००, १०५-२०
दर्शन आचार	दशनि. १५७, १५७/१	पाप	उनि. ३८०, ३८१
		पिंडैषणा	दशनि. २१७/१-२१९
		पुण्डरीक	सूनि. १४४-१६५
		पुष्प	दशनि. ३३

पुरुष	सूनि. ५६	महाव्रत	आनि. ३१५, ३१६
पूजा	उनि. ३०८-१०	माधुकरी भिक्षा	दशनि. ९२-१०५, ११३-१२०/४
पूर्व	दशनि. १३६	मार्ग	उनि. ४९३, ४९४, सूनि. १०७-११५
पृथ्वीकाय	आनि. ६८-१०५	मिथ्यादृष्टि	उनि. १६५, आनि. २२०, २२१
प्रकृति	उनि. ५२५-२८	मिश्रभाषा	दशनि. २५१
प्रणिधि	दशनि. २६९-७५, २७९-८१	मूल	आनि. १८३, १८४
प्रतिमा	दनि. ४१, ४२, ४६-५०,	मृगापुत्र	उनि. ३९९-४१५
प्रतिमाप्रतिपन्न		मृषाभाषा	दशनि. २५०
के गुण	दनि. ५१, ५२	मोक्ष	उनि. ४९१, ४९२
प्रत्याख्यान	सूनि. १८०, १८१	मोह	आनि. १८७-८९, दनि. १२१-२३
प्रत्येकबुद्ध	उनि. २५७-७२	मोहनीय स्थान	दनि. १२७, १२८
प्रमाद	उनि. १७३, १७४, ५१७-२१, ५१४, ५१५	यज्ञ	उनि. ४५७-५९
प्रवचन	उनि. ४५२, ४५३	रति	दशनि. ३३७-३९, ३४१, ३४२
प्रवचनमाता	उनि. ४५६	रथनेमि	उनि. ४३७-४४
प्रव्रज्या	उनि. २५६	लेश्या	उनि. ५२९-३७, ५४०
बंध	दनि. १३८-४१	लोक	दशनि. २१०, आनि. १७६-७८
बहु	उनि. ३०३, ३०४	लोकसार	आनि. २४४, २४५
ब्रह्म	उनि. ३७५, ३७६, आनि. १८, २८	वनस्पतिकाय	दशनि. २१५ आनि. १२६-५१
ब्रह्मदत्त	उनि. ३३०-५२	वर्णान्तर	आनि. २०-२७
भद्रबाहु	दनि. १	वाक्य	दशनि. २४५, २४६
भावना	आनि. ३४९-६३	वायुकाय	आनि. १६५-७२
भाषा	दशनि. २४७-५८	विकेथा	दशनि. १८०, १८२, १८४
भाषाविवेक	दशनि. २६६-६८	विजयघोष	उनि. ४७०-७६
भिक्षु	दशनि. ३०७-२५, ३३०-३३, उनि. ३६७-७२	विधि	उनि. ५११-१३
मंगल	दशनि. ४१	विनय	दशनि. २८६-३०३
मद	सूनि. ४३, ४४	विभक्ति	उनि. ५४८-५१, सूनि. ६४
ममत्व	आनि. १९६	विमोक्ष	आनि. २७६-८१
मरण	उनि. २०१-२९, आनि. २८२-८६	विहंगम	दशनि. १०७-१२
महत्	दशनि. १५३, उनि. २३०, आनि. २६४-६६, सूनि. ८३, १४२	वीर्य	सूनि. ९१-९७
		वीर्याचार	दशनि. १६१
		व्यवहार भाषा	दशनि. २५२, २५३

शबल	दनि. १२-१४	समवसरण	सूनि. ११६-२०
शय्या	आनि. ३२१-२५	समाधि	दशनि. ३०४, उनि. ३७८,
शस्त्र	दशनि. २१३, २१४, आनि. ३६, सूनि. ९८		सूनि. १०४-१०६, दनि. ९, ३३/२, ३४
शिष्य	सूनि. १२७	समुद्रपाल	उनि. ४२३-३६
शीत	आनि. २००, २०२, २०५-२०७	सम्यक्चारित्र	आनि. २३५
शील	सूनि. ८६, ८७	सम्यक्त्व	आनि. २१७-१९
शीलवादी	सूनि. ८९	सम्यग्दृष्टि	उनि. १६६, आनि. २२२
शुद्धि	दशनि. ३५९-६३	साधु	दशनि. १२१, १२२
शूर	सूनि. ६०	साधुचर्या	दशनि. ३४७
शैक्ष	सूनि. १२८, १२९	सामाचारो	उनि. ४७७-८१
श्रमण	दशनि. १२८-३५, २४३, उनि. ३८२-८४ आनि. २१०- १२, २२५	सार	आनि. २४०-४३
	उनि. २९, ३०५-३०७	सिद्धि	दशनि. ३४३
श्रुत	५०१-५०३	सुप्रणिहित	दशनि. २८३
संज्ञय	उनि. ३८५-९८	सूत्र	सूनि. ३
संज्ञा	आनि. ३८, ३९	सूत्रकृतांग	सूनि. २, १८-२२, २४-३१
संपदा	दनि. २९	स्तुति	सूनि. ८४
संयम	दशनि. ४३, आनि. ३१३, ३१४	स्त्री	सूनि. ५५, ५७-५९, ६१
संयोग	उनि. ३०-६४	स्थान	उनि. ५१६, ३७९, आनि. १८५, सूनि. १६८, दनि. १०
संलेखना	आनि. २८८-९१	स्थावरकाय	
संसार	आनि. १९२, १९२/१	में वेदना	आनि. ९७, ९८
सत्यभाषा	दशनि. २४९	स्वर्ण	दशनि. ३२६-२८
समय	सूनि. ३२	हरिकेशबल	उनि. ३११-२१
		हेतु	दशनि. ८३-८५

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ नाम	लेखक, संपा., व्या., अनु.	संस्करण	प्रकाशक
अणुओगदाराइ	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं. १९९६	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
अनुयोगद्धार चूर्णि	जिनदासगणी	प्रसं. १९२८	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम
अनुवाद कला	डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर	द्विसं. १९९०	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति भाग १	पतञ्जलि	चसं. १९९२	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़
अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति भाग-२	पतञ्जलि	चसं. १९८९	श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर
आगम युग का जैन दर्शन	पं. दलसुखभाई मालवणिया	द्विसं. १९९०	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
आचारांग चिंतामणि टीका	-	-	-
आचारांग चूर्णि	जिनदासगणी	प्रसं. १९४१	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे संस्था, रतलाम
आचारांग टीका	आचार्य शीलान्क	प्रसं. १९७८	भोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
आचारांग निर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)	वा. प्र. गणाधिपति तुलसी प्रसंपा. आचार्य महाप्रज्ञ संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा	प्रसं. १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनू
आचारांगभाष्यम्	वा. प्र. गणाधिपति तुलसी भा. आचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं. १९९४	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
आचारांगसूत्रम्	संपा. शूङ्गि		
आयारो	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. मुनि नथमल	प्रसं. वि. २०३१	जैन विश्व भारती, लाडनू
आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग)	जिनदासगणी	प्रसं. १९२८	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम
आवश्यकचूर्णि (उत्तरभाग)	जिनदासगणी	प्रसं. १९२९	वही
आवश्यकनिर्युक्ति भाग १, २	आचार्य भद्रबाहु	प्रसं. वि. २०३८	श्री भैरूलाल कन्हैयालाल कोठारी, धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई
आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि टीका	आचार्य मलयगिरि	प्रसं. १९२८	आगमोदय समिति, बम्बई

ग्रन्थ नाम	लेखक, संपा., व्या., अनु.	संस्करण	प्रकाशक
आवश्यकनिर्युक्ति हरिभद्रीय टीका	आचार्य हरिभद्र	प्रसं. वि. २०३८	भैरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, बम्बई
आवश्यकनिर्युक्ति हरिभद्रीय टीका	आचार्य हरिभद्र	प्रसं. वि. २०३८	भैरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, बम्बई
आवश्यक संग्रहणी			
उत्तराध्ययन, भाग १	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	द्विसं. १९९२	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
उत्तराध्ययन, भाग २	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	द्विसं. १९९३	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
उत्तराध्ययन: एक समीक्षात्मक अध्ययन	वा. प्र. आचार्य तुलसी विवेचक मुनि नथमल	प्रसं. १९६८	श्री जैन ज्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता - १
उत्तराध्ययन चूर्णि	जिनदासगणी	प्रसं. १९३३	ऋषभदेव केशरीमत श्वे. संस्था, रतलाम
उत्तराध्ययननिर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)	आचार्य भद्रबाहु संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा	प्रसं. १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनू
उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका	शान्त्याचार्य	प्रसं. १९१७	देवचन्द्र लालभगई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
उत्तराध्ययन सुखबोधा टीका	आचार्य नेमिचन्द्र	प्रसं. १९३७	पुष्पचन्द्र खैमल-द वलाद
ऋग्वेद संहिता	संपा. नारायण शर्मा चिंतामणि शर्मा	प्रसं. १९४६	वैदिक संशोधन मण्डल, तिलक मेमोरियल, पूना- २
ओघनिर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु	प्रसं. १९१९	आगमोदय समिति, मेहसाणा
ओघनिर्युक्ति द्रोणाचार्य टीका	द्रोणाचार्य	प्रसं. १९१९	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत
कर्मग्रन्थ (शतक)	व्या. मुनि श्री मिश्रीमल	प्रसं. १९७६	श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर
कर्म प्रकृति	-	-	-
कणाय पाहुड - भाग १	आचार्य गुणधर चूर्णिकार यतिवृषभ संपा. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री	प्रसं. १९७४	भा.दि.जैन संघ, चौरासी, मधुरा
कामसूत्र	वात्स्यायन अनु. एस. सी. उपाध्याय		तेरापुरावाला २१०, नौरोजी रोड, बम्बई

ग्रन्थ नाम	लेखक, संपा., व्या., अनु.	संस्करण	प्रकाशक
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामीकुमार	वृसं. १९९०	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास
कौटिलीय अर्थशास्त्र	ले. चाणक्य संपा. वाचस्पति गैरोला	- वसं. १९९१	- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
गणधरवाद	संपा. नंदलालशुभाई मालवणिया	प्रसं. १९८२	राजस्थान प्राकृत-भारती, जयपुर
गीता	-	द्विसं. वि. २०५३	गीता प्रेस, गोरखपुर
गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव और विकास	डॉ. सागरमल जैन	१९९२	पार्श्वनाथ विद्यापीठ शोध संस्थान, वाराणसी
गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	चामुण्डराय	प्रसं. १९७२	श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास
गौतमधर्मसूत्राणि	संपा. डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय	प्रसं. १९६६	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
चंद्रावेज्जमय पइण्य	--	प्रसं. १९८४	श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति (उवंगसुत्ताणि खण्ड-२)	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं. १९८९	जैन विश्व भारती, लाडनू
जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति टीका	आचार्य शांतिचन्द्र	प्रसं. १९२०	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
जयधवला	संपा. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री	प्रसं. १९७४	वर्धमान मुद्रणालय गौरीगंज, वाराणसी - १
जातक	अनु. भदन्त आनन्द कौस्तुभ्यायन	द्विसं. १९८२	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
जीतकल्पचूर्णि	आ. सिद्धसेनगणी संपा. जिनविजय जी	प्रसं. १९२६	जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद
जीतकल्पभाष्य	जिनभद्रगणी संपा. मुनि पुण्यविजयजी		शबलचन्द्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद
जीवाजीवाभिगम (उवंगसुत्ताणि खण्ड१)	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं. १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू
जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज	डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	प्रसं. १९६५	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
जैन धर्म	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	वसं. १९६६	भा. दि. जैन संघ, मथुरा
जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. देवीप्रसाद मिश्र	प्रसं. १९८८	हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद

ग्रन्थ नाम	लेखक, संपा., व्या., अनु.	संस्करण	प्रकाशक
जैन संस्कृत महाकाव्यों में भारतीय समाज	डॉ. मोहनचंद	प्रसं १९८९	इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग २	डॉ. मोहनलाल मेहता डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	द्विसं. १९८९	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध, संस्थान, वाराणसी
जैनसिद्धान्तदीपिका	आचार्य तुलसी संपा. मुनि नथमल	चसं. १९९६	आदर्श साहित्य संघ, चूरू
ज्ञातार्थकथा (अंगसुताणि भाग-३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. मुनि नथमल	प्रसं. १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
ठाणं	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. मुनि नथमल	प्रसं वि. २०३३	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
तंदुलवैयसलिय पड़ण्णध		प्रसं. १९८४	श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) भाग १	संपा. प्रो. महेन्द्रकुमार	तृसं. १९८९	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) भाग २	संपा. प्रो. महेन्द्रकुमार	द्विसं. १९९०	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
तत्त्वार्थश्रुतसागरीय वृत्ति	श्रुतसागरसूरि संपा. प्रो. महेन्द्रकुमार	विसं. २००५	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
दक्षसंहिता		-	-
तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य उमास्वाति व्या. पं. सुखलाल रुधवी	द्विसं. १९८५	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५
दशवैकालिक (नवसुताणि)	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. मुनि नथमल	प्रसं. १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू
दशवैकालिक: एक समीक्षात्मक अध्ययन	वा. प्र. आचार्य तुलसी विवेक-मुनि नथमल	प्रसं वि. २०२३	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि	संपा. मुनि पुण्यविजय	प्रसं. १९७३	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद
दशवैकालिक जिनदास भूर्णि	जिनदासगणी	प्रसं १९३३	श्रीकृष्णभदेव केशरीमल श्वे संस्था, रतलाम
दशवैकालिक नियुक्ति (नियुक्तिपंचक)	आचार्य भद्रबाहु संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा	प्रसं १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनू
दशवैकालिक हरिभद्रीय टीका	आचार्य हरिभद्र		देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत

ग्रन्थ नाम	लेखक, संपा., व्या., अनु.	संस्करण	प्रकाशक
दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि	जिनदासगणी	प्रसं. २०११	श्री मणिविजयजी गणी ग्रन्थमाला, भावनगर
दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)	आचार्य भद्रबाहु संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा	प्रसं. १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनू
दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति : एक अध्ययन	डॉ. अशोककुमारसिंह	प्रसं. १९९८	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
दसवेआलियं	वा. प्र. आचार्य तुलसी	द्विसं. १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
दसवेआलियं तह	संपा. मुनि नथमल	विसं. २०२३	श्री जैन स्वे. तेरापंथी महासभा, कलकता
उत्तरज्झयणाणि	वा. प्र. आचार्य तुलसी		
देहीशब्दकोश	संपा. मुनि नथमल वा. प्र. आचार्य तुलसी प्र.सं. ग. सुवाचार्य महाप्रज्ञ संपा. मुनि दुलहराज आ. सिद्धसेन दिवाकर	प्रसं. १९८८	जैन विश्व भारती, लाडनू
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका	आ. सिद्धसेन दिवाकर	प्रसं. १९७७	विजयलावण्यसूरि ग्रंथमाला ज्ञानोपसर्क समिति, बोयद बुद्ध भूमि प्रकाशन, नागपुर
धम्मपद	संपा. डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन	प्रसं. १९९३	जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती (बरार)
धवला	संपा. हीरालाल जैन	प्रसं. १९४९	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
नंदी	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं. १९९७	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
नंदीचूर्णि	जिनदासगणी संपा. मुनि पुण्यविजय	प्रसं. १९६६	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद
नंदी मलयगिरि टीका	आ. मलयगिरि	प्रसं. १९८०	आगमोदय समिति, महेसाणा
नंदी हारिभद्रीय टीका	आचार्य हरिभद्र संपा. मुनि पुण्यविजय	प्रसं. १९६६	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद
३ निशीथ चूर्णि भाग १-४	संपा. उपाध्याय अमरमुनि	द्विसं. १९८२	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निशीथ भाष्य	मुनि कन्हैयालाल	द्विसं. १९८२	वही
पंचवस्तु			
पंचकल्प भाष्य		वि. २०२८	आगमोद्धारक ग्रन्थमाला, पारडी

ग्रन्थ नाम	लेखक, संपा., व्या., अनु.	संस्करण	प्रकाशक
पंचसंग्रह			
पतञ्जलिकालीन भारत	डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री	प्रसं. १९६३	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना
पद्मपुराण	संपा. भन्नालाल जैन	द्विसं. १९७७	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
परिशिष्ट पर्व	आचार्य हेमचन्द्र	प्रसं. १९८०	श्रीमती गंगाबाई जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई
पाणिनीकालीन भारतवर्ष	वासुदेवशरण अग्रवाल	द्विसं. १९६९	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
पातञ्जलयोगदर्शनम्	हरिहरानन्द आरण्य	तृसं. १९८०	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
पिंडनिर्णय	आचार्य भद्रबाहु	प्रसं. १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई
पिंडनिर्णय टीका	आचार्य मलयगिरि	प्रसं. १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई
प्रभावकचरित	संपा. मुनि जिन विजयजी	प्रसं वि. १९९७	सिंधी जैन ज्ञानपीठ
प्रशमरतिप्रकरण	उमास्वाति	विसं. २०४४	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
	संपा. पं. राजकुमारजी		
प्राचीन भारतीय संस्कृति			
प्रश्नोत्तर संस्वधोध	प्रवाचक आचार्य तुलसी	प्रसं. १९८८	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
	प्रसंपा. पुवाचार्य महाप्रज्ञ		
	सं. मुनि मधुकर		
बृहत्कल्पभाष्य }	सं मुनि चतुरविजय	प्रसं. १९३६	श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
बृहत्कल्पभाष्य टीका }	मुनि पुण्यविजय	प्रसं. १९३६	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
भगवई	वा. प्र. आचार्य तुलसी	विसं. २०३१	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
(अंगसुत्ताणि-२)	सं मुनि नथमल		
भगवती आराधना	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	प्रसं. १९७८	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
भगवती टीका	आ. अभयदेव सूरि	प्रसं १९१८	आगमोदय समिति, बम्बई
भागवत महापुराण	वेदव्यास	विसं वि. २०२७	गीता प्रेस, गोरखपुर
भिक्षुन्यायकर्णिका	आचार्य तुलसी		आदर्श साहित्य संघ, चूरू
	संपा. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा		
मज्झिमनिकाय	भिक्षु धर्मरक्षित	द्विसं. १९६४	महाबोधि सभा, बनारस
मनुस्मृति	सं. गोपालशास्त्री नेने	द्विसं १९७०	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी-१
मनोनुशासनम्	आचार्य तुलसी	प्रसं. १९८६	आदर्श साहित्य संघ, चूरू
महापुराण	आचार्य जिनसेन	प्रसं. १९७५	श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
महापुराणों में पुरुषार्थ चतुष्टय	डॉ. श्री विलास ब्रूडाकोटी	प्रसं. १९९२	इंडोविजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद

ग्रन्थ नाम	लेखक, संपा., व्या., अनु.	संस्करण	प्रकाशक
महाभारत भाग- २ (वनपर्व)	रामचन्द्र शास्त्री किंजवडेकर	द्विसं. १९७९	ओरियण्टल बुक रीप्रिंट कारपोरेशन
महाभारत भाग- ३	वही	द्विसं. १९७९	वही
महाभारत भाग- ४ (शांतिपर्व)	वही	द्विसं. १९७९	वही
महाभारत भाग- ६ (अनुशासन पर्व)	वही	द्विसं. १९७९	वही
महाभारतकालीन समाज	सुखमय भट्टाचार्य	प्रसं. १९६६	लोक भारती प्रकाशन १५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद
महाभाष्य भाग-२	व्या. युधिष्ठिर मीमांसक	द्विसं. वि. २०४५	श्री प्यारेलाल दाक्षदेवी न्यास, दिल्ली
मूलाचार	आचार्य बृह्मेर	द्विसं. १९९२	भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
यजुर्वेद	संपा. श्री रामशर्मा आचार्य	प्रसं १९६९	संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब, बरेली
रणसार	कुन्दकुन्दाचार्य संपा. डॉ. देवेन्द्रकुमार	वीनि. २५००	वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर
राजप्रश्नीय (उवांगसुत्ताणि, खंड १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू
विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	वि. २०३९	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुंबई
विशेषावश्यक भाष्य कौट्याचार्य टीका	संपा. डॉ. नथमल टांटिया	प्रसं १९७२	प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली बिहार
विशेषावश्यक भाष्य मलधारी हेमचन्द्र टीका	मलधारी हेमचन्द्र	वि २०३१	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुंबई
व्यवहार भाष्य	वा. प्र. आचार्य तुलसी प्र. संपा. आचार्य महाप्रज्ञ संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा	प्रसं. १९९६	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
षट्खंडागम	हे. पुष्पदंत भूतबलि वीरसेनाचार्यकृत ध्वलाटीका संपा. हीरालाल जैन	प्रसं. १९४९	जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती (बरार)
षड्दर्शनसमुच्चय	डॉ. महेन्द्रकुमार जैन	द्विसं. १९८९	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
शौनक श्रृक् प्रतिशाख्य समवाओ	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं १९८४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
समवाओ प्रकीर्णक	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं. १९८४	जैन विश्व भारती लाडनू, (राज.)

ग्रन्थ नाम	लेखक, संपा., व्या., अनु.	संस्करण	प्रकाशक
समवायांग टीका	अभयदेवसूरि	प्रसं. १९३८	कांतिलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद
सागर जैन विद्या भारती, भाग २	प्रो. सागरमल जैन	प्रसं. १९९४	पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी
सामाचारी शतक	समयसुन्दरगणी	विसं. १९९६	जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत
साहित्य दर्पण	विश्वनाथ व्या. डॉ. सत्यव्रतसिंह	प्रसं. १९७९	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
सूत्रकृतांग चूर्णि (प्रथम श्रुतस्कंध)	संपा. मुनि पुण्यविजय	प्रसं. १९७५	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद-९
सूत्रकृतांग चूर्णि (द्वितीय श्रुतस्कंध)		प्रसं. १९४१	ऋषभदेव केशरीमल श्वे संस्था, रतलाम
सूत्रकृतांग टीका	अ. झ. लांक संपा. मुनि जम्बूविजय	प्रसं. १९७८	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
सूत्रकृतांगनिर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)	वा. प्र. गणाधिपति तुलसी प्रसंपा. आचार्य महाप्रज्ञ समणी कुसुमप्रज्ञा	प्रसं. १९९९	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
सूयगङ्गो - १	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं. १९८४	जैन विश्व भारती, लाडनू
सूयगङ्गो - २	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रसं. १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू
स्थानांग टीका	आचार्य अभयदेव	प्रसं. १९३७	सेठ माणकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद
हरिवंश पुराण	आचार्य जिनसेन संस्था. पन्नालाल जैन	प्रसं. १९६२	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
हरिवंश पुराण: एक सांस्कृतिक अध्ययन	राममूर्ति चौधरी	प्रसं. १९८९	सुलभ प्रकाशन १६, अशोक मार्ग
A History of the Canonical literature of jain's	Hiralal Rasikadas Kapadia		Hiralal Rasikadas Kapadia
Uttaradhyayana sutra	Jarl charpentier	Flr. Ad. 1980	Ajaya Book Service, Delhi
History of Indian literature	Maurice winternitz Vol II	Sec. Ad 1983	Motilal Banarasidas, Delhi
Sacred Books of the East. Vol 1 xxii	Hermann Jacobi	Flr. Ad. 1980	Motilal Banarasi das, Delhi